काव्य-निर्णय

भिखारीदास कृत

भूमिका :

डा० सत्येंद्र, एम० ए०

संपादक :

जवाहरलाल चतुर्वेदी

॥ श्रीः ॥

संपादक के कुछ शब्द

—:o:—

ब्रजभाषा ग्रंथों का मुद्रण उन्नीसवीं शती के प्रारंभ में हो गया था। मथुरा, आगरा, जयपुर, दिल्ली, लखनऊ, काशी, पटना, कलकत्ता[1]–आदि से ब्रजभाषा के गद्य और पद्य के अनेक ग्रंथ इन स्थानों के शिलायंत्रों (लीथो) में छपकर प्रकाश में आये। यह प्रकाशन का सिलसिला यहीं समाप्त नहीं हुआ—टायप-युग के पूर्वज नवलकिशोर प्रेस लखनऊ, वेंकटेश्वर प्रेस बंबई, भारत जीवन प्रेस काशी और खड्ग विलास प्रेस पटना (बिहार) इत्यादि ने बड़े उत्साह के साथ ब्रजभाषा ग्रंथ-प्रकाशन का कार्य निरंतर जारी रखा, जिससे बड़े-बड़े दुर्लभ ग्रंथ-रत्न सुंदर रूप में प्रकाशित हुए। फलतः प्रेस-युग से पूर्व जो ब्रजभाषा-काव्य भारतीय जनों का केवल कंठ-हार था, विशिष्ट स्थानों की हस्त-लिखित रूप मंजुल मंजूषाओं में आवद्ध होने के कारण बड़ी कठिनता से दर्शनों को मिलता था, अब वह प्रायः सभी भारतीय प्रासादों की शोभा बढ़ाने लगा। सच तो यह है कि उन्नीसवीं शताब्दी का यह समय ब्रजभाषा-काव्य-ग्रंथ-प्रकाशन के लिये स्वर्ण-युग था, जिसे भारत के हिंदू-मुसलमान दोनों नागरिकों ने समान उत्कंठा के साथ खुले दिल से सँजोया। टायप-युग का आदि चरण भी ब्रजभाषा-ग्रंथ-प्रकाशनके लिये वरद सिद्ध हुआ। इस समय अज्ञात-कुलशील पं० कालीचरण[2] से आदि लेकर भारतेंदु बा० हरिश्चंद्र[3] जिन्हें मधुर ब्रजभाषा को और भी मधुर बनाने का, रीति-काल के पंक से निकाल कर पुनःसंस्कार के साथ स्वच्छ रूप देने का श्रेय प्राप्त है, के अतिरिक्त डुमराँउ के नकछेदी तिवारी[4] उपनाम—'अजान कवि, पं० मन्नालाल काशी,[5] बा० रामकृष्ण वर्मा

१. मुम्बउल उलूम प्रेस मथुरा, मतबअ ईजाद—मतबअ कृष्णलाल आगरा, मतबअ ईईजाद जयपुर, मतबअ इलाही दिल्ली, नवलकिशोर प्रस लखनऊ, बनारस लायट प्रेस काशी, खड्गविलास प्रस पटना, बपतिस्मा प्रेस कलकत्ता आदि। २. पं० कालीचरण ने सं० १९२० वि० में अयोध्या के राजा मानसिंह उपनाम 'द्विजदेव' की देखरेख में सूरसागर का संपादन कर नवलकिशोर प्रेस लखनऊ से प्रकाशित कराया था। ३. भारतेंदुजी द्वारा संपादित ग्रंथ 'सूरशतक' हमारे देखने में आया है, जो बनारस के लायट प्रेस में स० १८८२ ई० में छपा था। ४. इनके अनेक संपादित ग्रंथ भारत जीवन प्रेस काशी से निकले, प्रधान ग्रंथ संग्रहात्मक मनोज-मंजरी तीन भाग में प्रकाशित हुआ है। ५. पं० मन्नालाल संपादित ग्रंथ—सुंदरी संग्रह, सुंदरी सर्बस्व, शृंगार सुधाकर है।

काशी,[१] बा० जगन्नाथदास, 'रत्नाकर,[२] काशी, ला० भगवानदीन उपनाम—'दीन कवि'[३] मिश्र-बंधु[४] (सुखदेव बिहारी मिश्र, गणेश बिहारी मिश्र, कृष्ण बिहारी मिश्र) लखनऊ, पं कृष्ण बिहारी मिश्र,[५] गँधौली (सीतापुर), बा० व्रजरत्नदास अग्रवाल काशी,[६] डा० रसाल[७] (रामकृष्ण शुक्ल रसाल) प्रयाग (अब सागर-विश्वविद्यालय) पं० नंद दुलारेलाल बाजपेयी[८] (सागर-विश्वविद्यालय) पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र[९] काशी, पं० बलदेव प्रसाद मिश्र[१०] प्रयाग और उमाशंकर शुक्ल[११] इत्यादि अनेक ज्ञाताज्ञात महानुभावों ने व्रजभाषा काव्य-ग्रंथों के प्रकाशन-संपादन में स्मरणीय सहयोग दिया जो भुलाया नहीं जा सकता। यह व्रजभाषा-काव्य-ग्रंथों के प्रकाशन और संपादन का आदि इतिहास है, जो लीथो (शिलायंत्र) युग से चलकर—उत्पन्न होकर, टायप-युग में फल-फूल रहा है। यद्यपि ऊपर निवेदित संपादक शिरोमणियों में ग्रंथ-संपादन का स्तर जैसा होना चाहिये, वैसा तो नहीं देखा जाता, फिर भी व्रजभाषा के अनेक कवि-ग्रंथों को, पंगु बनाकर ही सही, रक्षा अवश्य की है, यही हमारे लिये सब कुछ है कवि-संचित काव्य-निधियों की रक्षा के रूप में आप लोगों का मूल्य कम नहीं आँका जा सकता।

व्रजभाषा में रीति ग्रंथों के प्रणयन का इतिहास बहुत पुराना है। प्रसिद्ध हदी-इतिहासकार पं० रामचंद्र शुक्ल के अनुसार उसका प्रारंभ 'सन् १५९८ ई०' माना गया है,[१२] जब कि वह इससे कहीं अधिक दूरवर्त्ती है। नामकरण के साथ तद् समय के ग्रंथ तो अभी नहीं मिले हैं, पर उस समय की फुटकल प्राप्त रचनाओं के शब्द-सौष्ठव को देखते हुए उसकी समग्र-विशालता अवश्य-ही माननी पड़ेगी। अठारहवीं शती, जिसे हम भिखारीदास-काल भी कह सकते हैं, तक वह काफी विशाल और प्रौढ हो चुकी थी। अमित ग्रंथ-रत्न उद्‌भव हो चुके

१. वर्माजी ने अत्यधिक व्रज भाषा ग्रंथों का सपादन-प्रकाशन किया है। आपके मुख्य सपादित ग्रंथ—'रसलीन' का रस प्रबोध, सुंदरदास का सुंदर शृंगार, भिखारीदास का शृंगार-निर्णय, केशवदास प्रभृति के नखसिख संग्रह, पद्माकर का जगतविनोद-आदि के नाम लिये जा सकते हैं। २. रत्नाकर-संपादित ग्रंथ—सुजानसागर (घनानन्द-विरचित), हमीरहठ (चंद्रशेखर), सुजान चरित्र (सूदन) इत्यादि। ३. दीनजी के संपादित ग्रंथ—कविप्रिया (केशवदास), रामचंद्रिका (केशवदास), दोहावली, कवितावली (गो० तुलसी दास), बिहारी सतसई, सूरपंच-रत्न आदि ·····। ५. हिंदी नवरत्न, देव-ग्रंथावली, सूरसुधा-इत्यादि। ४. मतिराम-ग्रंथावली। ६. नंददास-ग्रंथावली, भाषाभूषण (यशवंत सिंह), मीरापदावली......। ७. उद्धव शतक (रत्नाकर)। ८. सूरसागर। ९. भूषण ग्रंथावली, घनानंद, भाषाभूषण. पद्माकरपंचामृत, बिहारी—इत्यादि। १० अनेकार्थ और नाममंजरी (नंददास)। ११. नखसिख। १२. हिंदी साहित्य का इतिहास, सं० २००३ संशोधित संस्करण पृ० २३२।

थे। आदि-आचार्य कृपाराम (१५९८ ई०) की 'हिततरंगिणी' या 'शृंगार तरंगिणी' से लेकर ब्रजभाषा के अंतिम रीति-काल के कवि नवनीत चतुर्वेदी मथुरा (१९९५ वि०) तक ब्रजभाषा का इतना विशाल रीति-शास्त्र प्रणयन हो चुका था कि आज उसका लेखा-जोखा उपस्थित करना सहज नहीं है। इस रीति-रचना-उदधि के सारभूत ग्रंथ रत्न—"रसराज[1] (मतिराम त्रिपाठी—सं० १६७४ वि०), भाषा-भूषण[2] (यशवंतसिंह, जोधपुर के राजा सं० १६८३ वि०) और काव्यनिर्णय[3] (भिखारी दास, सं० १७६० वि०) कहे-सुने जाते हैं।" यह ग्रंथ-त्रयी ब्रजभाषा के सिद्ध ग्रंथ हैं, अतएव जिन्होंने भी मन लगाकर इन्हें किसी इनके ज्ञाता से समझ-बूझ लिया वह काव्य के विविध रस, रीति, ध्वनि, व्यंजना, अलंकार, गुण, दोष और दोषों के परिहार-आदि अंग-उपांगोंमें निष्णात हो गया। वास्तव में इस ग्रंथत्रयी की निराली विशेषताएँ हैं, जिनके प्रति ब्रजभाषा के रससिक्त कविवर विहारीलाल के शब्दों में कहा जा सकता है :

"देखत में छोटे लगें, घाव करें गंभीर।"[4]

अतएव इस रत्नत्रयी के कितने ही छोटे-मोटे संस्करण कितने ही स्थानों से प्रकाशित हुए, फिर भी इनके नये-संस्करणों की चाह बनी हुई है, इससे इसकी विशेष विशेषता के प्रति और क्या कहा जाय। अस्तु कलकत्ते में जब 'पोद्दार-अभिनंदन ग्रंथ' के संपादन-भार से दबा जा रहा था, तब इसके प्रकाशन—संपादन की चर्चा चली और वह यदा-कदा के साथ आगे पल्लवित होती गई, परिणाम सामने हैं।

ग्रंथ-संपादन-विधि की भी एक छोटी-सी कहानी है। वह उतनी जीर्ण तो नहीं, जितनी कि उसे होना चाहिये, फिर भी पुरानी अवश्य है। संकुचित भी कही जा सकती है, क्योंकि अभी उसने संपन्न रूप धारण नहीं किया है। अतएव इस संपादन-विधि के दो गोत्र—"तदनुकूल अर्थात् ग्रंथ की स्व-भाषा-लेखन—उच्चारण के अनुकूल तथा स्वानुकूल, अर्थात ग्रंथ-संपादक के देश, जाति-अनुकूल कहे जा, सकते हैं। तदनुकूल (ग्रंथकार की भाषा के अनुकूल) संपादित ग्रंथ संस्कृत को छोड़कर अन्य भाषाओं के हमारे देखने में अभी तक नहीं आये, पर स्वानुकूल संपादित ग्रंथ अधिकता से यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं। वे अपनी-अपनी भाषा की प्रणाली से—उसके सहज बोधव्य स्वभाव से इतनी दूर जा बसे हैं कि आज वे

१. २. ३. दे०—"हिंदी साहित्य का इतिहास" पं० रामचद्र शुक्ल, पृ० २५२, २४४, २७७, संशोधित और परिवर्धित संस्करण सं० २००३ वि०।

४. सतसैया के दोहरा, ज्यों नावक के तीर।
देखत में छोटे लगें, घाव करैं गभीर॥

अपने वास्तविक रूप में नहीं पहिचाने जा सकते। उदाहरण के लिये तुलसी-शशी (गो० तुलसीदास) कृत महान् ग्रंथ 'राम चरितमानस' के विविध संस्करण और आशु संपादित 'सूरसागर' जो ब्रजभाषा-सूर्य सूरदास की बे-जोड़ कृति है, के नाम लिये जा सकते हैं। यह सूरसागर काशी की स्वनामधन्य संस्था—नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित हुआ है और उसके संपादक भी हिंदी के उद्‌भट विद्वान माने जातेहैं। सच तो यह है कि इस संपादन-क्षेत्रमें जो भी विद्वद्‌जन पधारे वे सब अपने-अपने संपादित ग्रंथों की भाषा के देश, जाति, गुण, शील-संयुक्त नहीं थे—वे दूर के रिश्तेदार थे। अतः भाषा की हानि-लाभ से उन्हें कोई संबंध न था, अस्तु :

'बोए पेड़ बँमूर के, आम कहाँ ते खाइ।'

पूर्व में जैसा कहा गया है कि ग्रंथ-संपादन की दो शैलियाँ—तद्‌नुकूल (ग्रंथ-कर्त्तानुकूल) और स्वानुकूल संज्ञा रूप में कही जा सकती हैं, उसी भाँति लिपि-करण की विधि भी दो प्रकार की देखने में आती हैं। ये विधि भी दो—"प्रथम 'ग्रंथ-भाषानुकूल' जो अपनी भाषा के मूल उच्चारण ध्वनि के साथ लिपि-करण विधि में भी घुली-मिली रहती है वह, और दूसरी वही स्वानुकूल, जिसे ग्रंथ-लेखक अपनी जाति-देश-संपन्न भाषा को अनजाने में प्रयोग करता है। इस ग्रंथ-लिपि करण के और भी दो नाम—'पूर्वी विधि और पश्चिमी विधि देखने सुनने में आते हैं। अतएव पूर्वी ग्रंथ-लेखन-पद्धति जहाँ कवि की भाषा को अपने कुल का परित्याग करा विपरीति कुल से संबंध स्थापित कराती हुई उसे दूसरे-ही दुरूह रूप में ढकेल देती है, वहाँ पश्चिमी पद्धति ग्रंथानुकूल, कवि-अनुकूल और तद्‌भाषा के सहज उच्चारण माधुर्य से ओतप्रोत कर सुंदर मंजुल प्रभा बिखरेती हुई मंथर गति से चलती है। पूर्वी-पद्धति रूप ग्रंथ-भाषा के विकृत करने का उल्लेख डा० धीरेंद्र वर्मा ने अपने 'ब्रजभाषा' नामक ग्रंथ में किया है, यथा :

> "स्वर्गीय जगन्नाथदास रत्नाकर द्वारा संपादित बिहारी सतसई का सटीक संस्करण 'बिहारी रत्नाकर' प्राप्त ब्रजभाषा ग्रंथों में एक ऐसी रचना है जो अनेक हस्तलिखित पोथियों को सावधानी से देखकर संपादित की गई है। संपादक ने पाठों में एक रूपता ला दी है, यद्यपि प्राचीन हस्त-लिपियों में यह नहीं मिलती। उदाहरण के लिये उन्होंने समस्त अकारांत संज्ञाओं को उकारांत बना दिया है, यद्यपि ऐसे रूप पोथियों में कहीं कहीं ही मिलते हैं। क्योंकि कुछ ब्रज-परसर्गों में अनुनासिकता मिलती है, इसलिए उन्होंने समानता लाने के लिए समस्त परसर्गों को अनुना-

सिक कर दिया है और इस प्रकार हमें सर्वत्र "कौं, सौं, तैं, वैं" ही मिलते हैं। मूल पाठ को बनाए रखने के स्थान पर इस प्रकार उन्होंने अपने संस्करण में एक कृत्रिम समानता ला दी है, जो कदाचित सतसई के मूल रूप में वास्तव में विद्यमान न थी।"[१]

स्व० रत्नाकर जी के संपादन-संबंध में कही गई यह टिप्पणी सर्वथा उपयुक्त है, क्योंकि उन्होंने 'बिहारी-रत्नाकर' में ही नहीं, सूरसागर में भी शब्द, क्रिया और कारकों में कुछ ऐसी कतरब्योंत की है, जिसे स्वानुकूल तो कह सकते हैं, भाषानुकूल—ग्रंथानुकूल नहीं। किंतु यहाँ आप (वर्मा जी) ने अपने को और अपने अनुगामी पं० नंददुलारे लाल वाजपेयी (सागर) को भुला दिया है। आप लोगों ने भी अपने-अपने संपादित ब्रजभाषा-ग्रंथों—"अष्टछाप, ब्रजभाषा-व्याकरण, ब्रजभाषा, सूरसागर-सार, रामचरित मानस, सूरसागर और सूर-सुषुमा" में वही ऊपर कही गयी बात बड़ी विशदता में की है, जिसके लिये आज रत्नाकर जी को बदनाम किया जा रहा है। उदाहरण के लिये पेरिस (फ्रांस) में डाक्टरेट के लिये दिया गया वह निबंध है, जो फ्रेंच में—"ला लांग ब्रज" और हिन्दी में 'ब्रजभाषा' नाम का है। हम यहाँ विषयांतर के कारण उक्त ग्रंथ की भूलें जो आदि से अंत तक प्रत्येक पंक्ति में भरी पड़ी हैं, दिखाना नहीं चाहते, अपितु आप-द्वारा उल्लिखित केवल चौबे गनपत खिलंदर के बयान के लिखने की भूलें बतलाना चाहते हैं, जो अकारण उस (चौबे) के सिर थोपी गई हैं। प्रथम पंक्ति यथा :

"एक मथुरा जी चौबे हे जो डिल्ली (दिल्ली) सहैर कौ चले। तो पैले रेल तौ ही नईं, पैदल रस्ता ही," इत्यादि...।

इस पंक्ति में 'जी' 'सहैर कौ' 'पैले' और 'पैदल' शब्द चौबे-जाति के अप्रयुक्त— उनकी बोल चाल की भाषा से विपरीत प्रयोग हैं। चौबे -जी के स्थान पर 'के', सहैर कौ के स्थान पर 'सैहैर कों' पैले के स्थान 'पैलें' और पैदल के स्थानपर 'पैदर' कहे-बोलेगा, वर्मा जी द्वारा मान्य नहीं। इस लतीफे में दिये गये दोनों छंद भी अपने से—चतुर्वेद जाति में नित्य प्रति कहने-सुनने से अलग जा पड़े हैं, एक यथा :

"भींजत है तब रीझत है, और घोय धरी सब के मनमानी।
स्वाफी सफाकर, लौंग इलायची घोंट कै त्यार करी रसधानी॥
संकर आय बिसंबर नैं जब ब्रम्म कमंडल के जल छानी।
गंग से ऊँची तरंग उठै, तब हिर्दै में आवत भंग भवानी॥"

१. ब्रजभाषा, पृ० २७, ५६ वां प्रकरण।

इन प्रतियों में चार ही जैसे—"बा० ब्रजबहादुर लाल और बा० रामबहादुर सिंह प्रतापगढ़, पं० शिवदत्त बाजपेयी मोहनलाल गंज लखनऊ तथा कुँवर हरिदत्त सिंह संडीला की प्रतियाँ ही ऐसी थीं जिनमें कुछ लेखन-साम्यता थी, जो अन्यों में नहीं थी। इनके अतिरिक्त उन मुद्रित संग्रह-ग्रंथों का भी सहारा लेना पड़ा जिनमें दास जी के विविध छंद सुशोभित हैं और जिनके नाम ये हैं :

१. अलंकार मंजरी—सेठ कन्हैयालाल पोद्दार, मथुरा। २, अलंकार-रत्न--बा० ब्रजरत्न दास, बनारस। ३. कविता कौमुदी—रामनरेश त्रिपाठी, प्रयाग। ४. काव्य कानन--राजा चक्रधरसिंह, रायगढ़। ५. काव्य प्रभाकर--जगन्नाथ प्रसाद भानु बंबई। ६. छंदार्णव पिंगल-भिखारी दास (मु०)। ७. नखसिख संग्रह मथुरा। ८. नखसिख हजारा—परमानंद सुहाने, लखनऊ। ९. नवीन संग्रह—हफीजुल्लाह खाँ, लखनऊ का छपा। १०. भारती भूषण—अर्जुनदास केडिया, बनारस। ११. मनोज मंजरी भाग—१, २, ३, पं० नकछेदी तिवारी, काशी की छपी। १२. रसकुसुमाकर—दद्दुआ साहिब अयोध्या। १३. रसमीमांसा—पं० रामचंद्र शुक्ल, काशी की छपी। १४. शृंगार-निर्णय—भिखारीदास काशी का छपा। १५. शृंगार लतिका-सौरभ-द्विजदेव, अयोध्या स० जवाहरलाल चतुर्वेदी,। १६. शृंगार-संग्रह—सरदार कवि, लखनऊ का छपा। १७. शृंगार सुधारक--पं० मन्ना लाल, काशी का छपा। १८. षट्ऋतु हजारा—परमानंदसुहाने, लखनऊ का छपा। १९. सुंदरी तिलक--भारतेंदु बा० हरिश्चंद्र, बाँकीपुर पटना का छपा। २०. सुंदरी सर्वस्व--पं० मन्नालाल, काशी का छपा। २१. सूक्ति सरोवर—ला० भगवान दीन, जबलपुर का छपा। २२. हफीजुल्लाह खाँ का हजारा, लखनऊ का छपा।"

अस्तु, संपादक इन सबका और विशेषकर "सेठ कन्हैयालाल पोद्दार, अर्जुन दास केडिया, बा० ब्रजरत्नदास एवं डा० नगेंद्र आदि का अत्यधिक ऋणी है, जिनके सहारे इन महानुभावों की मधुर-तिक्त टीका-टिप्पणी करते हुए भी काव्य-निर्णय जैसे दुस्तर महासागर से पार पा सका। अतएव :

"ते सर्वेतु क्षमायांति.....।"

ग्रंथ-संपादन के समय कितनी ही ग्रंथ-भाषा संबंधी अड़चनें सामने आ जाती हैं, जो स्वाभाविक है। ये अड़चनें—भाषा, शब्दोच्चारण-ध्वनि, क्रिया और कारकों-संबंधी होती हैं। जिसे काव्यनिर्णय की उल्लिखित प्रतियों ने और भी गहन बना दिया था। अतएव दासजी की भाषा के अनुरूप कुछ सिद्धांत स्थिर करने पड़े—उनकी अनुरणन-ध्वनि का सहारा लेना पड़ा। शब्दों, क्रियाओं तथा

कारकों को ब्रजभाषानुकूल बनाना उचित समझा गया। उदाहरण के लिये वही पूर्व-लिखित—"राँम, स्याँम, कान्ह, धुँनि, पुँनि, आँनन, गैंन, सँम," के बाद कारकों के रूप 'के, कें, कौ, कों, सों' आदि-आदि निवेदन किये जा सकते हैं। ये ब्रजभाषा की प्राण कोमल अनुरणन-ध्वनि के साथ-साथ पश्चिमी लेखन पद्धति के अति अनुकूल और स्वानुभूत प्रयोगों से सम्बद्ध हैं। सचमुच यदि ब्रजभाषा के सहज माधुर्य का रसास्वादन किया जा सकता है तो मोहन को मोंहँन, सोहन को सोंहँन, राम को राँम, स्याम को स्याँम की सानुनासिकता उच्चारण विधि के साथ हीं किया जा सकता है, क्योंकि यह अनुरणन-ध्वनि ब्रजभाषा के अनुकूल है, उसकी प्राण है। हम भाषा-प्रणाली के विपरीत आकारांत शब्द घोड़ा को घोड़ौ[1] तथा सीता को सीताँ[2] बनाने के पक्षपाती नहीं, अपितु भाषा के माधुर्य-पूर्ण शब्दोच्चारण के अनुकरण रूप शब्द सुसज्जित करने के पक्ष में हैं।

श्री दास जी कृत काव्य-निर्णय की पूर्व से लेकर पर तक के सभी इतिहास-कारों ने मुक्त कंठ से प्रशंसा की है, फिर भी आपके अग्रगण्य प्रशंसकों में माननीय स्व० श्रीरामचंद्र शुक्ल का नाम लिया जा सकता है[3] और अंतिम प्रशंसक हैं डा० नगेंद्र[4]। फिर भी अभी तक इस धूल भरे हीरे की परख ठीक रूप से नहीं हो सकी है। आलोचना की ज़िलो बहुत कुछ बाकी है, जिसे इस ग्रंथ की 'भूमिका' रूप में डा० 'सत्येंद्र' ने बड़ी उहापोह के साथ प्रस्तुत की है, अतः हार्दिक धन्यवाद...। वास्तव में वे इसके अधिकारी विद्वान हैं, हम जैसे इधर-उधर से ले भगने वाले नहीं। इसलिये दास जी के प्रति जो भी उन्होंने साधिकार लिखा है, वह उत्तम है, सुंदर है और विद्वज्जनों को अनुकरणीय तथा मननीय है।

स्व० पं० पद्मसिंह शर्मा ने 'बिहारी सतसई' के भूमिका-भाग में उसका दोष-परिहार[5] लिखते हुए एक 'शेर' उद्धृत किया है :

"ऐब भी इसका कोई आखिर करो यारो बयाँ।
सुनते-सुनते खूबियाँ जी अपना मतलाने लगा॥"

बात बहुत कुछ सत्य है। अपने मुँह मियाँ मिट्ठू बनना तो सहज है, किंतु ऐब (भूल) बतलाना और वह भी अपना हरे...हरे..., फिर भी इतना तो कहा ही जायगा कि अनेक कवि-कोविदों की विविध सुंदर सूक्तियों के सँजोने में—उन्हें,

१. बिहारी, ले०—विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, एम० ए० सं० २००७ वि० का संस्करण, पृ० १७७। २. रामचरित मानस, (कल्याण का विशेषांक—मानसांक) सं०—नंददुलारे वाजपेयी। ३. हिंदी साहित्य का इतिहास—पं० रामचंद्र शुक्ल, पृ० २७७। ४. हिंदी में रीति-सिद्धांत डा० नगेंद्र, पृ० १५०। ३. बिहारी सतसई भूमिका पृ०—१०५।

यत्र-तत्र उद्धृत करने में पुनरुक्ति अवश्य हो गयी है। एक-दो छंद, दो-एक बार आवश्यकता से अधिक तो नहीं, पर उद्धृत अवश्य किये गये हैं। वे वहाँ फिट हैं, उनसे तत्तद् स्थानों की शोभा भी अवश्य बढ़ी है, पर भूल, भूल ही है। इसी प्रकार सांकेति-चिन्हों के बहुली करण के प्रति भी कहा जा सकता है। इनके अतिरिक्त अन्य भूलें विद्वज्जन प्रेक्षणीय और विचारणीय है.........।

अंत में पुनः उन ज्ञाताज्ञात स्वनामधन्य ग्रंथ-प्रणेताओं से क्षमा चाहता हूं, जिनके उद्धरणों से,—अछूती सरस सूक्तियों से भली-बुरी आलोचना के साथ सँजोया है तथा संपादित ग्रंथ की शोभा में चार चाँद लगाये हैं। अतः इदं :

"पत्र-पुष्पांजलिस्तेन प्रीयंतां सर्व देवता।"

मथुरा
दान एकादशी
सं० २०१३

—जवाहरलाल चतुर्वेदी,

——

"कवि दास की जीवनी और रचनाएँ"

मध्य कालीन ब्रजभाषा-साहित्य के रीति (लक्षण ग्रंथ-नायिका भेद, अलंकारादि) प्रणेताओं में कविवर 'श्री भिखारीदास' का स्थान ऊँचा ही नहीं, निराला और सुंदर है, यह निर्विवाद है[1]। अस्तु आपके जाति, कुल, ग्रामादि का इतिहास जबतक हिंदी-भाषा के इतिहास ग्रंथों में उल्लिखित अल्प ग्रंथ-नाम-सूची में ही निहित रहा, तब तक वह अंधकार से आवृत्त रहा और ज्यों-ज्यों वह आपकी नयी नयी रचनाओं के साथ खोज और प्राप्ति के बाद प्रकाशन के खुले क्षेत्र में आने लगा त्यों-त्यों आपका जीवन से संनद्ध इतिहास स्वच्छ होकर द्वितीया के चंद्र की भाँति निरंतर प्रकाशवान होता गया। अतएव अब कविवर 'भिखारीदास' उपनाम—'दास' के जाति, कुल और ग्रामादिका उल्लेख तथ्य रूप से निस्संकोच और वह भी आपके-ही शब्दों में, कहा जा सकता है कि श्री भिखारी दास जी—"जाति के वहीवार वर्ण के कायस्थ, पिता कृपालदास, पितामह वीरभानु प्रपितामह रामदास, भाई चैनलाल, जन्म-स्थान टोंग्या (टेंउगा), अरवर प्रदेश के निवासी थे, जो प्रतापगढ़ (अवध) से तनिक दूर है, यथा :

> "अभिलाषा करी सदा ऐसन का होय बृत्थ,
>
> सब ठौर दिन सब बाही संबा चरचाँन।
>
> लोभा लई नीचें ग्याँन चलाचल ही कौ अंसु,
>
> अत है किया पातल निंदा-रस-ही कौ खाँन ॥
>
> सेंनापती देवीकेर प्रभा गँनती कौ भूप,
>
> पन्ना, मोंती, हीरा, हेंम सौदा हास ही कौ जाँन।
>
> हीय पर जीव पर बदे जस रटे नाउँ,
>
> खगासन, नगधर, सीतानाथ कौल पाँन ॥"

यह विवरणात्मक छंद (कवित्त) 'काव्य-निर्णय' के उन्नीसवें उल्लास में 'चित्रालंकारों के साथ प्रस्तुत पुस्तक के पृ० ६१६ पर और 'छंदार्णव' (पिंगल) के आदि में मिलता है। विवरण चित्रात्मक है, जिसे कठिनता से एक-एक अक्षर क्रमशः बाद देकर दूसरे दूसरे अक्षर पढ़ने से जाना जाता है। इसलिये दासजी ने इस छंद की गूढ़ता-निवारणार्थ—अपने जाति, कुल, ग्राम और पिता-पितामह के नामादि की शीघ्र जानकारी के लिये इसके साथ एक

1, शिवसिंह-सरोज, पृ० ४११ / हस्त-लिखित 'हिंदी' पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण, श्यामसुंदरदास, पृ० १११। हिन्दी काव्य-शास्त्र का इतिहास डा० भगीरथ मिश्र, पृ० १७१।

'दोहा तिलक (टीका) रूप में और दिया है, जिससे छंद-प्रयुक्त जीवन की इत्तवृत्तरूपी गुत्थी सहज ही खुल जाय—स्फुट हो जाय, वह दोहा इस प्रकार है :

"या कवित्त अंतर बरँन, लै तुकंत हू छंद।
दास-नाम, कुल-ग्राम कहि, राम-भगति रस-मंड ॥"

इस कुंजी-रूप दोहे से प्रथम जो जीवन वृत्त-ज्ञापक छंद ऊपर दिया गया है, उसमें 'यरबर' देशज नाम आया है! वह देशज संज्ञा 'अरबर' का चित्रालंकार के अनुरूप रूपांतर है और कुछ नहीं, फिर भी हिंदी इतिहासकारों को उसने खूब छकाया है। फलतः किसीने आप (भिखारीदास) को बुंदेलखंडी, किसी ने बघेलखंडी और किसी ने कहीं अज्ञात ग्राम का मान लिया। खैर हुई कि किसी महानुभाव ने इस रूपांतर रूप देशज शब्द 'अरबर' के सहारे 'अरब' का नहीं मान लिया, यदि मान लेते तो व्रजभाषा के विस्तार का एक नया विस्तृत पृष्ठ खुल जाता...। अतएव यह सब—जाति-कुल ग्राम की जानकारी होते हुए भी अभी आपका जन्म-समय विवाद-ग्रस्त ही है, जिसे कोई सं० १७५५ वि०-१, कोई सं० १७६० वि०-२ और कोई सं० १७९१ वि०-३ या सं० १७९९ वि० के आस-पास मानते हैं। पिछले, अर्थात् सं० १७९१ तथा १७९९ जन्म-संवत उपयुक्त ज्ञात नहीं होते, कारण सं० १७९१ वि० में आपने "रस-सारांश" की रचना की थी, यथा :

"सत्रह सै इक्यानमें, नभ सुदि छठ बुधवार।
अरबर देस प्रतापगढ़, भयौ ग्रंथ औतार ॥"

—रस-सारांस पृ० १३०,

इसी प्रकार आपका द्वितीय जन्म-समय सूचित करने वाला सं०१७९९ वि० भी गलत ठहरता है, चूँकि इस समय (संवत्) में आपने "छंदार्णव" (पिंगल) की रचना की थी, जैसा कि उक्त ग्रंथ की पुष्पिका से ज्ञात होता है, यथा :

"सत्रह सौ निन्यानँ में, मधु बदि नव इक बिंदु।
'दास' कियौ 'छंदारनौ' सुमिरि साँमरौ इंदु ॥"

—छंदार्णव (पिंगल) पृ० १२२,

अतएव ये दोनों जन्म-संवत् अप्रमाणिक हैं। हाँ, पूर्व लिखित सं० १७५५ या ६० वि० जन्म-समय के सूचक हो सकते हैं, किंतु पक्के प्रमाण के रूप में कुछ नहीं कहा जा सकता।

१. मिश्रबंधु-विनोद, पृ० ६१२ (द्वितीय भाग)। २. आचार्य भिखारीदास—ले०डा० नारायणदास खन्ना एम० ए०, पृ० २५, (जीवन-वृत्त)। ३. हस्त लिखित हिंदी पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण, सं०—डा० श्यामसुंदरदास, पृ० १११।

दासजी कृत निर्विवाद विशिष्ट ग्रंथ-रचनाएँ इस प्रकार कही जा सकती हैं, वे रचना-क्रम के अनुसार निम्नलिखित हैं :

१. रस-सारांश (र० सं०—१७९१ वि०)। २. नाम प्रकाश—संस्कृत, 'अमरकोश' का अनुवाद (र०सं०-१७९५ वि०) १। ३ छंदार्णव पिंगल (र०-सं०-१७९९ वि०)। ४. काव्य-निर्णय (र० स०-१८०७ वि०) २। ५. शृंगार-निर्णय (र० सं०-१८०७ वि०) ३।

इनके अतिरिक्त आप (दासजी) कृत "विष्णुपुराण" भाषा और कहा जाता है, जो सं० १७८७ वि० के लगभग रचा गया था तथा नवलकिशोर प्रेस लखनऊ से सन् १८४६ ई० में छपकर प्रकाशित हुआ था। खोजरिपोर्ट (स० १९३६-४० काशी नागरी-प्रचारिणी सभा) जो अभी प्रकाशित नहीं हुई है, के अनुसार 'शतरंज-शतिका" आप कृत और कही गयी है। यह १० पृष्ठ की है तथा राजा साहिब प्रतापगढ़ (अवध) के सरस्वती-भंडार में सुरक्षित है। तेरिज रस-सारांश और तेरिज काव्य-निर्णय भी आपकी ही रचनाएँ हैं, पर ये पृथक ग्रंथ नहीं, आप कृत रस-सारांश और काव्य-निर्णय में प्रयुक्त केवल उदाहरण-रहित लक्षणों के संग्रह हैं। ये पुस्तकें भी राजा साहिब प्रतापगढ़ (अवध) के सरस्वती-भंडार में सुरक्षित हैं। उपर्युक्त ग्रंथों के अतिरिक्त नागरी प्रचारिणी सभा काशी की खोज-रिपोर्टों में तथा किन्हीं-किन्हीं हिंदी के इतिहास ग्रंथों में आपकृत निम्नलिखित रचनाएँ और लिखी मिलती हैं, जैसे :

"१. छंद-प्रकाश, २. बाग-बहार, ३. राग-निर्णय, ४. ब्रजमाहात्म्य-चंद्रिका, ५. पंथपारख्या, ६ वर्ण-निर्णय, रघुनाथ नाटक इत्यादि।"

छंद-प्रकाश का दास-कृत उल्लेख ना० प्र० स० काशी की 'खोजरिपोर्ट' (सं० १९०३ पृ०—३२) में किया हुआ मिलता है। बाद में इसका उल्लेख मिश्र-बंधुओं ने भी अपने 'विनोद' में,[४] पं० रामचंद्र शुक्ल ने अपने 'हिंदी-साहित्य के इतिहास' में,[५] चतुरसेन शास्त्री ने अपने 'हिंदी भाषा और साहित्य

१. सत्रै सौ पिच्चानमैं, अगहन कौ सित पच्छ।
तेरस, मंगल कों भयौ, 'नाम-प्रकास' प्रतच्छ॥
२. अट्ठारह सौ तीन कौ, संबत आस्विनमास।
ग्रंथं काव्य-निरनै रच्यौ, बिजै दसमि दिन दास॥
३. संबत बिक्रम भूप कौ, अट्ठारह सौ सात।
माधव सुदि तेरस गुरौ, अरबर-थल बिख्यात॥
४. विनोद, पृ०—६३२, (द्वितीय भाग)। ५. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ०—३८५।

का इतिहास' में,[१] डा० रसाल ने अपने 'हिंदी साहित्य के इतिहास' में, किया है[२]। खोजरिपोर्ट में कहा गया है कि "इस ग्रंथ के कर्त्ता कवि भिखारी-दास कायस्थ हैं[३]। ये काशिराज उदितनारायण सिंह के आश्रित थे...... इत्यादि।" उक्त ग्रंथ जिसकी पृ०सं० ५ है, हमने भी काशिराज के सरस्वती-भंडार में देखा है। अस्तु, पुस्तक के अंत में एक सोरठा दिया गया है, जो इस प्रकार है :

"सुकवि भिखारीदास, कियौ ग्रंथ छंदारनौ।
तिन छंदन-परकास, भौ महाराज-पसंद हित॥"

इससे ज्ञात होता है कि यह ग्रंथ भिखारीदास जी के ग्रंथ 'छंदार्णव' (पिंगल) पर किन्ही अन्य कवि-द्वारा रचित प्रकाश है—टीका है, जो भिखारीदास जी की मृत्यु के बाद लिखी गयी है।

बाग-बहार का आप-कृत कथन केवल शिवसिंह ने ही अपने 'सरोज' (पृ० ४११) में किया है, अन्य किसी ने नहीं, अतः यह संदेहात्मक रचना है। फिर भी किन्हीं महानुभाव का कहना है कि बाग-बहार भिखारीदास कृत अमरकोश (संस्कृत) के अनुवाद 'नाम-प्रकाश' वा 'अमर-प्रकाश' का ही दूसरा नाम है। राग-निर्णय के प्रति इतना-ही कहा जा सकता है, कि यह दासजी-कृत कृति अल्प (खंडित) रूप में......ग्राम साहीपुर नौलखा, पो० हड़िया, जिला प्रयाग से मिली है, जिसकी पत्र सं०-१८, तथा छंद सं०—१७५ है।[४] विषय, पुस्तक के नाम से स्पष्ट है। नाम-साम्य भी है, जैसे—"काव्य-निर्णय, शृंगार-निर्णय और राग-निर्णय।" भाषा भी मजी हुई साफसुथरी और सानुप्रास दास जैसी है। एक उदाहरण, जैसेः—

राग-काफी

"एरी गरब गहेली हो, तन-जोबन गरब न कीजै।
जैसें कुसुँभ-रंग चटकीलौ, छलक-छलक छिन छीजै॥
ज्यों तरुबर की छाँह मध्य दिन, तैसें हीं गुँनि लीजै।
कहत 'दास' पिय के मिलबे बिन, कैसें कै जिय जीजै॥"

फिर भी उक्त ग्रंथ की जब तक कोई दूसरी प्रति न मिले तब तक दास जी कृत होने में संदेह ही है।

१. हिंदी भाषा और साहित्य का इतिहास, पृ० ३८५। २. हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ०—४५०। ३. ह० लि० हिं० ग्र० का संक्षिप्त विवरण (श्याम सुंदर दास) पृ०—१११। ४. अप्रकाशित खोज-रिपोर्ट (सं०—१९२६ से सं०—१९४१) ना० प्र० स० काशी।

ब्रज-माहात्म्य चंद्रिका, छह प्रकाश (अध्याय) में बटा ग्रंथ है। पत्र संख्या—७३ और संवत् १८०९ वि० का लिखा हुआ है, यथा :

"सिव-मुख[५] ख[०] बसु[८] सुधानिधि,[१] संवतसर आधार।
कार्तिक कृष्णा चतुरदसि, ग्रंथ लिख्यौ रविवार॥"

यह पुस्तक स्व० पं० 'मयाशंकर' याज्ञिक अलीगढ़ की विभूति है, जो अब उनके भाईयों—जीवनशंकर और भवानीशंकर की दानशीलता से ना० प्र० स० काशी के 'आर्य-भाषा पुस्तकालय' की शोभा बढ़ा रही है।[१] पुस्तक, अलीगढ़ में ही हमारे देखने में आयी थी। स्व० याज्ञिक जी से उक्त पुस्तक के दास-कृत होने में विवाद भी हुआ था, जो आज याद नहीं। उस समय पुस्तक पूर्ण थी और भरतपुर (मथुरा) से उन्हें प्राप्त हुई थी। पुस्तक-रचना साधारणतः अच्छी है, फिर भी उनके ग्रंथ—रस-सारांशादि को देखते हुए कहना होगा कि यह रचना उन जैसी सुष्टु नहीं है। साथ ही एक बात और, वह यह कि दासजी कृत सभी 'रस-सारांशादि कृतियों में उद्धृत छंदों का बहुत कुछ आपस में विनमय हुआ है। उसके छंद इसमें और इसके छंद उसमें उलटे-पलटे गये हैं। इस पुस्तक में कोई ऐसा विपर्यय देखने में नहीं आया, अतः इसके दास कृत होने में शंका होती है और जी इसे आप-कृत मानने में हिचकता है। यह छंद—विनयम की बात दासजी पर ही लागू नहीं होती, अपितु आप से पूर्व और पर के सभी रीति-काल के आचार्यों के प्रति लागू होती है, जिन्होंने एतत्संबंधी ग्रंथों की रचना की हैं।

दास जी कृत कहा जाने वाला 'पंथ-पारख्या' भी स्व० याज्ञिक जी की निधि थी, जो अब उक्त सभा की है। पृष्ठ संख्या छह ६ है।[१] ग्रंथ में दादू-पंथियों के सिद्धांत और नियमों का वर्णन है। पुस्तक खंडित है और दासजी कृत होने में संदेह-प्रद है। कारण पुस्तक की भाषा पर राजस्थानी का प्रभाव यत्र तत्र स्फुट है, यथा :

"माया, मोह करै सब दूरि, 'पाँचनें' इंद्री राखै पूर।
'भिख्या कारण' हठ न कराई, 'अण बंछ्या' आवै सो खाई॥

यह उदाहरण मध्य पुस्तक का है, अस्तु, कोमांकित शब्द यह विचार उत्पन्न करते हैं कि "हम दास-प्रयुक्त नहीं हैं......।

वर्ण-निर्णय अथवा कायस्थ-वर्ण-निर्णय दास जी कृत होने का उल्लेख कहीं नहीं मिलता, केवल डा० माताप्रसाद गुप्त एम० ए० की पुस्तक 'हिंदी-पुस्तक साहित्य' के पृ० ५३६ पर मिलता है। यह सूचना उन्होंने 'यू० पी० गजट' २९ मई, स० १९१५ में प्रकाशित तिमाही रिपोर्ट के अनुसार दी है।

१, खोजरिपोर्ट (स० १९२९ से स० १९४९) ना० प्र० स० काशी (अप्रकाशित),

उक्त गजट में इसका मुद्रण स्थान—"बी० एल० पावगी हितचिंतक प्रेस बनारस" बतलाया गया है। पुस्तक कहीं देखने में नहीं आयी, अतएव इसका दास जी कृत होने—न होने के प्रति विचार नहीं किया जा सकता।

दास जी की रचनाओं का यह संक्षिप्त लेखा-जोखा है, जिसके प्रति आदि से लेकर अंत तक सभी इतिहास-ग्रंथ लेखकों में (दासजी कृत ग्रंथ-संख्या के लिये) मतभेद रहा है। श्री शिवसिंह सेंगरे से लेकर आधुनिक इतिहासकार चतुरसेन शास्त्री तक ने अपनी-अपनी मनमानी-घरजानी की है। यदि इन सब इतिहासकारों के उल्लेखों पर गहरी दृष्टि से विचार किया जाय तो श्री भिखारी दास कृत ग्रंथ संख्या सात ठहरती है और उनका उल्लेख प्रथम में हो चुका है तथा उसकी ताईद 'प्रताप सोमवंशावली के रचयिता कवि 'द्विज बल्देव' ने की है, यथा :

"इनके रचे ग्रंथ ए जो हैं, अंकित हिंदूपति-जस सो हैं।
प्रथम काव्य-निरनै[१] कों जानों, पुनि सिंगार-निरनय[२] तहँ ठाँनों॥
छंदार्नव[३] अरु बिस्नु पुराना,[४] रस-सारांस[५] ग्रंथ जग-जाना।
अमरकोस[६] अरु सतरंज सतिका,[७] रची जहन हित मोद सुमतिका॥
नृपति अजीतसिंघ खुजवाई, सचित कियौ अमित सुख पाई।

दासजी का मृत्यु-समय (संवत) भी अनिश्चित-सा है, फिर भी ब्रज-भाषा-साहित्य से रुचि रखने वाले सज्जन विशेषों का कहना है कि "दासजी की मृत्यु 'भभुआ' जिला आरा, मानभूमि विहार में हुई थी। अस्तु, भभुआ में तो नहीं, आरा शहर में आपके नाम से एक मंदिर अब भी है, जहाँ प्रति वर्ष बैशाख शुक्ला त्रयोदशी को मेला लगता है तथा आपकी कविताओं का पाठ भी किया जाता है, किंतु यह सब ज्ञात होते हुए भी आपकी मृत्यु का समय अभी अज्ञात-ही है। यदि आपके ग्रंथ-निर्माण-संबतों को ध्यान में रखते हुए इस संबंध में कुछ कहा जा सकता है तो कहना होगा कि आप (दासजी) की शारीरिक मृत्यु "शृंगार-निर्णय की रचना (सं० १८०७ वि०) के कुछ वर्ष बाद ही हुई होगी, यह अति निश्चय है,[१] क्योंकि इसके आगे आप-द्वारा रची गई फिर कोई रचना अभी तक प्राप्त नहीं हुई है। हाँ, साहित्यिक यशः-शरीर अजर-अमर है, यथा :

"जयंति ते सुकृति नो रससिद्धाः कवीश्वराः।
नास्ति येषां यशः काये जरामरणजं भयम्॥"—भर्तृहरि,

---

१. आचार्य भिखारीदास, ले०—डा० नारायणदास खन्ना, एम. ए., प्र० लखनऊ विश्वविद्यालय, सं०—२०१२ वि०, पृ० २९।

सांकेतिक रूप

अ० मं०, अलंकार मंजरी, सेठ कन्हैया लाल पोद्दार, मथुरा।

अ० र०, अलंकार रत्न, बा० ब्रजरत्न दास, काशी,

आँ० क० आँख और कविगण, जवाहरलाल चतुर्वेदी मथुरा,

क० कौ०, कविता कौमुदी, रामनरेश त्रिपाठी प्रयाग, प्रथम भाग,

का०, काशी, भारतजीवन प्रेस काशी,

का० का०, काव्यकानन, राजा चक्रधर सिंह, रायपुर,

का० प्र०, काव्यप्रभाकर, जगन्नाथ प्रसाद भानु, वेंकटेश्वर प्रेस बंबई,

का० मु०, काशी मुद्रित,

छं०, छंदार्णव पिंगल, भिखारी दास, वेंकटेश्वर प्रेस बंबई,

न० सि० सं०, नखसिख संग्रह, मथुरा का छपा,

न० सि० ह०, नखसिख हजारा, परमानंद सुहाने, नवलकिशोर प्रेस लखनऊ,

न० सं०, नवीन संग्रह, हफीजुल्लाह खाँ,

प्र०, प्रयाग, वेल्डवीयर प्रेस प्रयाग,

प्र०,–२, साहित्य संमेलन प्रयाग की दूसरी प्रति,

प्र०,–३, पुरातत्व विभाग प्रयाग की प्रति,

प्र०,–१, प्रतापगढ़—राज्य पुस्तकालय,

प्र०,–२, प्रतापगढ़—ब्रजबहादुर लाल की प्रति,

ब्र० भा० ना० भे०, ब्रजभाषा नायिका भेद, प्रभूदयाल, मथुरा,

भा० जी०, भारत जीवन प्रेस काशी,

भा० भू०, भारती भूषण, अर्जुन दास केड़िया, काशी,

म० मं० अ० द्वि० क०, तृ० क०, मनोजमंजरी अजान कवि, द्वितीय, तृतीय कलिका, भारत जीवन प्रेस, काशी,

र० कु०, रस कुसुमाकर, राजा साहित्र अयोध्या,

र० र०, रहीम रत्नावली, मयाशंकर याज्ञिक, काशी से प्रकाशित,

र० सा०, रस सारांस, साहित्य संमेलन प्रयाग की प्रति,

रा० पु० का०, राज्य पुस्तकालय काशी, रामनगर,

रा० पु० नी०, राज्य पुस्तकालय नीम गाँव—सीतापुर,

रा० पु० प्र०, राज्य पुस्तकालय, प्रतापगढ़,

वें०, वेंकटेश्वर प्रेस बंबई की मुद्रित प्रति.

व्यं० मं०, व्यंग्यार्थ मंजूषा, ला० भगवानदीन,

शृं० नि०, शृंगार निर्णय, भिखारी दास, भारत जीवन प्रेस काशी,

शृं० ल० सौ०, शृंगार लतिका सौरभ, द्विजदेव, इंडियन प्रेस प्रयाग,

ष० रि० ह०, षट् ऋतु हजारा, परमानंद सुहाने, नवल किशोर प्रेस लखनऊ,

सं० पु० प्र०, संमेलन पुस्तकालय प्रयाग,

सं० भा०, संजीवन भाष्य, (बिहारी सतसई की टीका) पं० पद्मसिंह शर्मा,

सुं० ति०, सुंदरी तिलक, भारतेंदु बा० हरिश्चन्द्र संग्रहीत, खड्गविलास प्रेस पटना,

सुं० स०, सुंदरी संग्रह, मथुरा का छपा,

सुं० स०, सुंदरी सर्वस्व, पं० मन्नालाल कृत संग्रह, काशी का छपा,

सू० स० सूक्ति सरोवर, ला० भगवान दीन,

ह० ह०, हफीजुल्लाह खाँ का हजारा, नवल किशोर प्रेस लखनऊ,

विषय-निर्देशिका

काव्य-निर्णय

बरनन को करि सकै अहो, तिहि भाषा कोटी ।

मचलि-मचलि माँगी, जाँमे हरि माँखन-रोटी ॥

—सत्यनारायण कविरत्न

॥ श्रीः ॥

काव्य-निर्णय

"कविवर भिखारीदास कृत"

वंदना

(छप्पय)

एक रदँन, द्वै मातु, त्रि चख, चौ बाहु पंच कर।
षट आनँन बर बंधु-सेव्य, सप्तर्चि[1] भाल धर॥
अष्ट सिद्धि, नव निद्धि-दाँनि,[2] दस-दिसि जस बिस्तर।
रुद्र इग्यारें सुखद,[3] द्वादसादित्य ओजबर॥
जो त्रिदस-बृंद बंदित चरँन, चौधें बिघँन आदि गुरु।
तिहि 'दास' पंचदस हूँ तिथिनि, धरिय षोडसौ[4] ध्यौंन उर॥*

वि०—"इस छप्पय छंद-द्वारा दासजी ने तिथि रूप एक अंक से लेकर सोलह अंकों से षोडसोपचार रूप श्रीगणेशजी की वंदना की है। ये अंक कहीं संख्या-वाची और कहीं श्लेष से संयुक्त होकर दूसरे-दूसरे अर्थों की उत्पत्ति करते हैं, जैसे—"एक रदँन=एक दाँतवाले, द्वै मातु=दो माता श्री पार्वती और हथिनी, तीन नेत्र, चार बाहु, पाँच हाथ अर्थात् चार हाथ तो हैं ही पाँचवीं सूंड़ भी हाथ का कार्य ही करती है। षट् आँनन बर बंधु=षडानन-छह मुखवाले 'कार्तिकेय' के सुंदर बंधु (भाई) हैं इत्यादि········।" अस्तु यह छंद जहाँ कवि की चतुराई के साथ-साथ उसकी कल्पना-शक्ति और साहित्यिक ज्ञान का परिचय देता है वहाँ वंद्य-देव को शोडषकला-पूर्ण बतलाने के लिये साहित्य-शास्त्र के प्रमुख अंग रत्नावली अलंकार-द्वारा अलंकृत कवि-प्रतिभा

पा०—(१)—१. (प्र०) (वें०) (सं० प्र०) (का० रा०) सप्तार्चि...। २. (सं० प्र०) अष्ट-सिद्धि-नवनिधि प्रदाँनि...। ३. (प्र०) (सं० प्र०) सुबट...। (सु० स०—भ०) सुखद...। ४. (सु० स०-भ०) (सं० प्र०) (वें०) षोडसी...।

* सु० स० भगवानदीन, पृ० १।

भी सुंदर चमक उठी है। रत्नावली अलंकार वहाँ होता है जहाँ—प्रस्तुत अर्थ के साथ-साथ अन्य प्राकरणिक अर्थ भी क्रम के साथ निकलें—प्रगट हों। क्योंकि रत्नावली का शब्दार्थ है रत्नों की पंक्ति। इसमें एक अर्थ के साथ-साथ दूसरे प्राकरणिक अर्थ भी रहते हैं। यथा—

"रत्नावलि प्रस्तुत अरथ, क्रम ते औरों नाम।"

—भाषाभूषण १६८ वाँ दोहा,

अथवा जैसा दासजी स्वयं कहते हैं—

"क्रमी वस्तु गनि बिदित जो, रचि राख्यौ करतार।
सो क्रम आँनें काव्य में, रत्नावली-प्रकार॥"

"काव्य निर्णय १८ वाँ उल्लास"

पोद्दार कन्हैयालाल जी ने—"जिनका साथ कहा जाना प्रसिद्ध हो, ऐसे प्राकरणिक अर्थों के क्रमानुसार वर्णन को" रत्नावली अलंकार का विषय माना है। विशेष के लिये दे०—१८ वाँ उल्लास।

ग्रंथ-निर्माण के कारण का कथन

(दोहा)

जगत-बिदित उदियाद्रि सो[1] 'अरवर' देस अनूप।
रवि-लौं पृथिवी-पति उदित, जहाँ[2] सोंम-कुल-भूप॥
सोदर[3] जिन[4] के ग्यौंन-निधि, 'हिंदूपति' सुभ नाम।
तिन[5] की सेवा ते[6] लह्यौ, 'दास' सकल सुख धाम॥
अट्ठारें सौ[7] तीन है,[8] संबत, आस्विन मास।
ग्रंथ 'काव्य-निरनें' रच्यौ, बिजै दसमि[9] दिन दास॥
बूझि सु 'चंद्रालोक' अरु 'काव्य-प्रकास'हु[10] ग्रंथ।
समझि सुरुचि भाषा कियौ, लै औरौं[11] कबि-पंथ॥

पा०—१. (रा० का०) सौ...। २. (भा० जी० का०) तहाँ...। ३. (भा० जी० का०) सहुदर...। ४. (भा० जी० का०) ताके...।—(प्र०) तिन्ह के...। ५. (प्र०) ताकी से...।—(भा० जी० का०) (वें०) जिनकी...। ६. (प्र०) सों...। ७. (प्र०) (वें०) सै...। ८. (प्र०) कौ...।—(वें०) हो...। ९. (प्र०) दसों...। १०. (प्र०) सु...। ११. (प्र०) औरहुं।

वही बात सिगरी कहैं, उलथा[1] होत इकंक।
निज उक्ती करि बरनिऐं,[2] रहै सु कलपित संक॥
तातें[3] दोउ[4] मिस्रित रच्यौ, छमि हैं कवि अपराध।
कन्यों-अँनकन्यों समझिकें, सोधि लेंहिगे साध॥

पुनः कवि-कथन जथा—'कवित'

मो सँम जु[5] हैं हैं ते बिसेस सुख पै हैं पुनि
हिंदूपति साहिब के नीकें मन-मौंनों हैं[6]।
एते पै 'तोष'[7] रसराज 'रसलीन' बासुदेव-
से प्रबीन पूरे कबिन बखौंनों हैं[8]॥
ता ते यै उद्यम अकारथ न जै है.
सब भाँति ठहरै है भलौ[9] हौं हूँ अनुमौंनों है[10]।
आगे के सुकबि रीझि हैं तौ कबिताई,
न तौ[11] राधिका-कँन्हाई-सुँमरन कौ बहाँनों है[12]॥

*वि*०—"कहा जाता है इस कवित्त में 'दासजी' ने अपने समकालीन चार कवि तोष, रसराज, रसलीन और वासुदेव का नामोल्लेख किया है। ये चारों कवि दासजी के समय व्रजभाषा के उत्कृष्ट कवि माने जाते थे। कविवर 'तोष' का पूरा नाम अथवा कविता-नाम तोषनिधि था और ये जाति के ब्राह्मण शुक्ल, सिगरौर-प्रयाग के निवासी थे। आपका 'सुधानिधि' ग्रंथ सं० १७९१ वि० में रचा गया तथा सन् १८५६ में काशी के भारतजीवन प्रेस से प्रकाशित हुआ।

रसराज अथवा रसरास (दोनों ही पाठ मिलते हैं) का इतिवृत्त कुछ नहीं मिलता। यदि 'रसरास' पाठ मान लियाजाय तो इनकी सुंदर रचना के कुछ नमूने कविवर नवनीति चतुर्वेदी मथुरावासी के "गोपी प्रेम-पीयूष-प्रवाह" में अवश्य मिलते हैं। आपका रचना-काल सं० १८१० वि० कहा जाता है।

पा०—१.(भा० जी० का०) उलथों...। २. (भा० जी०) (वें०) सब निज उक्ति बनाई हूं। ३. (भा० जी०) (वें०) यातें। ४.—(प्र०) (वें०) दुहुँ...। ५ (प्र०) जे...। ६. (रा० का०) मौंन्यों हैं। ७. (वें०) यातें परतोष...। ८. (रा० का०) बखौंन्यों हैं। ९. (प्र०) (भा० जी०) बै...। १०. (रा० का०) अनुमौंन्यों हैं। ११. (प्र०) न त...। १२. (रा० का०) बहौंन्यों हैं।

रसलीनजी का पूरानाम "सैयद गुलामनबी (उपनाम—रसलीन) बिलग्राम जिला हरदोई के रहनेवाले थे। आपने मुसलमान होकर भी ब्रजभाषा की सुंदर और प्रौढ़ रचना की है। इन जैसी सुंदर, सरस रचना को देखकर ही यह निम्नलिखित उक्ति बरबस याद आ जाती है कि "इन मुसलमान हरिजनन पर कोटँन हिंदू बारिऐ।"

रसलीनजी के दो "अंगदर्पण" (नखसिख, र० का० १७६४) और "रसप्रबोध" (नायिका भेद, र० का० १७६६) ग्रंथ मिलते हैं। ये दोनों ग्रंथ काशी के भारतजीवन प्रेस से सन् १८६६ और सन् १८८५ में क्रमशः प्रकाशित हो चुके हैं। कहते हैं आप सं० १८०३ वि० में विद्यमान थे।

वासुदेव या वासुदेवलाल कायस्थ भी दासजी के समय अच्छे कवि कहे जाते हैं। इनकी रचना का अभी पता नहीं लगपाया है, पर दासजी ने जिस प्रकार से आपका नामोल्लेख किया है उससे जाना जाता है कि आप भी तत्समय ब्रजभाषा के उत्कृष्ट कवि ही नहीं उसके अति मर्मज्ञ थे, इत्यादि...।

एक बात और, वह यह कि "तोष, रसराज और रसलीन शब्दों के दूसरे अर्थ भी हो सकते हैं, जैसे—तोष=संतोष, रसराज=शृंगाररस और रसलीन अर्थात् रस में लीन इत्यादि। इन द्वितीय शब्दार्थों से कवि-इच्छित अर्थ की संगति नहीं बिगड़ती, अपितु कुछ अधिक चमत्कार ही बढ़ जाता है। फिर भी हमें—"महाजनोयेनगतः सपंथा." के अनुसार यहाँ कविनामों पर ही सन्तोष करना पड़ा है—उन्हें ही मानना पड़ा है।"

दासजी के इस भाव को आपके परवर्त्ती कवि महाराज मानसिंह "द्विजदेव" (सं० १८७७) ने भी अपनाया है, यथा—

"रसिक रीझि हैं जाँनि, तौ ह्वै है कबिता सुफल।
न तरु सदाँ सुख-दाँनि, श्रीराधा-हरि कौ सुजस॥"

पं० महावीर प्रसाद मालवीय "बीर" ने अपने स्वसंपादित काव्य-निर्णय के इस कवित्त में "पततप्रकर्ष-दोष" बतलाते हुए लिखा है कि "अभी काव्य-निर्णय बना नहीं और (उक्त) प्रवीण कवियों ने उसकी तारीफ कर दी! संभव है ग्रंथ-निर्माण के अनन्तर यह कवित्त पीछे लिखकर संमिलित किया गया हो...।" कविता-पारखियों ने पतत्प्रकर्ष दोष—"जहाँ प्रस्तुत विषय के क्रमागत प्रकर्ष को कोई हेय-उक्ति कहकर विनष्ट कर दिया जाय, वहाँ कहा है। उदाहरण जैसे—

"रंध्र-जाल ह्वै देखियतु, प्रियतन-प्रभा बिसाल।
चामीकर चपला लख्यौ, कै मसाल, मनिमाल॥"

यहाँ 'प्रिय-तन की विशाल प्रभा (शोभा) का प्रकर्ष बतलाने के लिये चामीकर और चपला के बाद मसाल और मनि-माला का कहना उक्त दोष के अन्तर्गत आ जाता है क्योंकि स्वर्ण और विद्युज्ज्योति के आगे मणियों के समूह तथा मसाल की कोई विशात नहीं। दासजी ने पतत्प्रकर्ष दोष वहाँ बतलाया है" जहाँ अपनायी हुई रीति का निर्वाह न हो, यथा—

"सो है 'पततप्रकर्ष' जहँ, लई रीति निबहैं न।"

और उदाहरण—

"कान्ह, कृस्न, केसव, कृपा, सागर राजिव नैंन ॥"

अर्थात् ककारादि चार शब्दों को कहकर आगे उस (ककरादि) का निर्वाह नहीं किया गया है। अतएव हमारी तुच्छ बुद्धि में यहाँ उक्त दोष नहीं आता, भूल-चूक लेनी-देनी... ।

शुभाशीषरूप—'दोहा'

ग्रंथ काव्य-निरनें-हिं जो समझि करेंगे कंठ।
सदाँ बसैगी भारती, तिन्ह[1] रसनाँ उपकंठ[2] ॥

काव्य-प्रयोजन-'सवैया' जथा—

एक[3] लहैं तप-पुंजँन कौ[4] फल, ज्यों 'तुलसी' अरु 'सूर' गुसाँईं।
एक लहैं बहु संपत, केसव,—भूषँन ज्यों बर बीर बड़ाँईं ॥
एकँन कों जस ही सों प्रयोजँन, है[5] 'रसखाँन'—रहीँम की नाँईं।
'दास' कबित्तँन की चरचा,[6] बुधिवंतँन कों सुख देति सदाँईं ॥*

कविता-भेद 'सोरठा' जथा—

प्रभु ज्यों सिखवें बेद, मित्र[7] कहैं ज्यों सत-कथा।
काब्य-रसँन कौ भेद, सुख-सिख दौँनि तियाँनि[8] ज्यों ॥

पा०—१. (प्र०) ता. । २. (सं० प्र०) सुभकंठ।—(ल०) अतिकंठ। ३. (भा० जी०) एकै...। ४. (प्र०) को ५. (ल०) त्यों...। ६. (का० प्र०) रचनाँ...। ७. (सं० प्र०) मित्र-मित्र ज्यों...। ८. (प्र०) तियाहु...।

* काव्य-प्रभाकर-भानु कवि, पृ० ६३।

वि०—"काव्य अथवा शब्द जैसा दासजी ने कहा है—'प्रभु-संमित', 'सुहृद-संमित' और 'कांता-संमित रूप तीन प्रकार का कहा गया है। वेदस्मृति प्रभु-संमित, पुराणादि इतिहास कथाऐं मित्र-संमित, तथा रस-भेद-युक्त काव्य कांता-संमित। यथा—

"काव्य यशसेऽर्थ कृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृत्तये कांता संमिततयोपदेश युजे॥"

—काव्य-प्रकाश (संस्कृत)

अथवा—

"सत्कविरसनासूर्पी निरतुषत्तर शब्दशालि पाकेन।
तृप्तो दयिताधर्मपि नाद्रियते का सुधादासी॥"

पुनः 'सवैया' जथा—

सक्ति कबित्त-बनाइवे की, जिन[1] जन्म-नछत्र में दींनीं बिधातें[2]।
काव्य की रीति लखी[3] जु कवींन सों, देखी-सुनीं बहु लोक की बातें[4]॥
'दास' जू[5] जामें एकत्र ए तींन,[6] बनें कविता मन-रोचक तातें[7]।
एक-बिनाँ न चलै रथ जैसें धुरंधर सूत के चक्र-निपातें[8]॥*

भाषा में रस, अलंकार, गुन, बरन औ दोष को स्थान

'दोहा' जथा—

रस कविता के अंग, भूषँन हैं भूषँन सदाँ[9]।
गुन सरूप औ रंग,[10] दूषँन करें कुरूपता॥"

पा०—१. (प्र०) जिहिं...। २ (सं० प्र०) विधाते।—(ल०) विंधातहिं। ३. (प्र०) (सं० प्र०) सिखी। ४. (सं० प्र०) बाते।—(ल०) बातहिं। ५. (प्र०) है...। ६. (सं० प्र०) एतीन्यों।—(वें०) ए तीनों। ७. (सं० प्र०) ताते।—(ल०) तातहिं। ८. (भा० जी०) (वें०) की। ९. (प्र०) (सं० प्र०) सकल। १०. (सं० प्र०) अंग...।

* सू० स०—भा० पृ ३८३, २०।—का० का०—रा० च० सिं० पृ० ३१७।

भाषा-लच्छिन 'दोहा' जथा—

भाषा ब्रज-भाषा रुचिर, कहैं सुमति[1] सब कोइ।
मिलैं संस्कृत-फारसिहुँ,[2] सो अति प्रघट जु होइ॥*
ब्रज-मागधी मिलैं अँमर,[3] नाग जँमन-भाषाँनि।
सैहैज पारसी हूँ मिलैं, षट बिधि कहति बखाँनि॥‡

वि०—"दासजी ने यहाँ सुंदर भाषा के लक्षण में काव्य-भाषा षडविधि-युक्त मानी हैं, अर्थात् संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश के साथ ब्रज, मागधी तथा फारसी के सुंदर संयोग से उसे उत्कृष्ट माना है। आप से पूर्व महाकवि "चंद" ने भी अपने "रासो" की भाषा के प्रति इसी प्रकार कहा है, यथा—

"उक्ति धर्म विशालस्य राजनीतिं नवं रसम्।
षडभाषा पुराणं च कुरानं कथितं मया॥"

- पृथ्वीराज-रासो १।३६,

अर्थात् संस्कृत, प्राकृत, राष्ट्रीय अपभ्रंश तथा तीनों प्रदेशों—"राजस्थान, ब्रज और अवध", की तत्सामयिक प्रचलित भाषाओं के मेल से बनी भाषा ही उत्तम भाषा है।"

पुनः 'कवित्त' जथा—

सूर, केसौ, मंडन, बिहारी, कालिदास, ब्रह्म,[4]
चिंतामनि, मतिराम, भूषन[5] से ग्यौंनिऐं।
लीलाधर, सेनापति, निपट, निवाज, निधि,
नीलकंठ मिस्र सुखदेव, देव मौंनिऐं॥
आलम, रहीम, रसखाँन,[6] रसलीन औ
मुबारक से सुमति भए कहाँ-लौं बखाँनिऐं।
ब्रजभाषा[7]-हेत ब्रज-बास हू न अँनुमौंनों,
ऐसे-ऐसे कबिंन हूँ की बाँनीं हूँ तें जाँनिऐं॥

पा०—१. (प्र०) सुकवि। २. (का० प्र०) (सं० प्र०) (वें०) पारस्यौ।—(ल०) फारसी...। ३. (ल०) अबर। ४ (भा० जी०) (वें०) सु...। ५. (सं० प्र०)...।—बिहारी, कालि चिंतामनि, ब्रह्म...। ६. (सं० प्र०) (वें०) रसखाँन सुंदरादिक, अनेकनि सुमति...।—(प्र०) रहीम रसखाँन और, सुंदर सुमति...। ७. (भा० जी०) ब्रजभाषा-हेतब्रज-लोक-रीति देखी-सुनीं, बहु भाँति कबित...।

*, का०प्र०—भानु पृ० ६७६। ‡, संमेलन प्रयाग की प्रति में यह दोहा नहीं है।

वि०—"भिखारीदास जी ने इस कवित-द्वारा ब्रजभाषा-काव्य-रचना के लिए—सूरदास (अ० छा०, ज०-सं० १५३५ वि०), रसखाँन (र० ज०-सं० १५८३ वि०), ब्रह्म, पूरा नाम—'महाराज वीरबल' (सं० १६०० वि०), लीलाधर (र० सं० १६०६ वि०), केशवदास (ज० सं० १६१२ वि०), रहीम, पूरा नाम—'अब्दुर्रहीम खानखाना' (ज० सं० १६१० वि०), आलम (ज० सं० १६३६ वि०), मुबारक (ज० सं० १६४० वि०, र० सं० १६७० वि०), विहारी (ज० सं० १६६०), चिंतामणि (ज० सं० १६६६ वि०, र० सं०—१७७० के आसपास), सेनापति (ज० सं० १६४६ वि०)*, मंडन (र० सं० १७१६ वि०), सुखदेव मिश्र (र० सं० १७२० से १७६० वि०), नीलकंठ (र० सं० १७३० वि०), देव (ज० सं० १७३० वि०), निवाज (र० सं० १७३७ वि०)†, भूषण (ज० सं० १६७० वि०)‡, रसलीन पूरानाम—'सैयद गुलामनवी (ज० सं० १७५६ र० और सं० १७६४ वि०), मतिराम (ज० सं० १६७४ और र० सं० १७१६ वि०), तोषनिधि (र० सं० १७६१ वि०) और निपट निरंजन (ज० समय अज्ञात) आदि को आदर्श मानते हुए इनको रस-रचनाओं को 'ब्रजभाषा'-ज्ञान-वर्द्धन का साधन कहा है। ब्रजभाषा के कमनीय कवि और उसकी शुद्धता के प्रतीक "श्रीनंददास" (अष्टछाप) और प्रेम की पीर के नये चाहक "आनंदघन" (सं० १७४६ वि०) का नाम नहीं लिया है—इन्हें इस श्रेणी में नहीं गिनाया है। क्यों……, का कारण अज्ञात है। नंददासजी के लिये जहाँ काव्य-पारखियों ने—

"और कबि गढ़िया, नंददास जड़िया"

कहकर उनका नमन किया है, वहाँ "आनंदघन" के श्रीवृंदावन-निवासी स्व० श्री गो० राधाचरणजी ने—

"दिल्लीस्वर-नृप-निमित एक धुरपद नहिं गायौ।
पै निज प्यारी-कहें, सभा कों रीझि-रिझायौ॥
कुपित होइ नृप दिये निकासि, बिंदावन आए।
परम सुजाँन सुजाँन-छाप पद, कबित बनाए॥

* सेनापति जी का जन्म समय अभी निश्चित नहीं उक्त संवत् के आस-पास आपका जन्म माना जाता है। सं० १७०६ में उन्होंने अपना सुप्रसिद्ध ग्रंथ "कवित्तरत्नाकर" लिखा।
†, निवाज का जन्म-सं० अभी अज्ञात है। ‡, भूषण का समय शुक्ल जी संमानित है। उनका शिवराज भूषण सं० १७३० वि० में बना यह निर्विवाद सिद्ध है। इस ग्रंथ की जो सबसे पुरानी प्रति मिली है उसका लि० का० सं० १८१८ वै० है।

नादिरसाही रज मिले, कियौ न नेंक उचाट मन ।
हरि-भक्ति-बेलि सिंचन करी, घनानंद आनंदघन ॥"

यह कर अपनी श्रद्धा की भेंट अर्पित की है । यही नहीं, आप के काव्य के प्रति कहा गया है—

"नेही महा, ब्रजभाषा-प्रवींन, औ सुंदरताई के भेद कों जाँनें ।
राह बियोग की रीति के कोबिद, भावनाँ भेद सरूप कों ठाँनें ॥
चाह के रंग में भींज्यौ हियौ, बिछुरें-मिलें पीतम सांति न आँनें ।
भाषा-प्रबींन सुछंद सदाँ रहें, सो घन जू के कबित्त बखाँनें ॥"

अथवा—

"प्रेम सदाँ अति ऊँचौ लहै, सुकहै इहि भाँति की बात छकी ।
सुनि कें सब के मन लालच दौरै, औ बौरै लखें सब बुद्धि चकी ॥
जग की कबिताई के धोखें रहै, ह्याँ प्रबींनन की मति जाति जकी ।
सँमझै कबिता 'घन आँनद' की, जिन आँखिन प्रेम की पीर तकी ॥"

दासजी उल्लिखित कवियों की रचनाएँ इस प्रकार हैं—

"सूरदास"[१]—सूरसागर, साहित्य-लहरी तथा नवीन खोज से प्राप्त—"सूर-सहस्रनामावली, सूर-गीता, सूर-सेवाफल । अन्य-अनुमोदित—सूरसारावली ।*

"रसखाँन"[२]—"प्रेमवाटिका, फुटकल—कवित्त, सवैया तथा गेय पद...।"

"ब्रह्म"[३]—"फुटकल"—कवित्त, सवैया तथा गेय पद...। ‡

"लीलाधर[४]—फुटकल"—कवित्त, सवैया ।

"केशवदास"[५] "कवि-प्रिया, रसिक-प्रिया, रामचंद्रिका, वीरसिंह-चरित, विज्ञान-गीता, रतन-बावनी, जहाँगीर-जस-चंद्रिका...।"

"रहीम"[६]—"रहीम दोहावली," अथवा "रहीम सतसई," बरवैनायिका-भेद, शृंगार सोरठ, मदनाष्टक, रासपंचाध्यायी, नगर-शोभा तथा फुटकल—कवित्त, सवैया, गेय पदादि....। +

*, ब्रजभाषा-साहित्य सूर्य श्री सूर-विरचित ग्रंथों के विषय में विभिन्न मत हैं, कोई कुछ, कोई कुछ मानते हैं । हमारे अभिमत से उक्त ग्रंथ ही सूर रचित हैं । इधर एक ग्रंथ—छोटी-रचना "पांडवगीता" और मिली है । ‡ ब्रह्म अर्थात् महाराज बीरबल का कोई ग्रंथ उपलब्ध नहीं है और न उसका उल्लेख ही कहीं मिलता है । बहुत दिन हुए स्व० श्री हरिनारायण जी पुरोहित जयपुर ने इनके छंदों का संकलन किया था । भरतपुर स्टेट की लायब्रेरी (सरस्वती भंडार) में भी इनकी रचनाओं का एक संग्रह ग्रंथ है ।

+, रहीम पर सबसे सुंदर पुस्तक स्व० श्री मयाशंकर जी याज्ञिक बी० ए० संपादित हैं ।

"आलम"[७]—"आलमकेलि, माधवानल-कामकंदला (नाटक) ।"*

"मुबारक"[८]—"अलकशतक, तिलशतक तथा फुटकल—कवित्त, सवैया ।"

"बिहारी"[९]—"बिहारी सतसई ।"

"चिंतामणि"[१०]—"कविकुल-कल्पतरु, काव्य-प्रकाश, काव्य-विवेक, छंद-विचार तथा रसमंजरी एवं रामायण ।"

"सेनापति"[११]—कवित्त-रत्नाकर, काव्य-कल्पद्रुम ।"

"मंडन"[१२]—"रसरत्नावली, रसविलास, जनकपच्चीसी, जानकी जू कौ ब्याह, नैंन-पचासा तथा—फुटकल कवित्त, सवैया ।

"सुखदेवमिश्र"[१३]—छंद-विचार, फाजिलअली-प्रकाश, वृत्त-विचार, रसार्णव, शृंगारलता, अध्यात्म-प्रकाश ।

"नीलकंठ"[१४]—"फुटकल छंद—"कवित्त, सवैया ।"

"देव"[१५]—"भावविलास, अष्टयाम, भवानीविलास, सुजानविनोद, प्रेम-तरंग, रागरत्नाकर, कुशलविलास, देवचरित्र, प्रेमचंद्रिका, जातिविलास, काव्य-रसायन (शब्द रसायन), सुख-सागर तरंग, वृक्षविलास, पावसविलास, ब्रह्म-दर्शनपच्चीसी, तत्त्वदर्शनपच्चीसी, आत्मदर्शनपच्चीसी, जगद्दर्शनपच्चीसी, रसानंद-लहरी, प्रेमदीपिका, सुमिलविनोद, राधिकाविलास, नीतिशतक, नख-सिख-प्रेमदर्शन ।"

"निवाज"[१६]—"शकुन्तला नाटक तथा फुटकल छंद कवित्त-सवैया ।"

"भूषण"[१७]—"शिवभूषण या शिवराजभूषण, भूषणहजारा, भूषणोल्लास, दूषणोल्लास तथा अल्पमत से—"शिवाबावनी" और "छत्रशाल दशक ।"

"रसलीन"[१८]—रसप्रबोध, अंगदर्पण ।'

"मतिराम"[१९]—रसराज, ललितललाम, छंदसार, साहित्य-सार, लक्षण-शृंगार, सतसई ।"

"तोषनिधि"[२०] सुधानिधि, नखसिख, विनयशतक ।"

"निपटनिरंजन"[२१]—फुटकल छंद, कवित्त, सवैया ।

अस्तु, ये संपूर्ण कवि ब्रजभाषा साहित्य-सूर्य "श्रीसूर" जो कि भक्त-कवि, संगीति के सृजक और गेय-पद-रचना के आदि गायक हैं, को छोड़कर अन्य सभी कवि "रीति-कालिन-कविता के प्रमुख आचार्य और उसके स्तम्भ हैं, इत्यादि...।"

*, आलम के लिये विशेष रूप से देखिये जवाहरलाल चतुर्वेदी संपादित "पोद्दार अभिनंदन ग्रंथ" जो 'अ० भा० ब्रजसाहित्यमंडल मथुरा' से प्रकाशित हुआ है । इनका 'आलमकेलि' ग्रंथ ला० भगवानदीन जी के संपादकत्व में काशी से प्रकाशित हो चुका है ।

दासजी के अनुसार ही 'अकबर'-काल के कवियों का पता निम्नलिखित छंद-द्वारा मिलता है, यथा—

"पाइ प्रसिद्ध पुरंदर, ब्रह्म, सुधारस अंमृत अंमृत-बाँनीं।
गोकुल, गोप, गुपाल, गनेस, गुनीं, गुनसागर गंग से ग्याँनीं॥
जोध, जगन्न, अगे, जगदीस, जगा मग, जैत जगत है जाँनीं।
कोरे अकब्बर सों न कथी, इतने मिलिकें कबिता जु बखाँनीं॥"

पुनः 'दोहा' जथा—

तुलसी-गंग[1] दोऊ भए, सुकबिँन के सरदार।
इन[2] के[3] काव्यनि में मिली, भाषा बिबिध प्रकार॥*

वि०—"गो० तुलसीदास (ज० स० १५५४ वि०) और कविवर 'गंग' (समय १६वीं शताब्दी) को दासजी ने इस दोहे में अच्छे कवियों में प्रमुख माना है। इन्हीं दोनों के काव्यों में भाषा का विविध प्रकार बतलाया है। विविध प्रकार की भाषा का स्पष्टीकरण यहाँ नहीं है। गो० तुलसीदास का 'रामचरितमानस' तथा कुछ अन्य ग्रंथों में "ब्रजावधी" के विविधरूप कहे जा सकते हैं। खोजने से भाषा के अन्यरूप भी आपकी रचनाओं में मिलेंगे, पर 'गंग' के काव्य में भाषा का 'विविध प्रकार' बतलाना कुछ खोज चाहता है। कारण दासजी के समय आपकी रचना का कोई विशेष ग्रंथ मिलता हो जो आजकल प्राप्त नहीं है। आजकल तो आपके फुटकल कवित्त-सवैया विविध हस्तलिखित और मुद्रित संग्रह ग्रंथों में मिलते हैं, जिन्हे संगृहीत कर स्व० हरिनारायणजी पुरोहित जयपुर ने प्रकाशित किये हैं।"

पुनः 'सवैया' जथा—

जाँनें पदारथ भूषन-मूल, रसांग परांगन में मति छाकी।
त्यों[4] धुनि अर्थ[5] सु बाक्यन लै गुन सब्द अलंकृत सों रति पाकी॥
चित्र कबित्त करै, तुक जाँनें, न दोषन-पंथ कहूँ गति जाकी।
उत्तम ताके[6] कबित्त बनें, करै कीरत भारती यों अति ताकी॥†

पा०—१. (का० प्र०)...गंगा दो भए।—(प्र०—२)...गंगा द्वै भए। २. (सं० प्र०) जिन्ह के...। ३. (का० प्र०)...की...। ४. (प्र०) सो...।—(वें०) स्यो...। ५. (प्र०) (वें०) अरथन...। ६. (भा० जी०) (प्र०) (वें०)—ताकौ...।

* का० प्र०—भानु, पृ० ६७६। †. सू० स०—ला० भगवानदीन, पृ० ३८६, १।

वि०—"दासजी ने इस सवैया में काव्य के मूल अंगों का वर्णन किया है, जैसे—"पदार्थ, जो वाचक, लक्षक और व्यंजक कहे जाते हैं, भूषन-मूल अर्थात् अलंकारों का सार, रसांग=रस-सामिग्री, परांग वा अपरांग=अंगांगीभाव, धुनि (ध्वनि)—वाच्यार्थ की अपेक्षा जब व्यंग्यार्थ में अधिक चमत्कार हो, गुण (गुण)—माधुर्य, ओज, प्रसाद, अथवा 'गुणीभूत व्यंग्य—वाच्यार्थ जब व्यंग्यार्थ में अधिक चमत्कार न हो, समान वा न्यून चमत्कार हो, अर्थात् व्यंग्यार्थ प्रधान न हो और अलंकृत—अलंकार अर्थात् जहाँ व्यंग्य के बिना वाच्यार्थ में ही चमत्कार हो और चित्र-काव्य इत्यादि...।

दासजी के इस सवैया को "काव्य-निर्णय" की 'सूची' भी कह सकते हैं, क्योंकि प्रायः उक्त कथन के अनुसार ही आपने काव्यनिर्णय के उल्लासों—भागों का निर्माण किया है।"

"इति श्री सकल कलाधर-कलाधर वंसावतंस श्रीमन्महाराज कुमार बाबू "हिंदूपति" बिरचिते 'काव्य-निरनए' मंगलाचरन बरननं नाम प्रथमोल्लासः ॥"

अथ-द्वितीयउल्लास

"पदार्थ-निर्णय"

'दोहा' जथा—

पद बाचक औ लाच्छिनिक, बिंजक[1] तीन बिधाँन।
ताते बाचक-भेद कौं, पैहलें करौं बखाँन॥

बाचक-भेद 'दोहा' जथा—

जाति, जदिच्छा, गुन, क्रिया, नाँम जुचार प्रमाँन।
सब की संग्या 'जाति' गनि, बाचक कहैं सुजाँन[2]॥*

वि०—"प्रत्यक्ष संकेत किये गये अर्थ को बतलानेवाले शब्द 'वाचक' कहलाते हैं और ये—'जाति, यहच्छा, गुण और क्रिया-वाचक रूप से चार प्रकार के होते हैं।"

उदाहरन 'दोहा' जथा—

जाति-नाँम 'जदुनाथ' गनि,[3] 'काँन्ह' जदिच्छा धारि।
गुन ते कहिऐं 'स्याँम' औ क्रिया-नाँम 'कंसारि'॥‡

पा०—१. (प्र०) (वें०) बिंजन, व्यंजन। २. व्यं० मं० (ला० भगवानदीन) पृ० ३ में इसका यह रूप मिलता है। यथा—

"सब्द कहत प्रघटै अरथ, बाचक सोइ प्रमाँन।
जाति, जदृच्छा, गुन, क्रिया, नाम चार पैहचाँन॥"

और संमेलन-प्रयाग की हस्तलिखित प्रति जो 'अमैंठी'—नरेश की है, उसमें डेढ़ दोहा ही लिखा मिलता है। यथा—

"जाति, जदृच्छा, गुन, क्रिया, नाम जु चार प्रमाँन।
पद बाचक अरु लाच्छिनिक, व्यजन तीन बिधाँन॥
ताते बाचक-भेद कौं, पैहलें कहौं बखाँन।"

३. (प्र०) (सं० प्र०) अरु...।

* का० प्र०—भानु० पृ० ६७। व्यं० मं० (ला० भ० दी०) पृ० ३। ‡ का० प्र०—भानु, पृ० ६७।

वि०—"जिससे किसी पदार्थ विशेष का सामान्य ज्ञान हो वह 'जाति-वाचक, जिस शब्द से किसी के बल एक पदार्थ का ही बोध हो उसे यदृच्छा-वाचक कहते हैं। इसी प्रकार गुण-वाचक उसे कहते हैं जिससे किसी जाति की विशेषता का ज्ञान हो और जिससे पदार्थ के साध्य-धर्म का बोध हो उसे क्रिया वाचक कहते हैं। उदाहरण के लिये दासजी-द्वारा प्रयुक्त ऊपर का दोहा द्रष्टव्य है, अर्थात् भगवान् श्री कृष्ण जाति-वाचक से 'यदुनाथ', यदृच्छा से 'कान्ह', गुण से 'श्याम' और क्रिया से 'कंसारि'—कंस के अरि, मारनेवाले विदित हैं।"

प्रथम गुन बरनन 'दोहा' जथा—

रूप, रंग, रस, गंध[1] गनि, औरु जु निसचल धर्म।
इन सब कों 'गुन' कहत हैं,[2] गुनि राखौ[3] ये मर्म॥

वाच्यार्थ बरनन 'दोहा' जथा—

ऐसे सबदँन सों जहाँ,[4] प्रघट होइ संकेत।
तिहिँ 'बाच्यार्थ' बखाँन-हीं, सज्जँन, सुमति, सचेत॥

वि०—"वाचक शब्दों के अर्थ को 'वाच्यार्थ' कहा गया है, अतएव—जाति-वाचक में 'जाति', गुण-वाचक में 'गुण', क्रिया-वाचक में 'क्रिया' और यदृच्छा-वाचक शब्दों में 'यदृच्छा' रूप वाच्यार्थ होता है। नैयायिक ऐसा नहीं मानते, वे इन चारों प्रकार के शब्दों को केवल 'जातिवाचक' वाच्यार्थ ही मानते हैं और जैसा कि दासजी ने आगेवाले दोहे में कहा है। मुख्यार्थ तो इसलिये कहा जाता है कि 'लक्ष्यार्थ' और 'व्यंग्यार्थ' के पूर्व वाच्यार्थ वहाँ उपस्थित है और 'अभिधेयार्थ' उसे इसलिये कहा जाता है कि यह अभिधा का व्यापार है—उससे वह बोध होता है।"

अथ अभिधा बरनन 'दोहा' जथा—

अनेकार्थ हू सबद में, एक अर्थ को भक्ति[5]।
तिहिं[6] 'बाच्यारथ कों कहैं[7] सज्जँन 'अभिधासक्ति॥ *

पा०—(भा० जी०)...रंग...।—(स० प्र०) (वें०) रंगरूप रस गंध गंधि गनि,...। २. (भा० जी०) हों...। ३. (भा० जी०) (वें०) राख्यौ, । ४. (प्र०) (का० प्र०) ऐसे सब्देंन सों फुरै, संकेतित जो अर्थ, ताकों बाच्यारथ कहैं, सज्जँन सुमति-समर्थ।—(प्र०—२) ऐसे सबदँन ते प्रघट,...। ५. (प्र०) (प्र०—२) व्यक्ति। ६. (प्र०—२) ता,...। ७. (का० प्र०) कहत।

* का० प्र० (भानु), पृ० ६७।

वि०—"अभिधा—'साक्षात सांकेतिक रूप से अर्थ का बोध करानेवाली क्रिया (व्यापार) को कहते हैं, जो कि कहीं संयोग से, कहीं असंयोग से, कहीं बहुअर्थ-संयुक्त शब्दों के साहचर्य से, कहीं विरोध से, कहीं अर्थबल से, कहीं अर्थ के प्रकरण-ज्ञान से, कहीं प्रसंग से, कहीं समस्त वा अन्वित पद के अर्थ-बल (चिन्ह) से, कहीं सामर्थ्य से, कहीं औचित्य वा योग्यता से, कहीं देश-बल से, कहीं काल-बल-भेद से और कहीं अन्य संनिधि से, लिंग से, तथा कहीं स्वर के फेर से और कहीं अभिनय से १४ प्रकार को जानी जाती है। इसमें मतभेद भी है। कोई इस ज्ञान को तेरह प्रकार का और कोई बारह प्रकार का ही मानते हैं, यथा—

"है संजोग, बियोग अरु साहचरज सु बिरोध।
प्रकरन-अरथ-प्रसंग पुनि, चिन्ह, सामरथ बोध॥
औचित्यहु पुनि देस-बल, काल-भेद, सुर-फेर।
द्वादस अभिधासक्ति के, भेद कहें कवि हेर॥"

—काव्य-प्रभाकर-भानु

किंतु दासजी ने अभिधा के तेरह भेदों का ही कथन किया है, यथा—

(१) संजोग ते 'दोहा' जथा—

कहूँ होत 'संजोग' ते, एक-हि[1] अरथ प्रमाँन।
संख-चक्र-जुत हरि कहें, बिसमैं[2] होत न आँन॥ *

(२) असंजोग ते 'दोहा' जथा—

असंजोग ते कहुँ कहें, एक अर्थ कबिराइ।
कहें धँननजै धूँम बिन, पावक जाँन्यों जाइ॥

वि०—"जब कि 'अनेकार्थी' शब्द के एक अर्थ का निर्णय किसी अभिन्न वस्तु के कारण किया जाय। जैसे "हरि" के अन्य अर्थ भी होते हैं, पर शंख और चक्र के संयोग से यहाँ विष्णु भगवान ही अर्थ लिया जायगा। इसी

पा०—१. (प्र०) एकै। २. (का० प्र०) विष्णु होत नहिं आँन। (भा० जी०) होत विष्णु कौ ग्याँन। (वें०) बिष्णौ होत न आँन।

* काव्य प्र०—(भानु) पृ० ६८।

प्रकार जब अनेकार्थ वाचक शब्द के एक अर्थ का निर्णय किसी अभिन्न वस्तु के असंयोग (वियोग) से किया जाय वहाँ उक्त अभिधा होती है।"

(३) साहचर्य ते 'दोहा' जथा—

बौहौत अर्थ कों एक कहुँ 'साचरज'[१] ते जाँन।
'बेंनीमाधौ'[२] के कहें, तीरथ 'बेंनीं' माँन॥ *

वि०—"जहाँ अनेकार्थी वाचक शब्द के एक अर्थ का निर्णय किसी सहचर वस्तु की सहायता से किया जाय, जैसे 'माधौ' (माधव) शब्द के वसंतादि कितने ही अर्थ होते हैं, पर वेणी (त्रिवेणी) के साहचर्य से यहाँ तीर्थराज प्रयाग ही माना जायगा।"

(४) विरोध ते 'दोहा' जथा—

कहुँ 'बिरोध' ते होत है एक अर्थ कौ साज।
चंद-हिं[३] जाँन परै कहें, 'राहु-ग्रस्यौ' 'दुजराज'[४]॥

वि०—"जब किसी प्रसिद्ध विरोध अथवा शत्रुता के कारण अनेकार्थी शब्द के एक ही अर्थ का निर्णय किया जाय, जैसे "दुजराज" (द्विजराज) के चंद्र और दंत-पंक्ति आदि कई अर्थ होते हैं, पर राहु के ग्रसने के कारण यहाँ चंद्र अर्थ ही लिया जायगा।"

(५) अरथ-प्रकरन ते 'दोहा' जथा—

अर्थ-[५]प्रकोरन ते कहूँ, एक अर्थ पैहचाँन।
बृच्छ-जाँनिऐं दल-झरें, दल-साजें नृप जाँन॥

वि०—"जहाँ अर्थ के प्रकरण से—उसके बल से जब एक ही अर्थ जाना जाय, जैसे दल-पत्ते और सैन्य आदि समूह को कहते हैं, अस्तु वृक्ष के

पा०—१. (प्र०) साहचरज। (प्र०—२) (वे०) साहचर्य। २. (प्र०) (वें०) बेनी-माधव। ३. (प्र०) चंदै...। (वें०) चंदै...। ४. (प्र०) (प्र०—२) (सं० प्र०) (वें०) द्विजराज। ५. (प्र०) (सं० प्र०) (वें०) अरथै-प्रकरैंन ..। (का० प्र०) अरथौ प्रकरैंन...।

* का० प्र० (भानु) पृ० ६८। †, का० प्र० (भानु), पृ० ६६। ?, का० प्र० (भानु), पृ० ६६।

साथ जोड़ने से उसका अर्थ पत्ते और राजा के साथ संयुक्त करने से 'दल' का अर्थ सेना होगा।"

(६) प्रसंग-ग्यौंन ते 'दोहा' जथा—

बाचक ते कहुँ पाईऐ, एक-हि अरथ निपाट[1] ।
'सरसुति' क्यों[2] कहिऐ, कहैं, 'बाँनी' बैठ्यौ हाट ॥ *

वि०—"जब किसी प्रसंग के कारण अनेकार्थी 'वाचक' शब्द के एक अर्थ का निर्णय हो, जैसे—'बाँनीं' (वाणी) शब्द के सरस्वती आदि अर्थ होते हैं, पर यहाँ 'हाट-बाजार के प्रसंग से 'बनियाँ ही अर्थ होगा।"

(७) चिन्ह (लिंग) ते 'दोहा' जथा—

आँन सबद-ढ़िंग ते कहूँ, पईऐ एक-हि[3] अर्थ, ।
सिखी-पिच्छ ते जाँनिऐं, केकी परै समर्थ ॥ †

वि०—"जब संयोग के अतिरिक्त किसी अन्य संबंध से शब्द के एक अर्थ का निर्णय किया जाय और उदाहरण जैसा यहाँ दासजी ने कहा है।"

(८) सामर्थ्य ते 'दोहा' जथा—

'दास' कहूँ[4] साँमर्थ ते, एक अरथ ठैहरात ।
ब्याल बृच्छ-तोख्यौ कहैं, कुंजर जाँन्यों जात ॥ ‡

वि०—"जहाँ किसी पदार्थ की सामर्थ्य के कारण अनेकार्थी—अनेकार्थवाची शब्द के एक अर्थ का निर्णय किया जाय। जैसे यहाँ व्याल हाथी और सर्प दोनों को कहते हैं, पर वृक्ष तोड़ने की सामर्थ्य के कारण व्याल शब्द का अर्थ सर्प न मान हाथी ही जाना जायगा।

(९) औचित्य ते 'दोहा' जथा—

कहूँ उचित ते पाईऐ, एक अर्थ की रीति[5] ।
तरु पै 'द्विज' बैठ्यौ कहैं, होत बिहंग प्रतीति ॥

पा०—१. (प्र०) कहूँ लिंग ते पाईऐ, एक अर्थ कौ ठाट। (का० प्र०) कहूँ लिंग ते जानिऐं, एकै अरथ सु घाट। २ (प्र०) सरसइ क्यों...। (का० प्र०) सरस्वती कहिऐ कहूँ...। (वें०) सरस्वति को कहिऐ...। ३. (प्र०) एकै। ४. (का० प्र०) कहूँ-कहूँ...। ५. (प्र०—२) (वें०) एकै अरथ सुरीति।

*, †, ‡, +, का० प्र० (भानु), पृ०-६९, ७०।

वि०—"जहाँ किसी औचित्य (योग्यता) के कारण किसी अनेकार्थवाची शब्द का एक अर्थ ही ग्रहण किया जाय। जैसा कि यहाँ... द्विज शब्द के कई अर्थ होते हैं, पर यहाँ तरु-वृक्ष के कारण उसका 'विहंग' अर्थ ही उपयुक्त है।

(१०) देस-बल ते 'दोहा' जथा—

कहूँ देस-बल कहत हैं, एक अर्थ कबि धीर।
मरु में जीबन दूरि है,[1] कहैं जाँनियत[2] नीर ॥ *

वि०—"जब कि किसी देश विशेष के कारण किसी अनेकार्थी शब्द के अर्थ विशेष का निर्णय किया जाय, जैसा उदाहरण में दासजी ने कहा है।"

(११) काल-भेद ते 'दोहा' जथा—

कहूँ काल ते होत है, एक अर्थ की बात।
कुबलै निसि-फूल्यौ कहैं, कुमुद दिवस जलजात ॥ †

वि०—"जब कि काल (समय) प्रातः मध्याह्न, अपराह्न, सायं और रात्रि के कारण किसी अनेकार्थी शब्द का एक अर्थ निर्णय किया जाय।"

(१२) स्वर के फेरते 'दोहा' जथा—

"कहूँ स्वरादिक-फेर ते, एक-हि[3] अर्थ प्रसंग।
बाजी भली सु[4] बाँसुरी, बाजी भलौ तुरंग ॥" ‡

वि०—"जब कि स्वर के फेर से किसी विविध अर्थ-संयुक्त शब्द का प्रसंगानुसार अर्थ लिया जाय, जैसा "बाजी भली सु०...." रूप उदाहरण में 'बाजी' शब्द का।"

(१३) अभिनय ते 'दोहा' जथा—

कहूँ अभिनयादिकन ते, एक-हि[5] अरथ बिचार।
इती देखियत देहरी, इते बड़े हैं बार ॥

वि०—"जहाँ अभिनय-द्वारा एक ही अर्थ का विचार किया जाय, जैसा दासजी के इस दोहे के उत्तरार्ध में।

पा०—१. (भा० जी०) यै। २. (प्र०—२) जाँनिऐं...। ३. (भा० जी०) (प्र०) (वें०) एकै। ४. (प्र०) न...। ५. (प्र०) (वें०)—एकै।

*, का० प्र० (भानु) पृ० ७०। †, का० प्र० (भानु) पृ० ७१। ‡, का० प्र० (भानु) पृ० ७१।

पुनः 'दोहा' जथा—

जाँमें अभिधा-सक्ति-तजि,[1] अरथ न दूजौ कोइ।
इहौ[2] काव्य कीन्हें बनें, न तौ मिलतै[3] होइ॥

अभिधा सक्ति कौ उदाहरन 'दोहा' जथा

मोर-पच्छ[4] कौ मुकट सिर, उर तुलसी-दल-माल।
जमुनाँ-तीर कदंब-ढिंग, मैं देखे[5] नँदलाल॥

वि०—'अभिधा में—रूढ़, यौगिक और योगरूढ तीन प्रकार के शब्दों का प्रयोग होता है। 'रूढ' शब्द वे जिनकी व्युत्पत्ति न हो, 'यौगिक वे जिनका अर्थ उनके अवयवों से होता हो और 'योगरूढ वे जो योगिक होते हुए भी रूढ हों—जिनसे किसी विशेष वस्तु के लिये ही प्रस्तुत किये जाने की प्रसिद्धि हो—रूढि हो। जैसे—''मोर-पच्छ कौ०...'' रूप उदाहरण में। 'मोर, पच्छ, दल, माल, तीर, कदंब, नंद और लाल' सब अनेकार्थी हैं, पर इन द्वारा यहाँ एक ही अर्थ 'अभिधेय' है।''

लच्छना-सक्ति बरनन 'दोहा' जथा—

मुख्य अरथ कौ बाध करि,[6] सब्द[7] लच्छना होत।
'रूढ़ि' और 'प्रयोजनवती',[8] है 'लच्छना उदोत॥*

वि०—मुख्य अर्थ के बाध होने पर रूढि अथवा प्रयोजन के कारण जिस शक्ति के द्वारा मुख्यार्थ से संबंध रखनेवाला अन्य अर्थ लक्षित हो उसे ''लक्षणा'' कहते हैं और यह 'रूढि' और 'प्रयोजनवती' नाम से दो प्रकार की होती है। लक्ष्यार्थ-वाचक शब्द को 'लक्षक' और लक्ष्यार्थ-निर्धारिणी शक्ति को 'लक्षणा' कहते हैं। मुख्यार्थ को ग्रहण न करने का कारण कवि या लोक-परंपरा मानी जाती है, अथवा कोई प्रयोजन होता है। यथा—

''मुख्यार्थ बाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात्।
अन्यऽर्थो लक्ष्यते (यत्र) लक्षणारोपिता क्रिया॥''

पा०—१. (प्र०) करि...। २. (प्र०) (वें०) यहौ...। ३. (भा० जी०) मिलतौ। (प्र०) ना तौ मिलित होइ। ४. (वें०) मोर-पंख...। ५. (प्र०) देख्यौ। (वें०) देखौं। (सं० प्र०) मैं देखी...। ६. (प्र०) मुख्य-अर्थ के बाध ते। (वें०)...बाध सों। ७. (प्र०) शब्द लाच्छिनिक...। (वें०) सब्द लच्छिनिक...। ८. (वें०) रूढ़ी-प्रयोजनवती। (रा० का०) रूढ़-प्रयोजनवती।

*, व्यं० मं० (ला० भ०) पृ० ६।

अर्थात् जहाँ वाच्यार्थ ग्रहण करने में बाधा होने पर किसी रूढि वा प्रयोजन के वश मुख्य अर्थ से संबंधित अन्य अर्थ को आरोपित कर 'बाधा' दूर कर दी जाय तो वहाँ लक्षणा का व्यापार समझना चाहिये।"

रूढ़ि लच्छना-लच्छन 'दोहा' जथा--

मुख्य अरथ में[1] बाध पै, जग में बचन प्रसिद्ध।
'रूढ़िलच्छना' कहति हैं, ता कों[2] सुमति समृद्ध[3] ॥*

वि०—"जहाँ केवल रूढ़ि, अर्थात् लोगों के प्रयोग-बाहुल्य वा लोक-प्रसिद्धि के कारण मुख्यार्थ को छोड़ दूसरा लक्ष्यार्थ ग्रहण किया जाय वहाँ 'रूढिलक्षणा' होती है।"

उदाहरन 'दोहा' जथा—

फलो सकल मन-कामनाँ, लूट्यौ[4] अगनित चैंन।
आज अँचै हरि-रूप सखि, भए प्रफुल्लित नैंन ॥†

अथवा पुनः 'कबित्त' जथा—

अँखियाँ हँमारी दई-मारीं सुधि-बुधि हारीं,
मोहू तें जु न्यारी 'दास' रहैं सब काल में।
कौंन गहै ग्यौंनें, काहि सौंपत सयौंनें,
कौंन लोक-लोक[5] जाँनें ए नहीं हैं निज हाल में[6] ॥
प्रेंम-पगि रहीं, महा[7]मोह में उँमगि रहीं,
ठीक ठगि[8] रहीं, लगि रहीं बनमाल में।
लाज कों अँचै कें, कुल-धरम पचै कें,
बिथा-बृंदन[9] सँचै कें भई मगँन गुपाल में ॥‡

अस्य तिलक

मन-कामनाँ बृच्छ नाहीं, जो फलै, फलिबौ सब्द बृच्छँन पर होत है। लच्छनाँ-सक्ति ते मन की कामनाँ कों फली बोलियतु हैं। ऐसे-ही-ऐसे सब्दँन कौ ऊपरले दोहा औरु या कबित्त नें अधिकार है, सो जाननों।

पा०—१. (प्र०) के...। (वें०) कौ...। २. (प्र०—२) सों...। ३. (का० प्र०) कहत निरूढी लच्छना, जे कवि बाँनीं सिद्ध। ४. (प्र०) लूटेउ। ५. (प्र०) ओक। (वें०) वोक। ६. (प्र०—२) ए नाहिं नित हाल में। ७. (का० प्र०) माया। ८. (भा० जी०) लगि...। ९. (प्र०) (प्र०—२) बंधँन...।

*, का० प्र० (भानु) पृ० ७२। व्यं० मं० (ला० भ०) पृ० १०। †, का० प्र० (भानु) पृ० ७२। व्यं० मं० (ला० भ०) पृ० १०। ‡, म० मं० (अज्ञान) पृ० ३०। का० प्र० (भानु) पृ० १७३। व्यं० मं० (ला० भ०) पृ० ११।

(इस कवित्त में भी—लाज को पीना, कुल धर्म को पचाना, व्यथा-बंधन को संचित करना तथा गोपाल में डूबना, इन सब में मुख्यार्थ-द्वारा असंगति है, पर रूढ़ि के द्वारा संसार में ये अर्थ होते हैं।)

वि०—"मनोजमंजरी (अजानकवि) और काव्य-प्रभाकर (जगन्नाथ प्रसाद भानु) में यह कवित्त 'ऊढा' नायिका के वर्णन में दिया गया है। ऊढा नायिका का लक्षण कवि-कविदों—रीति-शास्त्रकारों ने इस प्रकार दिया है—

"जो ब्याही तिय और की, करै और सों प्रीति।
'ऊढा' तासों कहत हैं, राखि हिऐं रस-रीति॥"

और इसका उदाहरण कविवर 'बेंनी' पूरा नाम-वेनी प्रवीण, (र०सं० १८७८ वि०) ने बड़ा सुंदर रचा है, यथा—

"सूखी-सी, स्रमी-सी, भ्रमी ब्याकुल-सी बैठी कहूँ,
नजर लगी है, त्रिन तोर-तोर नाख्यौ मैं।
'बेंनी कवि' भोर हीं ते भोरी भई डोलति हौं,
राज करौ जाइ यै काज अभिलाख्यौ मैं॥
ललिकै हमारौ जिय, बोलै ना बिलोकै क्योंहूँ,
मुख-आँखें मूंदि रही यातें दीन भाख्यौ मैं।
पलकें उघारों कैसे, कढ़ि जाइ आँखिन ते,
सोर ना करौ-री, चित-चोर मूंदि राख्यौ मैं॥"

अथ प्रयोजनवती लच्छना-लच्छन 'दोहा' जथा–

प्रयोजनवती सु लच्छनौं[1], द्वै बिधि तासु बखौंन[2]।
एक 'सुद्ध' 'गोंनी'[3] दुतीय, भाखत सुमति[4] सुजौंन॥*

वि०—"प्रयोजनवती लक्षणा उसे कहते हैं, 'जहाँ किसी विशेष प्रयोजन के लिए लाक्षणिक शब्द का प्रयोग किया जाय। अथवा—'जहाँ किसी प्रयोजन के कारण शब्द के मुख्यार्थ में बाधा पड़े, वहाँ यह लक्षणा होती है और इसके 'गौणी' (गौनी-गँमनी) तथा शुद्धा (सुद्धा) दो भेद होते हैं।"

पा०—१. (भा० जी०) लच्छ अप्रयोजनवती। (प्र०-२) लच्छिनऽप्रयोजनवती,... (वें०) प्रयोजनवती जु लच्छना,...। (का० प्र०)) प्रयोजनवति हू लच्छना,...। (प्र०) (वें०) प्रमान। ३. (भा० जी०) (प्र०-२) गमनी...। ४. (प्र०) सुकवि...।

* का० प्र० (भानु) पृ० ७१।

सुद्ध लच्छना-भेद 'दोहा' जथा-

'उपादान' इक सुद्ध में[१] दूजी 'लच्छिन'[२] ठाँन ।
तीजी 'सारोपा कहैं[३], चौथी 'साध्यवसाँन' ॥*

वि०—"शुद्धा-भेद, यथा—"उपादान-लक्षणा, लक्षण-लक्षणा, सारोपा-लक्षणा और साध्यवसाना-लक्षणा । कोई-कोई इन्हें—"अजहत्स्वार्था, जहत्स्वार्था, सारोपा तथा साध्यवसाना भी कहते हैं ।"

प्रथम उपादान लच्छना-लच्छिन 'दोहा' जथा-

उपादाँन सो लच्छनाँ, पर-गुँन लींनें होइ ।
कुंत-चलत सब कोउ[४] कहैं, कर-बिन चलत न सोइ ॥†

वि०—"अपने अर्थ की सिद्धि के लिये जब दूसरे अर्थ का आक्षेप किया जाय, अर्थात् प्रयोजनीय अर्थ की प्राप्ति के लिये मुख्यार्थ को न छोड़ते हुए किसी दूसरे अर्थ को ग्रहण किया जाय, जैसे इस दोहे के अर्ध भाग रूप उदाहरण में—"कुंत चलत सब कोउ कहें०···, "अर्थात् कुंत (भाले) चलते सब कोई कहते हैं, पर किसी योग—मनुष्य के चलाने पर ही वे चलते है, इत्यादि···।"

उपादन-लच्छना उदाहरन अन्य 'दोहा' जथा—

जमुनाँ-जल कों जाति-हीं. डगरी गगरी जाल ।
बजी बाँसुरी काँन्ह की, गिरीं सकल ततकाल[५] ॥‡

पुनः उदाहरन 'दोहा' जथा—

खेलत ब्रज होरी सजें, बाजे बजें रसाल ।
पिचकारी चालति[६] घनीं, जहँ-तहँ उड़त गुलाल ॥ ×

अस्य तिलक

गागरि (गगरी) आपु सों नाहिं जाति, कोऊ प्राँनी वाकों लिएँ जाइ तब जाति है, ऐसे मुख्यार्थ बोध (बाध) ते 'उपादाँन लच्छना होति है. सो दोऊ दोहाँन के प्रति वाक्यन में उदाहरन हैं ।

पा०—१. (प्र०) उपादाँन इक जाँनिऐं,...। २. (प्र०) लच्छित...। ३. (का० प्र०) अहै,...। ४. (प्र०) (वें०)जग...। ५. (प्र०) (वें०) (सं०प्र०) तिहिं काल । ६ (प्र०) (वें०) चलती···।

*. का० प्र० (भानु) पृ० ७३ । †. का० प्र० (भानु) पृ० ७३ । व्यं० मं० (ला० भ०) पृ० १२ । ‡ व्यं० मं० (ला० भ०) पृ० १३ । × व्यं० मं० (ला० भ०) पृ० १३ ।

वि०—"जैसा पूर्व में कहा गया है—'भाले स्वयं नहीं चलते, गागर जल के लिये स्वयं नहीं जाती, बाजे स्वयं नहीं बजते, गुलाल स्वयं नहीं उड़ता, पिचकारियाँ स्वयं नहीं चलती, अपितु क्रमशः किसी के चलाने, ले जाने, बजाने, उड़ाने और चलाने पर ही चलते, जाते, बजते, उड़ते और चलती हैं, क्योंकि ये जड़ पदार्थ हैं, कोई कर्त्ता होना चाहिये इत्यादि···।"

लच्छिन-लच्छना 'दोहा' जथा—

निज लच्छिन औरें दिऐं, लच्छि लच्छनाँ जोग।
गंगा-तट-बासी[1] कहें, गंगा-बासी लोग ॥*

पुनः उदाहरन 'दोहा' जथा—

सुंदरि, दियौ[2] बुझाइ कें, सोबति सोंधि-मझार।
सुँनत बासुरी कौंन्ह की, कढ़ी तोरि-कें द्वार ॥†

अस्य तिलक

'तोरिबौ किबार कौ संभवतु है, पै (यहाँ) 'द्वार' कह्यौ। बाँसुरी की धुनि सुनीं, पै (यहाँ) बाँसुरी कों कह्यौ ताते 'लच्छन-लच्छिनाँ' कहिऐ।

वि०—"जहाँ वाक्यार्थ की सिद्धि के लिये मुख्यार्थ को त्याग लक्ष्यार्थ ग्रहण किया जाय वहाँ 'लक्षण-लक्षणा' कही जाती है। उपादान लक्षणा 'अजहत्स्वार्था' है, वह अपना मुख्यार्थ नहीं छोड़ती और यह लक्षण-लक्षणा 'जहत्स्वार्था' है जो अपना मुख्यार्थ छोड़ देती है। अत्यंततिरस्कृतवाच्य ध्वनि में भी यह लक्षणा होती है। अस्तु, दासजी के उदाहरण तो संस्कृत-काव्यानुसार सुंदर हैं ही, पर इस लक्षणा का 'विहारीलाल कृत निम्नलिखित दोहा—रचना अनुपम उदाहरण है, यथा—

"कच-सँमेटि कर, भुज-उलट, खए सीस पट-टारि।
का कौ मन बाँधै नहीं, यै जूरौ-बाँधन-हारि ॥"

विहारी कृत यह दोहा किसी नायिका के जूरा (वेणी) बाँधते समय की चेष्टा—क्रिया का वर्णन है। बाँधै वा बाँधत शब्द का मुख्यार्थ है बाँधना, पर मन कोई स्थूल वस्तु नहीं जिसे बाँधा जाय, अतएव मुख्यार्थ का यहाँ बाध है और मुख्यार्थ को सर्वथा त्याग कर 'मन' को बाँधना—आसक्त करना, यह लक्ष्यार्थ

पा०—१. (का० प्र०) वासिन्ह···। २ (प्र०) (वें०) (का० प्र०) दिया···।
* का० प्र० (भानु०) पृ० ७४। † का० प्र० (भानु,) पृ० ७४।

लेने से यह लक्षणा है। नायिका का अनुपम सौंदर्य सूचित करना ही यहाँ प्रयोजन है।"

अथ सारोपा लच्छना लच्छिन 'दोहा' जथा—

औरु थापिऐ औरु कों, क्यों हूँ समता पाइ।
'सारोपा'[१] सो लच्छनाँ, कहैं सकल कबिराइ॥*

वि०—"संस्कृत-आचार्यों ने 'सारोपा लक्षणा' के प्रति कहा है कि" जहाँ आरोप्यमाण (विषयी) और आरोप के विषय दोनों को शब्दों-द्वारा कहा जाय—किसी वस्तु पर सादृश्यगुण के कारण किसी अन्य वस्तु का आरोप किया जाय, वहाँ यह लक्षणा होती है।

उदाहरन 'दोहा' जथा—

मोंहन मो दृग-पूतरी, वौ[२] छबि सिगरी प्राँन।
सुधा[३]-चितौंन सुहावनी, मींच बाँसुरी-ताँन॥†

अस्य तिलक

मोंहन कों दृग की पूतरी थाप्यौ, औ वाकी छबि कों प्राँन थाप्यौ, तातें 'सारोपा-लच्छिना भई।

वि०—"दासजी ने इस उदाहरण रूप दोहा-द्वारा 'मोहन' को आखों की पुतली, उनकी 'छवि' को प्राण, चितवन को 'सुधा' और बाँसुरी की मधुर तान को मृत्यु बतलाया है—आरोप किया है, अतएव यह 'सारोपा' लक्षणा का मुख्य विषय है।

यहाँ अलंकार रूप में 'द्वितीय निदर्शना' भी कही जा सकती है, क्योंकि—

थापिय गुन उपमेइ कौ, उपमाँन-हि के अंग।
ता कहँ 'द्वितीय निदर्सना', भाषत सुमति उतंग॥"

अर्थात् जहाँ किसी वस्तु विशेष में होने वाले गुण को दूसरी वस्तु में होना दिखलाया जाय, वहाँ यह अलंकार होता है।"

दासजी ने यह दोहा २४ वें उल्लास में 'काव्यदोषोद्धार के प्रसिद्ध विद्या-विरुद्ध क्वचित् गुण के उदाहरण में भी दिया है और कहा है—"शब्द में

पा०—१. [सं० प्र०] [वें०] 'सारोपित...।' २. [प्र०] [व्यं० मं०] वा...। [वें०] वै...। [का० प्र०] वा सिगरी छबि प्रॉन। ३. [प्र०—२] चितवन सुधा सुहामनीं...।

*, का० प्र० [भानु] पृ० ७४। †, का० प्र० [भानु] पृ० ७४। व्यं० मं० [ला० भ०], पृ० १५।

बाँसुरी की ताँन को 'मींच' कहिनों असत् है वौ विशेषोक्ति अलंकार भयौ, यै गुन है, इत्यादि ......।"

अथ साध्यवसाना लच्छना-लच्छिन बरनन 'दोहा' जथा—

जाकौ सँमता कहँन कों,[1] वहै मुख्य कहि[2] देइ ।
'साध्यवसाना'[3]-लच्छनौं, बिषै नाँम नहिं लेइ ॥ *

वि०—"जहाँ आरोप के विषय का शब्दों-द्वारा निर्देश (कथन) न होकर केवल आरोप्यमाण का ही कथन किया गया हो वहाँ 'शुद्धा साध्यवसना-लक्षणा' होती है। आरोप विषय—जिस पर आरोप किया गया हो, और आरोप्यमाण—जिन शब्दों से आरोप किया जाय...। साध्यवसाना 'रूपकातिशयोक्ति' अलंकार के अंतर्गत भी रहती है। यथा—

"रूपकातिशयोक्तिश्चेद्रूप्यं रूपक मध्यगम्।"

रूपक में अंतर्हित रखकर जहाँ रूप्य का बोध कराया जाय, अर्थात् जहाँ केवल उपमान के द्वारा उपमेय का ज्ञान करा जाय, वहाँ 'रूपकातिशयोक्ति' कही जाती है। अस्तु, दोनों का विषय एक है।"

अस्य उदाहरन 'दोहा' जथा—

बैरिन कहा बिछावती, फिरि-फिरि सेज[4]-कुसाँन ।
सुने[5]न मेरे प्राँन-धँन, चँहत आज कहुँ जाँन ॥ †

अस्य तिलक

बैरिन सखी कों, कुसाँन फूल कों और प्राँन-धँन पति कों कह्यौ, पै सखी, फूल और पति सूधें न कह्यौ, जाते साध्यवसाना लच्छनाँ कहिऐ। "यहाँ केवल आरोप्यमान रहवे सों 'साध्यवसाना' और सादृश्य-संबंध के न रहवे के कारन 'सुद्धा प्रयोजनवती है।"

पा०—१. (व्यं०मं०) जाकौ आरोपैंन करै...। २. (प्र०) (भा० जी०) करि...। ३. (का० प्र०) (व्यं० मं०) (सं० प्र०) साध्यवसाँन सु लच्छिना,। ४. [प्र०] सेल...। ५. [प्र०] [वें] [का० प्र०] [व्यं० मं०] सुन्यौं...।

*, का० प्र० (भानु) पृ० ७४ व्यं० मं० (ला० भ०) पृ० १५। †, का० प्र० [भानु] पृ० ७४।

गोंनी (गौणी) लच्छना-लच्छिन तथा भेद बरनन 'दोहा' जथा...

गुँन-लखि 'गोंनी-लच्छिनाँ, द्वै बिधि[1] तासु प्रमाँन ।
'सारोपा' प्रथमें गँनों, दूजी साध्यवसाँन ॥ *

वि०—"सादृश्य के संबंध से जहाँ लक्ष्यार्थ ग्रहण किया जाय, वहाँ "गौणी-लक्षणा" होती है। सादृश्य—समान गुण, धर्म।"

सारोपा गोंनी लच्छना-लच्छिन-उदाहरन 'दोहा' जथा—

सगुनाँरोप सु लच्छिनाँ, गुन लखि करि आरोप ।
जैसें सब कोऊ कहैं, बृषभै गँवई गोप ॥ †

वि०—जब किसी वस्तु पर सादृश्य गुण के कारण किसी अन्य वस्तु का आरोप किया जाय—गुण लखकर तदनुसार आरोप किया जाय। जैसे—"बृषभै गँवई गोप" में गाँव के गोप को वृषभ (बैल,मूर्ख) कहा जाना।"

पुनः उदाहरन 'दोहा' जथा—

सूर सेर-करि माँनिएँ, कादर स्यार बिसेख ।
बिद्याबाँन त्रि-नेंन[2] है, कूर अंध करि लेख ॥

वि०—"यहाँ भी सूरवीर को शेर (सिंह), कादर (कायर) को स्यार (गीदड़), विद्वान् को त्रिनेत्र और मूर्ख को अंधा कहा गया है, जो वास्तव में नहीं, पर गुण के कारण हैं।"

साध्यवसाना गोंनी लच्छना-लच्छिन-उदाहरन 'दोहा' जथा—

'गोंनीं साध्यवसाँन' सो[3], केवल-ही उपमाँन ।
कहा बृषभ ते करत[4] हौ, बातें ह्वै मतिमाँन[5] ॥‡

वि०—"जहाँ गुण-सादृश्य के कारण केवल लक्षक शब्दों के द्वारा-ही किसी वस्तु का कथन—वर्णन किया जाय, अथवा—केवल उपमान-वाची शब्दों से कथन किया जाय, वहाँ यह लक्षणा होती है। जैसा—"कहा बृषभ०"...... उदाहरण में कहा गया है, अर्थात् बुद्धिवान् होकर वृषभ (मूर्ख) से बात करना......।"

पा०—१. [भा०जी०] [वें] ही...। २. [प्र०] [वें] त्रिनयन है...। ३, [प्र०—२] जहां। ४, [भा० जी०] [प्र०] [वें०] कहत...। ५, [प्र०-२] मतिवाँन।

* का० प्र० [भानु] पृ० ७५। † का० प्र० [भानु] पृ० ७५। व्यं० मं० [ला० भ०] पृ० १६। ‡ का० प्र० [भानु], पृ० ७५। व्यं० मं० [ला० भ०] पृ० १७।

इति लच्छनाँ-सक्ति निरनै

वि०—"दासजी ने लक्षणा-शक्ति के रूढि के अनंतर 'प्रयोजनवती-लक्षणा के आठ भेद माने हैं। काव्यप्रकाश के कर्त्ता 'मम्मटजी' ने प्रथम—"लक्षणा-तेन षड्विधा" रूप छः भेद कह पुनः उन्हें बारह प्रकार का माना है। विश्वनाथजी ने अपने 'साहित्यदर्पण' (संस्कृत) में शुद्धा के समान गौणी के भी 'उपादान' और 'लक्षण' लक्षणा भेद विशेष कहते हुए इनको 'सारोपा' और साध्यवसाना' में विभक्त कर 'गौणी' के चार भेद किये हैं। अतएव गौणी के चार, शुद्धा के चार फिर इन दोनों के 'गूढ़' और अगूढ़-व्यंग-भेद से सोलह इसके बाद इन सोलहों के भी 'पदगत' और 'वाक्यगत'-भेद से बत्तीस फिर इनके भी 'धर्मगत' तथा 'धर्मीगत'—भेदों-द्वारा चौसठ (६४) भेद किये हैं, पर मुख्य भेद इस प्रकार होते हैं, जैसे—"प्रयोजनवती—गौणी, शुद्धा। गौणी—सारोपा, साध्यवसाना। शुद्धा—उपादान, उपादान—सारोपा, साध्यवसान। लक्षण लक्षणा—सारोपा, साध्यवसान। रुढि-लक्षणा—शुद्धा, गौणी। शुद्धा-उपादान लक्षणा, गौणी-उपादान लक्षणा। अथवा—लक्षणा = रूढि, प्रयोजनवती। रूढि रूढि यौगिक, योग-रूढ। प्रयोजनवती – शुद्धा, गौणी। शुद्धा—उपादान, लक्षणा, सारोपा, साध्यवसान। गौणी—सारोपा, साध्यवसान इत्यादि......।"

अथ-बिंजनाँ बरनन

बिंजनाँ-निरनै बरनन 'सवैया' जथा—

बाचक-लच्छक भाजन-रूप हैं, बिंजक कों जल मौंनत ग्यौंनो।
जौंन परै न जिन्हैं तिनके, समझाइबे कों ये 'दास' बखौंनी॥
ए दोऊ होत 'अब्यंग' 'सब्यंग',[1] यौं ब्यंग इन्हैं बिन लावै न बौंनी।
भाजँन लाउ न[2] नीर-बिहीन, न आइ सकै बिन-भाजँन पौंनी॥

पुनः 'दोहा' जथा—

'बिंजन', बिंजक' जुक्त पद,[3] ब्यंग' ता सु जो अर्थ।
ताहि बूझिबे को सकति, है बिंजनाँ समर्थ॥ *

पा०—१. (सं० प्र०) सब्यंगि—अब्यंगि...। २. (प्र०) भाजन लाईऐ...। (सं० प्र०) (वें०) भाजन ल्याइऐ.। ३. (सं०—प्र०) व्यंजक व्यंजन-जुक्त है...।

*, व्यं० मं० (ला० भ०) पृ० १८।

सूधौ अर्थ जु बचँन कौ, तिहिं तजि औरें बेंन।
समझि परै तिहिं[1] कहति हैं, 'सक्ति-बिंजनाँ-ऐंन ॥ *

वि०—"बिंजन (व्यंजन), बिंजक (व्यंजक) व्यंग (व्यंग्य)। व्यंजन (शब्द)—अपने-अपने अर्थ का बोध करा, 'अभिधा' और 'लक्षणा' के विरत (शांत) हो जाने पर जिस शक्ति के द्वारा व्यंग्यार्थ का बोध हो, यह 'व्यंजना' का स्पष्टार्थ है। व्यंजक—जिस शब्द का व्यंजना-शक्ति-द्वारा वाच्यार्थ तथा लक्ष्यार्थ से भिन्न अर्थ प्रतीत हो, उसे व्यंजक कहते हैं और व्यंग्य—वाच्य तथा लक्ष्यार्थ के अतिरिक्त एक तीसरे-ही प्रकार के, जिस अर्थ की व्यंजना-द्वारा प्रतीति हो, उसे कहते हैं, अर्थात्—वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ के अतिरिक्त जिस अद्भुत अर्थ का बोध हो उसे "व्यंग्यार्थ" एवं जिस शब्द से यह अर्थ प्राप्त हो उन्हें "व्यंजक" तथा जिस शक्ति के द्वारा व्यंग्यार्थ का ज्ञान हो, उसे "व्यंजना" कहते हैं और यह दो प्रकार की होती है—"शाब्दी" और अर्थी"।"

अथ अभिधामूलक व्यंग बरनन 'दोहा' जथा—

सबद - अँनेकारथँन - बल[2], होइ दूसरौ अर्थ।
'अभिधा-मूलक व्यंग' तिहिँ, भाँखत सुकबि समर्थ ॥†

वि०—"जहाँ अनेकार्थ वाची शब्दों का अभिधा-द्वारा एक अर्थ निश्चित हो जाने पर भी कोई अन्य अद्भुत-अर्थ निकले, उसे 'अभिधामूलक व्यंग्य' कहा जायगा।"

अस्य उदाहरन 'दोहा' जथा—

भयौ 'अपत' कै 'कोप-जुत,' कै बौरौ इहि काल।
मालिन आज कहै न क्यों, वा रसाल कौ[3] हाल ॥‡

वि०—दासजी के उक्त उदाहरण में 'अभिधा' से—रसाल (वृक्ष विशेष) का वर्णन निश्चित-सा है, किंतु—अपत, कोप-जुत, बौरौ, मालिन और रसाल शब्दों के भिन्नार्थ होने से वचन-विदग्धा नायिका की उक्ति जैसा अर्थ भी प्रगट

पा०—१. (भा० जी०) (वे०) समझि परे ते...। २. (का० प्र०) सबद अनेकारथ-बल-हि...। ३. [वें०] की...।

*, का० प्र० (भानु), पृ० ७६। व्यं० मं० [ला० भ०] पृ० १८।—शृं० ल० सौ० (द्वि० दे०) पृ० ८१। †, का० प्र० (भानु), पृ० ७७।—शृं० ल० सौ०—(द्वि० दे०) पृ० १८५—२२८। ‡, का० प्र० [भानु] पृ० ७७। शृं० ल० सौ० (द्वि० दे०) पृ० १८५, २२८।

हो रहा है, अतएव "अभिधा मूला शाब्दी व्यंजना" कही जायगी, अर्थात् 'रसाल' शब्द से नायक की कुशलता पूंछना—व्यंजित होना 'अभिधामूलक व्यंग्य है।

पं० जगन्नाथ प्रसाद 'भानु' ने काव्य-प्रभाकर में दासजी के इस दोहे को 'वचन-विदग्धा नायिका' के उदाहरण में उल्लेख किया है। वचन-विदग्धा

"बचनन की रचनाँन सों, जो साधे निज काज।
'बचन बिदगधा नायिका' ताहि कहत कबिराज॥"

—पद्माकर,

अर्थ स्पष्ट है, अस्तु—'वचनविदग्धा नायिका का वर्णन "संगम" कवि ने बड़ा सुंदर प्रस्तुत किया है। यथा—

"तीर है न बीर कोऊ करै नाँ सँमीर धीर,
बाढ्यौ स्रॅम-नीर अति रह्यौ नाँ उपाउ रे।
पंखा है न पास, एक आस तेरे आवन की,
सावन की रैंन मोहि मरत जियाउ रे॥
'संगम' मैं खोलि राखी खिरकी तिहारे हेत,
होति हौं अचेत तनँ-तपत बुझाउ रे।
जौंन-जात जौंन क्यों न कीजिऐ उताल गौंन,
पौंन मींत मेरे भौंन मंद-मंद आउ रे॥"

इसी भाव को कवि "राबराना" ने भी अपनाया है, जैसे—

"पास परिचारिका न कोऊ जो करै बियारि,
मैंहैल-टैहैल मेरी कैहैल मिटाउ रे।
'राब' कहैं बात न सुहाती तेऊ हाती करी,
छाती ते छुआइ अति आँनद बढ़ाउ रे॥
ऐरे मींत पौंन, तू परसि मेरौ अंग आइ,
तेरे इतै आइवे कौ मेरे चित चाउ रे।
राखे बड़ी बरे ते किवार खोल तेरे काज,
एरे मेरे मंदिर में मंद-मंद आउ रे॥"

इन माणिक-मोती रूप छंदों में किसे विशेषता दी जाय, यह सहृदय पाठकों के संवेद्य है।"

अथ लच्छना-मूलक ब्यंग 'दोहा' जथा—

ब्यंग-लच्छनाँ-मूल सो, प्रयोजननँ ते होइ।
होत 'रूढ़ि' 'अब्यंग' द्वै[१], यै जाँनत सब कोइ ॥*
गूढ़-अगूढ़-हु[२] ब्यंग द्वै, होत लच्छिनाँ-मूल।
छिप्यौ[३] गूढ़, प्रघट्यौ[४] कह्यौ, है अगूढ़ सँम-तूल ॥ †

वि०—"जहाँ लक्ष्यार्थ के द्वारा एक अर्थ निश्चित होते हुए भी कोई दूसरा अन्य विलक्षण अर्थ भी प्रकट होता हो, वहाँ यह लक्षणा कही जाती है और यह 'रूढि' तथा 'व्यंग्य' के कारण दो प्रकार को तदनंतर व्यंग्य भी—गूढ़ और अगूढ़ दो प्रकार का कहा जाता है। महाबीर प्रसाद मालवीय सपादित प्रति 'काव्य-निर्णय' में पूर्व के और इस दोहे में काफी उलट-फेर तथा पाठांतर है, यथा—

"गूढ़-अगूढ़ौ ब्यंग है, होत लच्छिनाँ मूल।
छिपी गूढ़ प्रघट-हि कहों, है अगूढ़ सम तूल ॥
कवि, सहृदै जा कहँ लखें, ब्यंग कहावत गूढ़।
जाकों सब कोई लखत, सो पुनि होइ निगूढ़ ॥"

अथ गूढ़-ब्यंग मूलक लच्छना उदाहरन 'सवैया' जथा—

आँनन में मुसिक्याँनि सुहावनीं, बंकता नेंनन-माँझि छई है[५]।
बेंन खुले-मुकले उरझात,[६] जकी बिथकी गति ठोंन ठई है ॥
'दास' प्रभा उछिलै सब अंग, सुरंग सुबासता फैलि गई[७] है।
चंदमुखी तन-पाइ नबीनों, भई तरुनाई अँनंद मई[८] है ॥ ‡

अस्य तिलक

अब या नायिका के पाइबे ते तरुनाई कों अँनंद भयौ है, तौ अब याइ कोऊ पुरुष (नायक) पावैगौ तौ कितनों अँनंद न होइगौ, अर्थात् 'अति अँनंद होइगौ' यै ब्यंग है।

पा०—१. [वें०] है। २. [का० प्र०] गूढ़-अगूढ़ौ ब्यंग...। ३. [भा० जी०] छिपी.। ४. [भा० जी०] प्रघटै। [वें०] प्रघट-हिं...। ५. [भा० जी०] [वें०] बंकुरता अँखियाँन...। ६. [प्र०] [वें०] [प्र०-२] [शृं० नि०], [र० कु०] उरजात...। ७. [भा० जी०] तिय की...। ८. [र० कु०] केलि-मई...।

*, का० प्र० (भानु) पृ० ७६। †, का० प्र० (भानु), पृ० ७७। ‡, शृं० नि०(भि० दा०) पृ० ४४। र० कु० (अयो०) पृ० ६३। अ० ना० भे० (मी०) पृ० २३१।

वि०—दासजी ने यह सवैया अपने 'शृंगार-निर्णय' नामक नायिका-भेद के ग्रंथ में "ज्ञातयौवना" नायिका के तथा 'रसकुसुमाकर' के संग्रह-कर्ता ददुवा साहिब अयोध्या ने 'मुग्धा' नायिका के उदाहरण में दिया है। वयः-क्रम के अनुसार 'मुग्धा' नायिका के 'ज्ञात' और 'अज्ञात' यौवना दो भेद होते हैं। ये दो भेद—ज्ञाताज्ञात यौवना ही मुग्धा के प्रसिद्ध हैं, फिर भी ब्रजभाषा के रीत्याचार्यों ने जिनमें–श्रीकेशव, चिंतमणि, देव और रसलीन प्रमुख हैं, 'ज्ञातयौवना के अन्य भेदोपभेद मानते हुए विविध मत दिये हैं, जैसे—

(१) **केशवदास**—"नवलबधू, नवयौवना, नवल अनंगा, लज्जाप्रायः।"

(२) **चिंतामणि**—"वयःसंधि, अविदित-यौवना, अविदित-कामा, विदित-मनोभवा-यौवना, नवोढ़ा, विश्रब्धनवोढा।"

(३) **देव**—"वयःसंधि (अज्ञात-यौवना १२ से १३वें वर्ष के प्रारंभ तक) नवलबधू (१३वाँ वर्ष), नवयौवना (ज्ञातयौवना का १४वाँ वर्ष), नवल अनंगा (१५वाँ वर्ष), सलज्जा-रतिप्रिया (विश्रब्धनवोढा, १६वाँ वर्ष) रूप पाँच भेद।"

(४) **रसलीन**—"अंकुरित यौवना, शैशव यौवना, नव यौवना, नवल अनंगा, नवल बधू।"

नव-यौवना—अज्ञात यौवना, दीर्घात यौवना (ज्ञात यौवना)।

नवल-अनंगा—अविदित काम, विदित काम।

नवल बधू—नवोढा, विश्रब्धनवोढा, लज्जा-आसक्तरतिकोविदा।

इनके अतरिक्त कुछ कवि-कोविदों द्वारा 'मुग्धा' के नवलबधू आदि भेद मान फिर उस नवलबधू के ज्ञात और अज्ञात यौवना भेद भी स्वीकार किये गये हैं और कुछ कवियों ने मुग्धा को स्वकीया नायिका का ही पूर्व भेद स्वीकार करते हुए पृथक् वयःक्रम के अंतर्गत मान उसके परकीया मुग्धा, परकीया-अज्ञात-यौवना, परकीया-ज्ञात-यौवना, सामान्या-मुग्धा, सामान्या अज्ञात-यौवना सामान्या ज्ञात-यौवना-आदि भेद भी माने हैं। यही नहीं मुग्धा का-'मुरिबैठना,' उसकी सेंन, सुरतारंभ, सुरति, सुरतांत का विशद वर्णन भी मिलता है। अस्तु "ज्ञातयौवना"—

"बिन-जाँनें "अग्यात" है, जाँनें जोबन ग्यात।
मुग्धा के है भेद ए, कबि सब बरनत जात॥"
"निज तँन जोबन-आगमन, जाँन परत है जाहि।
कबि-कोविद सब कहत हैं, ग्यात-जोबना ताहि॥"

—रसराज (मतिराम)

और 'मुग्धा'—

झलकत आवै तरुनई, नई आसु अँग-अंग ।
तासों 'मुग्धा' कहत हैं, जे प्रवीन रस-रंग ॥

मनोजमंजर (अज्ञात)

ज्ञात यौवना-नायिका का उदाहरण कविवर "पद्माकर" से बड़ा सुंदर बन-पड़ा है, यथा—

"चौक में चौकी जराइ जरी, तिहिं पै खरी बार-बगारत सोंधे ।
छोरि धरी हरी कंचु की न्हाँन कों, अंगन ते जगे जोति के कोंधे ॥
छाई उरोजन की छबि यों "पदमाकर" देखत ही चकचोंधे ।
भाजि गई लरिकाई मनों लरिकें, करिकें दुहूँ दुंदभो ओंधे ॥"

और 'मुग्धा'—

"जल में दुरी है जैसें कमल की कलिका है,
उरजँन ऐसें दीनीं सरुचि दिखाई-सी ।
'गंग' कहै साँझ-सी सुहाई तरुनाई
आई-लरिकाई-मध्य कछु मैं न लखि पाई-सी ॥
स्याँमा कौ सलोंनों गात ता में दिन द्वैक
माँझ फिरी-सी चँहत मनमथ की दुहाई-सी ।
सीसी में सलिल जैसें, सुमँन-पराग तैसें
सिसुता में झलमलै जोबन की झाँई-सी ॥"

कोई उर्दू शायर कहता है—

"गले मिलने के इन काफ़िर हसीनों से यही दिन हैं ।
ज़वानी जब गले मिलती'हो आ-आकर लड़कपन से ॥"

अथ अगूढ़ ब्यंगि बरनन उदाहरन 'दोहा' जथा—

धनँ-जोबनँ इन दुहुँन की, सोहत रीति सुबेस[1] ।
मुग्ध नरँन मुगधँन करै, ललित बुद्धि-उपदेस ॥

अस्य तिलक

धनँ के पाइबे ते मूरख (नर) हू बुद्धिवंत ह्वै जात है औ धनँ-रूप जोबन के पाइबे ते नारी चतुर ह्वै जाति है, यै अगूढ़ ब्यंग है। उपदेस-सबद लच्छनाँ ते (सों) बाच्य हू में प्रघट है।

पा०—१. (भा० जी०) (प्र०-२) बिसेस··· ।

अथ बिंजक (व्यंजक) बरनन 'दोहा' जथा—

होत अरथ बिंजकन कौ,[1] दस बिधि सुभ्र बिसेखि।
पैहलें, ब्यक्ति, बिसेस पुनि,[2] है बोधव्य सु लेखि ॥*

काकु-बिसेखौ बाक्य अरु,[3] बाच्य बिसेख गँनाइ।
अँनसंनिधि[4] प्रस्ताव पुनि[5] देस, काल नव[6] भाइ[7] ॥†

है चेष्टा सु बिसेख पुनि,[8] दसँम-भेद कबिराइ।
इनके मिलै-मिलै करि,[9] भेद अनंत लखाइ ॥‡

*वि*०—"जैसा पूर्व में कहा गया है कि "अपने-अपने अर्थ का बोध कराकर जब अभिधा और लक्षणा विरत (शांत) हो जाती हैं तब जिस शक्ति के द्वारा व्यंग्यार्थ का बोध होता है उसे व्यंजना कहते हैं, क्योंकि 'व्यंजना' का शब्दार्थ है- "विशेष प्रकार का अंजन।" असाधारण अंजन जिस प्रकार दृष्टि-मलिनता को दूर कर अप्रकट वस्तु को भी प्रकट करा देता है, उसी प्रकार यह व्यंजना अविद्या तथा लक्षणा से अप्रकट अर्थ को प्रकट करती है। व्यंजना से जाने हुए अर्थ को 'व्यंग्यार्थ', 'सूच्यार्थ', 'आक्षेपार्थ' और 'प्रतीपमान' रूप में चार प्रकार का कहते हैं। अभिधा और लक्षणा का व्यापार (क्रिया) केवल शब्दों में होता है, पर व्यंजना का व्यापार शब्द और अर्थ दोनों में। इस लिये इसके—शाब्दी और आर्थी दो रूपों में भेद किये गये हैं। व्यंजना—आचार्यों ने प्रथम आर्थी व्यंजना के दश भेद माने हैं, जैसे—

"वक्ता की दशा से,[10] बोधव्य की दशा से,[11] वाक्य से,[12] वाच्य से,[13] काकु से,[14] अन्य सान्निध्य से,[15] प्रस्ताव विशेष से,[16] देश विशेष से,[17] काल विशेष से[18] और चेष्टा विशेष से[19]।"

पा०—१. (प्र०) अर्थ व्यंजकन्ह कौ। (का० प्र०)•••व्यंजन हुँ कौ,•••। २. (का० प्र०) बकता गॅनिऐं प्रथम पुनि•••। ३. (का० प्र०) पुनि। ४. (का० प्र०) अन्य संनिध•••। ५. (वें०) अरु। ६ (प्र०) (वें०) नौ०•••। ७ (का० प्र०) दरसाइ। ८. (प्र०)••• बिसेख-हू। ९. (प्र०) (वें०) किए। (का० प्र०) उनहिं मिलाइ-मिलाइकै•••। १०. वक्तृवैशिष्ट्य। ११. बोधव्यवैशिष्ट्य। १२. वाक्यवैशिष्ट्य। १३ वाच्य-वैशिष्ट्य। १४. काकु-वैशिष्ट्य। १५. अन्यसान्निध्यवैशिष्ट्य। १६. प्रस्ताववैशिष्ट्य। १७. देशवैशिष्ट्य। १८. चेष्टावैशिष्ट्य।

* का० प्र० (भानु) पृ० ७८। † का० प्र० (भानु) पृ० ७८। ‡ का० प्र० (भानु) पृ० ७८।

इन दसों के संस्कृत साहित्य-सृजेताओं ने—वाच्य-संभवा, लक्ष्य-संभवा और व्यंग्य-संभवा भेद और माने हैं। दासजी ने उपर्युक्त भेदों को मानते हुए ग्यारहवाँ भेद "मिश्रित" और माना है, पर उल्लेख (उदाहरण) दसों का ही किया है। जैसे—

(१) अथ ब्यक्ति बिसेस कौ उदाहरन 'दोहा' जथा—

अति भारी जल-कुंभ लै, आई सदँन उताल।
लखि स्रँम-सलिल-उसास अलि, कहा बूझती हाल ॥*

अस्य तिलक

इहाँ वक्ता नायिका है, सो अपनी क्रिया छिपावति है, सो ब्यंग सों (ते) जाँन्यों जाति है।

वि०—दासजी का यह दोहा परकीया के अंतर्गत 'वर्त्तमान-गुप्ता' नायिका की उक्ति है—कथन है। अवस्थानुसार परकीया-वर्तमान-गुप्ता उसे कहते हैं, "जो पर-पुरुष-प्रेम-विषयक उपस्थित घटना—रति-चिन्हों को छिपाने की चेष्टा करे। यथा—

"जब तिय सुरति छिपाव ही, करि बिदग्धता बाँम।
भूत, भबिष, ब्रतमाँन सो, 'गुप्ता' ताकौ नाँम॥"

—शृं० नि० (भिखारी दास) पृ० ३५

और "वर्तमान-गुप्ता" नायिका, यथा—

"करत सुरति-परतच्छ जो सब सों डारत गोइ।
'बर्तमाँन गुप्ता' सोई, अति प्रबींन तिय होइ॥"

वर्त्तमानगुप्ता का उदाहरण महाकवि 'ग्वाल जी' का बड़ा सुंदर है, यथा—

"छूटि जाइ गैया कै बिलैया चाट-चाट जाइ,
कोंन दुःख-दैया दैया सोच उर-धारयौ में।
हों हीं जँमबैया औ धरैया निज-सैया-तरें,
कहौं जो कहैया हास होइगौ बिचारयौ में॥
'ग्वाल कबि' हौलें कौ अबैया निरदैया यही,
आज या सँमैया ओट पैयाँ-गहि पारयौ में।

*, का० प्र० [भानु] पृ० ७६। व्यं० मं० [ला० भ०] पृ० २०।

मैया कों बुलाऔ या कँन्हैया कौ करैगौ हाल,
दधि कौ चुरैया मैया, पकरि पछारयौ मैं ॥"
—म० मं० (अजान) पृ० १५

अथवा—

"अलि, हों गुंजन कों गई, कुंजन-पुंजन आज।
कँट अटेब सत्तर फटे, अंग फटे बिन काज॥"
—र० प्र० (रसलीन) पृ० २१

रसलीन जी ने 'रसप्रबोध' नामक ग्रंथ में 'वर्तमानगुप्ता' के तीन—'वर्तमान-सुरति गोपना,' 'प्रत्यक्ष मान-सुरति गोपना' तथा 'भुवि-भरत-वर्तमान-सुरति-गोपना' विशेष भेद माने हैं।"

(२) बोधव्य ब्यंग बिसेस 'दोहा' जथा—

चिंता, जृंभ, उँनीदता, बिह्वलता[1] अलसाँनि।
लख्यौ अभागिन हों अलो, तेहूँ[2] गही सुबाँनि॥ *

अस्य तिलक

इहाँ नायिका जासों कहति है, ताकी क्रिया (दशा) व्यंजित होति है, ताते यें बिसेख बोधव्य है।

(अर्थात् जिससे बात कही जाय उसकी अवस्था पर विचार करने से—"बोधव्य की दशा से" व्यंग्य जाना जाय। अतएव यहाँ नायिका की उक्ति सखी-प्रति है, वह (सखी) नायक को बुलाने के लिये जाकर स्वयं रति कर आई हैं, जिससे उसके तन—शरीर में चिंता, जृंभा, उँनीदता-इत्यादि रति-जन्य कारण—लक्षण प्रकट हो रहे हैं। उसका सदोषता व्यंग्य है। संस्कृत-रीतिकार इसे 'बोधव्यवैशिष्ट्य' कहते हैं।

वि०—"दासजी का यह दोहा 'अन्य-संभोग-दुःखिता' नायिका का वर्णन है, उसकी अपनी सखी—दासी-प्रति यह उक्ति है। अन्यसंभोग दुःखिता—किसी अन्य स्त्री (सखी या दासी) के शरीर पर अपने प्रिय के संभोग-चिन्हों को देखकर दुखित होनेवाली नायिका को कहते हैं। इसे 'अन्यसुरति दुःखिता' भी कहते हैं, यथा—

पा०—१. (प्र०)...जृंभा, नींद अरु, ब्याकुलता...। २. (का० प्र०), तेंहु गही स्वइ बाँन। (वें०) (सं० प्र०) तेहूँ गह्यौ...। (व्यं० मं०) तेहुँ गही सोई बाँन।

* का० प्र० (भानु) पृ० ७९। व्यं० मं० (ला० भ०) पृ० २०।

"निज पति-रति के चिन्ह लखि, और तियन के अंग।
'अन्यसुरति-दुखिता' सोई, जिहिं दुख चढ़ै अनंग॥"
—र० प्र० (रसलीन) पृ० ३४

अन्य संभोग-दुःखिता का उदाहरण 'रामजी' कवि का बड़ा सुंदर है, जैसे—

"सेद-कँन-जाली, अंसुमाली की तपँन आली,
सुकी जाँन खंडे तो अधर-बिंब बूझे हैं।
बेंनी जाँन स्याँपन सो चोंथी है कलापिन नें,
बापुरी चकोरी कों कपोलै चंद सूझे हैं॥
'रामजी सुकवि' हों पठई तू तहाँ न गई,
बंद कंचुकी के काऊ झारँन अरुझे हैं।
उरज उँचोंहे ए सुयंभू जाँन किंसुक सों,
कुंजन के कोंने आज कोंनें इन्हें पूंजे हैं॥

(३) काकु-बिसेख ते बरनन 'दोहा' जथा—

दृग लखिहैं मधु-चंद्रिका, सुनिहैं कल-धुँनि कौंन।
रहि हैं मेरे प्रॉन तँन,[1] पीतम करौ पयाँन॥ *

अस्य तिलक

इहाँ काकु (एक प्रकार की कंठ-ध्वनि, ध्वनि का विकार—"काकुर्ध्वने-विकारः) ते (प्रियतम कौ) गँमन-बरजिबौ ब्यंजित होति है, ताते 'काकु-बिसेष' है।

*वि*०—"जहाँ केवल 'काकु-उक्ति' से व्यंग्यार्थ प्रतीत हो, वहाँ 'गुणीभूत-व्यंग्य होता है और जहाँ काकु-उक्ति की विशेषता से व्यंग्यार्थ प्रतीत हो, वहाँ 'काकुवैशिष्ट्य' है, यथा—

"भिन्नकंठध्वनिर्धीरः काकुरित्यभिधीयते।"

दासजी की यह रचना 'प्रवत्स्यत्पतिका'—"प्रिय के विदेश-गमन के निश्चय से व्याकुल नायिका" की उक्ति है। अथवा प्रियतम के विदेश गमन से होने वाले वियोग की आशंका से दुखित होने वाली (प्रवत्स्यत्पतिका) नायिका की उक्ति है, जैसे—

पा०—१. (का० प्र०) (व्यं० मं०) (वें०) मेरे प्रॉन धँन,...।

* का० प्र० (भानु) पृ० ७९। व्यं० मं० (ला० भ०) पृ० २१।

"हौंनहार पिय के बिरह, बिकल होइ जो बाल।
ताहि 'प्रवच्छ्रप्रेयसी', बरनत बुद्धि-बिसाल॥"
—र० रा० (मतिराम)

अथवा—

"प्रवछ्तपतिका सोइ, चलँन चँहत परदेस पिय।
अति-ही बिकल हिय होइ, भोर-हिं ते पिय-गँमन लखि॥"

अस्तु, अवस्थानुसार कवियों ने प्रवत्स्यत्पतिका को—मुग्धा, मध्या, प्रौढ़ा, परकीया और सामान्या में भी माना है, तथा बड़े-बड़े सुंदर उदाहरण दिये हैं। दो उदाहरण जैसे—मुग्धा-प्रवत्स्यत्पतिका—

"उर गई बात, पिय-पर-पुर जाइबे की,
मुर गई, जुर गई, बिरहागि पुर गई।
घुर गई ही जो खेल उमँग सों ढुरि गई,
फुर गई पीर, मुख-दुति हू अउर गई॥
'ग्वाल कवि' अलि सों बिछुर गई, लुर गई,
नार-हूँ निहुर गई, नैन सों निचुर गई।
दुर गई कोठरी में, मुर गईं सासें तक,
जुर गई लाज, लाजवंती-सी सिकुर गई॥"

प्रौढा—'प्रवत्स्यत्पतिका', यथा—

"जौ पै कहों 'रहिऐ तौ प्रभुता प्रघट होति,
'चलँन' कहों तौ हित-हाँनि नाहिं सहने।
'भावै जो करौ' तौ उदास-भाव प्राँन-नाथ,
'साथ-ही चलों' तौ कैसे लोक-लाज बहने॥
सोंह है तिहारी नेंकु सुनों अहो प्राँन-प्यारे,
चलें-ईं बँनत तौ पै नाहीं लाज रहने।
जैसें-ईं सिखावौ सीख, तुम हो सुजाँन पिय,
तुम्हरे चलत जैसी-जैसी मोहि कहने॥
—शृं० (मन्नालाल)

अथवा—

"पीतँम इक सुमरँनियाँ मोहि दै जाहु।
जिहिं जपि तोर-बिरहवा; करब निबाहु॥"
—र० र० (मयाशंकर)

सुरत मिश्र ने अपने 'रसरत्न' नामक नायिका-भेद के विशिष्ट ग्रंथ में प्रवत्स्यत्पतिका का भेद "हर्षितृगच्छत्पतिका" और माना है।

(४) वाक्य-बिसेख ते बरनन 'दोहा' जथा—

अबलों-हीं[1] मोही लगो, लाल तिहारी दीठि।
जात भई[2] अब अनँत कत, करत साँमुहें[3] नीठि॥ *

अस्य तिलक

इहाँ (नायिका) के वाक्य ते यै ब्यंजित होत है कि नायक नें दूजी नायिका कों लख्यौ—वा सों प्रेम कियौ।

वि०—"वाक्य में आये हुए किसी शब्द विशेष से अथवा संपूर्ण वाक्य की विशेषता से व्यंग्यार्थ का प्रतीत होना 'वाक्यवैशिष्ट्य' कहलाता है। दासजी के इस दोहे में आये हुए—"जात भई अब अँनत कत०"...से जाना जाता है कि नायक ने अब किसी अन्य नायिका से संबंध—प्रेम किया है।

यह दोहा धीरा नायिका—स्वकीयांतर्गत स्वपति को अन्य नायिका (स्त्री) पर आसक्त देखकर कुपित होनेवाली की उक्ति है, यथा—

"कोप जनावै ब्यंग सों, तजै न पति-सनमाँन।
'मध्याधीरा नायिका' ता कों कहत सुजाँन॥"
—ज० वि० (पद्माकर)

मुग्धा में 'धीरत्व' नहीं होता, कारण स्पष्ट है। केवल मध्या और प्रौढ़ा नायिकाओं में ही यह भेद होता है, जो—धीरा, अधीरा और धीराधीरा नाम से तीन प्रकार का है, अर्थात् "मध्या धीरा"—जिसका लक्षण ऊपर लिखा जा चुका है, "मध्या-अधीरा"—कटूक्तियों-द्वारा पति का अनादर कर कोप प्रकट करनेवाली, "मध्या धीराधीरा"—जो नायक प्रति मुख से अप्रिय वचन न कह रोदन के द्वारा ही अपना कोप प्रकट करे, "प्रौढ़ाधीरा"—प्रकट रूप में कोप का प्रदर्शन न कर रति में उदासीन रहे, "प्रौढा-अधीरा"—जो कटु भाषण

पा०—१. (प्र० ३) तौ...। २. (प्र०) (भा० जी० (वें०) नई...। ३. (भा० जी०) (वें०) साँमुहीं...।

* का० प्र० (भानु) पृ० ७। व्यं० मं० (ला० भ०) पृ० २१।

और ताड़न-द्वारा अपना रोष प्रकट करे, "प्रौढा-धीराधीरा"—जो वक्रोक्ति तथा भय-प्रदर्शन-द्वारा नायक को दुखित करती हुई मान-पूर्वक रति में उदासीन रहे—इत्यादि छह प्रकार की कही जाती हैं। यथा—

"बक्र-उक्ति पति सों कहै, मध्याधीरा नारि।
धीराधीर उराहनों, बचन अधीरा गारि॥
उदासींन अति कोप ते, पति सों प्रौढ़ाधीर।
तजै अधीराधीर अरु ताड़न करै अधीर॥"

—भ० वि० (देव)

संस्कृत-साहित्य से लेकर ब्रजभाषा के रीति-साहित्य तक धीरादि नायिका-लेखन के स्थान निर्देश में विभिन्न मत हैं। अस्तु, कुछ कवियों ने इसे केवल स्वकीया-अंतर्गत मानते हुए संस्कृत रीति-शास्त्र के अनुसार ज्येष्ठा-कनिष्ठा—जो पति-प्रेम के न्यूनाधिक्य के कारण छोटी-बड़ी कही जाती हैं, के अंतर्गत लिखा है, क्योंकि इनका मत है कि नायक जब ज्येष्ठा के पास से कनिष्ठा के सामीप्य में जाता है, तब धीरादि भेदों की उत्पत्ति होती है। केशव ने यह बात नहीं मानी हैं। उन्होंने मध्या-प्रौढ़ा के वर्णनों के साथ-साथ इसे भी लिखा है। देव ने मान-भेद के साथ धीरादि भेदों को लिखा है। दासजी ने इसे खंडिता—जो परकीया में भी माना गया है, के साथ वर्णन किया है और चिंतामणि, मतिराम तथा रसलीनजी ने अपने-अपने ग्रंथों में इन मध्या-प्रौढा-धीरादि भेदों को स्वकीयांतर्गत मान उनके साथ ही लिखा है—माना है। इनके उदाहरण भी बहुत सुंदर-सुंदर प्रस्तुत किये हैं। दो उदाहरण, जैसे—

"स्वारथ में रत हैं सब ही, परमारथ-साधत नाहिंन कोऊ।
हैं परमारथ में रत लोय, 'गुलाब' कहै बिरले जस जोऊ॥
जो परमारथ-स्वारथ-हींन, सो आरस-लोभित कीरति-खोऊ।
हौ तुम नीति-निधाँन लला, परमारथ-स्वारथ साधत दोऊ॥"

—बृ० व्यं० चं० (गुलाब)

अथवा—

"कालिह न इकादसी-ही ताते कहूँ जागे आप,
जाप लागे कैधों काहू कॉम के उँमाहे सों।
कैधों दिग-भूलें भूले घुँमरि न पायौ घर,
कैधों कहूँ ठुँमरी सुँनत रहे लाहे सों॥
'ग्वाल कवि' कैधों रहे चौसर के खेलन में
औसर बन्यों न किधों काहू मीत चाहे सों।

मेरे प्राँन-प्राँन स्याँम परम सुजाँन सुनों,
आज अलसाँन, अँगराँन कहौ काहे सों ॥"

—र० रं० (ग्वाल)

"लाल, एक दग-अगिन ते जारि दियौ सिव मैंन।
करि जाए मो दहन कों, तुम द्वै पावक-नैंन ॥"

—र० प्र० (रसलीन) पृ० २१,

एक बात और, वह यह कि "आजकल के काव्य-मर्मज्ञों ने, जिनमें डुमराँव के पं० नकछेदी तिवारी उपनाम 'अजान कवि' रचयिता—मनोज-मंजरी अति प्रमुख हैं, स्वकीया नायिका के मान-भेदानुसार धीरादि-भेद तथा खंडिता-भेद (जो स्वकीया-परकीया तथा सामान्या-तीनों में होता है) को एक मानकर लिखते हैं कि "धीरादि भेद और खंडिता में क्या अंतर है ? प्रायः उदाहरण शंकर देख पड़ते हैं और जिनसे पूछता हूँ, यथार्थ उत्तर न देकर चुपके हो बैठते हैं—इत्यादि····।" इसी प्रकार अन्य महानुभावों ने भी अपने-अपने विचार-विभ्राट् प्रकट किये हैं। अस्तु, यहाँ इन महानुभावों—काव्य-मर्मज्ञों ने यह बात जो बहुत बारीक नहीं, अपितु मोटी-सी है, भुला दी कि धीरादि नायिका के पास पति (नायक) को सापराध-प्रमाणित करने का कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं होता, केवल अनुमान के सहारे वा कल्पना के बहाने ही कुछ या विशेष देरी से नायक के आने पर मान के कारण धीरादिभेदों में परणित हो जाती है। देरी से आने के अनेक उचित कारण हो सकते हैं, जैसा "मीर" ने कहा है—

"जिगर कावी, नाकामी, दुनिया है आखिर।
नहीं आये जो 'मीर' कुछ काम होगा ॥"

—शे०-ओ०-सु० (गोयल) पृ० ४७

फिर भी नायिका अपने चंचल मन के कारण 'नायक' को अन्यत्र अनुरक्त मान उक्त भेद में रल—धुल मिल जाती है। खंडिता में यह बात नहीं, वहाँ नायिका पर-स्त्री-संभोग-चिन्हों को देखकर ही नायक के प्रति कठोर होती है—उससे कहा-सुनी करती है, जैसे—

"अनँत रमे रति-चिन्ह लखि, पीतम के सुभ गात।
दुखित होइ सो 'खंडिता', बरनत मति अवदात ॥"

—म० मं० (अजान) पृ० ६२,

खंडिता का उदाहरण रीति-काल से परे भक्ति-काल (पद-साहित्य) का भी देखें, कितना सुंदर है, यथा—

"जागे हौ रैंन तुंम्ह सब, नेंना अरुँन हँमारे।
तुंम्ह कियौ मधु-पाँन, घूँमत हमारौ मन, काहे ते जु नंद-दुलारे ॥
उर नख-चिन्ह तिहारें, पीर हमारें, कारँन कोंन पियारे।
'नंददास' प्रभु न्याइ स्याँम-घँन, बरखे अनँत, हँम पै भूंम-भुँमारे ॥"

नंददास जी के इस पद पर रीति-काल के कविवर 'विहारीलाल' की यह उक्ति याद आ गयी है, जैसे—

"बाल, कहा लाली भई, लोयँन-कोयँन माँहिं।
लाल, तिहारे दृगँन की, परी दृगँन में छाँहिं ॥"

—सतसई,

अस्तु—

"खुमार-आलूदा आँखें, बल जबीं पर दर्द है सर में।
रहे तुम रात-भर बेचैन किस कम्बख्त के घर में ॥"

—दाग,

(५) बाच्य-बिसेख ते बरनन 'सवैया' जथा—

भोंन-अँध्यारें-हुँ चाँहिं अँध्यारें[1] चँमेली के कुंज के पुंज बने हैं[2]।
बोलत मोर, करें पिक सोर, जहाँ-तहाँ गुंजत भोंर घँने हैं ॥
'दास' रच्यौ अपने-ही बिलास कों, मेंन जू हाथँन सों अपने हैं।
कूल कलिंदजा के सुख मूल, लताँन के बृंद बिताँन तँने हैं ॥*

अस्य तिलक

इहाँ बाच्यार्थ ते सहेट-जोग ठौर कों जनायौ (ताते) बिहार की इच्छा ब्यंजित होत है।

वि०—"उत्कृष्ट विशेषणों वाले वाक्य की विशेषता से व्यंग्यार्थ सूचित होना वाच्य-विशेष अथवा वाच्य-वैशिष्ट्य-ध्वनि कही जाती है। अतएव दासजी ने यहाँ संकेत-स्थल के प्रति सभी कामोद्दीपक विशेषणवाले वाक्यों-द्वारा रमणोत्सुक नायक की नायिका के प्रति 'रति' की प्रार्थना व्यंग्यार्थ है।

पा०—१. (प्र०) भोंन अँधारे हु चाहि अँध्यार। (शृं० नि०) भोंन अँधेरे हु चाहि अँधेरे। (र० कु०) भोंन अँध्यारी-ही चाहि अँध्यारौ। (व्यं० म०) भोंन अँध्यार हू चाहि अँधेरौ। २. (प्र०—२) (भा० जी०),...के कुंजन पुंज...। (का० प्र०) (व्यं० म०)...के कुंज के पुंज तँने हैं। (र० कु०) चमेली के पुंज के कुंज...।

*, शृं० नि (भिखारीदास) पृ०, ६। र० कु० (अयोध्या नरेश) पृ० ५०। का० प्र० (भानु) पृ० ७९। व्यं० मं० (ला० भ०) पृ० २२।

दासजी ने अपने नायिक-भेद रूप ग्रंथ 'शृंगार-निर्णय' में यह सवैया 'वचन-चतुर' नायक के और 'रसकुसुमाकर' के संग्रहकर्त्ता ने "विट्सखा" के उदाहरणों में संकलित किया है। विट्, यथा—

"बहु नारिँन कौ रसिक पै, सब पै प्रीति समाँन।
बचँन-क्रिया में अति चतुर, 'दच्छिन,' लच्छिन जाँन॥"
—शृं० नि० (दास) पृ० ५

और 'रसलीन' द्वारा कथन, यथा—

"निपुँन होइ सो सकल बिधि, सोई चतुर बखाँन।
बचँन-चतुर है एक अरु क्रिया-चतुर पुनि जाँन॥"
- र० प्र० (रसलीन) पृ० ६१

इन दोनों लक्षणों से यद्यपि बचन-चतुर नायक-लक्षण स्फुट नहीं होता, क्योंकि प्रथम 'दक्षिण' नायक-लक्षण को व्यक्त करता है—दूसरा चतुर नायक को, जो वचन-चतुर का पूर्व रूप हैं और विट्, यथा—

"बिट जो जाँनत दूत-पँन, कै सब कला मिलाइ।"
—र० प्र० (रसलीन) पृ० ८२,

(६) अन्य संनिधि बिसेख ते बरनन 'दोहा' जथा—

राज करौ गृह-काज दिँन,– बीतत याही माँझ।
ईठ लहौं कल एक पल, नींठ निहारें साँझ॥

इहि निसि धाइ सताइ लै, सेद-खेद ते मोहिं।
कालिह लाल-हूँ के कहैं, संग न स्वाऊँ[1] तोहिं॥*

अस्य तिलक

इहाँ (दोंनों उदाहरँन में) उपपति सँमीप उपस्थित है, ताके कारँन सुनाए ते 'परकीया' जाँनी जाति है—"संकेत की सूचना औ बिहार ब्यंग है।"

*वि*०—"वक्ता और संबोध्य (जिसको कहा जाय) के अतिरिक्त तीसरे व्यक्ति की समीपता के कारण व्यंग्यार्थ सूचित होना, अर्थात् किसी अन्य के निकट होने के

पा०—१. (भा० जी०) छाँड़ौं...। (व्यं० मं०) स्वाऊँ...। (सं० प्र०) स्वावौं।
"प्रतापगढ़ और महावीरप्रसाद मालवीय-द्वारा संपादित पुस्तकों में इन दोहों में उलट फेर है, अर्थात् प्रथम का स्थान नीचे—और द्वितीय का स्थान पूर्व का दोहा है।"
*, व्यं० मं० (ला० भ०) पृ० २३।

कारण बात इस प्रकार कही जाय कि उससे व्यंग्य निकले उसे "अन्यसान्निधि-वाच्य-ध्वनि" कहते हैं। अस्तु—

(अन्य की समीपता में नायिका की नायक के प्रति ये उक्ति है, बिहार कौ व्यंजित होंनों "अन्यसान्निधि-बिसेष" व्यंग है। इहाँ हूँ वाच्यार्थ ते 'उपपति' कौ समीप होंनों सूचित होइ है, सो 'धाय' के बहानें अपर दिन में बिहार कौ सुअवसर व्यंजित करनों "वाच्य-बिसेष व्यंग" औ "अन्य सान्निधि-बिसेष व्यंग" हू है)

"दासजी के ये दोंनों दोहे परकीयांतरगंत "बचन-विदग्धा नायिका" की उक्ति है। वचन विदग्धा—

"बचनँन की रचनाँन सों, जो साधै निज काज।
'बचनबिदग्धा-नायिका', ताहि कहत कवि-राज॥"

—ज० वि० (पद्माकर)

और एक 'उदाहरण' जैसे—

"ठाढ़ी बतरात-इतरात-ही परौसिन ते,
जैसी तिय दूसरी न पूरब-पछाँह में।
दीठ परि गए तहाँ सुंदर सुजाँन काँन्ह,
औचक-ही प्रघट सु पूछति परछाँह में॥
'सोंमनाथ' त्यों हीं प्राँन-प्यारे कों सुनाइ कह्यौ,
तिय नें सखी सों तरुनाई के उछाह में।
बंसीवट-निकट हमें मिलियो-री कालिह अलि,
कातिक मैं न्हाँउगी तरैयँन की छाँह में॥"

—र० पी० (सोमनाथ)

यहाँ भी—उक्त नायिका-भेद में भी, काव्य-लोलुपों ने धीरा-खंडिता की भाँति 'वचन-विदग्धा' और 'स्वयं-दूतिका' नायिकाओं को एक-ही नायिका के रूप में मान लिया है—संमिलित कर लिया है और लिखा है—"स्वयंदूती भी वचन विदग्धा ही है, अंतर केवल इतना है कि वचन-विदग्धा अन्योक्ति द्वारा अस्पष्ट शब्दोंमें और स्वयंदूती कुछ स्पष्ट शब्दों में अपना अभिप्राय प्रकट करती है।"* हम इन—

"अज्ञानांतिमिरांधस्य......"

के प्रति क्या लिखें और क्या कहें। यदि उपरोक्त कथन सत्य होता तो नायिका-भेद-विशारद इन दोनों को पृथक्-पृथक् रूप से वर्णन न करते—इनका अलग-

*, अ० भा० सा० ना० भे० (मीतल), पृ० २७८।

अलग स्थान-निर्देश क्यों करते। अस्तु, इन में भेद है और बड़ा अंतर है। श्रीमान्, वचन-विदग्धा का नायक (उसका) पूर्व परिचित है, वह जाना हुआ है, उसे बालापन का 'साथी' और 'यार' भी कह सकते हैं और 'स्वयंदूतिका' का नायक अपरचित है, पहिले का लव-लेश नहीं है, जो भी एकांत स्थान में मिल जाय उसी के प्रति अपनी कामेच्छा नायिका वचन-वैदग्ध-द्वारा प्रकट कर सकती है, पर वचन-विदग्धा ऐसा नहीं करती, अपितु अपने पूर्व परचित नायक को देख कर ही किसी अन्य के द्वारा व्यक्त करती है। जैसा पूर्व 'वचन-विदग्धा' के लक्षण में—

"जो तिय सेंन-सँकेत की, करैं मींत कों गोइ।
काहू कों दै बीच तौ 'बचनबिदग्धा' होइ॥
करै सेंन-संकेत वा रचै जाइ जो प्रीति।
बिन अंतर तिय पुरुष सों, 'स्वयंदूतिका' रीति॥"

—र० प्र० (रसलीन) पृ० ३१

और खंडिता उदाहरण, जैसे—

"मारग-बीच 'पयोधर' पेखि कें, कोंन कौ धीरज जो न गयौ है।
'भजन जू' नँदिया वही 'रूप' की, नाउ नहीं, रबि हू अथयौ है॥
पंथी, रैंन बसौ इहि बेर, भलौ तुम कों उपदेस दयौ है।
या मग-बीच मिलै वह नीच, जो पावक में जरि प्रेत भयौ है॥"

—शृं० स० (मन्नालाल)

(७) प्रस्ताव बिसेख ते बरनन 'दोहा' जथा—

बौरी,[१] बासर-बीततें, पीतँम आवनहार।
तकै दुच्चित कति, सुच्चित ह्वै[२] साजै उचित सिंगार॥*

अस्य तिलक

इहाँ उचित सिंगार के प्रस्ताव ते यै जाँन्यों जात है कै (नायिका) पर पुरुष पै जाँनि लगी है।

वि०—"वक्ता के प्रस्ताविक शब्दों के अर्थ से व्यंग्य निकलना—इसे "प्रकरण वैशिष्ट्य", अर्थात् विशेष प्रकरण होने के कारण जहाँ व्यंग्यार्थ सूचित हो, भी कहते हैं। अतएव यह दोहा उपनायक के पास अभिसार को जाने के लिए

पा०—१. (प्र०) बैरी...। २. (सं० प्र०) तकै दुच्चित कित है सुच्चित, साजहि उचित... (का० प्र०) (वें०) तकै दुच्चित है सुच्चित कत...।

*, का० प्र० (भानु) पृ० ८० । व्यं० मं० (ला० भ०) पृ० २३ ।

उद्यत नायिका के प्रति उसकी अंतरंग 'सखी' की उक्ति है, अभिसार का रोकना व्यंग्यार्थ है।"

"शृंगार रस के स्थायी उद्दीपन विभाव में 'सखा' और "सखी" का विशेष स्थान है। सखी, जैसा दासजी कहते हैं—

"तिय-पिय की हितकारिनी, 'सखी' कहैं कविराउ।"

—शृं० नि० (दास) पृ० ७०

और यह चार प्रकार की कही है, जैसे—"हितकारिणी, ज्ञान-विदग्ध, अंतरंगिणी और बहिरंगिणी", एवं इनके कर्म भी—

"मंडन, सिच्छार्देन अरु उपालंभ, परिहास।

र० प्र० (रसलीन) पृ० ७९

चार प्रकार के कहे हैं। दासजी ने सखि-कर्मों में वृद्धि की है। आपके मतानुसार सखि-कर्म—

"मंडँन, संदरसँन, हँसी, संघट्टन सुभ धर्म।
मौंन-प्रबरजँन, पत्रिका-दौंन, सखिन के कर्म॥
उपालंभ, सिच्छा, स्तुति, बिनै यहच्छा-उक्ति।
बिरह-निवेदन-जुत सुकबि, बरनत हैं बहु जुक्ति॥"

—शृं० नि० (दास) पृ० ७९

दासजी ने 'प्रस्ताव-वैशिष्ट्य' रूप यह अपनी उक्ति—"बौरी, बासर बीत तें" को संस्कृत 'काव्य-प्रकाश'-कार के भाव से ली है। यथा—

"श्रूयते समागमिष्यति तव प्रियोऽद्य प्रहरमात्रेण।
एव मेव किमित तिष्ठसि तत्सखि सज्जय करणीयम्॥

—का० प्र० (मम्मट)

और कन्हैयालाल पोद्दार ने 'काव्यकल्पद्रुम—रसमंजरी के तृतीय स्तवक में इसका अनुवाद इस प्रकार किया है—

'सुनियत तव प्रिय आत हैं, साँझ-समैं सखि आज।
करत न क्यों उपकरन तू, क्यों बैठी बे काज॥"

अतएव दासजी की परम मनोहर उक्ति के आगे यह अनुवाद कितना निष्प्राण है, यह कहने-सुनने की बात नहीं।"

(८) देस-विसेख ते बरनन 'दोहा' जथा—

हौं असक्त, ज्यों-त्यों इतै सुमँन-चुनौंगी चाहि।
मौंनि बिनैं मेरी अली, और ठौर तू जाहि॥

अस्य तिलक

इहाँ, यै ठौर (स्थान) सहेट-जोग्य (नायक से मिलने योग्य) है, ताते सखी कों टारिबौ (हटाना = अन्यत्र भेजना) व्यंजित होत है।

*वि*०—"स्थान की विशेषता से व्यंग्यार्थ सूचित होंना---'देश-विशेष' वा देश-वैशिष्ट्य ध्वनि कही जाती है। अस्तु दासजी की यह उक्ति महापंडित 'मम्मट' रचित 'काव्य-प्रकाश' के निम्नलिखित श्लोका सुंदर अनुवाद है। यथा —

"अन्यत्र यूयं कुसुमावचायं कुरुध्वमत्रास्मि करोमि सख्यः।
नाहं हि दूरे भ्रमितुं समर्था प्रसीदतायं रचितोऽञ्जलिर्वः॥"

"नाहं हि दूरे भ्रमितुं समर्था"०--का कितना समर्थ अनुवाद है—'हौं असक्त ज्यों-त्यों इतै,"...।

(६) काल-बिसेख ते 'दोहा' जथा—

हौं जाँमिन, अलि[1] जाँनि दै, कहा रही गहि फेंटि।
हरि[2] फिरि अइहैं होति-ही, बँन--बागँन सों भेंटि॥ *

अस्य तिलक

इहाँ—बसंत रितु है, ताते मोहि (नायक कों काम) उद्दीपँन कौ भरोसौ होत है, पुनः नायक के आगमन कौ भाव व्यंजित है।

*वि*०—"अर्थात् काल (समय) विशेष के ज्ञान से व्यंग्यार्थ भासित होना—'काल-विशेष' वा "कालवैशिष्ट्य"कहा जाता है। इसीलिये सखी नायिका के प्रति भरोसे के साथ कहती है कि 'जाने दे, मतरोक, बन-बागों को प्रफुल्लित देख ये अभी लोटे आते हैं, इत्यादि...।

(१०) चेष्टा-बिसेख ते बरनन 'सवैया' जथा—

कसिबे मिस नींबी के छिन सों[3], अँग-अंगँन 'दास' दिखाइ रही।
अपनीं-हीं भुजाँन उरोजँन कों गहि, जाँघ सों जाँघ मिलाइ रही॥
ललचौंहें, लजौंहें, हँसौंहें चितै[4], हित सों चित-चाइ बढाइ रही।
कँनखा[5] करि कें, पग-सी[6] परिकें, पुनि सूँने सँकेत में[7] जाइ रही[8]॥

पा०—१. (प्र०) नहीं रहत तौ ।। (प्र०-२) नाहिं रहत ।। (भा० जी०) (वें) हौं जँमान हौं जाँनिदै,...। २. (प्र०) घर...। *, का० प्र० (भानु०) पृ० ८० । व्यं० मं० (ला० भ०) पृ० २५ । ३. (भा० जी०) (वें)...मिस नीबिन के छिन तौ,। (सुं० ति०) (सुं० स०)...मिस नीबि हि के छिन तौ...। ४. (शृं० न०)...हँसौंहे, लजौंहे, चितै,। ५. (सुं० ति०) (सुं० स०) कँनखी...। ६. (शृं० नि०) (सुं० ति०) सों...। ७ (भा० जी०) कों...। ८ प्रतापगढ़ वाली हस्तलिखित प्रति में इस पूरे सवैया का पाठांतर इस प्रकार है—

अस्य तिलक

इहाँ चेष्टा सों नायिका (द्वारा) नायक कों विहार के लिऐं बुलाइवौ व्यंजित होत है. अर्थात् बुलाइवौ चाँहति है, यै व्यंजित होत है।

वि०—"चेष्टा-द्वारा व्यंग्यार्थ सूचित होना—"चेष्टा वैशिष्ट्य व्यंग्य कहलाता है, जैसा इस उदाहरण में।

काव्य-प्रभाकर के रचयिता जगन्नाथ प्रसाद 'भानु' ने इस चेष्टा से व्यंग्य वर्णन के उदाहरण में दासजी के उक्त भाव-स्वरूप दोहा दिया है—

"अँग-अँगराइ, जँमाइ तिय, निरखि साँमुहें रौंन।
मुरि मुसिकाइ, नचाइ दृग, गँमनी सूँने भौंन॥"

पर इस लक्षण के अनुसार चेष्टा से व्यंग्य का उदाहरण 'विहारीलाल' की यह सूक्ति बड़ी सुंदर है, यथा—

"न्हाइ, पैहैरि पट उठि कियौ-बेंदी-मिस परनाँम।
दृग-चलाइ घर कों चली, बिदा किए घनस्याँम॥"

दासजी ने अपने 'शृंगार-निर्णय' में तथा पं० मन्नालाल ने अपने 'सुंदरी-सर्वस्व' में इस सवैया को परकीयांतर्गत—'क्रिया-विदग्धा नायिका के वर्णन में दिया है। क्रिया-विदग्धा—

"जो तिय साधै काज निज, करि कछु क्रिया सुजाँन।
'क्रिया-बिदग्धा नायिका,' ताहि लीजिऐ जाँन॥"

—म० मं० (अजान) पृ० १६,

रसलीनजी ने अपने 'रस-प्रबोध' में 'क्रिया-विदग्धा' के—'पति' और 'दूती' वंचता नाम से दो भेद और माने हैं, यथा—

"पति-देखति हूँ होइ जो, उपपति के रस-लींन।
ताहि कहत 'पति-बंचिता', जे पंडित परबींन॥"

"दूती सों सब तूति करि, मिलै न ताहि जताइ।
'दूति-बंचिता' ताहि कों, कहत सबै कबिराइ॥"

—र० प्र० (रसलीन) पृ० ३२

"मुख-मोरत नेंन की सेंन्हन दै, अंग-अंगन 'दास' दिखाइ रही।
ललचोंए, लजोंए, हँसोंए चितै, हित से चित चाव बढ़ाइ रही॥
मुरिकें, अरिकें, दृग सों भरिकें, जुग भौंहन भाव बताइ रही।
कँनखा करिकें, पग सों परिकें, पुनि सूँने निकेत में आइ रही॥"

महावीर प्रसाद मालवीय ने स्वसंपादित काव्य-निर्णय में अंतिम पंक्ति के स्थान पर निकेत के 'संकेत' पाठ माना है।

और उदाहरण यथा-क्रम, जैसे—

"रोग-ठौंन कें ढीट तिय, निपुन बैद करि ईठ ।
बैठी पति सों पींठ दै, जोरि पींठ सों पींठ ॥

दूती, छलि जो आइ तू, मो सँग लायौ नेह ।
तुव अछेइपँन औंन कें, कियौ हिए में गेह ॥"

(११) मिस्रित बिसेख बरनन 'दोहा' जथा—

बकता अरु बोधव्य ते,[१] बरन्यों 'मिलित' बिसेस ।
यों-हीं औरों जाँनिऐं,[२] जिन को[३] सुमति असेस ॥

वि०—"जब कहीं एक, दो वा अनेक वैशिष्ट्यों के संयोग से एक ही व्यंग्यार्थ सूचित हो, वहाँ "मिश्रितवैशिष्ट्य" अथवा 'मिश्रित विशेष-व्यंग्य कहा जाता है ।"

उदाहरन 'दोहा' जथा--

इहि सज्जा अज्जा[४] रहै, इहिं हों चाँहत सेंन[५] ।
अहो रँतोंधिआ, बात यै,[६] सेंन-सँमें भूलें न[७] ॥

अस्य तिलक

इहाँ बक्ता (कहनेवाले) की चातुरी है औ रँतोंधी के बहाँने ते बोधव्य हू की चातुरी है ।

वि०—"दासजी ने अपने इस दोहा में--'वक्ता (नायिका) और बोधक (श्रोता पथिक) दोनों के कहने और सुनने व समझने के वैशिष्ट्य से नायिका के शयन-स्थल-सूचन के साथ रति-व्यंग्यार्थ प्रकट किया है, जो स्वयंदूतिका' नायिका की सुंदर उक्ति है । स्वयंदूतिका—

"स्वयं दूतिका, दूत-पँन करै जु अपने काज ।"

इत्यलं, क्योंकि इस संबंध में 'विशेष' आगे लिखा जा चुका है, (दे०—'इहि निस धाइ०' का विशेष)

दासजी का यह उदाहरण 'गाथासप्तशती' की इस गाथा का अनुपम अनुवाद है, यथा—

पा०—१. (प्र०) (वें०) सों···। २. (प्र०) (वें०) जाँनि हैं । ३. (वें०) (भा० जी०) कें···। ४. (वें०) इहि सैया अता··। ५. (प्र०—२) इहाँ करति हों सेंन । ६. (प्र०) (वें०) हे रँतीधिए··· । (भा० जी०) है रँतौधी है बात···। (प्र०—२) अरे रँतोंधिया बात यै । ७. (सं० प्र०) इहि हों, वह तुव सेंन ।

"एत्थ णिमज्जइ अत्ता एत्थ अहं एत्थ परिअणो सअलो ।
पंथिअ रत्ती अंध मा मह - सअणे णिमज्जिहिसि ॥"

अर्थात् —

"हौं इत सोवति, सास उत, लखि किन्हि लै दिन-माँहि ।
अरे पथिक, निसि-अंध तू, गिरियो जिन्हि कहूँ आहि ॥"

—गोविंद चतुर्वेदी, मथुरा,

व्यंग ते व्यंग बरनन 'दोहा' जथा—

त्रि-बिधि व्यंग-हू ते कहै, व्यंग अँनूप सुजाँन ।
उदाहरँन ताकौ कहौं, सुँनौं सुमति दै काँन ॥

उदाहरन 'दोहा' जथा—

अवै[1] फेरि मोहि[2] कहैगी, कियौ[3] न तू गृह-काज ।
कहै सु[4] करि आँऊ अवै, मुद्यौ[5] चँहत दिनराज ॥*

अस्य-तिलक

इहाँ नायिका वा (माता) कौ आयुस मान निहोरौ दै कहूँ (उपनायक से मिलने) आयौ चाँहति है, यै व्यंगार्थ है । दिन-हीं में पर पुरुष सों बिहार कियौ चाँहति है, यै दूसरौ व्यंग है ।

वि०—"आर्थी व्यंजना का व्यंग्यार्थ कवि की इच्छा के अनुसार—'वाच्य', 'लक्ष्य' और 'व्यंग्य' रूप तीनों अर्थों में हो सकता है। अस्तु, उपर्युक्त वैशिष्ट्य-द्वारा होने वाली व्यंजना —'वाच्यसंभवा', 'लक्ष्यसंभवा' और 'व्यंग्य-संभवा' नाम से तीन प्रकार की कही जायगी। इसलिये यहाँ (इस दोहा में) वाच्यार्थ-द्वारा वक्ता के वैशिष्ट्य से नायिका की अपने प्रेम-पात्र के पास जाने की —उससे रति की, इच्छा व्यंग्यार्थ है। अतएव यह 'वाच्य-संभवा-व्यंजना' अथवा "वाच्यारथ—व्यंग ते व्यंग" कौ उदाहरन कह्यौ जायगौ।"

कन्हैयालाल पोद्दार ने अपनी 'रसमंजरी' नामक पुस्तक में दासजी के इस दोहे को इस प्रकार अपनाया है, यथा—

पा०—१. अबे फिरि…। २. (भा० जी०) मुहि…। ३. (प्र०—२) तू न कियौ गृह…। ४. (प्र०—२) जौ…। ५. (प्र०) मुदो जात दिनराज। (सं० प्र०) जात मुँदौ…।

* व्यं० मं० (ला० भ०) पृ० २५ ।

"गृह-उपकरँन जु आज कछु, तू न बतावत मात ।
कहहु कहा करतव्य अब, द्यौस चल्यौ यै जात ॥"

किंतु यहाँ उक्त वाच्यसंभवा-व्यंजना-द्वारा व्यंग्यार्थ नहीं बनता, क्योंकि इसमें नायिका के बाहर जाने की इच्छा का संकेत देनेवाला कोई शब्द वा उपकरण नहीं है ।

लच्छना-मूलक व्यंग ते व्यंग उदाहरन 'दोहा' जथा--

धँनि-धँनि सखि मुहिं[1]-लागि तू, सहे[2] दसँन-नख देह ।
परँम हितू है[3] लाल सों, आई राखि सँनेह ॥*

अस्य तिलक

इहाँ नायिका सखी, सों धिक्-धिक् की ठौर धँनि-धँनि कहति है, यै 'लच्छिनाँ' मूलक व्यंग है, तावे सखी कौ अपराध-प्रकासन है, (सो) यै दूसरौ व्यंग है ।

वि—"दासजी का यह दोहा" लक्ष्य संभवा-व्यंजना का उदाहरण है। यहाँ वाच्यार्थ में सखी वा दूती की प्रशंसा हैं, पर उसके अंगों में रति-चिह्न—दशन और नखच्छत, देखकर और उनसे यह जान लेने पर कि यह मेरे प्रिय के साथ रमण कर आयी है, अतः उसके प्रति नायिका-द्वारा प्रशंसात्मक वाक्य कहना असंभव है। इसलिये यहाँ मुख्यार्थ का बाध है। इस वाच्यार्थ (मुख्यार्थ) का लक्ष्यार्थ की विपरीति लक्षणा से यह प्रकट किया जाता है कि-- "तूने (सखी ने) उचित कर्त्तव्य नहीं किया, अपितु मेरे प्रिय के साथ रमण कर विश्वासघात ही किया है। मुझसे स्नेह नहीं, शत्रुता करती है।" इस लक्ष्यार्थ से बोधव्य-श्रोता—दूती वा सखी के वैशिष्ट्य से उस (सखी) का अपराध-प्रकाशन रूप व्यंग्यार्थ प्रतीत होता है, वही लक्षणा का प्रयोजन रूप व्यंग्यार्थ है। साथ ही नायिका के इस कथन में--अपने नायक के विषय में, अपराध-सूचन रूप व्यंग्यार्थ है, जो इस लक्ष्यार्थ-द्वारा सूचित होता है। जहाँ 'लक्ष्यसंभवा आर्थी व्यंजना होती है, वहाँ लक्षणामूला-शाब्दी-व्यंजना भी छिपी-लगी रहती है, क्योंकि जो व्यंग्य लक्षणा का प्रयोजन रूप होता है, वही

पा०—१. (प्र०-२) सखि धनि-धनि मो…। (प्र०) मोहि…। (प्र०-३)… मोहि काज…। २. (प्र०-३)…दसँन नव देह। ३. (प्र०) है…।
* व्यं० मं० (ला० भ०) पृ० २५ ।

लक्षणामूला-शाब्दी-व्यंजना का विषय है। जैसे उक्त उदाहरण-रूप सखी के विषय में विश्वासघात-सूचक व्यंग्य, जो लक्षणा का प्रयोजन रूप होते हुए भी लक्षणामूला-व्यंजना का विषय है और जो नायक के विषय में अपराध-सूचक व्यंग्यार्थ है, वह 'लक्ष्यसंभवा-आर्थी-व्यंजना का विषय है। अतएव यहाँ—दासजी कृत इस दोहे में, शाब्दी-आर्थी व्यंजनाओं का विषय-विभाजन स्पष्ट है।'

"दासजी की यह उक्ति नायिका-भेदानुसार—'अन्य-सुरति-दुःखिता' वा 'अन्य-संभोग-दुःखिता' नायिका की उक्ति अपनी सखी के प्रति कही जायगी। अन्य-सुरति वा संभोग-दुःखिता उसे कहते हैं—जो नायक के पास (उसे) बुलाने को भेजी गई, पर उस (नायक) के साथ रमण कर लौटी हुई सखी को देखकर दुखित हो। यथा—

"पीतँम-प्रीति-प्रतीत जो, और तिया-तँन पाइ।
दुखित होइ सो दुःखिता, बरनत कबि-सँमुदाइ ॥"

—म० म० (अजान) पृ० ४०,

अथवा—

"निज पति-रति के चिह्न लखि, और तियँन के अंग।
'अन्य-सुरति-दुखिता' सोई, जिहि दुख चढ़ै अनंग ॥"

—र० प्र० (रसलीन) पृ० ३६

स्वकीया की दशा-अनुसार 'अन्य-संभोग-दुःखिता' नायिका मानी जाती है जो कि मध्या और प्रौढ़ा का विशेष अंग है। कुछ कवियों ने इसे मुग्धा में वर्णन किया है, वह अग्राह्य है। कारण मुग्धा अधिक लज्जाशील है, अतः इस प्रकार कहने-सुनने में असमर्थ है। कुछ कवियों ने इसे परकीया और सामान्या में भी माना है। केशव और चिंतामणिजी ने इसका कथन—वर्णन नहीं किया है। दासजी ने अपने शृंगार-निर्णय में इसे 'विप्रलब्धा' नायिका के अंतर्गत माना है। यथा—

"मिलन आस दै पति छली, और-हिं रत ह्वै जाइ।
'बिप्रलब्ध' सो दुःखिता, पर-संभोग' सुभाइ ॥"

—शृं० नि० पृ० ६४,

अन्य-संभोग-दुःखिता का उदाहरण 'हनुमान' कवि ने बड़ा सुंदर प्रस्तुत किया है, जैसे—

"आई अँनमनी ह्वै, बदन पियराई छाई,
सुधि ना रही-री कछु आपने-परारे की।
कहति कछू पै मुख-कढ़त कछू कौ कछू,
देखति हों आज तेरी गति मतवारे की॥
नेंक थिर ह्वै कें बैठि, राई-लोंन वारों तोपै,
तू तौ 'हनुमाँन' मेरी साथिन है वारे की।
बजर परौ-री मो पै पटई कहाँ ते हाइ,
नजर लगी-री तोहि जुलफँन वारे की॥"

और दासजी-द्वारा कथन, यथा—

"ल्याई बाटिका-ही सों सिंगार-हार जाँनती हों,
कंटकँन लागे हैं उरोजँन में घाव-री।
दौरि-दौरि टैहैल कै मैहैल ह्वै कें बादि-ही,
बिगारयौ उर चंदन-हांजन बनाव-री।
तेरौ कोंन दोष 'दास' बात सब बूझि लीन्हीं,
अपनी-ही सूझि तू तौ भरि आई भावरी।
पीत-पटवारे कों बुलावँन पठाई में तौ,
तू तौ पीत पट कों रँगाइ ल्याई बावरी॥"
—शृं० नि० पृ० ६६

व्यंग ते व्यंगारथ वरनन 'दोहा' जथा—

निहचल[१] बिसनी-पत्र पैं, उत बलाक[२] इहिँ भाँति।
मरकत-भाजँन पै मनों अँमल संख सुभ काँति॥*

अस्य तिलक

बन निरजंन है, ताही ते बलाक (वक) निहचल (निश्चल) है, यै व्यंग है, ताते चलिकें बिहार कीजै यै पीतम (नायक) कों सुनायौ (सो) यै व्यंग ते व्यंग है।

वि०—"अर्थात् यहाँ निश्चल (निहचल) शब्द से जाना जाता है कि यह एकांत स्थल है—बेखटके का निर्जन प्रदेश है। अतएव नायिका उपपति को

पा०—१. (वें०) निसच्चल। २. (भा० जी०) बालक।
*, व्यं० मं० (ला० भ०) पृ० २६।

सूचित करती है कि 'यही हमारे-तुम्हारे समागम का सुंदर संकेत-स्थल है। अथवा कोई परकीया नायिका अपने उपपति को उलाहना देती हुई कहती है कि 'तुम बड़े झूठे हो, वहाँ तुम गये-ही कब? क्योंकि कमल-पत्र पर बक के निश्चल आनंद के साथ चुपचाप बैठे रहने से जाना जाता है कि—यहाँ पूर्व में कोई भी नहीं आया था। यथा—

"अथवा मिथ्या वदसि न त्वमत्राऽगतोऽभूरिति व्यंज्यते।"

—का० प्र० (संस्कृत)

अस्तु, यह व्यंग्य से व्यंग्य है, अर्थात् व्यंग्य-संभवा व्यंजना है।

दासजी के इस दोहे में प्रथम वाच्यार्थ रूप बक की निर्भयता-सूचक व्यंग्यार्थ है, तदनंतर इस निर्भयता-सूचक व्यंग्यार्थ से उस स्थान के एकांत होने के कारण 'रति की प्रार्थना' दूसरा व्यंग्यार्थ है, अर्थात् एक व्यंग्यार्थ दूसरे व्यंग्यार्थ का व्यंजक है—सूचक है। इसलिये व्यंग्य-संभवा-आर्थी व्यंजना है। पहिले व्यंग्य को प्रतीत करानेवाली 'वाच्य-संभवा' है तो दूसरे व्यंग्य को बताने वाली व्यंग्य-संभवा ध्वनि है—व्यंजना है।

कन्हैयालाल पोद्दार ने अपनी 'रसमंजरी' में जो काव्यकल्पद्रुम का ही दूसरा भाग है, दासजी की इस सुमधुर सूक्ति को इस प्रकार अपनाया है—

"नलिनी-दल पै देखिए, लसत अचल बक-पाँति।
मरकत-भाजन-माँहि ज्यों, संख-सीप बिलसाति॥"

—र० मं०

यहाँ पोद्दारजी का अपनी व्याख्या में 'बक पंक्ति को शंख की कटोरी बताना' एक दम वाहियात-सा लगता है। दासजी के साथ पोद्दारजी ने यह उक्ति काव्य-प्रकाश (संस्कृत) से ली है, जो वहाँ 'व्यंग्य से व्यंग्य' के उदाहरण में प्रस्तुत की गयी है। साहित्य-दर्पण (संस्कृत) के रचयिता ने भी इसे 'अन्य-सान्निधि-वैशिष्ट्य' के उदाहरण में देने को अपनाया है, यथा—

"उअ णिच्चलणिप्पदा भिसिणीपत्तंमि रेहइ वलाआ।
णिम्मलमरगअभाअण परिट्ठिआ संखसुत्तिव्व॥"

अर्थात्

"पश्य निश्चलनिष्पंदा बिसिनी पत्रे राजते बलाका।
निर्मलमरकतभाजन परिस्थिता शंख शुक्तिरिव॥"

—का० प्र०

यहाँ पोद्दारजी के साथ इस संस्कृत सूक्ति में 'भाजन' और 'शुक्ति' शब्द विचारणीय हैं, जिसे पोद्दारजी के प्रति वाहियात कह आये हैं। काव्य-प्रकाश

भाषा टीकाकार (काव्य प्रकाश-टीका—हरमंगल शास्त्री, पृ० ११) ने 'भाजन' का अर्थ 'पात्र' और 'शुक्ति' का अर्थ सुतुही (सीप) और साहित्य-दर्पण के टीकाकार (पं० शालिग्राम शास्त्री—विमला टीका पृ०) ने 'भाजन' का अर्थ 'थाली' और शुक्ति का अर्थ 'सुंदर' किया है। पोद्दारजी ने अपने दोहे में भाजन को भाजन ही मानते हुए शुक्ति का पर्याय—वा अर्थ, 'सीप' अर्थात् 'शंख के आकार की 'बनी कटोरी' किया है। दासजी इस बखेड़े में नहीं पड़े हैं। अस्तु, जब साम्य-रूपक रूप शंख के द्वारा ही अभीष्ट-अर्थ में विशेषता आ जाती है, तब 'शुक्ति' का अर्थ 'सीप' और सीप का अर्थ शंख के आकार की बनी 'कटोरी' कहाँ तक ठीक है और वह भी संस्कृत-काव्यों के एक अहंमन्य मर्मज्ञ द्वारा, जो बड़े-बड़े संस्कृत-हिंदी के विद्वानों—काव्य-मर्मज्ञों पर अपनी नाक-भों सिकोड़ा करते हैं, किया गया अर्थ विचारणीय है।

काव्य-प्रकाश की 'उद्योत' कार ने यहाँ लिखा है—"शंख शुक्ति शुक्त्याकारं शंखघटितं पात्रं। न तु मुक्ताशुक्तिः। तस्या बलाकावच्छ्वे तत्वाभावात्। शंख-शुक्ति पदस्य तत्रा सामर्थ्याच्च। अत्र चा चेतनोपमयालेशतोऽपि क्षोभाभावः।"

संस्कृत के कतिपय आचार्यों ने शब्द-शक्ति के अंतर्गत 'तात्पर्य-वृत्ति वा शक्ति के 'आकांक्षा,' 'सन्निधि' और 'योग्यता' नाम के तीन भेदों का और कथन किया है। क्योंकि इनके मतानुसार आकांक्षा, योग्यता और संनिधि-पूर्ण शब्दों से वाक्यों का अर्थ सहज संबोध्य हो जाता है, अकेला शब्द पूरा अर्थ देने में असमर्थ होता है। यह तात्पर्य-वृत्ति कही जाती है। आकांक्षा—जहाँ शब्दों के अर्थ की प्राप्ति के लिये दूसरे शब्दों की चाहना रहती है, वह और 'सनिधि'—जहाँ शब्दों से अर्थ की प्राप्ति के लिये उससे संबंधित किन्हीं अन्य शब्दों के जोड़ने की—मिलावट की आवश्यकता होती हो वहाँ कही जायगी। इसी प्रकार—जहाँ दूरान्वित शब्दों का अन्वय उनके सहचर शब्दों के साथ करने के लिये उन्हें यथा स्थल रखने की आवश्यकता हो, वहाँ 'योग ता-शक्ति' कही जायगी, इत्यादि···। अस्तु, अत्यावश्यक होते हुए भी दासजी ने इनका वर्णन नहीं किया है।"

"इति श्री सकलकलाधर-कलाधर बंसावतंस श्रीमन्महाराज कुमार बाबु-'हिंदूपति' बिरचिते 'काव्य-निरनए' बाचक-लाच्छनिक-ब्यंजक पदारथ बरननं नाम द्वितीयोल्लासः।"

—**—

अथ-तृतीयोल्लास:

अलंकार-मूल कथनं 'दोहा' जथा—

कहू बचन, कहुँ ब्यंग में,[1] परें अलंकृत आइ।
ता[2] ते कछु संछेप करि,[3] तिन्हैं देति[4] दरसाइ॥

वि०—"स्पष्ट व्यंग्य के बिना, अथवा उस (व्यंग्य) के सर्वथा अभाव में काव्य शब्द वा अर्थों द्वारा चमत्कारिक रचना हो उसे—'अलंकार' कहा जाता है। अथवा—किसी बात को अपनी स्वाभाविक साधारण बोलचाल से भिन्न शैली (प्रकार) के द्वारा अनूठे ढंग से—चमत्कार पूर्वक वर्णन करने से अलंकार-युक्त कहा जायगा। यह कहने का ढंग अनेक प्रकार का होता है, यथा—

"**यश्चायमुपमाश्लेषादिऽलंकार मार्गः प्रसिद्धः स भणिति वैचित्र्यादुपनिनिबध्यमानः स्वयमेवानवधिर्धत्ते पुनः शत शाखताम्......।**"

यद्यपि प्रथम मुख्यतया अलंकार—'शब्दालंकार', 'अर्थालंकार' और 'उभयालंकार' के नाम से तीन प्रकार के होते हैं और इनका वर्णन यथा-क्रम किया जाता है, पर 'दासजी' ने संस्कृत-साहित्यानुकूल इस पुरातन रीति-क्रम से भिन्न सूक्ष्म रूप से ही सही प्रथम शब्दालंकार का वर्णन न कर अर्थालंकारों का वर्णन किया है।"

अथ प्रथम उपमालंकार बरनन 'दोहा' जथा—

कहुँ[5] काहू-सँम बरनिऐं, 'उपमाँ' सोई जाँन[6]।
बिमल बाल-मुख इंदु-सौ,[7] यौं-हीं औरौं माँन[8]॥

अनन्वै बरनन 'दोहा' जथा—

वासौ वहै 'अनन्वऐ',[9] मुख सौ मुख छबि देइ।
ससि-सौ मुख, मुख-सौ ससी, सो[10] 'उपमाँ-उपमेइ'॥

पा०—१. (प्र०—३) ते...। २. (प्र०) तिहिं...। ३. (प्र०—३) में। ४. (प्र०—३) कहौं...। ५. (भा० जी०) कछु...। ६. (प्र०—२) (वें०) मौंन। ७. (प्र०—२) बाल-बिमल-मुख...। ८. (प्र०—२) (वें०) जाँन। ९. (प्र०) (वें०) अनन्वया...। १०. (प्र०—२) (वें०) यों...।

प्रतीप बरनन 'दोहा' जथा—

'उपमाँ'[1] औ 'उपमेइ' कों, सँम[2] न कहै गहि बैर।
ता कों कहत 'प्रतीप' हैं, पाँच[3] प्रकार सु फेरि[4] ॥

वि०—"प्रतीप का अर्थ है—विपरीत, प्रतिकूल। अतएव उपमान को उपमेय रूप में कल्पना करना आदि कई प्रकार की विपरीतता वा प्रतिकूलता होती है। दंडी ने प्रतीप को विलोमवाची शब्द मान कर—'विपरीतोपमा' अथवा 'विपर्योपमा' कहते हुए इसे 'उपमा' का ही भेद कहा है।"

पाँचौ प्रकार के प्रतीप कौ उदाहरन 'सवैया' जथा—

चंद कहैं तिय-आँनन सौ,[5] जिन की मति बाँके बखाँन सों है रली।
आँनन एकता चंद लखें, मुख के लखें चंद-गुमाँन-घटै अली ॥
'दास' न आँनन सौ कहैं चंद, दई सो भई यै बात न है भली।
ऐसौ अँनूप बनाइ कें आँनन, राखिबे कों ससि-हू की कहा चली ॥

वि०—"दासजी ने यहाँ संक्षेप में पाँचौ प्रकार के प्रतीपों का उदाहरण एक ही छंद (सवैया) में दिया है। जैसे—प्रथम चरण में प्रथम प्रतीप का उदाहरण, द्वितीय चरण में द्वितीय और तृतीय प्रतीप का उदाहरण, तीसरे चरण में चतुर्थ प्रतीप का उदाहरण और चौथे चरण में पाँचवे प्रतीप का उदाहरण दिया है।"

दृष्टांत अलंकार बरनन 'दोहा' जथा—

सँम बिंबँन-प्रतिबिंब गति, है 'द्स्टांत' सुढंग।
तरुनी में मो मँन बसै, तरु में बसें बिहंग ॥

अर्थांतरन्यास बरनन 'दोहा' जथा—

सामान्य[6] ते बिसेस दृढ़, है 'अरथांतरन्यास'।
तो रस-बिन औरें कहा, जल-बिन जाइ न प्यास ॥

निदर्सना बरनन 'दोहा जथा—

द्वै सु एक-ही अरथ-बल, 'निदरसनाँ' की टेक।
सतँन[7] असत सों माँगिबौ, औ मरिबौ है एक ॥

पा०—१. (प्र०—३) जब . । २. (प्र०—१) कहैं न सँम गहि...। ३. (प्र०) (वें०) पंच...। ४. (प्र०) सुफेर। ५. (प्र०) (वें०) सों...। ६. (प्र०) (वें०) सामान्य...। ७. (सं० प्र०) (वें०) सतनि...।

तुल्लजोगता बरनन 'दोहा' जथा—

सँम सुभाइ हित-अहित पै 'तुल्लजोगता' चारु ।
सँम फल चाखै दाख सो, सींचँन-काटँन-हारु ॥

उत्प्रेच्छा अलंकार बरनन 'दोहा' जथा—

जहाँ कछू कछु सौ लगै, सँमझत-देखत उक्ति ।
'उत्प्रेच्छा' तासों कहैं, पोंन मनों बिष-जुक्त ॥

पुनः उदाहरन 'दोहा' जथा—

चंद मनों तँम ह्वै चल्यौ, जँनु तिय-मुख ससि-हेत ।
'दास' जाँनियत दुरँन कों, रंग लियौ सजि सेत ॥

अपन्हुति बरनन 'दोहा' जथा—

यै नहिं, यै कहियतु जहाँ, ततसँम बस्तु दुराइ ।
वहै 'अपन्हुति' अधर-छत, करत न पिय, हिम-बाइ ॥

सुमरन, भ्रम औ संदेह कथन 'दोहा' जथा—

लच्छँन नाम-प्रकास हैं, 'सुमरँन, भ्रँम, संदेह ।
जदपि भिन्न-हूँ हैं तदपि उत्प्रेच्छा के[१] गेह ॥

उदाहरन 'सोरठा' जथा--

सँमझत नंद-किसोर; चंद-निरखि तो बदँन-छबि ।
लखि भ्रँम रहत चकोर, चंद किधों यै वदन है ॥

वि०—"दासजी ने इस छंद के पूर्वार्द्ध में 'सुमरन (स्मरण) तथा उत्तरार्ध में 'भ्रम' तथा 'संदेह' अलंकार का वर्णन किया है—उदाहरण दिया है।"

ब्यतिरेक अलंकार बरनन 'दोहा' जथा—

'बितरेक' जो गुँन-दोष गँनि, समँता तजै इकंक ।
क्यों सँम मुख निकलंक यै, वौ सकलंक मयंक ॥

वि०—"हिंदी-साहित्य-संमेलन की प्रति में ये दोहे पूर्व के स्थान पर और पर के स्थान पूर्ववाला दोहा है।"

पा०—१. (प्र०) (वें०) की।

रूपक अलंकार बरनन 'दोहा' जथा—

आरोपँन उपमाँन कौ, ताकौ 'रूपक' नाँम।
काँन्ह कुँमर कारी घटा, बिज्जु-छटा तू बाँम ॥

अतिसयोक्ति अलंकार बरनन 'दोहा' जथा—

'अतिसयोक्ति' अति बरनिऐं, औरें गुँन-बल-भार।
दाबि सैल-महि निमिख में, कपि गौ सायर-पार ॥

वि०—"यहाँ दासजी का कथन है कि जिस पर्वत-शृंग से श्री हनुमान समुद्र उलाघने को उछले, वह धरणी (पृथ्वी) में धस गया, अतएव उनके बल-भार के वर्णन में यह अतिशयोक्ति रूप अलंकार है। 'दासजी ने यहाँ 'उल्लेषालंकार' का वर्णन नहीं किया, आगे 'उदात्त' का वर्णन किया है, क्यों....', इसका यहाँ कोई उल्लेख नहीं है, पर आगे के उल्लास में जहाँ यह अलंकार आया है, वहाँ अवश्य किया है।"

उदात्त अलंकार बरनन 'दोहा' जथा—

है 'उदात्त'-हू[1] महत अति, संपत कौ अधिकार।
सुरपति-छरियादार औ[2] नगँन-जटित मग-द्वार ॥

अधिक अलंकार बरनन 'दोहा' जथा—

'अधिक' जाँन घट-बढ़ जहाँ, है अधार-आधेइ।
जग जाके उदर[3]-हिं बसै, तिहिं तू ऊपर लेइ ॥

वि०—"इससे आगे दासजी ने 'अल्प' और 'विशेषालंकारों' का वर्णन नहीं किया है, आगे के उल्लासों में किया है।"

अन्योक्त्यादि अलंकार बरनन 'दोहा' जथा—

'अन्योक्ती' और-हिं कहैं, और-हिं के सिर-डार।
सुक, सेंमर कौ सेइबो,[4] अज-हूँ तजै बिचार ॥

ब्याज स्तुति बरनन 'दोहा' जथा—

'ब्याज स्तुति' पैहचाँनिऐं, स्तुति-निंदा के ब्याज।
बिरह-ताप वाकों दियौ, भल्यौ कियौ ब्रजराज ॥

पा०—१. (प्र०) है उदात्त महव अरु...। २ (प्र०) छरीदार जहँ इंद्र है,...। ३. (प्र०)...जाके बोदर बसै, (वें०) ओदर बसै। ४. (प्र०) सोइबो।

परयायोक्ति बरनन 'दोहा' जथा—

'परजा-उक्ति' जहाँ नई, रचनाँ सों कछु बात।
बंदों ब्याल-बिछावनों, जा[1] तापस-द्विज-लात ॥

आच्छेप बरनन 'दोहा' जथा—

कहै कहँन की बिधि मुकरि, करि 'आच्छेप' सुबेस।
बिरह-बरी कौ में नहीं, कहति[2] जु लाल संदेस ॥

बिरुद्ध-अबिरुद्ध बरनन 'दोहा' जथा

है 'बिरुद्ध-अबिरुद्ध' में, बुधि-बल सजें बिरुद्ध।
कुटिल काँन्ह क्यों बस कियौ, लली बाँन तुव[3] सुद्ध ॥

वि०—"यहाँ तीन प्रतियों—(प्र०) (प्र०-२) (वें०) में केवल 'विरुद्धालंकार-बरनन' लिखा हुआ ही मिलता है। 'साथ ही कई प्रतियों में--विरुद्ध, विभावना, विशेषोक्ति, उल्लास, तद्गुण, मीलित, और उन्मीलित-अलंकारों के पृथक् शीर्षक न देकर, विरुद्धालंकार के अंतर्गत ही मानकर लिखे गये हैं।"

बिभावनालंकार बरनन 'दोहा' जथा—

बिन-कारँन कारज प्रघट, 'बिभावनाँ' बिस्तारु।
चितवत-ही[4] घाइल करें, बिन-अंजन दृग चारु ॥

बिसेसोक्ति-अलंकार बरनन 'दोहा' जथा—

'बिसेसोक्ति' कारज नहीं, कारँन कौ अधिकाइ।
महा-महाजोधा थके, टर्‌यौ न अंगद-पाँइ ॥

उल्लास-अलंकार बरनन 'दोहा' जथा

गुँन-औगुँन कछु और तें और धरें 'उल्लास'।
सत पर-दुख ते दुख लहैं, पर सुख ते सुख 'दास' ॥

तद्‌गुन-अलंकार बरनन 'दोहा' जथा—

अलंकार 'तद्‌गुँन' कहौं, संगत-गुँन गहि लेत।
होत लाल तिय के अधर, मुक्त हँसत फिरि सेत ॥

पा०—१. (प्र०) जासु हृदैं द्विज-लात। (वें) पायौ हिय द्विज-लात । २. (प्र०) (वें०) कहती लाल सँदेस। (भा० जी०) कहत लाल संदेम। ३ (भा० जी०) तुम्ह··· (सं० प्र०) तव··। ४ (प्र०) (सं० प्र०) चितवन-ही···।

मीलित-अलंकार बरनन 'दोहा' जथा—

है, समाँन 'मीलित'[1] जहाँ[2] मिलत दुहूँ बिध[3] 'दास'।
मिल्यौ[4] कँमल में कँमल-मुख, मिली सुबास सुबास ॥

उनमीलित अलंकार बरनन 'दोहा' जथा--

है, बिसेस 'उनमिलित' मिल, क्योंहूँ जाँन्यों जाइ।
मिल्यौ कँमल-मुख कँमल-बँन, बोलति ही बिलगाइ ॥

सँम-अलंकार बरनन 'दोहा' जथा--

उचित बात ठैहराईऐ, 'सँम' भूषँन तिहिं नाँम।
इन[5] कजरारे दृगँन-बसि, क्यों न होंइ हरि स्याँम ॥

वि०—"प्रतापगढ़ 'सरस्वती-भवन' वाली प्रति में 'सम'-अलंकार के अंतर्गत —"भाविक, समाधि, सहोक्ति, विनोक्ति और परिवृत्त"—अलंकार एक ही शीर्षक के साथ लिखे हैं।"

भाविक-अलंकार बरनन 'दोहा' जथा—

'भावी'-भूत प्रतच्छ ही, है 'भाविक' कौ साज।
हूँमें भयौ सुर-लोक-सुख, प्रभु-दरसँन ते आज ॥

समाधि-अलंकार बरनन 'दोहा' जथा—

सो 'सँमाधि' कारज सुगँम, और हेत मिल होत।
मिलवे की[6] इच्छा भई, नास्यौ दिन उद्दोत ॥

सहोक्ति-अलंकार बरनन 'दोहा' जथा—

कछु है होई 'सहोक्ति' में, साथें परें प्रसंग।
बढ़न[7] लगी नव बाल-उर, सकुच कुचँन के संग ॥

विनोक्ति-अलंकार बरनन 'दोहा' जथा--

है 'बिनोक्ति' कछु बिँन कछू, सुभ कै असुभ चरित्र।
माया-बिँन सुभ जोग-जप, असुभ सुहृद बिँन मित्र ॥

पा०—१. (भा० जी०) (प्र०) (वें०) मीलितौ। २. (भा० जी०) (प्र०) (वें०) गँनों। (प्र०—२) वहाँ। ३. (भा० जी०) दिसि। ४. (भा० जी०) मिली कँमल में कँमल-मुखि। (प्र०) मिल्यो कँमल-मुख कँमल-बन। ५. (प्र०) (वें०) या कजरारे ..। (भा० जी०) तो कजरारे। ६. (सं० प्र०) मित्र-मिलन इच्छा...। ७. (भा० जी०) बढ़ैंन...।

परिवृत्त-अलंकार बरनन 'दोहा' जथा—

कछु-कछु कौ बदलौ जहाँ, सौं 'परिवृत' करि दीठि।
कहा कहौं मँन-मोंहनें, मैंन लै दींनीं पींठि।।

सूच्छँम अलंकार बरनन 'दोहा' जथा—

संग्या-ही बातें किऐं, 'सूच्छँम' भूषँन नाँम।
निज-निज उर छ्वै'-छ्वै करीं, सोहैं स्यामा-स्यॉम ।।

परिकर अलंकार बरनन 'दोहा' जथा—

साभिप्राय बिसेसनँन, 'परिकर' भूषँन जाँन।
देव चतुरभुज ध्याईऐ, चार पदारथ-दाँन ।।

वि०—"अन्य प्रतियों में, जिनमें प्रतापगढ़ और भारतजीवन प्रेस की प्रति प्रमुख हैं, 'सूक्ष्म' और 'परिकर' अलंकारों को पृथक्-पृथक् शीर्षक न दे कर एक ही शीर्षक 'सूच्छम' 'अलंकार बरनँन' के साथ लिखा हुआ मिलता है।"

सुभावोक्ति अलंकार बरनन 'दोहा' जथा—

सूधी-सूधी बात सौं, 'सुभावोक्ति' पैहचाँनि।
हरि आवत माँथें मुकट, लकुट लिऐं बर पाँनि ।।

वि०—"स्वभावोक्ति 'अलंकार शीर्षक' के अंतर्गत प्रतापगढ़ वाली प्रति में "काव्यलिंग, परिसंख्या, प्रश्नोत्तर"—आदि तीन अलंकार एक साथ लिखे हैं।"

काव्यलिंग अलंकार बरनन 'दोहा' जथा—

हेतु-सँमरथँन जुक्ति सौं, 'काव्यलिंग' कौ अंग।
धिग, धिग, धिग, जग राग-बिँन, फिरि-फिरि कहत मृदंग ।।

परिसंख्या-अलंकार बरनन 'दोहा' जथा—

इहै एक नहिँ और कहि, 'परिसंख्या' निरसंक।
एक राँम के राज में, रह्यौ चंद सकलंक ।।

पा०—१. (प्र०) छुइ-छुइ...।

प्रस्नोत्तर-अलंकार बरनन 'दोहा' जथा—

'प्रसनोत्तर' कहिए जहाँ, प्रसनोत्तर बहु बंद।
बाल, अरुँन क्यों नेंन त्रिय, पिय प्रसाद नख-चंद॥

वि०—"दासजी के "बाल, अरुँन क्यों०..." पर 'बिहारी' का निम्न-लिखित 'दोहा' बड़ा सुंदर है, यथा—

"बाल, कहा लाली भई, लोयँन-कोयँन माँहिं।
लाल, तिहारे दृगँन की परी दृगँन में छाँहिं॥"

अथवा—

"तरुणि, कुतस्तेनयनयुगमरुणतरं प्रतिभाति।
मधुप, तवारुणदृक्प्रभा प्रतिबिंबं विदधाति॥"

जथासंख्य अलंकार बरनन 'दोहा' जथा—

बस्तु अनुँक्रम है जहाँ, 'जथासंख्य' तिहिं नाँम।
रमाँ, उमाँ, बाँनीं सदाँ, हरि,-हर,-बिध-सँग बाँम॥

वि०—"प्रतापगढ़ वाली प्रति में इसे 'संख्यालंकार' संज्ञा देकर—'एका-वली' और 'पर्याय' के अंतर्गत माना है।"

"दासजी ने इस दोहे के दोनों चरण बदल कर, जैसे—"जथा संख्य जहँ नहिँ मिलै, सोई 'प्रकरँन-भंग; रमाँ, उमाँ बाँनी सदाँ, बिध, हरि-हर के संग।" 'प्रकरण-भंग'-दोष के अंतर्गत भी लिखा है।"

एकावली-अलंकार बरनन 'दोहा' जथा—

किए जँजीरा जोरि पद, 'एकावली' प्रमाँन।
स्रुति-बस मति, मति-बस भगति, भगति-बस्य भगमाँन॥

परयाइ-अलंकार बरनन 'दोहा' जथा—

तजि, तजि आसइ करँन ते, जाँन लेहु 'परयाइ'।
तनँ-तजि बादि दृगँन गी,[1] थिरता दृग-तजि पाँइ॥

वि०—"इससे आगे 'हिंदी साहित्य संमेलन' की प्रति में 'इति अलंकारः' के बाद 'अथ संसृष्टि लच्छन' भी लिखा मिलता है।"

पा०—१. (वें०) (प्र०) गई...।

संसृष्टि अलंकार बरनन 'दोहा' जथा—

एक छंद में जँह परैं, 'अलंकार' बहु दृष्टि।
तिल-तंदुल-से हैं मिले, ताहि कहैं 'संसृष्टि'।

उदाहरन 'कबित्त' जथा—

घँन-से सघँन स्यौंम केस-बेस भौंमिनि के,
ब्यालँन-सी बेंनी, भाल ऐसौ एक भाल-ही।
भृकुटी कँमान दोऊ दोउँन कौं उपमाँन,
नेंन से कँमल, नासा कीर-मद घाल-ही॥
गरब कपोलँन मुकर सँमता कौं सीप-स्रोन-
आगें, ओठ आगें बिंब[1]-पक्व-फल हाल ही।
मोंतिन की सुखमा बिलोकियत दंतँन में,
'दास' हास-बीजुरी कौ देख्यौ इक चाल ही॥

अस्य तिलक—

इहाँ 'केस' पै 'पूरनोपमा', 'बेंनी पै 'लुप्तोपमा' (धर्मलुप्तोपमा), 'भाल' पै 'अनन्वइ', 'भृकुटी पै 'उपमानोपमेइ', 'नेंन', 'नासिका' औ 'कपोलँन' पै तीन्यों 'प्रतीप', 'स्रोंन-ओठ' पै चौथौ 'प्रतीप', कै 'दृष्टांत', कै 'तुल्लजोगता', 'दंत' औ 'हास' पै 'निदरसनाँ', (आदि) भिन्न-भिन्न (अलंकार) पाइयतु हैं, ताते 'संसृष्टि' कहिऐ।

अन्य 'कबित्त' जथा—

ती कौ मुख इंदु है औ सेदँन सुधा के बुंद,
मोंती-जुत नासा[2] मँनो लींनों[3] सुक चारौ है।
ठोड़ी-रूप कूप है कि गढ़हा[4] अँनूप है कि
अभिरौंम मुख-छबि-ग्राम कौ पँनारौ है॥
ग्रीवा-छबि-सींवा में ललित लाल माल लखि,
आवत चकोर जाँने अँमल अँगारौ है।
देखत उरोज सुधि आवत है साधँन[5] कौं,
ऐसौई अचल सिब साहिब हँमारौ है॥

पा०—१. (सं० प्र०) बिंब-हि कहा लही। २. (भा० जी०) (वें०) (प्र०) नाँक...। ३. (वें०) (प्र०) मानों लीनें सुक...। ४. (प्र०) (वें०) (भा० जी०) गड़ौई...। ५. (प्र०) (वें०) साधुन के...।

अस्य तिलक—

इहाँ 'मुख' पै 'रूपक', 'सेद' पै 'अपन्हुति', 'मोंती-जुति नासिका' पै 'उत्प्रेच्छा', 'ठोड़ी' पै 'संदेह', 'ग्रीवा' पै 'भ्रांति' (भ्रांतिमान), 'उरोजँन' पै 'सुमरँन' (स्मरण)-अलंकार पाईयत हैं, ताते (यहाँ हूँ) 'संसृष्टि है।

संकर-अलंकार लच्छन बरनन 'दोहा' जथा—

द्वै कि तींन भूषँन मिलें, छीर-नीर के न्याइ।
अलंकार 'संकर' कहैं, तहँ प्रबींन कबिराइ॥

संकर-भेद बरनन 'दोहा' जथा—

एक-एक कों अंग कहुँ, कहुँ सँम होइ प्रधाँन।
कहूँ रहत संदेह में, 'संकर' तींन प्रमाँन॥

अंगादि (अंगागी) संकर उदाहरन 'दोहा' जथा—

मिटत नाहिं निस-बासर हुँ, आँनन-चंद-प्रकास।
बने रहैं जाते उरज, पंकज-कलिका 'दास'॥

अस्य तिलक

इहाँ 'रूपकालंकार' 'काव्यलिंग' अलंकार कौ अंग है।

सम प्रधान संकर उदाहरन 'कवित्त' जथा—

सुजस गवाबे,[1] भगतँन-हीं सों प्रेम करें,
चित अति ऊजरे भजत हरि-नाम हैं।
दींन के दुखँन देखें, आपने[2] न सुख लेखें,
बिप्र-पाँ[3] परत तन[4] मैंन-मोहे[5] धाँम हैं॥
जग पर जाहर हैं धरँम निबाहि रहे,
देब-दरसन ते लहत बिसराँम हैं।
'दास जू' गँनाए जे असज्जँन के काँम[6]
सँमझि देखौ ए-ई सब सज्जँन के काँम हैं॥ *

पा०—१. (क० कौ०) जनाबे ··। (का० का०) गनाबे। २. [का० का०] आप हू सुख न लेखें। ३. [प्र०] [क० कौ०] [का० का०] पाप-रत। ४. [वें०] तैंने में जु मोह धाँम···। ५. [का० का०] मोह···। ६. [वें०] काँम, नहीं···।

* क कौ० [रा० न० त्रि०] पृ० ४०३ [१]। का० का० [रा० च० सिं०] पृ० ३३३।

अस्य तिलक

इहाँ 'स्लेस', 'बिरुद्ध' औ 'मिदस्सनौ' तीनों अलंकार प्रधाँन हैं, याते संकर अलंकार जाँन्यों जात है।

पुनः 'दोहा' जथा—

ग्रंथ-गूढ़-बैंन तरपनो, गोंनी गँनिका बाल।
इँन की सोभा तिलक है, भूमि, देव, भूपाल ॥

अस्य तिलक

इहाँ-ऊँ 'स्लेस' 'दीपक' औ 'तुल्लजोगता'—आदि तीनों अलंकार (सम) प्रधाँन हैं, ताते 'संकर' कह्यौ जात है।

संदेह-संकर अलंकार उदाहरन 'कवित्त' जथा—

कलप कँमल बर बिंबँन के बैरी, बंधु-
जीवँन के बैरी[१] लाल लीला के धरँन हैं।
संझा के सुमँन, सूर-सुग्रँन मँजीठ-ईठ,
कौहर मँनोहर की आभा के हरँन हैं ॥
साहब सहाब के गुलाब, गुड़हर, गुर,
ईंगुर-प्रकास 'दास' लाली लरँन[२] हैं।
कुसुँम अँनार कुरबिंद के अँकुरकारो,
निंदक-पँवारी प्रौंन-प्यारी के चरँन हैं ॥

अस्य तिलक

इहाँ 'उपमा', कै 'प्रतीप', कै 'उल्लेख', कै 'बितरेक' चारों अलंकारन कौ 'संदेह संकर' है। याकों 'संकीरन उपमा' हूँ कहत हैं।

पुनः उदाहरन 'दोहा' जथा—

बंधु, चोर, बादी, सुहृद, कल्प कल्पतरु जाँन।
गुरु-रिपु-सुत प्रभु कारँन-हिं, 'संकीरँन' उपमाँन ॥

वि०—"दासजी ने अपने 'काव्य-निर्णय' के इस 'तृतीय-उल्लास' में 'अलंकारों' का संक्षिप्त (सूक्ष्म) रूप से (व्रजभाषा के अन्य अलंकार-ग्रंथ 'भाषा-भूषण' जैसे—एक-ही छंद में लक्षण और उदाहरण) वर्णन किया है

पा०—१. [प्र०] [सं० प्र०] बंधु•• । २. [भा० जी०] रुरन•••।

और आगे—आठवें उल्लास से सत्रहवें-उल्लास तक विशद···। इन दोनों स्थानों के (तृतीय-उल्लास और आठ से सत्रहवें उल्लास तक) अलंकार-वर्णनों में साम्यता—एक-सा क्रम नहीं है, आगे-पीछे है। साथ ही आप (दासजी) ने यहाँ प्रथम – उपमा तदनंतर अनन्वय, प्रतीप, दृष्टांत, अर्थांतर-न्यास, निदर्शना, तुल्ययोगिता, उत्प्रेक्षा, अपन्हुति, स्मरण, भ्रम, संदेह, व्यतिरेक, अतिशयोक्ति, उदात्त, अधिक, अन्योक्ति, व्याजस्तुति, पर्यायोक्ति, आक्षेप, विरुद्ध, विभावना, विशेषोक्ति, उल्लास, तद्गुण, मीलित, उन्मीलित, सम, भाविक, समाधि, सहोक्ति, विनोक्ति, परिवृत्त, सूक्ष्म, परिकर, स्वभावोक्ति, काव्यलिंग, परिसंख्य, पृष्णोत्तर, यथासंख्य, एकावली, पर्याय, संसृष्टि, सकर और अंगादि-संकर, समप्रधान संकर, तथा संदेह संकर अलंकारादि को संक्षित करते हुए भी यथा क्रम वर्णन नहीं किया है। इनके अवांतर भेद भी यहाँ नहीं लिखे हैं। यह एक ही छंद में लक्षण-उदाहरण की भाषाभूषणी-पद्धति बाद के बहुत से आचार्यों ने अपनायी है, जो कंठस्थ करने में सुविधाजनक है और अलंकारों का ज्ञान-प्राप्त करने में अधिक आशाप्रद है।

इति श्री सकल कलाधर कलाधर बंसाबतंस श्रीमन्महाराजाधिराज कुँमार बाबू 'हिंदूपति' बिरचिते काव्य-निरनए अलंकार-बरननो नाम तृतीयोल्लासः ।

—००—

अथ चतुर्थोल्लास:

रसांग-वर्णन

(स्थायी भाव कथन)

'प्रीति', 'हँसी'[१] अरु 'सोक' पुनि 'रिस' 'उछाह', मैं[२] मित्त।
'घिंन', बिसमैं थिर-भाव ए, आठ बसें सुभचित्त॥

वि०—'दासजी ने (यहाँ) शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स और अद्भुत-आदि आठ रसों के स्थायीभावों – अर्थात् जो भाव चिरकाल तक चित्त में स्थिर रहे और जिसको विरुद्ध अविरुद्ध भाव छिपा (दवा) न सके, साथ ही जो विभावादि से संबद्ध होकर रस रूप में व्यक्त हो, उस आनंद-मूल-भूत भाव को 'स्थायी-भाव कहते हैं, का उल्लेख किया है। नवम रस—'शांत' के स्थायीभाव—'निर्वेद' या 'सम' का नहीं। यों तो नाट्य-शास्त्र में भी नवम 'शांत' रस को नाटकों के उपयुक्त नहीं माना है, वहाँ आठ रसों का ही उल्लेख है, फिर भी 'श्रव्य-काव्य के उपयुक्त होते हुए भी इस (शांत-रस) का दासजी-द्वारा वर्णन न होना—उसका उल्लेख न करना, विचारणीय है।

नाट्याचार्य श्री भरत मुनि से पूर्व भी आठ रस माने जाते थे, जैसा कि उनके इस कथन से पुष्ट है—"एते ह्यष्टौरसाः प्रोक्ता द्रुहिणेन महात्मना।" फिर भी आपने चार—शृंगार, रौद्र, वीर और बिभत्स रसों को ही मान्यता देते हुए कहा कि बाकी के हास्य, करुण, अद्भुत और भयानक पूर्व-कथित चार रसों के अंतर्गत आ जाते हैं। जैसे शृंगार के अंतर्गत—'हास्य', रौद्र के अंतर्गत—'करुण', वीर के अंतर्गत—'अद्भुत' और बीभत्स के अंतर्गत—'भयानक'। अस्तु, आपके मतानुसार पूर्व-कथित रसों से ही पर-कथित रसों की उत्पत्ति है। यही "अग्नि पुराण के रचयिता का मत है। भवभूति ने "एकोऽहिरसः करुणरसः" कहा है। कुछ साहित्याचार्यों ने 'प्रेयान्, वात्सल्य, लौल्य' और 'भक्ति' को भी रस माना है। विश्वनाथ चक्रवर्ती और भोजदेव ने—

पा०—१. (प्र०)...हँसी, अरु सोक रिस...। (वें०)...हँसी सोकै रिसौ, उत्साहौ भय...। (प्र०—२)...हँसी औ सोकहू, रिस...। २. (प्र०) भव...। (सं० प्र०)...हँसी, सोकौ, रिसौं, उत्साहौ भय...।

"शृंगारहास्यकरुण रौद्र वीरभयानकाः ।
बिभत्सोऽद्भुतइत्यष्टौ रसाः शांतस्तथा मतः ॥"

कहते हुए भी दसवें 'वात्सल्य' रस को भी स्वीकार किया है।

कविवर 'देव' ने भी तीन—'शृंगार', 'वीर' और 'शांत' रस को ही मान्यता देते हुए कहा है—

"तींन मुख्य नौ-हू रसँन, द्वै-द्वै प्रथमँन लींन ।
प्रथम मुख्य तिन तिन-हुँ में, दोऊ तिहिं आधीन ॥

❀

हास्यरु भै सिंगार-सँग, रुद्र करुँन-सँग-वीर ।
अद्भुत अरु बीभत्स-सँग, बरनत सांत सुधीर ॥"

अस्तु, रीति-ग्रंथों में अन्य स्थायी भाव और रसों के अतिरिक्त शृंगार रस के स्थायी भाव की मान्यता में भी भिन्नता है। अतएव कोई शृंगार रस का स्थायी भाव—'प्रीति', कोई—'रति' और कोई 'प्रेम' को मानते हैं, जो प्रायः एक ही वस्तु—अर्थ के द्योतक हैं। यह प्रीति उत्तम, मध्यम और अधम नामों से संबोधित की जाती है। उत्तम प्रीति तो वह जो 'सदा एक रस रहे,' कभी द्विधा की दुर्गंध से दूषित न हो और 'मध्यम'—'अकारण परस्पर प्रीति' को कहते हैं तथा अधम-प्रीति केवल 'स्वार्थ-वश' होती है। देव ने 'प्रेम' को पाँच प्रकार का माना है, यथा

"सानुराग, सौहार्द पुनि, भक्ति और वात्सल्य ।
प्रेम पाँच बिधि कहत हैं, कारपन्य बैकल्प ॥"

शृंगार-रस के स्थायी भाव 'प्रीति' के संबंध में यहाँ यह ध्यान में रखना चाहिये कि "स्त्री में पुरुष की और पुरुष में स्त्री की प्रीति ही शृंगार रस का स्थायी भाव है और गुरु, देवता तथा पुत्रादि के प्रति जो 'प्रीति' होती है वह शृंगार का स्थायी भाव न बन उसकी केवल संज्ञा है—भाव-संज्ञा है। संचारी भाव अपने अनुकूल वा विरोधी भावों के कारण घटते-बढ़ते, उत्पन्न और विनष्ट होते रहते हैं, किंतु स्थायी भाव विकृत नहीं होते, क्योंकि संचारी भाव इनके अनुचर हैं—पोषक हैं। प्रीति वा रत्यादि की परिपक्वावस्था में ही स्थायी संज्ञा है—इसके बिना थे भाव मात्र हैं। इनके उदाहरण तत्-तत् रसों की परिपक्वावस्था में ही मिलते हैं, अन्यत्र नहीं। कारण—जहाँ स्थायी भाव रस-अवस्था को नहीं पहुँचते वहाँ वे भाव तो रहते हैं, पर उनकी 'स्थायी' संज्ञा नहीं बनती, केवल भाव-मात्र रह जाते हैं।"

सिंगार-रस औ ताकी पूर्नता बरनन 'दोहा' जथा—

उचित प्रीति रचनाँ-बर्नन सो 'सिंगार-रस' जाँन।
सुँनत प्रीत-मैं चित द्रवै, तब पूरँन परिमाँन[1]॥

वि०—"संस्कृत-व्याकरणानुसार 'शृंगार' का अर्थ—'काम-वृद्धि की प्राप्ति, अर्थात् कामी-जनों के हृदयों में प्रीति वा रति (स्थायी) भाव रस-अवस्था को प्राप्त हो काम की वृद्धि करना है, उसे 'शृंगार' कहा है और 'रस' का शाब्दिक अर्थ है—'आनंद'।

अग्नि पुराण में 'रस' काव्य का जीवन और विश्वनाथ चक्रवर्ती ने इसे काव्य की 'आत्मा' कहा है और इस 'रस की निष्पत्ति के लिये 'श्रीभरत मुनि' का यह कथन सर्वमान्य है, यथा—

"विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रस निष्पत्ति।"

इस 'रस-निष्पत्ति' को लेकर कितने ही विचार-वाद बने और बिगड़े, जिनमें—"भट्टलोल्लट का उत्पत्ति-वाद, शंकुक का अनुमिति-वाद, नायक भट्ट का मुक्ति-वाद और अभिनवगुप्त का अभिव्यंजना-वाद प्रमुख हैं। अतएव ध्वनिकार 'आनंदवर्द्धनाचार्य' के कथनानुसार—

"दृष्टपूर्वाऽपि ह्यर्थाः काव्ये रस परिग्रहात्।
सर्वे नवा इवा भांति मधुमास इव द्रुमाः॥"

अर्थात् जिस प्रकार मधु-मास में वृक्ष अधिक चित्ताकर्षक और नवीन दीखने में आते हैं, उसी प्रकार काव्य में 'रस' का आश्रय-ग्रहण कर लेने से पूर्व दृष्ट अर्थ भी नवीन और सौम्य रूप धारण कर लेते हैं, यही सत्य है—निर्विवाद सत्य है।"

अथ हास्य-रस बरनन 'दोहा' जथा—

हँसी-भरयौ चित हँसि उठै, जा[2] रचनाँ सुनि 'दास'।
कवि-पंडित ताकों[3] कहैं यै पूरँन 'रस-हास'॥

वि०—"कौतुकार्थ अनुपयुक्त वचन अथवा विकृत-रूप-रचना से आह्लाद-युक्त मनोविकार को 'हास' एवं हास्य-रस कहते हैं। कविवर 'रसलीन' ने 'हास्य' का लक्षण सुंदर दिया है, यथा—

पा०—१. (सं०) (वें०) करि माँन। २. (प्र०) (वें०) जौ...। ३. (प्र०—२) तासौं...।

"परिपोषक जो हँसी कौ, सोई 'हास-रस' जाँन।
बिकृत-बचन-क्रँम-संग ते, नित उपजत है आँन॥"

—र० प्र०, पृ० १२६,

कोई 'उर्दू-शायर' कहता है—

"सलीके का मज़ाक अच्छा करीने की हँसी अच्छी।
अजी, जो दिल का भा जाए, वही बस दिल्लगी अच्छी॥"

पर यह 'हास' संस्कृत से लेकर ब्रजभाषा और हिंदी तक में नहीं है—नहीं है, उसे उदाहरण-रचयिताओं ने फूहड़—गँवारू बना दिया है।

अस्तु, शास्त्रकारों ने हास्य के प्रथम—'उत्तम', 'मध्यम' और 'अधम' भेद करते हुए उत्तम के—स्मित' और 'हसित', मध्यम के—'विहँसित' और 'उपहसित' तथा अधम के—'अपहसित' और 'अतिहसित' भेद किये हैं। इन भेदाभेदों के ब्रजभाषा-साहित्य में उदाहरण प्रचुर मात्रा में मिलते हैं, जो आजतक चुने नहीं गये।

रसलीनजी ने हास्य (हास) के मंद, मध्यम और अति नाम के तीन ही भेद माने हैं और इनका लक्षण इस प्रकार लिखा हैं, यथा—

"दसँन खुलत नहिं 'मंद' में, धुनि 'मध्यम' में होइ।
बहु हँसिबौ 'अति' हास है, हास तीन-बिधि सोइ॥"

—र० प्र०, पृ० १२६

इनके उदाहरण भी सुंदर दिये हैं, पर उन्हें न देकर 'स्मित' हास्य का एक उत्तम उदाहरण यहाँ दे रहे हैं। देखिये कितना दर्शनीय हैं, जैसे -

"बाल के आनँन चंद लग्यौ नख, आली बिलोकि प्रभा अति हाँसी।
आज न द्वैज है चंदमुखी, मतिमंद कहा कहैं ए पुर-बासी॥
बापुरौ जोतिसी जाँने कहा, अरी, हौं कहौं जो पढ़ि आई हौं कासी।
चंद दुहूँ-के-दुहूँ इक ठौर हैं, आज है द्वैज औ पूरँनमासी॥"

यहाँ हास शब्द की स्थिति 'रस-दोष' उत्पन्न कर रही है, फिर भी कवि-कथन सुंदर है।

"हज़रते ज़ाहिद हमारी छेड़ की आदत नहीं।
गुदगुदी होती है दिल में पारसा को देखकर॥"

—कोई शायर

अथ करुन-रस बरनन 'दोहा' जथा—

सोक[1] चित्त जाके सुँनत, करुनाँमइ ह्वै जाइ।
ता कबिताई कों[2] कहैं, 'करुनाँ रस' कबिराइ॥

वि०—"प्रिय-पदार्थ वा इष्ट के वियोग से उत्पन्न रति-रहित मनोविकार को 'शोक' और उससे उत्पन्न अनुभूति को 'करुण रस' कहते हैं।"

अथ वीर रस बरनन 'दोहा' जथा—

जो उच्छाहिल[3] चित्त में, देत बढ़ाइ उच्छाह।
सो पूरँन रस 'बीर' है, रचें सुकबि करि चाह॥

वि०—"जैसा कि दासजी ने कहा है कि 'वीर रस' का स्थायी भाव उच्छाह (उत्साह) है। बैरी, भिक्षुक और दीन को देखकर उन्हें क्रमशः परास्त करना तथा उनके कष्ट निवारण करने की उत्तरोत्तर अभिलाषा में आनंदानुभूति को उत्साह कहा गया है। अतएव पराक्रम, शरीर-बल, आत्म-रक्षा, साहस, हिम्मत, बहादुरी, कार्य करने की शक्ति, निर्भयता और युद्धादि करने की तत्परता-आदि से 'वीर रस' का ग्रहण किया जाता है। अतएव वीर रस के संचारी-भाव—"गर्व, असूया, धृति,, उत्सुकता, आवेश, श्रम, हर्ष और मरणादि," स्थायी भाव—'उत्साह', आलंबन—"शत्रु, दीन, दुखीजन, सत्संग, धर्म-निष्ठा," उद्दीपन—"मारू बाजों, का बजना, क्रंदन, शंखनादादि", अनुभाव—"मारकाट, अंगों का स्फुरण, भृकुटि चढ़ाना, रोष करना, सैन्य-संचालन, शस्त्रादि के प्रयोग", गुण—"ओज, प्रसाद, वृत्ति—पौरुषा, कोमला", रीति—'गौड़ी, पांचाली और लाटी", सहचर रस "हास्य, अद्भुत, करुण वीभत्स और रौद्र" और विरोधी शृंगार, शांत और वात्सल्य रस कहे जाते हैं।

संस्कृत के आचार्यों ने वीर तीन प्रकार का—युद्धवीर, सत्यवीर और दान वीर माना है। ब्रजभाषा-आचार्य 'रसलीन' ने-सत्य, दया, रण और दान रूप चार प्रकार के वीर माने हैं तथा उनके सुंदर उदाहरण भी दिये हैं। पद्माकरजी ने 'वीर' का उदाहरण बड़ा सुंदर दिया है, यथा—

"धँनुष चढ़ावत भे तब-हिं, लखि रिपु-कृत उत्पात।
हुलसि गात रघुनाथ कौ, बखतर में न सँमात॥

पा०—१. (सं० प्र०) सोकौ चित जाके सुनें। (वें०) (प्र० मु०)······सुनें। २. (प्र०—२) सों······। ३. (वें०) उत्साहिल...। (प्र०-२) जब उच्छाहल...।

अथ रुद्र (रौद्र), भयाँनक औ बिभच्छ रस बरनन 'दोहा' जथा--

है[1] रिस बाढ़ें 'रुद्र रस', भय-हिँ 'भयाँनक' लेख ।
घिँन ते है 'बीभच्छरस', 'अद्‌भुद' बिसमय देख ॥

वि०—"रिस रूप रस के आस्वादन से 'रौद्र-रस', जिस रस के आस्वादन में इंद्रिय-क्षोभ या भय उत्पन्न हो वह 'भयानक', जिस रसास्वादन से घृणा के भाव उत्पन्न हों वह 'बीभत्स रस' और जिस रसास्वादन से विस्मय, आश्चर्य प्रकट हो उसे अद्‌भुत रस कहा गया है। इन चारों के भी—संचारी, स्थायी, आलंबन, उद्दीपन, अनुभाव, गुण, रीति, वृत्ति, सहचर और विरोधी रस हैं, जिन्हें विस्तार-भय से यहाँ उद्‌धृत नहीं किया गया है।"

अथ रस-उत्पत्ति कथन 'दोहा' जथा—

जा[2] हिय प्रीति न सोग, है, हँसी न उच्छह ठाँन ।
सो[3] बातें सुँनि क्यों द्रवै, दृढ़ ह्वै रहै पखाँन[4] ॥

अथ थाई, बिभाव, अनुभाव बरनन 'दोहा' जथा—

ता ते थाई-भाव कौं, रस कौ बीज गँनाव ।
कारँन जाँन 'बिभाव' अरु कारज है अँनुभाव ॥

वि०—"स्थायी भावों की विशेषता का कथन पूर्व में आ चुका है, अतएव मन के भीतर सोती हुई भावनाओं को जो विशेष रूप से जाग्रत करें—प्रवर्त्तित करें, उन्हें 'विभाव' और जिन (चेष्टाओं) के उत्पन्न होने पर रस का अनुभव होने लगे वे 'अनुभाव' कहे जाते हैं। अतएव विभाव—

"रस उपजै आलंब जिहिं, सो 'आलंबन' होइ ।
रस-हिं जगावै दीप-ज्यों, 'उद्दीपन' कहि सोइ ॥

भा० वि० (देव)

रूप दो प्रकार का कहा जाता है। विभाव का अर्थ है 'कारण', अर्थात् जो रस-निष्पत्ति में कारण हैं, उन्हें ही विभाव कहते हैं और ये पूर्व-कथित—'आलंबन' और 'उद्दीपन' दो प्रकार के होते हैं।

अनुभाव तीन प्रकार के होते हैं—"कायिक, मानसिक' और 'सात्विक'। इन्हें—'यत्नज' और 'अयत्नज' भी कहते हैं। शारीरक गति सूचक क्रियाएँ

पा०—१. (सं० प्र०) यों...। २. (भा० जी०) जा हिय प्रीतिन सो कहैं,। ३. (वें०) (प्र० मु०) ते...। ४. (सं० प्र०) हिय ह्वै रही पखाँन।

कायिक, मन के उद्वेगादि मानसिक और स्वाभाविक रूप से प्रकट होने वाले भाव 'सात्विक' कहे गये हैं। शारीरक-गति-सूचक क्रियाएँ स्वाभाविक नहीं होतीं, यत्न-पूर्वक प्रदर्शित की जाती हैं, इसलिये ये 'यत्नज' कहलाती हैं, बाकी मानसिक और सात्विक 'अयत्नज' कही जाती हैं। सात्विक-अनुभाव आठ प्रकार के होते हैं, यथा—

"स्तंभ, स्वेद, रोमांच, स्वरभंग, कंप बैवर्न।
अस्नु, प्रलाप ए सात्त्विकी,-भाव के उदाहर्न॥"

शृं० नि (दास) पृ० ८०

आत्मा में निहत रस को प्रकाशित करने वाला अंत.करण का धर्म-विशेष 'सत्त्व' कहा गया है, इसी सत्त्व से उत्पन्न शरीर के स्वाभाविक अंग-विकार को 'सात्त्विक' अनुभाव कहते हैं।

अथ बिभचारी भाव बरनन 'दोहा' जथा—

बिभचारी तेतीस ए, जहँ-तहँ होत सहाइ[1]।
क्रँम ते रंचक, अधिक अति, प्रघट करें थिरताइ[2]॥

वि०—"चित की चिंता-आदि विभिन्न वृत्तियों को 'व्यभिचारी' वा 'संचारी' भाव कहा गया है। ये संख्या में तेंतीस (३३) हैं, जैसे—

"कहि निरबेद,[१] ग्लानि,[२] संका,[३] त्यों असूया,[४] स्रम,[५]
मद,[६] धृति,[७] आलस,[८] बिषाद,[९] मति,[१०] मॉनिऐ।
चिंता,[११] मोह,[१२] सुपँन,[१३] बिबोध,[१४] स्मृति,[१५]
अँमरख,[१६] गरब,[१७] उतसुकता,[१८] सु अवहित[१९] ठॉनिऐं॥
दींनता,[२०] हरष,[२१] ब्रीडा,[२२] उग्रता,[२३] सु निद्रा,[२४] ब्याधि,[२५]
मरँन,[२६] अपसमार,[२७] आवेग[२८]-हु ऑनिऐं।
त्रास,[२९] उनमाद,[३०] पुनि जड़ता,[३१] चपलताई,[३२]
बितर्क,[३३] तेंतीसौ नॉम याही बिधि जॉनिऐं॥"

—ज० वि० (पद्माकर)

अतएव ये रस के सहकारी कारण हैं, जो रस में संचार करते—उठते और नष्ट होते रहते हैं। ये स्थायी भावों की भाँति रस की सिद्धि तक स्थिर नहीं रहते, अपितु अवस्था-विशेष में उत्पन्न होकर अपना प्रयोजन पूरा करने के उपरांत

पा०—१. (वें०) सु जाइ। २. (प्र०) (वें०) (सं० प्र०) थिरभाइ।

स्थायी भाव को उचित सहायता दे कर लुप्त हो जाते हैं। इन व्यभिचारी भावों की स्थायी भाव और रस के समान जो व्यंग्यार्थ-द्वारा ध्वनि निकलती है, वही आस्वादनीय होती हैं, क्योंकि इनका स्पष्ट-कथन करना रीति-ग्रंथों में दोष माना गया है। साथ ही ये शब्दों-द्वारा कहे जाने पर आस्वादनीय नहीं रहते। साहित्य-दर्पण के कर्ता ने इनकी परिभाषा निम्न प्रकार से दी है, यथा—

"विशेषादाभिमुख्येन चरणाद्व्यभिचारिणः।
स्थायिन्युन्मग्न निर्मग्नास्त्रयस्त्रिंशच्च तद्भिदाः॥"

अर्थात् संचारी भाव विशेष रूप से नवों रसों में आने-जाने के कारण व्यभिचारी कहलाते हैं, जो साधारणतया स्थायीभाव में निमग्न हो अंतर्हित होते रहते हैं।

रीति-शास्त्र-प्रणेताओं ने—उग्रता, मरण, आलस्य और जुगुप्सा के अतिरिक्त शेष उनतीस (२९) व्यभिचारी 'शृंगार-रस' के अंतर्गत गिनाए हैं। वहाँ इनकी 'मन-व्यभिचारी' संज्ञा भी पायी जाती है।"

अथ सिंगार-रस बरनन 'दोहा' जथा—

जाँनों नायक-नायिका, रस-सिंगार-बिभाव।
चंद, सुँमन, सखि, दूतिका, रागादिकौ बनाव॥

औरँन के न 'बिभाव' मैं प्रघट कहे[1] इहि काज।
सब के निरे[2] बिभाव हैं, औरों हैं बहु साज॥

सिंघ-बिभाव भयानकौ, रुद्र, बीर-हूँ होइ।
ऐसी सौंमिल रीति में, नेंग कहै क्यों कोइ॥

थंभ, सेद, रोंमांच सुर-भंग, कंप, बैबर्न।
सब-ही के अँनुभाव ए, सात्त्विक औरों अर्न॥

वि०—"जैसा पूर्व में कहा गया है कि" सत्वोपन्न भावों को 'सात्विक भाव' कहा जाता है और ये आठ प्रकार के होते हैं। जैसे—

"स्तंभ, कंप, सुरभंग कहि, बिबरँन, अस्रु, सेद।
बौहौरि प्रलै, रोंमांच पुनि, आठों सात्त्विक-भेद॥"

—भा० भू० (जसवंतसिंह) पृ० १८

पा०—१. (सं० प्र०) (वें०) कह्यौ...। २. (प्र०) (वें०) नरे...।

किंतु दासजी ने यहाँ छह का ही उल्लेख किया है। अंतिम—अश्रु और प्रलय का परित्याग किया है। यद्यपि—'औरौं अनं' से उनका भी समावेश हो जाता है। सुप्रसिद्ध रीति-ग्रंथकार 'श्री मम्मट' ने इनका पृथक् उल्लेख न कर अनुभावों के अंतर्गत माना है तथा विश्वनाथ चक्रवर्ती ने भी साहित्य-दर्पण में इन्हें रस के प्रकाशक मानकर रति के आदि कारण होने से अनुभावों के ही अंतर्गत उल्लेख किया है, पर 'गोवलीवर्दन्यायानुसार' ये पृथक् भी कहे जा सकते हैं। महाराज 'भोज' कहते हैं—सत्त्व का अर्थ रजो और तमोगुण से रहित 'मन' है। इसलिये सत्त्व-योग से उत्पन्न भाव सात्त्विक कहे जाते हैं। कोई-कोई इन्हें 'तन-व्यभिचारी' भी कहते हैं।'

अस्तु—

भिन्न-भिन्न बरनन करें, इन कों सब कबिराइ।
सब ही कों करि एक पुनि देत रसैं[1] ठैहराइ॥
लखि[2] बिभाव-अँनुभाव ही, चर, थिर-भाबै नेंक।
रस-साँमिग्री जो रमें, रसै गँनें धरि टेक॥

अथ थाई भाव उदाहरन "कबित्त" जथा--

मंद-मंद गोंने सों गयंद-गति खोंने लगी,
बोंने लगी बिष सौ[3] अलक अहि छोंने-सी[4]।
लंक नबला को कुच-भारँन दुनोंने लगी,
होंने लगी तँन की चटक चारु सोंने-सी[5]॥
तिरछी[6]-चितोंने सों बिनोदन बितोंने लगी,
लगी[7] मृदु-बातँन[8] सुधा-रस-निचोंने-सी[9]।
मोंनें[10] भोंनें सुंदर सलोंने पद 'दास' लोंने,
मुख की बँनक ह्वै लगँन लगी टोंने-सी[11]॥*

पा०—१. (सं० प्र०) रसौ...। २. (सं० प्र०) थिर...। ३. (शृं० नि०) सौ...। (वें) सों...। ४. (शृं० नि०) मंद-मंद गोंन सों गयंद-गति खोंन लगी, बोंन लगी बिष-सौ अलक अहि छोंनाँ-सी। ५. (शृं० नि०)...कुच नारँन दुनों न लगी, होंन लगी तन चटक चारु सोंनाँ-सी। (६. सं० प्र०) तिरछें...। ७. (प्र०) लागी...। ८. (भा० जी०) बातँन सों सुधारस..। ६. (शृं० नि०) तिरछी चितोंन सों बिनोदन बितोंन लगी...सुधारस निचोंनाँ-सी। १०. (वें) मोंन मोंन...। ११. (शृं० नि०)...टोंनाँ-सी।

*, शृं० नि० (भि० दा०) पृ० ४४, १३२। शृं० ति० (सं०) पृ० २०१।

वि०—दासजी ने यह कवित्त अपने 'शृंगार निर्णय' नामक नायिका-भेद के ग्रंथ में—'परकीया—ज्ञातयौवना नायिका' के उदाहरण में भी दिया है। ज्ञात-यौवना— जिसे अपने यौवन का ज्ञान होने लगे, जैसे—

"निज तँन जोबन-आगमन, जाँन परत है जाहि।
कबि-कोबिद सब कहत हैं, 'ग्यात-जोबना' ताहि॥"

र० रा० (मतिराम)

और उदाहरण यथा—

"छाती लागी उचनि, सकोचँन सकाँन लागी,
खाँन लागी पाँनन, उताँन-रस-बतियाँ।
कटि लागी घटानि, अटनि-चढ़ि जाँन लागी,
बैंन लागीं नटँन, जगँन लागी रतियाँ॥
चारु लागी चखँन, सुधारँन अलक लागी,
जेब लागी जगँन, पगँन लागी गतियाँ।
नैंन लागी फेरँन, निहोरँन सखीन लागी,
मन लागी चोरँन, पढ़ँन लागी पतियाँ॥"

म० मं० (अज्ञात) पृ० १२

अस्तु,—

"जवानी आदमी की मायये-इल्ज़ाम होती है।
निगाहे-नेक भी इस उम्र में बदनाम होती है॥"

—कोई शायर,

विभाव-उदाहरन 'कवित्त' जथा—

धीर[1] धुँनि बोलें, थँभि-थँभि झर खोलें,
मंडे करत किलोलें बारि-बाहक अकास में।
निरतत कलापी, झिल्ली-पिक हैं अलापी,
बिरही[2]-जनँ बिलापी हैं मिलापी रस-रास में॥
संपा कौ प्रकास, बक-अबली अकास,[3]
औ बूँदँन-बिकास 'दास' देखिबे कों पास[4] में।

पा०—१. (सं० प्र०) घोर...। २. (भा० जी०) बिरहा...। ३. (भा० जी०) (वें०)—अबली कौ अबकास, बूँदँन०। ४. (वें०) या समैं।

बनता-बिलास-भौंन कीन्हे,[1] हैं मुनीसन के,
नीप नीको बास लखि फैली निज बास में ॥

वि०—"दासजी ने इस कवित्त-द्वारा 'उद्दीपन-विभाव' का वर्णन किया है। उद्दीपन विभाव—"रसहि जगावै दीप-ज्यों, 'उद्दीपन' कहि सोइ।"

ये उद्दीपन दो प्रकार के होते हैं,—'दैवी' और 'मानुषी'। अस्तु,—सखा, सखी, दूती, ऋतुएँ, वन-उपवन, केलि-कुंज, तड़ाग, एकांत-स्थल, पवन, चंद, चाँदनी-रातें, चंदन, भ्रमर-कोलिल, गान-वाद्य आदि-आदि अनेक प्रकार के उद्दीपन कहे गये हैं।

अनुभाव उदाहरन 'सवैया' जथा—

जी बँधि-ही[2] बँधि जात है ज्यों-ज्यों
सु नींबी[3]-तनींन के बाँधति[4]-छोरति।
'दास' कटीले है[5] गात कँपै, बिहँसोंही-[6]
लजोंही लसै दृग सों[7] रति ॥
भोंह मरोरति, नाँक सिकोरति,
चीर निचोरति औ चित चोरति[8]।
प्यारे गुलाब के नीर में बोरत,[9]
प्रिया पलटैं रस भीर में बोरति[10] ॥

वि०—"जिन चेष्टाओं के प्रादुर्भाव से रस की अनुभूति हो, उन्हें अनुभाव कहा गया है। अथवा—"आलंबन-उद्दीपनादि कारणों से हृदय में जागृत रति-भाव को प्रकट करने वाले—हाव-भाव, मुसिक्याँन, कटाक्ष और भोंहों का मरो-ड़ना-आदि शृंगार-रस के अनुभाव कहे जाते हैं। संस्कृताचार्यों ने इन्हें—सात्त्विक, कायिक और मानसिक अथवा कायिक, मानसिक और आहार्य-आदि तीन प्रकार का तथा ब्रजभाषा के आचार्यों ने—कायिक, मानसिक, आहार्य और सात्त्विक रूप चार प्रकार के कहे हैं। यथा—

पा०—१. (भा० जी०) कीन्ही हैं, मुनीप निसि... (वें०) कीन्हों हैं मुनीपनि, सु नी-पनि की बास। २. (भा० जी०) जीब धों-ही बँधि...। ३. (भा० जी०) नींवि ..। ४. (वें०) बाँधती-छोरती। ५. (भा० जी०) है...। ६. (भा० जी०) बिहँसोंहि लजोंहे...। ७. (वें०) सों रती। (सं० प्र०) लों रति। ८. (वें०)...मरोरती, नाँक सिकोरती, चीर निचोरती, औ चित-चोरती। ९. (प्र०—२) बोरी...। (वें०) (भा० जी०) बोरयौ। १०. (वें०) बोरती।

"कहि विभाव कौं कहत हौं, अब अनुभाव प्रकास।
जो हिय ते रति-भाव अनु, प्रघट करै अनयास ॥"
'कायक' इक सो जाँनिऐं, 'मानस' दूजौ होइ।
'आहारज' है तीसरौ, चौथौ 'सात्विक' जोइ ॥"
—र० प्र० (रसलीन) पृ० ८६

कवि पद्माकर ने अनुभावों का वर्णन बड़ा सुंदर किया है, जैसे—

"गोरस कौ लूटिबौ, न छूटिबौ छरा कौ गँनें,
टूटिबौ गँनें न कछु मोंतिनँ की माल कौ।
कहै 'पदमाकर' गुवालिनि गुँनीली हेरि,
हरखै, हँसै यों करै झूंठे-झूंठ ख्याल कौ ॥
हाँ करति, नाँ करति, नेह की निसाँ करति,
साँकरी गली में रंग-राखति रसाल कौ।
दीबौ दधि-दाँन कौ न कैसें ताहि भावत है,
जाहि मँन-भायौ झार-झगरौ गुपाल कौ ॥"
—ज० वि० (पद्माकर)

क्योंकि—

"बनने, बिगड़ने, रूठने, हँसने में लुत्फ़ है।
जब तक कि छेड़छाड़ न हो, कुछ मज़ा नहीं ॥"

बिभचारी भाव 'अपस्मार' बरनन 'दोहा' जथा—

को जाँनें, कैसें[1] परी, ह्वै बिहाल परबीन।
कहूँ तार, तंबूर कहुँ कहुँ[2] सारी, कहुँ बींन ॥

वि०—"मानसिक संताप-जनित अति दुःख से उत्पन्न अवस्था-विशेष को 'अपस्मार' कहा जाता है। दासजी से पूर्व 'कविवर विहारी' ने इस भाव को और भी सुंदर रूप में वर्णन किया है, यथा

"कहा लड़ैते दृग किए, परे लाल बेहाल।
कहुँ मुरली, कहुँ पीतपट, कहुँ मुकट-बनमाल ॥"

पा०—१. (भा० जी०) (वें०) कैसी परी, कहूँ बिहाल...। २, (सं० प्र०) (वें०) कहूँ सारि...।

सिंगार-रस बरनन 'दोहा' जथा—

प्रीति नायिका-नायिक-हि, सो सिंगार-रस ठाउ ।
बालक, मुनि, महिपाल अरु देव-बिषै रति-भाउ ॥[१]

सिंगार-रस : संजोग-बिजोग बरनन 'दोहा' जथा—

एक होत संजोग अरु, पाँच बिजोगै थाप[२] ।
सो अभिलाष, प्रबास बरु बिरह, असूया, साप[३] ॥

वि०—"सौंदर्य-अवलोकन से जो लोकोत्तर आनंद मिले, उसे 'शृंगार-रस' कहा गया है। इस शृंगार-रस के दो-'संयोग' और 'वियोग' अथवा 'विप्रलंभ' भेद माने जाते हैं। दर्शन, स्पर्श, संभाषणादि से नायिका-नायक जिस इंद्रिय सुख को पाते हैं, वह 'संयोग-शृंगार है। अतएव इसके संचारी भाव—"श्रम, चिंता, मोह, असूया, क्रीड़ा, मद, धृति, गर्व" स्थायी भाव—'रति', आलंबन—"प्रेमास्पद-आदि", उद्दीपन-संगीत, वसंतादि ऋतुएँ, मलयानिल, कोकिल आदि पक्षियों का कलरव, कुमुद, सखी, चंद, चाँदनी और उपवन" आदि हैं, जिनका वर्णन आगे हो चुका है। अनुभाव—'नायक-नायिका', सहचर-रस—'हास्य' और 'अद्भुत', विरोधी—"करुण, वीर, रौद्र, भयानक, वीभत्स, शांत और वात्सल्य रस", गुण—"माधुर्य और 'प्रसाद', वृत्ति—"उपनागरिका, कोमला," रीति—"वैदर्भी, पांचाली," कही गयी है।

विप्रलंभ-शृंगार—नायक-नायिका में उत्कट प्रणय होते हुए भी समागम का न होना कहा गया है। इसके संचारी—"उग्रता, मरण, आलस्य, श्रम, चिंता, विचार, स्वप्न, व्याधि, उन्माद, चपलता, मोह, दैन्य, आमर्ष, शंका, अपस्मार," स्थायी—'रति', आलंबन—"नायिका-नायक" उद्दीपन—चंद, चाँदनी, पक्षियों का कलरव, मेघ, उपवन, कमल, कपूर, उवटन, शीतल-पवन तथा ऋतुएँ आदि", अनुभाव—'नायक-नायिका', गुण—"माधुर्य तथा प्रसाद", वृत्ति—"उपनागरिका और कोमला", एवं—रीति वैदर्भी तथा पांचाली कही गयी है। रति-शास्त्र के आचार्यों ने इसके-'पूर्वानुराग,' 'मान', 'प्रवास' नाम से तीन भेद किये हैं। कोई-कोई करुण रूप से चौथा भेद भी मानते हैं। पूर्वानुराग को भी प्रत्यक्ष, चित्र, श्रवण और स्वप्न-दर्शनादि रूप चार प्रकार का कहा गया है। चित्र-दर्शन का एक उदाहरण, यथा—

पा०—१. इस से आगे वेंकटेश्वर बंबई की मुद्रित प्रति में—"सो सिंगार-रस द्वै प्रकार का १ संयोग २ बियोग ॥ संयोग १ प्रकार का। वियोग ५ प्रकार का लिखा अधिक मिलता है।
२. (वें०) थापु । ३.(वें०) सापु ।

"साँवरे-अंगँन में जस से लिख जों सुखमाँ के सँमूह सँने हैं।
याही बिसासिन बाँसुरी में, बस कोबे के ब्योंत न जाल गँने हैं ॥
ए-ई बड़े द्दग हैं जिन गोप-बधू-उर बाहल कीन्हे घँने हैं।
बाँके हैं जैसे कछू सुन राखे हैं, चित्र में वेई चरित्र बँने हैं ॥"

मान भी—लघु, मध्यम और गुरु रूप से तीन प्रकार का, एवं विरह—अभिलाष-हेतुक, ईर्ष्या-हेतुक, विरह-हेतुक, प्रवास-हेतुक और शाप-हेतुक पाँच प्रकार का कहा गया है। दासजी ने अपने शृंगार-निर्णय में इन्हें—अभिलाष, प्रवास, विरह, असूया (ईर्ष्या) और शापादि क्रमांतर रूप में माना है।

नायक-नायिका के सौंदर्यादि गुणों के श्रवण से, प्रत्यक्ष वा चित्र अथवा स्वप्न-दर्शन से और परस्पर अनुरक्त नायक-नायिका के प्रथम अनुराग रूप मिलने वा अप्राप्त समागम के कारण मिलने की उत्कट इच्छा से होता है और ईर्ष्या-हेतुक विरह मान-जनित कहा गया है। यह 'प्रणय' (अकारण नायक-नायिका का मान) और ईर्ष्या (नायक को अन्य नायिका-आशक्त जानकर कोप-भाव का होना) के कारण दो प्रकार का होता है। रीति-ग्रंथकारों ने ईर्ष्या-मान को भी दो भेदों के रूप में माना है—'प्रत्यक्ष-दर्शन' (नायक को प्रत्यक्ष अन्याशक्त देखने पर) और 'अनुमान' जो किसी के द्वारा सुनने पर होता है। समीप रहने पर भी गुरुजनों की लज्जा के कारण समागम का न होना भी विरह-हेतुक वियोग शृंगार कहा गया है। श्रीनंददास (अष्टछाप) जी ने इसके प्रत्यक्ष, पलकांतर, बनांतर और देशांतर रूप से चार भेद किये है। प्रवास-हेतुक विरह—नायक-नायिका के दोनों में से एक के विदेश में रहने पर माना जाता है। यह भी—'भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान-नामक तीन प्रकार का कहा गया है। शाप-हेतुक वियोग की परिभाषा स्पष्ट है। वियोग-शृंगार में दश 'काम-दशाएँ—"अभिलाषा, चिंता, स्मृति, गुण-कथन, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता और मरण, कही गयी हैं। इसी प्रकार पूर्व-कथित—शंका, औत्सुक्य, मद, ग्लानि, निद्रा, प्रबोध, चिंता, असूया, निर्वेद, स्वप्नादि संचारी भाव तथा संताप, निद्राभंग, कृशता, प्रलापादि अनुभाव होते हैं।"

अथ संजोग सिंगार बरनन 'सवैया' जथा—

बिपरीति रची नँद-नंद¹ सों प्यारी, अँनंद के कंद सों पागि रही।
बिथुरी अलकें, स्रँम-कँन² झलकें, तँन-ओप अँनूपम जागि रही ॥

पा०—१ (भा० जी०) नंद-नंदन सों। २. (भा० जी०) (वें०) स्रँम के…।

अति 'दास' अघाँनीं अँनंग-कला,[1] अँनुरागँन-हीं अँनुरागि रही ।
तिरछैं तकि कें, छबि सों छकि कें, थिर ह्वै थकि कें हिय लागि रही ॥

अथ अभिलाष-हेतु बियोग बरनन 'दोहा' जथा—

सुँनें[2] लखें जँह दंपति-हिं, उपजै प्रीति सुभाग ।
'अभिलाषा'[3] कोउ कहैं, कोउ[4] पूरब-अँनुराग ॥

अस्य उदाहरन 'कवित्त' जथा—

आज वा[5] गोपी कौ न गुपत[6] रह्यौ हाल कछु,
हाल बँनमाल के हिंडोरे औँन[7] झूलिगौ ।
अँखियाँ मुखांबुज में भौंर-ह्वै सँमानीं,
भई बाँनी गदगद, कंठ[8] कदँम सौ[9] फूलिगौ ॥
जा मग सिधारे नँद-नंद ब्रज-स्वाँमी 'दास',
जिनकी गुलामी मकरध्वज कबूलिगौ ।
वाही मग लागी नेह-घट में गँभीर-भरी,
नीर-भरिबे कौ घट[10] घाट-ही में भूलिगौ ॥

वि०—"दासजी ने यह उदाहरण पूर्वानुराग रूप प्रत्यक्ष-दर्शन का दिया है । चित्र-दर्शन का उदाहरण पूर्व में दिया जा चुका है और 'स्वप्न-दर्शन', यथा—

"सपने-हूँ सोंमनि न दई निरदई दई,
बिलपति रही जैसें जल-बिन झखियाँ ।
'कुंदन' सँदेसौ आयौ लाल मधुसूदन कौ,
सबै मिलि दौरी लैंन अंगँन-बिलखियाँ ॥
बूझे सँमाचार ना मुखागर सँदेसौ कछु,
कागद लै कोरौ हाथ दयौ लैकें सखियाँ ।
छतियाँ सों पतियाँ लगाइ बैठी बाँचिबे कों,
जौलों खोलों खाँम तौलों खुलि गईं अँखियाँ ॥"

पा०—१. [वें०] अँनंद-कला । २. [प्र०—२] सूंन··· । ३. [प्र०] [भा० जी०] (वें०) अभिलाखै ·· । ४. (वें०) को पुरबा···। ५. (प्र०) (यें०) आजु वहि गोपी की न गोपी रही···। ६ (प्र०—२) गोप्यौ रह्यौ··· । ७. (प्र०) मन···। (सं० प्र०) मैंनु···। (वें०) आँनि···। (प्र०–२) लाज ··। ८. (वें०) कद···। ९. (वें०) सों···। १० (वें०) घाट ।

दासजी ने भी स्वप्न-दर्शन का सुंदर उदाहरण अपने 'शृंगार-निर्णय' में प्रस्तुत किया है। साथ ही वहाँ आपने—"छाया-दर्शन, माया-दर्शन, चित्र-दर्शन और श्रुति (श्रवण) दर्शन के भी सुंदर उदाहरण दिये हैं।"

अथ प्रबास-हेतुक बियोग बरनन जथा—

पीतम गए बिदेस जो, बिरह-जोर सरसाइ।
वही 'प्रबास'[१]-बियोग है, कहें सकल कबिराइ ॥[२]

अस्य उदाहरन 'कवित्त' जथा—

चंद चढ़ि देखों[३] चारु आँनन प्रबीन गति,
लींन होत[४] माँते गजराजँन कों ठिल-ठिल।
बारिधर-धारँन ते बारँन यों[५] ह्वै रहे,
पयोधरँन[६] छ्वै रहे पहारँन कों पिल-पिल ॥
दई, निरदई 'दास' दींनों हैं बिदेस तउ,
करों न अँदेस[७] तुव ध्यॉन-हीं में हिल-हिल।
एक दुख तेरे[८] हों[९] दुखारी प्राँन-प्यारी मेरौ[१०]—
मँन तोसों नित(ही) आवत[११] है मिल-मिल ॥*

*वि*०—"दास जी ने यह कवित्त शृंगार-निर्णय में 'प्रोषित नायक' के और रसकुसुमाकर के रचयिता ने 'प्रोषितपति' के उदाहरण में दिया है—संकलित किया है। प्रोषित पति—

**"ब्याकुल होइ जु बिरह-बस, बसि बिदेस में कंत।
ताही कों 'प्रोषित' कहें, जो कोबिद बुधिवंत ॥"**

—म० मं० (अजान) पृ० ९८

प्रोषित-नायक का वर्णन 'पद्माकर' जी ने अपने नायिका-भेद के ग्रंथ 'जगद्विनोद' में बड़ा सुंदर किया है, यथा—

पा०—१ (वें०) प्रबाल…। २. यह दोहा 'सम्मेलन-प्रयाग' की प्रति में नहीं है। ३. (प्र०) (भा० जी०) (वें०) देखै…। ४. (वें०) हो तो…। ५. (प्र०) (सं० प्र०) (वें०) (र० कु०) पै…। (शृं० नि०) यै…। ६. (वें०) पयोधनि कों ज्वै रहै ..। ७. (शृं०-नि०) अँदेसौ .। (र० कु०) अनेंस…। ८. (भा० जी०) (वें०) तेरौ…। ९. (शृं० नि०) है…। १०. (प्र०) (शृं० नि०) (सं० प्र०)…नत प्राँन-प्यारी। (वें०) दुखारी नित…। ११. (वें०) आवतो…।

*, शृं० नि० [भि० दा०] पृ० ९९, २९८। र० कु० (अ०) पृ० १६२, ४४२।

"मोद-मदमाँती, नख-रेखँन बिलोकि छाती,
रातौ ह्वै नवोली चली सेज-तजि तैसें कै।
कहै 'पद्माकर' कह्यौ मैं कै कहाँ तू चली,
यों कहि गह्योई ऐंच अंचर अँनैसें कै॥
ताही समें रोस करि अधर कँपाइ कछु,
हग-भरि भावती सुबोलि उठी ऐसें कै।
छोर, अरे छोर, मुख-मोर कें कहे जे बैंन,
वे अब बिसारे कह्यौ बिसरत कैसें कै॥"

बिरह-हेतु उदाहरन 'सवैया' यथा –

नैंनंन कों तरसाइए कहाँ लों, कहाँ लों हियौ बिरहागि में तइए।
एक घरी न कहूँ कल-पइऐ, कहाँ-लगि प्राँनन कों कलपइऐ॥
आबै यही अब 'दास[1]' बिचार, सखी, चलि सौति हूँ के घर[2] जइऐ।
माँन घटे ते कहा घटि जइऐ[3], जुपै प्राँन-पियारे कों देखन पइऐ॥*

*वि*०—"दास जी ने यह सवैया अपने 'शृंगार-निर्णय' में 'सठ की कनिष्ठा' नायिका के उदाहरण में भी दिया है, आप का वहाँ कहना है—

"इक अनुकूल-हि दच्छ, सठ, धृष्ट तियँन अँग बाँम।
प्यारी ज्येष्ठा, प्यार-बिन कहें कनिष्ठा नाँम॥
—शृं० नि० (दास) पृ० २४

अतएव आपने यहाँ प्रथम 'साधारण ज्येष्ठा', तदनंतर 'दक्षिण की ज्येष्ठा-कनिष्ठा, फिर सठ नायक की जेष्ठा, सठ की कनिष्ठा, धृष्ट की ज्येष्ठा, धृष्ट की कनिष्ठा-आदि का वर्णन किया है।

पति के प्रेम-परिमाण के अनुसार स्वकीया नायिका के 'ज्येष्ठा-कनिष्ठा' रूप दो-भेद रीति-काल के आचार्यों ने किये हैं। इनका कहना है— नायक की कई विवाहित स्त्रियाँ होने पर जिस पत्नी पर उसका अधिक प्रेम हो उसे 'ज्येष्ठा' और न्यून प्रेम वाली 'कनिष्ठा' कही जायगी, यथा —

पा०—१. (भा० जी०) (प्र०) (वें०) जी में अब दास, सखीन। २. (प्र०) (वे०) गृह...। ३ [प्र०] [भा० जी०] [वें०] घटि है, जुपै...।

* शृं० नि० (भि० दा०) पृ० २५,७२। का० कौ० [त्रि०] पृ० ४०४ [१]। ब्र० ना० मे० [मी०] पृ० २६०, २६८। न० सं० [हफी०] पृ० ७२, ६०।

"जासों पति अति हित करै, सु तिय 'ज्येष्ठा' आहि ।
जा प्रति घट हित नाह कौ, कहत कनिष्ठा ताहि ॥"
—सुं० शृं० (सुंदरदास)

आचार्य केशव ने यह भेद नहीं माना है। चिंतामणि, मतिराम, देव, रसलीन और पद्माकर आदि आचार्यों ने 'ज्येष्ठा-कनिष्ठा' पृथक्-पृथक् न मान एक ही उदाहरण में दोंनों को संमिलित कर दिया है। कनिष्ठा का उदाहरण 'ठाकुर' कवि ने बड़ा सुंदर प्रस्तुत किया है, जैसे—

"रोज न आइए जो मन-मोंहन, तौपै यै नेंक मतौ सुनि लीजिऐ ।
प्राँन हँमारे तिहारे अधींन, तुम्हें बिन देखें कहौ किम कै जीजिऐ ॥
'ठाकुर' लालँन प्यारे सुनों, बिनती इतनी पै अहो चित दीजिऐ ॥
दूसरें, तीसरें, पाँचएँ, सातएँ, नौअएँ तौ भला आइबौ कीजिऐ ॥"

अथ असूया (ईर्ष्या) हेतुक विरह उदाहरन जथा—

नींद, भूंख, प्यास उन्हें ब्यापत न तपसी[1]-लों,
ताप-सी चढ़त तँन चंदन लगाए ते ।
अति-ही अचेत होत चैत-हूकी चाँदनी में,
चंद्रकँन[2] खाए ते, गुलाब-जल-न्हाए ते ॥
'दास' भौ जगत प्राँन, प्राँन कौ[3] बधिक औ—
कुसाँन ते अधिक भयौ[4] सुँमन बिछाए ते ।
नेह के बढाए[5] उन एते कछु पाए,
तेरौ पाइबौ सु जाँन्यों बलि[6] भौंहन चढ़ाए ते ॥*

वि०—"दासजी ने यह छंद शृंगार-निर्णय में 'मान-वियोग' के उदाहरण में भी दिया है। मान-वियोग—

"जहँ ईरषा-अपराध ते पिय-तिय ठाँने माँन ।
बढ़ि बियोग दस-हूँ दिसा, "मान-बिरह" सो जाँन ॥"
—शृं० नि० (दास) पृ० १८,

पा०—१. (प्र०) न घाँम-सीत...। (वें०) तापसी-लों, । (प्र०—३) तापस लों...। २. (भा० जी०) (वें०) चंद्रक खाए ते..। ३. (प्र०) प्राँन-हू कों...। ४, (शृं० नि०) भए..। ५, (शृं० नि०) लगाए उन तोते कछु पाए..। (सं० प्र०)...बढाए उन एतौ कछु पायौ,...। (भा० जी०) बढाए बौ न एते कछु...। ६ (शृं० नि०) अब...।

*; शृं० नि० (दास) पृ० ६१, २६६ ।

मान वियोग—विप्रलंभ शृंगार-रसांतर्गत है। अस्तु, दासजी ने यहाँ प्रथम—'विरह', तदनंतर 'मान-वियोग' और बाद में 'प्रवास-वियोग का वर्णन किया है।

साप-हेतुक-बियोग बरनन 'दोहा' जथा—

सब ते माद्री-[१]पाँडु कों साप भयौ दुख दाँनि।
बसिबौ एक-हि[२] भोंन कौ, मिलत प्राँन की हाँनि॥

"इति विप्रलंभ शृंगार-रस वर्णन"

अथ बाल-बिषै रति-भाव बरनन जथा—

चूँमिबे के अभिलाषँन-पूरिकें,[३] दूरि ते माँखन-लीनें बुलावति[४]।
लाल गुपाल की चाल बकैयँन, 'दास' जू देखति हो बनि आवति॥
ज्यों-ज्यों हँसें बिकसें दँतियाँ, मृदु-आँनन-अंबुज में छबि छावति[५]।
त्यों-त्यों उछंग लै प्रेम-उमंग सों नंद की राँनी[६], अँनंद बढावति॥

अथ मुनि-बिषै रति-भाव बरनन जथा—

आज बड़े सुकृती हँम-हीं भए[७], पातक-हाँनि[८] हँमारी धरा तें।
पूरब-हूँ किए[९] पुन्न बड़े-ई[१०](जु) भयौ प्रभु कौ पद धारिबौ तातें॥
आगँम[११] है सब भाँति भलौ-ई, बिचारिऐ[१२] 'दास' जू एती कृपा तें।
श्रीरिषिराज, तिहारे मिलें हँमें जाँन परीं तिहु-काल की बातें॥

"इति श्री शृंगार-रस वर्णनः"

अथ हास-रस उदाहरन जथा—

कोऊ[१३] एक दास[१४] काऊ साहब की आस[१५] में,
कितेक दिन बोत्यौ[१६] रीत्यौ सब भाँति बल है।

पा०—१. (वें०) माद्रा···। २. (भा० जी०) जु··। ३. (वें०) पूरक···। ४. (प्र०—३) पुकारति। ५. (प्र०—३) छाजति। ६. (भा० जी०) राँनि···। ७. (वें०) आजु···। (वें) भयौ···। ८. (सं० प्र०) हाते··। ९. (सं० प्र०) (वे०) कियौ···। १० (प्र०) (वें०) बड़ोई···। (सं० प्र०) बड़ो,···। ११. (सं० प्र०) (वें०) आपकों···। १२. (वें०) बिचरिबो···। १३ (प्र०) (वें०) काहू···। १४. (सं० प्र०) दासै··। १५. (स० प्र०) (वें०) आसै में। १६. (प्र०) बीते···।

बिथा जो[1] बिनें सों कहै[2] उत्तर[3] पैहलें-ई[4] लहै,
सेबा-फल है-ई रह्यौ[5] या में नाहिं चल है ॥
एक दिन दास[6] सु तौ आयौ प्रभु-पास तँन
राखे ना पुरौंने[7] बास कोऊ एक थल है ।
करत प्रनाँम सो बिहँसि बोल्यौ यै कहा,
कह्यौ कर-जोरि देव सेबा-[8] ई कौ फल है ॥ *

वि०—"रीति-ग्रंथ-कर्त्ताओं ने 'हास्य-रस'—विकृत आकार, वाणी, वेश-भूषा और चेष्टा-आदि के देखने से उत्पन्न मान 'आत्मस्थ' और 'परस्थ' रूप से दो प्रकार का कहा है। आत्मस्थ हास्य वह जो हास्य का विषय देखने मात्र से उत्पन्न हो और 'परस्थ' वह जो दूसरे को हँसता देखकर प्रकट हो—उत्पन्न हो•••। इसके संचारी—"चपलता, निद्रा, हर्ष, उत्सुकता, आलस्य, अवहित्थ और अश्रु," स्थायी—'हास', आलंबन—'दूसरे की विकृत वेश-भूषा, आकार, निर्लजता, रहस्य-गर्भित वचनावलि, जिन्हें सुनकर हँसी आ जाये, 'उद्दीपन'—हास्य-जनक चेष्टाएँ, विदूषक, नर्म-सचिव, बहु मूर्ति, दुर्वेष,' 'अनुभाव'—ओष्ठ, नाक और कपोलों का स्फुरण, नेत्रों का मिचना-खुलना, मुख का विकसित होना," गुण—'प्रसाद', रीति—'पांचाली,' वृत्ति—'कोमला,' सहचर रस—'संयोग-शृंगार, अद्भुत, शांत, बिभत्स, रौद्र और वात्सल्य' तथा विरोधी-रस—'भयानक' और 'करुण' कहा गया है। साथ ही इसके छह भेद—'स्मित, हसित, विहसित, अवहसित, अपहसित तथा अतिहसित भी कहे गये हैं। इन भेदों का आधार हास की न्यूनाधिकता ही है, अन्य विलक्षणता नहीं। ब्रजभाषा के रीति-आचार्यों ने इस (हास्य) रस के पूर्व में जैसा कहा गया है प्रथम—'उत्तम, मध्यम, अधम,' तदनंतर—'मंद, मध्यम' और 'अति' के बाद ऊपर कहे गये छह भेद भी कहे हैं।

ब्रजभाषा में ही नहीं, उसकी जननी संस्कृत-ग्रंथों में भी हास्य के रस के चमत्कृत उदाहरणों की कमी है—अति अभाव है। यदि कहीं किसी कवि ने

पा०—१. (भा० जी०) औ ••। २. (प्र०) करै ••। ३. (वें) ऊतरु। ४. (प्र०) याही सों•••। (वें) यही तौ ••। ५. (प्र०) (वें०) रहै ••। ६ (प्र०) हास•••। (सं० प्र०) हास-हित आयौ ••। ७ (प्र०) (सं० प्र०) [वें०] पुराँनों•••। ८. [सं० प्र०] सेब•••।

* र० कु० [अयो०] पृ० १२१,४८६। र० मं० [क० पो०,] पृ० २४६। का० प्र० [भानु] पृ० ४४१,१८।

इस पर उदाहरण प्रस्तुत करने का प्रयास किया है तो वह इतना फूहड़ हो गया है कि कुछ कहा नहीं जाता। दासजी का उक्त हास्य-रस-वर्णन वाला छंद कुछ जचता नहीं। साथ ही इसमें 'हास' का शब्द-द्वारा कथन करने से रस-दोप' भी आ गया है। इस दोप के प्रति—काव्य-प्रकाश, काव्यानुशासन, साहित्य-दर्पण और रस-गंगाधर में काफी लिखा गया है। हास्य-रस की सफल मनोहर रचना गोस्वामी तुलसीदास जी की कही जा सकती है, यथा—

"बिंध के बासी उदासी तपोब्रतधारी महा बिन-नारि दुखारे।
गौतँम-तीय तरी 'तुलसी,' सो कथा सुनि भे मुनि-बृंद सुखारे॥
ह्वै हैं सिला सब चंदमुखी, परसें पद मंजुल कंज तिहारे।
कीन्हीं भली रघुनायक जू, करुनाँ कर काँनन कों पग धारे॥"

यद्यपि गोस्वामीजी के इस छंद में श्रीराम-विषयक भक्ति-भाव की ही व्यंजना है, फिर भी वह प्रधान न होकर हास्य को पुष्ट कर उसमें एक विशेष चमत्कार उत्पन्न कर रही है, अतएव यहाँ हास्य-रस की ही अधिकता कही जायगी। हास्य-रस में पगा कविवर 'ग्वाल' जी का निम्न-लिखित उदाहरण भी बड़ा रमणीय है—पढ़ने योग्य है, यथा—

"सुनिकें बिहंग-सोर भोर उठी नँद-राँनी,
अंग-अंग आलस के जोर जँमुहाँनीं वह।
धारी जरतारी सो न सूधी की सँम्हार रही,
कान्ह कों बिरावत खिलावत सिहाँनी वह॥
'ग्वाल' कबि, पूत की जु हीरा-धुकधुकी माँहिं,
छबि सब आपनो अजूबा-ही दिखाँनी वह।
एक संग ऐसी खिल-खिल करि उठी भोरी,
आँसु आइ गए पै न खिलँन रुकाँनी वह॥

अथ करुन-रस बरनन 'कवित्त' जथा—

बतियाँ हुतीं न सपने-हू सुनिबे की सो सुन्यों में,
जु हुती न कहिबे की सो कह्यौ-ई में।
सारे[1] नर-नारी, पंछी-पसु देह-धारी,
रोंमें[2] परँम दुखारी ऐसे[3] सूलँन सह्यौ-ई में॥

पा०—१. [प्र०] [स० प्र०] [वे०] [र० कु०] रोबें...। २ [प्र०] सबे। ३. [र० कु०] [का० प्र०] जासों...।

हाइ अपलोक-ओक[1] पंथ-हि गह्यौ पै[2]—
बिरहागिन दह्यौ[3] में सोक-सिंध-हि[4] बह्यौ-ई में ।
हाइ प्राँन-प्यारे, रघुनंदँन-दुलारे, तुँम बँन कों—
सिधारे प्राँन-तँन[5] लै रह्यौ-ई में ॥ *

वि०—'बंधु-वियोग, धर्म-अपघात' एवं द्रव्य-नाशादि के अनिष्ट होने पर 'करुण-रस' की उत्पत्ति कही गयी है। इसके संचारी हैं—'मोह, विषाद, अश्रु, अपस्मार, जड़ता, उन्माद, व्याधि, श्रम और निर्वेदादि···।' स्थायी—'शोक,' आलंबन—'बंधु-वियोग, पराभव, दरिद्र वा मृतक व्यक्ति, दुखी पुरुष··,' उद्दीपन—'प्रिय बंधुओं का दाह-कर्म, उनके स्थान, वस्त्र-भूषण, रुदन, चीत्कार, इत्यादि···। अनुभाव—'मूर्छा, विलाप, दीर्घ-स्वास, भूमि-पतन, विवर्णता, उच्छ्वास, मुख का सूखना, स्तंभ, प्रलाप', गुण—'माधुर्य,' रीति—'वैदर्भी,' वृत्ति—'उपनागरिका', सहचर-रस—'रौद्र, भयानक, शांत, अद्भुत, वीर, बीभत्स और वात्सल्य,' विरोधी-रस—'शृंगार और हास्य', देवता—'वरुण', वर्ण—'कपोत-चित्रित कहा गया है। रसलीनजी ने अन्य मतानुसार इसका देवता 'यम' माना है, यथा—

"पर-पोषक जो सोक कौ, सो 'करुनाँ-रस' होइ।
इष्ट-नास, बिपतादि सब, ए बिभाव जिय जोइ॥
भ्रमँन, पतँन, बिपतँन, सुसँन, जाँन लेहु अनुभाव।
'जम' सो देवता कहत हैं, बरँन कपोत-सहाव॥"
—र० प्र० (रसलीन) पृ० १३०

करुण-रस का परिपाक गो० तुलसीदासजी के निम्न छंद में भी बड़ा सुंदर हुआ है, यथा—

"पुर ते निकसी रघुबीर-बधू, धरि धीर दिए मग में पग-द्वै।
झलकीं भरि-भाल कँनीं जल की, पट सूखि गए मधुराधर वै॥
झुकि बूझति है चलनों जु कितौ पिय, परँनकुटी करिहौ कित ह्वै।
तिय की लखि आतुरता पिय की, अँखियाँ अति चारु चलीं जल च्वै॥"

पा०—१. [र० कु०]···अवलोकिवौ कुपंथहि गह्यौ-ई, बिरहागिनि गहौई सोक-सिंधु निबह्यौई···। २. [वें०] में। ३. [का० प्र०]··दह्यौई सोकसिंध निबह्यौं-ई···। ४ [प्र०] सिंधुन बह्यौई···। ५. [वें०] तन-प्राँन लै··।

* र० कु० [अयो०] पृ० १५२,४६१। का० प्र० [भानु] पृ० ४४६,१।

बीर[1] रस बरनन 'सवैया' जथा—

क्रुद्ध दसानन बीस भुजाँन[2] सौं, लै कपि-रीछ[3]-अँनी सर बट्टत।
लच्छँन तच्छँन रत्त[4] किए द्दग, लच्छ बिपच्छँन के सिर कट्टत॥
मार, पछार, पुकार दुहूँ दल, रुंड[5]-झपट्ट, दपट्ट लपट्टत।
दौरि[6] लरें भट-मत्थँन लुट्टत, जोगिन खप्पर ठट्टँन-ठट्टत॥

वि०—'अत्यंत उत्साह से 'वीर-रस' की उत्पत्ति कही गयी है और इसके चार भेद—'दान-वीर, धर्म-वीर, युद्ध-वीर और दया-वीर साहित्य-सृजेताओं ने कहे हैं। इन चारों का स्थायी भाव उत्साह ही होता है। अस्तु, जिन भावों से वैक्रांत वा वीरता प्रकट हो वह 'वीर-रस'।

इन—दान, धर्म, युद्ध और दया वीरों में विशेषता 'युद्ध-वीर' की ही मानी जाती है, क्योंकि दया-वीर को दया-पात्र की रक्षा के लिये, धर्म-वीर को धर्म-रक्षा के लिये अनिवार्य रूप में कभी-कभी झगड़े मोल लेने पड़ते हैं— युद्ध में उतरना पड़ता है। इसी प्रकार दान और कर्म में भी युद्ध की संभावना रहती है, अतः इन सबसे विशेष युद्ध-वीरता ही मानी गयी है। इन चारों— दान, धर्म, युद्ध और दया वीरों का भूषण कवि ने एक छंद में बड़ा सुंदर वर्णन किया है, यथा—

दाँन-समैं द्विज देखि मेरु-हूँ, कुबेरु-हू की,
संपति लुटाइबे कों हियौ ललकत है।
साहि के सपूत सिवसाहि के बदन पर
सिब की कथाँन में सनेह झलकत है॥
'भूषँन' जहाँन-हिंदुवाँन के उबारिबे कों,
तुरकाँन मारिबे कों बीर बलकत है।
साहिन सों लरिबे की चरचा चलत आँन,
सरजा के दृगँन उछाह छलकत है॥"

वीर-रस का देवता—"इंद्र वा शशि' और वर्ण 'गौर' कहा गया है।

पा०—१, प्रतापगढ़, संमेलन प्रयाग की हस्तलिखि प्रतियों में यह छंद 'रौद्र-रस' के उदाहरण में उद्धृत किया गया है। साथ ही वेंकटेश्वर की मुद्रित प्रति में भी। २. [सं० प्र०]···बीस कृपानन, लै ··। ३. [वें०] रिच्छ। ४. [सं० प्र०]······लै सर अच्छन, लच्छ ··। ५. [सं० प्र०] दौरि···। ६. [प्र०] [भा० जी०] [वें०] रुंड···।

रौद्र-रस बरनन 'कबित्त' जथा—

देखत मदंध,[१] दसकंध - अंधधुंध - दल,
　　बंधु सों बलकि बोल्यौ राजा रॉम बरबंड।
लच्छॅंन बिचच्छॅंन सँम्हारें रहौ निज-पच्छ,
　　देखि हों अकेलें हीं-हीं अरि-ॲंनीं परचंड ॥
आज अघवाऊँ इन सत्रुंन के स्रोनितॅंन,[२]
　　'दास' भॅंनि बाढ़ी मेरे बानॅंन तृपा अखंड।
जॉंन पॅंन सक्कस, तरक उठ्यौ तक्कस,[३]
　　करक उठ्यौ कोदंड, फरक उठे[४] भुज-दंड ॥[५]

वि० – "रौद्र-रस,—"मान भंग, अपकार, शत्रु की चेष्टा और गुरुजन-निंदा से उत्पन्न कहा गया है। अतएव जिस रस के आस्वादन से क्रोध प्रकट हो उसे 'रौद्र-रस' कहते हैं। क्रोध, इसका स्थायीभाव और आलंबन—"शत्रु और उसके पक्ष वाले अथवा अवस्कंदक, अपराधी तथा दुर्जन माने जाते हैं। उद्दीपन-—"शत्रु-द्वारा किये गये अनिष्ट कार्य, आक्षेप, कठोर वाक्यों का प्रयोग, शत्रु-सैन्य-वृद्धि", अनुभाव—"नेत्रों की रक्तता, भृकुटि-भंग, दाँतों का भींचना, होंठों का चबाना, कठोर-भाषण, स्वकार्यों की प्रशंसा, शस्त्रों का उठाना, क्रूरता से देखना, आक्षेप करना, आवेग, गर्जन-तर्जन, ताड़न, रोमांच, कंप और प्रस्वेदादि...", गुण— ओज', रीति—"गौड़ी", वृत्ति—"पौरुषा", सहचर-रस—वीर, बीभत्स, वात्सल्य, शांत, अद्भुत और करुणा-रस," विरोधी—"शृंगार, हास्य तथा भयानक", वर्ण—'लाल', और देवता--'रुद्र' कहा गया है।

वीर और रौद्र-रस के आलंबन-उद्दीपन प्रायः समान-ही देखे जाते हैं, पर 'स्थायी-भाव' में भेद है। नेत्र-मुख का आरक्त होना, कठोर वाक्यों का कहना, शस्त्र-प्रहार करना-आदि अनुभाव रौद्र-रस में ही होते हैं, वीर में नहीं।"

भयानक-रस बरनन 'कबित्त' जथा—

आयौ कॉंन्ह सुँनि भूल्यौ सकल सॉंयनपॅंन[६]
　　स्यार-पॅंन कंस कौ न कहत सिरात है।

पा०—१. (बें०) महांध...। २. (वें०) सोनितॅंन...। ३. (भा० जी०) (वें०) सक्कस...। ४. (भा० जी०) (वें०) उठ्यौ...। ५. प्रतापगढ़ और संमेलन प्रयाग की हस्तलिखित, महावीरप्रसाद मालवीय संपादित और वेंकटेश्वर प्रेस वाली मुद्रित प्रतियों में यह छंद 'वीर-रस' के उदाहरण के अंतर्गत लिखा है। ६. (प्र०) (भा० जी०) (वें०) इस्यारपॅंन...।

ब्याल बर[1] पूरब चँडूर द्वार ठाड़े तऊ,
भभरि[2] भगाइ भयौ भीतर-ही[3] जात है[4] ॥
'दास'[5] ऐसी डर-डरी मति है तहाँ-हूँ ताकी,
भरभरी लागी मँन, थरथरी गात है।
खरक[6] हुँ के खरकत, धकधकी धरकत,
भौंन[7]-कौंन में सिकुरत सरकत जात है॥*

वि०—"किसी बलवान का अपराध करने अथवा भयंकर वस्तु देखने पर 'भयानक-रस' की उत्पत्ति कही गयी है। अतएव जिस रस के आस्वादन में इंद्रिय-क्षोभ वा भय उत्पन्न हो वहाँ भयानक रस होता है। इसके संचारी—"जुगुप्सा, रोमांच, अवहित्थ, विषाद, जड़ता, मति, स्मृति, निर्वेद"—आदि ., स्थायी—'भय', आलंबन—"व्याघ्रादि हिंसक जंतु, शून्य स्थान, वन, शत्रु", उद्दीपन—अंधकार, निस्सहाय होना, शत्रु की भयंकर चेष्टा", अनुभाव—"रोमांच प्रकंप, वैवर्ण्य, गदगद होना, आँख मूदना, स्वेद और आँसुओं का बहना", गुण—"ओज", रीति—"गौड़ी", वृत्ति "पौरुषा", सहचर—"अद्भुत, करुण, वीभत्स-रस", विरोधी—"शृंगार, हास्य, वीर, रौद्र, शांत और वात्सल्य-रस", देवता—"यम" तथा वर्ण—कृष्ण (काला) कहा जाता है।"

विभत्स-रस बरनन 'कबित्त' जथा--

बरखा के सरे-मरे मृतक-हू खात,
न घिनात खरे कृमि-भरे मासन के कौर कों।
जीवत बराह कौ[8] उदर-फारि चूसत हैं,
भावै दुरगंध वौ[9] सुगंध जैसें और कों॥
देखत-सुँनत सुधि करत हू आवै घिँन,
साजे सब अंगँन घिँनाँमने,[10] हिँडोर कों।
मति के कठोर माँन धरँम कों तारे,
करें करँम अघोर डरें परँम अघोर कों॥

पा०—१. (प्र०) (सं० प्र०) (वें०) ब्याल बल-पूर औ...। २. [प्र०] भगत चलौ भीतर ..। ३. [सं० प्र०] भयौ ..। ४. [का० प्र०] पूर और चून नर छार खेत ठाड़े तऊ, भभरि भगाइ भए...। ५. [का० प्र०] 'दास' मति हेतु हाड, ताकीं भरभरो लागु ..। ६. [प्र०] खर-हू के...। [वें०] खार-हू के...। ७ [सं० प्र०] [वें०] भौंन-कौंन सिकुरत...। ८. [वें०] के...। ९. [प्र०] सो...। १०. [वें०] घिनाँमने-ही डौर...। [प्र०] घिनाँमने-ही ठौर...। [प्र०—३] घिनाँमनीं-ही ठौर...।

*, का० प्र० (भानु) पृ० ४१५,२।

वि०—"जिस रस के आस्वादन से घृणा के भाव पैदा हों, वहाँ 'बीभत्स' रस कहा जाता है, क्योंकि इस रस की उत्पत्ति-रुधिर, मांस-मज्जा-आदि घृणित वस्तुओं के देखने से ग्लानि के कारण होती है, जैसा कि दासजी के छंद में वर्णन है। इसके संचारी—"मोह, अपस्मार, जड़ता, आवेग, व्याधि, मरण, मति, ग्लानि, निर्वेदादि"...., स्थायी—जुगप्सा (ग्लानि)", आलंबन—"घृणास्पद-पदार्थ, घिनोने दृश्य", उद्दीपन—"शव, पुरीष, मांस, रक्तादि की सड़ाँयद, उसमें कीड़े आदि का पड़ना और दुर्गंधादि हैं।" इसी प्रकार अनुभाव—"थूकना, मूंह-फेरना, आँखें-मूंदना, रोमांचित होना", गुण—'ओज', रीति "गौड़ी तथा "लाटी", वृत्ति—"पौरुषा व कोमला", सहचर—"हास्य, अद्भुत, वीर, करुण, भयानक और शांत रस", विरोधी—शृंगार तथा वात्सल्य-रस कहे गये हैं। देवता—'महाकाल' एवं वर्ण—'नील' कहा जाता है। बिभत्स-रस का उदाहरण किसी कल्पनातीत कवि का नीचे लिखा भी अच्छा है, यथा—

> "आँत के तार जु मंगल कंगन, हाथ में बाँधि पिसाच की बाला।
> काँनन हाड़न के झुमका, पैहरें, हिय में हियराँन की माला॥
> लोहू की कीचर सों उबटे सब अंग बनाऐं सरूप कराला।
> पीतम के सँग हाड़ के गूदे की, मद्य पिऐ खुपरींन के प्याला॥"

अद्भुत-रस बरनन 'कवित्त' जथा--

> सिब-सिब कैसौ हुतो[१] छोटौ-सौ छबीलौ गात,
> कैसौ चटकीलौ मुख चंद-सौ सुहावनों।
> 'दास' कोंन मोंनि हैं प्रमोंन ए ख्याल-ही में,
> सिगरौ जहाँन द्वै[२] कपार बीच ल्यावनों॥
> बार-बार आवै यही जिय[३] में बिचार यहै,
> बिधि है, कि हर है, कि परमेस पावनों।
> कहिऐ कहा जू कछु कहत न बनि आवै
> अति-ही अचंभे[४]--भरयौ आयौ यै बावनों॥

वि०—"जिसके आस्वादव से आश्चर्य प्रकट हो, उसे साहित्यकारों ने 'अद्भुत-रस' कहा है, क्योंकि इसमें आश्चर्य-जन्य वस्तुएँ देखने पर (इसकी)

पा०—१, (प्र०) सोहै...। २, (प्र०) (वें०) द्वै कफल, वा द्वैक फाल...। ३, (प्र०) मन...। ४, (वें०] अचंभा...।

उत्पत्ति होती है, जैसा कि दासजी ने 'श्रीवावन भगवान' की पुण्य-गाथा में गूंथ कर यह छंद प्रस्तुत किया है। अद्भुत के संचारी—"हर्ष, शंका, वितर्क, मोह", आवेगादि कहे जाते हैं। भ्रांति भी इसके संचारी भावों में आता है। अतएव स्थायी—'विस्मय', आलंबन"—अलौकि-दृश्य, आश्चर्य-जनक वस्तुएँ व कार्य, उद्दीपन—"उनकी विवेचना अद्भुत वस्तु वा व्यक्ति का वर्णन, अथवा उनका गुण-कीर्त्तन" अनुभाव—रोमांच, स्तंभ, स्वर-भंग, प्रस्वेद अनिमिष देखना, संभ्रम—आदि...", गुण—प्रसाद, रीति—'पांचाली', वृत्ति—'कोमला', सहचर-रस—"नवों रस", ब्रह्मा देवता और वर्ण 'पीत' कहा गया है, यथा—

"परपोषक आस्चर्ज जहिँ, अद्भुत-रस वहि जाँनि।
नई बात कछु देखि-सुनि, उपजत है जो आँनि॥

बिन बूझें जो चकि रहै, वहै जाँन अँनुभाव।
पीत बरँन, अरु देवता-ब्रह्म चित्त में लाव॥"

—र० प्र० (रसलीन) पृ० १३४

इस कवित्त के बाद प्रतापगढ़ की हस्त-लिखित और पं० महावीर प्रसाद मालवीय संपादित मुद्रित प्रतियों निम्नलिखित दो 'दोहा' विशेष मिलते हैं, यथा—

"जे न बिमुख हैं 'थाइ' के, अभिमुख रहें बनाइ।
ते 'बिभचारी' बरनिएँ, कहत सकल कबिराइ॥

रहत सदाँ थिर भाव में, प्रघट होत इहि भाँति।
ज्यों कल्लोल समुद्र में, त्यों संचारी जाति॥"

अथ तेंतीस बिभचारी (संचारी) भाव जथा—

निरबेद, ग्लानि,[१] संका,[२] असूया औ मद, स्रँम,[३]
आलस, दींन,[४] चिंता, मोह, स्मृति, धृति जाँन।
ब्रीड़ा, चपलता, हरख, आबेग[५] औ जड़ता,
बिखाद, उतकंठा, निद्रा, औ अपस्मार माँन॥

पा०—१. (भा० जी०) ग्याँन ..। २. (शृं० नि०) संकर...। ३. (वें०) भ्रम। ४. (वें०) (शृं० नि०) दीनता...। ५. (शृं० नि०) आवेग जड़ता बिखाद...।

सुपँन, बिबोध, अँमरख, अबिहत्थ[1] गँनि,
उग्रता औ मति, ब्याधि, उँनमाद, मरँन आँन।
त्रास औ बितर्क बिभचारी-भाव तेतीस, ए,
सिगरे रसँन[2] के सहायक से पैंहचाँन ॥*

"दोहा"

नाटक में रस आठ-ही,[3] कहे[4] भरत रिषि-राइ।
अँनत[5] नवँम रस 'सांत' किय, तहँ 'निरबेदै'[6] थाइ ॥

सांत-रस बरनन 'दोहा' जथा—

मँन-बिराग सँम सुभ-असुभ, सो 'निरबेद' कहंत।
ताहि बढ़ेते[7] होत है, संत-हिएँ रस-संत ॥

वि०—"दासजी कहते हैं कि मन में वैराग्य आने से वा तत्त्व-ज्ञान प्राप्त होने पर 'शांत-रस' उत्पन्न होता है। अतएव जब सब जीवों के प्रति समान भाव उत्पन्न हो किसी के प्रति राग-द्वेष का भाव उत्पन्न न हो तब 'शांत-रस' की उत्पत्ति कही जाती है।

शांत-रस के संचारी भाव—"हर्ष, विषाद, स्मृति, धृति और निर्वेदादि", स्थायी—'निर्वेद अथवा सम', आलंबन—"अनित्य-संसार की असारता का ज्ञान, परमात्मा का चिंतन, नरक के महान् दुःखों का चिंतन, प्रभु के गुणों का कीर्तन, ईश्वर-ध्यान, उद्दीपन—"बुढापा, मरण, व्याधि, पुण्य-क्षेत्र, सत्संग, ऋषियों का आश्रम, गंगा-यमुना के पवित्र-तट, विविध तीर्थ, एकांत वन", अनुभाव—"रोमांच, विलाप, योग-साधन, ईश्वर-भक्ति, संसार-भीरुता, शास्त्रों का अध्ययन' आदि, गुण—'माधुर्य', रीति—'वैदर्भी', वृत्ति—'उपनागरिका', सहचर—वात्सल्य, अद्भुत, करुण, वीभत्स-रस, विरोधी—"शृंगार, हास्य, रौद्र, वीर और भयानक", वर्ण—'श्वेत' तथा देवता—'श्रीनारायण भगवान' कहे जाते हैं।

काव्य-प्रकाश (संस्कृत) में इसका स्थायी जैसा पूर्व में लिखा है—निर्वेद-ही माना गया है। वहाँ ग्रंथ-कर्त्ता कहते हैं—"तत्त्व-ज्ञान से जो निर्वेद उत्पन्न होता है वही स्थायी भाव है, इष्ट-नाश वा अनिष्ट की प्राप्ति के कारण 'निर्वेद' होने पर

पा०—१. (शृं० नि०) अवहित्था...। २. (भा० जी०) रस नीं के...। ३. (भा० जी०) आठ हैं। ४. (भा० जी०) (वें०) कह्यौ। ५. (प्र०) (वें०) अँनत नवम किय सांत-रस। ६. (भा० जी०) निरबेद हि...। ७. (स० प्र०) चढ़ेते...।

*, शृं० नि० (दास), पृ० ८१,२३८।

वह संचारी भाव होगा, स्थायी नहीं। साहित्य-दर्पण में विश्वनाथ चक्रवर्ती इसकी पुष्टिता के प्रति कहते हैं—

"न यत्र दुःखं न सुखं न चिंता न द्वेषरागो न च काचिदिच्छा ।
रस स शांतः कथितो मुनिंद्रैः सर्वेषु भावेषु शमप्रधानः ॥"

अस्तु यहाँ शंका होती है कि यदि इस रस का यह स्वरूप मान लिया जाय तो उसकी स्थिति मोक्ष की दशा में ही होगी और तब वहाँ विभावादि का ज्ञान असंभव हो जायगा, अर्थात् विभाव, अनुभाव और संचारी-भावों के द्वारा उसकी सिद्धि न हो सकेगी। अतएव साहित्याचार्यों ने—ऐसी दशा में कहा है कि युक्त (रूप-रस आदि विषयों से विरक्त ध्यान-मग्न योगी), वियुक्त (योग-बल से अणिमादि संपूर्ण सिद्धियाँ प्राप्त होकर, समाधि की भावना करते ही वाँछित-वस्तुओं का ज्ञान अंतःकरण में जिसे होने लगे) और 'युक्त-वियुक्त' (जिसकी इंद्रियाँ महत् और अद्भुत रूपादि प्रत्यक्ष ज्ञान के कारणों की अपेक्षा न कर सब अतींद्रिय विषयों का साक्षात्कार कर सके) की दशा में जो 'शम' वा 'निर्वेद' रहता है, वही स्थायी भाव होकर रस में परिणत हो जाता है और इसी अवस्था में विभावादि का ज्ञान संभव होता है। यहाँ 'मोक्ष-दशा' वा निर्विकल्प समाधि का 'शम' अभीष्ट नहीं है, क्योंकि संसार में जो विषय-जन्य सुख हैं अथवा स्वर्गीय महा सुख हैं वे तृष्णा के क्षय वा शांति से उत्पन्न सुख के अल्पातिअल्प भाग के बराबर भो नहीं हैं। एक बात और, वह यह कि—श्रीमम्मट ने शांत-रस के प्रति कुछ अन्यमन्यस्ता दिखलाते हुए कहा है—"शांतोऽपि नवमो रसः।" अर्थात् शांत भी नववाँ रस है, यह 'भी' विचारणीय है। वैसे तो मम्मट-मतानुसार शांत रस की मान्यता है-ही और श्रीभरत मुनि (नाट्याचार्य) संमत है, फिर भी 'अभिनवभारती' कार आचार्य अभिनवगुप्त जिन पक्ष-विपक्ष रूप दो बातों का उल्लेख करते हैं, उनका श्रीमम्मट ने स्वागत नहीं किया, अपितु 'अपि' शब्द से उस मत-वैभिन्य की ओर संकेत करते हुए संकित हृदय से उसे स्वीकार किया है।

अस्य (सांत रस) उदाहरन 'सवैया' जथा—

भूँखे अघाँने, रिसाँने, रसाँने, हितू-अ-हितूँन सों स्वच्छ मँने हैं ।
दूखँन भूषन, कंचँन-काँच, औ मृत्तिका-माँनिक एक गँने हैं ॥
सूल सौ फूल, सो[1] माल[2] प्रबाल सौ, 'दास' हिए सँम सुख्ख सँने हैं।
राँम के नाँम सों केवल काँम, ते ई जग जीवँन-मुक्त बँने हैं ॥

पा०—१. [प्र०] [वें०] सों...। २. [वें०] साल-पलास सों।

अथ भावाभासादि बरनन जथा—

सिंगारादिक भेद बहु औ[1] बिभचारी भाव ।
प्रघट्यौ रस-सारांस में, ह्याँ को करै बढ़ाव ॥

भाव उदै सांत[2]-हु सबल. सांत-हु[3] भावाभास ।
रसाभास ए मुख्य कहुँ[4], होत रस-हिं लौं 'दास' ॥

वि०—"देवादि विषयक रति-सामिग्री के अभाव में उद्‌बुद्ध मात्र रति-आदि स्थायी भावों को 'भाव' संज्ञा दी गयी है। अथवा जहाँ 'रति' वा 'प्रीति'-आदि भाव उद्‌बुद्ध मात्र हों, अपुष्ट हों—विभावानुभावसंचारियों से पुष्ट न हों, वहाँ ये भाव कहे जाते हैं। प्रीति वा रति शृंगार-रस में तभी परणित होती हैं, जब कि नायक-नायिका रूप आलंबन होने पर भी विभाव, अनुभाव और संचारी-भावों से पुष्टि हो, जैसा कि विश्वनाथ चक्रवर्ती ने अपने साहित्य-दर्पण में कहा है—

"संचारिणः प्रधानानि देवादिविषया रतिः ।
उद्‌बुद्धमात्रः स्थायी च भाव इत्याभिधीयते ॥"

—सा० द० (तृतीय परिच्छेद)

अस्तु, दासजी अब—"भाव-उदय, भाव-संधि, भाव-शवलता, भाव-शांति भावाभास और रसाभास" का वर्णन करते हैं। संस्कृत ग्रंथों में इनका क्रम—रसा-भास, भावाभास, भाव-शांति, भावोदय, भाव-संधि और भाव-शवलता—रूप से मिलता है।

एक बात और, वह यह कि प्रथम दोहे के द्वितीय चरण में प्रयुक्त—"प्रघट्यौ 'रस—सारांस' में०"...,के यहाँ दो अर्थ हैं—रसों का सार-अंश, संक्षिप्त और "रस-सारांस" ग्रंथ विशेष, जो दासजी की एक पृथक् रचना है।"

अथ भाव-उदै-संधि लच्छिन 'दोहा' जथा—

उचित बात तत्छिँन लखें, 'उदै-भाव' की होइ ।
बीच-हिँ में द्वै भाव कें, भाव-संधि है सोइ ॥

वि०—"जहाँ किसी भाव की शांति के अनंतर किसी कारण से दूसरे भाव का उदय हो—'उसमें विशेष चमत्कार हो, वहाँ 'भावोदय' और जहाँ समान चमत्कार वाले दो भावों की उपस्थिति एक साथ-ही हो, वहाँ 'भाव-संधि' कही

पा०—१. [भा० जी०] [वें०] अरु...। २ [प्र०] [सं० प्र०] संध्य-हु ..। [वें०] संध्यौ ३. [वें०] सांत्यौ...। ४. [प्र०] हैं...।

जाती है। अस्तु, रसलीन जी ने अपने 'रस प्रबोध-ग्रंथ' में भावोदय के साथ— "भावन की संधि-उदै-सांत-सबल प्रौढोक्ति, हरष-भाव, संका-भाव की संधि, त्रास-भाव-रोस-भाव की बिधि, बीड़ा-भाव-प्रीति-भाव की बिधि, गरबभावोदय, मान-भाव की सांति, अंतरिज भावोदय सांति, सबल-लच्छन, धृतिभाव की प्रौढोक्ति, सुकीया बिंदै भाव की प्रौढोक्ति" आदि का वर्णन किया है, इनके सुंदर उदाहरण दिये हैं। दो उदाहरण – धृति-भाव की प्रौढोक्ति और स्वकीया-बिपै-भाव की प्रौढोक्ति क्रमशः जैसे—

"पीतँम बँसुरी की सरस, सब जगते करि ध्याँन।
अधर-लगें हरि के जियत, बिछुरें बिछुरें प्राँन॥

बिछुरें पिय सपने निरखि, तिय बिदेस अनुँमाँनि।
चोंकि परी, थैहरी खरी, पुरुष दूसरौ जाँनि॥"
—र० प्र० (रसलीन) पृ० १३७

अथ भाव-उदै उदाहरन 'सवैया' जथा—

देखि-री, देखि, अली-सँग जात[1] धों, कोंन है, का घर में ठैहराति[2] है।
आँनन-मोरिकें. नेंनँन[3]-जोरिकें. अबै भई ओझल वौ[4] मुसिकाति है॥
'दास' जू जा मुख-जोति लखें ते, सुधाधर-जोति खरी सकुचाति है।
आगि-लिएं चली जाति सु मेरे हिए-बिच आगि दिएं चली[5] जाति है॥*

वि०—'भावोदय के उदाहरण स्वरूप श्री रसखान-निर्मित यह सवैया भी बड़ा सुंदर है, यथा—

"जा दिन ते निरख्यौ नँद-नंदन, काँन तजी, घर-बंधन छूट्यौ।
चारु बिलोकँनि कीन्हीं सुमार, सँम्हार, गई मन मार नें लूट्यौ॥
सागर कों सरिता जिमि धावै, न रोकी रहै कुल कौ पुल टूट्यौ।
मत्त भयौ मँन संग फिरँ, 'रसखाँन' सरूप अँमीरस घूंट्यौ॥

अथ भाव-संधि-उदाहरन 'दोहा'—

कंस-दलँन कौ दौर उत, इत राधा-हित जोर।
चलि-रहि सकै न स्याँम-चित, ऐंचि लगी दुहुँ ओर॥ †

पा०—१. (प्र०) (वें०) जाइ...। २. (प्र०) बतरात। ३. (प्र०) (नें०) नेंनन जोरि अबै गई...। ४. (प्र०) कै...। (नें०) है...। ५. (नें०) चलि...।

*, र० मी० (शु०) २४१। † र० मी० (शु०) १४९।

वि०--"अर्थ स्पष्ट है, फिर भी 'श्याम' के हृदय में हर्ष और विषाद दोनों भावों का सुंदर वर्णन हुआ है।

अथ भाव-सबल बरनन 'दोहा' जथा—

बौहौत भाव मिलि कें जहाँ, प्रघट करें इक रंग।
'सबल भाव' तासों कहैं, जिनकी बुद्धि उतंग॥

वि०—'जब एक के पीछे दूसरे और दूसरे के पीछे तीसरे भावों का क्रमानुसार, एक ही स्थान पर संमिलन हो तो वहाँ 'भाव-शबलता' कही जाती है। यथा—

"भावस्य शांतिरुदयः शंधिः शबलता तथा।
काव्यस्य कांचनस्येव कुंकुम कांतिसंपदे॥"

—चं० लो० (जयदेव) पृ० ७४,

अर्थात् भावोदय, भाव-संधि और भाव-शबलतादि भी काव्य की शोभा को वैसा ही बढ़ाते हैं, जैसे सोने में केशर की सुगंध···।

अस्य-उदाहरन 'दोहा' जथा—

हरि-संगत सुख-मूल सखि, पै परपंची गाँउ।
तू कहि, तौ तजि संक उत, द्दग-बचाइ द्रुत जाँउ॥

अस्य तिलक—

इहाँ, उतकंठा, संका, दीनता, धृति और आवेग 'अबिहित्थ-भाव' कौ सबल कारक है, जाते 'भावसबलता' भई।

वि०—'अवहित्थ—आकृति गोपन वहाँ कहते हैं, जहाँ चतुरता से दसा दुरायी जाय--छिपायी जाय, जैसा कि दासजी की इस कृति में वर्णित है। रस-लीन कहते हैं—

"सँम गोपँन ब्यौहार कौ सो 'अवहित्था' भाव।
है बिभाव हिय कुटलई, वहि लावन अँनुभाव॥"

और उदाहरण—

"सौत-सिंगार-बिहार तिय, घूंघट-पट मुख स्याइ।
खाँसी कौ मिस ठाँन कें, हाँसी रही दुराइ॥"

—र० म० पृ० १०१,

अथ भाव-सांति–भावाभास लच्छिन जथा—

भाव-सांति सो[1] है जहाँ, मिटत भाव-अँनयास।
भाव जु अँनुचित ठौर है, सोई 'भावाभास'॥

वि०—'जब किसी एक भाव की व्यंजना हो रही हो, उसी समय दूसरे विरुद्ध भाव की व्यंजना होने पर प्रथम भाव की समाप्ति में जो चमत्कार होता है, उसे—'भाव-शांति' कहते हैं। इसी प्रकार जब अनौचित्य रूप से भाव का वर्णन होता है अथवा जहाँ भाव रसाभास का अंग बन जाता है, अर्थात् जहाँ भावों का वर्णन अनौचित्यपूर्ण हो, या जहाँ जो भाव प्रकट न होना चाहिये वहाँ वह भाव व्यक्त कर देने से 'भावाभास' कहा जाता है।"

यहाँ एक बात ध्यान में रखने की है, वह यह कि जबतक व्यभिचारी-भाव किसी रस के पोषक होते हैं, तभी तक उनकी व्यभिचारी संज्ञा है और जब वे प्रधान प्रतीत होते हुए भाव-अवस्था को प्राप्त होकर किसी दूसरे आभास के अंग बन जाते हैं तब वे 'भावाभास' कहे जाँयगे।

भाव-सांति उदाहरन 'दोहा' जथा—

बदँन-प्रभाकर लाल लखि, बिकस्यौ उर अरबिंद।
कहौ रहै क्यों निसि-बस्यौ, हुतो[2] जो माँन-मलिंद॥

भावाभास उदाहरन 'दोहा' जथा—

दरपँन में निज छाँह-सँग, लखि पीतँम को छाँह।
खरी ललाई रोस की, ल्याई[3] अँखियन माँह॥

अस्य तिलक

इहाँ नायिका कों नाँहक कौ क्रोध-भाव (नायक प्रति) है, ताते भावाभास कहिऐ।

अथ रसाभास बरनन 'दोहा' जथा—

सुरा सुराढ़र तुब नजर, तू मोंहिनीं सुभाइ।
अछकेन देति छकाइ है, मार मरेन कों ज्याइ॥

अस्य तिलक

इक नायिका बौहौत (से) नायकँन कों बस (अपने बस) करै है, ताते 'रसाभास' है।

पा०—१. (भा० जी०) सी…। २. (वें०) हुत्यो…। ३. (प्र०—३) आई…।

वि०—'दासजी ने यहाँ 'रसाभास' का लक्षण न देकर उदाहरण ही प्रस्तुत किया है। अस्तु, रसाभास वहाँ कहा जायगा जहाँ रस अनुचित रूप में हो, अर्थात् जब किसी काव्य में रस व्यंजना के होने पर भी रस न मानकर केवल उसका आभास मात्र माना जाय, वहाँ रसाभास कहा जायगा। अस्तु, साहित्य-सृजेताओं ने नवरसों में 'रसाभास' का इस प्रकार उल्लेख किया है।

"उपनायक वा अनेक नायकों में नायिका की, अथवा अनेक नायिकाओं में एक नायक की रति—प्रीति का होना, नदी-आदि निरिंद्रियों में संभोग का आरोप, पशु-पक्षियों के प्रेम का वर्णन, गुरु-पत्नी में अनुराग, नायक-नायिका में उभय-निष्ठ प्रेम, जैसे—नायिका का प्रेम नायक के प्रति हो, पर नायक का प्रेम नायिका के प्रति न हो, अथवा इससे विपरीत नायक का प्रेम तो नायिका के प्रति हो, पर नायिका का प्रेम उस (नायक) के प्रति न हो—आदि......, तथा नीच व्यक्ति के प्रति प्रेम का होना—इत्यादि 'शृंगार-'रसाभास' कहे जाते हैं। किसी-किसी आचार्य ने—अन्य प्रतिष्ठित नारी, जैसे—भावज, (भौजाई) तथा मित्र-गृहिणी, पर-पुरुप गृहीता और भिक्षुणी के प्रति अनुराग को भी 'रसाभास' का विषय माना है। इसी प्रकार—गुरुजनादि पूज्य व्यक्तियों को हास्य का विषय—आलंबन बनाना, 'हास्य-रसाभास', विरक्त में शोक का होना—'करुण-रसाभास', चोर, डाकू, दुर्जन-आदि नीच व्यक्तियों में उत्साह बताना—'वीर-रसाभास', ज्येष्ठ भ्राता, गुरु, पिता, माता, त्यागी, वृद्ध-आदि पूज्य व्यक्तियों के प्रति क्रोध जतलाना—'रौद्र-रसाभास' उत्तम व्यक्तियों में भय का होना—'भयानक-रसाभास,' यज्ञ-पशु में ग्लानि—'बीभत्स-रसभास', तंत्र, मंत्र और यंत्र आदि के प्रभाव से उत्पन्न विस्मय में—'अद्भुत-रसाभास' और नीच-व्यक्तियों में शम या निर्वेद की स्थिति—'शांत-रसाभास' कहा गया है (साहित्य-दर्पण तृतीय परिच्छेद –२६२ × २६५)। वहाँ इनके क्रमशः उदाहरण भी प्रस्तुत किये गये हैं।

अस्तु, 'दोहा' जथा—

भिन्न-भिन्न जद्यपि सकल, रस-भावादिक 'दास'।
रस-हिं व्यंग¹ सब कोउ कह्यौ, धुनि कौ जहाँ प्रकास ॥

इति श्री सकल कलाधर-कलाधरबंसावतंसश्रीमन्महाराज कुँमार श्री बाबू हिंदूपति बिरचिते 'काव्य-निरनए' रसांग बरननो नाम चतुर्थोल्लासः।

—**—

पा०—१. (सं० प्र०) रस व्यंगी...। (वें०) रसौ व्यंगि...।

"अथ पंचमोल्लासः"

रस कौ अपरांग बरनन 'दोहा' जथा—

रस-भावादिक होत जहँ, और[1]-और के[2] अंग ।
तहँ 'अपरांग' कहैं कोउ, कोउ 'भूषँन' इहि ढंग[4] ॥
रसबत, प्रेइस[5], उरजसी, सँमाहितालंकार ।
भाव-हु[6] दैबत, संधिबत, और सबलबत-धार[7] ॥

वि० "रस-भावादिक, अर्थात् रसभाव, रसाभास भावाभास और भावप्रशम (भाव-शांति) जब किसी के अंग हो जाते हैं, तब ये क्रम से -रसवत्, प्रेयस्, ऊर्जस्वि तथा समाहित अलंकार कहे जाते हैं, यथा---

"रसाभावौ तदाभासौ भावस्य प्रशमस्तथा ।
गुणीभूतत्वमायांति यदालंकृतय स्तदा ॥
रसवत्प्रेयऊर्जस्वी समाहितमिति क्रमात् ।"*
—सा० द० (विश्वनाथ) पृ० १० । ९५-६

अथ रसावंतालंकार 'दोहा' जथा—

जहँ रस कौ कै[8] भाव कौ, अंग होत रस आइ ।
तहँ[9] 'रसबत' भूषँन कहैं, सकल सुकबि सँमुदाइ ॥

वि०--"जहाँ कोई रस वा भाव किसी अन्य रस का अंग बन कर आए तब वहाँ 'रसवदलंकार' कहा जायगा । इस रसवदलंकारों के कई सुंदर उदाहरण दासजी ने क्रमशः दिये हैं ।"

सांत-रसवंत अलंकार बरनन 'सवैया' जथा—

बादि छहौं[10] रस-बिंजँन खाइबौ, बाद नवौं रस-मिस्रित गाइबौ[11] ।
बादि जराइ[12] प्रजंक बिछाइबौ, प्रसूँन घनेन प[13] पाँइ लुटाइबौ[14] ॥

पा०—१. (प्र०) जुगल परस्पर अग । २. (भा० जी०) कौ ..। ३. (सं० प्र०) रस-भावादिक है जहाँ, आँन-आँन के...। ४. (सं० प्र०) तहाँ परांग कहैं कोउ, लहि भूषन कौ ढंग । ५. (प्र०) प्रेया-उरजसी । (भा० जी०) ..प्रेयोउरजसी । (प्र०-३) प्रेइस, रसवत ऊरजसि ...। ६. (वें०) भावो...। ७. (प्र०) सार...। ८. (प्र०-३) वा...। ९. (भा० जी०) (वें०) तिहिं...। १०. (सं० प्र०) (का० प्र०) छवौ...। (वें०) नवौ...। ११. (प्र०) (भा० जी०) (वें०) (प्र० मु०) गैबौ । १२. (प्र०) (वें०) (भा० जी०) जराऊ । १३ (वें०) (का० प्र०)परि । १४. (भा० जी०) (वें०) (प्र० मु०) लुटैबौ । (स० प्र०) लुटैबौ । (प्र०) परिंसाथ लुटैबौ ।

*, सं०— प्रयाग, "रस कौ परांग बर्णन" ।

'दास जू' बादि जँनेस, मँनेस, धँनेस, फँनेस, गँनेस[1] कहाइबौ[2] ।
या जग में सुखदायक एक, मयंक-मुखींन कौ अंक लगाइबौ[3] ॥*

अस्य तिलक

इहाँ "इक मयंक-मुखींन कौ अंक लगाइबौ" कहे ते सांत-रस सिंगार-रस के अंग में है, ता ते रसबंत अलंकार कहिऐ ।

वि०—"रसकुसुमाकर के रचयिता अयोध्या-नरेश ने तथा 'काव्य-प्रभाकर' के कर्ता भानु ने यह छंद अपने-अपने ग्रंथों में 'दक्षिण' नायक (जिसका अनेक स्त्रियों पर समान प्रेम हो) के उदाहरण में संकलित किया है ।"

पुनः 'दोहा' जथा—

चंद-मुखिँन[4] के कुचँन पै, जिन कौ सदाँ बिहार ।
अहह करें ताही करँन, चखँन[5] फैरबरदार ॥

अस्य तिलक

इहाँ करुनाँ रस कौ सिंगार-रस अंग भयौ है, ताते 'रसबंत अलंकार है ।

वि०—प्रतापगढ़ की हस्तलिखित प्रति में इस दोहे का शीर्षक—"करुन रसवत् अलंकार बरनन" लिखा है और प्रतापगढ़ नं० ३ की प्रति में "शृंगारवत् .." लिखा है ।

अथ अद्भुत-रसवंत अलंकार बरनन 'सवैया' जथा—

जाहि दबानल-पाँन किए ते बढ़ी[6] हिय में सरदी सरदे सों ।
'दास' अघासुर जोर-हत्यौ,[7] जु लह्यौ[8] बच्छासुर से[9] बरदे सों ॥
बूड़ति राखि लियौ गिरि लै, ब्रज-देस पुरंदर बेदरदे सों ।
ईस हूँमें पर दे परदेसों, मिलें[10] उड़ि ता हरि सों[11] परदे सों ।†

अस्य तिलक

इहाँ चिंता-भाव कौ अद्भुद रस अंग है, ताते रसबंत अलंकार है ।

पा०—१. (र० कु०) रमेस.. । २. (प्र०) (भा० जी०) (वें०) (प्र० मु०) कहैबौ । ३. (भा० जी०) (प्र०) (प्र० मु०) (वें०) लगैबौ । ४. (सं० प्र०) चंद-मुखी.. । ५. (प्र०) (प्र० मु०) चिरियँन फैरबदार । (वें०) चरबनदार फेरबदार । ६. (भा० जी०) बढ्यौ...। ७. (वें०) (प्र० मु०) (सं० प्र०) (सुं० ति०) हरयौ...। ८. (सं० प्र०) (प्र० मु०) (सुं० ति०) लरयौ । ९. (सं० प्र०) सों...। १०. [प्र०—३] मिलों...। ११. (भा० जी०) कों ।

*, र० कु० (अयोध्या) पृ० १५६, ४२३ । का० प्र० (भानु), पृ० २४४, ४ । का० का० (च० सिह) पृ० १२५ । †, सुं० ति० (भा० ह०) पृ० १७१, ५८३ । म० मं० (अजान) पृ०-६१, २२६ ।

अथ भयानक-रसवंत अलंकार बरनन 'सवैया' जथा—

भूल्यौ फिरै भ्रँम जाल में जीव, सु[1] ख्याल की खाल में फूल्यौ फिरै है[2] ।
भूत जु पाँच लगे मजबूत, सो[3] साँच अबूत कुँनाच नचै[4] है ॥
काँन में आँन रे 'दास' कही को नहीं ते तुही मँन[5] में पछितै[6] है ।
काँम के तेज निकाँम तपै, बिन राँम-जपैं बिसराँम न पै है[7] ॥*

'अस्य तिलक'

इहाँ हूँ, सांत-रस कौ भयानक रस अंग है ।

अथ प्रेयालंकार बरनन 'दोहा' जथा—

जहँ भाव-हि ह्वै[8] जात है, रस भावादिक अंग ।
सो 'प्रेयालंकार' कहि[9], बरनत बुद्धि उतंग ॥

वि०—"जहाँ भाव जब किसी रस या भाव का अंग हो जाय, तो वहाँ वह अति प्रिय हो जाने के कारण 'प्रेयस्'-अलंकार कहा जाता है। अथवा जहाँ कोई रस या भाव किसी भाव का अंग बनकर आता है तब वहाँ प्रेयालंकार होता है।"

अस्य उदाहरन 'सवैया' जथा—

मोंहन, आपनों[10] राधिका कौ, बिपरीति कौ चित्र विचित्र बनाइ कें ।
दीठि बचाइ सलोंनीं की आरसी, में चिपकाइ गयौ बैहराइ कें ॥
घूंमि घरीक में आँन कह्यौ, कहा बैठी कपोलँन चंदँन[11] लाइ कें ।
दरपँन ज्यों[12] तिय चाँह्यौ तहीं, मुसिकाइ[13] रही दृग-मोरि-लजाइ कें ॥†

अस्य तिलक

इहाँ हास्य-रस कौ लज्जा-भाव अंग है, ताते प्रेयस् अलंकार ।

पा०—१. (सां० प्र०) कौ । (वें०) (प्र०) (भा० जी०) के...। २. (प्र०—३) फिरइ है। ३. (भा० जी०) (वें०) (प्र० मु०) हैं...। ४ (प्र०—३) नचइ...। ५, (सां० प्र०) ही...। ६, (प्र० मु०) पछितइ...। ७ (प्र०—३) पइ...। ८. (प्र०) (प्र० मु०) भाव हि जँह है...। (सां० प्र०) (वें०) भावै जहँ...। ९. (भा० जी०) (वें०) (प्र० मु०) है ..। १०. (भा० जी०)...आप कौ राधिका...। (वें०) ..आपने ..। (प्र० मु०) आपन...। ११. (वें०) चंद्र तुलाइ...। १२. (प्र०) (वें०) त्यों...। १३. (शृं० नि०) सिरनाइ रही मुसिकाइ लजाइकें।

*, शृं० नि० (दास) पृ० ७४, २२१ । † शृं० नि० (दास) पृ० ७४, २२१ ।

वि०—दासजी ने यह सवैया अपने 'शृंगार-निर्णय नामक द्वितीय ग्रंथ में 'सखि-कर्म 'परिहास' के उदाहरण में भी दिया है। सखी—जिससे नायक-नायिका किसी कार्य का गोपन (छिपाना) नहीं करते, उसे कहा है और उसके—'मंडन शिक्षा, उपालंभ और परिहास (दिल्लगी) आदि चार कर्म कहे गये हैं, यथा—

"जासों तिय निज हीय कौ, राखै कछु न दुराव।
ताहि बखाँनत हैं सखी, जे रसग्य कबिराव॥

और कर्म—

मंडन, सिच्छा करँन पुनि उपालंभ परिहास।
चारि काज ए सखिन के, ते सब करत प्रकास॥

—म० मं० (अज्ञान)

उक्त सखि-कर्म 'परिहास' का उदाहरण 'बेनी' कवि ने भी बड़ा सुंदर सृजा है, जैसे—

"साँवरे-गोरे कौ ओर ते संग, लगै मिलि दाँमिनी कौ घँन नीकौ।
नील-निचोल में गोरौ जु गात, निसा अँधियारी में रूप ससी कौ॥
हौ तुम गोरी, भल्यौ मिल्यौ संग, सो साँवरौ अग है मोंहन पी कौ।
यों सुनि 'बेंनी' जु ओठँन-ऐठि, हँसी भुज-मूल अँमेंठि सखी कौ॥

—शृं० सं० (मन्नालाल)

पुनः 'दोहा' जथा—

दुरें, दुरें तकि दूरि ते, राधे आधे नैंन।
काँन्ह-कँपत[1] तो दरस ते, गिरि-डुगलात[2] गिरै न॥

अस्य तिलक

इहाँ कंप-भाव कौ संका-भाव अग है, जाते इहाँ हूँ 'प्रेयस् अलंकार है।

वि०—"दासजी के उपर्युक्त भाव पर किसी कवि की यह उक्ति—सूझ भी अति सुंदर है, यथा—

"भृकुटी कँमान-ताँन फिरत अकेली बधू,
ताँपै ए बिसिख-कोर कज्जल-भरे हैं-री।
तोहि देखि मेरे-हू गुबिंद-मन डोल उठै,
मघवा निगोड़ौ उतै रोस पकरै है-री॥

पा०—१. (प्र०) (प्र० मु०) (वें०) कँपें तुव···। २. (प्र०) डिगलातु···। (प्र०—३) (प्र० मु०) (वें०) ढगुलात···।

बलि-बलि जाँउ बृषभाँनु की कुँमारी तेरी,
नेंकु कह्यौ मान तेरौ कहा बिगरै है-री ।
चंचल चपल ललचौंहे द्दग मूंदि राखि,
जौ लौं गिरिधारी गिरि नख पै धरें है-री ॥

पुनः उदाहरन 'सवैया' जथा—

पीत-पटी कटि में, लकुटी कर,¹ गुंज को माल हिऐं दरसावै ।
सौरभ-मजरी कौंनन में, सिखि-पिच्छँन सीस किरीट बनावै ॥
'दास' कहा कहौं कौंमरो-ओढ़ें, अँनेक बिधाँनन भौंह-नँचावै ।
कारे डरारे निहारि² इन्हें सखि, रोंम उठें, अँखियाँ भरि आवैं ॥

अस्य तिलक

इहाँ अवहित्थ भाव (चतुरता पूर्वक किसी दशा व बात का छिपाना) कौ निंदा-भाव अंग है ।

वि०—"जैसा ऊपर कहा गया है, "चतुरता-पूर्वक किसी दशा व बात के छिपाने' को अवहित्थ संचारी भाव कहते हैं, यथा—

"जो जहँ करि कछु चातुरी, दसा दुरावै आइ ।
ताही कों 'अवहित्थ पै भाव कहत कबिराइ ॥ *

और संस्कृत-साहित्य-सृजेताओं का कहना है कि 'लज्जादि से उत्पन्न ईर्षादि भावों का छिपाया जाना 'अवहित्थ' है, अथवा—'न वहिस्थं चित्त येन्' अर्थात् जिससे चित्त वहिस्थ न हो वह अवहित्थ । साहित्य-दर्पण (संस्कृत) के कर्त्ता कहते हैं—

"भयगौरवलज्जादे ईर्षाद्याकार गुप्तिरिवहित्था ।
व्यापारांतर सक्त्यन्यथावभाषण विलोकनादिकरी ॥"

भय, गौरव-लज्जादि के कारण हर्षादि के आकार को छिपाना 'अवहित्थ' है और उदाहरण, जैसे—

"एवं वादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी ।
लीला कमलपत्राणि गणयामास पार्वती ॥"

अर्थात् सप्तर्षियों-द्वारा विवाह की बात चलायी जाने पर पिता (हिमांचल) के पास बैठी हुई पार्वती नीची गर्दन कर लीला-कमल की पंखुड़िया गिनने लगीं ।

पा०—१. (सं० प्र०) कलगुंज के पुंज गरें दरसावै । २. (भा० जी०) निहारे··· ।

अवहित्थ में, जो वचन-वैदग्ध का ही एक स्वरूप है, 'अनपेक्षित काम की ओर प्रवृत्ति, बात बराना, अन्य-ओर देखना आदि होता है। नायिका-भेदानुसार दासजी का यह छंद 'अज्ञात यौवना' (जिसे अपने यौवनागमन का ज्ञान नहीं) का उदाहरण माना गया है। अज्ञात यौवना का उदाहरण—"और कवि गढ़िया, 'नंददास' जड़िया" 'ने अपनी 'रस-मंजरी' ग्रंथ में बड़ा सुंदर रचा है, यथा—

"सखि जब सर-अँन्हवावन जाँहीं, फूले अमलँन-कमलँन-माँहीं।
पोंछें डारति रोंम की धारा, माँनति बाल सिबाल की डारा।
चंचल नैन चलत जब कोंने, सरद-कँमल-दल-हूँ ते लोंने।
तिन्हें स्रबँन-बिच पकरयौ चहें, अंबुज-दल से लागे कहें।
इहि प्रकार बरसै छबि-सुधा, सो "अग्यात जोबना मुग्धा।"

- र० मं० (नंददास)

अथवा—

"गाइकें बेंनु-बजाइ उठै, बरु आरसी-देखि सँवारत पागै।
याही गलीन-कलोंन के उत्तर, आवत है बृषभाँन के बागै॥
देह कटीली ह्वै काँपि उठै, बबराइ रहै मँन क्यों हूँ न लागै।
कोंन कौ है यै छोहरा साँवरौ, देखत मोहि डरावनों लागै॥"

—शृं० स०

अथ ऊरजस्वी अलंकार बरनन—

काहू कौ अँग होत रस, भावाभास जु मित्त।
'ऊरजस्वि' भूषन कहें, ताहि सुकबि धरि चित्त॥

वि०—"जहाँ अनुचित (बलपूर्वक) रूप से प्रवृत्ति हुए रसाभास और भावाभास अन्य रसों के अंग (सहायक वा पोषक) हों वहाँ 'ऊर्जस्वि' अलंकार कहते हैं, क्योंकि ऊर्ज का अर्थ 'बल' होता है।"

अस्य उदाहरन 'सवैया' जथा—

ऊधौ, तहाँ-ई चलौ लै हँमें, जहाँ कूबरी-काँन्ह बसें इकठौरी।
देखिऐ 'दास' अघाइ-अघाइ, तिहारे प्रसाद अँनूपम[1] जोरी॥
कूबरी सों कछु पाइऐ मंत्र, लगाइऐ काँन्ह सों प्रेम की डोरी।
कूबरि-भक्ति बढ़ाइऐ बृंद. चढ़ाइऐ चंदँन[2]-बंदँन रोरी॥ *

पा०—१. (प्र०) (भा० जी०) (वें०) (प्र० मु०) मनोहर ···। २. (भा० जी०) (वें०) बंदन चंदन···।

* र० कु० (अयो०) पृष्ठ ७५ ,४७३०।

अस्य तिलक

इहाँ सौति के मुख देखिबे की 'उत्कंठा', मंत्र लैबे की 'चिंता' औ कूबरि की भक्ति ए तींन्यों 'भावाभास के अंग हैं, जो बिभत्स-रस के अंग हैं।

वि०—'रस-कुसुमाकर' के संग्रहकर्त्ता ददुवा साहिब अयोध्या ने, इस छंद को 'विप्रलंभ-शृंगाररसांतर्गत'-दशदशानुरूप 'अभिलाष' कथन के उदाहरण में संकलित किया है। अभिलाष--'मिलन चाँह उपजै हिऐं, सो 'अभिलाष' बखाँन।"

पुनः उदाहरन 'सवैया' जथा—

चंदँन-पंक लगाइ कें अंग,[1] जगावत[2] आगि सखी बरजोरें।
ता पर 'दास' सुबासँन ढारिकें[3] देति है बारि बियारि झकोरें॥
पापी पपीहा न जीहा थकै तऊ[4] पी-पी[5] पुकारि-बकै[6] उठि भोरें[7]।
देति कहा है दहे पै दाह, जु गई करि जाहु दई के निहोरें॥*

अस्य तिलक

इहाँ पपीहा सों दीनता 'भावाभास' है, सो बिषाद भाव प्रलाप-दसा कौ अंग है ताते इहाँ हू 'ऊर्जस्वि' अलंकार है।

वि०—"दासजी ने यह छंद शृंगार-निर्णय में प्रलाप के उदाहरण में और शृंगार-संग्रह के रचयिता सरदार कवि ने 'प्रोषित-पतिका-नायिका के उदाहरण में संकलित किया है। प्रलाप-दशा, यथा—

"सखिजँन सों, कै जड़ँन सों, तँन-मँन-भरयौ सँताप।
मोह बँन बकिबौ करै, ताकों कहत प्रलाप॥"

—शृं० नि० (दास) पृ० १०५

रसलीन जी ने इस 'प्रलाप' का उदाहरण छोटा होते हुए भी बड़ा सुंदर दिया है, यथा—

"तो बिछुरत ही बिरह यै, कियौ लाल कौ हाल।
पपिहा-बोलें यै कहत, मोहिं बुलावत बाल॥"

—र० प्र० पृ० १२३

पा०—१. (शृं० सं०) अंक...। २. (भा० जी०) (वें०) (प्र० मु०) जगावती। ३. (शृं० सं०) घोरि कें...। ४. (भा० जी०) (वें०) (प्र० मु०) तुअ...। ५. (भा० जी०) पापी पुकारि...। ६. (प्र०) (शृं० नि०) करै...। ७. (सं० प्र०) (वें०) पी-पी पुकारि कैं कै उठि भोरें।

*, शृं० नि० (दास) पृ० १०५, ३१८। सुं० ति० (भा०) पृ० १८०, ६१५। शृं० सं० (सरदार) पृ० ६३, ४०।

पुनः कवित्त जथा---

दारिद्-बिदारिबे की प्रभु कों[1] तलास तौ—
हँमारे ह्याँ[2] अँनगँन दारिद की खाँन है।
अघ की[3] सिकारी जौ है नजर तिहारी तौ—
हों[4] तँन-मँन-पूरँन अघँन राखे[5] ठाँन हैं॥
'दास' निज संपत्ति जु[6] साहब के काँम—
आएँ होत हरखित पूरौ भाग अनुमान हैं।
आपनी बिपति कों हाजिर हों करत लखि
रावरे की बिपति-बिदारँन की बाँन हैं॥

अस्य तिलक

इहाँ दान---बीर कौ रसाभास दानता भाव कौ अंग है।

अथ समाहित-अलंकार बरनन 'दोहा' जथा---

काहू के[7] अँग होत है, जहँ भावँन की साँति।
'समाहितालंकार' तहँ, कहैं सुकबि बहु भाँति॥

वि०—"जहाँ भावों की शांति किसी दूसरे रस की अंग हो जाय, अथवा जहाँ कोई रस किसी भाव-शांति का अंग बन कर आए, वहाँ समाहित-अलंकार कहा जायगा। कोई-कोई जबकि किसी एक क्रिया के द्वारा किसी उभड़ते हुए भाव का प्रलय (विलीन) होना दिखजाय जाय, वहाँ 'समाहित' को मानते हैं। समाहित को 'समाधि' भी कहते हैं।"

उदाहरन 'दोहा' जथा—

राँम-धनुष-टंकार[8] सुनि, फैल्यौ चहुँ[9] दिसि सोर[10]।
गरभ स्रवें रिपु-राँनियाँ, गरब स्रवें रिपु-जोर॥

अस्य तिलक

इहाँ भयानक रस कौ गरब-भाव सांति कौ अंग है, वा में समाहित है।

पा०—१. (भा० जी०) कें ..। (वें०) के...। २. (भा० जी०) (वें०) (प्र० मु०) इहाँ...। (सं० प्र०) हमारे-ही ह्याँ...। ३. (वें०) (प्र० मु०) के...। ४. (भा० जी०) तौ, होत न चैन पूरँन अघँन ..। ५. (प्र०) (वें०) (प्र० मु०) राख्यौ...। (सं० प्र०) तौ हौं तँन-बन पूरँन अघँन राख्यौ...। ६. [भा० जी०] [वें०] [प्र० मु०] सु...। ७. [भा० जी०] कौ...। ८. [भा० जी०] [बें०] [प्र० मु०] टंकोर...। ९. [भा० जी०] [वें०] [प्र० मु०] सब जग सोर। १०. [वें०]...खोर।

पुनः सवैया जथा—

जौ दुख सों प्रभु राजी रहैं, तौ कहौ[1] सुख-सिद्धिँन दूरि बहाऊँ।
पै यै निंद्य[2] सुँनौं निज स्त्रौंन सों, कौंन सों कौंन सों[3] मौंन गहाऊँ॥
मैं या सोचि - बिसूरि - बिसूरि, करों बिनती प्रभु साँझ पहाऊँ[4]।
तीन-हुँ लोक के नाथ समत्थ[5] हौ, मैं-हीं अकेलौ अँनाथ कहाऊँ॥*

अस्य तिलक

इहाँ निंदा सुनिबे कों कोप की सांति, चिंता भाव कौ अंग है।

अथ भाव संधिवत अलंकार बरनन जथा——

भाव-संधि अँग होइ जो, काहू कौ अँनयास
'भाव-संधिवत' तिहिं कहैं, पंडित बुद्धि-बिलास॥

*वि*०—"जहाँ दो भावों का एक साथ ही प्रादुर्भाव दिखलाया जाय, वहाँ भाव-संधि अलंकार होता है। यहाँ चंद्रालोक-कार का कहना है—

"भावानुमुदयः संधिः शबलत्वमिति त्रयः।
अलंकारानिमान्सप्त केचिदाहुर्मनीषिणः॥"

अस्य उदाहरन 'दोहा' जथा——

पियपराध तिल-आध तिय साध अगाध गनैं न[6]।
जाँन लजौंहे[7] होंइगे, सौंहैं करत न नैंन॥

अस्य तिलक

इहाँ उत्तमा नायिका में क्रोध, अवहित्थ, उतकंठा औ लज्जा की संधि अपरांग (अन्य के अंग) हैं।

अथ भावोदयवत अलंकार बरनन जथा——

रस-भावादिक कौ जु कहुँ भाव-उदै अँग होइ।
'भावोदैवत[8] तिहिँ कहैं, 'दास'[9] सुमति सब कोइ॥

*वि*०—"जहाँ भावों का उदय होना मात्र दिखला कर रस पाक किया जाय—हो जाय, वहाँ 'भावोदयवत' अलंकार कहा जाता है।

पा०—१. [सं० प्र०] [र० सां०] तौ चहों सुख-सिद्धिन सिंधु ..बहाऊँ। २. [भा० जी०] [वें०] निंदा...। ३. [प्र०—३] कों...। ४. [भा० जी०] यहाँ ऊ। ५. [स० प्र०] [वें०] समर्थ...। ६. (प्र०) पिय-अपराध अगाध तिय, साथ सुनेक गनैंन। ७. (सं० प्र०) (वें०) ललौंहे। ८. (वें०) भावोदयवत...। (प्र०) भाव-उदै...। ९. (सं० प्र०) कवि पंडित सब...।

*, र० सा० (चिंता-भाव कथन)—दास, पृ०—२७।

अस्य उदाहरन 'दोहा' जथा—

चलत तिहारे प्राँन-पति, चलिहैं मेरे प्राँन ।
जग-जीवँन तुँम्ह-बिन हमें, धिग जीवन जग जाँन ॥

अस्य तिलक—

इहाँ प्रवस्यत्प्रेयसी (प्रियतम के होने वाले वियोग की आशका से दुखित होने वाली) नायिका कौ गलानि (ग्लानि) भाव अंग है ।

अथ भाव सबलवत अलंकार बरनन 'दोहा' जथा—

भाव-सबल कहि 'दास' जौ काहू कौ अंग होइ ।
'भाव-सबलवत' तिहिँ कहैं, कबि, पंडित सब कोइ ॥

वि०—"जहाँ क्रम से एक के पीछे एक रूप से कई भावों का विकास होता जाय वहाँ 'भावशबलवत्' अलंकार माना जाएगा ।"

अस्य उदाहरन 'कबित्त' जथा—

मेरे पग झाँवत[१]हो भावतौ सलोंनों एहो,[२]
हँसि कहि बालँम बिताई कित रतियाँ ।
इतनों सुँनत रूसि [३] जात भयौ पाछें[४] पछिताइ-
हों मिलँन चली गोंऐं भेख भतियाँ[५] ॥
'दास' बिन-भेंट हों दुखित[६] फिरी आई सेज,
सजनी बनाई बूझि आइबे की घँतियाँ ।
बार-लागें[७] लागी मग जोहों हों किबार-लागी,
हाइ अब तिन्ह[८] की सँदेस हू न पतियाँ ॥*

अस्य तिलक

इहाँ आठों—"स्वाधीन-पतिका, धीरा, कलहंतरिता, अभिसारिका, अनुसयाना, लच्छिता, आगतपतिका' औ प्रोषितपतिका "नायिकाँन कौ सबल 'प्रोषित-पतिका' कौ अंग है ।

पा०—१. (सं० प्र०) (वें०) (र० कु०) झाँवतौ हो...। २. (सं० प्र०) (वें०) (र० कु०) सलोंनों हों हँसत हँसि...। ३. (र० कु०) हँसि...। ४. (प्र०) (वें०) पीछें...। ५. (र० कु०) बतियाँ...। ६. (र० कु०)...दुखित भई आइ सेज, सजनी बनाइ बूझी । ७ (र० कु०) लागी लगी मग...। ८ (र० कु०] उनकी...।

*, र० कु० (अयोध्या) पृ० १३५, ३५६ ।

वि०—"दासजी ने यहाँ आटों नायिकाओं के वर्णन में प्रोषित-पतिका का सबल अंग कहा है, जो ठीक नहीं हैं। अपितु यहाँ सातों नायिकाओं का वर्णन 'प्रोषित्पतिका' का सबलवत् अंग वर्णन है।

रस-कुसुमाकर के रचयिता ने दासजी के इस छंद को 'प्रौढ़ा कलहांतरिता' (नायक का अपमान कर पुनः पछताने वाली) नायिका के उदाहरण में उद्धृत किया है।

"प्रथम कछू अपमाँन करि पिय कौ फिरि पछिताइ ।
'कलहांतरिता' नायिका, ताहि कहत कबिराई ॥"

पुनः उदाहरन 'कवित्त' जथा—

सुँमरि सकुचि न थिरात संक[१] त्रसित औ
तरकि[२] उग्र बाँन सु गिलाँन हरखाति है ।
उँनिदति[३] अलसाति सु[४] अति सधीर चौंकि,
चाँहि चिंत भ्रमित सगर्ब इरखाति[५] है ॥
'दास पिय-नेह छिँन[६]-छिँन भाव बदलति,
स्यामाँ स बिराग दीँन मति कै मखाति है ।
जलपति, जकति[७], कहरति, कठिनाति मति,
मोहति, मरति, बिललाति, बिलखाति है ॥*

अस्य तिलक

इहाँ प्रवास—बिरह के तेतीसों बिभचारी बियोग सिंगार के सबलवत् अंग हैं, ताते ये हू सबलवत अलंकार कौ उदाहरन है ।

संमेलन-प्रयाग की प्रति में इस छंद के चरणों में निम्न परिवर्तन भी मिलता है। यथा—

"सुँमर सकुच न थिरात, संक, त्रसित, तरकि,
उग्र बाँन स गिलाँन मति हरखात है ।
'दास' पिय-नेह छँन-छँन भाव बदलति,
स्यामाँ स बिराग दीँन मति कै भखाति है ॥

पा०—१. [शृं० नि०] संकि। २ [शृं० नि०] तरति...। ३. [शृ० नि०] उँनीदति...। ४. [प्र०] सो अति (वें०)।(शृं० नि०) सोवति...। ५. (शृं० नि०) अँनखाति है। ६, [वें०] [प्र० मु०] छँन-छँन...। ७. [प्र०] [वें०]...जकाति कैहराति...।

*, शृं० नि० [दास] पृ० ८१, २३६ ।

जलपति, जकाति, कहराति, कठनाति अति,
मोहति, मरति, बिललाति, बल-खाति है।
उँनदति, अलसाति सु अति सधीर चौंकि,
चाहि चिंत त्रमित स गर्ब इरखाति है॥

"इति श्री सकल कलाधर-कलाधरवंसावतंसश्रीमन्महाराज कुँमार श्री बाबू हिंदूपति बिरचिते 'काव्य-निरनए' रसभाव अपरांग बरनन पंचमोल्लासः।"

——

अथ षष्ठोल्लास:

धुनि-भेद बरनन 'दोहा' जथा—

वाच्य-अरथ ते व्यंग में चमतकार अधिकार।
धुँनि ताही कों[1] कहत हैं,[2] उत्तँम काव्य-बिचार ॥*

वि०—"जहाँ वाच्यार्थ शब्द-जनित अर्थ से व्यंग्यार्थ में अधिक चमत्कार हो, उसे "ध्वनि" कहते हैं। ध्वनि का अर्थ है "अनुरणन्" (घंटे की टंकार के बाद होने वाली झंकार)। अतएव विशेष अर्थ या व्यंग्यार्थ से जब शब्द या अर्थ अपने स्व अर्थ को त्याग कर कुछ नयी विशेषता (चमत्कार) प्रकट करे उसे-ही विद्वज्जन 'ध्वनि' कहते हैं, जैसा कि दासजी तथा निम्न-लिखित सूक्ति से जाना जाता है, यथा —

"यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृत स्वार्थों।
व्यंक्तं काव्य विशेषः ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ॥

रीतिकारों ने ध्वनि में व्यंग्यार्थ की-ही प्रधानता (चमत्कार) मानी है, क्योंकि चमत्कार के उत्कर्ष पर-ही वाच्य और व्यंग्य की प्रधानता निर्भर है। जहाँ वाच्य में अधिक चमत्कार हो वहाँ वाच्य की और जहाँ व्यंग्यार्थ में अधिक चमत्कार हो, वहाँ व्यंग्यार्थ की प्रधानता समझी जाती है। वाच्यार्थ का तो शब्द के द्वारा कथन किया जा सकता है, व्यंग्यार्थ का नहीं, उसकी तो 'ध्वनि' ही निकलती है। ध्वनि-संप्रदाय के आचार्य आनंदवर्धन ने प्रतीयमान अर्थ की महत्ता का गुण-गान करते हुए कहा है—

"प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महा कवीनाम्।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवांगनासु ॥"

अर्थात् महा कवियों-द्वारा कही गयी वाणी विशेष में वाच्यार्थ के अतरिक्त प्रतीयमान अर्थ इस प्रकार प्रकाशित होता है—चमकता है, जिस प्रकार अंगना (स्त्री) के अवयवों (हाथ-पैर, कान, मुख, नासिका आदि) के अतरिक्त उसका 'लावण्य'।

पा०—१, (सं० प्र०) सों...। २, (वें०) सो...।

*, व्यं० मं० (ला० भ० दी०) पृ० २७।

ध्वनि के अनेक भेद कहे जाते हैं, अस्तु प्रथम—'अभिधा' और 'लक्षणा' मूला नाम से दो भेद जिन्हें 'विवक्षित अन्यपरवाच्य' एवं 'अविवक्षित-वाच्य' भी कहते हैं, के सेंतालीस और लक्षणा-मूला (अविवक्षितवाच्य) के चार भेद कहे हैं। इसी प्रकार अभिधामूला-जनक विवक्षित अन्य-परवाच्य के—'संलक्ष्य-क्रम व्यंग्य के इकतालीस (४१) और असंलक्ष्यक्रमव्यंग के छह (६) भेद होकर पुनः संलक्ष्यक्रम व्यंग्य के 'शब्द शक्ति','अर्थ-शक्ति' और शब्दार्थ-शक्ति मूलक तीन भेद कहे हैं। साहित्यकारों ने अर्थ शक्ति-मूलक ध्वनि के भी छत्तीस ३६ भेद—'कवि-निबद्ध-पात्र प्रौढोक्ति', 'कवि-प्रौढोक्ति और 'स्वतःसंभवी' के क्रमशः बारह-बारह भेद—'वस्तु से वस्तु व्यंग्य, 'वस्तु से अलंकार व्यंग्य' 'अलंकार से अलंकार व्यंग्य' जो कि 'प्रबंध-गत', 'वाक्य-गत' तथा 'पद-गत' मानते हुए शब्दार्थशक्ति-मूलक के 'वस्तु व्यंग्य' और 'अलंकार-व्यंग्य' फिर इन दोनों के पद-गत, वाक्य-गत भेद कहे हैं। असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य के भी—पद, वाक्य, प्रबंध, पदांश, वर्ण और रचना-गत 'छांसठ' (६६) भेद कहकर रीति ग्रंथकारों ने 'लक्षणामूला—'अविवक्षित वाच्य ध्वनि' के 'अर्थांतर-संक्रमित' और 'अत्यंत तिरस्कृत' रूप दो भेद कह फिर इन दोनों के पद और वाक्य-गत दो-दो भेद माने हैं।"

उदाहरन कवित्त जथा—

भौंर तजि कचँन कहत मखतूल औ[१] कपोलन,
कों कंबु ते[२] मधु कै[३] भाँति-भाँति है।
बिद्रुम बिहाइ सुधा अधरँन भाँखें कौल[४],
बरजे कुचँन करि[५] श्रीफल की ख्याति है॥
कंचँन निदरि गनें[६] गातँन कों चंप-पात,
काँन्ह-मति फिरि गई काल्हि-ही की राति है।
'दास' यों सहेली सों सहेली बतराति,
सुँनि-सुँनि[७] लाजनि उत नबेली गड़ी जाति है॥*

पा०—१. (र० कु०) वै...। (का० प्र०) (का० का०). वै कपोलन कों कंबु कै मधू की भाँति...। २. (र० कु०) कै...। ३. (र० कु०) की...। ४. (प्र०) और बरनें कँमल-कुच श्रीफल की...। (र० कु०) (का० प्र०) कज बरनें...। ५. (र० कु०) करें...। ६ (प्र०) गँने गात पात-चंपक कौ...। (वें०) गँनें गात कों चंपक-पात...। (र० कु०) (का० प्र०) गँनें चंपक के पात गात। ७ (प्र०) (वें०) (र० कु०) (का० प्र०)—सुँ न उत लाजनि नबेली...।

*, र० कु० [अयो०] पृ० ११२, २८७। का० प्र० [भानु] पृ० १८४, २। का० का० [रा० च० सिं०] पृ० ६५।

वि०—'दासजी का यह कवित्त रसकुसुमाकर (अयोध्या नरेश) और काव्य-प्रभाकर (भानु) के अनुसार 'लक्षिता नायिका' के रूप में वर्णन किया गया है, जो प्रायः व्यंग्य वा ध्वनि-प्रधान ही होता है। लक्षिता नायिका, यथा—

"लच्छिता सु जाकौ सुरत-हेत प्रघट ह्वै जात।
सखी ब्यंग बोलें कहै निज धीरज धरि बात ॥"

—शृं० नि० (दास) पृ० ३६

अर्थात् जिस नायिका का पर-पुरुष-प्रेम प्रकट हो जाय, उसे लक्षिता कहते हैं। दासजी ने इसके—सुरति-लक्षिता, हेतु-लक्षिता और 'धीरत्व' नामक तीन भेद कर सुंदर उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। रसलीन ने भी इन तीनों भेदों को अपनाया है, जो नाम और क्रम भेद के साथ है। आपने--'हेतु', 'सुरति' और 'प्रकाश-लक्षिता' नाम दिये हैं।

प्रथम धुनि भेद 'दोहा' जथा—

धुँनि कौ[1] भेद दु[2]भाँति है, भँनें भारती-धाँम।
'अबिबच्छित[3]' औ बिबच्छित,-बाच्य दुहुँन के[4] नाँम ॥

अथ अबिबच्छित बाच्य[5] लच्छिन 'दोहा' जथा—

बकता की इच्छा नहीं बचन-हिँ कौ जु सुभाव।
ब्यंग कढ़ै तिहिँ बाच्य सोँ[6] सो 'अबिबच्छित[7] ठैहाराव ॥

वि०—"जहाँ प्रयुक्त शब्दों का वाच्यार्थ वक्ता की इच्छा न होने पर भी लक्षणा के द्वारा शब्द-स्वभाव के कारण कुछ और-ही हो, वहाँ 'अविवक्षित-वाच्य ध्वनि' कही जाती है।

पुनः भेद कथन 'दोहा' जथा—

'अरथांतरसंक्रमित' इक है अबिबच्छित[8] बाच्य।
पुनि[9] 'अरथांतरतिरसकृत' दूजौ भेद पराच्य ॥

पा०—१. (प्र०-३) के...। २. (सं० प्र०) द्वि भाँति हैं,। (प्र०-३)...द्विभाँति सो। ३. (सं० प्र०) (वें०) अबिबांछितौ-बिबांछितौ,। ४. (प्र०) (वें०) (भा० जी०) कौ...। ५. (सं० प्र०) (वें०) अबिबांछित बाच्य.। ६. (भा० जी०) (वें०) कौ...। ७. (सं० प्र०) अबिबांछित...। ८. (सं० प्र०) (वें०) है अबिबांछित...। ९. (प्र०) पुनि अरथांत तिरसकृति। (प्र०-३) (सं० प्र०) पुनि अत्यंत तिरसकृति। (वें०) पुँनि अत्यंत तिरस्कृती।

प्रथम अरथांतरसंक्रमित धुनि कथन जथा—

अर्थ बँनत[१] ऐसें-हिँ जहँ, नाहि[२] ब्यंग की चाह ।
ब्यंग निकार[३] तौहू करें[४] चमतकार कबि-नाह ॥

वि०—"जैसा दासजी ने ऊपर के दोहे में कहा है कि "अविवक्षितवाच्य-ध्वनि' के दो भेद 'अर्थांतरसंक्रमित' और 'अर्थांतरतिरस्कृति' (अत्यंततिरस्कृति) होते हैं। अर्थांतरसंक्रमित ध्वनि उसे कहते हैं जहाँ वाच्यार्थ अर्थांतर में संक्रमण करे—बदले, अर्थात् जहाँ शब्द का अर्थ प्रकरण के अनुसार अपने अभिधेयार्थ को त्याग कर अपने विशेष स्वरूप अर्थांतर में चला जाय। इसी प्रकार जहाँ वाच्यार्थ का संपूर्ण तिरस्कार किया जाय वहाँ 'अर्थांतरतिरस्कृति' वा 'अत्यंततिरस्कृतिवाच्य ध्वनि' कहते हैं।"

पुनः 'दोहा' जथा—

अरथांतर संक्रमित[५] सो बाच्य जु ब्यंग अतूल ।
गूढ़ ब्यंग या[६] में सही होत लच्छनाँ-मूल ॥

अस्य उदाहरन 'दोहा' जथा—

सुमधु-प्याइ पीतँम कह्यौ[७], प्रिया पिय-हि सुख-मूरि ।
'दास' होइ ता[८] सँमे में, सब इंद्रिय दुख-दुरि ॥

अस्य तिलक

इहाँ मधु छीबे ते तुचा कों सुख होइ, पीबे ते जीभ कों सुख होइ, बोल सुनें ते काँनन कों सुख होइ, देखिबे ते दृगँन कों सुख होइ, अरु गंध ते नाँक कों सुख होइ यों पाँचों इंद्रिय कौ दुख-दूरि होति है जो केवल "इंद्रिय-दुख-दूरि" ते अर्थांतरसंक्रमित धुनि सों जान्यों जात है ॥

अरथांतर[९]तिरसकृति बाच्य धुनि जथा—

है 'अरथांतर[१०]तिरसकृति', निपट तजें धुँनि होइ ।
समें लच्छ ते[११] पाईऐ, मुख्य–अरथ कों गोइ ॥

पा०—१. (प्र०) (वें०) अर्थ ऐसे-ही बनत जह, । (सं० प्र०) अर्थ ऐसें बनतु जहँ, नहीं...। २. (प्र०) (वें०) नहीं...। ३. (प्र०-३) निकरि...। ४. (प्र०-३) करै, । ५. (प्र०)...संक्रमित-बाच्य...। ६. (भा०जी०) (वें०) बा में कही। ७. (भा० जी०) (वें०) (प्र० मु०) कहै,...। ८. (प्र० मु०)...ताही समय, । ९. (प्र० मु०) (वें०) अत्यंत...। १०. (सं० प्र०) (प्र०) (प्र० मु०) अत्यंत...। (वें०)...अर्थांततरस्कृति। (प्र०)...। तिरस्कृति...। ११. (वें०) रसमय लच्छन...।

वि०—"जैसा पूर्व में कहा गया है कि अर्थांतर या अत्यंत तिरस्कृति ध्वनि—जहाँ वाच्यार्थ का सब प्रकार से तिरस्कार किया जाय वहाँ होती है और इसके 'पद-गत तथा 'वाक्य गत' दो भेद कहे जाते हैं। यह ध्वनि प्रयोजनवती लक्षण-लक्षणा के साथ रहती है, क्योंकि वहाँ वाच्यार्थ का अत्यंत तिरस्कार किया जाता है, यहाँ भी लक्षण-लक्षणा की भाँति वाच्य के अर्थ को एकदम त्याग दिया जाता है। साथ ही यह ध्वनि प्रायः वक्रोक्ति और आक्षेप-अलंकारों में तथा खंडिता और अन्य-संभोग दुःखिता, जिसे अन्य सुरति दुःखिता नायिका भी कहा जाता है, के कथनों—वचनों में होती है, देखिये दासजी का निम्न उदाहरण।"

अस्य उदाहरन जथा--

सखि,[1] हौं लई न सोच तब, तू किय मो सब काँम।
अब आँनीं[2] चित सुचितई, सुख पइहौं[3] परनाँम॥

अस्य तिलक

इहाँ यै 'अन्यसंभोग दुःखिता नायिका' की उक्ति सखी वा दूती के प्रति है, ताते उलटी सब बातें नायिका कहति है।

वि०—"अन्य संभोग दुःखिता नायिका—अन्य स्त्री (सखी वा दूती) के शरीर पर निज पति के रति-चिह्नों को देखकर दुखित होने वाली जिसका पूर्व में उल्लेख हो चुका है कहते हैं, अतएव उक्त नायिका का उदाहरण "ईश्वर" कवि का रचा विशेष सुंदर है, यथा—

नाँतौ नभचर कौ बिचारु चारु चंद कुजै,
संजुत बिनोद मोद गोद बैठार्यौ है।
संभु-सीस भूषँन बिराजै संभु-सीस-ही पै,
सोतौ सब जोग है सु लोगँन बिचार्यौ है॥
'ईसुर' कहत पै अजोग इतनों-हीं तिय,
भौंर एक कठिन कठोर प्रँन धार्यौ है।
मधुप कहाइ कुल-कालिमा लगाइ हाइ,
बारिज-बिहाइ आइ बिद्रुँम-बिदार्यौ है॥"

—शृं० सं० (सरदार कवि)

पा०— १. (प्र०) (प्र० मु०) सखि, तू नेंक न सकुचि मन, किए सबै मम...। (वें०) सखी, हाल इन सोच तुव,। २. (वें०) आँनहि...। (प्र०) आँने...। ३. (प्र० मु०) (वें०) पै है...।

बिबच्छितवाच्य धुनि भेद जथा--

कहैं[1] बिबच्छितवाच्य धुँनि, चाँह करें कहि[2] जाइ[3] ।
'असंलच्छक्रँम' 'लच्छक्रँम' होत भेद द्वै ताइ[4] ॥

वि०- "जहाँ वाच्यार्थ ज्यों का त्यों रहते हुए भी दूसरा व्यंग्यार्थ निकले वहाँ --विवक्षितवाच्य ध्वनि होती है और इसके--"असंलक्ष्यक्रम' और संलक्ष्य-क्रमव्यंग्य दो भेद कहे जाते हैं।"

अथ प्रथम असंलक्ष्यक्रम ब्यंग जथा—

असंलच्छक्रँम ब्यंग जहँ, रस-पूरँनता चारु ।
लखि न परै क्रँम जहँ द्रवै, सज्जँन-चित्त-उदारु ॥

वि०—"जहाँ वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ का पौर्वापर्य क्रम भली-भाँति प्रतीत न हो, वहाँ— "असंलक्ष्यक्रमव्यंग" कहलाता है और यह पूर्व कथित—

"रसभाव तथा भासतत्प्रशांत्यादिरक्रमः ।
ध्वनेरात्मांगिभावेन भासमाने व्यवस्थित ॥"
—ध्व० लो० पृ० ३, ३

अर्थात् - रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावशांति, भावोदय, भावसंधि और भावशबलता—आदि आठ प्रकार का होता है।"

अस्तु...

रस-भावँन के भेद कौ[5] गँननाँ गँनीं न जाइ ।
एक नाँम सब कौ कह्यौ, रस[6] ब्यंग ठैहराइ ॥

रस ब्यंग उदाहरन 'सवैया' जथा—

मिस सोइबौ लाल कौ मौंन सही, सु[7] हरें उठि मौंन महा धरि कें ।
पट-टारि लजीली[8] निहारि रही, मुख की रुचि कों रुचिकों[9] करि कें ॥

पा०—१ (प्र०) (प्र० मु०) कहै...। (वें०) कहा बिवांछित बाच्य...। २. (प्र०) (वें०) कवि...। (सं० प्र०) वौ अबिवांछित बाच्य धुनि...। ३. (भा० जी०) (वें०) (प्र० मु०) जाहिं ४. (भा० जी०) (वें०) (प्र० मु०) ताहि। ५. (प्र०-मु०) कौ । ६. (सं० प्र०) रस ब्यंगी...। ७. (वें०) हरि-ही उठि···। (सं० प्र०) (र० सा०), सु हरें-ही उठी मौंन···। (प्र०-३), हरुऐं उठी । ८ (प्र०) (वें०) (भा० जी०) रसीली···। ९. (प्र०-३) सों···।

पुलकावलि पेखि कपोलँन पै, खिसियाइ,[1] लजाइ मुरी अरि[2] कैं।
लखि प्यारे[3] बिनोद सों गोद-गह्यौ, सु[4] लह्यौ सुख[5] मोद हियौ[6] भरि कैं॥*

वि०—"दासजी का यह छंद 'अमरुक' कृत संस्कृत की निम्न-लिखित सुमधुर सूक्ति का अनुवाद है, यथा—

"शून्यंवास गृहं विलोक्य शयनादुत्थाय किंचिच्छनैः-
निद्राव्याजमुपागतस्य सुचिरं निर्वर्ण्य पत्युर्मु खम्।
विश्रब्धं परिचुंब्य जात पुलकामालोक्य गंडस्थलीम्-
लज्जा नम्रमुखी प्रियेण हसता बालाचिरं चुंबिता॥"

—अमरुशतक,

पर इन दोनों (दासजी की और अमरुक की) सूक्तियों से विहारीलाल का यह दोहा वहुत ऊपर चढ़ गया है, जैसे—

"मैं मिसहा सोयौ समझि, मुख-चूम्यों ढिंग जाइ।
हँस्यौ, खिसाँनी, गर-गह्यौ, रही गरें लपटाइ॥"

अथ असंलच्छक्रम ब्यंग 'दोहा' जथा—

होत लच्छक्रँम ब्यंग में, तींन-भाँति की ब्यक्ति।
सब्द-अर्थ की सक्ति है,[7] औ सबदारथ-सक्ति॥

वि०—"जहाँ वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ का पौर्वापर्य-क्रम भले प्रकार—सुंदर रीति से प्रतीत हो वहाँ 'संलक्ष्यक्रम व्यंग्य' कहा जाता है और इसके—शब्द-शक्ति से, अर्थ शक्ति से और शब्द-अर्थ-शक्ति से तीन भेद कहे गये हैं। ध्वन्यालोककार दो-ही भेद मानते हैं, यथा—

"क्रमेण प्रतिभात्यात्मा योऽनुस्वानसंनिभः।
शब्दार्थं शक्ति मूलत्वात्सोऽपि द्वेधा व्यवस्थितः॥

—ध्व० पृ० २०,२०।

इन्हें शब्दशक्ति-उद्भव अनुरण-ध्वनि, अर्थ-शक्ति-उद्भव अनुरण-ध्वनि और शब्द तथा अर्थ उभय शक्ति उद्भव अनुरण-ध्वनि भी कहते हैं। शब्द-शक्ति मूल ध्वनि भी वस्तु और अलंकार संयुक्त दो भेदों में विभक्त मानी जाती है।"

पा०—१. (प्र०-३) खिसिआई, लजाई ··· । २. (र० सा०) लरि··· । ३. (प्र०-३) प्यारौ··· । ४. (भा० जो०) (वें०) (प्र० मु०) उँमह्यौ । ५. (र०—सा०) मुद ··· । ६. (र० सा०) हिऐं···। ७ (प्र०-३)···औ, पुनि···।

* र० सा० (दास) पृ० २४।

सब्द-सक्ति धुनि लच्छिन 'दोहा' जथा—

अँनेकार्थ मैं सबद सों, सब्द-सक्ति पैहचाँनि।
अभिधामूलक ब्यंग जिहिं,[1] पैहलें कह्यौ बखाँनि ॥

याके भेद 'दोहा' जथा—

कहूँ बस्तुते बस्तु की, ब्यंग होत कबिराज।
कहूँ अलंकृत ब्यंग है,[2] सब्द-सक्ति द्वै साज ॥

बस्तु ते बस्तु ब्यंग लच्छिन 'दोहा' जथा—

सूधी कैहनाबत जहाँ अलंकार ठैहरै न।
ता-हि बस्तु[3] संजोग है, ब्यंग होइ कै बैंन ॥ *

वि०—"वस्तु उस अर्थ को कहते हैं जिसमें अलंकार न हो, अर्थात् जहाँ ऐसा व्यंग्यार्थ हो कि जिसमें कोई अलंकार न ठहरे।"

अस्य उदाहरन 'दोहा' जथा—

लाल-चुरी तेरें अली[4], लागत निपट मलींन।
हरियारी करि दैंउगी, हौं तो हुकँम-अधींन ॥ *

अस्य तिलक

इहाँ एक अर्थ साधारन है, दूसरे अर्थ में 'दूतत्त्व' है, सो बस्तु ते बस्तु ब्यंग है।

बस्तु ते अलंकार ब्यंग उदाहरन 'दोहा' जथा—

फैलि चली[5] अगनित घटा, सुँनत सिंघ-घैंहरौंन।
परें[6] भौर चहुँ ओर ते, होत तरुँन की हाँन ॥

अस्य तिलक

इहाँ घटा जो है गज-सँमूह की सो सिंघ की गरज ते भाग चली, ताते बृच्छँन की हाँनि ह्वैबौ उचित ही है सो 'समालंकार' ब्यंग है।

पा०—१. (भा० जी) (वें०) जहँ··· । २. (वें०) ते ··। ३, (प्र०) (सं० प्र०) (सं० प्र०) (वें०) ताहि बस्तु संज्ञा कहैं। ४. (भा० जी०) (प्र०) तेरैं लली···। (वें०) तेरी अली,। ५. (भा० जी० (वें०) चल्यौ···। (वें०) परौ ··।
* व्यं० मं० (ला० भ०) पृ० ३२।

पुनः उदाहरन 'कबित्त' जथा—

जाँनि कें सहेट गई कुंजँन-मिलँन[1] उन्हें,[2]
जाँन्यौं ना सहेट के[3] बदैया ब्रजराज कौं[4]।
सूँनौं[5] लखि सदँन सिंगारौ[6] ज्यौं अँगारौ भयौ,
सुख दँनवारौ भयौ दुखद समाज कौं॥
'दास' सुखकंद मंद सीतल पवन[7] भयौ,
तँन ते जलँन उत कबँन इलाज कौं।
बाल के बिलापँन बियोगानल[8] तापँन कौं
लाज भई मुकत, मुकत, भई लाजकौं॥ *

अस्य तिलक

इहाँ सब्द-सक्ति ते अन्योक्ति-उपमालंकार करिकें अन्योन्यालंकार[9] ब्यंग सों जथासंख्या है।

वि०—दासजी की मान्यतानुसार यह छंद विप्रलब्धा नायिका का भी उदाहरण है। विप्रलब्धा-नायिका, केलि-स्थान में प्रिय को न पाकर व्याकुल होनेवाली को कहते है, यथा—

लखि सूनों संकेत जो पिय-बिन अति अकुलाइ।
ताहि 'बिप्रलब्धा' कहैं, सुकबिन के समुदाइ॥
—म० मं० (अजान) पृ० ६१

और दासजी कहते हैं—

"मिलन-आस दै पति छला, औरहिं रति ह्वै जाइ।
बिप्रलब्ध सो दुखितता, पर-संभोग सुहाइ॥

किंतु सर्व-संमत-मत 'अजान' वाला ही है। अतएव ब्रजभाषा-नायिका-भेद के आचार्यों ने इसे—मुग्धा, प्रौढा, परकीया और गणिका में भी माना है। इन आचार्यों के अनुसार यह छंद 'मुग्धा-विप्रलब्धा' नायिका का उदाहरण है।

पा०—१. (प्र०) मिलै के लिऐ··· । २. (भा० जी०) (वें०) तुम्हें। ३ (वें०) कौ··· । ४. (शृं० नि०) से। ५. प्र०) सूने··· । ६. (वें०) सिंगार ज्यों अँगार भयौ। (शृं० नि०) सिंगार ज्यों अँगार भए, सुख दैन वारे भए दुखद समाज से। ७. [शृं० नि०]··· पवँन भए, तन ते सु ज्वाल उपजावन इलाज से। ८. [वें०] बियोग लतापँन कौं··· । [शृं० नि०]··· बियोग-तँन-तापन, सो लाज भई मुकत, मुकत भए लाज से। ९. [वें०] अन्योन्यालंकार, काव्यलिंगालंकार, यथासंख्यालंकार।

* शृं० नि० [दास] पृ० ६५१,६३। संमेलन की प्रति में यह छंद नहीं है।

विविध संकलन कर्ताओं ने इसे वहीं संकलित किया है। दासजी ने इसे स्वतंत्र भेद माना है। आप मुग्धादि विप्रलब्धा के फेर में नहीं।

मुग्धा विप्रलब्धा का उदाहरण 'कवि सोमनाथ' जी ने बड़ा संमोहक प्रस्तुत किया है, यथा—

"खेलिहैं लाल के सग चलौ, कहिकें उर में मति और-हीं ठाँनी।
यों बँहकाइ कें नेह-बढ़ाइ, मयंक-मुखी रति-मंदिर आँनी॥"
ह्याँ न लखे, ससिनाथ' सुजाँन, कछूक नहीं ठिठकी ठकुराँनी।
है न सयाँन रतीभर-ऊ, अलबेली तऊ हिय में अकुलाँनी॥"

—रसपीयूष,

*

"मिल्यौ न कंत सहेटवा, लखेउ डराइ।
धँनियाँ, कँमल-बदनियाँ, गइ कुम्हिलाइ॥"

—रहीम,

अस्तु, पं० महावीर प्रसाद मालवीय ने स्व-संपादित प्रति में यहाँ टिप्पणी करते हुए 'शब्द-शक्ति से अन्योन्य उपमालंकार-द्वारा अन्योन्य, काव्य और क्रमालंकार व्यंग्य 'माना है।"

अथ अर्थ—सक्ति लच्छिन 'दोहा' जथा—

अँनेकार्थ मइ सब्द-तजि, और सब्द जे[1] 'दास'।
'अर्थ-सक्ति' सब कोइ[2] कहैं, धुँनिमइ[3] बुद्धि-बिलास॥

वि०—"अर्थ शक्ति से उत्पन्न अनुरणन ध्वनि उसे कहते हैं, जहाँ शब्द के परिवर्तन होने पर भी व्यंग्यार्थ की प्रतीति हो और इसके कोई दो भेद—'स्वतःसंभवी' और 'कवि प्रौढ़ोक्ति' तथा कोई तीन भेद—'स्वतःसंभवी, 'कवि-प्रौढोक्ति मात्र सिद्ध' और 'कवि निबद्ध पात्र की प्रौढोक्ति मात्र सिद्ध' मानते हैं। स्वतःसंभवी के भी—वस्तु से वस्तु, वस्तु से अलंकार, अलंकार से वस्तु और अलंकार से अलंकार-व्यंग्य रूप चार भेद साहित्य सृजेताओं ने माने हैं।

कवियों ने कुछ वस्तुओं के 'वर्ण' और 'गुण' भी निश्चित कर रखे हैं, जैसे—"कीर्ति व यश का वर्ण उज्जल, पाप का काला, खुले बाल अंधकारमय, शांत और हास्य रस का वर्ण सफेद, शृंगार रस का काला, रौद्र का लाल,

पा०—१. [स० प्र०] जो ··। २. [भा० जी०] [वें०] [प्र० मु०] कों···। ३. [भा० जी०] [प्र०-मु०] ध्वनि में······।

भयानक का पीला, वीर का अरुण-इत्यादि, जैसा कि दासजी ने नीचे के दोहों में कहा है। अस्तु जब इन्हीं के सहारे कोई व्यंग्य निकले तब उसे 'कवि-प्रौढ़ोक्ति-द्वारा व्यंजित ध्वनि' कहते हैं और यह भी जैसा कि दासजी ने अन्य साहित्य सृजेताओं के अनुसार जो ऊपर लिखे जा चुके हैं—वस्तु से वस्तु इत्यादि.......भेद आगे के दोहों में सोदाहरण प्रस्तुत किये हैं। पीयूषवर्षी श्री जयदेव ने इन वस्तु से वस्तु-अलंकारादि चारों व्यंग्यों के "कवि-निर्मित, प्रौढ़-निर्मित' और स्वसिद्ध रूप तीन-तीन भेद और माने हैं, यथा—

"चत्वारो वस्त्वलंकारमलंकारस्तु वस्तु यत्।
अलंकारमलंकारो वस्तु वस्तु व्यनक्ति तत्॥

वक्तुः कविनिबद्धस्य कवेर्वा प्रौढिनिर्मितः।
स्वसिद्धो वा व्यंजकोऽर्थश्चत्वारस्त्रिगुणास्ततः॥

—चंद्रालोक ७, ७-८

अतः

बाचक-लच्छक[1] बस्तु कों, 'जग-कैहनाबति' जाँन।
सुतःसंभवी कहत हैं, कबि पंडित सुख-दाँन॥

×

जग-कैहनाबति ते कछू, कबि-कैहनाबति भिन्न।
ताहि[2] कहैं प्रौढोक्ति सब, जिनकी बुद्धि अखिन्न॥

×

उज्जलताई कीर्ति की, सेत कहत[3] संसार।
तँम छायौ जग में[4] कहैं, खुले तरुनि के बार॥

×

कहत[5] हास औ सांत रस सेत बस्तु से[6] सेत।
स्याँम[7] सिंगार औ पीत भय, अरुँन[8] रौद्र गँन लेत॥

×

पा०—१. (सं०प्र०) लच्छँन...। २. (सं०प्र०) ताहि प्रौढोक्ती कहैं, सदाँ...। (वें०) (प्र०-मु०) तिहि प्रौढोक्ति कहैं सदाँ। ३ (सं० प्र०) (वें०) (प्र० मु०) कहै...। ४. (वें०) मों...। ५. (प्र०) सं०) (वें०) (प्र० मु०) कहैं हास्यरस, सांतरस,। ६. (भा० जी०) ते...। ७. (वें०) (प्र० मु०) स्यांम-सिंगारै प्रीति, भय। ८. (दै०) अरुँन रद्र गँनि...।

बरनत[१] अरुँन जु बीर कों, रबि सौ तप्त प्रताप ।
सकल तेज-मइ[२] ते अधिक, कहैं बिरह-संताप ॥

×

साँची बातँन जुक्त-बल, झूंठी कहत बनाइ ।
झूंठी-बातँन कों प्रघट, साँच देत ठैहराइ ॥

×

कहै-कहावै जड़ँन सों, बातें[३] बिबिध प्रकार ।
उपमाँ औ[४] उपमेइ कों, देंइ सकल अधिकार ॥

×

यों-ई औरों जाँनिएं, कबि-प्रौढोक्ति बिचार ।
सिगरी रीति गिनावत[५]-हिं, बाढै ग्रंथ अपार ॥

सोरठा जथा—

बस्तु ब्यंग कहुँ चारु, सुतःसंभवी बस्तु ते ।
बस्तु-हि तेऽलंकारु, अलंकार ते बस्तु कहि[६] ॥*

×

कहूँ अलंकृत बात, अलंकार ब्यंजित करै ।
यों-ई पुनि गँन जात- चार भेद प्रौढोक्ति में ॥

सुतःसंभवी बस्तु ते बस्तु ब्यंग 'दोहा' जथा—

सुँनि-सुँनि[७] पीतम आलसी, धूर्त, सूंम, धँनवंत ।
नवल बाल हिय में हरख, बाढत जात अँनंत ॥†

अस्य तिलक

इहाँ--नायक आलसी है तौ कभू देस-बिदेस जाइगौ नहीं, धँनवंत है औ सूंम हू है तौ दारिद कौ डरु नाहीं, धूर्त है तौ अति काँमो हूँ होइगौ ए सब नायिका की चित-चाँहीं बातें हैं, यै बस्तु ते बस्तु ब्यंग है ।

पा०—१. (प्र०) (प्र० मु०) बरनत अरुँन अबीर सौ, । (सं० प्र०) बरनत करुँन अबीर सौ । (वें०) करुना अरुन अबीर सौ । २. (वें०) सकल तेज मते अधिक, । ३. (वें०) जुक्ति...। ४. (वें०) में...। ५. (वें०) गिनावते...। ६. (वें०) कहैं । ७. (वें०) सुति...।

सुतःसंभवी वस्तु ते अलंकार व्यंग जथा—

सखि, तेरौ प्यारौ भलौ, दिँन-न्यारौ ह्वै जात ।
मोते नहिं बलबीर कौ, पल-बिलगाँन[1] सुहात ॥*

अस्य तिलक

इहाँ अपनी बड़ी बातें 'स्वाधीनपतिका नायिका' जनावति है, सो बस्तु ते व्यतिरेकालंकार (जहाँ उपमेय में उपमान से कुछ अधिकता बतलायी जाय) व्यंग है ।

वि०—"अर्थात् यहाँ नायिका-द्वारा अपने को स्वाधीन-पतिका (जिसका पति सदा आधीन रहे), का यह सूचित करना—दूसरी के पति से अपने पति की अधिक आधीनता बतलाना व्यतिरेकालंकार है, व्यंग्य है—ध्वनि है, जिससे नायिका (कथन करने वाली) यह जतलाती है कि मैं तुझ (जिसके प्रति यह उक्ति कही गयी है) से अधिक भाग्यवान् हूँ अथवा मेरा पति तेरे पति से कहीं अधिक प्रेमी है । स्वाधीनपतिका का किसी कवि का यह छंद बड़ा सुंदर है, यथा—

"लै परजंक धरै भरि अंक, निसंक है स्वाबत प्रेम-उपायँन ।
चौंकि परे ते परै उर लागि, हिये सों हियौ अँनुराग सुभायँन ॥
लाजँन हों लरजों गैहरी, बरजों गैहरी कैहरी कहि दायँन ।
जागति जाँनि कहाँनी कहै अरु सोवति जाँनि पलोटत पाँयन ॥"

सुतःसंभवी अलंकार ते बस्तु व्यंग 'कबित्त' जथा—

गिलि गए सेदँन, जहाँ-ई-त्तहाँ छिलि गए,
मिलि गए चंदँन भिरोंहैं[2] इहि भाइ सों ।
गाढ़े ह्वै रहे-ई[3] सहि सनमुख तुकाँन-लीक,
लोहित लिलार लागो छीटें[4] अरि घाइ सों ॥
श्री मुख-प्रकास तँन 'दास' रीति साधुँन की,
अज-हूँ लों लोचन तँमीले रिसताइ सों ।
सोहैं सब[5] अंग सुख-पुलक सुहाए हरि,
आए जीति सँमर सँमर महाराइ सों ॥

पा०—१ (वें०) (भा० जी०) (प्र० मु०) पल बिलगात...। २. (भा० जी०) (वें०)... भिरे हैं...। (प्र०) (प्र मु०) भरे हैं,...भाइ...। ३. (प्र०) हैं, सहे सनमुख काँम लीक, । ४. (भा० जी०) (वें०) (प्र० मु०) छींट...। ५. (भा० जी०) सरबंग । (वें०) (प्र० मु०) सरबांग ।
* व्यं० मं० (ला० भ० दी०) पृ० ३४-३५ ।

अस्य तिलक

इहाँ (खंडिता) नायिका रूपक औ उत्प्रेच्छा अलंकार करि कैं नायक कौ (पर-रति-रूप) अपराध जाहर करति है, सो यै (अलंकार ते) बस्तु ब्यंग है।

वि०—ऊपर का छंद खंडिता नायिका की उक्ति है। खंडिता नायिका (रात्रि में अन्यत्र किसी दूसरी नायिका के पास रम कर पति के प्रातःकाल आने पर, उसके तन पर उस स्त्री के संभोग-चिंह्न देख ईर्ष्या या मान करने वाली) यथा—

"अँनत रमे-रति-चिह्न लखि, पीतम के सुभ गात।
दुखित होइ सो 'खंडिता', बरनत मति-अवदात॥

—म० मं० पृ० ६२,

खंडिता नायिका के उदाहरणों में बिहारीलाल का यह नीचे लिखा दोहा बहुत सुंदर है, यथा—

"प्राँन-प्रिया हिय में बसै, नख-रेखा-ससि-भाल।
भल्यौ दिखायौ आँनि यै हरि-हर-रूप रसाल॥"

—सतसई,

सुतः संभवी अलंकार ते अलंकार ब्यंग जथा—

पातक तजि सब जगत कौ, मो में[1] रह्यौ सँमाइ।
रॉम, तिहारे नाँम कौ, इहाँ न कछु[2] बसयाइ॥*

अस्य तिलक

इहाँ (काहू भक्त कौ कथन है कि) मोही में सब जग कौ पातक बजाइ—ढिढोरौ-पीट कैं रहि रह्यौ है, यै परिसंख्यालंकार [जब किसी वस्तु को अन्य स्थानों से हटाकर किसी एक स्थान पर नियुक्त की जाय] है अरु तिहारौ नाँम समरथ है पै इहाँ वाकौ कछू नाँहि बसात यै बिसेसोक्ति [जब कारण उपस्थिति रहने पर भी कार्य की उत्त्पत्ति न हो] अलंकार ब्यंग है अरु सब ते मैं ही बड़ौ पापी हौं यै ब्यतिरेकालंकार है, इन सब ते सुतःसंभवी अलंकार ते अलंकार ब्यंग है।

वि०—"यहाँ दासजी ने 'परिसंख्यालंकार के द्वारा यह अर्थ निकाला है कि मैं बहुत बड़ा पापी हूँ और व्यंग्य यह कि आपका नाम मेरे पापों को दूर न कर सकेगा, यह विशेषोक्ति रूप अलंकार से अलंकार व्यंग्य है।'

पा०—१. (सं० प्र०) सों...। २. (भा० जी०) (वें०) (प्र० मु०) कछू बसाइ।
*, व्यं० म० (ला० भ० दी०), पृ० ३७।

प्रौढोक्ति-वस्तु ते वस्तु व्यंग जथा—

'दास' के ईस जबै[1] जस रावरौ, गावतीं देव-बधू मृदु-ताँनन ।
जातो कलंक मयंक कौ मूंद[2], औ घाँम ते काहू सतावतो भाँन न ॥
सीरौ लगै सुँनि चौंकि चितै दिग-दंतिक[3] कै तिरछौ दृग-ऑनन ।
सेत सरोज लगै कै सुभाइ[4], घुँमाइ कें सूंड़[5] मलै दुहुँ[6] कौंनन ॥*

अस्य तिलक

इहाँ (कबि कौ कथन है कि) तिहारी कीरति सरग औ दिगंत हूँ में पोंहची सो सीतल-उज्जल है, यै कबि प्रौढोक्ति वस्तु ते वस्तु व्यंग है ।

वि०—यहाँ दासजी ने प्रथम 'कवि-प्रौढोक्ति'-सिद्धवस्तु यह बतलाई कि यश श्वेत है—शीतल है और स्वर्ग तथा दिगंत तक फैला हुआ है, उस यश को देख-सुनकर दिग्गजों (हाथियों) को ईर्ष्या होती है कि हमारे दाँत सफेद होते हुए भी यश जैसे श्वेत नहीं है, यह द्वितीय वस्तु व्यंग्य हुई, इसी से वे सूंड घुमा-घुमाकर अपने कानों को मला करते हैं—इत्यादि........।"

पुनः उदाहरन 'दोहा' जथा—

करत प्रदच्छँन बाड़बहि, आवत दच्छिन-पोंन ।
बिरहिन-बपु बारति बरहि, बरजँनवारौ कोंन ॥†

अस्य तिलक

इहाँ तिहारे बिरह मरति है, यै बस्तु ते बस्तु व्यंग है ।

वि०—"अर्थात् विरह-संताप से व्यथित बाला विरहणी को वसंत की, दक्षिण की शीतल पवन भी बड़वाग्नि को छूकर आती हुई (सी अति तप्त) जान पड़ती है, यह वस्तु से वस्तु व्यंग्य है ।"

वसंत-विभूषित पवन पर कवि सैय्यद गुलामनवी 'रसलीन' की दो सूक्तियाँ भी देखिये, किस नाज से आप कहते हैं—

**"सरवर-माँहि अन्हाइ अरु बाग-बाग बिरमाइ ।
मंद मंद आवत पवँन, राजहंस के भाइ ॥**

पा०—१. (वें०) जगै...। २. (प्र०-३) मुँदि...। ३. (प्र०)...दंतित...। (व्यं० मं०)...दंति तकै तिरछे...। (वें०)...दंतिक कै तिरछे...। ४. (वें०) सुहाइ...। (व्यं० मं०) सेत सरोज लै-लै कें सुभाइ । ५. (वें०) सुंड़...। ६. (प्र०-३) दोउ...।

*, व्यं० मं० (ला० भ० दी०) पृ० ३६ । †, व्यं० मं० (ला० भ० दी०) पृ० ४१ ।

या मधु-रितु में कोंन कें, बढ़त न मोद अनंत ।
कोकिल गावति हैं कुहुकि, मधुप गुंजरत तंत ॥"
—र० प्र० (रस०) पृ० ८४,

*

पीते हुए झिझकते हो, फ़स्ले-बहार में ।
तुम भी 'निसार' आदमी हो किस ख़याल के ॥

कवि-प्रौढोक्ति वस्तु ते अलंकार व्यंग जथा—

निज गुमाँन दै माँन कों, धीरज करि[1] हिय-थाप ।
सुतौ स्याँम-छबि देखत-हिं[2], पैहलें भाज्यौ[3] आप ॥ *

अस्य तिलक

इहाँ नायिका कौ बिनाँ मनाऐं-ही माँन छूट्यौ यै 'बिभावनाँ' अलंकार बस्तु ते अलंकार व्यंग भयौ ।

वि०—"नायिका-द्वारा मान करने पर नायक नायिका को मनाने जाता है, यह कवि-प्रौढोक्ति है । अतएव नायक के नायिका को मनाने जाने पर नायक के बिना मनाए-ही—केवल नायक की छबि देखकर ही, नायिका का मान छूट गया यह विभावना तथा अतिशयोक्ति अलंकार की ध्वनि है—व्यंग्य है । विभावना—

"भयौ काज बिन-हेतु-हीं, बरनत हैं जिहिं ठौर ।
तहिं 'बिभावना' कहत हैं, 'भूषन' कबि-सिरमौर ॥
—भूषण,

कुछ इसी भाव से मिलती जुलती ब्रजभाषा के अर्वाचीन श्रेष्ठ कवि स्व० रत्नाकरजी की एक सुंदर सूक्ति देखिये, यथा--

"न चली कछु लालची लोचँन सों, हठ-मोचँन कै चँहिनोंईं परयौ ।
'रतनाकर' बंक-बिलोकँन-बाँन, सहाए बिनाँ सहिनोंईं परयौ ॥
उत ते वे गात छुवाइ चले, तब तौ प्रँन कों ढहिनों-ईं परयौ ।
भरि आहि, कराहि सुँनों जू-सुँनों, नँदलाल सों यों कहिनों-ईं परयौ ॥"
—रत्नाकर-संग्रह,

पा०—१. [भा० जी०]···कीय-हि जथापि । [वें०] निज गुन-माँन समाँन हो, धीरज··· । [प्र०-३] धीरज कर··· । २. [भा० जी०] देखिकें । [वें०] [प्र० मु०]··· देखितहिं । ३. [भा० जी०) [वें०] [प्र० मु०] भाग्यौ··· ।

* व्यं० मं० [ला० भ० दी०] पृ० ४१ ।

"दिल को खुद छेड़े जो वह तिरछी नजर तो क्या करूँ।
चैन से रहने न दे, दर्द-जिगर तो क्या करूँ॥"
—कोई शायर,

पुनः 'दोहा' जथा—

द्वार-द्वार देखति खरी, गैल छैल नँद-नंद।
सकुचि बंचि दृग-पंच की, कसत कंचुकी-बंद॥

अस्य तिलक

इहाँ नायिका के हरख--प्रफुल्लता के कारन कंचुकी के बंद ढीले परे तिन्हें संकि करि छिपावति है, यें व्याजोक्ति अलकार व्यंग है।

वि०—"जहाँ अपनी गुप्त बात खुल जाने के भय से कपट-द्वारा प्रस्तुत रूप पर कोई अन्य कल्पना गढ़ ली जाय, वहाँ 'व्याजोक्ति' होती है।"

प्रौढोक्ति करि अलंकार ते वस्तु व्यंग जथा—

कहा ललाई लै रहीं, अँखियाँ बे मरजाद।
लाल, भाल-नख-चंद कछु[1], दीन्हों इन्हें[2] प्रसाद॥ *

अस्य तिलक

इहाँ रूपकालंकारते तुँम पर-स्त्री कें रहे हौ, यें अलंकार ते वस्तु व्यंग है।

वि०—"नख-क्षत को चंद्र मानना' कवि प्रौढ़ोक्ति है, साथ-ही नख-चंद्र में रूपकालंकार भी है। इस रूपक से दासजी ने नायक की सदोषता नायक-नायिका के प्रश्नोत्तर रूप में वस्तु व्यंग्य का सुंदर वर्णन किया है। इस प्रकार का प्रश्नोत्तर कविवर विहारीलाल का तो और भी सुंदर है—वर्णनातीत है, यथा—

"बाल, कहा लाली भई, लोयँन-कोयँन माँहिं।
लाल, तिहारे दृगँन की, परी दृगँन में छाँह॥"
—सतसई,

इस पर टीका-टिप्पणी व्यर्थ है, प्रसिद्ध साहित्य-समालोचक स्वर्गीय पं० पद्मसिंहजी शर्मा के शब्दों में—"बाल-लाल की जोड़ी रूप संबोधनों पर लालों (ऐसे दोहों) की असंख्य जोड़ियाँ निछावर हैं।

पा०—१. [प्र०] [सं० प्र०] [वें०] [प्र० मु०] दुति। २ [प्र० मु०] पै परसाद।

* व्यं० मं० [ला० भ० दी०] पृ० ४२।

कुछ ऐसी-ही मुहजोर-आजमाई अन्य कवियों की भी मिलती हैं, यथा—

"भोर-हीं भौन में भाँवतौ आवत, प्यारी चितै कें इतै दग-फेरें।
बाल-बिलोकि कें लाल कह्यौ, कहौ काहे ते लाल बिलोचँन तेरे॥
बोलि उठी सुँनिकें तिय बोल, जु 'देव' कह्यौ यों कोप-करेरे।
काहू के रंग रँगे दग रावरे, रावरे रंग रँगे दग मेरे॥"

वि० विविध (संग्रह) पुस्तकों में प्रायः इस तीसरे चरण का पाठ—'बोलि उठी सुँनिकें तिय बोल सु 'देव' कहै अति कोप करेरे' लिखा मिलता है, जो उपयुक्त नहीं, क्योंकि यह खंडिता वा धीरा की उक्ति नायक प्रति है, कवि-उक्ति नहीं। साथ ही 'अति' और 'करेरे' भी समानार्थी हैं। इधर एक प्राचीन हस्त-लिखित संग्रह मिला, जिसमें ऊपर लिखा पाठ है, जो अर्थ की दृष्टि से और भाव की दृष्टि से अनमोल है। अथवा—

मेरे नैन अंजँन, तिहारे अधरँन पर सोभा-
देखि गुँमर बढायौ सब मखियाँ !
मेरे अधरँन पर ललाई पीक लीक तैसें,
रावरे कपोल गोल नोंखी लीक लखियाँ॥
कबि 'हरिजँन' मेरे उर गुन-माल तेरें-
बिन-गुन माल-रेख देखि-देखि झखियाँ।
देखौ लै मुकुर दुति कोंन की अधिक लाल,
मेरी लाल चूंनरी, तिहारी लाल अँखियाँ॥"

*

"खुमार-आलूदा आँखें, बल जबीं पर, दर्द है सर में।
रहे तुम रात-भर बेचैन किस कंबख्त के घर में॥"

—दाग

प्रौढोक्ति करि अलंकार ते अलंकार व्यंग जथा—

मरौ हियौ पखाँन है, तिय-दग तीछँन बाँन।
फिरि-फिरि लागत-ही रहैं, उठें बियोग-कृसाँन॥ *

अस्य तिलक

इहाँ रूपकालंकार ते सँमालंकार व्यंग है, ता सों अलंकार ते अलंकार व्यंग।

* व्यं० मं० (ला० भ० दी०) पृष्ठ ४३।

वि० - "दासजी के इस दोहे में 'तिय-दृग' कवि प्रौढोक्ति रूप 'बाण' है, हृदय पाषाण भी वही कवि प्रौढोक्ति है और ये दोनों रूपक-अलंकार से विभूषित हैं। अतएव 'हिय-पाषाण' और 'दृग-बाण' की टक्कर से अग्नि का पैदा हो जाना उचित ही है, इसलिये यहाँ रूपकालंकार से सम-अलंकार व्यंग्य है। सम-अलंकार—

"जहाँ दुहुँन अँनुरूप कौ, करियै उचित बखाँन।
'सँम' भूखँन ता सों कहत, भूखँन सकल जहाँन॥"

पुनः उदाहरन 'सवैया' जथा—

करै 'दासै' दया बौ बाँनी सदाँ, कबि-आँनन-कौल जु बैठी लसै।
मैहमाँ जग-छाई[1] नवों रस की, तँन-पोषक नाँम धरें छै रसै॥
जग जाके प्रसाद-लता पर सैल-ससा पर पंकज-पत्र बसै[2]।
करि भाँति अनेकँन यों रचनाँ, जो बिरंचहु की रचनाँ कों हँसै॥ *

अस्य तिलक

इहाँ हूँ रूपक-रूपकातिसयोक्ति करि कैं ब्यतिरेक-अलंकार ब्यंग है।

वि० —'यहाँ भी दासजी ने कवि के मुख-कमल को रूपकालंकार से भूषित कर 'कवि-प्रौढ़ोक्ति' का ही वर्णन किया है। साथ-ही तीसरे चरण में 'रूपकातिशयोक्ति' (जिसमें उपमेय के बिना केवल उपमान का उपमेय से अभेद बतलाया जाय) का भी वर्णन है। इन दोनों रूपक और रूपकातिशयोक्ति के द्वारा यहाँ 'व्यतिरेक-अलंकार' व्यंग्य है, क्योंकि 'ब्रह्मा-रचित सृष्टि से कवि-वाणी-द्वारा रची हुई सृष्टि (कविता) कहीं बढ़कर है। व्यतिरेक—

"ब्यतिरेक जु उपमाँन ते, उपमेयाधिक देखि।
मुख है अंबुज सौ सखी, मीठी बात बिसेखि॥"

— भा० भू० (जसवंतसिंह) पृष्ठ ४२

पुनः सवैया जथा—

ऊँचे अवास-बिलास करैं, अँसुवाँन कौ सागर कै चहुँ फेर्यौ[3]।
ताहू ते[4] दूरि-लों अंग की ज्वाल, कराल रहै निसि-बासर घेर्यौ[5]॥

पा०—१. (प्र०-३) छाइ···। २. (प्र०) (वें०) लसै। ३. (प्र०) (स० प्र०) फेरे। (वें०) फेरै। ४. (प्र०) (प्र० म०) पै···। ५. (प्र०) (स० प्र०) (प्र० मु०) घेरे। (वें०) घेरै।

* व्यं० मं० (ला० भ० दी०) पृ० ४३।

'दास' लहै वौ क्यों अवकास, उसास रहै नभ-ओर अभेरयौ[१] ।
है कुसलात इती इहि[२] बीच, जु मींच न आवत पावत नेरयौ[३] ॥

अस्य तिलक

इहाँ हू काव्यलिंग अलंकार करि कें बिसेसोक्ति अलंकार ब्यंग है ।*

अथ सब्दार्थ-सक्ति बरनन जथा—

सब्द-अर्थ दुहुँ सक्ति मिलि, ब्यंग कढ़ै अभिरौंम ।
कबि-कोबिद तिहिं कहत हैं, 'उभै-सक्ति' इहि नाँम ॥

उदाहरन कबित्त जथा—

सींवाँ[४] सुधरम जाँनों परँम किसाँनों माधौ,
पाप-पुंज[५] भाजे भ्रँमि स्यौंमारुन-सेत में[६] ।
देसी-परदेसी बबें हैंम, हय, हीरादिक,
केस, मेद, चीरादिक स्रद्धा-सँम हेत में ॥
परसि हिलोरें[७] कै हिलोरें पैहलें-हीं 'दास,'
रास च्यारि फलँन की अँमर-निकेत में ।
फेरि जोति देखिबे कों हरबर दाँन[८] देति,
अदभुत गति है त्रिबेंनी जू के खेत में ॥†

अस्य तिलक

इहाँ (शब्दार्थ) उभै सक्ति ते रूपक, समासोक्ति कौ संकर करिकें अतिसयोक्ति अलंकार ब्यंग है ।

वि०—"अर्थात् दासजी ने यहाँ—जोत, हर, बरदा (बरध = बैल) और खेत शब्दों के शिलष्टार्थ-बल से त्रिवेणी (गंगा) के क्षेत्र को खेत का रूपक दिया है, जिससे 'उदात्त' और अतिशयोक्ति अलंकार व्यंजित होते हैं । यदि इन शिलष्ट शब्दों को पर्यायवाची शब्दों में बदल दिया जाय तो अभीष्ट रूपक बदल जायगा । इस लिये यहाँ "शब्दार्थ उभय शक्ति" व्यंग्य ध्वनि है । उदात्त, यथा—

पा०—१. (प्र०) (सं० प्र०) (प्र० मु०) अमेरे । (वें) अमेरै । २. (वें०) पहि··· । ३. (प्र०) (सं० प्र०) (प्र० मु०) नेरे । (वें०) नेरै । ४. (प्र०-३) सींमाँ...। ५. (सं० प्र०) (वें०) जंतु...। ६. (भ० स०) सीमाँ सुधरम जाँन, परम किसाँन माधौ पाप-जंतु भागे भ्रँम स्यौंम-अरुँन सेत में । ७. (प्र०) परसि हिलोरि कै हिलोरे भले लेत दास । (सं० प्र०) पर सीख हलोरे के हलोरै...। (वें०) परसी हुलौरै कै हलोरै...। ८. (व्यं० मं०) हर बरदाँन...।

*, संमेलन प्रयाग की प्रति में इसके बाद—"इति अर्थ शक्ति । अथ शब्दार्थ-शक्ति लक्षण दोहा" यह और लिखा मिलता है । †, व्यं० मं० (ला० भ० दी०) पृ० ४५ ।

"अति संपति बरनत जहाँ, तासों कहत 'उदात' ।
कै आँन सों लखाइऐ बड़ी आँन की बात ॥"

अथ एक पद-प्रकासित ब्यंग बरनन जथा—

पद-सँमूह-रचनाँन कौ, बाक बिचारौ चित्त ।
तासु ब्यंग बरनौं[1] सुनौं, 'पद-बिंजक' अब मित्त ॥

छंद-भरे में एक पद धुँनि-प्रकास करि देइ ।
प्रघट करौं क्रँम ते बहुरि, उदाहरँन सब तेइ ॥

अथ अरथांतरसंक्रमित बाच्यप्रद पद-प्रकास धुनि जथा—

उदाहरन जथा—

सुंदर, गुँन-मंदिर रसिक, पास खरौ ब्रजराज ।
आली, कौंन सयाँन है, माँन-ठाँनिबौ 'आज' ॥*

अस्य तिलक

इहाँ (केवल) 'आज' सब्द ते घात (सुदर मिलने के समय) की समें प्रकासित होति है, ता ते एक पद-प्रकासित ब्यंग है ।

वि—"जहाँ वाच्यार्थ अर्थांतर में संक्रमण करता है—बदलता है, वहाँ यह ऊपर लिखी ध्वनि होती है, जो दोहा के केवल 'आज' शब्द से व्यंजित है ।

कविवर 'देव' निर्मित निम्नलिखित छंद, जो दासजी के दोहे की विस्तृत टीका-जैसा कहा जा सकता है, एक पद-गत वा शब्द-गत ध्वनि का सुंदर उदाहरण है, यथा—

"जोरति न दीठि रूसि बैठी हँसि पीठ दैकें,
कौंन यै 'देव' स्याँम साँमुहें चहँन दै ।
जोबन नवेली, अलबेली तू समझि सोचि,
सौतिन गुमाँन-भरी बातें न कहँन दै ॥
ठाढ़ौ पिय-पास, मन मिलबे की आस धरें,
ताहि रुख रूखौ ना बियोग ते दहँन दै ।
होइ के निसंक, भरि अंक मनमोहन कों,
'आज' रात माँन कों अमाँनत रहँन दै ॥

—श्रं० सं० (सरदार)

पा०—१. (प्र०-३) बरनँन सुनौं...।

एक उर्दू का शेर भी देखिये, इसमें भी एक लफ्ज़ 'अज़ीज़' ने, जो शायर का नाम भी है, वही बात पैदा कर दी है, जैसे—

"बातों-बातों में किसी ने कह दिया मुझसे 'अज़ीज़' ।
ज़िंदगी की मुश्किलें दम-भर में आसाँ हो गईं ॥"

अथ अत्यंत तिरसकृतबाच्यप्रद पद-प्रकास धुनि—

अस्य उदाहरन जथा—

भाल, भृकुटि, लोचँन, अधर, हिऐं[1] हिए की माल ।
छला छिगुनियाँ-छोर कौ, लखि सिरात दृग लाल ॥*

अस्य तिलक

इहाँ (खंडिता नायिका नें) 'सिरात' सबद ते जरिबौ बिजित करिकें (अपने नायक कौ) अपराध प्रकास्यौ ताते अति तिरस्कृत पद-गत बाच्य धुँनि भई ।

वि०—'जहाँ वाच्यार्थ का एक दम तिरस्कार किया जाय, वहाँ 'अत्यंत-तिरस्कृत वाच्य ध्वनि' होती है। जैसे दासजी द्वारा प्रयुक्त 'सिरात' शब्द से शीतल होना अर्थ न मान कर अधिकाधिक 'जलना' ही अर्थ सापेक्ष है।

अब्दुलरहीम खानखाना का यह 'बरवै' भी अत्यंत तिरस्कृतवाच्य ध्वनि का सुंदर उदाहरण है, जैसे—

"अहो, सुधाधर प्यारे, नेह-निचोर ।
देखँन-हीं कों तरसें, नैंन-चकोर ॥"

—बरवै नायिका-भेद

यहाँ भी नायिका, नायक को सुधाधर बतलाकर—उसे संबोधित कर उस (नायक) की कुटिलता-ही अधिक व्यंजित करती है, जब कि उस 'सुधाधर' का वाच्यार्थ चंद्रमा (सब को प्रसन्न करनेवाला) है, पर इस वाच्यार्थ की सर्वथा उपेक्षा कर दी गयी है।"

असंलच्छक्रम रस-ब्यंग उदाहरन कवित्त जथा—

जाति[2] है तू गोकुल गुपाल हूपै जइबी[3] नेंक
आपनी जु[4] चेरी मोहिं जाँनती[5] तू सही है ।

पा०—१. (प्र०-३) हियौ । २. (सं० प्र०) (वें०) जाती है तू··· । (प्र०) (प्र० मु०) जाति हौ जौ गोकुल ·· । ३ (सं० प्र०) जैए··· । (वे०) जैबे···। (प्र०-३) जैयौ··· । ४. (स०प्र०) जौ··· । ५. (भा० जी०) जाँनति ·· ।

*, व्यं० मं० (ला० भ०) पृ० ४८ ।

पाँइ-परि आप-ही सों पूंछबी[1] कुसल-छेंम,
मो पै निज ओर ते न जात कछु कही है ॥
'दास'[2] मधुमाँस-हू के आगँम न आए तबै,
तिन सों सँदेसँन की बातें कहा रही है।
ऐतौ[3] सखि, कीबी, यै अंब[4]-बौर दीबी,
औरु कहिबी वा अँमरैया[5] रॉम-रॉम कही है ॥*

अस्य तिलक

इहाँ नायिका नें 'वा' सब्द ते पाछिलौ संजोग प्रकासित कियौ।

वि०—"जहाँ वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ का पौर्वापर्य-क्रम असंलक्ष्य हो—लक्षित न हो, वहाँ यह ध्वनि कही जाती है। विहारीलाल का निम्न-लिखित दोहा भी इसी ध्वनि का उदाहरण है, यथा—

"सघँन कुंज, छायाँ सुखद, सीतल, मंद समीर।
मन ह्वै जात अजों वहै, वा जमनों के तीर ॥"

—सतसई

यहाँ भी 'वहै' औ 'वा' शब्द वही ध्वनि प्रकट करते हैं।"

सब्द-सक्ति ते वस्तु व्यंग जथा[6]—

जिहि सुँमन-हिं तू राधिका,[7] ल्याई[8] करि अँनुराग।
सोई तोरत साँवरों, आपुन[9] आयौ बाग ॥

अस्य तिलक

इहाँ तोरत (तो-रति) सब्द ते तोसों आसक्त—तोपै अति आसक्त है, यै वस्तु व्यंग है—"दूती-उक्ति नायिका-प्रति।"

पा०—१. (प्र०) (प्र०-३) बूझियो ··· । (वें०) पूंछिबे ···। २. (सं० प्र०) 'दास' जू बसंत-हूके-आगँम न आए तौ पतियँन सों सँदेसौ नींकी कहा बात रही है। (वें०) ··· तौ, पतियँन सों सँदेसँन की बात कहा··· । ३. (वें०) एती··· । ४. (सं० प्र०)··· आँम-मौर···। ५. (प्र०-३) अमरैया ने, रॉम··· । ६. (सं० प्र०) अथ सब्द-सक्ति ते बस्तु ते बस्तु ब्यंग। ७. (प्र०) राधिकहिं··· । (भा० जी०) (वे०) राधिके। ८. (सं० प्र०) लायौ··· । ९.(वें०) आपुहिं···।

* सं० भा० (विहारी—प० सिं०) पृ० २२३।

सब्द-सक्ति ते अलंकार ब्यंग जथा—

जल अखंड घँन झंपि महि, बरखत बरखा-काल ।
चली मिलँन मँन मोंहनें, मैंन-भई ह्वै बाल ॥ *

अस्य तिलक

इहाँ मैंन (काँम औ मोम) मई मोंम कौ 'रूपक' ब्यंग है ।

वि०—'शब्द-शक्ति से एक पद (शब्द) के द्वारा प्रकाशित वस्तु से अलंकार—जो 'मैंन-मई' श्लिष्ट पद (शब्द) से काम और मोम-मयी दोनों अर्थों को प्रकट करता है, पर वर्षा के संबंध से यहाँ मौम-मयी अर्थ ही अभीष्ट है, जो रूपक-अलंकार का अंग है, वही व्यंग्य है ।"

सुतःसंभवी वस्तु ते वस्तु ब्यंग जथा—

मंद-अमंद गँनों न कछु, नंदनँदन ब्रज-नाँह ।
छैल-छबीले गैल में, गहौ न मेरी बाँह ॥ †

अस्य तिलक

इहाँ 'गैल' सब्द ते एकांत में मिलोंगी ये वस्तु ब्यंग है ।

वि०—"इसे एक पद-प्रकाशित वस्तु से वस्तु ध्वनि भी कहा जाता है ।"

सुतःसंभवी अलंकार ते बस्तु ब्यंग जथा—

मनसा, बाचा, करँमनाँ, करि काँन्हर सों प्रीति ।
पारबती, सीता-सती-रीति लई तू[1] जीति ॥ ‡

अस्य तिलक

इहाँ (सखी-द्वारा नायिका-प्रति उक्ति रूप) काँन्हर सब्द ते ब्यतिरेकालंकार ब्यंग कह्यौ ।

वि०—"यहाँ भी स्वतःसंभवी एक पद-द्वारा प्रकाशित वस्तु से अलंकार—व्यतिरेक व्यंग्य है ।"

पा०—१. (प्र०) तुव··· ।

*, † व्यं० मं० (ला० भ० दी०), पृ० ५० । ‡ व्यं० मं० (ला० भ० दी०) पृ० ५१ ।

सुतःसंभवी अलंकार ते वस्तु व्यंग जथा[१]—

हँम-तुँम तँन द्वै, प्राँन इक, आज फुरयौ बलबीर।
लग्यौ हिऐं नख रावरे, मेरे हिय में पीर॥ *

अस्य तिलक

इहाँ असंगति अलंकार ते आज तुम पर-स्त्री सों बिहार कियौ सो नई भई यै अलंकार ते वस्तु व्यंग है।

वि०—'यहाँ एक पद प्रकाशित वस्तु से अलंकार 'असंगति' स्पष्ट है। 'आज' शब्द विशेष व्यंजक है और नायक की सदोषतारूपी वस्तु व्यंग्य है, जो खंडिता नायिका की नायक-प्रति उक्ति 'असंगति अलंकार से पुष्ट है। असंगति-अलंकार—

"हेतु अँनत-हीं होत जहँ, काज अँनत-ही होइ।
ताहि 'असगति' कहत हैं, भूषन कबि सब कोइ॥"

और उदाहरण—

"दृग उरझत, टूटत कुटुँम, जुरत चतुर-चित प्रीति।
परत गाँठ दुरजंन-हिऐं, दई नई यै रीति॥"

—बिहारी,

सुतःसंभवी अलंकार ते अलंकार व्यंग जथा—

लाल, तिहारे दृगँन कौ,[२] हाल कह्यौ नहिं जाइ।
साबधाँन रहिऐ तऊ, चित्त-बित लेत चुराइ॥ †

अस्य तिलक

इहाँ रूपक-बिभावनाँ अलंकार करिकें चोर तेरो यै अधिक है, ताते व्यतिरेक-अलंकार व्यंग है।

वि०—दासजी की यह सूक्ति 'एक पद प्रकाशित अलंकार से अलंकार व्यंग्य' में हैं, क्योंकि विभावनालंकार स्पष्ट है, किंतु सावधान रहने पर भी चित्त-रूप वित्त को चुरा लेने से व्यंजित होता है कि वह नायक अन्य चोरों से बड़ा-

१. यहाँ संपूर्ण ह० लि० प्रतियों में उक्त शीर्षक-ही लिखा मिलता जो ठीक नहीं हैं, यहाँ.........'वस्तु ते अलंकार व्यंग' होना चाहिये, क्योंकि पीछे के दोहा में यह शीर्षक आ चुका है।

पा०—२. (भा० जी०) की, हाल कही नहिं...। (प्र०) (वें०) हाल न बरन्यों...। (सं० प्र०) की, चाल कही नहिं...।

*, † व्यं० मं० (ला० भ० दी०) पृ० ५१। सं० भा० (बिहारी—प० सिं०) पृ० १५२।

चढ़ा है, अतएव व्यतिरेकालंकार व्यंजित है। विहारीलाल ने दासजी से पूर्व इसी बात को बड़े सुंदर ढंग से कहा है, यथा—

"चित-बित बचत न, हरत हठि, लालँन-द्दग बरजोर।
साबधाँन के बटपरा, ए जागत के चोर॥"

कबि-प्रौढोक्ति बस्तु ते बस्तु ब्यंग जथा—

रॉम, तिहारौ सुजस जग, कीन्हों सेत इकंक।
सुरसरि-मग अरि-अजस सों, कीन्हों भेंट कलंक॥

अस्य तिलक

इहाँ 'सुरसरि-मग' ते यै ब्यजित भयौ, जो जस कों कलंक न धोइ सक्यौ।

कबि-प्रौढोक्ति बस्तु ते अलंकार ब्यंग जथा—

कहत[1] मुखागर बाल के, रहत[2] बन्यों नहिं गेहु।
जरत बाँचि आई ललँन, बाँचि पाति-हू[3] लेहु॥ *

अस्य तिलक

इहाँ 'जरत' सब्द ते ब्याधि प्रकासित करी, संदेसे ते मुकरि गई यै बस्तु ते आच्छेप अलंकार ब्यंग है।

वि०—"विरह को अति तप्त कहना 'कवि प्रौढोक्ति' है। अतः दूती वा सखी, जरत शब्द कहकर विरहणी नायिका के अति संताप की सूचना देती है, अतएव नायिका का विरह-संताप वस्तु जरत शब्द से—आक्षेपालंकार से कहा। आक्षेपालंकार—

आक्षेपस्तु प्रयुक्तस्य प्रतेषेधौ विचारणात्।"

अर्थात् जहाँ प्रधान की अवहेलना कर (वही) दूसरे प्रकार से कहा जाय, वहाँ यह अलंकार होता है। इसी प्रकार कवि प्रौढोक्ति वस्तु से अलंकार व्यंग्य दिखलाने वाला 'पद्माकरजी' का निम्न छंद भी अति सुंदर है, यथा—

दूरि-हीं ते देखति बिथा में वा बियोगिनि की,
आई भलें भाजि ह्याँ इलाज मढ़ि आवैगी।
कहै 'पद्माकर' सुनों हो घँनस्याँम जाहि,
चेतति कहूँ जौ इक आह कढ़ि आवैगी॥

पा०—१. (प्र०) (प्र०-३) बचन कहत मुख बालके··· ।(सं० प्र०)(वे०)··· मुखागार बात के। २. (प्र०) बन्यों रहत नहिं··· । ३. (भा० जी०) (वे०) ही··· ।

* व्य० मं० (ला० भ० दी०) पृ० ५२। र० सा० (दास) पृ० १३।

सर-सरतान कों न सूखत लगैगी बार,
एती कछु जुलमिन ज्वाला बढ़ि आवैगी।
ताके तँन-ताप की कहों मैं कहा बात,
मेरे गात-ही छिए ते तुम्हें ताप चढ़ि आवैगी॥"

कवि-प्रौढोक्ति अलंकार ते अलंकार व्यंग जथा—

हरि, हरि, हरि[1] ब्याकुल फिरै, तज सखाँन[2] कौ संग।
लखि ए तरल कुरंग-द्दग, लटकँन मुकत सुरंग॥*

अस्य तिलक

इहाँ सुरंग पद (बस्तु) ते तद्‌गुँन अलंकार ब्यंग है, आसक्त ह्वै वौ बस्तु ब्यंग है, ऐसौई तेरौ काम है यै दूती नायिका प्रति जनायौ।

वि०—"दासजी की यह कृति पाठ-भेद से दो प्रकार की—सखी वा दूती की नायिका प्रति अथवा नायक प्रति उक्ति और दो शीर्षक, विविध प्रतियों के आधार स्वरूप मिलते हैं। पाठ भेद नीचे पाठांतर के स्थान पर प्रस्तुत हैं, उक्ति ऊपर लिखी है और शीर्षक—'कवि प्रौढोक्ति अलंकार से अलंकार व्यंग्य' अथवा 'पुनः यथा, अर्थात् कवि-प्रौढोक्ति वस्तु से अलंकार व्यंग्य" भी मिलता है। दोनों अर्थों में—शीर्षकों में, 'कुरंग-द्दग' से लुप्तोपमा (वाचक-धर्म लुप्ता) और 'सुरंग' शब्द से तद्‌गुण-अलंकार कवि-प्रौढोक्ति से विभूषित व्यंग्य है। लाला भगवान दीन जी ने—"हरि, कहि-कहि ब्याकुल फिरै तजि सखियँन कौ संग" पाठ मान कर व्यंग्यार्थ मंजूषा' में 'इ' (कवि प्रौढोक्ति में अलंकार से वस्तु) यह शीर्षक देकर लिखा है कि "हे चंचल मृगलोचनी, देख तो, तेरा यह लटकन का मोती तेरे ओठों के रंग से लाल है, अर्थात् तू बड़ी सुंदर है। सो तू ऐसी सुंदर होकर हरि-हरि पुकारती सखियों का संग छोड़ अकेली ब्याकुल फिरती है। व्यंग्य यह कि तू हरि पर आसक्त है, यह वस्तु 'व्याकुल' शब्द से व्यंजित है। 'कुरंग-द्दगी' में लुप्तोपमा और 'सुरंग' पद से तद्‌गुण अलंकार है ही, यही कवि-प्रौढोक्ति है" और यदि यहाँ विशेष प्रतियों-द्वारा मान्य मूल पाठ के अनुसार उक्त विशेषताएँ दिखलायी जाँय, तो जरा-सा अर्थ में उलट फेर किया जायगा। तब वहाँ अर्थ होगा—"हे सखि, तेरे कुरंग-सद्दश चंचल नेत्रों और नथ के लटकन का सुरंग-

पा०—१. (व्यं० मं०) (प्र०-३) कहि...। २. (प्र०) (प्र०-मु०) सखियँन...। (वें०) सखींन...।

*, व्य० मं० (ला० भ० दी०) पृ०, ५३।

(अधर के कारण लाल) मोती देख कर हरि (नायक) सखाओं (इष्ट-मित्रों का) साथ छोड़ कर अति आर्तभाव से–हे हरि, हे हरि कहते हुए डोल रहे हैं, अतएव मान छोड़ उनसे मिल और उनकी इस व्याधि को दूर कर।" किंतु इन दोनों अर्थों में ध्वनि वही रहेगी जो 'लालाजी' मान्य हैं, अर्थात् "कवि-प्रौढोक्ति अलंकार से वस्तु व्यंग्य" ही माना जायगा, दासजी अथवा विविध-प्रति शास्त्री हैं—शीर्षक नहीं।"

कुछ ऐसी-ही विशेषता-सयुक्त सूक्तियाँ 'रसलीन' जी ने अपने 'रस-प्रबोध' में कही हैं, यथा—

"जिहिं मानक सौं मन दियौ, आइ तिहारे हाथ।
तिहिं पै अपनों रूप-हूँ चलि दरसैऐ नाथ॥"

सिर कलंक कत लेति मुख, ससि निकलंकी पाइ।
वह चकोर लौं दिन भरत, बिहत अँगारँन-खाइ॥

कहा कहौं वाकी दसा, जब खग बोलत रात।
'पीय' सुँनति ही जियति है, 'कहाँ' सुनति मर जात॥"

(पुनः) कबि-प्रौढोक्ति अलंकार ते अलंकार ब्यंग जथा—

**बाल, बिलोचँन बाल तें, रह्यौ[1] चंद-मुख-संग।
बिख बगारिबौ को सिख्यौ, कहौं कहाँ ते ढंग॥ ***

अस्य तिलक

इहाँ (कबि-प्रौढोक्ति रूप) ससि-मुख रूपक ता ते बिष-बगारिबौ बिषमाँलंकार ब्यंग है।

वि०—'जिनका संबध अनुचित हो, उन वस्तुओं के एक साथ वर्णन करने तथा साथ-ही सुंदर कर्मों के करने पर भी—विपरीति फल प्राप्ति का वर्णन करने पर भी यही अलंकार कहा जाता है।"

अथ प्रसंग धुनि[2] जथा—

**एक-हि सब्द-प्रकास में उभै सक्ति न लखाइ।
यों[3] सुँनि होत 'प्रसंग-धुँनि,' कथा-प्रसंग-हि पाइ॥ †**

पा०—१. (व्यं० मं०) रहे ···। २. (सं० प्र०) (वे०) अप्रबंध धुनि···। ३. (प्र०) (५० मु०) (वे०) अस सुनि होत प्रबंध धुनि···।

* व्यं० मं० (ला० भ०) पृ० ५४। † व्यं० मं० (ला० भ०) पृ० ५५।

वि०—'काव्य-निर्णय की विविध हस्त-लिखित वा मुद्रित प्रतियों में यहाँ—'अप्रबंध-ध्वनि, अप्रसंग-ध्वनि, प्रबंध-ध्वनि और प्रसंग-ध्वनि आदि विविध शीर्षक मिलते हैं। प्रबंध (गत) ध्वनि—किसी एक वाक्य वा पद (शब्द) में नहीं हुआ करती, अपितु प्रबंध-ग्रंथ के कई पद्यों अथवा किसी संपूर्ण कथा को अपने में समेटे हुए किसी एक रचना में हुआ करती है, जैसा कि 'दासजी' कृत इस दोहे के नीचे लिखे उदाहरण में भगवान् श्री कृष्णचंद्र की संपूर्ण-'चीर-लीला' का चल चित्र होते हुए भी 'हास्य रस' ध्वनित है। अतएव कथा-प्रसंग के बल से जहाँ कोई रस-भावादिक व्यंजित हो वहाँ प्रसंग वा प्रबंध ध्वनि कही जाती है। यह ध्वनि अर्थ-बल से स्फुटित (निकलती) होती है और इसकी उतनी-ही जातियाँ (प्रकार) होती हैं जितनी कि अर्थशक्ति-उद्भव अन्य ध्वनियों की।"

अस्य उदाहरन जथा—

बाहर कढ़ि, कर-जोरिकें, रबि कों करौ प्रनाँम।
मँन-इच्छित-फल पाइकें, तब जइबौ[1] निज धाँम ॥ *

अस्य तिलक

जब न्हात सँमें गोपिन के बस्त्र श्रीकृष्ण नें हरे हे—लिए हे, ता समें श्रीकृष्ण कौ बचँन—कथन जाते प्रसंग चीर-हरँन कौ औरु हास्य ब्यंग भयौ।

अथ सुयंलच्छित ब्यंग बरनन जथा—

वाही कहैं बँनें जु बिधि,[2] वा-सँम दूजौ नाँहिं।
ताहि 'सुयंलच्छित' कहैं, ब्यंग सँमझि मँन-माँहि ॥ †

पुनः भेद जथा—

सब्द, बाक, पद, पद[3] हुँ कों एक देस पद बर्न।
होत सुयंलच्छित तहाँ, सँमझैं सज्जँन-कर्न ॥

वि०—"दासजी ने यहाँ 'स्वयंलक्षितव्यंग्य' के शास्त्ररीत्यानुसार—"पद, वाक्य, प्रबंध, वर्ण और रचना-गत भेदों को शब्द, वाक्य, पद, एक देशी और वर्ण रूप से पाँच प्रकार का कहा है। ये एक शब्द, एक वाक्य, एक पद, एक देशी और एक वर्ण-गत भी होते हैं, जैसा कि 'दासजी' ने नीचे के कवित्त में वर्णन किया है।

पा०—१. (प्र०) जईयो...। (वे) जैबौ...। २. (सं० प्र०) धुनि...। ३. (सं० प्र०)...पद बिजकी, एक देस रस बर्न।

*, † ब्यं० मं० (ला० भ०) पृ० ५५।

सुयंलच्छित सब्द ते धुनि जथा—

पात[1]-फूल-दातँन कौं दीबे कौं अरथ, धरम,
कॉम, मोच्छ, चारों फल मोल ठैहरावती ।
देखौ 'दास' देव-दुरलभ-गति दैकें,
महा पापिँन के पापँन की[2] लूट ऐसी पावती ॥
ल्याबत कहूँ ते तँन-जात रूप कोउ ताकों[3],
जातरूप-सैल-हि की साहिबी सजावती[4] ।
संगति में 'बाँनी' के कितेक जुग बीते देखि,
गंगा-पै न सौदा की सरह[5] तोहि आवती ॥*

अस्य तिलक

इहाँ बाँनी सब्द में चमत्कार है, सरस्वती नाम लहेते नाहीं ।

वि०—"अर्थात् दासजी कहते हैं कि यहाँ 'वाणी' शब्द जो वणिक् (बनिये) का अर्थ दे रहा है, वही सुंदर है, सरस्वती-संज्ञा वाची नहीं । अतएव यहाँ 'स्वयंलक्षित' एक शब्द-गत ध्वनि है ।"

सुयंलच्छित बाक ते धुनि जथा—

सुँनि-सुँनि मोरँन कौ[6] सोर चहुँ ओरँन ते,
धुँनि-धुँनि सीस पछितानी पाइ दुख कों ।
लुँनि-लुँनि भाल-खेत बई बिधि बालँन कों,
पुँनि[7]-पुँनि पाँनि मींडि मारती बपुख कों ॥
चुँनि-चुँनि साजतीं सुमँन-सेज आली तऊ,
भुँनि-भुँनि जाती अबलोकि[8] वाही रुख कों ।
गुँनि-गुँनि बालँम कौ आइबौ जु अजहुँ दूरि,
हुँनि-हुँनि देति[9] बिरहानल में सुख कों ॥†

पा०—१. (प्र०) (प्र० मु०) पात-फूल दातन कों अरथ, धरम, काँम, मोच्छ, दीबे कहैं चारि फल...। (व्यं० मं०) पात फूल दातँन कों अरथ, धरम, काम, मोच्छ, चार फल दीवे कों मोल...। २. (सं० प्र०) कों...। ३. (प्र०) (प्र० मु०) ताहि ..। (व्यं० मं०) ल्यावतो कहूं ते कोऊ जातरूप फल ताहि जातरूप सैल-हिं...। ४. (सं० प्र०) करावती । ५. (सं० प्र०) (वें०) तरह...। ६. (वें०) की...। ७. (सं० प्र०) धुँनि-धुँनि सीस मींडि मारती...। ८. (वें०) अवलोकें...। ९. (वें०) देती...।

*, † व्यं० मं० (ला० भ०) पृ० ५०। ५५ ।

अस्य तिलक

इहाँ (सब्दँन) की पुनिरुक्ति मैं ही चमत्कार है, और भाँति नाहीं।

वि०—"अर्थात् कवि का कथन है कि यहाँ—"सुँनि-सुँनि, धुँनि-धुँनि, लुँनि-लुँनि, पुँनि-पुँनि, चुँनि-चुँनि, भुँनि-भुँनि, गुँनि-गुँनि और हुँनि-हुँनि—आदि शब्दों में ही नायिका के विरह-जनित दुःख की अधिक अव्यक्ति लक्षित होती है—उक्त शब्दों की पुनरुक्ति में ही चमत्कार अधिक व्यंजित होता है, अन्य प्रकार नहीं। नायिका प्रोषितपतिका, यथा—

प्रिय जाकौ परदेस में, 'प्रोषितपतिका' सोइ।
उदित उदीपँन तें जु तंन, संतापित अति होइ॥"

—म० मं० (अजान) पृ० ५६,

प्रोषितपतिका का उदाहरण 'ग्वाल' कवि का भी निरखने लायक है, यथा—

"मेरे मँन-भावँन, न आए सखि सावँन में,
तावँन लगी है लता लरजि-लरजि कें।
बूंदें कबों रूंदें, कबों धारें हिय-फारें दैया,
बीजरी हूँ वारें हारी बरजि-बरजि कें॥
'ग्वाल कवि' चातकी परँम पातकी सों मिलि,
मोर-हूँ करत सोर तरजि-तरजि कें।
गरजि गए जे घँन, गरजि गए हैं भला,
फेरि ए कसाई आए गरजि-गरजि कें॥"

सुयंलच्छित पद-गत धुनि बरनन जथा—

बार-अँध्यारिँन में भटक्यौ जु[१], निकार्‌यौ में नीठि सुबुद्धिँन सों घिरि।
बूड़त आँनन-पाँनिप-नीर[२], पटीर की आड़ सों तीर लग्यौ तिरि॥
मो मँन बावरौ यों-ही हुतो[३], अधरा मधु-पाँन कै मूंढ़ छक्यौ फिरि।
'दास' कह्यौ[४] अब कैसें कढै, निज चाँड़[५] सों ठोढ़ी की गाढ़ पर्‌यौ गिरि॥*

अस्य तिलक

इहाँ पटीर की आड़ ही भली, जो बूड़ते कों काठ (काष्ठ—तरने का सहारा) मिलत है, केसर-रोरी की आड़ नाहीं भली।

पा०—१. (भा० जी०) हु। (प्र०) (प्र० मु०) स्व... (वें०) हों...। २. (सं०-प्र०) भीर...। ३. (भा० जी०) (वें०) हुत्यौ...। ४. (प्र०) (प्र० मु०) भनें..। ५. (प्र०) (प्र० मु०) चाह...।

* व्यं० मं० (ला० भ०) पृ० ५६, ५७।

वि०—"अर्थात् इस छंद में—अँध्यारिँन, अटक्यौ, पटीर कौ आड़, बावरौ और मधु-आदि पद-वाक्यांश विशेष में ही चमत्कार है।"

पुनः पद-गत (शब्द गत) धुनि जथा—

हौं गँमारि, गाँम-हिं बसौ[1], कैसौ,[2] नगर कहंत।
पै जाँन्यों आधौंन कै[3]- नागरीन कौ कंत॥*

अस्य तिलक

इहाँ 'नागरीन' बहु बचन-ही भल्यौ, एक बचँन 'नागरी' नाँहीं।

अथ सुयंलच्छित रस-ब्यंग बरनन जथा—

क्रुद्ध प्रचंडी चंडिका, तकत नेंन-तरेरि।
मूर्च्छि, मूर्च्छि भूपर परे, खग्ग[4] रहे जी घेरि॥†

अस्य तिलक—

इहाँ रौद्र-रस है, जो उद्धत बरनँन सों प्रघट है।

धुनि-संख्या कथन जथा—

द्वै अबिबच्छित बाच्य औ रसै[5] ब्यंग इक लेखि।
सब्द-सक्ति है आठ पुनि, अर्थ-जुक्त[6] अबरेखि॥

*

उभै सक्ति इक जोरि पुनि तेरह सब्द-प्रकास।
इक प्रबंध-धुँनि पाँच पुँनि, सुयंलच्छ गुँनि[7] 'दास'॥

*

ए सब तेतीस जोरि दस, ब्यक्त[8]-आदि पुँनि ल्याइ।
तेतालीस प्रकास धुँनि, दींनीं[9] मुख्य गिनाइ॥

*

सब बातँन, सब भूषनँन, सब सकरँन मिलाइ।
गुँनि, गुँनि गननाँ कीजिए, तौ अँनंत बढ़ि जाँइ॥

पा०—१. (सं० प्र०) (वें०) बसौं...। २. (सं० प्र०) कैसे .। ३. (भा० जी०) (वें०) करि...। ४. (प्र०) (सं० प्र०) गधर रहे जो...। (वें०) गब्भर रहें जु...। ५. (प्र०) (सं० प्र०) (वें०) रस-ब्यंगी...। ६. (प्र०) (वें०) सक्ति...। ७. (वें०) गुरु...। ८. (वें०) बक्र...। ९. (वें०) दीन्हों मुख्य गँनाइ...।

*, † ब्यं० मं० (ला० भ०) पृ० ५७-५८।

वि०—"दासजी ने इस उल्लास में ध्वनि के मुख्य 'तेंतीस' (३३) भेद मानते हुए आर्थी व्यंजना के विधान से प्रस्फुटित दस ध्वनियों का उल्लेख कर कुल 'तेंतालीस' (४३) मुख्य मान कर इन्हें 'अलंकार' और 'संकर' के भेदोप-भेद-द्वारा अनंत कहा है। ध्वनि के आचार्यों ने भी प्रथम इक्यावन (५१) भेद-'लक्षणा मूला अविवक्षित वाच्य ध्वनि' के—'अर्थांतर संक्रमित वाच्य' और 'अत्यंत तिरस्कृत वाच्य' के 'पद' और 'वाक्य-गत रूप चार (४) भेद मान 'अभिधामूला'—'विवक्षित अन्य.रवाच्य' के सेंतालीस (४७) भेद जो प्रथम 'असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य' के—"पद, वाक्य, प्रबंध, पदांश, वर्ण और रचना-गत" छह (६) भेद कह कर 'संलक्ष्यक्रमव्यंग्य' के प्रथम तीन (३) भेद "शब्द-शक्ति उद्-भव और शब्द तथा अर्थ रूप उभय उद्भव नाम के तीन (३) भेद कर, शब्द-शक्ति-उद्भव ध्वनि को 'वस्तु' तथा 'अलंकार' व्यंग्य में विभक्त कर पुनः इन्हें 'पद' तथा 'वाक्य-गत' भेदों में परिगणित किया है। इसके बाद 'अर्थ-शक्ति उद्भव ध्वनि' को प्रथम—"स्वतःसभवी, कवि-प्रौढोक्ति, कवि निबद्धपात्र प्रौढोक्ति" भेदों के चार (४) भेद—"वस्तु से वस्तु, वस्तु से अलंकार, अलंकार से वस्तु और अलंकार से अलंकार" को 'प्रबंध-गत, वाक्य-गत' और 'पद-गत' मान कर सेंतालीस (४७) भेद किये हैं। इस प्रकार ध्वनि के संपूर्ण इक्यावन (५१) भेद हुए। इन शुद्ध-भेदों को परस्पर एक के दूसरे के साथ मिलाने पर दो हजार छह सौ एक (२६०१) मिश्रित भेद होते हैं। इन दो हजार छ सौ एक को तीन प्रकार के संकर, यथा—'संशयास्पद, अनुग्राह्य-अनुग्राहक, एकव्यंजकानुप्रवेश (संकरों) को संसृष्टि के साथ गुणन करने पर दस हजार चार सौ पचपन (१०४५५) भेदों का कथन मिलता है, जिन्हें 'दास' जी ने अनंत संज्ञा दी है। श्री मम्मटाचार्य ने भी ध्वनि की यही संख्या अपने 'काव्य-प्रकाश' में स्वीकृत की है, यथा—

"भेदास्तदेकपंचाशत् तेषां चान्योन्ययोजने।
संकरेण त्रिरूपेण संसृष्ट्या चैकरूपया॥
वेदखाब्धिवियच्चंद्राः शरेषु युगखेंदवः॥"

अर्थात्—वेद (४), ख (०), अब्धि (४), वि त् (०), चंद्र (१), शर (५), ईषु (५), युग (४), ख (०) और इंद्र (१) के संयोग से १०४५५ की ही संख्या मानी गयी है।"

"इति श्री सकल कलाधर-कलाधरबंसावतंस श्री महाराज-
कुँमार श्री बाबू हिंदूपति बिरचिते 'काव्य-निरनए'
धुनि-भेद-बरनोनाम षष्टमोल्लासः।"

——

अथ सप्तमोल्लास:

अथ गुनीभूत ब्यंग-लच्छन बरनन जथा—

जा 'ब्यंगारथ' में कछू,[1] चमतकार नहिं होइ।
'गुँनीभूत' सो[2] ब्यंग है, मध्यँम-काव्य[3] हिं सोइ ॥ *

वि०—"अर्थात् जिस व्यंग्यार्थ में वाच्यार्थ से अधिक चमत्कार न हो, उसके बराबर वा न्यून चमत्कार हो, वाच्यार्थ प्रधान हो और व्यंग्यार्थ गौण हो, उसे 'गुणीभूतव्यंग्य' कहते हैं, जो मध्यम काव्य है। गौण का अर्थ है, अप्रधान—और गुणीभूत का अर्थ है—'गौण हो जाना - अप्रधान बन जाना। अतएव वाच्यार्थ से गौण होने का तात्पर्य है, और जैसा पूर्व में (ऊपर) कहा है कि 'व्यंग्य का वाच्यार्थ से अधिक चमत्कृत न होना। ध्वनि और गुणीभूत व्यंग्य में भेद दिखलाते हुए साहित्य-रीति के आचार्यों ने कहा है कि ध्वनि में वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ प्रधान होता है और गुणीभूत व्यंग्य में व्यंग्यार्थ से वाच्यार्थ की प्रधानता होती है, यथा--

"प्रकारोऽन्यो गुणीभूतव्यंग्यः काव्यस्य दृश्यते।
यत्र व्यंग्यान्वये वाच्यचारुत्वं स्यात प्रकर्षवत् ॥"

—ध्व० पृ० ३५,

अतएव गुणीभूत-व्यंग्य के—'अगूढ, अपरांग, तुल्य प्रधान, अस्फुट, काकुक्षिप्त वाच्य सिद्धांग, संदिग्ध और असुंदर आदि जैसा दासजी ने निम्न (नीचे) छंदों में कहा है, आठ भेद होते हैं। अगूढ़ व्यंग्य के दासजी ने दो भेद—'अर्थांतर-संक्रमित' और 'अत्यंततिरस्कृत' नाम से और माने हैं। इन्हीं को 'लक्षणामूलक' तथा 'अर्थ-शक्तिमूलक' अगूढ व्यंग्य भी कहा है, जो शास्त्र-रीति से उचित है।

अथ गुनीभूत ब्यंग-भेद कथन जथा—

सोरठा

गुँन[4] अगूढ़, अपरांग, तुल्य प्रधाँन[5] औ अस्फुट-हि[6]।
काकु[7] बाच्य-सिद्धांग, संदिग्ध-हि[8] औ असुंदर-हि ॥

पा०—१ (प्र० मु०) ब्यंगारथ में कछू। २. (सं० प्र०) स्वै। ३. (प्र०) (सं०) (प्र० मु०) (वें०) काव्यौ···। ४. (प्र० मु०) गँनि···। ५. (सं० प्र०) (प्र० मु०) (वें०) तुल्य प्रधानौं···। ६. (सं० प्र०) तुल्य प्रधानौ अस्फुटौ। ७. (प्र०) (प्र० मु०) (वें०) काकुबाच्य···। (सं० प्र०) कहुँ बाच्य-सिद्धांग। ८. (सं० प्र०) (प्र०) (प्र० मु०) संदिग्धौरु असुंदरौ (वें०) संदिग्धौ अरु सुंदरौ।

* व्यं० मं० (ला० भ० दी०) पृ० ५६।

आठों भेद[1] प्रकासु, गुँनीभूत व्यंग-हि कहौं[2]।
लगें सुहाए[3] जासु, बाच्यारथ[4] की निपुनता ॥

प्रथम अगूढ व्यंग जथा—

अर्थांतरसंक्रमित औ अति[5] जु तिरसकृत होइ।
'दास' अगूढ़े[6] व्यंग में, भेद प्रघट हैं दोइ[7] ॥

वि०—"दासजी ने पूर्वकथित अगूढ व्यंग्य (जब व्यंग्य अति स्पष्ट शब्दों में वर्णित मिले) के 'अर्थांतरसंक्रमित' (जहाँ अर्थ प्रसंगानुसार वाच्यार्थ छोड़ अन्यार्थ में संक्रमण—गमन करे) और 'अत्यंत तिरस्कृत वाच्य (जहाँ वाच्यार्थ की अति उपेक्षा की जाय) रूप दो भेद किये हैं।"

अथ उदाहरन 'अगूढ़ व्यंग[8]' जथा—

गुँनबंतँन में जासु सुत, पैहलें[9] गिन्यों न जाइ।
पुत्रबती वौ मात, तौ[10] बंध्या को ठैहराइ ॥ *

अस्य तिलक

जाकौ पुत्र निगुनी (निर्गुणी) है, वहै (माता = स्त्री) बंध्या है, यै अति स्पष्ट है, जाते अगूढ़ व्यंग है।

वि०—"अर्थात् जिसका पुत्र गुणवानों में प्रथम न गिना जाय, वह स्त्री पुत्रवती है तो वंध्या किसे कहा जाय? अर्थात् वही स्त्री (माता) वंध्या है जिसका पुत्र गुणवंतों में सबसे प्रथम न गिना जाय, यह—'वंध्या को ठैहराइ' कहकर व्यंग्य को—अगूढ़ व्यंग्य को अधिक स्पष्ट शब्दों में वर्णन किया गया है। यही अर्थांतरसंक्रमित वाच्यध्वनि है।"

अत्यंत तिरस्कृत वाच्यधुनि उदाहरन जथा—

बंधु अंध[11] अवलोकि तुअ,[12] जाँन परे सब ढंग।
बीस-बिसें यै बसुमती, जैहै तेरे संग ॥ †

पा०—१. (सं० प्र०) भाँति…। २. (प्र०) (प्र० मु०) …गनौं। (वे०) कहैं। (भा० जी०) गुनि सु भृति…। ३. (भा० जी०) (प्र०) (प्र० मु०) (वे०) सुहाई। ४. (भा० जी०) (वे०) बाच्यारथहिं की…। ५. (सं० प्र०) (प्र०) (प्र० मु०) (वे०) अत्यंत तिरस्कृत…। ६. (सं० प्र०) (वे०) (प्र० मु०) अगूढौ…। ७. (भा० जी०) सोइ। (प्र०-३) प्रघट ए सोइ। ८. (प्र०-३) अरथांतर संक्रमित अगूढ़ व्यंग उदाहरन…। ९. (वे) (प्र० मु०) पहिलौ गनौं…। १०. (वे०) तब…। ११ (प्र०) (वे०) धंधु। (भा०-जी०) बंधु…। १२. (प्र० मु०) तुव…। (वे०) तुऊ…। (प्र०-३) तौ।

* का० प्र० (भानु) पृ० १२२। व्यं० मं० (ला० भ० दी०) पृ० ५६। † का० प्र० (भा०) पृ० १२२। व्यं० मं० (ला० भ० दी०) पृ० ६०।

अस्य तिलक

हे बंधु, भलाई करि, यै पृथवी काहू के संग नाँहिं गई, यै 'अत्यंत तिरस्कृत-वाच्य धुनि रूप व्यंग है।

वि०—"दासजी की यह उक्ति संस्कृत के महाकवि 'भोजराज' (राजा भोज) द्वारा अपने चचा 'मुंज' के प्रति कही गयी इस सरस सूक्ति के सहारे रची गयी प्रतीत होती है, यथा—

"मांधाता स महीपतिः क्षितितलेऽलंकार भूतो गतः,
सेतुर्येन महोदधौ विरचितः क्वासौ दशास्यांतकः।
अन्ये चापि युधिष्ठिर प्रभृतयो यावंत एवाभवान्,
नैके नापि समं गता वसुमतं, मुंज त्वया या स्यति॥"

— सुभाषित

अस्तु, श्री भोजराज के विराट् विचार रूप बारूद को दासजी ने अति सुंदर ढंग से अपनी दोहे की दुनाली (बंदूक) में भरा है, जो कहते नहीं, देखते बनता है।"

अथ द्वितीय अपरांग व्यंग जथा—

रसवतादि बरनँन किए, रस-बिजंक[1] जे आदि।
ते सब मध्यँम काव्य हैं, गुँनींभूत कहि बादि॥

*

उपमाँदिक दृढ़ करँन कों, सब्द-सक्ति जो होइ।
तान्हू कों 'अपरांग'[2] गुँनि, मध्यँम भाँषत कोइ[3]॥ *

वि—"जहाँ कोइ रस वा भाव किसी और रस का—भाव का अंग हो जाय, अर्थात् जब व्यंग्यार्थ किसी दूसरे अर्थ का अंग हो जाय, तब वहाँ 'अपरांग' व्यंग्य कहा जाता है। अतएव यह अपरांग—"इसमें रस की अपरांगता, भाव में रस की अपरांगता, भाव में भाव की अपरांगता रसाभास की अपरांगता, भावाभास की अपरांगता, भाव-शांति की अपरांगता, भाव-समाहित की अपरांगता, भावोदय की अपरांगता, भाव-संधि की अपरांगता, भाव-शबलता की अपरांगता, वाच्यार्थ में शब्द-शक्ति-मूलक संलक्ष्यक्रम व्यंग्य की अपरांगता और अर्थ-शक्ति

पा०—१. (भा० जी) रस बिंजन…। २. (भा० जी०) अपरांगनी…। ३. (प्र०) (सं० प्र०) (वें०) (प्र० मु०) लोइ…। (प्र०-३) सोइ।

*, व्यं० मं० (ला० भ० दी०) पृ० ६१-६२।

मूलक संलक्ष्यक्रम के वाच्यांगभूत होने की अपरांगता—आदि कई प्रकार का कहा जाता है।"

अस्य उदाहरन जथा—

सँग लै सीता[1]-लच्छमँन, देति कुवलय-हिं चाव।
राजत चंद-सुभाव सौ, श्री रघुबीर-प्रभाव ॥ *

अस्य तिलक

इहाँ 'उपमा-अलंकार' सब्द-सक्ति सों दृढ करति (होत) है।

वि०—"अर्थात् दासजी ने यहाँ श्री रघुवीर के प्रभाव की उपमा 'चंद-सुभाव' से देने के लिए सीता—चंद्र-संबंध में 'शीतलता' और राम-संबंध में 'जनक-सुता' तथा 'लच्छमन'—चंद-संबंध में कलंक और राम-संबंध में भाई लक्ष्मण रूप शब्दों की शक्ति से काम लिया है, अतएव यह अपरांग नामक गुणीभूत-व्यंग्य है।"

तृतीय तुल्यप्रधान व्यंग बरनन जथा—

चमत्कार[2] में वाच्य औ व्यंग बराबर होइ।
वौ[3] ही 'तुल्यप्रधाँन' है, कहैं सुमति सब कोइ ॥

उदाहरन जथा—

माँनों[4] सिर-धरि लंकपति, श्री भृगुपति की बात।
तुम करि हौ तौ करहिंगे, वे हू[5] द्विज उतपात ॥†

अस्य तिलक

इहाँ यै व्यंग है कि तुम्ह (लंकपति-रावण) हूँ द्विज औ परसराँम-हूँ द्विज (ब्राह्मण) सो मारेंगे, यै वाच्य-बराबर व्यंग भयौ, अर्थात् वाच्यार्थ ते व्यंग्यार्थ में अधिक चमत्कार नाँहीं—बराबर है।

पा०—१. (वें० (प्र० मु०) सीत- हि, लच्छमन-हि··· । (सं० प्र०) सीता-लच्छन हिं··· । २. (सं० प्र०) (प्र० मु०) (वें०) चमत्कार में व्यंग अरु वाच्य...। ३. (प्र० मु०) तुल्य प्रधान सुव्यंग है, कहै सकल कवि लोइ। ४. (सं० प्र०) (वें०) (प्र० मु०) मानी...। ५. (वें०) वाऊ...।

*, व्यं मं० (ला० भ०) पृ० ६३।

पुनः उदाहरन कबित्त जथा—

आभरँन-साज बैठौ, ऐंठौ जिन भौंहैं लखि,[1]
लालँन कहौगे प्यारी कला जैसी चंद की।
सुंदरि सिँगारँन बनाइबे के ब्यौंतँन[2]
तिलोत्तमाँ-सो ठैहरै हौं सोंहैं सुखकंद की॥
'दास' बर आँनन उदास में हूँ[3] देखिकें, कहौगे
ज्यों कँमल सो है बौंनो नँद-नद की।
यौं-हीं परखति[4] जात उपमाँ की पंगति,[5] हौं
संगति अज-हुँ तजौ माँन मतिमंद की॥

अस्य तिलक

इहाँ नायिका कौ माँन-छुड़ाइबौ बाच्य औ वाकी सोभा बरनिबौ ब्यंग दोऊ प्रधाँन है, अर्थात् दोनों बराबरि हैं, ताते 'तुल्य प्रधाँन गुनीभूत ब्यंग है।

अथ चतुर्थ असफुट ब्यंग बरनन जथा—

जाकी[6] ब्यंग कहे बिन, ब्यंग[7] न आवै चित्त।
जौ आवै तौ सरल[8] ही, 'असफुट' सोई मित्त॥

अस्य उदाहरन जथा—

देखें दुरजँन संक[9] गुरुजँन संकँन सौं,
हियौ अकुलात दृग होत[10] ना तुखित हैं।
अँनदेखें होत[11] मुसकाँनि-बतराँनि मृदु,
बाँनिऐं तिहारी दुखदाँनि बिमुखित हैं।
'दास' धँनि ते हैं जे बियोग-ही में दुख पावें[12],
देखें प्राँन-पी के होत जिय में सुखित हैं।
हमें तौ तिहारे नेह एक-हूँ न सुख-लाहु[13]
देखें हूँ दुखित, अँनदेखें हूँ दुखित हैं॥*

पा०—१. (प्र०—३) लाल, लखि कें कहौगे...। २. (भा० जी०) (वें०) ब्यौंत में...। ३. (भा० जी०) ..जु कै कहे-ही, जो कमँल...। (वें०) . जु देखिकें कहे-ही जो, कँमल...। ४. (प्र० मु०) परसति...। ५. (प्र० मु०) पाँतिन्ह हाँ...। ६. (व०) जाको...। ७. (प्र०मु०) बेगि...। (प्र०—३) जहाँ न ब्यंग कहे बिन, ब्यंग न...। ८. (प्र०—३) सहज-ही। ९. (प्र० मु०) संग...। (प्र०—३) देखें गुरजँन-संग दुरजँन-संकँन सौं..। (रा० स०) देखत दुर्जन संग गुरजँन-संकनि सौं...। १०. (सं० प्र०) होती...। ११. (प्र० मु०) हूँ ते...। १२. (वें०) देखौ...। १३. (प्र०—३) लाल...।

*, व्यं० मं० (ला० भ०) पृ० ६४।

अस्य तिलक

इहाँ (विशेष ध्यान देने पर परकीया) नायिका निसंक (एकांत में) मिलबे के स्थान की बिनै करति है, सो 'अस्फुट ब्यंग' है ।

वि०—"अस्फुट व्यंग —जहाँ व्यंग्य कठिनता से दिखाई पड़े" कहा जाता है। यहाँ "देखें हूँ दुखित, अँनदेखें हूँ दुखित हैं" का कारण स्पष्ट नहीं, विशेष ध्यान देने पर ही जाना जाता है कि यहाँ नायिका परकीया कहीं वा कभी एकांत में मिलने के लिए विनय कर रही है, यह अस्फुट है, कठिनता से जाना जाता है।

दासजी का यह छंद 'काव्य-प्रकाश' (संस्कृत) के पाँचवे उल्लास श्लोक-संख्या १२८ वें का सुंदर अनुवाद है। यथा—

"अदृष्टे दर्शनोत्कंठा दृष्टे विच्छेद भीरुता।
ना दृष्टेन न दृष्टेन भवता लभ्यते सुखम् ॥"

अस्तु, आप इस अल्प उक्ति को, जो अपने कहने के ढंग में सुंदर है, विशद बनाते हुए वह बाँकपन न ला सके जो संस्कृत सूक्ति में हैं। यह कार्य तो कवि विहारी ने ही किया है, उसने भी दो लाइन के इस (अनुष्टुप) छंद को अपनी दोहे की दुनाली में भरा है, और खूब भरा है, यथा—

"इन दुखिया अँखियाँनि कों, सुख सिरज्यौ ही नाँहिं।
देखत बनें न देखते, बिन देखें अकुलाँहिं ॥"

— सतसई

अतएव विहारी के इस दोहा रूप रत्न को भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र ने स्व-निर्मित कुंडलिया रूप कुंदन (स्वर्ण) से कलित—खचित किया है, यथा—

"बिन देखें अकुलाँहिं, बिरह-दुख भरि-भरि रोवें।
खुली रहैं दिन-रैन, कबहुँ सपने नहिं सोवें ॥
'हरिचंद' संजोग-बिरह-सम दुखित सदाँ-ही।
हाइ, निगोड़ी अँखियँन कों सुख सिरज्यौ-हि नाँही ॥"

—भारतेंदु-ग्रंथावली भाग २

पंचम काकुछिप्त ब्यंग बरनन जथा—

सही बात जहँ[१] काकु ते[२], जहाँ नाँहिं दरसाइ[३]।
'काकुछिप्त[४]' सो ब्यंग है, जाँन लेउ कबिराइ ॥

पा०—१. (भा० जी०) ते…। (वें०) सही बात ते काकु कों। (प्र० मु०) साँच बात कों काकु ते…। ३. (वें०) (प्र०) करि जाइ। (प्र०-२) कहि जाइ। ४. (वें०) काकखिप्त…।

अस्य उदाहरन जथा—

जहँ[1] मँन रँमें सु रैंन-दिंन, तहीं रहौ करि भौंन।
इँन बातँन पै प्राँन-पति मौंन-ठाँनती हौं न॥ *

अस्य तिलक

इहाँ नायिका मौंन किएं-ही है, नाँहिं कियौ कथँन ते 'काकु' है।

वि०—"सही बात को मुकरना 'काकुक्षिप्त गुणीभूत व्यंग्य' कहा जाता है। काकु एक प्रकार की उक्ति है—कहने का ढंग है, जिसके द्वारा कहे हुए शब्दों का अर्थ वक्ता के कथन के साथ-ही वाच्यार्थ के विपरीति अर्थ में परिणत हो जाता है। यह व्यंग्य इसलिए गौण है कि सहज-ही तत्काल जान लिया जाता है, जैसा कि 'दासजी' के उदाहरण में—'मान नहीं करती···कहने पर भी उसा (नायिका) का मान सहज-ही भाषित हो रहा है। इसी प्रकार धीरा नायिक का उदाहरण 'रघुनाथ' कवि का भी सुंदर है, यथा—

"बहु नाइक हौ, सब लाइक हौ, सब प्यारिन के रस कों लहिऐं।
'रघुनाथ' मनें नहिं कीजै तुम्हें, जिय-बात जु है सु सही कहिऐ॥
यै माँगति हौं पिय-प्यारे सदाँ, मुख देखिबे कों हमें चहिऐ।
इतने के लिऐं इत आईऐ प्रात, रुचै जहँ रात तहाँ रहिऐ॥"

—सुंदरी-सरोज (मन्नालाल)

षष्ठ बाच्य-सिद्धांग बरनन जथा—

जा लगि कीजतु ब्यंग सो[2] बात-हि में ठैहरात।
कहत 'बाच्यसिद्धांग' कों[3] अर्थ सुमति अवदात[4]॥ †

अस्य उदाहरन जथा—

बरखा-काल न लाल गृह-गौंन[5] करौ किहि हेत।
ब्याल बलाहक बिष-बरखि, बिरहिंन कौ जिय लेत॥ ‡

अस्य तिलक

इहाँ बिष जल-हूँ कों कह्यौ, औ ब्याल-हूँ कों कह्यौ, ताते 'बाच्य सिद्धांग' है।

वि०—"जहाँ व्यंग्य वाच्यार्थ की सिद्धि करता हो वहाँ वाच्य-सिद्धांग व्यंग्य कहा जाता है। इसके संस्कृत के आचार्यों ने वाच्यसिद्धांग" और 'परवाच्य-

पा०—१. (प्र०) (प्र० मु०) (व्यं० मं०) जहाँ रमें मन रैंन-दिन···। (सं० प्र०) (वें०) जहीं मन-रँमें···। २. (सं० प्र०) सोइ···। ३. (प्र०) (प्र० मु०) तिहिं। ४. (सं० प्र०) औदात। ५. (वें०) गौंन···।

* †, ‡ व्यं० मं० (ला० भ० दी०) पृ० ६५।

सिद्धांग' नाम से दो भेद किये हैं। दासजी का यह उदाहरण 'वाच्य-सिद्धांग' का है, क्योंकि यहाँ बादल को सर्प बनाया गया है और इन दोनों (बादल और सर्प) के गुणों में समता लाने के लिये 'विष' शब्द का प्रयोग किया गया है, जिससे बादल का सर्प होना सिद्ध हो और यह अर्थ तब तक सिद्ध नहीं होता, जब तक जल में विष की व्यंजना न हो। विष का अर्थ तरल होने के कारण जल बतलाकर अभिधा रुक जाती है, और व्यंजना से विषका व्यंग्यार्थ जल रूप 'जहर' प्रतीत होने पर वाच्यार्थ की सिद्धि हो जाती है, क्योंकि विष सर्प में होता है, बादल के संबंध में विष का अर्थ जल होगा। अतएव यह विष रूप जल ही बादल का सर्प होना सिद्ध करता है, विरहणी का दुःख व्यंग्य है। अर्थात् मेघ रूप भुजंग का विष (जल) अत्यंत विषम है। वह वियोगिनियों को मारने वाला है, मरण का कारण है, शरीर को जला देता है। दासजी का यह दोहा संस्कृत 'काव्य-प्रकाश' की इस सरस सूक्ति का अनुवाद है, यथा—

"अभिमरतिमलसहृदयतां प्रलयं मूर्च्छां तमः शरीरसादम्।
मरणं च जलद भुजगजं प्रसह्य कुरुते विषं वियोगिनीनाम्॥"

अस्तु, यहाँ भी विष शब्द का अर्थ हलाहल ही है, जो भुजंग रूप वाच्यार्थ की सिद्धि का उपकारक है।"

द्वितीय भेद 'परवाच्य' उदाहरन जथा—

स्याँम-संक पंकज-मुखी, जकै निरखि निसि-रंग।
चौंकि भजै, निज छाँह तकि, तजै न गुरुजँन-संग॥

अस्य तिलक

इहाँ स्याँमता की संका विजित होत है, सो नायक की संका छोरि कें प्रयोजन नहिं नायक परबाच्यसिद्धांग है।

वि०—"अर्थात् रात्रि, परछाँही और नायक (श्रीकृष्ण) तीनों का वर्ण श्याम है, अस्तु अपनी परछाँही और काली रात्रि को देखकर मुग्धा नायिका का भयभीत होना 'परवाच्य-सिद्धांग गुणीभूत व्यंग्य' है। किसी कवि का निम्न-लिखित छंद भी इस व्यंग्य का सुंदर उदाहरण हो सकता है, यथा—

"कोकिल कूंक सुँनें उँमगे मन, और सुभाइ भयौ अब ही कौ।
फूले लता-द्रुँम, कुंज सुहात, लगै अलि-गुंजन भाँमतौ जी कौ॥

कारँन कोंन भयौ सजनी, ये खेल लगै गुड़ियाँन कौ फीकौ।
काहे ते साँवरौ-अंग छबीलौ, लगै दिन द्वैक ते नेंनँन नींकौ॥"
—सुंदरी-तिलक (भारतेंदु)

सप्तम संदिग्ध व्यंग्य बरनन जथा—

होइ अर्थ संदेह में, इन्हें[1] न कोऊ दुष्ट।
सो संदिग्ध' प्रधाँन है, व्यंग कहें कबि पुष्ट॥

उदाहरन जथा -

जैसें चंद-निहारिकें, इकटक तकत चकोर।
त्यों मनमोंहन तकि रहति[2] तिय-बिंबाधर-ओर॥ *

अस्य तिलक

इहाँ सोभा-बरनिबौ औ चूमिबे की अभिलाषा दोऊ संदिग्ध प्रधाँन हैं।

वि०—"जहाँ प्रधान अर्थ संदेह-विशिष्ट हो, अर्थात् ऐसा निर्णय न हो सके कि यहाँ वाच्यार्थ में अधिक चमत्कार है अथवा व्यंग्यार्थ में, वहाँ संदिग्ध-प्रधान व्यंग्य कहा जाता है। दासजी के इस उदाहरण में नायिका का शोभा वर्णन नायक-हृदय में चुंबन की प्रबल इच्छा दोनों ही और नायक-हृदय की प्रबल चुंबन-इच्छा का सखि-प्रति-सखि की उक्ति में संदिग्ध (यह कि वह) रूप में वर्णन है, जिससे संदिग्ध-प्रधान व्यंग्य है।"

अष्टम असुंदर व्यंग्य बरनन जथा—

व्यंग कढ़ै बहु जतँन[3] पै, बाच्य-अरथ-संचार।
ताहि 'असुंदर कहत कबि, करिकें हिऐं बिचार॥

उदाहरन जथा—

बिहँग-सोर सुँन-सुँन समझि, पिछबारे[4] के बाग।
जाति परी पियरी खरी, प्रिया भरी-अँनुराग॥ †

पा०—१. (प्र०) (प्र० मु०) (वें०) पै नहिं कोऊ···। २. (प्र०) (प्र० मु०) (वें०) (व्यं० मं०) रहे··। ३. (प्र०) (वें०) (प्र० मु०) तर्कँन पै···। ४. (वें०) (प्र० मु०) पछवारे की···।

*, †, व्यं० मं० (ला० भ० दी०) पृ० ६६, ६७।

अस्य तिलक

नयक सों सहेट (मिलवे कौ स्थान) बदि राख्यौ हो, सो तहाँ (नायक कों) आयौ यै व्यंग कह्यौ सो बाच्यारथ ही है, ताते चारु (सुंदर) नाहीं।

वि०—"जहाँ वाच्यार्थ, व्यंग्यार्थ की अपेक्षा अधिक सुंदर-चमत्कृत हो वहाँ उक्त व्यंग्य होता है।

दासजी की यह उक्ति 'अनुशयाना नायिका' के प्रति है, अनुशयाना नायिका के लक्षण में रीति-शास्त्रकारों का कहना है--

"जो तिय सुरत-सँकेत में रमँन-गमँन अँनुमाँनि।
व्याकुल होइ सु तीसरी-अँनुसयनाँ पैहचाँनि॥"

अतएव दासजी की यह उक्ति—"बिहँग-सोर०" इस संस्कृत सूति का अनुवाद है, जिसे निम्न प्रकार से श्री आचार्य मम्मट ने अपने 'काव्य-प्रकाश' में उल्लेख किया है, यथा—

"वानीरकुंजोड्डीनशकुनिकोलाहलं शृण्वंत्याः।
गृहकर्मव्यापृताया वध्वा सीदन्त्यंगानि॥"

संस्कृत की यह सूक्ति सुंदर है, पर दासजी ने नायक के पास "गृहकर्म-व्यापृताया वध्वा"—गृह कार्य में अति तल्लीन होने के कारण तरुणी के वहाँ (संकेत स्थान) न जाने के कारण का स्पष्ट उल्लेख न कर अपनी सूक्ति में सुंदरता अधिक ही बढ़ा दी है।

अनुशयाना नायिका का उदाहरण कविवर "शंभु" ने भी, जिसे भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र ने अपने 'सुंदरी-तिलक' में और कविवर 'मन्नालाल' ने अपने 'सुंदरी-सरोज' में संमिलित किया है, अधिक सुंदर है, यथा—

"दूती सँकेत गई बँन कौं बदि, प्यारी पगी हरि के गुँन-गाथ में।
गाय-दुहावँन कों कहि 'संभु', खरी खिरका जु सखीन के साथ में॥
केलि के कुंज बजी मुरली, बुधि गोप-बधू की बँधी ब्रजनाथ में।
दोंहनीं हाथ की हाथें रही, न रह्यौ मन-मोंहनी कौ मन हाथ में॥"

अथ अवर काव्य जथा—

इहि बिधि मध्यम काव्य के, जाँन लेहु ब्यौहार।
जितने[1] हू सब भेद हैं, तितनी[2] धुनि-बिस्तार॥

पा०—१. (भ० प्र०) तितने हू...। (वें०) तितने ही ...। (प्र० मु०) तितने या में...। २. (वें०) (प्र०) जितने...। (प्र०—२) जितनी...।

बचनौं थिर[1]-रचनौं जहाँ, ब्यंग न नेंक लखाइ ।
सरल जौंन तिहिँ काव्य कौं 'अवर'[2] कहैं कबिराइ ॥

अवर काव्य-भेद जथा—

अवर[3]-काव्य-हू में करें, सुकबि[4] सुघरई मित्र ।
मँन-रोचक कर देति हैं, बचँन-अर्थ के[5] चित्र ॥

वाच्य-चित्र[6] उदाहरन जथा—

चंद चतुरांनन चखँन कै,[7] चकोरँन कों,[8]
चंचरीक, चंडी-पति चित्त-चोंप कारिऐ ।
चहूँ चक[9] चारों[10] जुग चरचा चिरौंनी चलै,
'दास' चारों[11] फल देति पल-भुज चारिऐ ॥
चोंप दीजै चारु चरँनन चित्त चाँहिबे की,
चेरिनीं कौ चेरौ चींन्हीं[12] चूकन[13] निवारिऐ ।
चक्रधर चक्कवे चिरैया[14] के चढ़ैया चिंत,[15]
चूहरी कों चित्त ते चपल चूरि डारिऐ ॥

वि०—"जहाँ केवल वाच्यार्थ की प्रधानता होती है वहाँ "अवर' (अश्रेष्ठ) काव्य कहा जायगा, जिसके 'वाच्य-चित्र' और अर्थ-चित्र दो भेद होते हैं। इसे शब्द चित्र भी कहते हैं। दासजी ने यहाँ चकार की आवृत्ति से अनुप्रास रूप सुंदरता के साथ शब्दालंकार प्रदर्शित किया है।"

अर्थ-चित्र उदाहरन जथा—

नीर-बहाइ कें नैंन दोऊ, मिलनाई[16] की खेह करें सँनि गारौ ।
बातें कठोर लुगाई करें, अपनी-अपनी दिसि डेल[17] सौ डारौ ॥

पा०—१. (सं० प्र०) (वें०) (प्र० मु०) बचनारथ...। २ (वें०) और...। ३. (भा० जी०) (वें०) और .। ४. (भा० जी०) (वें०) (प्र० मु०) कबि सुघराई...। (प्र०—३) सुघराई कबि मित्र। ५. (वें०) (प्र० मु०) कों...। ६. (सं० प्र०) अथ अवर-काव्य चित्र कबित्त...। ७. (सं० प्र०) (वें०) (प्र० मु०) के...। ८. (सं० प्र०) (वें०) के...। ९. (भा० जी०) (वें०) चक्र...। १०. (सं० प्र०) (प्र० मु०) चारयों...। ११. (वें०) (सं० प्र०) (प्र० मु०) चारयौ...। १२. (वें०) (प्र० मु०) चीन्हि...। १३. (वें०) चूकँन...। (प्र०) (सं० प्र०) (प्र० मु०) चूक कौं...। १४. (भा० जी०) रचैया...। (प्र० मु०) चिरी के...। १५. (भा० जी०) (वें०) (प्र० मु०) चिंता...। १६ (भा० जी०) मिल नाँईं। (सं० प्र०) (वें०) (प्र० मु०) मलिनाई...। १७ (भा० जी०) रेत...। (वें०) ढेलु...।

'दास' के ईस करें न मँनें,[1] जहँ बेरी मँनोज हकूमत बारौ।
छाती के ऊपर ब्याधि कौ[2] भौंन उठावत[3] राज-सँनेह तिहारौ ॥

वि०—"दासजी ने यहाँ व्याधि रूप भवन को उठाने-बनाने वाले स्नेह रूप राजमिस्त्री (कारीगर) का वर्णन कर 'अर्थ-चित्र' की रचना रची है।"

"इति श्री कलाधर कलाधर बंसावतंस श्री मन्महाराजकुँमार
बाबू हिंदूपति बिरचिते 'काव्य-निरनए' गुनींभूतादि
ब्यंग बरननोनाम सप्तमोल्लासः ॥"

—

पा०—१. (सं०—प्र०)...करै न मनोज। (भा० जी०)...कौ ईस के रैन मनोज...। २. (भा० जी०) (प्र० मु०) के...। ३. (वें०) (प्र० मु०) उठावतो...।

अथ अष्टमोल्लासः

उपमादि अलंकार बरनन जथा--

अलंकार-रचनौं बहुरि, करों सहित बिस्तार ।
एक-एक के[1] होत हैं,[2] भेद[3] अँनेक प्रकार ॥

*

कबि-सुघराई कों कहें, प्रतिभा सब कबिराइ ।
ता[4] प्रतिभा के होत हैं, तीन प्रकार सुभ भाइ[5] ॥

*

सब्द-सक्ति, प्रौढोक्ति औ, सुतसंभवी चारु ।
अलंकार छबि पावते,[6] कीन्हें त्रिबिध प्रकारु ॥

*

बड़े छंद में एक-ही,[7] भूषँन कौ बिस्तारु ।
करों घँनेरौ धरँम भँनि,[8] कै[9] माला सजि चारु ॥

*

अवर[10] हेतु नहिं केवलै-हिं,[11] अलंकार निरबाहि ।
कबि, पंडित गँनि लेति हैं, अवर[12] काब्य में ताहि ॥

*

रुचिर हेतु रस कौ बहुरि, अलंकार-जुत होइ ।
चमत्कार जन[13] जुक्ति है, उत्तम कबिता सोइ ॥

पा०—१. (प्र०) (सं० प्र०) (वें०) (प्र० मु०) पर । २. (प्र० मु०) जहें··· । ३. (सं० प्र०) जुक्ति··· । ४. (वें०) (प्र० मु०) तिहिं (तहि) प्रतिभा को होत··· । (सं० प्र०) तिहिं प्रतिभा कों कहतु हों··· । (भा० जी०) सो··· । ५. वेंकटेश्वर की प्रति में—'अरय तिलक' रूप में यह विशेष लिखा है—'औ प्रतिभा जो है ताकों ग्रंथ-कर्ता तीन प्रकार की कह्यो । एक प्रतिभा-सब्द-सक्ति त होति है, दूसरी प्रतिभा कवि-प्रौढोक्ति करिकें होति है, तीसरी प्रतिभा सुत-संभवी जाँनिऐं । ६. (भा० जी०) (वें०) (प्र० मु०) पावतो, कीन्हों·· । ७. (भा० जी०) एक कहि,··· । (वें०) छंद-भरे में एक-ही··· । ८. (भा० जी०) (वें०) मनि··· । (प्र० मु०) में ·· । (प्र०-३) जो··· । (सं० प्र०) (ली०) गँनि··· । ९. (प्र० मु०) इक··· । १०. (वें०) और··· । ११. (प्र०) (वें०) (प्र० मु०) केवलै । १२. (वें०) और··· । १३. (प्र०) (प्र० सं०) (वें०) (सं० प्र०) गुँन-जुत··· ।

अपर मध्यम काव्य जथा—

अलंकार-रस-बात गुँन,[1] ए तीनों दृढ़ जाहि।
अबर[2] ब्यंग कछु नाँहिं तौ मध्यँम कहिऐ[3] ताहि॥

छप्पय जथा—

उपमाँ पूरँन अर्थ,[4] लुप्त[5] उपमाँन, अनन्वइ।
उपमेयोपमा,[6] प्रतीप, स्रौती उपमाँ चइ॥
पुनि दिस्टांत बखाँनि, जाँनि अरथांतरन्यासहि।
बिकसुर अरु निदरसनाँ,[7] तुल्यजोगिता प्रकासहि॥
गँनि लेहु सु प्रतिबस्तूपमाँ, अलंकार बारह बिदित।
उपमाँन औरु उपमेइ कौ, है बिकार समझौ[8] सुचित॥

वि०—"इस आठवें उल्लास से दासजी ने 'ध्वनि' के अनंतर अलंकारों का वर्णन प्रारंभ किया है, जो अठारवें उल्लास तक गया है। उपमालंकार 'राजशेखर' के मत से 'काव्य-संपदा का शिरोरत्न है, क्योंकि अलंकारों में सादृश्य-मूलक अलंकार-ही प्रधान हैं। सादृश्य-मूलक अलंकारों में—उपमेयोपमा, अनन्वय, प्रतीप, रूपक, स्मरण, भ्रांतिमान्, संदेह, अपन्हुति, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, तुल्ययोगिता, दीपक, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टांत, निदर्शना, व्यतिरेक, सहोक्ति, और समासोक्ति--आदि सभी अलंकार एक उपमा पर-ही निर्भर हैं। सादृश्य-ही उपमा है, इस लिये सभी साहित्य-सृजेताओं—अलंकार-आचार्यों ने 'उपमा' को अनेक अलंकारों का उत्थापक कहा है और यही दासजी ने इस छप्पय रूप छोटे-से छंद में वर्णन किया है। अतएव दासजी-द्वारा कहे गये इन अलंकारों में सादृश्य कहीं उक्ति-भेद से और कहीं व्यंग्य से जाना जाता है। उपमा के प्रति 'चित्र-मींमासाकार' की यह उक्ति कितनी सुंदर और अर्थ युक्त है—

"उपमैषा शैलूषी संप्राप्ता चित्रभूमिका भेदात्।
रंजयति काव्य रंगे, नृत्यती तद्विदां चेतः॥"

अर्थात् काव्य की रंगभूमि पर अनेक भूमिका-भेदों से—विविध रूपों से, उपमा रूप नटी संपूर्ण काव्य-मर्मज्ञों का मनोरंजन करती है।"

पा०—१. (भा० जी० (वें०) (प्र०-मु०) गुँनि...। २. (वें०) और...। ३. (प्र० मु० ' कविता आहि...। ४. (सं० प्र०) अर्थौ...। ५. (भा० जी०) लुप्तोपमा...। ६. (भा० जी०)(वें०)(प्र० मु०) उपमेयोम औ। ७ (वें० मु०) बिकसुरौ निदरसँन...। (सं० प्र०) बिकस्वरौ निदर्सनाँ...। ८. (सं० प्र०) सँमुझिय...।

औपम्यमूल इस सादृश्य के दो भेद—सादृश्य-वाच्य और सादृश्य-गम्यमान्, अर्थात् छिपा हुआ सादृश्य और माने गये हैं। सादृश्य-वाच्य अलंकार—'उपमा, उपमेयोपमा, अनन्वय, असम, स्मरण, रूपक, परिणाम, संदेह, भ्रांति, उल्लेख, अपन्हुति, उत्प्रेक्षा (केवल भेदक, रूपक और संबंध) तथा प्रतीप और इसी प्रकार 'सादृश्य गम्यमान् अलंकार—'तुल्ययोगिता, दीपक, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टांत, उदाहरण, निदर्शना, व्यतिरेक, समासोक्ति, अप्रस्तुतप्रशंसा, पर्यायोक्ति, अर्थांतरन्यास, व्याजस्तुति, आक्षेप, विकस्वर, सहोक्ति तथा विनोक्ति' कहे जाते हैं। अस्तु, दासजी ने इन सादृश्य वाच्य और सादृश्य गम्यमान् उभयात्मक अलंकारों में मुख्य बारह अलंकारों को प्रधान मान प्रथम वर्णन किया है।

उपमा का प्रथम उल्लेख संस्कृत से लेकर विविध भाषाओं के सभी अलंकाराचार्यों ने किया है। यह क्यों? इसके लिये कहा जाता है कि वह अनेकानेक अलंकारों में मूल-रूप से रहकर काव्य-सौंदर्य को अधिकाधिक सहायता पहुँचाती रहती है, जैसा अलंकार-सर्वस्व के कर्त्ता कहते हैं—

"उपमैवानेकप्रकार वैचित्र्येणानेकालङ्कारबीजभूता।"

यही नहीं, यदि सत्यरूप से कहा जाय तो 'उपमा' कवि की वह भव्य दृष्टि है जिससे कवि को चराचर जगत का मधुर दर्शन प्राप्त होता रहता है। उपमा-साधना तो कवि की समदृष्टि-साधना है, जिससे सौंदर्य की सिद्धि होती है और यही उपमा का महा रहस्य है।

प्रथम उपमा लच्छन जथा—

जहँ[1] उपमाँ-उपमेइ है, सो उपमाँ-बिस्तार।
होत आरथी-स्रौतियौ, ताके[2] द्वै जु प्रकार॥

*

बरननींय उपमेइ है, सँमता उपमाँ जाँन।
जो ह्वै आई आदि ते, सो 'आरथी' बखाँन॥

वि०—"जब दो पदार्थों के समान-धर्मों को उपमान-उपमेय-भाव से कथन किया जाय—किसी प्रकार की भिन्नता प्रकट न करते हुए सादृश्य दिखलाया जाय, तब वहाँ 'उपमा' अलंकार कहते हैं। इस उपमा के श्रौती (शाब्दी) और आर्थी नाम से दो भेद होते हैं।"

पा०—१. (भा० जी०) जहाँ…। २. सं० प्र०) (प्र०) ताको……। (वें०) (प्र० मु०) ताको दोइ…।

अथ प्रथम आर्थी उपमा जथा—

सँमता, सँम, बाचक, धरँम, बरँन च्यारि इक ठौर।
ससि-सौ निरमल मुख जथा 'पूरँन उपमाँ' गौर[1] ॥

*

ससि समता, सौ सँम बचँन, निरमलता है धर्म।
बरनि सु मुख इहिं भाँति सौं, जाँनौं च्यारौं मर्म ॥

वि०—"जहाँ समता (जिसकी समता दी जाय) सम, वाचक और धर्म, अर्थात् उपमेय, उपमान्, वाचक तथा धर्म इन चारों का वर्णन किया जाय वहाँ पूर्णोपमा होती है, जैसा कि दास जी ने इन दोहों में वर्णन किया है। यहाँ मुख उपमेय, शशि उपमान, सौ वाचक तथा निर्मलता धर्म-आदि चारों का कथन है अतः पूर्णोपमा है।"

उदाहरन जथा—

संपूरँन उज्जल उदित, सीतकरँन अँखियाँन।
'दास' सुखद मँन कौं प्रिया-आँनन चंद-समाँन ॥

वि०—"यहाँ दासजी ने प्रिया के आनन को चंद्र-समान वर्णन करते हुए-अति उज्वल, शीतल कारक और सुख का देने वाला कहते हुए बहु धर्म से संयुक्त पूर्णोपमा का उदाहरण प्रस्तुत किया है।"

अन्य उदाहरन 'कबित्त' जथा—

कढ़ि कें निसंक पैठि जाति[2] अरि-झुंडँन में,
लोगँन कौं देखि 'दास' आँनद[3]-पगति है।
दौरि, दौरि जाहि[4]-ताहि लाल करि डारति है,
अंक[5] लगि कंठ-लागिबे कौं उँमगति है ॥
चँमकि-झँमकि बारी, ठँमकि-जँमकि बारी,
दँमकि[6]-तँमकि बारी जाहिर जगति है।

पा०—१. (रां० प्र०) ठौर। इससे आगे वेंकटेश्वर की प्रति में 'अस्य तिलक' शीर्षक के अंतर्गत—'इहाँ 'ससि' उपमाँन, सौ बाचक, निरमल धरंम, मुख उपमेय ए चारों हैं, ताते पूर्णोपमा है" आदि और लिखा मिलाता है जो नीचे के दोहे में आ गया है। २. (वें०) जाती ··। (वें०)(भा० जी०) झुंड-झुडँन में। (र० कु०) रुंड·····। ३. (भा० जी०) आँनन···। ४. (वें०) जहीं-तहीं ।५. (रां० प्र०)(वें०)(प्र०-मु०) अग···। (भा० जी०) ब्यंगि···। ६. (वें०)(र० कु०) रँमकि···।

रौंम, असि रावरे की रँन में, नरँन में,
निलज बनिता-सी होरी खेलँन लगति[1] है ॥*

वि०—"दासजी कहते हैं—म्यान-रूप घर से निकल कर राम-राजा की तलवार अरि रूप मर्दों (पुरुषों) के झुंडों में पैठती हुई अनेक मुखों से प्रेम करती है। जिसे पाती है दौड़ कर लाल करती हुई अंक-लग कर कंठ से लगने की चाहना करती है, क्योंकि उसमें बारवनिता (वेश्या) जैसे विविध गुण (धर्म)—चमकना, झमकना, ठमकना, जमकना, दमकना और तमकना आदि प्रत्यक्ष दिखलाई पड़ते हैं।"

दास जी की यह रचना 'चंद्रालोक' (संस्कृत) की निम्न-लिखित सूक्ति से सुरभित है, जैसे—

"कामिनीव भवत्खड्ग लेखाचारु करालिका।
काश्मीरसेकारक्तांगी शत्रुकंठांतिकाश्रिता ॥"
—चंद्रालोक ५, १०।

तथा रसकुसुमाकर के संग्रहकर्त्ता ने 'रस-निरूपण' के अंतर्गत और सूक्ति-सरोवर के संग्रहकर्त्ता ला० भगवानदीन ने तलवार वर्णन के प्रसंग में संग्रहीत किया है।"

अथ मालोपमा लच्छन[2] जथा—

कहुँ अँनेक की एक-ही[3] कहूँ[4] जु एक अँनेक।
कहूँ अँनेक-अँनेक की, 'मालोपमाँ' बिबेक ॥

वि०—"जहाँ एक-ही उपमेय की अनेक उपमानों से सादृश्यता—बराबरी दिखलायी जाय, अर्थात् उपमानों की माला-सी पिरोयी जाय, वहाँ 'मालोपमा' कही जाती है। यह मालोपमा - एक की अनेक धर्मों से, अनेक को एक धर्म से, भिन्न-भिन्न धर्मों से, केवल एक धर्म से और अनेक की अनेक धर्मों से आदि पाँच प्रकार की कही गयी है। इसी प्रकार अलंकार-आचार्यों ने इसे 'अभिन्नधर्मा (जब संपूर्ण उपमानों का एक-ही धर्म कहा जाय), भिन्नधर्मा (जहाँ प्रत्येक उपमान का भिन्न-भिन्न धर्म कहा जाय) और लुप्तधर्मा (जहाँ धर्म न कहा

पा०—१. (सं० प्र०) चलति···। २. (वें०) अथ पूर्णोपमा लक्षण। ३. (बें०) (भा० जी०) (प्र० मु०) है। ४. (सं० प्र०) (वें०) कहुँ एक की अँनेक। (भा० जी०) (प्र० मु०) कहुँ है एक अँनेक।

* र० कु० (अयोध्या) पृ० ११,१२। सू० स० (ला० भ० दी०) पृ० ४००,३६।

आय) नामक तीन प्रकार की वर्णन की है। कोई-कोई इसके 'एक धर्मा' और 'अनेक धर्मा' अथवा भिन्नधर्मा नाम से दोही भेद मानते हैं, किंतु दासजी ने पूर्व-लिखित पाँचों प्रकार की 'मालोपमा' का यथाक्रम वर्णन किया है।"

उदाहरन अँनेक की एक ते[1] जथा—

नेंन, कँमल-दल से बड़े, मुख प्रफुलित ज्यों कंजु।
कर-पद कोंमल कंज-से[2], हियौ कंज-सौ मंजु॥

वि०—"यहाँ दासजी ने नेत्र, मुख, कर, पद और हृदय को कमल पुष्प के विविध अवयवों—दल, प्रफुल्लित, कोमल और मनोहरता आदि की समता दी है, इसलिये 'अनेक की एक से मालोपमा है।"

एक की अँनेक ते लच्छन[3] जथा—

जहाँ एक की अँनेक तहँ भिन्न धरँम ते जोइ।
कहूँ एक-ही धरँम ते, 'पूरँन-माला' होइ॥

भिन्न धरँम की मालोपमा जथा—

मरकत से दुतिवंत हैं, रेसँम से मृदु बाँम।
निपट[4] महीन मुरारि-से, कच काजर से स्याँम॥

वि०—"दासजी ने 'एक को अनेक' रूप मालोपमा के 'भिन्नधर्मा' और 'एक धर्मा' दो रूपों का कथन किया है। अतः आपने प्रथम 'भिन्नधर्मा' रूप मालोपमा का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए "कामिनी के कचों—बालों को मरकत (नील) मणि से द्युतिवान्, रेशम से मृदु-कोमल, मुरारि (कमल-तंतु) से बारीक और काजल से भी श्याम (काले) रूप विभिन्न धर्मों से युक्त उपमा दी है।" अतः भिन्नधर्मा मालोपमा है।"

एक धरँम की मलोपमा यथा—

सारद, नारद पारद-अंग-सी, छीर-तरंग-सी, गंग की धार-सी।
संकर-सँल-सी, चंद्रिका-फैल-सी, सारस-रैल[5]-सी, हंस-कुमार-सी॥
'दास' प्रकास-हिमाद्रि-बिलास-सी, कुंद-सी, कास[6]-सी, मुक्ति-भँडार-सी।
कीरति हिंदुनरेस[7] की राजति, उज्जल चारु चँमेली के[8] हार-सी॥

पा०—१. (वें०) अथ अनेक कौ एक...। २. (वें०) सौ...। ३. (वें०) एक की अनेक...। (प्र० मु०) अनेक की एक मालोपमा। ४. (वें०) चिक्कँन महिन...। ५. (प्र०) (प्र० मु०) तार...। ६. (प्र०) (प्र० मु०) काँम-सी...। ७. (वें०) (प्र० मु०) हिन्दू नरेश...। ८. (वें०) की...।

वि०—"यहाँ एक धर्म (श्वेत) वाले अनेक उपमानों की, हिंदू नरेश जो कवि के आश्रय-दाता हैं, की कीर्त्ति से समता दी गयी है, अतएव 'एक धर्मा-मालोपमा' है।"

अनेक-अनेक की मालोपमा जथा—

पंकज-से पग लाल नबेली के, कदली-खंभ-सी जाँनु सुढार हैं।
चार के आँक-सी लंक लगी[1] तँन, कंज-कली-से उरोज उदार[2] हैं॥
पल्लव-से मृदु पाँनि, जपा के प्रसूनँन-से अधरा सुकमार हैं।
चंद-सौ निरमल आँनन 'दास' जू, मेचक चारु[3] सिवार से बार हैं॥

वि०—"यहाँ नायिका के विविध अंगों की विविध उपमानों से समता दी गयी है, जैसे—"कमल से लाल-लाल पग की, कदली (केला) थंभ से जानु (जाँघ) की, चार अंक के मध्य से सूक्ष्म कमर की, कंज-कली से उरोजों की, पल्लव से मृदु (कोमल) हाथों की, गुड़हर के फूल से लाल ओष्ठों की, चंद्र से स्वच्छ निरमल मुख की और सिवार से कोमल श्याम बालों की आदि....। अत-एव 'अनेकानेक धर्मा मालोपमा' है।

दासजी की इस सुमधुर सूक्ति के साथ-साथ 'विजय' कवि का निम्नलिखित छंद—सवैया भी पढ़ने योग्य है, जैसे—

"लखिकें द्दग मींन दुरे जल में, मन में अरबिंद सँकाने रहैं।
बदि बेंनीं भुवंगँम देखि चपे, कटि केहरि चाहि लजाँने रहैं॥
उकसोंहे उरोजँन देखि 'बिजै', मन देवँन के ललचाँने रहैं।
मुख-चंद की देखि प्रभा दिन में, चित में चकवा चकवाँने रहैं॥"

—नखसिख-हजारा

एक बात और, संस्कृत-साहित्य के आचार्यों ने 'मालोपमा' के—प्रथम "भिन्न, अभिन्न तथा लुप्त-धर्मा" रूप भेद माने हैं, तदनंतर 'निरवयवा' (जिसमें उपमान-उपमेयकी सामिग्री (अंग) नहीं हो, सावयवा (जहाँ उपमेय के अवयवों को उपमान के अवयवों-द्वारा उपमा दी जाय), समस्त वस्तु विषया (जहाँ उपमेय-उपमान के संपूर्ण अवयवों का शब्दों-द्वारा कथन किया जाय), एक देश विवर्तनी (जिसमें उपमान कहीं शब्दों से कथन किया जाय और कहीं नहीं), परंपरिता (जिसमें एक उपमा दूसरी उपमा का कारण बनती हो), श्लिष्टा, अश्लिष्टा,

पा०—१. (प्र०—२) लसी...। २. (वें०) प्रकार हैं। ३. (वें०) चारु से बार-से-बार हैं।

श्लिष्टा—शुद्धा, मालोपमा, अश्लिष्टा—शुद्धा और मालारूपा—आदि भेद करते हुए इनके उदाहरण प्रस्तुत किये हैं।

अथ लुप्तोपमा जथा—

सँमतादिक जे च्यारि हैं, तिँन[1] में 'लुप्त' निहारि।
एक, दोइ औ तींन-लौं,[2] 'लुपतोपमाँ' बिचारि ॥

वि०—"उपमा के समतादिक जो चार—"उपमेय (वह वर्णनीय वस्तु जिसकी दूसरी वस्तु से समता दी जाय), उपमान (वे वस्तुएँ जिनसे उपमा दी जाय—समता दिखलायी जाय), वाचक (समता प्रकट करने वाले शब्द—सा, सी, से और सौ आदि...) अंग हैं, उनमें से जहाँ एक, दो वा तीन का वर्णन न किया जाय, वहाँ 'लुप्तोपमा' कही गयी है। अतएव लुप्तोपमा के—धर्म-लुप्ता, उपमान-लुप्ता, वाचक-लुप्ता, वाचक-धर्म-लुप्ता, धर्मोपमान-लुप्ता, वाचकोपमेय-लुप्ता, वाचक-उपमान-लुप्ता, धर्म-उपमान-वाचक-लुप्ता—आदि भेद होते हैं, जिन्हें आगे दासजी ने वर्णन किया है।"

प्रथम धरँम-लुप्तोपमा—जथा—

देखि कंज-से बरबदँन,[4] द्रग खंजँन-से 'दास'।
पायौ[5] कंचँन-बेलि-सी, बनिता-सँग बिलास ॥[6]

वि० "यहाँ नायिका के अंग से कंज (कमल), खंजन (पक्षी) और कंचन (स्वर्ण) का क्रमशः धर्म--कोमल, चंचल और सुंदर वर्ण का वर्णन नहीं किया है, इस लिये यह धर्मलुप्तोपमा का उदाहरण है।

दासजी निर्मित इस दोहे के हस्त-लिखित प्रतियों में विभिन्न पाठ मिलते हैं, जैसे—"देखि कंज से बर-बदन"..., और "देखि कंज से बदँन-बर"...तथा "देखि कंज से बदन पर"...आदि...। प्रथम एक-दो के पाठ-भेद में कोई विशेषता नहीं है, पर यदि तृतीय पाठ माना जाय तो कवि की इस सुमधुर सूक्ति में चार चाँद लग जाते हैं, क्योंकि कमल (मुख पर बैठे हुए खंजन (द्रग) का दर्शन शकुन शास्त्र के अभिमत से सर्व श्रेष्ठ कहा गया है, जैसा कि महाकवि कालिदास (संस्कृत) कहते हैं—

पा०—१. (सं० प्र०) ता में...। २. (प्र०—३) की ..। (वें०) एक, दोइ कै तीन-लौं,...। ४. (भा० जी०) बदँन बर। (वें०) (प्र० मु०) बदँन बर। ५. (प्र०—३) पाई...। ६. बेंकटेश्वर की प्रति में इस दोहा के अनंतर—"या में काव्यलिंग कौ संकर है" ये अधिक लिखा है।

"ये-ये खंजन मेकमेव कमले पश्यंति दैवात्क्वचित्-
ते सर्वे कवयो भवंति सुतरां प्रख्यात भूमीभुजः ॥"

अर्थात् जो मनुष्य कमल पर बैठे हुए खंजन पक्षी को देख लेता है, वह प्रख्यात् भूमीभुजः—राजा नहीं, महाराजा हो जाता है। अस्तु, यहाँ धर्मलुप्तोपमा को काव्यलिंग ने संकर स्वरूप से द्विगुणित कर दिया है।"

उपमाँन-लुप्ता जथा——

सुबस-करँन बरजोर सखि, चपल चित्त कौ[१] चोर।
सुंदर नंद-किसोर-सौ,[२] जग में मिलै न और॥

वि०—"यहाँ उपमान जिसकी उपमा दी जाय अथवा समता की जाय, लुप्त है, कथन नहीं किया गया है, इस लिये उपमान-लुप्तोपमा है।"

वाचक-लुप्ता जथा——

अँमल, सजल[३] घनस्याँम,-तँन,[४] तड़ित-पीत-पट चारु।
चंद-बिमल मुख-हरि-निरखि, कुल की काहि सँभारु॥

वि०—"यहाँ वाचक शब्द - 'सा, सी, से वा सौ' का कथन नहीं है, इस लिये 'वाचक-लुप्ता' है।"

उपमेइ-लुप्ता जथा—

जपा-पुहुप-से अरुँन-मइ मुकतावलि-से स्वच्छ।
मधुर-सुधा-सी कढति है, तिनते हास[५] प्रतच्छ॥

वि०—"यहाँ उपमेय, अर्थात् वर्णनीय वस्तु ओष्ठ, दंत और मुख का वर्णन नहीं, समता नहीं दिखलायी है, अतएव उपमेय लुप्ता है।"

वाचक-धरँम लुप्ता जथा——

लखि सखि[६]-सखि सारस नयँन, इंदु-बदँन घनस्याँम।
बिज्जु-हास, दारयौं[७] दसनँ, बिंबाधर अभिराँम॥

वि०—"यहाँ भी दासजी ने वाचक शब्द—सा, सी, से वा सौ तथा धर्म (गुण) चंचल, आनंददायक, उज्वल और अरुण का कथन नहीं किया है, अतः वाचक-धर्म लुप्ता है।"

पा०—१. (भा० जी०) की...। २. (वें०) (भा० जी०) (प्र० मु०) से...। ३ (प्र०—३) कँमल...। ४. (सं० प्र०) दुति...। ५. (वें०) दास...। ६. (सं० प्र०) (वें०) लखि-लखि...। (प्र० मु०) लखु लखि...। ७. (भा० जी०) दारिम...।

वाचक-उपमाँन लुप्ता जथा—

हिय सियरावै बदँन-छबि, रस बरसावें[1] केस ।
परँम घाइ[2] चितबँन करै, सुंदरि, इही अँदेस ॥ *

वि०—"अर्थात् यहाँ—"बदन-छवि, केश, और चितवन के उपमानों और वाचक शब्दों का कथन न कर उपमेय तथा धर्म का कथन किया है, इस लिये यहाँ वाचक-धर्म लुप्ता है ।

काव्य-निर्णय की प्राप्त प्रतियों में यह दोहा 'वाचक-लुप्तोपमा के उदाहरण' शीर्षक के अन्तर्गत भी मिलता है । वाचक-लुप्ता का उदाहरण—'अमँल सजल घनस्याँम तँन' पूर्व में आचुका है, फिर इस दोहा में केवल वाचक ही नहीं उपमान भी लुप्त है, अतएव यह उदाहरण "वाचक-उपमान लुप्ता" का ही है, वाचक-लुप्ता का नहीं ।"

उपमेइ-धरँम लुप्ता जथा—

मग-डारत ईंगुर-पाँबड़े से, सुमनों से[3] बगारत आइ गई ।
जियरा[4] में ठगोरी-सी दैकें भलें[5], हियरा[6] बिच होरी-सी लाइ गई ॥
नंहिं जाँनिएं को है[7], कहाँ की है 'दास' जो[8] धन्न हिरन्न-लता-सो नई ।
ससि-सौ दरसाइ, सरे[9] सौ लगाइ, सुधा-सौ सुँनाइ कें जाति भई ॥

वि०—"यहाँ उपमेय और धर्म दोनों का कथन न होने से और केवल उपमान और वाचक का कथन करने से "उपमेय-धर्मलुप्तोपमा है ।"

उपमेइ, वाचक अरु धरँम लुप्ता जथा—

तिहूँ 'लुप्त' जहँ[10] कहत हैं, केवल-ही उपमाँन ।
ता[11] ही कों 'रूपातिसै' उक्ति कहैं मति-माँन ॥

अस्य उदाहरन जथा—

नभ-ऊपर, सर-बीच-जुत, कहा कहौं ब्रजराज ।
ता पै बैठ्यौ हौं[12] लख्यौ, चक्रबाक जुग[13] आज ॥

पा०—१. (वें०) (प्र० मु०) (भा० भू०) बरसावें...। २. (प्र०—३) (वें०) धाव...। ३. (वें०) (प्र० मु०) सै । (भा० जी०) सौ...। ४. (वें०) (प्र० मु०) जियरे...। ५. (वें०) (भा० जी०) भली...। ६ (वें०) (प्र० मु०) हियरे-बिच...। ७. (वें०) (सं० प्र०) को-ही...। ८. (वें०) (प्र० मु०) जू...। ९. (प्र० मु०) मुरी मुसिकाइ...। १०. (भा० जी०) (वें०)...ते और हैं...। ११. (प्र० मु०) रूपकातिसै उक्ति तहँ, बरनत हैं...। १२. (प्र०) (वें०) मैं...। १३. (वें०) है...।

* भा० भू० (केडिया) पृ० ६४ ।

वि०—"जब केवल उपमान का ही कथन करते हुए—उपमेय, वाचक और धर्म को न कहा जाय वहाँ 'उपमेय-वाचक-धर्म-लुप्ता' उपमा कही जाती है, पर जैसा कि 'दास' जी का कथन है वहाँ "रूपकातिशयोक्ति" अलंकार भी बनता है। क्योंकि वहाँ भी इन तीनों—उपमेय, वाचक तथा धर्म का कथन—वर्णन नहीं किया जाता, यथा—

"जहँ केवल उपमाँन ते प्रघट होत उपमेइ।
'रूपकातिसै उक्ति' तहँ, बरनत सुकवि अजेइ॥"

अर्थात् जहाँ उपमेय (आरोप के विषय) को न कह केवल उपमान (आरोप्यमाण) के द्वारा उपमेय कहा जाता है, वहाँ 'रूपकातिशयोक्ति' होती है, क्योंकि यहाँ भेद में अभेद—उपमेय-उपमान दो पदार्थ होते हुए भी उपमेय को न कह केवल उपमान कहा जाता है।

कन्हैयालाल पोद्दार ने अपनी 'अलंकार-मंजरी' में इस—"नभ-ऊपर सर-वीन्च०..." धर्मोपमेयवाचक लुप्ता स्वरूप उदाहरण के प्रति लिखा है कि "काव्य-निर्णय में भिखारीदास जी के इस छंद में और लच्छीराम के 'रामचंद्रभूषण' रूप अलंकार ग्रंथ में—

"चपल-स्याँमघन चपला सरजु तीर।
मुकट-भाल-मह बारिज, भँमर जँजीर॥"

इत्यादि उदाहरण हैं, "इनमें धर्म, उपमेय और वाचक शब्द नहीं हैं, केवल उपमान हैं। केवल उपमान का होना रूपकातिशयोक्ति का विषय है, अतः न तो ये उदाहरण लुप्तोपमा के हैं और न धर्म, उपमेय तथा उपमा-वाचक शब्द के लोप में उपमा हो ही सकती है इत्यादि।"

दासजी ने यहाँ तक उपमा, आर्थी उपमा, पूर्णोपमा, मालोपमा और लुप्ता के भेद जैसे—"धर्म-लुप्ता, उपमान-लुप्ता, वाचक-लुप्ता, उपमेय-लुप्ता, वाचक-धर्म-लुप्ता जो रूपकातिशयोक्ति का विषय है, रूप आठ भेद कहे हैं। तदनंतर आगे (इसी उल्लास में) श्रौती उपमा, मालोपमा—अभिन्नधर्मा, भिन्नधर्मा, श्लेष से, प्रतिवस्तूपमा आदि का भी वर्णन किया है। संस्कृत-साहित्याचार्यों ने भी प्रथम 'उपमा' के दो भेद—'पूर्ण' और 'लुप्त' मानकर पूर्णोपमा के श्रौती और 'आर्थी' दो भेद कहे हैं। लुप्ता के भी एक लुप्ता, द्वि लुप्ता और तीन लुप्ता रूप भेद करते हुए प्रथम एक के—धर्म-लुप्ता, उपमान-लुप्ता तथा वाचक-लुप्ता तीन भेद कह धर्म और उपमान-लुप्ता को श्रौती-आर्थी दो-दो रूपों से और कथन किया है। वाचक-लुप्ता केवल 'आर्थी' कही गयी है। द्वि लुप्ता के भी वाचक-धर्म-लुप्ता, धर्मोपमानलुप्ता, वाचकोपमेयलुप्ता और वाचक-उपमान लुप्ता रूप से चार

भेद कहे और माने हैं। धर्मोपमेय और उपमेयोपमान लुप्ताऐं नहीं मानी है, क्योंकि इन दोनों में क्रमशः केवल उपमान और वाचक शब्द के तथा केवल समान धर्म और वाचक-शब्दों के कथन मात्र में कोई चमत्कार नहीं होता। इसी प्रकार तीसरी लुप्तोपमा का केवल एक भेद धर्म-उपमान-वाचक लुप्ता ही माना है। क्योंकि वाचक-धर्म-उपमेयलुप्ता रूपकातिशयोक्ति का विषय है, जिससे वह एक स्वतंत्र अलंकार है। धर्म-उपमान-उपमेयलुप्ता में केवल वाचक का तथा वाचक-उपमेय-उपमानलुप्ता में केवल समान धर्म का कथन होने से वहाँ उपमा नहीं मानी है। इनके अतरिक्त संस्कृत-आचार्यों ने – विंबप्रतिविंबोपमा, वस्तु-प्रति-वस्तु निर्दिष्टोपमा, श्लेषोपमा, शब्द श्लेषोपमा, वैधर्म्योपमा, नियमोपमा, अभूतोपमा वा कल्पितोपमा, समुच्चयोपमा, रसनोपमा, लक्षणोपमा के बाद उपमा के—'निरवयवा', 'सावयवा' और 'परंपरित' नाम से तीन भेदों का उल्लेख करते हुए प्रथम निरवयवा के शुद्धा और मालोपमा दो भेद, फिर मालोपमा के तीन भेद भिन्न, अभिन्न और लुप्त-धर्मादि भेद कर द्वितीय सावयव के दो भेद 'समस्त-वस्तु विषया' और 'एकदेश विवर्त्तिनी करते हुए तीसरी 'परंपरिता' के प्रथम दो भेद' शिलष्टा' और 'अशिलष्टा' जिसे कि 'भिन्न शब्दा' भी कहा गया है, मान शिलष्टा के 'शुद्धा' और 'माला', एवं 'अशिलष्टा' के भी शुद्धा और माला नाम के दो-दो भेद माने हैं—इत्यादि...।"

अथ अनन्वइ अरु उपमेयोपमाँ लच्छन जथा—

जाको समता जाहि[1] कों, कहत 'अँनन्वै' भेव[2]।
उपमाँ दोऊ दुहुँन की, सो उपमा-उपमेव[3]॥

वि०—"एक-ही वस्तु को उपमान-उपमेय-भाव से कहने पर 'अनन्वय' और उपमेय तथा उपमान को परस्पर में एक-दूसरे के उपमान-उपमेयरूप कहे जाने पर 'उपमेयोपमान' अलंकार कहे जाते हैं। अनन्वय का शब्दार्थ है संबंध का न होना। इसलिये यहाँ उपमान का संबंध नहीं होता, उपमेय-ही उपमान होता है। एवं 'उपमेयोपमा' में उपमेय को उपमान की तथा उपमान को उपमेय की उपमा दी जाती है, अन्य को—तीसरी वस्तु की नहीं। काव्यादर्श के रचयिता ने उपमेयोपमालंकार को 'अन्योन्योपमा' नाम से उपमा का ही भेद माना है। संस्कृत-साहित्याचार्यों ने उपमेयोपमा' के दो भेद—'उक्त-धर्मा' और 'व्यंज-धर्मा'

पा०—१. (सं०प्र०) (प्र०) (प्र० मु०) ताहि...। २. (प्र०-३) गेह...। ३. (प्र०-३) उपमेह...।

भी माने हैं। उक्त-धर्मा के भी दो भेद—'समान धर्मोक्ति' (जिसमें समान धर्म का कथन हो) और वस्तु-प्रति-वस्तु निर्दिष्ट (जब कि एक ही धर्म दो वाक्यों में वर्णन किया जाय) और माने हैं। व्यंज-धर्मा में समान धर्म का शब्दों के द्वारा कथन न होकर व्यंग्य से प्रतीत होता है। उपमेयोपमा में जिनकी परस्पर उपमा दी जाती है उनके सिवा अन्य उपमान के निरादर किये जाने का उद्देश्य निहित रहता है। अतएव जहाँ अन्य (तीसरे) उपमान के तिरस्कार की प्रतीति न हो वहाँ यह अलंकार नहीं माना जाता।* संस्कृत में इसे 'परस्परोपमा' भी कहा है और इसकी माला का भी कथन मिलता है।'

"अनन्वय को भी अलंकार-आचार्यों ने शाब्द, आर्थ, पूर्ण और लुप्त रूप से वर्णन किया है—इसके उदाहरण भी प्रस्तुत किये हैं।"

प्रथम अनन्वै उदाहरन जथा—

मिली न और प्रभा-रती, करी भारती ओर[1]।
सुंदर नंदकिसोर सौ,[2] सुंदर नंदकिसोर ॥[3]

उपमेयोपमाँ उदाहरन जथा—

तरल नैंन तुव कचँन-से, स्याँम ताँमरस-तार।
स्याँम ताँमरस-तार से,[4] तेरे कच सुकमार ॥[5]

प्रतीप-लच्छन जथा—

सो 'प्रतीप' उपमेइ कौं, जब[6] कीजै उपमाँन।
कै काहू बिधि बर्न्य कौ, करौ[7] अँनादर ठाँन ॥

वि०—"जब उपमेय को उपमान बनाया जाय, जब प्रसिद्ध उपमान को उपमेय के स्थान पर उलटकर वर्णन किया जाय, अथवा वर्ण्य-विषय का जान-बूझ कर निरादर किया जाय तब 'प्रतीप' अलंकार माना और कहा जाता है। प्रतीप

पा०—१. (प्र०) (वें०) (प्र० मु०) दौर...। २ (वे०) से...। ३. इसके नीचे वेंकटेश्वर की प्रति में "अस्य-तिलक" शीर्षक में लिखा है कि "जहाँ जा बस्तु कौ बरनन करै, तहाँ वा बस्तु कौ वाही के समान बाही कौ बरनन करै तहाँ उपमा-उपमेइ अलंकार होति है, जैसे—राम के समान राम ही हैं, सिव के समान सिव ही हैं—इत्यर्थ...।" ४. (सं० प्र०) ते...। ५. यहाँ वेंकटेश्वर की प्रति में लिखा है—"उपमान-उपमेइ अलकार वाही कों कहति हैं, जहाँ वौ बस्तु वा बस्तु सों सोभा पावै, जैसे—रैनि मिलें ते चंद्रमा सोभा पावतु है, जैसैंई चंद्रमा ते चंद्रमा सीभा कों प्राप्त होत है। ६. (सं० प्र०) कीजै जौ उपमाँन। (वें०) कीजै जब उपमाँन। ७. (वें०) करै...।

* दे० अलंकार-सर्वस्व (संस्कृत) विमर्शनी व्याख्या उपमेयोपमा-प्रकरण।

का आधार साम्य है, फिर भी उपमेय-उपमान के क्रम उलट-पलट देने से ही यह जाना जाता है। उपमा में उपमेय को उपमान के समान कहा जाता है और प्रतीप में उपमान को उपमेय तथा उसके सदृश, अथवा उपमान को उपमेय द्वारा तिरस्कृत किया जाता है—उसे हीन बतलाते हुए उपमेय की अधिक उत्कृष्टता का वर्णन किया जाता है। व्यतिरेक अलंकार में भी उपमेय की उत्कृष्टता का प्रतिपादन किया जाता है, पर वहाँ उपमेय उपमान-क्रम प्रतीप जैसा उलटा नहीं जाता, अपितु उपमेय की उसके किसी गुण के कथन-द्वारा स्थापना की जाती है। साथ-ही व्यतिरेक में साधर्म्य के साथ कुछ वैधर्म्यपना भी रहता है जो प्रतीप में नहीं, इसमें शुद्ध साधर्म्य-ही रहता है।

अस्तु, प्रतीप पाँच प्रकार का कहा गया है। प्रथम प्रतीप—"जब प्रसिद्ध उपमान को उपमेय कल्पित कर वास्तविक उपमेय के समान वर्णन किया जाय। इसी प्रकार द्वितीय प्रतीप वहाँ होता है, जहाँ उपमान को उपमेय बनाकर वर्णनीय उपमेय का तिरस्कार किया जाय। तृतीय प्रतीप—उपमेय को उपमान कल्पनाकर प्रसिद्ध उपमान का निरादर किया जाय। चौथा प्रतीप वहाँ होता है जहाँ उपमान को उपमेय की उपमा के योग्य न कहा जाय—स्पष्टरूप से सत्य उपमान-उपमेय को उपमान कल्पित कर उसके समान कहा जाय, अर्थात् जब उपमेय के आगे उपमान को अयोग्यता सिद्ध की जाय और पाँचवां 'प्रतीप' वहाँ—जहाँ उपमान को उपमेय के सम्मुख व्यर्थ-सा बहुत घटाकर वर्णन किया जाय, इस रीति से उपमान का तिरस्कार किया जाय कि जब उपमान का भार उपमेय ही उठाने में समर्थ है, तो उपमान की आवश्यकता...? अर्थात् पाँचवें प्रतीप में आदरणीय उपमान का निरादर ही प्रतीपता है—विलोमता है।

अलंकार आचार्यों ने प्रतीप को स्वतंत्र अलंकार के रूप में ग्रहण किया है, पर पंडितराज जगन्नाथ का कहना है कि यदि प्रतीप के भेदों को तनिक सूक्ष्मदृष्टि से देखा जाय तो प्रथम, द्वितीय और तृतीय प्रतीप के भेद उपमा के अंतर्गत समा जाते हैं। इसी प्रकार चतुर्थ-प्रतीप अनुक्त धर्मरूप से तो व्यतिरेक अलंकार का ही एक अंग है, फिर भी वह तथा पंचम प्रतीप एक प्रकार से आक्षेप अलंकार में समा जाते हैं—उसके अंतर्गत आ जाते हैं।"

अथ प्रथम प्रतीप उदाहरन जथा—

लख्यौ गुलाब-प्रसूँन में, मैं मधु-छक्यौ मलिंद।
जैसौ तेरे[1] चिबुक में, ललित[2] जु लीला-बिंद॥

पा०—(१) (व०) तेरौ...। २ (वे०) (प्र० मु०) ललिता लीला...।

पुनः जथा—

छुटे सदाँ गति सँग लसैं, पाँनिप-भरे अमाँन।
स्याँम-घटा सोहै अली, सुंदर कचँन-समान ॥

अस्य तिलक

"इहाँ प्रसिद्ध उपमान कों उपमेय रूप में कह्यौ, तातें प्रथम प्रतीप है।"

अथ अनादर वर्न्य प्रतीप उदाहरन जथा—

बिद्या बर बाँनीं, दँमयंती की सयाँनी,
मंजुघोषा-मधुराई प्रीति-रीति की मिलाई में।
चख चित्रलेखा के, तिलोत्तमाँ कौ[1] तिल लै,
सुकेसी के सुकेस, सची-साहिबी सुहाई में ॥
इंदिरा की[2] उदारता औ माद्री की मनोहराई,
'दास' इंदुमती की लै सुकमारताई में।
राधे के गुमाँन में समाँन बँनिता न ताके,
हेत ए[3] बिधाँन इक ठाँव ठेहराई में ॥*

अस्य तिलक

इहाँ उपमान सों उपमेय कौ अनादर कियौ है।

वि०—रसकुसुमाकर के संग्रह कर्त्ता अयोध्या के राजा ददुवा साहिब ने दास जी के इस छंद (कवित्त) को आलंबन विभाव के अन्तर्गत 'नायिका' के वर्णन में संकलित किया है।"

दूसरौ उदाहरन जथा—

महाराज रघुराज जू, कीजै कहा गुमाँन।
दंड-कोस-दल के धँनी, सरसिज तुम्है[4] समाँन ॥†

वि०—"यहाँ श्लेष से पुष्ट प्रतीप-द्वारा श्रीराम और कमल (पुष्प) का समान वर्णन करते हुए भी दंड, कोष, और दल के श्लेष-संयुक्त अर्थों-द्वारा कुछ न्यून वर्णन किया है—उपमेय कमल से उपमान श्रीरामचन्द्र जी को कुछ न्यून बतलाया गया है।"

पा०—१. (भा० जी०) (वें०) (प्र० मु०) के...। २. (वें०) (प्र० मु०) इंदिरा-उदारता...। ३. (वें०) (प्र० मु०) या . । ४. (भा० जी०) (वें०) (प्र० मु०) तुम्हें... ।

* र० कु० (अयो०) पृ० ८८, २२६। † सु० स०-(ला० भ०) पृ० ६१, ६४।

अन्य प्रतीप जथा—

उपमाँ को जु[1] अँनादरै, बरनि[2] आदरै देखि।
सँमता देइ न नाँम लै, तऊ 'प्रतीप'[3] अवरेखि ॥

वि०—"दास जी की यह सूक्ति 'द्वितीय प्रतीप' का लक्षण है, यथा—"उपमेइ कौ उपमान ते, आदर जबै न होइ।" अर्थात् उपमेय का उपमान द्वारा अनादर किया जाय और जैसा कि दास जी ने नीचे उदाहरण कहा है।"

द्वितीय-उपमाँन के अनादर कौ उदाहरन जथा—

बाग-लता मिल लेइ किँन, भौरँन प्रेंम-सँमेत।
आवति पदमिनि ग्राँम-ढ़िँग, फिर न लहैगो सेत ॥

तृतीय सँमता न दियौ उदाहरन जथा—

द्विज[4]-गँन कौ आस्रै[5] बड़ौ, देवँन कौ प्रिय[6]-प्राँन।
वा रघुपति-आगें कहा[7] सुरपति करै गुमाँन ॥

वि०—"यहाँ उपमेय श्री राम से उपमान सुरपति (इंद्र) को कुछ हीन वर्णन किया है, जिससे तीसरा प्रतीप है।"

पुनः उदाहरन जथा—

अलक पै अलि-बृंद, भाल पै अरध चंद,
भौं[8] पै धँनु, नेंनन पै बारों कंज-दल में।
नासा कीर,[9] मुकर कपोलँन,[10] बिंब अधरँन,
दारयौं[11] बारों दसनँन,[12] ठोड़ी अंब-फल में ॥
कंबु कंठ, भुजँन[13] मृनाल, 'दास' कुच कोक,
त्रिबली-तरंग बारों भौंर नाभि[14]-थल में।
अचल नितंबँन पै जघँन कदलि-खंब,
बाल[15]-पग-तल बारों लाल मखमल में ॥*

पा०—१. (सं० प्र०) जो...। २. (भा० जी०) बरंन। (वे०) वर्ण...। (सं० प्र०) बर्न्य। ३. (भा० जी०) (वें०) (प्र० मु०) प्रतीपै लेखि। ४. (प्र०—३) (भा० जी०) दुज...। ५. (भा० जी०) आसै...। (वें०) आसन...। (प्र० मु०) आशय...। ६. (वें०) तिय...। ७. (वें०) कहै...। ८. (शृं० नि०) (र० कु०) (वें०) भ्र...। (म० मं०) भू...। ९. (वें०) करि...। १०. (वें०) (र० कु०) (शृं० नि०) (म० मं०) (न० सि०) कपोल-बिंब अधरँन। ११. (वें०) (म० मं०) दारों...। १२ (शृं० नि०) दसँनि...। १३. (न० सि०) भुज...। १४. (प्र० मु०) नाभी...। १५. (म० मं०-द्वि० क०) लाल मखमल बारों बाल-पदातल में।

*, शृं० नि० (दा०) पृ० २१, ६०। म० मं० (भ०) पृ० ५, १३। न० सि० ह० (प० सुं०) पृ० १५, १।

वि०—"यहाँ भी विविध उपमेयों से उपमानों को हीन बतलाया गया है, अतः तृतीय प्रतीपालंकार है।"

"दासजी का यह छंद स्वरचित 'शृंगार-निर्णय' में नख-सिख-अंतर्गत वेणी वर्णन के, 'रसकुसुमाकर' के संग्रह-कर्त्ता तथा 'मनोज-मंजरी' रचयिता ने 'नायिका-वर्णन' के, एवं 'नखसिख-हजारा' में संपूर्ण अंग वर्णन के अंतर्गत उल्लेख किया गया है।

दासजी की इस उक्ति के साथ किसी उर्दू कवि की यह सुमधुर सूक्ति पढ़िये और कहिये—"कितनी सुंदर है।" जैसे—

"वे कफ़े-पा हमने सहलाए हैं नाज़ुक नर्म-नर्म।
क्या जताती है तू अपनी नर्मी ऐ मखमल यहाँ॥"

चतुर्थ प्रतीप उदाहरन जथा—

सही, सरस, चंचल बड़े, मढ़े रसीली-बास।
पै न द्विरेफँन इन दृगँन, सरस कहौं में 'दास'॥

अस्य तिलक—

इहाँ उपमेइ की बराबरी में उपमाँन कौ बरनँन नाहीं है, तातें चौथौ प्रतीप है।

पाँचए प्रतीप कौ लच्छन जथा—

जहँ कीजतु उपमेइ लखि, उपमाँ ब्यर्थ बिचार।
ता-हू कहत 'प्रतीप' हैं, सो 'पाँचयौ'[१] प्रकार॥

वि०—"अर्थात् जब उपमेय को उपमान का कार्य करने में समर्थ पाकर भी उस (उपमान) का अनादर कर दिया जाय—उसे व्यर्थ ठहरा दिया जाय, तब पाँचवाँ प्रतीप कहा जायगा।"

अस्य उदाहरन जथा—

जहाँ प्रिया[२]-आँनन उदित, निसि-बासर सानंद।
तहाँ कहा अरबिंद है, और[३] बापुरौ चंद॥

पा०—१. (वें०) यों...। (प्र०-३) मों...। २. (वें०) त्रिया...। ३. (भा० जी०) (वें०) (प्र० मु०) कहा...।

पुनः जथा—

प्रभा-करँन, तँम-गुँन-हरँन, धरँन सहस कर राज।
तव प्रताप-ही जगत में, कहा भाँनु कौ काज॥

अस्य तिलक—

इहाँ दोऊ दोहाँन में उपमेइ के साँमनें उपमान व्यर्थ कह्यौ है, ताते पाँचयौ प्रतीप है।

"इति आर्थी उपमाँ...।"

अथ स्रौती उपमाँ लच्छन जथा—

धरँम सँहैज असलेष लखि,[1] सुकबि सरुचि सरि[2] देइ[3]।
'स्रौती उपमाँ'[4] ताहि कौं, सुँनत[5] सुँमति चित लेइ॥

वि०—"जैसा पूर्व में कहा जा चुका है कि 'पूर्णोपमा' के दो भेद—श्रौती और आर्थी होते । श्रौती का अर्थ है—सुनते-ही बोध कराने वाली। अतएव—इव, यथा, वा, सी, से, सौ, लौं और जिमि-आदि सादृश्य संबंध-वाचक शब्दों के प्रयोग में यह—श्रौती उपमा कही गयी है, क्योंकि ये इव-आदि शब्द समान-धर्म के संबंध को बतलाने वाले प्रस्तुत वाचक हैं। इन शब्दों में से कोई भी एक जिस शब्द के अंत में आ जाते उसे उपमान बनाकर अपनी अभिधा-शक्ति-द्वारा सादृश्य-संबंध का बोध करा देते हैं। यद्यपि ये उपमान से ही संबंध रहने के कारण उपमान के ही विशेषण है—उपमान में रहने वाले साधारण-धर्म के बोधक हैं, फिर भी शब्द-शक्ति की सामर्थ्य के कारण ये श्रवण मात्र से (षष्ठी-विभक्ति की भाँति) उपमान-उपमेय का साधर्म्य-संबंध बोध करा देते हैं।

एक बात और, जिस प्रकार "इव-आदि" शब्द श्रौती के उद्बोधक हैं, उसी प्रकार "आर्थी उपमा" के भी—तुल्य, तूल, सम, समान, सरिस, सदृश आदि उपमा-वाचक शब्द द्योतक हैं, क्योंकि ये भी समान धर्म वाले उपमान-उपमेय दोनों के वाचक हैं। ये कहीं उपमेय के, कहीं उपमान के और कहीं उपमानोपमेय दोनों के साथ संबंध रखते हैं। अतएव इनके प्रयोग में अर्थ पर विचार करने से ही समान-धर्म का बोध होता है, क्योंकि ये इव-आदि की भाँति साधर्म्य के

पा०—१. (प्र० मु०) करि, जहाँ सुकबि सरि...। (सं० प्र०) धरँम सैहैज कै स्लेष लखि...। २. (सं० प्र०) (वें०) कहिं...। ३. (प्र० मु०) देत। ४. (सं० प्र०) (वें०) स्रौती उपमाँ पूरनें. सुनें सुमति...। ५. (प्र० मु०) कहत सदाँ सुभचेत।

साक्षात् वाचक नहीं हैं। जिस प्रकार 'इवादि' शब्द जिस किसी के संग लगे रहते हैं – संबंध रखते हैं, उसे शब्द-शक्ति के कारण उपमान जान लिया जाता है यह निर्विवाद है, पर तुल्यादिवाचक शब्द जिससे संबंध रखते हैं, उसका उपमान होना जरूरी नहीं। इनके प्रयोग में उपमेय-उपमान का बोध अर्थ के विचार पर विलंब से होता है, यथा—

"आर्थ्यामुपमानोपमेयनिर्णये विलंबे नास्वादविलंबः तद्भावः श्रौत्यमिति... ।"

– काव्यप्रकास उद्योत टीका भा २

स्रौती उपमा उदाहरन यथा—

बुध अँगुनोंगुँन[1]-संग्रहैं, खोलें सहित बिचार।
ज्यों हर-गर गोऐं गरल, प्रघटै ससि-हिं लिलार॥

पुनः उदाहरन जथा—

ज्यों अहि-मुख-बिष, सीप-मुख-मुकत स्वाँति-जल होइ।
बिगरत कुमुख, सुमुख बँनत, त्यों-हीं अच्छर सोइ[2]॥

दूसरौ उदाहरन जथा —

ऊपर-ही अँनुराग लसै[3] अरु[4] अंतर कौ रँग है कछु न्यारौ।
क्यों न तिन्हें करतार करै, हरुऔ अरु गुंजँन लौं मुख कारौ॥
भीतर-बाहर-हूँ इक[5] 'दास', वही रँग, दूजौ जो[6] नाँहिं सँभारौ।
ते गुँनवंत गरू ह्वै रहैं[7], नित मूँगा ज्यों मोंतिन-माँहिं बिहारौ[8]॥

अथ स्रौतीमालोपमाँ धरँम ते जथा —

'दास' फँनि मँनि सों ज्यों पंकज तरँनि सों,
ज्यों तौंमसी रजँनि सों त्यों चोर उँमहत है।
मोर जलधर सों[9] ज्यों चकोर हिंमकर सों,
ज्यों भौंर इंदीवर सों, ज्यों कोविद कहत हैं॥

पा०—१. (प्र० नु०) बुध गुँन-अव गुँन...। २. (वें०) दोइ। ३. (वें०) लपेटे ते, अंतर...। (सं० प्र०)...लपेटे, औ अंतर...। ४. (प्र० मु०) जिहिं...। ५. (सं० प्र०) बाहर है जो 'दास' वही...। (वें०)...बाहर-हूँ यह 'दास' वही...। (भा० जी०) (प्र० म०) जहाँ... वहै...। ६. (वें०) (भा० जी०) (प्र० मु०) कौं..। ७. (सं० प्र०) (वें०) करें। ८. (वें०) ते गुँनवंत गरू ह्वै करें, नित मूंग ज्यों मोंतिन संग बिहारौ। (सं० प्र०)...करें, नित मूंगन-मोंतिन-संग...। (प्र० मु०)...गुनवंत महा गरूये, जग मूंगा मोंतिन संग...। ९. (वें०) (प्र० मु०)...जलधर सों, चकोर...।

कोकिल बसंत सौं, ज्यौं कौंमिनि सुकंत सौं,
ज्यौं संत भगवंत सौं, ज्यौं नेंम[1] निबहत हैं।
भिच्छुक भुवाल सौं, ज्यौं मींन जल-माल सौं,
ज्यौं नेंन नँदलाल सौं ज्यौं चायन[2] चहत हैं॥

पुनः दूसरौ उदाहरन जथा—

मित्र ज्यौं नेह-निबाह करै, कुल[3] कौंमिनि ज्यौं परलोक सुधारँनि।
संपति-दाँनी[4] सु साहिब ज्यौं, गुरु-लोगँन ज्यौं[5] गुरु-ग्याँन-पसारँनि॥
'दास'जू भ्रातँन-सी[6] बल-दाइँन, मात[7] सी ज्यौं बहु दुःख निबारँनि।
या जग में बुधवंतँन कौं[8], बर बिद्या बड़ी बित[9] ज्यौं हित-कारँनि॥*

वि०—"कन्हैयालाल पोद्दार ने अपनी 'अलंकार-मंजरी में इस छंद के प्रति लिखा है कि "यहाँ विद्या को मित्र, कुल-कामिनी आदि अनेक उपमाएँ दी हैं और उनके नेह-निवाहना, परलोक-सुधारना आदि पृथक्-पृथक् धर्म कहे गये हैं, इसलिये यहाँ "भिन्नधर्मा मालोपमा" है।" ऊपर के कवित्त में भी यही बात है, वहाँ भी श्री नंदलाल के प्रेम-प्रति अनेक उपमाएं दी हैं, अतः वहाँ भी 'भिन्नधर्मा मालोपमा' है।"

तीसरौ उदाहरन स्लेस ते जथा—

चंद की कला-सी, सीत-करँन हिए कौं[10] गुँन,
पाँनिप-कलित मुकताहल के[11] हार-सी।
बेंनीं बर बिलसै प्रयाग—भूमि ऐसी है,
अमँल छबि छजि[12] रही जैसें[13] कछु आर-सी॥
'दास' नित देखिऐ सची-सी संग उरबसी,
काँमद अँनूप कलपद्रुम[14] को डार-सी।

पा०—१. (वें०) नेंम-ही गहत...। (प्र० मु०) नेंमहिं गहत...। २. (वें०) चापन बहत..। (भा० जी०)...नँदलाल सों त्यों चायन...। ३. (सं० प्र०) (वें०)...कुल-नारिन ज्यों...। (प्र० मु०) कुल-नारि ज्यों...। ४. (सं० प्र०) (वें०) (प्र० मु०) दाँन...। ५. (प्र०) (प्र० मु०) सों...। ६. (वें०) ज्यों...। ७. (सं० प्र०) (वें०) मातनि ज्यों बहु...। (प्र० मु०) मात-सी वौ...। (अ० मं०) मात-सी है नित...। ८. (सं० प्र०) (वें०) पित...। १०. (सं० प्र०) (वें०) (प्र० मु०) की...। ११. (सं० प्र०) की...। १२. (वें०) छाजि...। (प्र० मु०) छाइ...। १३. (वें०) जैसी...। १४. (वें०)...कल्पद्रुमन के...।

* अलंका० मं० (क० पो०), पृ० ७१।

सरस - सिंगार - सुबरँन बर भूषँन - सी,
बनिता ज्यौं[1] फबिता है कविता उदार-सी ॥

वि०—"यहाँ" निरवयवा—(जहाँ एक उपमेय की अनेक उपमाएँ दी जाँय) मालोपमा है, क्योंकि कविता रूप उपमेय को अनेक उपमाओं से श्लेष-द्वारा अलंकृत किया गया है।"

दृष्टांत अलंकार लच्छन जथा—

लखें,[2] बिंब प्रतिबिंब-गति, उपमेयोपमाँन ।
लुप्त सब्द बाचक किऐं, सो[3] 'दृष्टांत' सुजाँन ॥

पुनः भेद जथा—

साधरँमी[4]-बेधरँम औ, वैसौई[5] कहु धर्म ।
कहूँ[6] दूसरी बात ते, जाँन परै सोई मर्म ॥

वि०—"जहाँ उपमेय-उपमान वाक्यों के साथ उनके साधारण धर्मों का बिंब-प्रतिबिंब-भाव हो—वैषम्य होते हुए भी भाव-साम्य हो, वहाँ "दृष्टांतालंकार" कहा जायगा। बिंब-प्रतिबिंब-भाव उसे कहते हैं जहाँ वास्तव में भिन्न उपमान-उपमेय सादृश्य गुण के कारण एक से प्रतीति होते हुए भी पृथक्-पृथक् कथित हों। काव्य-प्रकाशकार महामहिम श्रीमम्मट कहते हैं—"दृष्टोऽतो निश्चयो यत्र स दृष्टांतः।" अर्थात् जिस उदाहरण में निश्चय रूप से साधारण धर्मादि का प्रमाण देख लिया गया हो उसका नाम "दृष्टांत" है।" यह वहाँ—'साधर्म्य' और 'वैधर्म्य' नाम से दो प्रकार का कहा गया है। कोई-कोई इसकी 'माला' भी मानते हैं। अतएव दास जी ने इन—साधर्म्य, वैधर्म्य और साधर्म्य की माला तीनों का ही वर्णन किया है।

श्री पंडितराज जगन्नाथ त्रिशूली ने अपने प्रमुख ग्रंथ 'रसगंगाधर' में कहा है कि "प्रतिवस्तूपमा और दृष्टांतालंकार में अधिक भिन्नता नहीं है, अतएव इनको एक-ही अलंकार के दो भेद कहे जाने चाहिये, पृथक्-पृथक् नहीं। किंतु प्रतिवस्तूपमालंकार में केवल साधारण धर्म का वस्तु-प्रति-वस्तु-भाव—एक धर्म शब्द-भेद-द्वारा दोनों में कहा जाता है और 'दृष्टांत' में—उपमेय, उपमान और साधारण धर्म इन तीनों का बिंब-प्रति-बिंब भाव रहता है, अर्थात् उपमेय तथा

पा०—१. (वें०) (प्र० मु०) की...। २. (वें०) लखी...। (प्र० मु०) लखि बिंबा-प्रतिबिंब...। ३. (वें०) (प्र० मु०) है...। ४. (वें०) (प्र० मु०) साधर्मो-बेधरम सों, कहु...। ५. (प्र० मु०) कहु बिसेस है धर्म। (सं० प्र०) कहुँ बिसेसतई...। ६. (प्र० मु०) कहूँ होत सामान्य ते, जानत हैं जे मर्म।

उपमान के दोनों वाक्यों में भिन्न-भिन्न समान धर्म कहे जाते हैं, इसलिये इसकी पृथक्ता परिपूर्ण है।

अर्थांतरन्यास और दृष्टांत अलंकारों को भी कोई-कोई मिलते-जुलते अलंकार मान इनको एक ही अलंकार मानने का आग्रह करते हैं, किन्तु अर्थांतरन्यास में साधारण बात की विशेष बात से अथवा विशेष बात की साधारण बात से पुष्टि करायी जाती है, दृष्टांत में दोनों-ही समान होती हैं, यहाँ दोनों बातों में समता होती है।

कुछ संस्कृत-ग्रंथों के आधार पर भाषा के अलंकार-ग्रंथों में दृष्टांत अलंकार के साथ 'उदाहरण' अलंकर का भी उल्लेख किया है और उसका लक्षण लिखा है—

"ज्यों, यों, जैसें कहि करै, जुग घटना सँम तूल।
'उदाहरन' भूषन कहैं, ताहि सुकबि बुधि-मूल॥"

पर अलंकार आचार्य-विशेषों ने इन ज्यों यों,—आदि वाचकों का होना वा न होना उदाहरण की दृष्टांत से भिन्न गणना का पर्याप्त कारण नहीं माना है। इसलिये, दासजी ने उसे भिन्न अलंकार भी नहीं माना है।

कन्हैयालाल पोद्दार ने अपनी अलंकार-मंजरी में बहु संस्कृत-ग्रंथों के आधार पर "उदाहरण" अलंकार के प्रति लिखा है कि "जहाँ सामान्य रूप से कहे गये अर्थ को भली प्रकार समझने के लिये उसका एक अंश (विशेष रूप) दिखला कर उदाहरण दिखाया जाय, वहाँ "उदाहरण अलंकार" होता है।" अर्थात् कहे हुए सामान्य अर्थ का इव, यथा, जैसे, और दृष्टांतादि शब्दों के प्रयोग-द्वारा उदाहरण (नमूना) दिखाया जाना....।

आगे चलकर फिर आप लिखते हैं—"दृष्टांत अलंकार में उपमेय-उपमान का बिंबप्रतिबिंब-भाव होता है और 'इव'—आदि उपमा-वाचक शब्दो का प्रयोग नहीं होता। उदाहरण अलंकार में सामान्य अर्थ को समझाने के लिये उसके एक अंश विशेष का दिग्दर्शन कराया जाता है। प्रायः साहित्याचार्यों ने इवादि के प्रयोग के कारण 'उदाहरण' को उपमा का-ही एक भेद मान लिया है, पर पंडित-राज (जगन्नाथ त्रिशूली) के मतानुसार यह भिन्न अलंकार है। वहाँ उन (पंडित-राज) का कहना है कि उदाहरण अलंकार में सामान्य-विशेष्य-भाव होता है, उपमा में नहीं, और सामान्य-विशेष भाव वाले "अर्थांतरन्यास" में 'इवादि' शब्दों का प्रयोग नहीं होता, उदाहरण में होता है। इसलिये उदाहरण को भिन्न अलंकार मानना युक्ति-संगत है।"

अथ साधरँम कौ उदाहरन जथा—

कॉन्हर - कृपा - कटाच्छ की करै कॉमनौं 'दास'।
चातक-चित में चेत[1] ज्यौं,[2] स्वाँति-बूंद की आस ॥

पुनः दूसरौ उदाहरन जथा—

और सौं केतऊ बोलै-हँसै, पै पीतँम की तुही[3] प्यारी है प्रॉन की।
कैतौ[4] चुनैं चिनगी पै[5] चकोर कों चोंप है केवल चंद-छटॉन की ॥
जौलौं न[6] तू, तब-ही लौं अली, गति 'दास' के ईस पै और तियॉन की।
भास तरैयँन में तब लौं, जब लौं प्रघटै न प्रभा जग भॉन की ॥*

वि०—"दासजी के साधर्म्य-दृष्टांत के ये दोनों उदाहरण सुंदर हैं। प्रथम का अर्थ स्पष्ट है, दूसरे में मानिनी नायिका के प्रति सखी वा दूती-द्वारा यह कहा जाना कि "नायक का तुझ पर ही सर्वोत्कृष्ट प्रेम है। अरी बावली, जब तक तू उनके पास नहीं जाती तभी तक उस (नायक) की अनुरक्ति दूसरी स्त्रियों पर है—अर्थात् जब तक भानु की प्रभा नहीं फैलती तब तक ही तारागणों की क्षीण-छाया दिखलाई देती है आदि..., बहुत सुंदर सूक्ति है। इस सुमधुर सूक्ति के साथ किसी कवि की यह नीचे लिखी रचना भी देखिये, जैसे—

"है यै नायक दच्छिन छैल, सुतौ अनुँकूल कियौ चितचोर है।
है अभिमानी सो आपने रूप कौ, दीन है तोसों रहै निसि-भोर है ॥
है तँन साँवरौ, गोरौ रँगौ मँन, तेरे ही प्रेंम-पर्‌यौ झकझोर है।
है सुख-दायक नैंनन-नागर, है ब्रज-चंद, पै तेरौ चकोर है ॥"

—सुंदरी-तिलक

एक बात और, वह यह कि दास जी के इस सुमधुर छंद को 'सुंदरी-तिलक'-कार भारतेंदु जी ने मान के, 'मनोज-मंजरी'-कार अजान कवि ने मानिनी नायिका' के और रसकुसुमाकर के कर्त्ता महाराज अयोध्या ने 'सखी-कृत शिक्षा के अंतर्गत संग्रह किया है।"

पा०—१. (भा० जी०) बसत ज्यौं...। (प्र० मु०) बसत है...। २. (भा० जी०) त्यौं...। (वें०) तौ...। ३ (वें०) (प्र० मु०) (सुं० ति०)...की तूं पियारी है ..। (सं० प्र०), प्रियपीतम की है पियारी तू...। ४. (वें०) (प्र०) (भा० जी०) केती। ५. (वें० प्र० मु०) (म० मं०) कों चकोर पै...। ६. (सुं० ति०) नहीं तू तौलौं...।

* सुं० ति० (भारतेंदु) १३१, ४४५। र० कु० (अयो०) पृ०, ५७, १३४। म० मं० (अज्ञा०) पृ० ५६, २०७।

साधारँन दृष्टांत की माला जथा—

अरबिंद प्रफुल्लित देखि कें भौर, अचाँनक जाइ अरें पै अरें।
बन-माल-थली लखि कें मृग-सावक, दौरि बिहारि[1] करें पै करें॥
सरसी-ढिंग पाइकें[2] ब्याकुल मींन, हुलास[3] सों कूदि परें पै परें।
अवलोकि गुपाल कों 'दास जू' ए, अँखियाँ तजि-लाज ढरें पै ढरें॥*

वि०—"दास जी प्रस्तुत इस सुंदर उदाहरण के चतुर्थ चरण में उपमेय वाक्य निहित है, पूर्व के तीनों चरणों में उपमानों का कथन है और उपमेय-उपमान वाक्यों का विंब-प्रतिविंब भाव भी है।

काव्य-प्रभाकर रचयिता भानु ने दास जी के इस छंद को परकीया नायिकांतर्गत–'ऊढा नायिका' के और रसकुसुमाकर के संग्रहकर्त्ता ने आलंबन विभाव के अंतर्गत संकलित किया है। अतएव दास जी से पूर्व इस भाव पर रस की खान 'रसखाँन' कहते हैं—

'अति लोक की लाज-समूह में घेरि कें, राखि थकी भव-संकट सों।
पल में कुल-काँनि की मेंड़ नखी, नहिं रोक सकीं पल के पट सों॥
'रसखाँन' सों केतौ उचाटि रही, उचटी न सँकोच की औचट सों।
अलि कोटि कियौ हटकी न रहीं, अटकी अँखियाँ लटकी लट सों॥'

और श्री हरिराय जी कहते हैं—

"सुन राधे नवनागरी हो, हम न करें विसवास।
पूरँन ससि कर-पाइकें, चकोर न धीर धरात॥"

वैधरँम दृष्टांत उदाहरन जथा—

जोबँन-लाभ हमें, लखें[4] स्याँम-तिहारी काँति।
बिनों स्याँम-घँन-छँन प्रभा, प्रभा लहै किहि भाँति॥

वि०—"यहाँ पूर्वार्ध में उपमेय वाक्य श्यामसुंदर की कांति और उत्तरार्ध के उपमान वाक्य में उसकी प्राप्ति का अभाव "विना-स्याँम-घँन०" कहा गया है। इसलिये वैधर्म्य से बिंब-प्रतिबिंब भाव लक्षित है।"

पा०—१. (का० प्र०) (का० का०) निहार। २. (का० प्र०) (का० का०) आइ कें...। ३. (सं० प्र०) बिलास...। (का० का०) बिलास ते कूद...। ४. (प्र०—३) लखें...।

*, का० प्र० (भानु) पृ० १७३। का० का० (च० सि०) पृ० ४३। र० कु० (अ०) पृ० ८४, २१४।

अथ अर्थांतरन्यास लच्छन जथा—

साधारँन कहिऐ बचनँ, कहु अवलोकि सुभाइ।
ता कौं दृढ़[1] पुनि कीजिऐ, प्रघट बिसेसै[2] ल्याइ॥

*

कै बिसेस-हीं दृढ़ करें[3]' साधारँन कहि 'दास'।
साधरमी[4] वैधरँम हूँ, सो 'अरथांतरन्यास॥

वि०--"अर्थांतरन्यास अलंकार के प्रति सर्वमान्य परिभाषा है कि "जहाँ सामान्य का विशेष से और विशेष का सामान्य से साधर्म्य किंवा वैधर्म्य से समर्थन किया जाय तो वहाँ उक्त अलंकार होता है, यथा

"सामान्यं वा विशेषो वा तदन्येन समर्थ्यते।
यत्तु सोऽर्थांतरन्यासः साधर्म्येण तरेण वा॥"

और 'भाषा-भूषण' के रचयिता कहते हैं—

"सामान्य ते बिसेस दृढ़, तब अरथांतरन्यासु।"

जो कि 'चंद्रालोक' संस्कृत का अनुवाद जैसा है। अस्तु, यहाँ साधारणतया-एक अर्थ सामान्य वा विशेष के समर्थन के लिये अन्य (विशेष वा सामान्य) अर्थ रखा जाता है--अर्थात् सामान्य वृतांत का विशेष वृतांत से और विशेष वृतांत का सामान्य वृतांत से समर्थन किया जाता है। इन सामान्य-विशेष में प्रायः एक प्रकृत और दूसरा अप्रकृत होता है। इसलिये इस अलंकार को आचार्यों ने—'विशेष से सामान्य का साधर्म्य से समर्थन,' 'सामान्य से विशेष का साधर्म्य से समर्थन,' 'विशेष से सामान्य का वैधर्म्य से समर्थन' और 'सामान्य से वैधर्म्य का वैधर्म्य से समर्थन' आदि चार भेद किये हैं। दासजी ने इन चारों के उदाहरण प्रस्तुत करते हुए इन (दोनों) की माला भी मानी है। विश्वनाथ चक्रवर्त्ती ने साहित्य-दर्पण (संस्कृत) के काव्यलिंग प्रकरण (दशम परिच्छेद ६३ वाँ श्लोक) में 'काव्यलिंग' और अर्थांतरन्यास अलंकारों की पृथक्ता का वर्णन करते हुए लिखा है कि "कई लोग कार्य-कारण भाव में अर्थांतरन्यास नहीं मानते, वाक्यार्थ-गत काव्यलिंग से ही उसे गतार्थ समझते हैं सो ठीक नहीं, क्योंकि हेतु (कारण)— ज्ञापक, निष्पादक और समर्थक तीन प्रकार का होता है। जहाँ ज्ञापक हेतु होता है वहाँ 'अनुमान' अलंकार होता

पा०—१. (वें०) (प्र० मु०) पुनि दृढ़...। २. (भा० जी०) बिसेस बनाइ। (वें०) बिसेस बनाइ। ३. (सं० प्र०) (वें०) करौ...। ४. (सं० प्र०) (वें०) साधरमहुँ बैधरमत है...। (प्र० मु०) साधरमहिं बैधर्म करि यह...।

है और जहाँ समर्थक हेतु होता है वहाँ अर्थांतरन्यास। इसी प्रकार जहाँ निष्पादक हेतु होता है, वहाँ काव्यलिंग अलंकार समझना चाहिये। अतएव कार्य-कारण भाव के कारण अर्थांतरन्यास काव्यलिंग से भिन्न होता है। यही बात आचार्य 'रुय्यक' ने अपने 'अलंकार-सर्वस्व' के काव्यलिंग प्रकरण में कही है। किंतु पंडितराज जगन्नाथ' ने 'रसगंगाधर' के अर्थांतरन्यास प्रकरण में और काव्य-प्रकाश (संस्कृत) की टीका 'उद्योत'कार ने तथा अप्पय दीक्षित ने 'कुवलयानंद' के अर्थांतरन्यास-प्रकरण में—'कार्य-कारण के संबंध-द्वारा समर्थन में 'काव्यलिंग अलंकार' ही माना है, अर्थांतरन्यास नहीं। इन महानुभावों का वहाँ कहना है कि 'वाक्यार्थ चाहे कांक्षासहित हो वा रहित, यदि कार्य-कारण के संबंध में भी अर्थांतरन्यास मान लिया जायगा तो काव्यलिंग और अर्थांतरन्यास के उदाहरण दोनों आपसे घुल-मिल जाँयगे, इसलिये सामान्य-विशेष संबंध में अर्थांतरन्यास और कार्य-कारण के संबंध में 'काव्यलिंग' मानना ही युक्ति-युक्त है। इसी प्रकार 'उद्भटाचार्य' के 'काव्यालंकार-सारसंग्रह' के फुटनोट में और बाबू ब्रजरत्न दास के 'अलंकार-रत्न' में अर्थांतरन्यास तथा दृष्टांतालंकार का पृथकत्व दिखलाते हुए कहा गया है कि 'अर्थांतरन्यास में समर्थ्य-समर्थक दोनों में एक विशेष और दूसरा सामान्य होता है, अर्थात् सामान्य का विशेष से एवं विशेष का सामान्य से समर्थन होता है--समर्थ्य-समर्थक भाव प्रधान रहता है और दृष्टांत में समर्थ्य-समर्थक दोनों सामान्य अथवा विशेष होते हैं। यहाँ सामान्य का सामान्य से और विशेष का विशेष से समर्थन होते हुए भी समर्थ्य-समर्थक भाव प्रधान न रहकर बिंब-प्रति-बिंब भाव प्रधान रहता है।

साधारँम सामान्य को दृढ़ता बिसेस ते उदाहरन जथा –

जाकौ जासों होइ हित, वहै भलौ तिहिं 'दास'।
जगत ज्वाल-मैं जेठ-ही, जी सों चहैं जवास॥

*

बरजत-हू जाचक जुरें, दाँनबंत की ठौर।
करी करँन-मारत रहै, तौऊ तजत¹ न भौंर॥

वि०—"ये दोनों उदाहरण क्रमशः—विशेष से सामान्य का साधर्म्य से समर्थन और सामान्य से विशेष का साधर्म्य से समर्थन रूप अर्थांतरन्यास के हैं।

पा०—१. (स० प्र०) तऊ भ्रमें तत भौर। (भा० जी०) तजत तऊ नहिं···। (वें०) तऊ भ्रमत हैं भौर।

प्रथम स्वमन के दोष से सुंदर-असुंदर वस्तु भी असुंदर-सुंदर लगती है, इस सामान्य बात को यहाँ जेठ-ज्वाल से प्रदर्शित की गयी है, अर्थात् जिससे जिसका हित हो वही भला है—सुंदर है, यह सामान्य बात जगत को जलानेवाले जेठ-ज्वाल को जवासा-द्वारा जो से चाहने में कहा गया है। दूसरा उदाहरण भी स्फुट है।"

साधरँम की माला जथा—

धूरि चढ़ै नभ पौंन-प्रसंग ते, कीच भई जल-संगत पाई।
फूल-मिलें नृप पै पहुँचै कृमि, काठँन[१]-संग अनेक बिथाई॥
चंदन-संग कुदारु सुगंध ह्वै, नींम प्रसंग लहै करुवाई।
'दास' जू देख्यौ सही सब ठौरँन, संगत कौ गुँन-दोष न जाई॥ *

बैधरँम ते जथा—

जासों[२] जाकौ होइ हित, बहै भलौ तिहिं[३] 'दास'।
साँमन जग-ज्याँमन गुँनों, का लै करै जवास॥

अथ माला जथा—

पंडित, पंडित सों सुख-मंडित, सायर, सायर के[४] मँन-माँनें।
संतै, संत भँनंत भलौ, गुँनबंतन कों गुँनबंत बखाँनें॥
जा पर जाकौ[५] हेत नहीं, कहिऐ सु कहा तिहिं की गति जाँनें।
सूर कों सूर, सती कों सती, अरु 'दास' जती कों जती पैहचाँनें॥ †

"इससे पूर्व 'वेंकटेश्वर' की मुद्रित प्रति में 'अस्य तिलक' और—'पंडित कों पंडित सों आनंद होत है, अरु साइर कों साइर सों आनंद होत है, संत ते संत कों हरष होत है, गुनवंत सों गुनवंत कों हरष होत है तथा जैसे सूर कों सूर ते आनंद होत है, सती कों सती ते आनंद होत है, तैसें-हीं जिहिं ते जिहिकौ सबंध नहीं है वाते वाकों का आँनंद होइगौ, जैसे—पंडित और मूर्ख बेस्या और संत·····आदि।' यह ग्रंथकार दासजी कृत 'तिलक' नहीं है, क्योंकि अन्यत्र के तिलकों को देखकर इसकी कृत्रिमता स्वय लक्षित हो जाती है।"

पा०—१. (प्र० मु०) काँटन ··। (भा० जी०) काँटन संग अनेक बधाई। २. (वें०) (भा० जी०) (प्र० मु०) जाकौ जासों···। ३. (वें०) हित···। ४. (सं० प्र०) सों सुख माँने। ५. (वें०) जा पहँ जा कहँ···। (प्र० मु०) जापर जाकर ··।

* का० कौ० (रा० न० त्रि०) पृ० ४०३ प्र० भा०। † का० कौ० (रा० न० त्रि०) पृ० ४०३—प्र० भा०।

साधरँम 'बसेस की दृढ़ता सामान्य ते जथा—

कैसे फूले देखियतु[1] प्रात कँमल के गोत।
'दास'[2] ज्यों मित्र-उद्दोत लखि, सबै प्रफुल्लित होत॥

वि०—"दासजी की इस उक्ति पर रहीम की एक उक्ति याद आ गयी है, देखिये वह कितनी सुंदर है, यथा—

"सब ही कों सुख होत है, निरखि आपनों गोत।
ज्यों बड़री अँखियाँनि लखि, आँखिन कों सुख होत॥"

वैधरँम विसेसकी दृढ़ता सामान्य ते जथा—

मूँढ़ कहा[3] गथ-हाँनि की, सोच करत मल हाथ।
आदि-अंत भरि इंदिरा, रही कोंन के साथ॥

"इसके बाद वेंकटेश्वर प्रेस वाली प्रति मे 'तिलक' शीर्षक के अतर्गत यह और लिखा मिलता है—'हे मूर्ख, तुम क्यों सोच करते हो, यह संसार में पुरुष जन्मते हैं, धनवान होते हैं, उनके पास आदि अंतभरि-लक्ष्मी नहीं रहती अतएव सोच करना अनुचित है।' यह भी पूर्व की भाँति बेतुका है······।"

अथ बिकस्वर अलंकार लच्छन जथा—

कहि बिसेस सामान्य पुँनि, कहिऐ बहुरि बिसेस।
ताहि 'बिकस्वर' कहत हैं, जिनकें[4] बुद्धि असेस॥

वि०—विशेष का प्रथम सामान्य से समर्थन कर पुनः उस सामान्य का समर्थन विशेष किये जाने पर 'विकस्वर' अलंकार कहा गया है, यथा—

"यस्मिन्विशेष सामान्य विशेषाः स विकस्वरः।

चंद्रालोक ५।६१

विकस्वर का अर्थ है विकास और विकास का अर्थ है—"विकाशो विजने-'स्फुटे" (विजय कोष शब्द कल्पद्रुम)। "अतएव किसी विशेष अर्थ का सामान्य-अर्थ से किया गया समर्थन संतोष-प्रद न मान कर फिर उसे भली भाँति स्पष्ट करने के लिये दूसरे विशेष को उपमा या अर्थांतरन्यास की रीति से समर्थन किया जाने पर उक्त अलंकार की स्थिति कही गयी है। संस्कृत-अलंकाराचार्यों ने भी उक्त विधि के अनुसार 'विकस्वर' के उपमा-द्वारा और अर्थांतरन्यास-विधि से दो भेद माने हैं। दासजी ने इसका एक ही भेद द्विरूप से माना है।"

पा०—१. (भा० जी०) देखिये··। २. (वें०) (प्र० मु०) दास मित्र-उद्योत (उद्योत) लखि। ३. (वें०) कहाँ मत··। ४. (प्र०) (प्र० मु०) की···।

उदाहरन जथा—

देति[१] सुकीया तू पी कों सुखै, निज काज[२] बिगारति है मति-मैली।
'दास जू' ए[३] गुँन हैं जिँन में, तिँन-हीं की रहै जग कीरति फैली ॥
बात सही बिधि कींनीं[४] भली, तिहिँ[५] यों-ही भलाइन[६] सों निरमैली।
काढ़ि अँगारँन में गढ़ि[७] गेरें-हुँ, देति सुबासनाँ चंदँन--चैली ॥

वि०—"यह माननी नायिका के प्रति मान-मोचन रूप में सखी वा दूती की उक्ति है कि "स्वकीया के विशेषार्थ (प्रियतम को नित्य-आनंद देने वाली) का "काज बिगारति है मतिमैली'' के सामान्यार्थ से समर्थन करने को उपमा और अर्थांतरन्यास प्रयुक्त चंदन-चैली के विशेषार्थ से सुंदर समर्थन—अर्थात् क्रोध-छोड़ नायक से मिलने का वर्णन, कितने अच्छे ढंग से किया है।

एक बात, यह कि इस अलंकार को कुवलयानंद (संस्कृत) की भाँति भाषा के अलंकार ग्रंथों में भी स्वतंत्र अलंकार रूप में गणना की गयी है, पर संस्कृत के अन्य अलंकार-सर्वस्वादि ग्रंथों में ऐसे उदाहरण अर्थांरतन्यास के अंतर्गत-ही बतलाये हैं। पंडितराज जगन्नाथ ने विकस्वर के उपमा संबंधित पूर्व रूप को उदाहरण अलंकार के और अर्थांतर-रीति से विकसित के द्वितीय रूप को अर्थांतरन्यास के अंतर्गत माना है। अस्तु, मुख्यतया यह अलंकार उदाहरण और अर्थांतरन्यास के अंतर्गत-ही कहा-सुना जाना चाहिये।''

निदरसनाँ अलंकार लच्छन जथा—

एक क्रिया ते देति जहँ, दूजी क्रिया लखाइ।
सत-असत-हुँ ते[८] कहत हैं, 'निदरसनाँ' कबिराइ ॥

*

सँम अँनेक बाक्यर्थ कौ, एक कहै धरि टेक।
एकै पद[९] के अर्थ कों, थापै ये वौ एक ॥

वि०—"संस्कृत-अलंकाराचार्यों के 'निदर्शना-लक्षण'के प्रति विविध मत हैं, फिर भी बहु-मत संपादित रूप से कहा जा सकता है कि संभव-असंभव होंते हुए भी

पा०—१. (सं० प्र०) देती सुकीय...। २. (सं० प्र०) (वें०) निज केती बगारत हू..। ३. (वें०) अवगुन...। ४. (सं० प्र०) (वें०) (प्र० मु०) कीन्हीं भली...। ५. (सं० प्र०) तौ हियौई भलाइन सों .। (प्र० मु०) तोहिँ...। ६. (वें०) भलौ इन सों...। ७. (सं० प्र०)... गहि डारें हूँ, देति सुबासता...। (वे०)...गढ़ि गार हूँ, देति सुबासता...। ८. (भा० जी०) सों...। (वें०) कों...। ९ (स० प्र०) पद कर अर्थ कै...।

जब वस्तुओं का संबंध बिंब-प्रतिबिंब भाव से निदर्शन किया जाय—निश्चय रूप से दिखलाया जाय तो 'निदर्शना' होती है, यथा—

"संभवन्वस्तु संबंधोऽसंभवन्वाऽपि कुत्रचित् ।
यत्र बिंबानुबिंबत्वं बोधयेत् सा निदर्शना ॥"

अथवा—"अभवन्वस्तु संबंध उपमापरिकल्पकः" (काव्य-प्रकाश) अर्थात्, वस्तुओं के असंभव संबंधों की उपमा जहाँ कल्पना की जाय वहाँ निदर्शना होती है। मम्मट की यह परिभाषा 'उद्भट' से ली हुई है और निदर्शना माला की मान्यता रुय्यक-जन्य है, इत्यादि। ब्रजभाषा के भूषण भूषण कवि कहते हैं—

"सहस वाक्य जुग अरथ कौ, करिऐ एक अरोप ।
भूषन ताहि 'निदर्सनाँ', कहत बुद्धि दै ओप ॥

और इसके भेद—

"एक क्रिया सों निज अरथ, और अर्थ कौ ग्याँन ।
ताहू सों जु 'निदर्सनाँ, भूषन कहत सुजाँन ॥"

तथा भाषा-भूषण रचयिता महाराज जसवंतसिंह जोधपुर कहते हैं—

"कहिऐ त्रिबिध 'निदर्सनाँ, बाक्य-अर्थ-सँम दोइ ।
एक बिसें पुनि और गुन, और बस्तु में होइ ॥

*

कहिऐ कारज देखि कछु, भलौ-बुरौ फल-भाव ।"

इत्यादि···। अतएव संस्कृताचार्यों के अभिमत से निदर्शना के—जहाँ, वाक्य वा पद के अर्थ का असंभव संबंध उपमा का परिकल्पक हो वहाँ प्रथम' और 'जहां स्वरूप तथा उस (अपने स्वरूप) के कारण का संबंध अपनी क्रिया-द्वारा बोध कराये—अपनी क्रिया द्वारा दृष्टांत रूप में उसका कारण दिखलाये जाने पर 'द्वितीय निदर्शना' कही गयी है। प्रथम निदर्शना में जिस प्रकार असंभव का संबंध उपमा की कल्पना के आश्रित है—उसे वह कराती है, उसी प्रकार द्वितीय में संभावित संबंध उपमा की कल्पना कराती है। अस्तु, प्रथम निदर्शना के वाक्यार्थ और पदार्थ रूप से दो भेद तथा उनकी माला भी कही गयी है। कुछ आचार्यों ने निदर्शना-भेद रूप में—संभव वस्तु-संबंधा और असंभव-वस्तु-संबंधा नाम भी दिये हैं और अंतिम—असंभव वस्तु संबंधा के पदार्थ-वाक्यार्थ-वृत्ति रूप से दो भेद किये हैं। ये भेद एक वाक्यगत तथा अनेक वाक्यगत के नामांतर हैं, कोई पृथक संज्ञा नहीं। ब्रज-भाषा के अलंकार आचार्यों ने जैसा कि दास जी ने कहा है—संभव-वस्तु-संबंधा के सत्-असत् अर्थ प्रकट करने के कारण चतुर्थ

और पंचम निदर्शना भी मानी है । इसी प्रकार असंभव-वस्तु-संबंधा से भी प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ और पंचम निदर्शना भी मानी है । सत्-सत् वाक्यार्थ की एकता में, असत्-सत् वाक्यार्थ की एकता में, पदार्थ की एकता में और क्रिया की दूसरी क्रिया की एकता में निदर्शना कही सुनी जाती है । मतिराम जी ने भी निदर्शना के प्रथम, द्वितीय, तृतीय भेद कह सत्-असत् रूप से पाँच भेद तथा पद्माकर जी ने–प्रथम, द्वितीय के अनंतर सदर्थ-असदर्थ रूप से चार-ही भेदों का उल्लेख किया है । अन्य आचार्यों ने निदर्शना के मुख्य भेद तीन ही माने हैं, जैसे–

"१. प्रथम निदर्शना—"जो, सो, जे, ने आदि शब्दों-द्वारा असम वाक्यों को सम करना ।'

२. द्वितीय निदर्शना—"उपमान के गुण उपमेय में स्थापित करना ।"

३. तृतीय निदशना—उपमेय के गुण उपमान में स्थापित करना ।"

आगे इन आचार्यों का यह भी कहना है कि 'दृष्टांत अलंकार' में भी निदर्शना की भाँति उपमेय-उपमान वाक्यों का परस्पर में बिंब-प्रतिबिंब भाव होता है, पर वे वहाँ निरपेक्ष होते हैं, अर्थात् वहाँ उपमानों के वाक्यार्थ में दृष्टांत दिखलाकर उपमेय के वाक्यार्थ की पुष्टि की जाती है और निदर्शना में उपमेय-उपमान-वाक्य परस्पर में सापेक्ष होते हैं, क्योंकि यहाँ उपमेय के वाक्यार्थ में उपमान-वाक्यार्थ का आरोप किये जाने के कारण दोनों का परस्पर संबध रहता है, अर्थात् निदर्शना-दृष्टांत में यही भेद है कि प्रथम में वाक्य वा वाक्यों का अर्थ तब तक पूर्ण नहीं, जब तक कि बिंब प्रति-बिंब-भाव से साम्यता का आरोप न किया जाय, तब तक निदर्शना नहीं और दृष्टांत में अर्थ पूरा बैठ जाने के बाद बिंब-प्रतिबिंब भाव से साम्य ज्ञान होता है । निदर्शना में साम्य का आरोप इसलिए किया जाता है कि वहाँ दो वस्तुओं में संबंध स्थापित हो, तथा दृष्टांत में अर्थ पूरा होने पर साम्यता की प्रतीति होती है । दृष्टांत में दो स्वतंत्र वाक्य बिंब-प्रतिबिंब रूप में होते हैं, निदर्शना में वर्ण्य-वाक्य का अर्थ दूसरे वाक्य के अर्थ से सामंजस्य मिलाने के लिये अन्य प्रकार से आरोपित किया जाता है ।

अलंकार-आचार्यों ने रूपक और निदर्शना में भी भेद दिखलाते हुए कहा है कि "जहाँ कर्त्ताओं का अभेद शब्द-द्वारा कथन कर क्रियाओं का अभेद शब्दों से न कह कर अर्थ के द्वारा कराया जाय वहाँ निदर्शना और जहाँ कर्त्ताओं का अभेद-शब्द-द्वारा न कह कर अर्थ से बोध कराया जाय तथा क्रियाओं का अभेद शब्द द्वारा कराया जाय, वहाँ रूपक होता है ।"

अथ प्रथम उदाहरन सत वाक्य की एकता ते जथा—

तीरथ तौ[1] मँन न्हाँमन कौं, बहु दाँनन दै तप-पुंज तपै तू।
जोंम के[2] साँमुहैं जंग जुरै, दृढ़ होंम कें सीस धरै अरि पै तू॥
'दास' जू बेद-पुराँनन कौं करि कंठ मुखागर नित्त लपै तू।
द्यौस-तमाँम में जौ[3] इक जाँम-हूँ, राँम कौ नाँम निकाँम जपै तू॥

वाक्यारथ असत की एकता ते जथा—

प्राँन-बिहींन के पाँइ[4] पलोटि, इकेलें-हूँ,[5] जाइ घँने बँन रोयौ।
आरसो अंध के आगें धरी,[6] बैहरे ते[7] मतौ करि उत्तर जोयौ॥
ऊसर में बरस्यौ बहु बारि, पखाँन के ऊपर पंकज बोयौ।
'दास' बृथाँ जिन[8] साहब सूँम के,[9] सेबँन में अपनों दिन खोयौ॥*

वाक्यारथ असत-सत की एकता ते जथा—

जुगनू[10] हूँ जु भाँन के आगें भली-बिधि, आपनो जोतै[11] कौ गुँन गइ[12] है।
माँखी हूँ[13] जाइ खगाधिप सों उड़िबे की बड़ी-बड़ी बातं चलइ[14] है॥
'दास'[15] जवै तुक-जोरँनहार, कबिंद उदारँन की सरि पइ[16] है।
तौ करतार-हु सों औ कुँम्हार सों, एक दिनाँ झगरौ ठँनि[17] जइ है॥

वि०—"वेंकटेश्वर की प्रति में इसके बाद "अस्य तिलक" की पगड़ी बाँध कर लिखा गया है-"जुगनू जो है सो मार्त्तंड के सामनें ज्योति की प्रशंसा करेगा, माखी जो है सो गरुड़ के सामने अपने उड़िबे की प्रशंसा करैगी, तुक जोरने वाले जितने हैं सो कवियों के सामने प्रशंसा करेंगे अपने बनाने की, तौ हे भाई करतार, जो है ब्रह्मा और कुम्हार जो है सो इनमें तकरार होगी।"

पा०—१. (सं० प्र०)...तोम नहामनि कै ।। (प्र० मु०) तौ मन न्हाननि...। (वें०) तो मन हाननि के...। २. (वें०) कै...। ३. (सं० प्र०)...में आठ-हूँ जाम में...। ४. (वें०) पाँइ पै लोट्यो ..। (प्र० मु०) पाँइ पलोट्यौ...। ५ (प्र०) (वें०) है ..। (प्र०—३) इकले है जाइ...। ६. (वें०) (प्र० मु०) धरयौ। ७. (वें०) (प्र० मु०) सों...। ८. (सं० प्र०) जस...। ९. (सं० प्र०) की...। १०. (सं० प्र०) जूगनूँ भाँनु..। (वें०) जोगनू भाँनु ..। ११. (सं० प्र०) (वें०) ज्योतिन के गुन...। (प्र० मु०) जोतिन्ह के ..। १२. (सं० प्र०) (प्र०) (वें०) गै है। १३. (सं० प्र०) (प्र०) (वें०) (प्र० मु०) माँखियौ जाइ..। १४. (सं० प्र०) (प्र०) (प्र० मु०) चलै है। १५. (सं० प्र०) 'दास' जू पै तुक जोरनहार...। १६. (सं० प्र०) (प्र०) (वें०) (प्र० मु०) पै है। १७. (सं० प्र०) (प्र०) (वें०) (प्र० मु०) बनि पै है।

*, क० कौ० (रा० न० त्रि०) पृ० ४०३ प्रथ० भा०।

पुनः उदाहरन जथा—

पूरब ते फिर पच्छिम-ओर, कियौ सुर[1] आपगा धारँन चाँहैं।
तूलँन-तोपिकैं[2] हे मति-मंद, हुतासँन-दंद प्रहारँन चाँहैं॥
'दास' जू देखि कलाधर[3]-कालिमा, छूरिँन[4] छील जु डारँन चाँहैं।
नीति-सुनाइ कैं मो मँन[5] तें, नँदलाल कौ नेह-निवारँन चाँहैं॥*

वि०—"रसकुसुमाकर के रचयिता ने इस छंद को 'सखी' (जिससे नायक-नायिका अपनी गुप्त-प्रकट कोई बात नहीं छिपाते) के उदाहरण में संकलित किया है। सखी की व्युत्पत्ति के प्रति 'पद्माकर' का कथन जैसा ऊपर अंडर कोमा में लिखा जा चुका है—

"जिन सौं नायक-नायिका, राखें कछु न दुराउ।
सखी कहावें ते सुघर, साँची सरल-सुभाउ॥"

और इनके पूर्व-वर्णित कार्य—

"काज-सखिन के चार हैं, मंडन, सिच्छा-दाँन।
उपालंभ, परिहास पुँनि, बरनँत सुकबि सुजाँन॥

❀

मंडन तिय-हि सिगारिबौ, सिच्छा बिनै-बिलास।
उपालंभ सो उरहँनों हँसी-करँन परिहास॥"

अस्तु, दासजी की यह उक्ति ऊपर कथित किसी विषय के अंतर्गत नहीं आती, क्योंकि यह सूक्ति स्पष्टतः नायिका की सखि वा दूती-प्रति है, सखी की नायिका-प्रति नहीं। अतः यह परकीया नायिका की उक्ति सखी-प्रति है, जो उसे लोक-रक्षक सलाह दे रही है। रसखाँन ने भी यही बात बड़े सुंदर ढंग से उद्धव के प्रति कहलाई है, यथा—

"लाज कौ लेप चढाइकें अंग, पचीं सब सीख कौ मंत्र सुनाइकें।
गारुड़ू ह्वै ब्रज-लोग थक्यौ, करि औषद बेसक सौंह दिवाइकें॥

पा०—१. (सां० प्र०) सुर पाइ गंधारन...। (भा० जी०) सुर औ पग...। २. (वे०)... कै है मति-अंध...। (र० कु०) के ज्यों मति मंद, हुतासन दंड...। (वे०)..., हुतासन-धंध...। ३. (वे०) दास जू देख्यौ कलानिधि-कालिमाँ...। (सां० प्र०) (र० कु०) कलानिधि...। ४. (भा० जी०) (वे०) छूरीन सों छिल...। (सु० ति०) छूरी न ते छिल..। ५ (सु० ति०) (र० कु०) मन ते...।

*, सु० ति० (भा०) पृ० ५६, १८८। र० कु० (अ०) पृ० ५५, १२६।

ऊधौ सों को 'रसखाँन' कहै, जिन चित्त धरौ तुम एते उपाइ कें।
कारे-बिसारे कों चाहें उतारयौ, अरे बिष बावरे राख लगाइकें ॥

सत्य है······

"दर्द-दिल का मजा वो क्या जाने ।
जिसका दिल उम्र-भर दुखा ही नहीं ॥"

पदारथ की एकता ते जथा—

इँन द्यौसँन[1] मँन-भाँमती, ठैहराए स बिबेक।
सूर, ससी, कंटक, कुसुँम,[2] गरल, गंधबह एक ॥

पुनः उदाहरन जथा—

ब्याल, मराल[3] सुडाल कराकृति, सु भाँमते जू की भुजाँन में देख्यौ ।
आरसी, सारसी, सूर, ससी-दुति, आँनन आँनद-खाँन में देख्यौ ॥
पै मृग, मीन, ममोलंन[4] की छबि, 'दास' उन्हीं अँखियाँन में देख्यौ ।
जो रस ऊख, मयूख, पियूख में, सो हरि की बतियाँन में देख्यौ ॥*

वि०—"भारती-भूषण के कर्त्ता 'केड़िया'जी ने इस छंद में 'द्वितीय-निदर्शना' मानकर कहा है—'जिसमें उपमेय के गुण का उपमान में अथवा उपमान के गुण का उपमेय में अभेद रूप से आरोप किया जाय वहाँ उक्त अलंकार होता है।" अतः इस द्वितीय 'निदर्शना' को 'पदार्थ-वृत्ति निदर्शना' भी कहते हैं और इसके उपमेय के गुण का उपमान में आरोप तथा उपमान के गुण का उपमेय में आरोप रूप से दो प्रकार के कहे जाते हैं। अतएव यह छंद द्वितीय उपमान के गुण का उपमेय में आरोप रूप प्रथम चरण में—ब्याल, मृनाल और सुंड आदि उपमानों का आकृति वाला गुण भुज उपमेय में, दर्पण, सूर्य, शशि उपमानों की द्युति का आरोप प्रिय-मुख के उपमेय में मृग, मीन और खंजन उपमानों का नायक की आँख उपमेय में तथा रस रूप ऊख, मयूख एवं पियूष उपमानों का आरोप हरि रूप नायक की बातों में स्थापित किया गया है। इसलिये यह उक्ति निदर्शना की 'माला' है।"

पा०—१. (भा० जी०) (वें०) (प्र० मु०) दिबसन मन भाँवती, ठहरायौ ९···। २. (प्र० मु०) सुकुम···। ३. (प्र० मु०)·· मृनाल करीकर आकृति···। (वें०) बाल मृनाल सुढाल कराकृति···। ४. (सं० प्र०) मृलानि···।

* भा० भू० (के०) पृ० १७७।

एक क्रिया की दूजी क्रिया ते एकता जथा--

तजि आसा तँन प्राँन की, दीपै[1]-मिलत पतंग ।
दरसावत सब नरँन कौं, परँम प्रेम कौ ढंग ॥ *

पुनः जथा—

पद्मिनि-उरजन पै लसत, मुकत-माल की[2] जोति ।
सँमझावति यों सुथल गति, मुक्त[3]नरँन की होति ॥

वि०—"दासजी के ये दोनों उदाहरण सुंदर है—समुचित हैं । कहने का ढंग और अदा देखने लायक है । प्रेम पर कुछ कहना उचित नहीं, क्योंकि पतंगे का प्रेम उच्च है और बहुतों ने वर्णन किया है । द्वितीय दोहे पर विहारी का दोहा याद आ गया है, जैसे---

"अजों तरोनाँ-ही रह्यौ, स्रुति-सेवत इक अंग ।
नाक बास बेसर लह्यौ, रहि मुकँन के संग ॥"

—सतसाई

एक बात और, यह कि--प्रथम दोहा--"तजि आसा तँन-प्राँन की०" को भारती-भूषण (केडिया) में तृतीय निदर्शना जिसमें अपनी सत्-असत् (भली-बुरी) क्रिया से अन्य को सत्-असत् व्यवहार की शिक्षा दी जाय के उदाहरण में उद्धृत किया है और कहा है कि "यहाँ भी पतंगे का प्राण-आशा त्याग कर दीपक से मिलने की क्रिया-द्वारा शुद्ध प्रेम के सदर्थ की शिक्षा देना है और इस उदाहरण में यही बात है ।

ऊपर उद्धृत विहारीलाल की उक्ति पर ये संस्कृत-सूक्तियाँ भी श्रेष्ठ हैं, जो नीचे दी गयी हैं, यथा—

"स्नेहं परित्यज्य निपीयधूम कांताकचा मोक्षपथ प्रसक्ताः ।
नितंबसगारपुनरेव बद्धा अहो दुरता विषयेषु सक्ति ॥"

अथवा—

"स्नेह संवर्धितान्बालान्दृढं बध्नाति सुंदरी ।
करुणा हरिणाक्षीणां कुत कठिन चेतसाम् ॥"

अतएव संसार-सागर से पार होने के लिये जीवनमुक्त पुरुषों की संगति भी एक मुख्य उपाय है, यही बात इन दोहों और संस्कृत-सूक्तियों में सुंदर श्लेष

पा०—१. (भा० जी०) (वें०) (प्र० मु०) दीपहि···। २. (सं० प्र०) (वें०) जुत···। ३. (भा० जी०) मुक्ति··· ।

में लपेटकर निराले ढंग से कही गयी है……'इति, स्वर्गीय पं० पद्मसिंह-वचनात्।'

अथ तुल्लजोगता अलंकार लच्छन जथा--

सँम वस्तुँन-गँनि बोलिऐ, एक बार-ही धर्म ।
सँम-फल-प्रद हित-अहित करै, काहू कौ ये कर्म ॥

*

जा[1]-जा सँम जिहिं कहँन कों वहै-वहै कहि ताहि ।
'तुल्लजोगता' भूषनें,[2] त्रिबिध[3] जु देहि निबाहि ॥'

वि०—दासजी के अभिमत से तीन प्रकार की 'तुल्ययोग्यता' भाषा-भूषण की भाँति (१, जहाँ समवस्तुओं का एक ही धर्म कथन हो, २. जहाँ एक-ही कर्म द्वारा हित-अनहित दोनों का समान फल कहा जाय और ३. जिस-तिस को, उन-उन समान कहा जाय, होती है । यथा—

"तुल्लजोगता तींन ए, लच्छँन क्रँम ते जाँनि ।
एक सब्द में हित-अहित, बहु में एकै बाँनि ॥

*

बहु सों समता गुनँन करि, इहि बिधि भिन्न प्रकार ।
गुँन-निधि नींकें देति तू, तिय कों, अरि कों, हार ॥"

संस्कृत-अलंकार-आचार्यों का कहना है कि "जब अनेक प्रस्तुत-अप्रस्तुत पदार्थों का उनके औपम्य (उपमेय-उपमान भाव) के साथ एक धर्म से संबंध दिखलाया जाय वहाँ "तुल्ययोगिता" अलंकार होता है। यहाँ धर्म से गुण-कार्य दोनों का कथन है । यह केवल प्रस्तुत होने अथवा केवल अप्रस्तुत होने तथा उनके गुण वा क्रिया के कारण धर्मों की एकता होने से चार प्रकार की होती है ।

तुल्ययोगिता का अर्थ है—"तुल्य पदार्थों का योग । अतएव अनेक प्रस्तुत-अप्रस्तुतों का गुण वा क्रिया-रूप एक धर्म में योग (अन्वय) होने पर यह अलंकार माना जाता है। अनेक प्रस्तुतों (उपमेयों) अथवा अप्रस्तुतों (उपमानों) के एक ही धर्म कहे जाने पर प्रथम, हित-अनहित में तुल्य वृत्ति-वर्णन, अर्थात् शत्रु-मित्र के साथ एक-सा वर्त्ताव किये जाने में द्वितीय तथा प्रस्तुत (उपमेय) की उत्कृष्ट गुण वालों के साथ गणना की जाने पर तृतीय तुल्ययोगिता कही जाती

पा०—१. (प्र० मु०) जेहि-जेहि के सँम कहँन··· । २. (वें०) (भा० जी०) (प्र० मु०) भूषन-हिं··· । ३. (प्र० मु०), निधरक देहु निबाहि ।

है। प्रथम तुल्ययोगिता में उपमेय-उपमान-भाव छिपे रहते हैं—अनेक उपमेय-उपमानों का एक धर्म कहा जाता है, पर उपमा की भाँति वहाँ सादृश्य की योजना करने वाले साधारण धर्म-वाचक शब्दों का प्रयोग नहीं किया जाता। इसलिये प्रथम को प्रस्तुतों के एक धर्म तथा अप्रस्तुतों के एक धर्म वर्णन करने पर दो प्रकार की भी इसे कह सकते हैं।"

अथ उदाहरन समवस्तुँन कों एकबार धरम ते जथा—

साँझ-भोर निसि-बासर-हुँ, क्यों-हूँ छींन न होति।
सीत-किरँन की कालिमा, बाल-बदन[1]-छबि-जोति॥

वि०—"सम वस्तुओं का एक धर्म - प्रस्तुतों (उपमेयों) का एक धर्म रूप दासजी का यह प्रथम निदर्शना का उदाहरण—चंद्र की कालिमा और बाल-बदन की छबि दोनों वर्णनीय होने के कारण प्रस्तुत हैं। इन दोनों का—"साँझ-भोर निसि-बासर-हुँ क्यों हूँ छींन न होति" रूप एक-ही क्रिया रूप धर्म का वर्णन किया गया है, अतः उक्त तुल्ययोगिता का उदाहरण है।"

पुनः उदाहरन जथा—

थाह न पाइऐ गँभीर बड़े[2] हैं, सदाँ-ही रहैं[3] परिपूरँन-पाँनीं।
एकै[4] बिलोकि कें श्रीजुत 'दास जू' होत उँमाहिल[5] में अँनुमाँनीं॥
आदि वही मरजाद लएँ रहैं, है जिनकी मैंहमाँ जग-जाँनीं।
काहू के[6] क्यों-हूँ घटाएं घटै नहिँ सागर औ गुँन-आगर प्राँनीं[7]॥*

वि०—"यहाँ भी वही पूर्व कथित बात है कि सागर और गुणों के आगार प्राणी रूप दोनों के प्रस्तुतों (उपमेयों) का एक धर्म—"काहू के क्योंहू घटाऐं घटै नहिं०" आदि एक धर्म कहा गया है। इसे श्लेष-मिश्रित तुल्ययोगिता भी कह सकते हैं। साथ ही पूर्व उदाहरण को वर्ण्यों की धर्म-एकता रूप तुल्ययोगिता कहा जा सकता है।"

पा०—१. (सं० प्र०)—बदँन की जोति। २. (सं० प्र०) (स० स०) बड़ो है...। ३. (स० स०) रहै...। ४. (स० स०) राकै...। ५ (स० स०) उमाहित...। ६.(वे०) कौ...। ७. वे० की प्रति में इस छंद के "भावार्थ" शीर्षक के नीचे—"विशेष क्या लिखूं सागर जो है औ गुण आगर प्राणी है तिनकी महिमा किसी के घटाए कमती नहीं होती।" और लिखा है।

*, स० स० (ला० भ० दी०) पृ० १४५, ११६।

द्वितीय तुल्लजोगता हिताहित के सम-फल ते जथा—

जे तट पूँजन कों बिस्तारे, पखारें जे अंगन की मलिनाई।
जो तुब जीवँन लेति हैं[1] तिन्हें जीवँन देति है आप दिढ़ाई[2] ॥
'दास' न[3] पापी, सुरापी, तपी औ[4] जापी हितू-अहितू बिलगाई।
गंग तिहारी तरंगँन सों, सब पावें पुरंदर की प्रभुताई ॥*

वि०—"हिताहित का समफल, अर्थात् शत्रु-मित्र दोनों के साथ समान वर्त्ताव किये जाने पर दूसरी तुल्ययोगिता कही गयी है। अतः यहाँ पूजन करने वाले जपी-तपी और शरीर के मल धोने वाले पापी, सुरापी रूप हित-अहित कर दोनों को श्री गंगा-द्वारा इंद्र की प्रभुता दी जाने पर समान वृत्ति कही गयी है। इसलिये द्वितीय तुल्ययोगिता का यह भेद महाराज भोजराज कृत "सरस्वती-कंठा-भरण" के अनुसार 'चंद्रालोक' और 'कुवलयानंद' में भी कहा गया है और उदाहरण—

"संकुचंति सरोजानि स्वैरिणीवदनानि च।
प्राचीनाचलचूडाग्र चुंबिबिंबे सुधाकरे ॥"

—चंद्रालोक, ५, ४२।

यह भी श्लेष-मिश्रित होती है.......।"

पुनः उदाहरन जथा—

जे[5] सींचें सरपिष-सिता, अरु जे[6] हँनें कुठाल[7]।
कटु लागै तिँन दुहुँन कों, वहै[8] नींम की छाल ॥

वि०—"अर्थात् नींम की छाल घी-सक्कर से सीचने वाले और उसे काटने वाले दोनों को कड़वी लगती है, न कि सीचने वाले को मीठी और काटने वाले को कड़वी। सर्पिष-सिता = घी-चीनी। कुठाल = कुठार।"

पा०—१. (सं० प्र०)...है, देति है, जीवन जे करि आइ ढिठाई। (वें०) है जीवन देत है जे करि आप ढिढ़ाई। २. (अ० मं०) ढिठाई। ३. (अ० र०) जू...। ४. (वें०) (प्र०) (अ० म०) (अ० र०) अरु। (प्र०-३) बरु...। ५. (भा० जी०) (वें०) जो...। ६. (भा० जी०) (वें०) जो...। ७. (प्र०—३) कुठार। ८. (प्र०—३) इहै नींम की छार। (सं० प्र०) इहै नींम की चाल।

*, अ० मं० (पो०) पृ० १६४। अ० र० (अ० र० दा०) पृ० ४२।

तृतीय तुल्लजोगता सम ताकों मुख्य कहिवे ते जथा—

सोवति-जागति सुख-दुखौ,[1] सोई नंद-किसोर।
सोई ब्याधि,[2] सोई बैद है, सोई साहु, सोई चोर॥

*

जाइ जुहारों कौन कों, कहा[3] काहु सों काँम।
मित्र, मात, पित, बंधु, गुरु, साहिब मेरौ राँम॥

वि०—"इस तृतीय तुल्ययोगिता के प्रति 'बहु उत्कृष्ट गुनँन की समता' शीर्षक भी दिया गया मिलता है। अस्तु, जहाँ गुणों के कारण एक व्यक्ति की समता बहुतों से हो, अथवा बहुत से पदार्थों के उत्कृष्ट गुणों को एक ही पदार्थ में एकत्रित कर वर्णन किया जाय, वहाँ यह पूर्व लिखित तुल्ययोगिता कही जाती है। तुल्ययोगिता का यही भेद—'प्रस्तुत (उपमेय) की उत्कृष्ट गुणवालों के साथ गणना करना' मम्मट-आदि आचार्यों ने माना है, अन्य भेद (प्रथम-द्वितीय) नहीं। साथ ही उन्होंने इसे 'प्रस्तुत-अप्रस्तुत दोनों के एक धर्म कहे जाने के कारण दीपक-अलंकार के अंतर्गत कहा है।

जैसा प्रथम कहा गया है कि 'केवल प्रस्तुत होने, वा अप्रस्तुत होने तथा उनमें गुण-क्रिया के कारण धर्मों की एकता होने के कारण यह चार प्रकार की है। प्रथम 'जहाँ केवल कितने ही उपमेयों (प्रस्तुतों) में गुण-क्रिया द्वारा एक धर्म का,' द्वितीय—'जहाँ केवल कितने ही उपमानों (अप्रस्तुतों) में गुण-क्रिया-द्वारा एक धर्म का' तृतीय—'जहाँ एक-ही प्रस्तुत (उपमेय) के अनेक अप्रस्तुतों (उपमानों) के द्वारा सुंदर गुणों का' और चतुर्थ—'जहाँ एक-ही धर्म-द्वारा हित-अनहित दोनों का वर्णन किया जाय' वहाँ क्रमशः उपरोक्त तुल्ययोगिताएँ' होती हैं। प्रथम उदाहरण पर किसी उर्दू शायर की ये उक्तियाँ भी दर्शनीय हैं, यथा—

"उस मरज़ को मर्जे-इश्क़ कहा करते हैं।
न दवा होती है जिसकी, न दुआ होती है॥

अथवा—

मुहब्बत में नहीं है फर्क़ जीने और मरने का।
उसी को देखकर जीते हैं, जिस क़ाफ़िर पै दम निकले।"

पा०—१. (वें०) दुखद, (भा० जी०) दुखहुँ, । २. (सं० प्र०) (वें०)···ब्याधि बैदौ सोई···। ३. (वें०) कहाँ कहूँ है···।

पुनः उदाहरन जथा—

गुंबज मँनोज के मँहैल सुहाए सुच्छ,
गुच्छ छबि-छाए कंज[1]-कुंभ गज-गाँमिनीं।
उलटे नगारे, तँने तंबू, सैल भारे,
मठ-मंजुल सुधारे[2] चक्रबाक-गत जाँमिनीं॥
'दास' जुग संभु रूप, श्रीफल अँनूप,
मन[3]-घाइल करत घाइलँन किल-काँमिनीं।
कंदुक-कलस बड़े[4] संपुट सरस,
मुकलित ताँमरस हैं 'उरोज'[5] तेरे भाँमिनीं॥ *

अस्य तिलक

इहाँ (तृतीय तुल्यजोगिता के संग) लुप्तोपमा कौ संदेह संकर है।

वि०—"किसी उर्दू शायर का यह कलाम भी देखिये, किस छुपे रूप से इन 'मनोज महल के गुंबजों' का वर्णन कर गये और पता भी न चला, जैसे—

"अँगड़ाई भी लेने न पाए वह उठाके हाथ।
देखा जो मुझको, छोड़ दिये मुस्करा के हाथ॥"

पर जाने दीजिये इसे, दासजो ने भी तुल्ययोगिता के साथ लुप्तोपमा का संदेह संकर मान, वर्णनकर एक सहज सुंदरता ही ला दी है।"

प्रतिबस्तूपमा लच्छन बरनन जथा—

नाँम जु है उपमेइ कौ, सोई उपमाँ नाँम।
ताहि[6] 'प्रतीबस्तूपमाँ', कहत[7] सकल[8] गुँन-धाँम॥

*

जहँ उपमाँ-उपमेइ कौ, नाम-अरथ है एक।
ताहू 'प्रतिबस्तूपमाँ', कहैं सुबुद्धि-बिबेक॥

वि०—"दासजी कथित 'प्रतिवस्तूपमा' का लक्षण विशेष स्फुट है। अस्तु, संस्कृत-आचार्यों के अनुसार 'प्रतिवस्तूपमा' वहाँ कही गयी है, जहाँ—उपमेय-उपमान के पृथक्-पृथक् वाक्यों में शब्द-भेद के द्वारा एक-ही समान धर्म को कहा जाय, क्योंकि प्रतिवस्तूपमा का अर्थ है—'प्रति-वस्तु अर्थात्, प्रत्येक वाक्यार्थ के

पा०—१. (सं० प्र०) (प्र०) (वें०) गज···। २. (प्र०-३) सुढ़ारे···। ३. (वें०) (भा० जो०) मन-धावरे करन घाव बरँन कि०। ४. (प्र०) बैठे···। ५. (प्र०) (वें०) (प्र० नु०) उरज···। ६. (सं० प्र०) ताकों···। (वें०) ताही। ७. (सं० प्र०) कहैं···। ८. (भा० जो०) सु कबि···।

प्रति उपमा ।' यहाँ उपमा शब्द का प्रयोग भी 'समान धर्म (उपमेय-उपमान के दो वाक्यों में एक-ही समान धर्म का पृथक्-पृथक् शब्दों-द्वारा कहा जाना) के लिये है, यथा—

"प्रति वस्तु-प्रतिवाक्यार्थमुपमा समानूधर्मोऽस्याम् ।

अथवा—

"प्रतिवस्तु प्रति प्रति वाक्यार्थे उपमा सादृश्यं यस्यां सा—"प्रतिवस्तूपमा" ।"

—कुवलयानंद (संस्कृत)

प्रतिवस्तूपमा में तीन बात आवश्यक कही गयीं हैं—"प्रथम दो वाक्यों का उपमेय-उपमान-रूप में होना", दूसरे—"दोनों में एक ही धर्म का होना" और तीसरे—"उस धर्म का भिन्न, पर एकार्थी-शब्दों के द्वारा प्रकट किया जाना" इत्यादि…। यह अंतिम (तीसरा) नियम पुनरुक्ति-दोष दूर करने को आवश्यक कहा गया है। एक बात और, वह यह कि "इस अलंकार में कहीं-कहीं वैधर्म्य वा विरोध अथवा निषेध-वाचक शब्दों द्वारा धर्मों की एकता प्रकट की जाती है, पर वे शब्द वास्तव में उसी साधर्म्य के पोषक ही होते हैं।

प्रतिवस्तूपमा की—उपमा, दृष्टांत, दीपक, विशेषकर 'अर्थावृत्ति दीपक और तुल्य-योगिता से पृथक्ता दिखलाते हुए आचार्य वर्गों ने कहा है कि "उपमा में उपमा-वाचक शब्दों का प्रयोग होता है, यहाँ नहीं। दृष्टांत में यद्यपि उपमा-वाचक शब्द नहीं होते, पर उपमेय, उपमान और समान धर्म आदि तीनों का बिंब-प्रति-बिंब भाव अवश्य होता है, जब कि यहाँ एक-ही समान धर्म शब्द-भेद से कहा जाता है। इसी प्रकार दीपक और तुल्ययोगिता में समान धर्म का एक बार कथन होता है और यहाँ एक ही धर्म का पृथक्-पृथक् शब्द-भेद से दो बार कथन किया जाता है इत्यादि…।

प्रतिवस्तूपमा वैधर्म्य भी होती है और माला रूप में भी। जैसा कि विविध उदाहरणों द्वारा दास जी ने वर्णन किया है।"

प्रतिवस्तूपमा-उदाहरन जथा—

मुक्त नर-हु[1] घँने जाँ में बिराजत, राते[2]-सिता-सित भ्राजत ऐंनीं।
मध्य सुदेस ते हैं बिरम्हांड-लौं, लोग कहैं सुर-लोक-निसेंनीं ॥
पावन पानिप सों परिपूरन, देखत दाहिं दुखै, सुख-दैंनीं।
'दास' भरै हरि के मन काँम कों[3], बोस बिसै ये बेंनी सी बेंनीं ॥

पा०—१ (सं० प्र०) (वे०) (प्र० मु०) नरौ घने…। २ (वे०) रात…। ३ (भा० जी०) सों…।

वि०—"दासजी की इस "बैंनी-सी-बैंनी" पर कविवर "चिंतामणि" जी की चिरजीवी उक्ति भी देखिये, यथा—

"बारँन की रचनाँ रची है प्राँन-प्यारी एरी, अबी तेरी पूरब-जनम कछु दैंनी है ॥
पौंठि पै सोहत यों सुबरन-भूमि पर दीनीं यों सिँगार-रूप रस की थलैंनी है ॥
'चिंतामनि' मानों अंग सहैज-सुबास-आस, कनक-लता पै लिपटाँनी अलि-सैंनी है ।
मानसी के फूलन ललित लाल गुँन-गूँथी, बैंनी-सी लसति मृग-नैंनी तेरी बैंनी है ॥

अस्तु—

"बड़े गुस्ताख हैं झुककर तेरा मुँह चूम लेते हैं ।
बहुत-सा तूने ज़ालिम गेसुओं को सर-चढ़ाया है ॥"

पुनः उदाहरन जथा—

छुटि गऐं नारी भई,[१] मोंहँन की गति सोइ ।
छूटि गऐं नारी जु गति[२], औरु नरँन की होइ ॥

वि०—इस दोहा का 'तिलक' रूप—"नारी नाम स्त्री के छूटते मोहन जो कृष्णचंद्र हैं तिन की गति ऐसी होती है कि जैसे हाथ की नाड़ी है, इसके छूटते जैसे मनुष्य की गति होतो है, वैसो ही उनकी होती है तात्पर्य विह्वल हो जाते हैं ।" यह वेंकटेश्वर की प्रति में लिखा है ।

पुनः उदाहरन जथा—

बाल[३]-बिलोचँन अध खुले आरस संजुत प्रात ।
निंदत अरुँन प्रभात कों बिकसत सारस-पात ॥

दूसरौ लच्छन जथा—

जहाँ बिंब-प्रतिबिंब नहिं, धरम-हिं ते सब ठाँन ।
तहँ प्रतिबस्तुपमाँ[४] कहें[४] दिष्टांत-हु[५] में जाँन ॥

अस्य उदाहरन जथा

कोंन अचंभौ जो पावक जारै, गरू गिरि है तौ कहा अधिकाई ।
सिंध-तरंग सदैव खराई, नई नहिं[६] सिंधुर-अंग-कराई ॥
मींठौ पियूष, करू बिष[७] 'दास जू', है ये रीति न निंद-बड़ाई ।
भार चलावत[८] आए धुरींन, भलेन के अंग सुभावै भलाई ॥

पा०—१. (प्र०) नारी छूटि गऐं भई... । (वें०) नारी छूटि गयें जु भौ... । २. (प्र०) नारी छुटि गऐं जु गति... । (वें०) नारिन छूटि गऐं जुगति... । ३. (सं०,प्र०) लाल... । ४. (सं० प्र०) (वें०) प्रतिवस्तूपमा तहिं कहैं । ५. (भा० जी०) (वें०) दिष्टांत हि... । (प्र०-२) दिस्टांतौ .. । ६. (वें०) कछु... । ७. (सं० प्र०) (वें०) विष रीति ये दास जू या मैं न निंद... । ८. (वें०) चलाईह आए... ।

वि०—"दासजी का यह सवैया छंद आगे कुछ पाठ-भेद के साथ तेईसवें (२३) उल्लास में अड़सठवीं (६८) संख्या के "अनविकृत" उदाहरण रूप शब्दार्थ-दूषणों के वर्णन में भी आया है।"

वेंकटेश्वर की प्रति में "अस्य तिलक" रूप यह और लिखा है कि "भले का अंग जो है सो स्वभाव ही से जान पड़ता है, जैसे अग्नि जो है सो कोई वस्तु को जार डारै तिस में आश्चर्य क्या है, इसका तो स्वभाव ही है और बड़ी गरू जो वस्तु है वह गिर पड़ै इसमें क्या अयोग्य है? इसका तो यही धर्म है गरू है, और रत्नाकर का जल खारा है तिसमें क्या असंभव है और पियूष जो अमृत है सो जो मीठा है तिसमें क्या आश्चर्य और विष जो है सो कडुआ है तिसमें क्या आश्चर्य है तैसे मैं कहता हूँ भले पुरुष जो हैं तिनका ऐसा ही धर्म है, इसमें क्या अयोग्य है, नीच का धर्म नीच ही है।"

"इति श्री सकलकलाधर-कलाधरबंसावतंस श्री मन्महाराज कुँमार
श्री हिंदूपति बिरचिते-काव्य-निरनए उपमादि-
अलंकार' बरननं नाम अष्टमोल्लासः।"

——

अथ नवमोल्लास:

उत्प्रेच्छादि बरनन

उत्प्रेच्छा औ अपन्हुत्यौ,[1] सुँमरन, भ्रँम, संदेहु ।
इनके भेद अनेक हैं, पै[2] पाँचौ गनि लेहु ॥

उत्प्रेच्छा अलंकार लच्छन जथा --

बस्तु-निरखि कें हेतु लखि, कै आगम-फल-काज ।
कबि कै बकता कहति यौं, लगै अवर-से[3] आज ॥

*

सँम बाचक कहुँ परत बहु,[4] 'माँनों' 'मेरे जाँन' ।
'उत्प्रेच्छा'-भूषन कहैं, इहि बिधि बुद्धि-निधाँन ॥

वि० — "जब प्रस्तुत (उपमेय) की अप्रस्तुत (उपमान) रूप में संभावना की जाय तब 'उत्प्रेक्षा' अलंकार कहा जाता है, यह संस्कृताचार्यों का अभिमत है। यहाँ संभावना का अर्थ है—'एक कोटि का प्रबल ज्ञान' और उसके द्योतक शब्द हैं—"इव, मँनु, जँनु, माँनों, जाँनों, माँनहुँ, जाँनहुँ, मैंनहु, सा, सी, से, सौ, निश्चय तथा मेरे जाँन" ..आदि..., जैसा दासजी ने कहा है। यही चंद्रा-लोक-कर्त्ता कहते हैं कि "किसी के धर्म का निषेध न करते हुए अपने हेतु-वितर्क का आरोपण स्पष्ट रूप से दूसरे पर किया जाय तो वहाँ उत्प्रेक्षा कहते हैं (५–२६)। अतएव जहाँ इन वाचक शब्दों का प्रयोग हो वहाँ "वाच्योत्प्रेक्षा" और जहाँ इनका अभाव हो वहाँ "प्रतीयमानोत्प्रेक्षा" कही—मानी जाती है। यहाँ यह ध्यान में रखना होगा कि सादृश्य—उपमेयोपमान-भाव के बिना केवल संभावना-संबद्ध वाचक शब्द होने पर उत्प्रेक्षा नहीं कही जायगी, क्योंकि उत्प्रेक्षा में भेद का ज्ञान रहते हुए—उपमेयोपमान को दो वस्तु समझते हुए, उपमेय में उपमान का आहार्य-आरोप (जब वस्तुत अभेद न होने पर भी अभेद मान लिया जाय) किया जाता है। रूपक में भी यह आरोप होता है, पर वहाँ उपमेय-उपमान के अभेद में होता है। उत्प्रेक्षा का सीधा अर्थ है—"शंका विशेष के

पा०—१ (प्र० मु०) उत्प्रेच्छा औ अपन्हुति.. । २. (का०) (वें०) (प्र०) ये । (प्र०रा०) (का० रा०) ए । ३. (वें०) और सों... । ४. (वें०) हैं । (प्र०) यह ।

साथ देखना, वर्णन करना।" अतएव उपमेय (प्रकृत वर्ण्य) में उपमान (अप्रकृत अवर्ण्य) का भेद ज्ञानपूर्वक उक्ति-वैचित्र्य के साथ संभावना करना उत्प्रेक्षालंकार का विषय है। यह संभावना कल्पित है—अकल्पित नहीं। निश्चय, भ्रम, संदेह वा विकल्प तथा संभावना ये वस्तु-ज्ञान के भेद हैं। किसी वस्तु को वही वस्तु समझना 'निश्चय' है और उसे निश्चितरूप में दूसरी समझना 'भ्रम' वा 'भ्रांति' है। भ्रम के दूर होने पर ही उस भ्रम का—उस वस्तु का, पता लगता है और जब किसी वस्तु में इस प्रकार शंका हो कि यह वही वस्तु है या दूसरी, तब 'संदेह' वा 'विकल्प' होता है, किंतु जब उसके दूसरी वस्तु होने की विशेष शंका होती है तब 'संभावना' कही जाती है। भ्रम, संदेह तथा संभावनादि कोटियाँ हैं—वस्तुएँ हैं। भ्रम में असत्य को निश्चित रूप से सत्य, संदेह में दोनों सत्यासत्य का समरूप से विकल्प और संभावना में एक—विशेष कर असत्य वस्तु का अधिक प्रबल होना है।

संस्कृताचार्यों-द्वारा लक्षण-ग्रंथों में 'उत्प्रेक्षा' के अनेक भेद कहे गये हैं, जो विशेष स्पष्ट नहीं हैं। साथ-ही वे चमत्कार-पूर्ण भी नहीं कहे जा सकते। पंडित-राज जगन्नाथ ने अपने 'रस-गंगाधर' में कहा है कि "उन सब का विवरण देना व्यर्थ है, कारण चमत्कार की विलक्षणता केवल हेतु, फल और स्वरूप में होती है। फिर भी उत्प्रेक्षा के वहाँ 'वाच्या' और 'प्रतीयमाना' दो भेदों का वर्णन करते हुए 'वाच्या' के वस्तुत्प्रेक्षा, हेतुत्प्रेक्षा और फलोत्प्रेक्षादि तीन भेद, तथा 'प्रतीयमाना' के हेतुत्प्रेक्षा और फलोत्प्रेक्षा रूप से दो भेद माने हैं। वस्तुत्प्रेक्षा के प्रथम 'उक्त विषया' और 'अनुक्त विषया' दो भेद करते हुए इनके गुण, जाति, क्रिया और द्रव्य-गत भेदों का भाव-अभाव रूप में भी वर्णन मिलता है। वाच्या के हेतुत्प्रेक्षा, फलोत्प्रेक्षा और प्रतीयमाना के हेतुत्प्रेक्षा एवं फलोत्प्रेक्षा को प्रथम सिद्ध-विषया तथा असिद्ध-विषयादि भेद मान इनके गुण, जाति, क्रिया और द्रव्य-गत भेदों को भावाभाव रूप से प्रथक्-प्रथक् भेद माने गये हैं। दासजी ने भी वाच्या रूप वस्तुत्प्रेक्षा के प्रथम उक्ता-अनुक्ता भेदों को कह फिर हेतुत्प्रेक्षा के सिद्धासिद्ध-विषयादि भेदों का वर्णन किया है। यही नहीं, फलोत्प्रेक्षा के भी उक्त भेद मान कर वर्णन किया गया है। दासजी ने लुप्तोपमा की भाँति लुप्तोप्रेक्षा और उसकी माला का भी यथा स्थान वर्णन किया है। अस्तु, "एक वस्तु की दूसरी वस्तु के रूप में संभावना की जाने पर, अर्थात् जहाँ उपमेय में उपमान की संभावना की जाय वहाँ वस्तुत्प्रेक्षा और यह उक्त विषया—जहाँ उत्प्रेक्षा का विषय कह कर संभावना की जाय होती है, जैसा कि दासजी के निम्न-लिखित तीनों लक्षणों—उदाहरणों में कहा है, यथा—

वस्तुत्प्रेच्छा भेद बरनन जथा—

बस्तुत्प्रेच्छा दोइ[1] बिधि, उक्ति-अँनुक्ति बिषेंन ।
उकति-बिषें जग अँन-उकति, होत कबिंन[2] के बेंन ॥

उक्तबिषया बस्तुत्प्रेच्छा उदाहरन जथा—

रेंन ति-मँहले धँन[3] चढ़ी, मुख-छबि लखि नँद-नंद ।
घरी तींन उदयादि[4] ते, 'जनु' चढ़ि आयौ चंद ॥

अस्य तिलक

"चंद्रमा कौ चढ़िबौ अचरज नाहीं, ताते यै उक्ति (उक्त) बिषया उत्प्रेच्छा कहिऐ ।"

*वि*०—"वस्तुत्प्रेक्षा के उक्त उदाहरण रूप दासजी की इस सुमधुर सूक्ति के साथ "विहारीलाल जी" का यह दोहा भी बड़ा सुंदर है, जैसे—

"तू रहि सखि, हौं हीं लखों, चढ़ि न अटा बलि बाल ।

क्योंकि—

"बिन-हीं ऊगें ससि समझि, दैहैं अरघ अकाल ॥"

—बिहारी सतसई

अथवा—

"आज की रात तू जो मह के मुक़ाबिल हो जाय ।
चाँदनो हो मैली, धुलवाने के क़ाबिल हो जाय ॥"

—कोई शायर,

पुनः उदाहरन जथा—

लसें[5] बाल-बच्छोज यों, हरित-कंचुकी-संग ।
दल-तल-दबे पुरेंन के, मनों[6] रथांग बिहंग ॥

अस्य तिलक

पुरेंन (कमल) के दल-तरें (नीचे) रथांग—चकवा कौ दबिबौ अरच नाहीं ताते यहाँ हूँ उक्त बिषया-उत्प्रेच्छा है ।

पा०—१. (सं० प्र०) होइ । २. (का०) (वें०) (प्र०) कबि-हि की··· । ३. (का०) (वें०) (प्र०) (सं० प्र०) तिय··· । ४. (का०) (वें०) (प्र०) (सं० प्र०) उदयाद्रि··· । ५. (रा० श० गौ०) लसौ । ६. (का०) मानों रथग··· । (वें०) मनों रथग··· ।

वि०—'दासजी के इस उदाहरण पर भी निम्न-लिखित आलम कवि की यह रचना भी बड़ी सुंदर है, यथा—

"रजनी-मधि प्यारी गोंन कियौ, निरखी पिय-आँखियाँ रंग-भरी।
कवि 'आलम' रंभन कों ललक्यौ, रति-लालच ह्वै हिय लाइ हरी॥
खरी खींन हरे-रँग की अँगिया, दर की प्रघटी कुच-कोर-सिरी।
उरझे जुग जार-सिवारँन में, चकवाँन की चोंच मनों निकरी॥"

अथवा—

"सबज कंचुकी के बिषै, यों कुच-छबि ठहरात।
मानों पुरइँन-पात-छिपि, चक्रबाक दरसात॥"

पुनः उदाहरन सवैया जथा—

स्याँम सुभाइ में, नेह-निकाइ में, आप-हूँ ह्वै गए[१] राधिका-जैसी।
राधे करै अब राधे[२] जु माधौ, प्रेम[३]-प्रतीति भई तँनमैं-सी॥
ध्याँन-ही-ध्याँन में[४] ऐसौ कहा[५] भयौ, कोऊ कुतर्क करै यै ऐसो[६]।
जाँनत हों[७] इन्हें 'दास' मिल्यौ कहूँ मंत्र महा पर-पिंड-प्रबेसी॥ *

अस्य तिलक

परपिंड (दूसरे की काया में) प्रबेसी—मंत्र (प्रवेश करने वाला मंत्र) कौ मिलबौ अचरज नाहीं, ताते यहाँ हूँ 'उक्तबिषया उत्प्रेच्छा' है।

वि०—"दासजी कृत इस तृतीय उदाहरण स्वरूप—,'स्याँम-सुभाइ में०'"···के साथ किसी कवि का यह सवैया भी बड़ा सुंदर है, यथा—

"आपनी ओर की चाँहैं लिख्यौ, लिखिजाति कथा उत मोंहन-ओर की।
प्यारी, दया-करि आँनि मिलौ, सहिजाति बिथा नहिं मैंन-मरोर की॥
आपु-हीं बाँचि लगावति अंग, अहो किन आँनी चिठी चित-चोर की।
राधिके, राधे रही जकि भोर तें, ह्वै गई मूरति नंद-किसोर की॥

साथ-ही, दासजी ने इस छंद का प्रयोग—अपने 'शृंगार-निर्णय' में "स्मृति-दशा" के उदाहरण में किया है। स्मृति-दशा—

पा०—१. (स० प्र०) गयौ। २. (का०) (वें०) (प्र०) अब राधौ···। (शृं० नि०) अब राधे···। ३. (का०) (वें०) (प्र०) मैं रीति···। (शृं० नि०) प्रेम-प्रतीत भई तन-जैसी। ४. (सं० प्र०) सों···। ५. (शृं० नि०) अब···। ६. (का०) (वें०) (प्र०) कैसी। ७. (सं० प्र०) है···।

* शृं० नि० (दास) पृ० १०३,१११।

"जहाँ इकाग्र-चित करि धरै, मन भावन कौ ध्याँन।
इसमृति-दसा तिहिं कहत हैं, लखि-लखि बुद्धि-निधाँन॥"

स्मृति-दशा प्रवास-विरह के अंतर्गत-दस दशाओं में एक प्रधान दशा है। ये दस 'दशा' इस प्रकार हैं—

आलस, चिंता, गुन, कथन, स्मृति, उद्वेग, प्रलाप।
उनमाद-हि, ब्याधि-हि गनों, जड़ता, मरन, संताप॥
—शृं० नि० पृ० १०२, १०१

अस्तु, इन दस दिशाओं में 'मरन' दशा का वर्णन-कथन, साहित्यकारों ने नहीं किया है, कारण स्पष्ट है। स्मृति का उदाहरण "आलम" कवि कथित बड़ा सुंदर है, ब्रज-साहित्य में इसकी जोड़ नहीं है, यथा—

"जा थल कीने बिहार अनेकँन, ता थल काँकरी बैठि चुन्यों करें।
जा रसना सों करी बहु बात, सु ता रसनाँ सों चरित्र गुन्यों करें॥
'आलम' जोंन से कुंजन में करी केलि तहां अब सीस धुन्यों करें।
नेंनन में जे सदाँ बसते, तिनकी अब काँन कहाँनी सुन्यों करें॥"

अथ अनुक्त-विषया वस्तुत्प्रेच्छा-उदाहरन सवैया जथा—

चंचल लोचन चारु बिराजत, पास लुरी अलकें थैहरैं।
नाँक मनोहर औ नथ[1] मोंतिंन की कछु बात कही न परै॥
'दास' प्रभाँन-भरयौ तिय-आँनन, देखति ही मन जाइ अरै।
खंजन, स्याँप, सुवा-सँग तारे, मनों ससि-बीचि बिहार करैं॥*

अस्य तिलक

"खंजन, स्याँप (सर्प) सूवा (तोता) अरु तारागन इन सब कौ चंद्रमा के बीच (एक सग) बिहार करिबौ अनुक्त (अयुक्त) है। ऐसौ नाहीं ह्वै सके है, ताते यहाँ "अनुक्तबिषया बस्तुत्प्रेक्षा है।"

वि०—"जहाँ उत्प्रेक्षा का विषय न कहकर उसकी संभावना का वर्णन किया जाय, तब वहाँ "अनुक्त, विषया वस्तुत्प्रेक्षा" बनती है, अर्थात् जहाँ विषय (उपमेय) का वर्णन हो वहाँ "उक्त विषया" और जहाँ विषय (उपमेय) का वर्णन

पा०—१. (का०) (वें०) (प्र०) नक...।
* अं० मं० (पो०) पृ० १४०, २२२।

न किया गया हो वहाँ 'अनुक्त विषया' उत्प्रेक्षा कही जायगी, जैसा कि दासजी ने इस छंद में वर्णन किया है।"

"अलंकार-मंजरी में कन्हैयालाल पोद्दार ने दास जी के इस उदाहरण के प्रति "अनुक्त विषया उत्प्रेक्षा" अलंकार इस छंद में न मान कर "उक्त विषया-उत्प्रेक्षा" का उल्लेख करते हुए लिखा है कि "छंद के चौथे चरण में चंद्र-मध्य खंजन, सर्प, शुक और तारागणों की उत्प्रेक्षा की गयी है और उसके विषय (उपमेय) जो नायिका के नेत्र, अलकावलि, नासिका और नथ के मोती आदि का कथन छंद के पहिले चरणों में किया गया है, इसलिए यह उदाहरण उक्त अलंकार का नहीं होता, जैसा दासजी ने अपने इस छंद की व्याख्या में कहा है। क्योंकि असंभव वस्तु की कल्पना करना ही 'अनुक्त-विषयोत्प्रेक्षा' का विषय नहीं होता।

पुनः उदाहरन सवैया जथा—

"दास' मनोहर आँनन बाल कौ, दीपत जासु[1] दिपें सब दीपै[2]।
स्रोंन सुहाए बिराज रहे, मुकताहल-संजुत तासु[3] सँमीपै[4]॥
सारी महीन मों[5] लींन बिलोकि, बखाँनत हैं कबि जे[6] अवनी पै[7]।
सोदर[8] जाँनि ससी-हिं मिल्यौ[9] सुत संग लिऐं मनों सिंध में सीपै[10]॥*

अस्य तिलक

"इहाँ सीप कौ ससि (चंद्रमा) सों मिलबौ अचरज (पूर्ण) है—कबि-कथन मात्र है, ताते "अनुक्त बिषया उत्प्रेच्छा" है। सोदर (सहोदर) जाँनिबौ हेतु समरथँन है।

वि०—'दासजी तथा नख-सिख संग्रहकर्त्ता ने इस छंद को 'शृंगार-निर्णय' एवं 'नख-सिख हजारा' में नायिका के 'श्रवण-वर्णन' में संकलित किया है। श्रवण-वर्णन रूप 'देव कवि' का यह निम्न-लिखित छंद भी विशेष द्रष्टव्य है, यथा—

पा०—१. (का०) (वें०) (प्र०) जाकी...। २. (रा० पु० प्र०) (रा० पु० का०) दीप-हि। ३. (का०) (वें०) (प्र०) (शृं० नि०) (सुं० ति०) (सुं० स०) (न० सि० ह०) ताहि...। ४. (रा० पु० प्र०) (रा० पु० का०) समीपहि। ५. (का०) (वें०) (प्र०) सों...। ६. (का०) को। (वें०) के...। (शृं० नि०)। (सुं० ति०) (सुं० स०) बिचारति हैं कवि के...। ७. (रा० पु० प्र०) (रा० पु० का०) अवनी पहि। ८. (सं० प्र०) सहोदर...। ९ सं० प्र०) (सुं० ति०) (सुं सं०) मिली...। १०. (रा० पु० प्र०) (रा० पु० का०) सीप-हि।

* शृं० नि० (भि० दा०) पृ० १७, ५०। (सुं० ति०) (भारतेंदु) २८६, ६८७। सुं० स० (मन्नालाल) २३, २१। न० सि० ह० (ह० जु०) १४६, ११।

"बसि बीस हजार पयोनिधि में बहु भाँतिनि सीत की भीत सही ।
कबि 'देव' जू त्यों चित चाँह घँनीं, सुचि संगति-मुक्त न-हूँ की गही ॥
इहि भाँति जु कीन्हों सबै तप-जाल, सो रीति कछूक न बाकी रही ।
अजहूँ न इते पर सीप सबै, इन काँनन की सँमता न लही ॥"

हेतुत्प्रेच्छा लच्छन बरनन दोहा जथा—

हेतु-फलँन के[1] हेतु है-सिद्ध-असिद्ध बखाँन[2] ।
'होंनी सिद्ध' असिद्ध कों, अँनहोंनी पैंहचाँन ॥

अथ सिद्ध-बिषया हेतुत्प्रेच्छा उदाहरन जथा—

जौ कहौं काहू के रूप ते[3] रीझै, तौ और कौ[4] रूप रिझावनँ बारौ ।
जौ कहौं काहू के प्रेम-पगे हैं तौ और कौ प्रेम-पगावँन बारौ ॥
'दास' जू दूसरौ[5] भेव न और, इतौ अवसेर लगावँन बारौ ।
जाँनति हौं गयौ भूलि गुपालै, अहो पंथ इतै करि आवँन बारौ ॥*

अस्य तिलक

इहाँ पंथ (मार्ग, रास्ता) भूलिबौ सिद्ध-बिषया है, अचरज (युक्त) नाहीं ।

वि०—"जब अहेतु को हेतु (जो उत्प्रेक्षा का कारण न हो उसे कारण) मान कर उत्प्रेक्षा की जाय, तब वहाँ उक्त उत्प्रेक्षा कह इसके सिद्ध-असिद्ध विषय-रूप दो भेद किये जाते हैं । सिद्धा, अर्थात् उत्प्रेक्षा का विषय – उसका आस्पद आधार रूप विषय सिद्ध हो—संभव हो, तथा असिद्धा–जहाँ उत्प्रेक्षा का आधार-रूप विषय असिद्ध हो—असंभव हो, तब वहाँ ये दोनों 'उत्प्रेक्षा' कही जाँयगी । अलंकार-मंजरी के रचयिता पोद्दारजी ने यहाँ "जाँनति हौं" इस वाक्यांश को केवल संभावना-वाचक शब्द विशेष मान कर तथा उपमेय-उपमान-भाव न होने के कारण उक्त 'उत्प्रेक्षा' नहीं मानी है । उनका कहना है कि "लक्षण में प्रस्तुत और अप्रस्तुत का कथन लक्षण-मात्र है, क्योंकि हेतुत्प्रेक्षा और फलोत्प्रेक्षा में उपमेय-उपमान-भाव के बिना भी उत्प्रेक्षा होती है जो कि यहाँ नहीं है, इत्यादि...," पर आपका यह कथन यहाँ कुछ समझ में नहीं आता । दासजी ने

पा०—१. (सं० प्र०) कौ । २ (सं० प्र०) विधाँन । ३. (का०) (वे०) (प्र०) (शृं० नि०) सों । ४. (प्र०) (सु० स०) (र० कु०) के । ५. (शृं० नि०)...दूसरी बात...।

*, शृं० नि० (दास) पृ० १७२ । र० कु० (अयो०), पृ० १३८, ३६६ । सु० स० (भ० ला०), पृ० १४६, ४ । अ० मं०, (क० पो०) पृ० १३३, २२० ।

यहाँ हेतु का सिद्ध-विषय "भूलना"-"आश्चर्य नहीं" रूप से स्फुट कर दिया है, जो उचित है और उक्त अलंकार का पोषक है।

दासजी ने इस छंद (सवैया) को अपने "शृंगार-निर्णय" में "उत्कंठिता" का संक्षिप्त नामांतर "उत्का" (कहे हुए संकेत-स्थल में प्रिय (नायक) के न आने के कारणों पर वितर्क--शंका करने वाली) नायिका के प्रथम उदाहरण में दिया है और 'रस-कुसुमाकर' के कर्त्ता ने "मध्या उत्कंठिता के उदाहरणों में संकलित किया है। दासजी के 'प्रथम' से यहाँ—मुग्धा उत्कंठिता का संकेत मिलता है, क्योंकि नायिका-भेद के ग्रंथों में उत्कंठिता वा उत्का—मुग्धा, मध्या, प्रौढा, परकीया और गणिका-रूप से पाँच प्रकार की मानी गयी है। मुग्धा नायिका रति-सुख से अबोध होने के कारण लज्जा-वश किसी से भी अपने मन की कोई बात नहीं कहती...। अतएव इसे लक्ष कर रस-कुसुमाकर के संग्रह कर्त्ता ने दासजी के इस छंद को "मध्या उत्कंठिता" के उदाहरणों के साथ संग्रह किया है। नायिका-भेद के ग्रंथों से जाना जाता है कि मध्या नायिका भी काम-विवश होते हुए लज्जा का पल्ला नहीं त्यागती और—

"मन-हीं-मन पीर पिरैबौ करै"

के अनुसार उसी में घुली-मिली रहती है। स्वजन-सखी आदि से भी अपने मन की बात कहने में संकोच का अनुभव करती है, जैसा निम्न उदाहरणों में—

> उझिकै झुकि झूमि झरोखँन-झाँकि, झकै गुरु लोगँन-पंठति भोंनें।
> कबि 'बेंनीं' उठै छिन ऐंठि भुजा, छिन भेंटति मोंहन के भ्रम पोंनें॥
> अति ब्याकुल मेंन-मई तँन में, दुख बूझें सखींन के ह्वै रही मोंनें।
> दई हाइ रह्यौ धों लुभाइ कहूँ, चित सोचति लाल लट्टू करयौ कोंनें॥"

अथवा—

> "बिरमे, कहूँ कोऊ प्रबीन मिली तिय, कै तौ मिल्यौ 'कबिराज' समाज है।
> काहू की चातुरी में चित लाग्यौ, किधों उरझ्यौ कहूँ काहू के काज है॥
> जौ न कहों तौ रह्यौ न परै, जु कहों तौ कहे पर आवति लाज है।
> आइबे कों इहि ओर धों काहे ते, आज अबार करी ब्रजराज है॥"

अस्तु,—

> "करार कर के न आया वो संग-दिल काफ़िर।
> पड़े करार पै पत्थर, ये कुछ करार हुआ॥"

—कोई शायर

दासजी के इस छंद के दासजी-मतानुसार ही पाठ रूप दो मत हैं। प्रथम पाठ जो मूल में दिया गया है, आपके ग्रंथ 'काव्य-निर्णय' की प्रतियों के अनुसार है। दूसरा पाठ दासजी ने अपने द्वितीय ग्रंथ 'शृंगार-निर्णय' में, और न कुछ थोड़े-से शब्द-परिवर्त्तन के साथ 'रस-कुसुमाकर' और 'सुंदरी-सर्वस्व' में दिया गया है, वे इस प्रकार हैं। 'शृंगार-निर्णय,' यथा —

"जौ 'कहों' काहू के रूप-'सों' रीझ तौ और 'कौ' रूप-'रिझावँनवारी'।
जौ कहों काहू के प्रेम-पगे हैं, तौ और 'कौ' प्रेम-'पगावँनवारी'॥
'दास' जू दूसरी बात न और, इती 'बड़ी' बेर बितावँनवारी।
जाँनति हों गई भूलि 'गुपाल', गली 'यहि' ओर की आवँनवारी॥"

"रसकुसुमाकर"–

जौ 'कहों' काहू के रूप-'रिझैऐ' तौ और 'के' रूप-रिझावँनवारी।
जौ 'कहों' कहू के प्रेम-पगे हैं, तौ और 'के' प्रेम-पगावँनवारो॥
'दास' जू दूसरी बात न और, इती 'बड़ी' बेर बितावँनवारी।
जाँनति हों गई भूलि 'गुपालै', गली 'यहिं' ओर की आवँनवारी॥"

'सुंदरी-सर्वस्व'—

'जो कहूँ' काहू के रूप-से रिझे, तौ और 'के' रूप-रिझावँनवारी।
'जो कहूँ' काहू के प्रेम-पगे हैं तौ और 'के' प्रेम-पगावँनवारी॥
'दास' जू दूसरी बात न और इती 'बड़ि' बेर बितावँनवारी।
जाँनति हों गई भूलि 'गुपालै', गली 'इहिं' ओर की आवँनवारी॥

इन कोम-संनद्ध शब्दों में तनिक-ही अंतर है, मौलिक अंतर नहीं, जैसे—'बारौ' और 'बारी' में। अंतिम चरण का एक सुंदर पाठ और भी मिलता है, यथा —

"जाँनति हों गई भूलि उन्हें, गली इहि ओर की आवँनवारो॥"

*

"थमा न अश्क, न नींद आई, ना पलक झपकी।
बसा है जब से वह ख़ानाख़राब आँखों में॥"

असिद्ध-विषया हेतुत्प्रेच्छा उदाहरन जथा—

फूंस[1]-दिनँन में ह्वै रहैं अगिन-कौंन में भौंन।
जाँनति[2] हों जाड़ौ बली, तासौं डरे निदौंन॥

पा०—१. (सं० प्र०) धूम···। २. (सं० प्र०) मैं जान्यों जाड़वे बली, सोक डरे···।

अस्य-तिलक

इहाँ भाँन (सूर्य) कौ जाड़े (सर्दी) सों डरपिबौ असिद्ध रूप है।

वि०—"दासजी के इस 'असिद्ध-विषया-हेतूत्प्रेक्षा' के उदाहरण के साथ किसी कवि की यह सूक्ति भी बड़ी सुमधुर है, यथा—

"का अचरज हँमत में जो दिन छोटे होइ।
सरदी के ससरग ते, सिकुरति हैं सब कोइ॥"

यहाँ सर्दी के डर-से—कारण से, दिनों का छोटा होना, ऊपरवाली उत्प्रेक्षा को प्रकट करता है।"

पुनः उदाहरन जथा—

बिरहिँन के अँसुवान ते, भरँन लग्यौ संसार।
मैं जाँन्यों मरजाद-तजि, उँमग्यौ सागर-खार॥

अस्य तिलक

इहाँ हूँ सागर कौ उँमगिबौ असिद्ध हेतु है।

वि०—"दासजी के इस कथन के साथ-साथ किसी उर्दू शायर का निम्न-लिखित शेर भी क़ाबले-दीद है, यथा—

"समंदर कर दिया नाम उसका नाहक सबने कह-कहकर।
हुए थे कुछ जमाँ आँसू, मेरी आँखों से बह-बहकर॥"

अथ सिद्ध-विषया फलोत्प्रेच्छा उदाहरन जथा—

बाल, अधिक छबि-लागि निज नेंनन अंजन देति।
में जाँन्यों[1] मो हँनन कों, बाँनन[2]-बिष भरि लेति॥

अस्य तिलक

इहाँ बाँनन में बिष-भरि कें मारिबौ फल-सिद्ध है।

वि०—"अफल में फल की संभावना मानने को फलोत्प्रेक्षा कहते हैं। यह भी पूर्व की भाँति "सिद्धा" और "असिद्धा"—रुद होती है। अतएव जहाँ उत्प्रेक्षा का विषय आस्पद—आश्रय रूप विषय संभव हो वहाँ 'सिद्ध-विषया' और जहाँ उत्प्रेक्षा का आश्रय रूप विषय असिद्ध हो—असंभव हो, वहाँ "असिद्ध-विषया फलोत्प्रेक्षा" कही-सुनी जाती है। दासजी के इस उदाहरण के साथ भारतेंदुजी का निम्न-लिखित दोहा भी देखें, यथा—

पा०—१. (सं० प्र०) जाँनति। २. (सं० प्र०) नेंनन...।

"जिय-रंजन, खंजन द्दगँन, अंजन दियौ बनाइ।
मनों साँन फेरी मदन, जुगल बाँन जिय-लाइ॥"

अथवा—

"एक तौ नेंना मद-भरे, दूजें अंजन-सार।
बूझि बावरी देति को, मतवारेन हथियार॥"

क्योंकि—

"रह गए लाखों कलेज़ा थाम कर।
आँख जिस ज़ानिब तुम्हारी उठ गई॥"

—कोई शायर

पुनः उदाहरन जथा—

बिरहिँन-अँसुवन-बिधि[1] रहैं, दरसावँन[2] नित सोध।
'दास' बढावँन कों मनों, पूनों दिनँन पयोध॥"

अस्य तिलक

इहाँ पून्यों के दिनँन में पयोध (सागर, समुद्र) कौ बढ़िबौ 'सिद्ध फल है।

वि०—"अश्रु-प्रवाह पर ब्रजभाषा के कवियों ने इस-बरपा कर दिया है, सैकड़ों नहीं, हजारों-ही अनमोल सूक्तियाँ रच डालो हैं। यहाँ हम केवल ब्रज-भाषा के अंतिम श्रेष्ठ कवि बा० जगन्नाथदास 'रत्नाकर' की एक रम्य-रचना देकर ही संतोष करते हैं, यथा—

"जस, रस, मधुर, लुनाई 'रतनाकर' कों
काँनन-बरसि घटा-घट लों नदी चली।
बहि तृन, पात-लों तँमाम कुल-काँनि गई,
गुरु-गिरि-रोक-टोक हू जिमि रदी चली॥
लाख-अभिलाख-भोंर आँमन गँभीर लगी,
उँमगि, उँमगि बढ़ि करति बदी चली।
धीरज-करार फोरि, लज्जा-द्रुम-तोरि, बारि,
नोंकदार नेंनन सों निकसि नदी चली॥"

*

"अश्क आखों से पल नहीं थमता।
क्या बला, दिल-ही-दिल में आब हुआ॥"

पा०—१. (का०) (वे०) (प्र०) बिधु...। २. (का०) (वे०) दरसावत...। (प्र०) बरसावत...।

अथ असिद्ध-बिषया फलोत्प्रेच्छा जथा—

खंजरीट नहिँ लखि परत, कछु दिँन साँची बात।
बाल-द्रगँन-सँम होन कों, मनों[1] करँन-तप जात ॥*

अस्य तिलक

इहाँ खंजन (पच्छीन) कौ तप करिबे जैबौ असिद्ध बिषय है।

वि०—"यहाँ तक 'दासजी' ने "वाच्योत्प्रेक्षा" के उदाहरण-ही प्रस्तुत किये हैं। इन सभी में उत्प्रेक्षा-वाचक शब्द—"जनु, मनु, मनों" अथवा 'से, सो आदि उपस्थित हैं, इसलिये ये संपूर्ण उदाहरण वाच्योत्प्रेक्षा के ही हैं। इन वस्तु, हेतु और फल-रूपी तीनों वाच्योत्प्रेक्षाओं में कहीं जाति उत्प्रेक्ष्य है, कहीं गुण और कहीं क्रिया उत्प्रेक्ष्य है तो कहीं द्रव्य। कुछ आचार्यों का मत है कि द्रव्य-गत उत्प्रेक्षा ही वस्तूत्प्रेक्षा बन सकती है, हेतूत्प्रेक्षा और फलोत्प्रेक्षा नहीं। पर रसगंगाधर के कर्त्ता पं० राज जगन्नाथजी ने द्रव्य-गत हेतु और फलोत्प्रेक्षा को भी माना है और इनके उदाहरण भी प्रस्तुत किये हैं। वाच्योत्प्रेक्षा रूप इन तीनों भेदों के जाति, गुण, क्रिया और द्रव्य भेद से चार-चार भेदों का उल्लेख हो चुका है। उनमें कहीं 'भाव' और कहीं "अभाव" उत्प्रेक्ष्य होता है। उत्प्रेक्षा के द्वितीय स्वरूप "प्रतीयमाना" के विषय में 'विश्वनाथ चक्रवर्त्ती' अपने साहित्य-दर्पण (संस्कृत) में कहते हैं कि प्रतीयमाना-फलोत्प्रेक्षा और हेतूत्प्रेक्षा तो हो सकती है, किंतु वस्तूत्प्रेक्षा नहीं। कारण वस्तूत्प्रेक्षा में यदि उत्प्रेक्षा-वाचक शब्दों का प्रयोग न किया जाय तो वहाँ अतिशयोक्ति की प्रतीति होने लगती है, यथा—

"प्रतीयमाना भेदाश्च प्रत्येकं फलहेतुगाः।"

और जैसा इस व्याख्या में वहाँ कहा गया है। यही नहीं, आपका यह भी मत है कि "यदि उक्त उत्प्रेक्षा के तत्तद उदाहरणों में उत्प्रेक्षा वाचक शब्द हटा दिये जाँय तो वहाँ-वहाँ असंबंध में संबंध वाली 'संबंधातिशयोक्ति'" बन जायगी, किंतु पंडितराज जगन्नाथ जी ऐसा नहीं मानते। आप उत्प्रेक्षा-वाचक शब्दों के अभाव से अलंकृत ऐसे उदाहरणों में भी गम्योत्प्रेक्षा—लुप्तोत्प्रेक्षा ही मानते हैं, संबंधातिशयोक्ति नहीं। आपका मत है कि "संबंधातिशयोक्ति वहीं होती है, जहाँ उत्प्रेक्षा की सामग्री न हो...इत्यादि...।"

पा०—१. (सं० प्र०), करन मनों तप...।

*, स० स० (भ० दी०) पृ० ८०, १६।

अथ लुप्तोत्प्रेच्छा जथा—

'लुपतोत्प्रेच्छा' तहँ[1] कहैं, बाचक-बिन जो होई।
जाकी बिधि मिल जाति है, काव्यलिंग में सोइ[2] ॥

वि०—"दासजी कहते हैं कि "जहाँ मनु, जनु-आदि पूर्व कथित उत्प्रेक्षा-वाचक शब्दों के बिना उत्प्रेक्षा की जाय वहाँ "लुप्तोत्प्रेक्षा" कही जाती है और इसकी विधि काव्यलिंग (काव्यलिंग—जब जुक्ति सों, अर्थ-समर्थन होइ) से मिल जाती है। इस लुप्तोप्रेक्षा को—गम्योत्प्रेक्षा, प्रतीयमाना-ललितोत्प्रेक्षा, गुप्तोत्प्रेक्षा और व्यंग्योत्प्रेक्षा भी कहते हैं।"

अस्य उदाहरन जथा—

बिँन-हिं[1] सुँमन-गँन बाग में, भरे देखियतु[4] भौंर।
'दास' आज[5] मन-भाँमती, सैल करी[6] इहि ओर ॥*

वि०—"दासजी कृत लुप्तोत्प्रेक्षा के इस उदाहरण को कन्हैयालाल पोद्दार ने अपनी अलंकार-मंजरी (पृ० १४६) में उक्त अलंकार का उदाहरण नहीं माना है। आपका कहना है कि "दासजी ने इसके पूर्व लक्षण वाले दोहे में—"जाकी बिधि मिल जाति है, काव्यलिंग में सोइ" अर्थात गम्योत्प्रेक्षा काव्यलिंग में मिल जाती है, इस लिए गम्योत्प्रेक्षा का विषय दासजी नहीं समझे और उदाहरण भी असंबद्ध दिया है। ऐसे उदाहरणों में गम्योत्प्रेक्षा नहीं होती, क्योंकि इसमें न तो स्वरूप की उत्प्रेक्षा है और न हेतु वा फल को। पुष्पों के बिना भौंरों की भीड़ देखकर बागमें नायिका के आने की संभावना-मात्र है। अतएव पूर्वार्द्ध में पुष्पों के होने रूप कारण के अभाव में भौंरों के होने रूप कार्य का होना कहे जाने से "उक्त निमित्ता प्रथम विभावना" अथवा उत्तरार्ध के वाक्य का पूर्वार्द्ध में ज्ञापक कारण होने से "अनुमान" अलंकार हो सकता है, गम्योत्प्रेक्षा नहीं।" किंतु पोद्दार जी शायद इस दोहे में प्रस्तुत 'आज' शब्द को देखकर भी अनदेखा कर गये हैं। यह आज शब्द ही बाग में नायिका की उपस्थिति और भौंरों की भीड़ का डंका बजा रहा है, जिसे पोद्दार जी अपनी वाक्पटुता से नहीं दबा सकते।

पा०—१ (का०) (वे०, तिहि...। २ (का०) (वें०) (प्र०) कोइ। ३. (सं० प्र०) (प्र०) (का०) (वें०) हैं...। ४. (सं० प्र०) देखिये। ५. (रा० पु० का०) मनों। ६. (वे०) किये...।

* अ० मं० (क० पो०) पृ० १४६।

'दासजी' से पूर्व ऐसा ही लक्षण और उदाहरण मतिराम. जी (ललित-ललाम) तथा पद्माकर जी (पद्माभरण) ने भी दिये हैं, यथा—

"उत्प्रेच्छा-वाचक जहाँ, सबद कह्यौ नहि-होइ।
'लुप्तोत्प्रेच्छा' कहत हैं, तहाँ सुकबि सब कोई॥"

—ललित-ललाम

उत्प्रेच्छा-द्योतक जु पद, जहाँ कह्यौ नहिं होइ।
अरथ-करति में ल्याइऐ, 'गम्योत्प्रेच्छा' सोइ॥"

—पद्माभरण

पुनः उदाहरन जथा—

बालँम कलिका-पत्र औ खौर सजे[१] सब गात।
लाल,[२] जोहिबे जोग ए, चित्रित चंपक-पात॥

अस्य तिलक

इहाँ मनों (आदि उत्प्रेक्षा-वाचक) सबद लुप्त हैं, ताते लुप्तोतप्रेच्छा है।

अथ उत्प्रेच्छा की माला

चौखंडे[३] उतरि बड़े ही भोर बाल आई,
देव-सरि आई[४] मनों देवी कोऊ व्योंम ते।
सोभा सों सफरि[५] खरी तट सोहै भींजे पट,
बलित बरफ[६] सों कँनक-बेलि मोंम ते॥
धोए ते दिठोंनाँदिक आँनन अँमल भयौ,
कढ़ि गयौ मॉनों सो[७] कलंक पूरे सोंम ते।
अलकँन[८] जल-कँन छाए[९] धाए अध आवें,
चली आवै पाँति तारँन की मॉनों तँम-तोंम ते॥

वि०—"दासजी ने उत्प्रेक्षा के विविध भेदों व उदाहरणों को प्रस्तुत करते हुए उसकी 'माला' पर "उत्प्रेक्षालंकार" की इति श्री कर दी है। संस्कृत के अलंकार-आचार्यों ने प्रतीयमाना फलोत्प्रेक्षा के पूर्व कथित भेदों के साथ उत्प्रेक्षा

पा०—१. (सं० प्र०) (का०) (प्र०) सजै...। २. (सं० प्र०) (वे०) (ऽ०) बाल चाहिऐ जोग यह। ३. (का०) (वे०) (प्र०) चौखडे ते...। ४. (सं० प्र०) मानों आई। ५. (ऽ०) सपरि...। ६. (सं० प्र०) सरफ...। ७. (का०) (वे०) (प्र०) मानहुँ कलंक...। ८. (सं० प्र०) अलकँन जल-कन छायौ मनों आवै चली, हरख नली ताए तँम-तोम ते। (का०) अलकन जलकन धावै मनों आवै चली, पति पै हरख-रली तारा तम तोम ते। (वे०) ..धायौ मनों आवै चली पति पै हरख-रली तारा...। ९. (प्र०) धाए अध आवे चले।

को-श्लेष-मूला और सापन्हवी भी माना है। इनके सुंदर हृदयग्राही उदाहरण भी प्रस्तुत किये हैं। मालोत्प्रेक्षा का वर्णन करते हुए पं० राज जगन्नाथजी ने निम्नलिखित उदाहरण दिया है—

द्विनेत्र इव वासवः करयुगो विवस्वानिव—
द्वितीय इव चंद्रमाः श्रितवपुर्मनोभूरिव।
नराकृतिरिवांबुधिर्गुरुरिवक्ष्मामागतो-
नुतो निखिल भूसुरैर्जयति कोऽपि भूमीपतिः॥

अर्थात् "मानों दो आँख वाला इंद्र हो, मानों दो कर (हाथ और किरण) वाला सूर्य हो, मानों दूसरा चंद्र हो, मानों देहधारी काम हो, मानों मनुष्य के से आकार वाला समुद्र हो, मानों पृथ्वी पर आए बृहस्पति हो, ऐसा सभी ब्राह्मणों से प्रशंसित एक—अनिर्वचनीय राजा सर्वोत्कृष्ट है (र० गं० पृ० ६०६)।" इसके अतरिक्त आपने श्लेषमूला तथा सापन्हव के भी उदाहरण दिये हैं, यहाँ हम केवल सापन्हव-उत्प्रेक्षा का एक उदाहरण देते हैं, यथा—

"नहिंन ए पावक प्रबल, लुएं चलत चहुँपास।
माँनों बिरह बसत के, ग्रीषम लेत उसास॥"

रूपक-मिश्रित उत्प्रेक्षा के भी उदाहरण मिलते हैं, यथा—

"चपल-तुरंग-चख, भृकुटी जुवा के तारे, धाइ-धाइ मरत पिया के हेत पथ है।
तरल-तरोंनाँ चक्र, आसन कपोल-लोल, आयुध अलक-बंक बिकस्यौ सुगथ है॥
सारथी सिंगार हाव-भाव करि रोर लिए, मन से मतंगँन की गति लथ-पथ है।
बिबिध बिलास साज साजे कबि 'उरदाँम' मेरे जाँन मुख मकरधुज कौ रथ है॥"

यही नहीं इन साहित्याचार्यों ने—भ्रांतिमान्, संदेह और अतिशयोक्ति अलंकारों से उत्प्रेक्षा की पृथक्ता का उल्लेख करते हुए लिखा है कि भ्रांतिमान् अलंकार में एक वस्तु में अन्य वस्तु की कल्पना की जाने पर सत्य वस्तु का ज्ञान नहीं होता, अपितु कवि के कथन द्वारा ही सत्यवस्तु का वर्णन किया जाता है और उत्प्रेक्षा में वस्तु के सत्य-स्वरूप का ज्ञान भी रहता है। संदेह अलंकार में ज्ञान की दोनों कोटियाँ समकक्ष प्रतीत होती रहती हैं, उत्प्रेक्षा में केवल एक कोटि जिसकी उत्प्रेक्षा की जाती है, प्रबल रहती है। इसी प्रकार अतिशयोक्ति अलंकार में अध्यवसाय सिद्ध होता है—उपमेय का निगरण होकर उपमान का ही कथन होता है, उत्प्रेक्षा में ऐसा नहीं। वहाँ उस (उपमान) का अध्यवसाय साध्य रहता है—उपमान का अनिश्चित रूप से कथन होता है।

उर्दू-कवियों—शायरों ने भी उक्त उत्प्रेक्षा के सुंदर उदाहरण प्रस्तुत किये हैं, जैसे—

"समाँ ये कहती है", किस आँ न हम पै जुल्म हुए।
खुदा के घर में भी देखो जलाये जाते हैं॥"

अथवा—

"चिराग़ सुबह ये कहता है, आफताब को देख।
ये बज्म तुम को मुबारक हो, हम तो चलते हैं॥"

अथ अपन्हुति अलंकार बरनन यथा—

और धरँम जहँ थापिऐ, साँचौ धरँम-दुराइ।
औरें दीजै जुक्ति-बल, औरु हेतु ठैहराइ॥

*

मेंटि और कौ[1] गुँन जहाँ, करें और कौ[2] थाप।
भ्रँम काहू कौ ह्वै गयौ, ताकों मिटवत आप॥

*

काहू बूझ्यौ[3] मुकरि कें[4], औरें कही[5] बनाइ।
मिस-करि औरों कथन छै[6] बिधि होति "अपन्हुति" भाइ॥

अपन्हुति के षट भेद कथन जथा—

'सुद्ध',[7]'हेतु', 'परजस्त', 'भ्रँम', 'छेक': 'कैतवै'[8] देखि।
बाचक एक 'न'कार है. सब में निसचै लेखि॥

वि०—"प्रकृत (उपमेय) का निषेधकर अन्य (उपमान) के आरोप (स्थापना) किये जाने पर—सत्य-धर्म को छिपाकर अन्य धर्म के स्थापन (आरोप) किये जाने पर, "अपन्हुति" अलंकार कहा जाता है। सादृश्य के कारण गुण-विशेष-द्वारा उपमेय का अपन्हव (छिपाने) करने पर, अर्थात् निषेध कर, और उसके स्थान पर उपमान को स्थापित किया जाय तब उक्त अलंकार माना जायगा। क्योंकि अपन्हुति का अर्थ है छिपाना—गोपन करना, अथवा निषेध। अतएव यहाँ उपमेय का निषेध कर उपमान की स्थापना की जाती है। लक्षण में उपमेयोपमान का कथन उपलक्षण मात्र है, उपमेयोपमान-भाव के बिना भी अप-

पा०—१. (का०) (वे०) (प्र०) सों...। २. (सं० प्र०) (का०) (वें०) में...। (प्र०) की। ३. (वें०) पूछें। (सं० प्र०) पूँछ्यौ...। ४. (सं० प्र०) (का०) तिंहि...। (वें०) करि। ५. (सं० प्र०) (का०) (वें०) कहै...। ६. (सं० प्र०) (प्र० मु०) षट...। ७. (का०) (वें०) धरँम...। ८. (वें०) कहत्वहि...।

न्हुति कही जाती है। अपन्हुति में निषेध कहीं पहिले कर अन्य का आरोप किया जाता है और कहीं पहिले आरोप कर पीछे निषेध किया जाता है। दास जी ने ऊपर लिखे गये तीन दोहों में उनका लक्षण लक्षितकर पुनः चौथे दोहे में अपन्हुति को "शुद्धधर्मा", "हेत्वा" "पर्यस्त" "भ्रांत्य" "छेक" और "कैतव" नाम से छह प्रकार का कहा है।

संस्कृत- अलंकाराचार्यों ने अपन्हुति के प्रथम 'शब्दी' और 'आर्थी' विभेदकर पुनः इन्हें 'निरवयवा' और 'सावयवा' मानकर 'हेत्वापन्हुति', 'पर्यस्तापन्हुति' तथा 'भ्रांत्यापन्हुति' (भ्रांतापन्हुति) के बाद सावयवा आर्थी के अंतर्गत 'छेकापन्हुति' का वर्णन करते हुए पर्यस्तापन्हुति के 'हेतुपर्यस्तापन्हुति' 'शुद्धा' तथा भ्रांत्यापन्हुति के "संभव भ्रांतापन्हुति" कल्पित भ्रांतापन्हुति रूप दो भेद करते हुए छेकापन्हुति के भी 'शुद्धा' और 'श्लेष-गर्भादि' भेद किये हैं। अतएव जब "आरोप में से धर्म (उपमेय) को छिपा लिया जाय—उसका निषेध कर दिया जाय, तब धर्म वा शुद्धापन्हुति कही जाती है, जैसा कि दास जी के प्रथम-उदाहरण रूप— 'चौहरे चौक०...'' में वर्णित है। हेत्वापन्हुति उसे कहते हैं, "जब कारण-सहित उपमेय का निषेध कर उपमान की स्थापना की जाय, अर्थात् जिसमें अपन्हव (निषेध) करने का हेतु साथ-साथ दिखा दिया जाय। अथवा शुद्धापन्हुति में कारण दिखलाये जाने पर उक्त अपन्हुति कही जायगी। उदाहरण, यथा—

'अरी घुँमरि घैरात घँन, चपला चमक न जाँन।'

और जब प्रकृत वस्तु के धर्म का अप्रकृत वस्तु के धर्म पर आरोप करते हुए प्रकृत वस्तु का निषेध किया जाय, अथवा किसी अन्य वस्तु के धर्म का आरोप करने के लिये दूसरी वस्तु के धर्म का निषेध किया जाय तब "पर्यस्तापन्हुति" कही जाती है। इसी प्रकार "भ्रांतापन्हुति'' भी जब सत्य बात प्रकट करके किसी की शंका दूर की जाय—किसी के भ्रम को दूर करते हुए अपन्हव किया जाय, असत्य का सत्य बतलाया जाय, तब होती है। उदाहरण, यथा—

आँनन है, अरबिंद न फूले, अली-गँन भूलें कहा मड़रात हौ।"

और स्वकथित अपने गुप्त रहस्य को किसी प्रकार प्रकट होते जानकर (यदि) उसे मिथ्या-समाधान-द्वारा छिपा दिया जाय—युक्ति पूर्वक किसी दूसरे व्यक्ति से अपनी बात छिपा ली जाय, वहाँ 'छेकापन्हुति' कहते हैं। छेक का अर्थ है—"चातुर्य"। अस्तु सत्य, पर गोपनीय बात को कहकर उसे श्लेष से, वा अन्य प्रकार से युक्ति-पूर्ण असत्य के द्वारा चातुर्य से छिपा लिया जाय, तब वहाँ उक्त अपन्हुति होती है। भ्रांतापन्हुति में असत कहकर भ्रम दूर किया जाता है तथा

छेक में कहा हुआ सत्य, असत्य उक्ति के कथन से छिपाया जाता है। कैतवापन्हुति वहाँ होती है—"जहाँ उपमेय का निषेध 'कैतव' (छल—कपट), 'व्याज' और 'मिस'-आदि शब्दों के अर्थ-द्वारा किया जाय। वक्रोक्ति में दूसरे के द्वारा कही गयी बात का अन्य अर्थ लगा लिया जाता है और यहाँ अपनी ही कही हुई बात को स्वयं छिपाकर दूसरी बात बना दी जाती है। व्याजोक्ति में भी गुप्त बात किसी प्रकार प्रकट होने पर उसे छिपानेवाला छिपाता है, पर यहाँ वह (वक्ता) स्वयं कह कर उसका निषेध करते हुए युक्ति-द्वारा छिपाता है, इत्यादि...।

अपन्हुति 'सादृश्य-मूलक' हैं वा 'औपम्य-गत' इस पर शास्त्र-ध्येताओं का मतभेद हैं। फिर भी अधिक मत इसके "औपम्य-गत" का ही है। कुछ शास्त्रकारों का यह भी मत है कि अपन्हुति के कितने ही भेद औपम्य-गत हैं, और कितने ही नहीं, पर वास्तव में देखा जाय तो बिना किसी प्रकार का साम्य किये किस प्रकार एक का निषेध कर उसके स्थान पर दूसरे का आरोप किया जा सकता है, क्योंकि अपन्हुति में शुद्धतः उपमेयोपमान का संबंध न होते हुए भी दोनों में कुछ न कुछ साम्य तो रहता ही है।

रसगंगाधर-कार ने 'पर्यस्तापन्हुति' को 'दृढ़ारोप-रूपक' बतलाते हुए कहा है कि "यहाँ उपमान का जो निषेध किया जाता है वह उपमेय में उसका दृढ़ता पूर्वक आरोप करने के लिए ही होता है, इसलिए यह अपन्हुति नहीं। काव्य-प्रकाश (संस्कृत) में कहा गया है कि 'अपन्हुति' कहीं शब्द-द्वारा प्रकट होती है और कहीं अर्थ के द्वारा 'ऊह्य' होती है, जिन्हे क्रमशः शाब्दी और आर्थी कहा जा चुका है। साथ-ही आर्थी अपन्हुति कहीं कपटार्थक और कहीं परिणामार्थक शब्दों-द्वारा एवं कहीं अन्य प्रकार से भी बनती है।" श्री मम्मट का यह अपन्हुति-निरूपण रुद्रट का संक्षिप्ती-करण है, साथ-ही रुय्यक-मान्य "विषयस्यापन्हवेऽपन्हुतिः" जिसमें अप्रकृत के साधन वा स्थापन का खुला निर्देश नहीं है, की आलोचना भी है। मम्मट जी ने अपन्हुति के भेद-प्रभेद निरूपण का विशिष्ट-सिद्धांतिक आधार न होने—पर भी "एवमियं भंगयंतरैरप्यूह्या" कहते हुए दंडी के "इत्येपन्हुतिभेदानां लक्ष्यो लक्ष्येषु विस्तरः" भाव को ही प्रकट किया हैं।"

प्रथम सुद्ध (धरमौं) अपन्हुति उदाहरन जथा—

चौहरे चौक ते (देखि) कलाधर[1] पूरब ते कढ़्यौ आवत है-री।
ठाढ़ौ सँपूरन चोखौ भर्यौ, बिष सों लहि घायँन[2] घूंम घँनै-री॥

पा०—१. (सं० प्र०) चौहरी चौक सी देख्यौ कला-मुख। (का०) (त्रे०) चौहरो चौक सों देख्यौ कला-मुख। २. (का०) घायरि।

माँजि-मिसीजि[1]सुजोरि दियौ, सोई 'दास' बिचों-बिच स्यौंमता है-री।
चाइ[2], चबाइ-बियोगिनि कों द्विजराज नहीं द्विज-राज है बैरी॥

वि०—"द्विजराज शब्द के कई अर्थ उसके श्लेष-संयुक्त होने के कारण होते हैं, यथा—द्विजराज=चंद्रमा, ब्राह्मण, दंत-पंक्ति-आदि, यथा—

"केकिताक्ष्यावहिभुजौ दंतविप्रांडजा द्विजाः।"

—अमरकोश (नानार्थ-वर्ग)

अथवा—

"द्विज पंछी, द्विज कहत ससि, द्विज कहिऐ पुनि दंत।
तीन-बरँन ते द्विज बड़ौ, सेवत कमला—कंत॥"

— नंददास (अनेकार्थ-मंजरी)

अस्तु, "द्विजराज" शब्द के एक श्लेषार्थ के सहारे रीति-काल के प्रख्यात कवि पद्माकर की सुमधुर सूक्ति देखें, यथा—

"सिंधु कौ सपूत-सुत, सिंधु-तनया कौ बंधु,
मंदिर अमंद सुभ सुंदर सुधाई के।
कहै 'पदमाकर' गिरीस के बसे हौ सीस,
तारँन के ईस, कुल-कारँन कन्हाई के॥
हाल-ही की बिरही बिचारी ब्रजबाल-ही पै
ज्वाल से जगावत जुवाल-सी जुन्हाई के।
एरे मति मंद चंद, आवति न लाज तोहि,
ह्वै कें 'द्विजराज' काज करत कसाई के॥"

अथ हेत्वापन्हुति उदाहरन जथा—

अरी, घुँमरि घैहरात घँन,[3] चपला-चँमक न जाँन।
काँम-कुपित काँमनींनि पै, धरत साँन किरवाँन॥*

वि०—"यही बात किसी दूसरे कवि ने इस प्रकार कही है, यथा—

"यै चपला चमकति नहीं, डारि धँनुष औ बाँन।
बिरहिन पै अति कोप सों, काढ़ी काँम कृपाँन॥"

पा०—१. (सां० प्र०) मिसी जसु जोर दयौ। (का०) मिसी जम जोर दयौ...। (वें०) मिसी मुँह जोरु दयौ...। (प्र०) मिसी द्विज-माँझि दई सोइ...। २. (का०) चाई-चबाई...। (प्र०) चाव-चबाव...। ३. (सां० प्र०) हैं...।

*, का० प्र० (भानु०) पृ० ५०४, ४२। सु० स० (ला० भ० दी०) पृ० २२७, १०१।

अन्य उदाहरण, यथा—

"बाल-बदन-प्रतिबिंब-बिधु, ज्यौ रह्यौ तिहिँ संग।
ज्यौ रहत अब रजनि-दिन, तपन तपावत अंग॥"

—मतिराम (ललित-ललाम)

अथ परजस्तापन्हुति उदाहरन जथा—

कालकूट बिष नाहिँ, बिष है केवल इंदिरा।
हर जागत छकि याहि,[1] वा[2] सँग हरि नींदौ न तजैं॥*

वि०—"पर्यस्तापन्हुति (जब एक के गुण—धर्म का आरोप दूसरे में किया जाय—उपमान के गुण (धर्म) का आरोप उपमेय में कहा जाय) का उदाहरण श्री सोमनाथ का भी बड़ा सुंदर है, यथा—

"हिएँ लाल के चुभति-ही, बेसुध किए निदाँन।
तीखे मनमथ-सर, नहीं तिय-दग तीछँन-बाँन॥"

रसपीयूष (सोमनाथ)

पं० राज जगन्नाथ जी और अलंकार-सर्वस्व की टीका विमर्शनीकार ने इस अपन्हुति (जैसा पूर्व में कह आये हैं) को "दृढारोप रूपक" बतलाया है। उनका कहना है कि पर्यस्तापन्हुति में उपमान का निषेध किया जाता है, जो उपमेय में दृढ़तापूर्वक आरोप (रूपक) करने के लिये होता है, इसलिये अपन्हुति नहीं बनती।"

अथ भ्रांतापन्हुति उदाहरन यथा—

आँनन है, अरबिंद न फूले,[3] अलीगँन भूलें कहा मँड़रात हौ[4]।
कीर, तुम्हें[5] का बाइ लगी,[6] भ्रँम बिंब के ओठँन कों ललिचात हौ[7]॥
'दास'[8] जू ब्याली न, बेंनी-बँनाव है, पापी-कलापी कहा इतरात हौ[9]।
बोलतो[10] बाल, न बाजतो बीन, कहा सिगरे मृग घेरति जात हौ[11]॥†

पा०—१. (प्र०)...जाहि। (सू० स०) वाहि।। २. (सू० स०) यहि...। ३. (ह० ह०) फूल्यौ। ४. (ह० ह०) हैं। ५. (ह० ह०)...कहा तोहि बाइ भई। ६. (र० कु०) से। ७. (ह० ह०) हैं। ८. (र० कु०)...ब्याली न बेंनी रच्यौ तुम पापी...। ९. (ह० ह०) हरखात हैं। १०. (सं० प्र०) बोलत...। (ह० ह०) बाजत बीन न, बोलति बाल......। ११. (ह० ह०) हैं।

* सू० स० (ला० भ० दी०) पृ० ६४, ६७। † र० कु० (अयो०) पृ० ८८, २२७। ह० ह० (ह० जु०) पृ० २६१, २०। अ० र० (पो०) पृ० १३०, २७६। मा० भू० (के०) पृ० ११६।

वि० – "जब उपमेय में उपमान का होने वाला भ्रम दूर किया जाय तब यह अलंकार बनता – कहा जाता है। शुद्ध-अपन्हुति-आदि में प्रकृत (उपमेय) का निषेध किया जाता है, यहाँ उपमान का। इसलिये साहित्य-दर्पणकार विश्वनाथ चक्रवर्त्ती ने इसे एक स्वतंत्र अलंकार "निश्चय" नाम से माना है। दंडीजी ने भी इसे "तत्त्वाख्यानोपमा" नाम से उपमा का ही एक भेद विशेष कहा है। अस्तु, भ्रांतापन्हुति का उदाहरण कविवर 'लच्छीराम' का भी सुंदर है, यथा—

"भाँवरें भरत भोंर भूलें अरबिंदन के,
हाथ गजरारे और नारे की लगैंन में।
कबि 'लच्छीरांम' कब दाँमिनी फिरति भूँमि,
झूमत मयूर मतबारे मोद मँन में॥
माँनसर मोंतिया न, सेद-बिंद गोरे—गात,
पीछें परौ नाँहक मराल मुरछँन में।
बासर में चंद है न, प्यारी कौ अमंद मुख,
फूले मति मंद क्यों चकोर मधुबँन में॥"

अथवा—

"गंग नहीं, मुकता-भरी माँग है, चंद नहीं ये उज्जल भाल है।
भूति नहीं, मलयागिरि सोहत, सेस नहीं, सिर बेंनी बिसाल है॥
नील नहीं, मखतूल के पुंज हैं, बिजया है नहीं, बिरहा सों बिहाल है।
ए रे मनोज, सँम्हारि कें मारियो, ईस नहीं ये कोंमल बाल है॥"

भ्रांतापन्हुति के अंतर्गत भानु (जगन्नाथप्रसाद भानु) कवि ने 'परिहासापन्हुति' भी मानी है और उदाहरण में भारतेंदु बा० हरिचंद्र जी का निम्न-लिखित 'पद' दिया है—

"होरी में सँमधिन आई, अहो फौगुन-त्यौहार मनाई॥
जथा-सक्ति कीन्हों सब-ही नें, सँमधिन कौ सतकार।
सँमाधिन जू नें 'बौहौत करायौ', आदर-सिस्टाचार॥
सँमधिन जू की 'चिकनी-चुपरी', चोटी सोंधौ लाइ।
सँमधिन कों लखि, 'रपटि-परति', सँमधी कौ मन धाइ॥"

—भा० ग्रं० पृ० ३७१

अस्तु, इस प्रकार की रचना भारतेंदु जी से प्रथम "सूरदास जी" की भी मिलती है, जैसे—

"रहसि घर सँमधिन आई, ए सब सुजनन के मँन-भाई॥
सँमधिन सों सँमध्यौरो कीजै, कीरति ये मँन भाई।

नंद गाँउ ते मैहेरि जसोधा, सँमधिन न्योंति बुलाई ॥
सँमधिन आई, सब-मँन भाई, निसि सँमधी-सँग खेली।
'खोलि' हुलास आइ ढिंग बैठी, मौहरँन को सी थैली ॥
अति सुरंग 'सारी' सँमधिन की, लहँगा अति-ही सुदार।
'फाटि' रही 'सगरी' सँमधिन की, चोली, जोबँन-भार ॥
सँमधिन कों 'हाथी कौ भावै', आछौ, नींकौ, पूरौ।
रंग रँगीलौ, औ चटकीलौ हाथ भरे कौ चूरौ ॥
सँमधी तौ 'दीयौ-ही चाँहैं, खोलि' डबा की गाँठि।
अपने सँमधी के नेगिनि कों, हीरा पन्ना बाँटि ॥"

—बसंत-धमार, पृ० ८०

इन दोनों पदों में कोमा की पगड़ी के भीतर भिन्न टायप के शब्दों की बहार देखने लायक है कि कवि किस प्रकार न कहने योग्य वाक्यों-द्वारा अश्लीलता को अपनी उपस्थित बुद्धि से बदल कर भाव को कहाँ-से-कहाँ ले जा कर हास्य का सुंदर स्वरूप स्पष्ट कर देता है।

भारती-भूषण में केड़ियाजी ने दास जी के इस छंद में भ्रांतापन्हुति की माला मानी है, क्योंकि इस—आँनन है, अरबिंद न फूले...के चारों चरणों में उक्त अपन्हुति है। एक दूसरा उदाहरण भी 'माला' का वहाँ दिया है, यथा-

"हे पंच-सायक मार, मत पुष्प केसर मार ॥
असि-गदा-सूल चलाव, पुनि देख मेरे दाव।
मत जाँन तू बिधु-बाल, है खौर चंदन भाल ॥
नहीं जटा मेरे सीस, मंदील आहि रतीस।
नहिं जान्हवी की धार, है मुक्त-हारिन-हार ॥
है सर्प नाहिं अनंग, यह परयौ सेला अंग।
मैं अहहु राजकुमार, सिव जाँन मोंहि न मार ॥

—रा० दे० प्र० पूर्ण

संस्कृत में भी एक ऐसी सुंदर सूक्ति मिलती है, जो यही भाव व्यक्त करती है, यथा—

जटा नेयं वेणीकृतकचकलापो न गरलं,
गले कस्तूरीयं शिरसि शशिलेखा न कुसुमम्।
इयं भूतिर्नांगे प्रियविरहजन्मा धवलिमा,
पुराराति भ्रांत्या कुसुमशर किं मां व्यथयसि ॥"

—सुभाषित १६८, ४४

अथ छेकापन्हुति उदाहरन जथा--

दच्छिन जा तँन[1]के बिच ह्वै कैं, हरें, हरें चाँदनी में चलि आयौ ।
बास-बगारि कैं ढारि रसै, लगि सोरौ कियौ[2]हियरौ मँन भायौ ॥
'दास' जू या बिन या उदबेग सौं, प्राँन वही ये जाँन हौं पायौ ।
भेंट्यौ कहूँ मँनरोंन अलो, नहिं-री सखि, राति कौ पोंन सुहायौ ॥

वि०—"छेकापन्हुति जुक्ति करि, पर सों बात दुराइ०"...अर्थात्, जहाँ युक्ति पूर्वक (किसी) दूसरे व्यक्ति से अपनी बात छिपाई जाय वहाँ होती है । इस अपन्हुति का उदाहरण 'गोकुल' कवि का बड़ा सुंदर बन पड़ा है, यथा—
"साँवरौ सलोंनों गात पीत-पट सोहत सौ, अंबुज से आंनन पै परै छबि ढरकी ।
मंत्र ऐसी, तंत्र जैसी, जंत्र-सी तरकि परै, हँसनि,चलनि, चितवनि त्यों सुघर की ॥
'गोकल' कहत बँन-कुंजन कौ बासी लखें,हाँसी-सी करति है री, काँम कलाधरकी ।
इतने में बोली अरी, मिले हरि सुख-दाँनीं,नाँही में कहाँनी कही राम-रघुबर की ॥
और 'खुशरो' की कहमुकरियाँ, यथा—

"अरध-निसा वह आयौ भोंन, सुंदरता बरनें कवि कोंन ।
निरखति-ही मन मँन भयौ अँनंद, क्यों सखि साजन, ना सखि चंद ॥

*

"राति-दिनाँ हैं जाकौ गोंन, खुलें द्वार आवै मो भोंन ।
वाकौ हरख बताऊं कोंन, क्यों 'सखि' साजन, ना सखि पोंन ॥"

भारतेंदु जी ने भी इस विषय को अपनाया है, और खूब अपनाया है, आपकी नई-मुकरियाँ साहित्य को अनूठी देन है, यथा—

"सब गुरुजन कों बुरौ बतावै, अपनी खिचड़ी अलग पकावै ।
भीतर तत्त न, झूंठी तेजी, क्यों सखि साजन, ना अँगरेजी ॥"

*

"भीतर-भीतर सब रस चूसै, हँसि-हँसि कें तन, मन, धन मूसै ।
जाहर बातन में अति तेज, क्यों सखि साजन, ना अँगरेज ॥"

अलंकार-आचार्यों ने छेकापन्हुति को श्लेष-मिश्रित भी माना है । उदाहरण, यथा—

पा०—१. (का०) (वें०) (प्र०) जातिन (न्ह) के...। २. (का०) (वें०) कै हौरौ कियौ मन...।

"काले पयोधराणामपतितयानैव शक्यते स्थातुम्।
उत्कंठितासि बाले नहि-नहि सखि पिच्छिलः पंथाः ॥
—सुभाषित पाठः

अर्थात्—

रहि न सकत कोउ अपतिता, सखि पावस रितु माँह।
भई कहा उत्कंठिता, नहिं पथ फिसलत पाँह ॥"
—पो० (अलंकार-मंजरी) १३१,

छेकापन्हुति से वक्रोक्ति और व्याजोक्ति के उदाहरणों को प्रथक्करण करते हुए शास्त्रज्ञों का अभिमत है कि "वक्रोक्ति में अन्य की उक्ति का अन्यर्थ कल्पित किया जाता है, छेकापन्हुति में अपनी उक्ति का। व्याजोक्ति में उक्ति का निषेध नहीं होता, केवल सत्य का गोपन मात्र है, छेकापन्हुति में निषेध करने के बाद सत्य छिपाया जाता है। साथ ही इन आचार्यों ने अपन्हुति को ध्वनि भी मानी है।"

अथ कैतवापन्हुति उदाहरन जथा—

'दास' लख्यौ टटकौ[1] करिकें, नट कोऊ कियौ मिस कौंन्हर केरौ।
याकौ अचंभौ न ईठि[2] गनों, याहि दीठि कौ बाँधिबौ आवै घँनेरौ ॥
मो चित में चढ़ि आप रह्यौ, उतरै न उपाइ कियौ बौहुतेरौ।
तूहूँ[3] कह्यौ औ हौं-हूँ लख्यौ, इहिं ऊपर चित्त रह्यौ[4] चढ़ि मेरौ ॥

वि०—"जहाँ कैतव—मिस, छल वा व्याज-आदि के शब्दों-द्वारा सत्यवस्तु (उपमेय) का निषेध कर असत्यवस्तु (उपमान) की स्थापना की जाय, वहाँ" कैतवापन्हुति" होती है।

दासजी के इस उदाहरण के साथ 'दूलह' कवि का यह निम्न-लिखित छंद बरवस याद आ जाता है, जैसे—

"आयौ, सुहायौ, सो मँन-भायौ, कह्यौ सुख सास न नंद ते भारौ।
मोते जुदौ कबहूँ न रह्यो, कबि 'दूलह' मोमन प्रॉन अधारौ ॥
कोक-कलाँन के सीखति हूँ, रव होत है पाइल को झँनकारौ।
सोजा सखी, भर में मति-री, यै खोजा हँमारे है मायके बारौ ॥"

पा०—१. (वें०) छ्टकौ...। २. (का०) भौ नई ठिगनौ...। (वें०) नईं ठिगनौ...। ३. (वें०) तौ-हू। (प्र०) तेहूँ। ४. (का०) रहै।

अथ अपन्हुति की संसृष्टि जथा—

एक रद है न सुभ्र-साखा बढ़ि आई
लंबोदर में बिबेक-तरु जो है फल[1] बेस कौ।
सुंडादंड कैतव हथ्यार है उदंड बौ,[2]
राखत न लेस अघ-बिघँन-असेस कौ॥
मद कहूँ भूलि ना झरत सुधा-धार यह,
ध्यौंन-हीं ते ही कौ दृढ़ हरँन कलेस कौ।
'दास' यै बिजँन बिचारयौ तिहूँ तापँन कौ,
दूरि कौ करँन बारौ करँन गनेस कौ॥

वि०—"विघ्नेश गणराज पर "रत्नाकर" जी ने भी बड़ी-बड़ी चमत्कृत सूक्तियाँ कहीं हैं, एक जैसे—

"ठेले कछु दंत सों, सकेले कछु सुंड-माँहि,
मेले कछु आँनन गजाँनन परात हैं।
कहै 'रतनाकर' जगत में न रंच कहूँ,
भगत-बिघँन के प्रपंच दरसात हैं॥
धाइ-धाइ पारत फनी के मुख-मंडल में,
लाइ-लाइ सोऊ ओभ चल करि जात हैं।
उत तौ उमाँ के उर उठत अनेस,
इत भेस देखि मुदित महेस मुसिकात हैं॥"

अथ सुमरँन, भ्रँम अरु संदेह अलंकार बरनन जथा—

सुँमरन, भ्रँम, संदेह के[3] लच्छँन प्रघटें नाम।
उत्प्रेच्छादिक में नहीं, तदपि मिलें अभिराम॥

वि०—"भाषा-भूषण के कर्ता जसवंत सिंह जी ने भी इन 'भेद-प्रधान 'सुमरन' (स्मरण) और अभेद-प्रधान 'भ्रम' तथा 'संदेह' अलंकारों को एक साथ-ही वर्णन करते हुए लिखा है—

"सुँमरन, भ्रँम, संदेह ए, लच्छन नाम प्रकास।"

अस्तु, किसी पूर्वानुभूत वस्तु के समान किसी अन्य वस्तु के देखे जाने पर उस (पूर्वानुभूत वस्तु) की स्मृति-कथन को 'सुमरन' (स्मरण) अलंकार कहते

पा०—१. (का०) (वें०) सुभ्र...। २. (वें०) यै...। ३. (का०) (वें०) यै।

है। अर्थात् किसी सादृश्य वस्तु (उपमान) के देखने वा अनुभव होने के बाद वैसी-ही दूसरी वस्तु (उपमेय) का स्मरण आने पर यह अलंकार बनता है।

अनुभव, ज्ञान का एक भेद है और ज्ञान, अनुभव तथा स्मृति-रूप द्विविध है। जिस प्रकार घड़े को देखने पर प्रथम अनुभव हुआ कि ऐसी-ही वस्तु घड़ा कहलाती है तो यह अनुभव-ही मस्तिष्क में एक स्थान बना लेता है, जिसे संस्कार भी कह सकते हैं। अतएव जब कभी फिर वैसो-ही वस्तु सामने आती है तब इस संस्कार का अनुभव उस वस्तु का स्मरण करा देता है। इस प्रकार मस्तिष्क क्रमशः अनुभव, संस्कार और स्मृति के रूप में कार्य करता है। जब नेत्रों-द्वारा किसी सदृश वस्तु का हृदय में अनुभव होता है तो संस्कार वैसी-ही दूसरी वस्तु का, जिसका प्रथम अनुभव प्राप्त कर चुका है, स्मरण करा देता है और वह 'स्मरण-ही साहित्य में अलंकार कहा जाता है। अनुभव के अंतर्गत जैसा कि आगे के दोहे में दासजी ने कहा है—देखना, सुनना. याद आना, सोचना-आदि मस्तिष्क की सभी क्रियाएँ आ जाती हैं, क्योंकि अनुभव, प्रत्यक्ष तथा स्वप्नादि में भी होता है और इनमें भी उक्त क्रियाओं का स्मरण होता रहता है, पर जैसा अनुभव चाहिये वैसा अनुभव उसके सदृश-वस्तु ही के अनुभव पर हुआ है, या (उसे) स्वप्न में देखकर, यह निश्चय नहीं हो पाता। क्योंकि कभी-कभी उससे संबंधित वस्तु के अनुभव से भी स्मरण हो सकता है और जब कभी एक सदृश वस्तु का स्मरण हो जाने पर वैसी-ही दूसरी वस्तु का स्मरण हो आता है, तो उस अवस्था में अनुभव के अंतर्गत यह स्मरण नहीं आता। क्योंकि कभी-कभी विरोधी वस्तु के ज्ञान होने पर भी प्रथम देखी हुई वस्तु का स्मरण हो आता है......।

सुमरन वा स्मरण का द्वितीय नाम स्मृति भी है, और वह इसके अनुप्राण-व्यभिचारी या संचारी-भावरूप 'सुमरन' वा स्मृति जैसी नहीं है। सुमरन वा स्मृति-संचारी का वर्णन ब्रजभाषा कवि-कोविदों ने इस प्रकार किया है—

"मँन-भावँन की बात कों बिछुरि करै जब याद।
ता कों "सुँमरन" कहत हैं, रस-ग्रंथँन अविबाद॥"

अर्थात् वियोग-समय प्रिय की पूर्व चेष्टाओं का ज्ञान होकर जब चित्त-व्यथित हो—उन्हें याद कर-कर पछताने लगे, तब उन—"सुँमरन" वा "स्मृति" को विप्रलंभ-शृंगारांतर्गत दशा-विशेष कहते हैं। साहित्य-दर्पण (संस्कृत) में विश्वनाथ चक्रवर्ती कहते हैं—

"सदृश ज्ञान चिंताद्यैर्भ्रू समुन्नयनादि कृत्।
'स्मृति' पूर्वानुभूतार्थविषयज्ञानमुच्यते॥"

अर्थात्, सदृश वस्तु के अवलोकन तथा चिंतनादि से पूर्वानुभूत स्मरण को उक्त दशा कहते हैं। अतएव इस स्मृति वा सुमरन संचारी भाव का सुमरन (स्मरण वा स्मृति) अलंकार से भेद प्रकट करते हुए संस्कृत-शास्त्रकारों ने कहा है कि "जब सदृश-वस्तु को देख वा अनुभव कर दूसरी वैसी-ही वस्तु का स्मरण हो आए तब वहाँ स्मरण-अलंकार है और यदि किसी अन्य कारणों—चिंतन-उद्वेगादि से वैसा स्मरण हो तो वहाँ यह अलंकार न होकर 'स्मृति' वा 'सुमरन'-भाव ही कहा जायगा। यह कथन युक्ति-युक्त है, ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि स्थायी-भावों के रहते हुए विशेष कारणों से उत्पन्न तथा विलीन होने वाले—अलसता, जड़ता, लज्जा, हर्ष, स्मृति—आदि ही 'व्यभिचारी' या 'संचारी'—भाव कहलाते हैं, जो रसात्मक वाक्यों से विकसित होते हैं। जैसे कहा जाय कि "मैं उसके उन सलज्ज, चंचल एवं आनंद-विस्फारित कटाक्ष-पूर्ण नेत्रों की याद किया करता हूँ, जिनसे वह औरों की दृष्टि-बचाकर (मुझे) देखा करती थी।" तब यहाँ—केवल वियोग-जन्य 'स्मरण'-भाव-ही कहा जायगा, अलंकार नहीं। क्योंकि यह स्मरण किसी कारण-विशेष-वश एकाएक उद्बुद्ध नहीं हुआ है, वह तो हृदयस्थ भाव को एकाएक प्रकट कर रहा है। इसलिये बिना-कारण किसी का एकाएक—सुमरन करना, याद आ जाना वा करना 'सुमरन' (स्मृति) भाव-ही है, अलंकार नहीं। अलंकार तो उक्ति-वैचित्र्य वा वर्णन शैली की विचित्रता द्वारा सरस भाव-पूर्ण वाक्यों को विशेष अलंकृत (चमत्कृत) करता है, क्योंकि उसका कार्य रस-भावादि पूर्ण वाक्यों के पुष्ट हो जाने पर-ही पड़ता है। अस्तु, उपरोक्त उदाहरण को यदि इस प्रकार कहा जाय कि "इस नाटक की नायिका के वैसे-ही ठीक हाव-भाव को देख कर मुझे पूर्व-दृष्टा नायिका के उन सलज्ज, चंचल और आनंद-विस्फारित कटाक्षपूर्ण नेत्रों की बार-बार याद आ रही है, जिनसे वह औरों की दृष्टि बचाकर (मुझे) देखा करती थी" तो यहाँ वक्ता का हृदयस्थ-भाव उक्त वाक्यों-द्वारा नटी के पूर्व दृष्टा नायिका की भाँति वैसे-ही आचरणों को देख कर उद्वेलित हो उठने के कारण जो एकाएक प्रकट हो रहा है, अतः वह यहाँ 'सुमरन' (स्मृति) भाव न होकर अलंकार बन गया है। इसकी विवेचना यहाँ केवल इतना कह देने पर-ही अवलंबित नहीं है कि "इन वाक्यों में सुमरन—स्मृति भाव है अथवा अलंकार, अपितु सदृश वस्तु के अनुभव न होने पर जब वैसी-ही-तद्रूप वस्तु का स्मरण होजाय तब स्मरण (सुमरन) अलंकार है और किसी अन्य प्रकार से सुमरन होने पर वह 'भाव' है। अतएव काव्य के तद्-तद् स्थानों पर देखना होगा कि यह सुमरन बिना किसी अलंकरण के आया है, अथवा कुछ उक्ति-वैचित्र्य के द्वारा, और तब निश्चय करना होगा कि वह अलंकार है

वा भाव, क्योंकि भाव सदा हृदय में रहता है और कोई अवसर-विशेष पाकर ही प्रकट होता है तथा अलंकार-रूप में उसकी इससे कुछ विशेष विशेषता की आवश्यकता रहती है। यों तो विदेश-गये प्रियतम अथवा मित्र की स्मृति सदा-ही हृदय में बनी रहती है। उसके चित्रादि के अतिरिक्त अन्य संबंधित वस्तुएं देख-देख कर भी स्मरण रूप विविध भाव उठते-बैठते रहते हैं, किंतु जब उक्त भावों के विकसित होने का वर्णन उक्ति-वैचित्र्य के द्वारा सदृश वस्तु के अनुभव से अथवा अन्य प्रकार से किया जाय तब वे अलंकार कहे जाँयगे, जैसा कि दासजी के इस अलंकार के उदाहरणों अथवा कविवर की बिहारीलाल के निम्नलिखित दोहे में

"सघँन कुंज, छायाँ सुखद, सीतल-मंद-सँमीर।
मन ह्वै जाति अजों वहै, वा जमुनाँ के तीर॥

है। यहाँ गोपियों ने भगवान् व नायक कृष्ण के साथ जो-जो लीलाएँ की हैं, उनकी स्मृति तो उन्हें बनी-ही है, पर वह हृदयस्थ स्मृति कभी-कभी उन लीलाओं के स्थानों—"यमुना-तीर की सीतल-मंद-समीर-संयुक्त सघन कुंजों की सुखद छाया देख—उनका अनुभव कर, (उनका) मन एकाएक उदबुद्ध हो उठता है'—उन लीलाओं के आनंद का स्मरण कर मग्न हो जाता है। अतएव यहाँ सुमरन, भाव न बन कर अलंकार हो गया है।"

भ्रम—"अप्रकृत (उपमान) के समान प्रकृत (उपमेय) के देखे जाने पर, अप्रकृत उपमान की भाँति होने पर, एक वस्तु को भ्रम के कारण दूसरी वस्तु समझ लेने पर, अथवा किसी वस्तु में उसके सदृश अन्य वस्तु का कवि-प्रतिभा-द्वारा उत्थापित चमत्कार 'भ्रम', 'भ्रांति' वा भ्रांतिमान्' अलंकार कहा जाता है, क्योंकि यहाँ सादृश्य के कारण वर्ण्य-वस्तु में अवर्ण्य-वस्तु की भ्रांति वाक्-वैचित्र्य के साथ होती है।

भ्रम-अलंकार में दो बातें आवश्यक हैं, प्रथम यह कि भ्रम का कारण कुछ साम्यता लिये हुए होना चाहिये और दूसरे इसके वर्णन में कवि-प्रतिभायुक्त कुछ वैचित्र्य भी। इसलिये जब उपमेय में अति साम्यता के कारण उपमान का निश्चित भ्रम हो जाय, तब यह अलंकार होता है। जब तक एक-ही वस्तु का भ्रम वर्णन किया जाय तब तक ही यह अलंकार कहा जायगा, कई भ्रमों वा भ्रांतियों के वर्णन किये जाने पर वह 'उल्लेखालंकार' का विषय बन जायगा। जैसे रूपक में उपमान का उपमेय पर भार होता है वैसा-ही इस भ्रमालंकार में भी होता है, पर प्रथम (रूपक) में दोनों (उपमानोपमेय) को विभिन्न वस्तु जानते हुए भी सादृश्य के कारण एक माना जाता है, भ्रम में दोनों की भिन्नता न रहते हुए भी प्रत्युतः उपमेय में उपमान की भ्रांति मान ली जाती है। यहाँ यह याद रहे कि वह भ्रम

अज्ञानता का कारण न हो, जैसा कि 'कविकुल तिलक गो० तुलसीदास' जी की इस उक्ति में—

"जो जिहिं मन-भावै सो लेंहीं, मनि मुख-मेलि डारि कपि देहीं ॥

यहाँ वानर समूह अज्ञान वश मणियों को फल समझ मुख में रख तो लेते हैं, पर उनमें किसी प्रकार का स्वाद न पा और दाँतों से टूटने वाला भी न समझ उन्हे थूक देते हैं-उगल देते हैं। अस्तु, यह भ्रम वानरों की अज्ञानता के कारण है, इसलिए यहाँ वह अलंकार के रूप में भी नहीं हैं (का० क० पो०)। भ्रमालंकार का निम्न-लिखित छंद सुंदर उदाहरण कहा जायगा। यथा—

'सीख-सिखाई न माँनति है, बर-हूँ बस संग सखीन के आवै।
खेलति खेल नए जल में, बिन-काँम बृथाँ कत जाय बितावै ॥
छाँड़िकें संग सहेलिन कौ, रहि कें कहि काँन सबाद-बढ़ावै।
कौंन परी यै बाँनि अरी, नित नीर-भरी गगरी ढरिकावै ॥"

अथवा—

देखकर वह आइना को, अक्स से कहता है शोख।
हुस्न का दावा है कुछ, तो निकल बाहर आओ ॥

—कोई शायर

अस्तु, इसी प्रकार 'जब वर्ण्य वस्तु (उपमेय) में किसी अन्य वस्तु (उपमान) का चमत्कार पूर्ण वर्णन हो, उपमेय को देखकर यह तर्क उठे कि यह उपमेय है कि उपमान अथवा अन्य कुछ तब 'संदेहालंकार' कहा जाता है।

संदेह का शब्दार्थ स्पष्ट है, फिर भी यहाँ कवि-कल्पित चमत्कार पूर्ण संदेह को—किसी वस्तु के विषय सादृश्य मूलक संशय को, उक्त अलंकार कहा जायगा, साधारण लौकिक संशय होने पर नहीं। अतएव अलंकाराचार्यों ने इसे 'शुद्ध', 'निश्चय-गर्भ' और 'निश्चयांत' तीन प्रकार का माना है। कन्हैयालाल पोद्दार ने अपनी अलंकार-मंजरी में श्री मम्मटाचार्य के अनुसार संशय को भेद की उक्ति-में और अनुक्ति में मान कर प्रथम भेद की उक्ति के—निश्चय-गर्भ और निश्चयांत भेद माने हैं, किंतु श्री विश्वनाथ चक्रवर्ती ने अपने साहित्य-दर्पण में उपर्युक्त तीनों भेद मानते हुए लिखा है—

"संदेहः प्रकृतेऽन्यस्य संशयः प्रतिभोत्थितः।
शुद्धो निश्चयगर्भोऽसौ निश्चयांतः इति त्रिधा ॥"

यही नहीं, पोद्दार जी ने दासजी-द्वारा वर्णित संदेहालंकार के उदाहरण "लखें वहि टोल में नौल-वधू०" में यह अलंकार भी नहीं माना है, आपका कहना है कि 'नायिका के सिर-पाँ से लेकर कौन-कौन से अंगों के सौंदर्य की

प्रशंसा करूं—किन-किन को ससहूँ। इत्यादि सादृश्य-मूलक संदेहालंकार नहीं है और न एसे वर्णनों में उस—संदेह का चमत्कार ही है, वकौल श्री रस-गंगाधर-कर्त्ता के।" दासजी-द्वारा दर्शित शुद्ध संदेह का-'लखें वहि टोल में नौल बधू०", निश्चय-गर्भ का "तँम-दुख-हारन रबि कि हग०" और निश्चयांत का "चारु मुख-चंद कौ चढ़ायौ बिधि किसुक कै०" के सुंदर उदाहरण बन पड़े हैं। शुद्ध-संदेह का कवि श्री विहारीलाल का यह दोहा भी अति प्रशंसित है, यथा—

"हों-हीं बौरी बिरह-बस, कै बौरौ सब गाँउ।
कहा जाँनि ए कहत हैं, ससि-हिं सतिकर नाँउ॥"

अथ सुमरँन लच्छन जथा—

कछु लखि, सुनि, कछु सुधि किएं[१], सो 'सुँमरन' सुख-कंद।
"सुधि आवति ब्रज-चंद की, निरखि सँपूरन—चंद॥"

उदाहरन जथा—

लखें सुधि-दाँन पखाँन[२] ते जाँन, मयूरँन देति भगाइ-भगाइ[३]।
मँने[४] कै दियौ पियरे पैहराव कों[५], गाँउ में प्यादे लगाइ-लगाइ[६]॥
भुलावति[७] वाके[८] हिए ते हरी[९], कथाँन में 'दास' पगाइ-पगाइ[१०]।
कहा[११] कहिऐ पिय[१२] बोलि पपीहरा[१३] बिथा तँन[१४] देति जगाइ-जगाइ[१५]*

वि०—"दासजी के इस छंद को भारतेंदु जी ने "सुंदरी-तिलक" में तथा 'रसकुसुमाकर' के संग्रह-कर्त्ता ने 'मध्या प्रोषितपतिका' के उदाहरणों में, भानुजी ने 'स्मरण' अलंकार के उदाहरण में और "काव्य-कानन" के संग्रहकर्त्ता ने फुट-कल, बिना किसी शीर्षक के संग्रह किया है।

पा०—१. (का०) (वें०) करीय...। २. (वें०) पयाँन ते...। (र० कु०) लखें सुख-दाँनि पखाँम सौ जान...। (सुं० ति०) जाँन पखानन की सुधि हेत। (का० प्र०) लखें सुख-दाँन पयान ते...। ३. (वें०) (का० प्र०) भगाई। ४. (र० कु०) मना ..। ५. (सुं० ति०) सु...। (वें०) (का० प्र०) लगाई। ७ (सुं० ति०) भुलावती। ८. (का०) (वें०) (का० प्र०) वाके .। ६. (का०) (वें०) (प्र०) (का० प्र०) हरी-हि, कथान...। (र० कु०) हरें ही, कथान...। १०. (वें०) (का० प्र०) पगाई। ११ (प्र०) का। १२. (सुं० ति०) ..यह पापी पपहिरा, बिथा हिय देतु...। १३. (प्र०) (का०) (वें०) (र० कु०) (का० प्र०) पपीहा...। (रा० पु०-का०) पपैया। १४. (का०) (वें०) (र० कु०) (का० प्र०) जिय। (सुं० ति०) हिय...। १५. (वें०) (का० प्र०) जगाई।

* र० कु० (अ०) पृ० १२४, ३२६। सुं० ति० (भा०) पृ० १८१, ६१६। का० ग्रं० (भा०) पृ० ५०१। का० का० (च०) पृ० १०८।

अलंकाराचार्यों ने 'सुमरन' को ध्वनि मानते हुए उदाहरण में 'हनुमन्नाटक' का यह श्लोक दिया है, यथा—

"सौमित्रे ननु सेव्यतां तरुतलं चंडांशुरुज्जृंभते,
चंडांशोर्निशि का कथा रघुपते चंद्रोऽयमुन्मीलति ।
वत्सैतद्विदितं कथं नु भवता धत्ते कुरंगं यतः,
क्वाऽसि प्रेयसि हा कुरंगनयने चंद्रानने जानकि ॥"

यह श्री राम-लक्ष्मण की उक्ति-प्रत्युक्ति है । श्रीराम ने कहा— लक्ष्मण वृक्ष के नीचे चलो, क्योंकि सूर्य उदय हो रहा है । लक्ष्मण ने कहा रघुपते, रात के समय सूर्य की क्या बात, यह तो चंद्रोदय हो रहा है...। श्री राम ने कहा—वत्स, तुमने यह कैसे समझ लिया कि यह चंद्र है ? लक्ष्मण ने कहा—क्योंकि वह मृग को धारण कर रहा है । यह सुनते ही श्रीराम ने कहा—हाय, मृग-नयनी चंद्र मुखी प्रियतमे जानकी, तुम कहाँ हो ?

श्लोक प्रयुक्त स्मरणालंकार की यह कितनी सुंदर ध्वनि है, धन्य है, धन्य है सूक्ति और रचनाकार को और उसके समझने वालों को...। लक्ष्मण-मुख से यह सुन कर कि 'यह तो मृगलांछन संयुक्त चंद्र है, वियोगी श्रीराम को मृगके समान नेत्रों वाली और चद्र के समान मुखवाली श्री सीता का "स्मरण" होना शब्दों-द्वारा कथन न होते हुए भी कितने सुंदर रूप से ध्वनित है, यह साहित्य-मर्मज्ञ ही जान सकते हैं, क्योंकि यह स्मृति व्यंग्य है और अलंकार्य है ।"

अथ भ्रँमालंकार उदाहरन जथा—

ओढ़े सारी[1] जरद लखि[2], कंचन-बरनी-बाल ।
चतुर चिरी चित फँद गयौ,भ्रँमें भूलि रँग[3]जाल[4] ॥

अस्य तिलक

इहाँ भ्राँति (भ्रम) के संग रूपक संकलित है ।

पुनः उदाहरन जथा—

बिर[5] बिचारि प्रबसँन लग्यौ, करी[6] मुंड में ब्याल ।
ता हूँ करी[7] जु कमल-भ्रँम, लियौ उठाइ उताल ॥

पा०—१. (का०) (वें०) (प्र०) जाली । २. (प्र०) की । ३. (वें०) (प्र०) रंग । ४. (प्र०) भ्रँमों भूलि रँग जाल । ५. (वें०) बिन । (प्र०) (का०) बिल...। ६. (वें०) (प्र०) ब्याल ७. (का०) (वें०) (प्र०) कारी कमल...।

अस्य तिलक

इहाँ भ्रँम के संग अन्योक्ति संकलित है।

पुनः उदाहरन जथा—

पँन्नन की किरनें[1] लैहरें-री, हरी-री लतौंन कों तूलि रही है।
नीलँम, मौंनिक-आभा अँनूप,[2] सोंसन[3]-लालँन हूलि रही है॥
हीरँन, मोंतिन की दुति 'दास'जू बेला-चमेली-सी फूलि रही है।
देखि जराव कौ आँगन राव कौ, भौरँन की मति भूलि रही है॥

अस्य तिलक

इहाँ भ्रँम के संग उदात अलंकार कौ संकर है औ फुलवारी कौ रूपक व्यंगि है।

पुनः उदाहरन जथा—

देखत ही जाके बैरी-बृंद गजराजँन के,
धीर न धरत[4] जस जाहर जहाँन है।
गज-मुकतौंन कौ खिलोंनाँ करि डारत है,
उँमगि उछाह सों करत जब[5] दाँन है॥
बाँहन भवाँनी कौ पराक्रम बसत और[6]
अंगन में सूरता कौ प्रघट प्रमाँन[7] है।
हिंदूपति साहब के गुँन में बखाँने,
मृगराज जिय-जाँने कै[8] हमारौ गुँन-गाँन है॥

अस्य तिलक

इहाँ सबद की सक्ति ते भ्रँमालंकार है, प्रतीपालंकार व्यंगि है।

वि०—"अलंकाराचार्यों ने वाधित भ्रम के रूप में भी यह अलंकार माना है। वाधित—"किसी वस्तु में अन्य वस्तु का भ्रम होकर फिर उसके निवारण हो जाने पर" कहा है और कन्हैयालाल पोद्दार ने इसका निम्न-लिखित उदाहरण दिया है—

आनकर कुछ दूर से फल-पत्र छाया ताप हर।
शुष्क-वट के निकट आये भ्रमित हो कुछ पथिक, पर—

पा०—१. (का०) (वें०) किरनाली-खरी-री, हरी...। २. (का०) (वें०) (प्र०) अनूपम...। ३. (का०) सोसनी,...। ४. (का०) (वें०) (प्र०) रहत । ५. (वें०) (प्र०) जबै...। ६. (का०) (वें०) औरै... (प्र०) उरु। ७. (का०) गुमान है। ८. (वें०) की...।

शब्द उनका सुन सभी शुक-वृंद तरु से उड़ गया,
पथिक भी वह देख कौतुक फिर गया हँसता हुआ ॥

इन आचार्यों ने भ्रम की माला और ध्वनि भी मानी है और उनके प्रथक्-प्रथक् उदाहरण भी दिये हैं। भ्रमालंकार संयुक्त विहारीलाल का यह दोहा भी देखने-सुनने लायक है, यथा—

"अंत मरेंगे, चलि जरें, चढ़ि पलास की डार।
फिरि न मरें मिलि है अली, ए निरधूँम अँगार ॥"

अथ संदेहालंकार उदाहरन जथा—

लखें[1] वहि टोल में नील-बधू, इक साँस[2] भए दृग मेरे अडोल।
कहों कटि खींन कौ डोलनों डोल, कै[3] पींन-नितंब-उरोज की तोल ॥
सराँहों[4] अलौकिक बोल अमोल, कै आँनद-कौल[5] में रंग तँमोल।
कपोल सराँहों[6] कै नील-निचोल, किधों बिब-लोचँन लोल[7]-कपोल ॥*

पुनः उदाहरन जथा—

तँम-दुख हारिन रवि-किरनि,[8] सीतल-कारन चंद।
बिरह-कतल-काती किधों, पाती आँनद-कंद ॥

पुनः उदाहरन जथा—

चारु मुख-चंद कों चढ़ायौ बिधि किंसुक कै[9]
सुकँन[10] यों बिंबाधर[11] लालच उँमंग है।
नेह-उपजावन अतूल तिल-फूल किधों,
पाँनिप-सरोवर की उरमी[12] उतंग है ॥
'दास' मनमथ साही कंचँन-सुराही मुख,
बंस-जुत पाँन[13] की कै खाँन सुभ रंग है।
एक-ही में तीनों पुर ईस कौ है अंस किधों,
नाँक नवला की सुर-धाम सुर-संग है ॥†

पा०—१. (का०) (वें०) लखै...। (प्र०) लखे...। २. (वें०) दास...। (प्र०), मृदुहास में मेरो भयौ मन डोल। ३. (वें०) की...। (प्र०) कि...। ४. (वें०) सराहूँ...। ५. (प्र०) कोष ६. (वें०) सराहूँ...। ७. (वें०) लोलक-लोल या लोल कलोल। ८ (का०) कि दृग...। ९. (वें०) किंसुकन, किंसुक यों...। १०. (न० सि० सं०) सुक नयौ बिंबधर...। ११. (शृं० नि०) बिंबा-फल...। १२. (वें०) उरमि...। १३. (वें०) पालकी कि पाल सुभ...। (प्र०), बाँसजुत पालका की पाल सुभ...। (न० सि० सं०) बंस-जुत पालकी कै पाल...।

* अ० मं० (पो०) पृ० १२४। † शृं० नि० (भि०) पृ० १८,५१। न. सि० सं०, पृ. १०६, ३५५।

वि०—"संस्कृत के साथ ब्रजभाषा के साहित्य-महारथियों ने भी 'संदेह' की माला और ध्वनि का वर्णन किया है। प्रथम माला, यथा—

कैधों रूप रासि में सिँगार-रस अंकुरित,
संकुरित कैधों तम-तड़ित जुन्हाई में।
कहैं 'पदमाकर' किधों यै कौंम मुनसी नें,
मुकता दियौ है हेंम-पाटी सुखदाई में॥
कैधों अरविंद में मलिंद-सुत सोयौ आज,
राज रह्यौ तिल कै कपोल की लुनाई में।
कैधों परयौ इंदु में कलिंदी-जल-विंदु आँनि,
गरक गुविंद किधों गोरी की गुराई में॥

और ध्वनि, यथा—

थी, शरद-चंद की ज्योति खिली, सोवै था सब गुन-जुटा हुआ।
चौका की चमक अधर-बिहँसन, रस-भींजा-दाड़िम फटा हुआ॥
इतने में गहन-समें बेला, लख ख्याल बड़ा अटपटा हुआ।
अवनी से नभ, नभ से अवनी, अध उछलै नट का बटा हुआ॥

अस्तु, दासजी ने यह—"चारु मुख०" छंद अपने 'शृंगार-निर्णय में नायिका का नख-सिख वर्णन करते हुए उसकी नासिका की प्रशंसा में उद्धृत किया है और "नख-सिख-संग्रह"कार ने भी आपका अनुकरण करते हुए वही नासिका के वर्णन में संग्रह किया है।"

"इति श्री सकलकलाधर बंसावतंस श्रीमन्महाराजकुँमार श्रीबाबू हिंदूपति बिरचिते 'काव्य-निरनए' उत्प्रेक्षादि अलंकार बरननोनाम नवमोल्लासः॥"

——

अथ दशमोल्लासः

अथ बितरेक, रूपकालंकार बरनन जथा

बितरेकौ-रूपकौ के,[1] भेद अँनेक प्रकार।
'दास' इन्हैं उल्लेख-जुत, गँनौं तीन निरधार॥

वि०—"दासजी ने इस दशवें उल्लास में" (भेद-प्रधान) व्यतिरेक, (अभेद प्रधान) रूपक, परिणाम और उल्लेख नाम के चार अलंकारों का उनके भेद-विभेद-सहित वर्णन किया है। इन चारों में 'व्यतिरेक' और रूपक सर्वमान्य हैं और परिणाम तथा उल्लेख के आदि-जनक आचार्य रुय्यक हैं। परिणाम और उल्लेख का वहाँ नामोल्लेख नहीं है। हाँ, रुय्यक ने अभेद प्रधान वर्ग के अंतर्गत आरोप-मूलक अलंकार की श्रेणी में रूपक, परिणाम और उल्लेख को मानते हुए व्यतिरेक की गम्यमान-औपम्य वर्ग की तीसरी श्रेणी—भेद-प्रधान में गणना की है। विशेष रूप से देखने पर ये चारों अलंकारों जैसा कि दासजी ने माना है—औपम्य-मूल वर्ग की शोभा हैं, कारण—रूपक, परिणाम और उल्लेख में 'सादृश्य वाच्य' है और व्यतिरेक में वह (सादृश्य) गम्यमान है—छिपा हुआ है, इसलिये इनका आप-द्वारा एक स्थान पर उल्लेख है।

संस्कृत-साहित्य में रूपक का प्रथम तदनंतर व्यतिरेकादि का वर्णन आता है। दासजी ने रूपक से प्रथम व्यतिरेक का कथन -वर्णन क्यों किया, वह अज्ञात है। फिर भी इसके प्रथम वर्णन का हेतु—उपमान की अपेक्षा उपमेय के उत्कर्ष-कथन का कारण हो सकता है। अर्थात्, इसमें उपमान की अपेक्षा उपमेय के गुणों का आधिक्य होता है। अस्तु, "प्रथम"—

अथ बितिरेक लच्छन जथा—

पोषँन करि उपमेइ कौ, दोषँन करि[2] उपमाँन।
नहिँ समाँन कहिऐ तहाँ, है 'बितरेक' सुजाँन॥

वि०—"अर्थात् जहाँ उपमान की अपेक्षा उपमेय का अधिक उत्कर्ष-पूर्ण वर्णन हो, वहाँ यह अलंकार होता है। व्यतिरेक (बितरेक) का अर्थ "विशेष-

पा०—१. (रा० पु० प्र०) व्यतिरेकौ औ रूपकौ, भेद...। (नी० सु०) बितरेक अरु रूपकौ, भेद ..। (का०) (वें०) (प्र०) व्यतिरेकहु रूपकहु के...। २. (प्र०) है...।

अधिक" के अतरिक्त "विभिन्नता" भी है। अतएव उपमेयोपमान में विभिन्नता प्रकट करने के कारण इसका नाम 'व्यतिरेक' और ब्रज-भाषानुसार 'बितरेक' अति समीचीन है। संस्कृत-अलंकाराचार्यों ने इसके चौबीस (२४) भेदों का वर्णन किया है, यथा—

"हेत्वोरुक्तावनुक्तीनां त्रये साम्ये निवेदिते।
शब्दार्थाभ्यामथाक्षिप्ते श्लिष्टे तद्वत्त्रिरष्ट तत्॥"

—काव्य-प्रकाश (सं०) १०, १६०

प्रथम में—"उपमेय के उत्कर्ष और उपमान के निकर्ष के कारण का कहा जाना", द्वितीय में—उपमेय के उत्कर्ष और उपमान के निकर्ष के कारण को न कहा जाना", तृतीय में—"केवल उपमान के अपकर्ष के कारणों का कहा जाना" और चौथे में—"केवल उपमेय के उत्कर्ष के कारणों का कहा जाना" - आदि भेदों को "शाब्दी उपमा-द्वारा", 'आर्थी उपमा-द्वारा" और "आक्षिप्तोपमा-द्वारा" बारह भेदों को पुनः—"श्लेष-संयुक्त" और "श्लेष-रहित" द्विधा रूप से चौबीस भेद कहे गये हैं।

श्री मम्मटाचार्य कहते हैं कि "व्यतिरेक के हेतु—'उपमेय-गत उत्कर्ष-निबंधन' और 'उपमान-गत उत्कर्ष निबंधन रूप से दो प्रकार के हो सकते हैं। इन दोनों हेतुओं का शब्दों से जहाँ उल्लेख किया जाय, वा इन हेतुओं में से किसी एक का अथवा बारी-बारी से दोनों का अनुल्लेख होने पर व्यतिरेक के प्रथम तीन भेद होते हैं। इस रीति से एक उक्त-हेतु वाला और तीन अनुक्त-हेतु वाले मिला कर चार भेदों की सृष्टि होती है। तदनंतर इन चारों में उपमानोपमेय भाव कहीं शब्दों से और कहीं अर्थ से तथा कहीं आक्षेप से सिद्ध होने पर पूर्व के चारों भेद इन पिछले तीनों भेदों में संमिलित होने के कारण व्यतिरेक-भेदों की संख्या बारह मानी गयी है। इसके बाद इन बारहों भेदों को श्लिष्टा-श्लिष्ट-शब्द-वैशिष्ट-द्वारा परिगणित करने पर इस (व्यतिरेक) के चौबीस भेद हो जाते हैं। साहित्य-दर्पण के कर्त्ता श्री विश्वनाथ चक्रवर्त्ती कहते हैं -

"व्यतिरेकः एक उक्तेऽनुक्ते हेतौ पुनस्त्रिधा।
चतुर्विधोऽपि साम्यस्य बोधनाच्छब्दतोऽर्थतः॥
आक्षेपाच्च द्वादशधाश्लेषेऽपीति त्रिरष्टधा।
प्रत्येकं स्यान्मिलित्वाष्ट चत्वारिंशद्विधः पुनः॥

—साहित्य-दर्पण, १०, ५२, ५४,

इन (२४) चौबीस भेदों के अतरिक्त—"उपमान से उपमेय की हीनता में भी चौबीस और होते हैं तथा इन दोनों को संयुक्त करने पर अड़तालीस बनते हैं।"

एक बात और, वह यह कि "व्यतिरेक के स्वरूप और भेद-निरूपण में आचार्य मम्मट् की अपने-से प्राचीन अलंकार-आचार्यों की अपेक्षा कुछ भिन्न दृष्टि रही' क्योंकि व्यतिरेक का 'भामह' कृत रूप था – उपमान की अपेक्षा उपमेय में विशेष-अपादन...। अतः दंडी को व्यतिरेक के इन दोनों रूप—जिसमें उपमेय का स्पष्टतः उत्कर्ष और उपमान का अपकर्ष यत्किंचित् ही सही, अभिप्रेत अवश्य थे। उद्भट मान्य-—व्यतिरेक में उपमानोपमेय दोनों के विशेष-अपादान का स्पष्ट रूप से उल्लेख मिलता ही है और रुद्रट् तथा रुय्यक को भी व्यतिरेक की रूप-रेखा निर्धारित करने में उपमेयोपमान दोनों का यथा-संभव आधिक्य बतलाना अभीष्ट था। अस्तु, मम्मट ने इन प्राचीन दृष्टियों को ध्यान में रखते हुए व्यतिरेक के प्रति अपना नया दृष्टिकोण उपस्थित किया—अर्थात्, उन्होंने व्यतिरेक में उपमान की अपेक्षा उपमेय के आधिक्य की अथवा उत्कर्ष की योजना की और इन्हीं की विविध संभावनाओं अर्थात् उपमेय के उत्कर्ष और उपमान के अपकर्ष के निमित्तों को, उपादान और अनुपादान के विश्लेषण से (व्यतिरेक को) चौबस प्रकार का बतलाया। राजानक ने भी यही परिपाटी अपनायी, इन्होंने भी श्री मम्मट का अनुसरण किया। फिर भो न कहना होगा कि श्री मम्मट को रुद्रट्-निर्दिष्ट "उपमानाधिक्य" रूप के खंडन में ही (उन्हें) व्यतिरेक निरूपण की नयी प्रेरणा मिली .....इत्यादि।

भारती-भूषण-रचयिता 'केड़िया' जी व्यतिरेक के "उपमेयोमान में उत्कर्षा-पकर्ष-रूप से दो-ही प्रमुख भेद मान अन्य भेदों की अनावश्यकता बतलाते हुए अपनी टिप्पणी में कहते हैं कि "यद्यपि किसी-किसी ग्रंथ में उपमेय की अपेक्षा उपमान को उत्कर्षता तथा उपमेयोपमान वाक्यों में किंचित् (न्यूनाधिक) विलक्षणता के वर्णन में भी 'व्यतिरेक' माना है और कहा है कि प्रस्तार-भेद से इसके शतशः प्रकार हो सकते हैं तथा 'अलंकार-आशय में इसके बत्तीस (३२) प्रकार के लक्षण एवं उदाहरण भो लिखे हैं, तथापि इन्हें अनपेक्षित समझते हुए हम (केडिया जी) ने इतना अधिक विस्तार न कर प्रायः प्राचीन ग्रंथों के अनुसार यहाँ मुख्य दो-ही भेद लिखे हैं (भा० भू० पृ० १८२)।" दासजी ने भी व्यतिरेक के प्रथम पोषन-दोषन रूप दो भेद और उनके लक्षण—उदाहरण कह कर 'शब्द-शक्ति से' तथा 'व्यंग्यार्थ से' चार प्रकार का माना है, यथा—

"चारि भाँति बितरेक है, यै जाँनत सब कोइ ॥"

पर ब्रजभाषा-रीतिकाल के कवि "चिंतामणि" ने अपने "कवि-कुल-कल्पतरु" नामक ग्रंथ में व्यतिरेक के संस्कृतानुसार चौबीस भेद-ही मानते हुए कहा है—

"अधिक जहाँ उपमेय कबि, घट बरनत उपमाँन ।
तहँ बितरेक बनाइकें, बरनत सुकबि सुजाँन ॥"

कबित्त—

"उपमेइ-गत उतकरख, औ अपकरख जहँ उपमाँन कौ ।
जहँ होत है इन दुहुँन कौ इत कथँन सुकबि सुजाँन कौ ॥
कहुँ कथनँ होइ दुहूँन कौ, कहुँ एक-ही कों जाँनिऐं ।
कहुँ सबद ते, कहुँ अरथ ते, आच्छेप ते कहुँ माँनिऐं ॥
ए चारि-चारि-जुत होत हैं, बारह-चार बिसलेस सों ।
ए भेद सबै 'बितरेक' के मँन आँनि लेहु सु बिसेस सों ॥"

अस्तु, भाषा-भूषण (जसवंत सिंह) तथा 'ललित-ललाम' (मतिराम) में एक और पद्माभरण (पद्माकर) में तीन भेदों का उल्लेख मिलता है। पद्माभरण, यथा—

"जहँ अबर्न्य औ बर्न्य में, कुछ बिसेस—"बितरेक" ।
अधिक, न्यून, सँम-भेद सों, त्रिबिध कहत कबि नेक ॥"

यही नहीं 'व्यतिरेक' और 'प्रतीप' की भिन्नता प्रदर्शित करते हुए इन आचर्यों का अभिमत है कि "व्यतिरेक में जहाँ उपमान की अपेक्षा उपमेय में गुण की अधिकता वर्णन की जाती है, वहाँ 'प्रतीप' में उपमेय को उपमान कल्पना कर उपमेय के उत्कर्ष का वर्णन किया जाता है। इसकी 'माला' का भी वर्णन मिलता है और ध्वनि का भी।

पुनः एक बात और वह यह कि 'आचार्य रुद्रट' और 'रुय्यक उपमेय की अपेक्षा उपमान के उत्कर्ष में 'व्यतिरेक' मानते हैं और विश्वनाथ चक्रवर्ती इनके अनुयायी हैं। काव्यादर्श और कुवलयानंद के कर्त्ताओं ने भी अनुभय पर्यवसायी, अर्थात् उपमेय के उत्कर्ष और उपमान के अपकर्ष-बिना भी उपमेयोपमान में किसी प्रकार के भेद कथन करने मात्र में उक्त अलंकार माना है।"

अथ प्रथम बितरेक-भेद बरनन जथा—

कहुँ पोखँन, कहुँ दूखनों[1] कहुँ कहुँ नहिं दोइ[2] ।
चारि भाँति 'बितरेक' सो[3] यै जाँनत सब कोइ[4] ॥

पा०—१. (का०) (वें०) (प्र०) दूखनें...। २. (का०) (वें०) (प्र०) दोउ। ३. (का०) (वें०) (प्र०) है। ४. (का०) (वें०) (प्र०) कोउ।

अथ पोखँन-दोखँन दुहूँन कौ कथन जथा--

लाल-लाल अँनुमाँनि[1] कें, उपमाँ दीजै और।
"मृदुल अधर-सँम होंइ क्यों, बिद्रुम निपट कठोर॥

पुनः उदाहरन जथा—

सखि, वामें जगै छुँन-जोति-छटा, इत पीत-पटा दिँन-रैंन मढ़ौ।
वौ नीर कहू बरसै, सरसै, यह तौ रस-जाल सदाँ-हीं अढ़ौ॥
वौ सेत ह्वै जात[2] अपानिप ह्वै, ये रंग अलौकिक रूप-गढ़ौ।
कहि[3] 'दास' बराबरी कौंन करै, घँन-सों घँनस्यॉम-सों बीच बढ़ौ॥

वि०—"इन दोनों–"लाल-लाल अँनुमाँनि कें०" और "सखि, वामें जगै छुँन-जोति छटा" ...छंदों—उदाहरणों में उपमान से उपमेय में अधिक गुण कहा गया है।"

अथ केवल पोखँन कौ कथन जथा—

प्रघट[4] तीन-हूँ लोक में, अचल प्रभा करि थाप।
जोत्यौ 'दास' दिवाकरै, श्री रघुबीर-प्रताप॥

पुनः उदाहरन जथा--

सरस, सुबास, प्रसन्न अति, निसि-बासर सानंद।
ऐसे मुख कों कँमल-सौ[5], क्यों[6] भाँखत मति-मंद॥

वि०—"इन दोनों दोहों में भी केवल उपमेय का गुण वर्णन 'दासजी' ने किया है।"

पुनः दूखँन-ही कौ उदाहरन जथा—

घटै-बढ़ै सकलंक लखि, जग[7] सब कहैं ससंक।
बाल-बदँन-सँम है नहीं, रंक, मयंक, इकंक।

पुनः दूजौ उदाहरन जथा —

बारिहु देखत[8] हौं नितु-ही, जग में तजि कें जल देति न आँन है।
पारस कों[9] अँनुमाँनति[10] हौं, पैहचाँनति हौं सो[11] निदाँन पखाँन है॥

पा०—१. (का०) (प्र०) उनमानि...। २. (का०) (वें०) (प्र०) जाते...। ३ (का०) (प्र०) कह...। ४. (वें०) 'प्रबल'...। ५. (वें०) (प्र०) सों...। ६. (का०) को...। ७. (नी० सु०) सब जग कहै...। ८. (का०) (वें०) (रा० पु० प्र०) (रा० पु० का०) लेखन-हौं परि देखत हौं तजि कें...। ९. (वें०) कोऊ न मानति हौं...। १०. (का०) उनमानत...। ११. (का० (वें०) (प्र०) तौ...।

है पसु-जाति की[1] काँमदुहा, कलपद्रुँम बापुरौ काठ निदाँन[2] है।
और में काहि कहों प्रभु दूसरौ, दाँन-कथाँन[3] में न तोहि समाँन है ॥

वि०—"इन दोनों—दोहा और सवैया में भी उपमान की हीनता का-ही वर्णन है। पद्माकर जी ने भी अपने पद्माभरण में ऐसा ही कहा है—

"वाकौ जस कित-हूँ न जान्यौ परतच्छ पै ही,
याकौ धाँम-धाँम फैलि-फैलि रह्यौ जस है।
वाकौ सुन्यों एक देव-लोक में दरस होत,
या कौ तौ दिखात तिहुँ लोक में दरस है ॥
कहै 'पदमाँकर' सु दाँन वो माँग देति,
ये तो बिँन माँगें-ही देति सरबस है।
आछौ अभिराम कहैं पूरँन सकल-काँम,
गंगा जू कौ नाँम काँम-तरु ते सरस है ॥"

यहाँ व्यतिरेक-छटा भी दरसनीय है—पठनीय है।"

सब्द-सक्ति ते उदाहरन जथा—

आवै जित[4] पाँनिप-सँमूह सरसात तित,
माँनों[5] जलजात सो तौ न्याइ-ही कुँमति है[6]।
'दास' जा[7] दरप[8] कों दरप-कंदरप सोहै,
दरपँन-सँम ठाँनें कैसें बात ये सति है[9] ॥
और[10] अबलाँन में राधिका के आँनन कौ,
बराबरी कौ बल कहैं सुकबि कूर अति है[11]।
पैए निस-बासर कलंक[12] अंक जाके तँन,
बरनें मयंक कबिताई की अपति है[13] ॥*

पा०—१. (का०) कौ.। २. (का०) (वें०) (प्र०) प्रमान हैं। ३. (वें०) (प्र०)—कथान में तोहि समान...। ४. (प्र०) आवत...। ५. (शृं० नि०) (न० सि० सं०) माने...। ६. (वें०) (प्र०) (शृं० नि०) (न० सि० सं०) होइ। ७. (का०) (वें०) (शृं० नि०) या...। (प्र०) दास कंदरप के दरप कौ है आदरस दरपन समान कहैं कैसें बात सत होइ। ८. (का०) दरस...। (न० सि० सं०) दास या दरप को दरप कंदरप कौ है, दरपन-समान ठाँने...होइ। ९. (शृं० नि०) होइ। १०. (प्र०) राधिका के आनन समान और नारिन के आनन-कहत कौंन कवि कूर अति होइ। (शृं० नि०)—अवलान में राधिका कौ आनन बराबरी कौ कहैं...होइ। ११. (वें०) होइ। १२. (शृं० नि०)...कलंकित न अक ताहि...। १३. (वें०) (प्र०) (शृं० नि०) (न० सि० सं०) होइ।

*, शृं० नि० (भिखा०) पृ० २०, ५६। न० सि० सं० पृ० १४६, ५०२।

वि०—"दासजी ने "शृंगार-निर्णय" में इस छंद को नायिका के नख-सिख-रूप" मुख-मंडल के वर्णन में भी दिया है और "नख-सिख-संग्रह" में भी उक्त शीर्षक के अंतर्गत ही यह छंद संग्रहीत है। शृंगार-निर्णय में दासजी ने इसका पाठ-भेद इस प्रकार किया है—

"आवै जित पाँनिप-सँमूह सरसात 'नित',
'माने' जलजात 'सुतौ' न्याइ-ही कुमति 'होइ'।
'दास' जा दरप कों दरप कंदरप को है,
दरपँन-सँम ठाँनें कैसें बात ये सति 'होइ'॥
और 'अबलाँनन' में राधिका 'कौ' आँनन,
'बरोबरी' कौ बल कहैं 'कबि' कूर अति 'होइ'।
पैऐ निस-बासर 'कलंकित न अंक ताहि',
बरनें मयंक कबिताई की अपति 'होइ'॥"

यहाँ कोमांकित शब्द पाठ-भेद के सूचक हैं। नख-सिख-संग्रह कर्त्ता ने भी यही पाठ माना है।

ब्रज-साहित्य में 'चंद्र'-प्रति बड़ी-बड़ी सुंदर सूक्तियाँ कही गयी है, यद्यपि ये सब संस्कृत-सूक्तियों की छाया से अनुप्राणित हैं, फिर भी कोई-कोई तो उससे भी आगे बढ़ अपनी प्रभा से ब्रज-साहित्य को जगमगा रही हैं। उदाहरण, यथा—

अंमृत कों ऐंचि धरयौ राधिका के होठँन में,
चंद्रिका-छिनाइ दींनीं देखौ दसनाद कों।
सोडस कलाँन काटि बत्तिस बनाए दंत,
वाही कों बिलोकि हीरा पावत प्रमाद कों॥
पोषँन-सकति छींनि धरी है बचँन माँहि,
ऐसें सब छींनि लियौ मेंटि मरजाद कों।
'गोबिंद' भनत तब काहू में कलेस-पाइ,
चंद लै कलंक नभ फिरत फिराद कों॥

पुनः उदाहरन जथा—

सब सुख सुखमाँ-सों मढ्यौ,[1] तेरौ बदँन सुबेस।
ता-सँम ससि क्यों[2] बरनिएं, जाकौ नाँम कलेस॥

वि०—"दासजी की इस अनूठी उक्ति के साथ निम्न-लिखित कुछ दोहे जो विविध कवियों ने कहे हैं, देखिये, यथा—

पा०—१. (प्र०) भरयौ...। २. (का०) कों...।

"बढ़ि-बढ़ि मुख-सँमता लऐं, चढ़ि आयौ निरसंक।
ताते रंक मयंक-री, पायौ अंक कलंक ॥
*
जगमगात है होंन कों, या आँनन-लों चँद।
ताही तें पूरँन-भऐं, मंद परै तँम फंद ॥
*
निस-दिँन पूरन जगमगै, आवै धोइ कलंक।
तौ वाके मुख की प्रभा, पावै सरद-मयंक ॥"
—सूक्ति-सरोवर (ला० भ० दी०) ८४

ब्यंगारथ-बितरेक जथा—

कहा कंज, केसर तिन्हैं, किती[1] केतिकी बास।
'दास' बसैं जो[2] एक पल, वा 'पदमिनि' के पास ॥

वि०—"यहाँ 'पदमिनि' शब्द के सहारे 'संत' कवि की एक सुंदर सूक्ति नायिका-वर्णन के अंतर्गत याद आ गयी है, जैसे—

"जमना के आगमन, मारग में भार-तँन,
भौरँन की भीर निपेटी-सी लखि पायौ है।
'संतन' सुकबि सुख-खाँनि पदमिनि तेरे,
रूप की तरंगनि अनंग दरसायौ है ॥
बाहर कढ़ँन कहै तो सों सो अयाँनी कोंन,
लैहै बदनाँमी घैर घर-घर छायौ है।
पट की लपट लपटाति ता दिनाँ ते आज,
माँनों उन गलिँन गुलाब छिरकायौ है ॥"

गालिब (उर्दू) कहते हैं—

"करता है जाके बाग में तू बेहिजाबियाँ।
आने लगी है नगहते गुल से सबा मुझे ॥"

अथ रूपक-बरनन जथा—

उपमाँ औ[3] उपमेइ ते, बाचक-धरँम मिटाइ।
एकै करि आरोपिऐ, सो 'रूपक' कहि जाइ[4] ॥

पा०—१. (का०) (वें०) (प्र०) कितिक...। २. (का०) (वें०) (प्र०) जे...। ३. (का०) (वें०) (प्र०) अरु...। ४. (वें०) (प्र०) (सं० पु० प्र०) कबिराइ...।

भेद, जथा–

कहुँ कहिऐ ये दूसरौ, कहूँ[1] न राखिऐ भेद।
अधिक, हींन, 'सँम[2] तींन-बिधि, ए 'तदरूप' अछेद' ॥

वि०—"दास जी ने रूपक का लक्षण–"उपमानोपमेय से वाचक-धर्म को हटाकर ऐक्य रूप से आरोप" को, अर्थात् उपमेय में उपमान के निषेध-रहित आरोप को रूपक अलंकार कहा है। आरोप–'एक वस्तु में दूसरी वस्तु की कल्पना को कहते हैं। अस्तु, जहाँ निषेध के बिना उपमेय को उपमान रूप से कहा जाय वहाँ उक्त अलंकार कहा जायगा।

रूपक का शब्दार्थ है—रूप-धारण करना। अतएव उक्त अलंकार में उपमेय उपमान का रूप धारण करता है और निषेध-विना या रहित शब्दों द्वारा इसका अपन्हुति से प्रथकत्व दिखलाना है, क्योंकि अपन्हुति में भी उपमेय को उपमान-रूप से कहा जाता है–उपमेय में उपमान का आरोप निषेध-पूर्वक किया जाता है, रूपक में नहीं। इसी प्रकार 'परिणाम' और रूपक की पृथकूता दिखलाते हुए 'पंडितराज जगन्नाथ कहते हैं,–"जहाँ उपमान स्वयं किसी कार्य के करने में असमर्थ होने के कारण उपमेय से एक रूप होकर–उपमेय द्वारा होने योग्य कार्य को कर सकता हो, तव वहाँ परिणाम और जहाँ उपमान स्वयं किसी कार्य को करने में समर्थ हो, तब वहाँ रूपक कहा जायगा। पंडितराज की इस व्याख्या को अलंकार-सर्वस्वकार नहीं मानते, वे कहते हैं—जिसे पंडितराज रूपक का विषय मानते है वह तो परिणाम का विषय है, क्योंकि जहाँ उपमान उपमेय का रूप धारण कर वह कार्य करता हुआ हो जो वास्तव में उपमेय करता है, तो वहाँ रूपक, रूपक न रहकर 'परिणाम' बन जाता है, रूपक नहीं,.... इत्यादि। अतएव रूपक (ब्र० भा०) के 'भाषा-भूषण' के रचयिता महाराज यशवंतसिंह जी की भाँति–

'है 'रूपक' द्वै भाँति कौ, मिलि तदरूप-अभेद।
अधिक, न्यून, सँम, दुहुँन के, तींन-तींन ए भेद ॥

दास जी ने भी रूपक के "अधिक, हीन और सम" को प्रथम 'तदरूप' तथा 'अभेद' के साथ विभक्त कर उस (रूपक) के निम्नलिखित भेद, जैसे–"निरंग, परंपरित, परंपरित-माला, माला भिन्नपद से, रूपक-माला, परिणाम-रूपक साम्य-विषयक रूपक, उपमावाचक, उत्प्रेक्षावाचक और अपन्हुति-युक्त रूपक आदि

पा०—१. (का०) (वें०) (प्र०) कहूँ राखिऐ न भेद। २. (प्र०) सब बिधि पुनि, ते तद्रुप अभेद। (का०) (वें०) (सं० पु० प्र०) त्रिबिधि पुनि, ते तदरूप अभेद।

अनेक भेदों का वर्णन किया है। संस्कृत-अलंकाराचार्यों ने भी 'रूपक' के निम्न प्रकार से भेद माने हैं। उन्होंने प्रथम रूपक के "अभेद" और 'तदरूप' दो भेद कर इन दोनों के जैसा कि दासजी ने भी स्वीकार किया है, सम, अधिक और न्यून मानकर पुनः सम-अभेद "सावयव (सांग), निरवयव (निरंग) और परंपरित" रूप से तीन भेद और किये है। सावयव के भी 'समस्त-विषयक और एक देशविवर्ति दो भेद किये हैं। इसी प्रकार 'सम-अभेद' के द्वितीय भेद रूप निरवयव रूपक के 'शुद्ध' और 'माला' रूप में दो भेदों का कथन कर पुनः तीसरे 'परंपरित' रूपक के श्लिष्ट-शब्द और भिन्न-शब्द से दो भेदमान पुनः इन्हीं को शुद्ध और माला रूप में विभक्त किया है। इस प्रकार संस्कृतज्ञ महानुभावों ने जहाँ 'अभेद-रूपक' का वर्णन किया है, वहाँ दास जी ने 'तदरूप' रूपक का। जो केवल वाक्छल' है, अर्थ-भेद वा भाव-भेदादि नहीं। अन्य भेद यथा स्थान उपयुक्त हैं।"

*

प्रथम तदरूप रूपक अधिकोक्ति उदाहरन जथा—

सत कों कॉमद, असत कों भै-प्रद सब दिस-दौर।
'दास' जाँचिबे जोग पै कलपबृच्छ है और॥

वि०—"तद्‌रूप-रूपक में उपमेय को उपमान का जहाँ भिन्न (दूसरा) रूप कहा जाय, अर्थात् यहाँ उपमेय को उपमान से भिन्न रखकर भी उसी (उपमेय) का रूप कहा जाता है। अधिक तद्‌रूप में —"उपमेय पर उपमान का आरोप करने के अनंतर उसे उसी उपमान से बढ़ा कर कहा जाता है, जैसा दास जी के इस उदाहरण में। यहाँ उक्त रूपक के साथ व्याघात (जहाँ एक ही क्रिया से दो विरोधी कार्य हों) की 'संसृष्टि' भी है।"

*

तदरूप रूपक-हीनोक्ति कौ उदाहरन जथा—

लखि, सुनि जाइ न ब्वाब दै, सहैं परै कृत-नींच।
बास खलँन के बीचि कौ, बिनाँ मरे[2] की मींच॥

वि०—"जब कि उपमेय पर आरोपित उपमान को उसी उपमान से हीन, घटाकर कहा जाय तब उक्त अलंकार बनता है।"

पा०—१. (का०) (वें०) (प्र०) यह . । २. (सं० पु० प्र०) (का०) (वें०) (प्र०) मुये...।

तद्रूप-रूपक-समोक्ति कौ उदाहरन जथा—

दृग कैरव के[1] दुख हरँन, सीत-करँन मँन-देस ।
यै बनिता भुबलोक की, चँद-कला सुभ-बेस ॥

वि०—"जहाँ दोनों उपमान सम (बराबर) हों वहाँ "तद्रूप रूपक समोक्ति (सम-तद्रूप रूपक) कहा जाता है, क्योंकि 'तद्रूप' का अर्थ है—उसका रूप । अस्तु, जब उपमान की अपेक्षा उपमेय में कुछ विशेषता दिखलाई जाय तब वहाँ 'अधिक' और यदि कुछ कमी दिखलाई जाय तब 'न्यून' तथा जब दोनों समान बतलाये जायँ तब 'सम-तद्रूप-रूपक' कहा जाता है ।"

पुनः उदाहरन जथा—

कँमल-प्रभा नहिं हरत[2] हैं, दृगन देति आँनंद[3] ।
कै न सुधाधर तिय-बदँन, क्यों गरबत बौ[4] चंद ॥

अस्य तिलक

यहाँ, प्रतीप (जब प्रसिद्ध उपमेय को उलट कर उपमान बना दिया जाय) कौ (अंग) ब्यगि है ।'

अथ अभेद रूपक अधिकोक्ति उदाहरन जथा—

है, रति कों[5] सुख-दायक मोंहन,[6] यों मकराकृत-कुंडल-साजै ।
चित्रित फूलँन कौ धँनु-बाँन, तन्यों गुँन भौंर की पाँति[7] कों भ्राजै ॥
सुभ्र सरूपँन में गँनों एक, बिबेक हँनें तिय-सेंन-सँमाजै ।
'दास' जू आज बने ब्रज में, ब्रजराज सदेह-अदेह बिराजै ॥

वि०—' जहाँ उपमेयोपमान ऐसे—इस प्रकार अभिन्न हों कि किसी विशेषता के कारण-हीं वे (उपमेय उपमान से) प्रथक् जान पड़ें, तब वहाँ "अभेद रूपक अधिक," अथवा "अधिक अभेद रूपक" कहा जाता है, जैसा इस उदाहरण में । यहाँ 'ब्रजराज' और "काम" में अभेद रूपक है ।"

पुनः उदाहरन जथा—

बंधँन[8]-हर[9] नृप कौ[10] करै, सागर कहा बिचारि ।
इँन कौ पार न सत्रु है, औ[11] श्री-संग-निहारि ॥

पा०—१. (का०) कौ . । (वें०) की । २. (स० प्र०) (वें०) हनतु कै...। ३. (वें०) दृगनि न देति अनंद । ४ (वें०) कहु...। ५. (का०) (वें०) (प्र०) को...। (स० पु० प्र०) की...। ६ (सं० पु० प्र०)...मोह भयौ मकरा० ..। ७. (सं० पु० प्र०) (का०) (वें०) भ्रांति...। ८. (स० पु० प्र०) बाँधन...। ९. (का०) दुर ..। १०. (वें०) (प्र०) सों...। ११. (वें०) (प्र०) अरु हरि गई न नारि...।

अस्य तिलक

इहाँ ब्यंगारथ (राम औ बिस्नु कौ) रूपक है, बस्तु ते अलंकार।

अथ अभेद रूपक हीनोक्ति उदाहरन जथा—

सब के देखत ब्योंम-पथ, गयौ सिंध के पार।
पच्छिराज[1] बिन-पच्छ कौ, बीर सँमीर-कुँमार॥

वि०—"जहाँ उपमेयोपमान अभिन्न होते हुए भी किसी हीनता से प्रथक् जान पड़े, वहाँ अभेद रूपक हीनोक्ति कही जाएगी।"

पुनः उदाहरन जथा—

कंज के संपुट हैं पै[2] खरे, हिय में गड़िजात ज्यों कुंत[3] की[4] कोर हैं।
मेरु हैं पै हरि-हाथ में[5] आवत, चक्रवती पै बड़े[6]-ही कठोर हैं॥
भाँमती, तेरे उरोजँन में[7] गुँन 'दास'[8] लखें तिन आति न ओर हैं।
संभु हैं, पै उपजावें मनोज, सुबृत्त[9] हैं, पं पर-बित्त[10] के चोर हैं॥*

अस्य तिलक

इहाँ 'बितरेक' (जहाँ उपमेय में उपमान से अधिकता वा न्यूनता दिखलाई जाय) और रूपक कौ संकर (जहाँ दो अलंकार जल और दूध के समान मिले हुए हों) है।

वि०—"दासजी कृत यह उदाहरण भी "हीन अभेद रूपक" का है। कन्हैया-लाल पोद्दार ने अलंकार-मंजरी (१०२, १४८) में कहा है कि "स्तनों में जिन

पा०—१. (रा० पु० प्र०) (रा० पु० नी० सु०) पच्छिराज ज्यों पच्छ-बिन। २. (का०) (प्र०) ए...। (सं० प्र० प्र०) पै खरौ...। ३. (सुं० ति०) (सुं० स०) (न० ह०) कुंतल-कोर है। ४. (म० म० तृ० क०) के...। ५. (प्र०) (र० कु०) (का० प्र०) न...। ६. (सं० प्र०) बड़ौई कठोर...। ७. (न० ह०) के..। ८. (का०) (वें०) (प्र०) दास लख्यौ सब और-ई और हैं। (सुं० ति०) (सुं० स०) (न० ह०) (र० कु०) (का० प्र०) (म० मं० तृ०) (का० का०)...दास लखे सब और-हीं और है। (सं० पु० प्र०)...लखे सब ठौर-ही और...। ९. (न० ह०) सु बित्त हैं...। (म० म० तृ०) (का० का०) सु बित्त हैं...। १०. (रा० पु० प्र०) बित्त...।

*, न० सि० ह० (परमानंद सुहाने) पृ० ५२, ११। सु० ति० (भारतेंदु) पृ० २५६, ८७१। सुं० स० (मन्नालाल) पृ० १०८। म० मं० (तृ० क०—अजान कवि) पृ० १५, ६६।—द्वि० सं०, पृ० १६, ८२। र० कु० (अयोध्या) पृ० १४२। का० प्र० (भानु) पृ० २८०। अ० मं० (पोद्दार) पृ० १०२, १४८। स० स० (ला० भ०) पृ० २७७, ३४। का० का० (चक्रधरसिंह) पृ० ११।

कमल-संपुटादि का आरोप है, उनके साथ स्तनों का विलक्षण वैधर्म्य दिखा कर (जो) विरोध दिखलाया या बताया गया है, वे सभी आरोप प्रायः विरोध की-ही पुष्टि करते हैं, इसलिये यहाँ (दासजी के इस छंद में) "न्यूनतद्रूप (हीन अभेद) रूपक नहीं है, अपितु विरोधालंकार प्रधान है।" लाला भगवान दीन ने भी "सूक्ति-सरोवर" (२७७, ३४) में दासजी के इस छंद की व्याख्या करते हुए पोद्दारजो के कथन की-ही पुष्टि कर लिखा है—"उक्ति तो सुंदर है ही, विरोधाभास अलंकार का उत्कृष्ट उदाहरण भी है।" दासजी ने भी इसका 'तिलक' करते हुए व्यतिरेक और रूपक का संकर माना है।

"सुंदरी तिलक" के संग्रह-कर्त्ता भारतेंदुजी ने, "सुंदरी-सर्वस्व," "नख-सिख-हजारा" और "सूक्ति-सरोवर" के संग्रहकर्त्ताओं वा रचयिताओं पं० मन्नालाल, परमानंद सुहाने तथा ला० भगवानदीन ने 'दासजी के इस छंद को नायिका के नख-सिख वर्णन के अंतर्गत "स्तन-वर्णन" में संकलित किया है। इसी प्रकार "मनोज-मंजरी" के संग्रहकर्त्ता "अजान कवि" ने "दूती षट्-कर्मांतर्गत"—निंदा" में तथा "रस-कुसुमाकर" के रचयिता अयोध्या नरेश ददुआ साहिब ने "मुग्धा-स्वाधीन पतिका" के उदाहरणों में संकलित किया है। दूती-षट्कर्मांतर्गत—"निंदा", यथा—

> **"अस्तुति औ निंदा, बिनै, बिरह निबेदन आइ।**
> **औ परबोध मिलाइबौ, दूती जान सुभाइ।"**

कविवर 'रसलीन' ने निंदा—'नायिका की निंदा' और 'नायक की निंदा' दो भेदकर सुंदर उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। जैसे नायिका-निंदा—

> **"कहा आपने रूप की, फूलि कहि रही हाल।**
> **तोहू ते अति आगरी, नगर नागरी बाल॥"**

और नायक-निंदा, यथा—

> **"सीस मुकट, कटि काछिनी, फाटी-साटी हाथ।**
> **मिलन चँहत या रूप सों, राधा जू के साथ॥"**

एवं स्वाधीन-पतिका', यथा—

> **"जा तिय के आधीन ह्वै, पीतम रहै हँमेस।**
> **स्वाधीन पतिका नायिका, भाँखत कला-असेस॥"**
>
> **—म० मं० (अ०)**

इस स्वाधीन-पतिका विभेद को ब्रजभाषा-रीति आचार्यों ने मुग्धा, मध्या प्रौढ़ा, परकीया और गणिका (सामान्य) में भी मान सुंदर उदाहरण प्रस्तुत

किये हैं। ब्रज-साहित्य-जगत् में 'परकीया स्वाधीन-पतिका' का यह उदाहरण बहुत प्रसिद्ध है—

"उझकि झरोखा ह्वै झँमकि झुकि झाँकी बाँम,
भूलि गई स्याँम जू की खबर तमासा की।
'कहै पद्माकर' चहूँघाँ चैत-चाँदनी-सी,
फैलि रही तैसिऐ सुगंध सुभ स्वाँसा की॥
तैसी छबि तकत तँमोर की, तरोंनँन की,
वैसी छबि बसँन की, बारन की, बासा की।
मोंतिन की, माँग की, मुख-हू की, मुसिक्याँन-हूँ की,
नेंनँन की, नथ की, निहारिबे की, नासा की॥"

अस्तु

"बन के तस्वीर 'हिज्राब' उसका सरापा देखो।
मुँह से बोलो न कुछ, आँख से तमाशा देखो॥"

एक बात और—वह यह कि दासजी कृत इस छंद के विविध 'पाठ' विविध संग्रह ग्रंथों में मिलते हैं, जिससे इसकी लोक-प्रियता प्रकट होती है। यहाँ सर्वमान्य एक पाठ दिया जाता है, यथा—

"कज के संपुट है, पै खरे हिऐं गड़ि जाति ज्यों कुंतल-कोर हैं।
मेरु हैं, पै हरि-हाथ में आवत, चक्रवती पै बड़े-ही कठोर हैं॥
भाँवती तेरे उरोजँन के गुँन 'दास' लखे सब और-ही ओर हैं।
संभु हैं, पै उपजावें मनोज, सुवृत है, पै पर बित्त के चोर हैं॥"

अथ रूपक-भेद कथन जथा—

रूपक होत 'निरंग' पुनि[1] 'परंपरित' 'परिनाँम'।
अरु 'समस्त-बिषयक' कहें[2], बिबिध भाँति अभिराँम॥

वि०—"जैसा पूर्व में रूपक की परिभाषा के साथ कहा जा चुका है कि" रूपक प्रथम 'अभेद' तथा 'तद्रूप' दो शाखाओं में विभक्त होकर फिर 'सम,' अधिक, और 'न्यून' जिसे हीन भी कहते हैं, में पल्लवित होता है और तब 'सम-अभेद रूपक' के 'सावयव' (सांग), 'निरवयव' (निरंग) और 'परंपरित' रूप बनते हैं। इसके बाद सावयव के 'समस्त-विषयक' वा 'समस्त वस्तु-विषयक'

पा०—१. (वें०) पै···। २. (वें०) कहूँ···।

तथा 'एकदेश विवर्त्तिक' रूप और होते हैं। दासजी ने जहाँ निरंग (निरवयव) और परंपरित, परंपरित की माला, भिन्न पद (शब्द) रूपक, रूपक की माला, परिणाम रूपक,समस्त-विषयादि रूप रूपक के जहाँ विविध भेद कहे हैं, वहाँ सावयव का एक भेद—'एक देश विवर्त्तिरूपक', निरवयव (निरंग) के दो भेद 'शुद्ध', और 'माला' रूप तथा परंपरित के दोनों 'शिष्ट शब्दात्मक' तथा 'भिन्न शब्दात्मक' में से 'श्लिष्ट शब्द रूपक' और इस श्लिष्ट-शब्द-रूपक के शुद्ध और माला-रूप भेदों को त्याग दिया है, उनका वर्णन नहीं किया है। अस्तु, जहाँ अवयव-रहित केवल उपमान का उपमेय में आरोप हो, अर्थात् अवयवों के बिना उपमान का उपमेय में आरोप किया जाय, अथवा उपमान का मुख्य उपमेय अंगी पर ही आरोप हो, अन्य अंगों का सांगोपांग आरोपण न हो, वहाँ 'निरंग' रूपक कहा जाता है, जैसा कि दासजी के नीचे लिखे उदाहरण में...।"

निरंग रूपक-उदाहरन जथा—

हरि-मुख पंकज, भों[1] धँनुष, खंजन-लोचँन मित्त।
बिंबाधर,[2] कुंडल मकर, बसे रहत मो चित्त॥

अथ परंपरित-रूपक लच्छन जथा—

जहाँ बस्तु[3] आरोपिऐ, और बस्तु के हेत।
स्लेष होइ कै भिन्न-पद, 'परंपरित' सो चेत॥

वि०—"जहाँ एक आरोप (रूपक) दूसरे आरोप (रूपक) का कारण हो, एक रूपक का आधार दूसरा रूपक हो—उसे पुष्टि करता हो, अर्थात् कार्यकारण रूप से आरोपों (रूपकों) की परंपरा हो, अथवा एक उपमेय में किसी उपमान का आरोप तभी हो जब एक आरोप दूसरे आरोप का कारण हो—दूसरे उपमेय में दूसरे उपमान का आरोप किया जा चुका हो, तो वहाँ परंपरित रूपक कहा जायगा, क्योंकि इसमें एक रूपक का दूसरा रूपक आधार-भूत होने के कारण ही यह उक्त अलंकार कहलाता है। यथा—

"नियतारोपणोपायः स्यादारोपः परस्य यः।
तत्परंपरितंश्लिष्टे वाचके भेदभाजि वा॥"

—काव्य-प्रकाश (सं०) १०,९४,

पा०—१. (का०) (प्र०) भ्रू...। (वें०) भ्रुव...। २. (का०) (वें०) (प्र०) बिंब अधर...। ३. (सं० पु० प्र०) (प्र०) बिषय...।

अर्थात्, जहाँ वर्ण्य-विषय के लिये अवश्य अपेक्षित आरोप (साधारण धर्म के प्रकाशक) कारणभूत किसी अन्य पर हो तब वह कार्य-कारण रूप आरोप परंपरा के साथ होने से 'परंपरित रूपक' कहलाता है और इसके वाचक-शब्द के श्लिष्ट (भिन्न-अर्थी) होने, वा न होने से दो प्रकार का तथा शुद्ध और माला रूप होता है, जैसा नीचे दासजी के छंद में······।"

उदाहरन जथा—

सब तजि 'दास' उदासता, राँम-नाँम उर-आँन।
ताप-तिनूंका तोम कों,[१] अगिन-किनका जाँन॥

अथ परंपरित रूपक की माला-उदाहरन जथा—

कुबलइ-जीतिबे कों बीर-बरबंड राजें,
करँन पै जाइबे कों[२] जाचक निहारे हैं।
सितासित-अरुनारे, पाँनिप के राखिवे कों,
तीरथ के पति हैं[३] अलेख लखि हारे हैं॥
'बाँधिबे कों सर, मारि[४]डारिबे कों महा विष,
मींन कहिबे कों 'दास' मानस बिहारे हैं।
देखति ही सुबरँन-हिय[५] हरिबे कों पसि-
तोहर, मनोहर ए लोचँन तिहारे हैं॥*

वि० – """दास जी कृत यह उदाहरण—'कुबलइ, करन, सितासित-अरुनारे युक्त तीरथ-पति (तीर्थ-पति = प्रयाग), अलेख, मानम, सुबरन-हिय और पस्यतो-हर (सुनार) आदि शब्द श्लिष्ट-परंपरित होने के कारण उस (परंपरित रूपक) की माला है। श्लिष्ट परंपरित रूपक की 'माला'—जहाँ श्लेष से दो अर्थ लेते हुए कई रूपकों के आधार पर अन्य रूपक सिद्ध किया जाय," जिस प्रकार ऊपर के उदाहरण में।

एक बात और, वह यह कि···सावयव रूपक और परंपरित रूपक का प्रथक्-करण करते हुए अलंकार-आचार्यों का अभिमत है—"सावयव रूपक में एक प्रधान आरोप होता है और अन्य (आरोप) उसके अंगीभूत। प्रधान आरोप

पा०—१. (का०) कै··। २. (सं० पु० प्र०) कै ··। २. (वें०) के···। (स० पु० प्र०) कै···। ३. (वें०) मोहि मारिबे कों महा...। ४. (का०) (वें०) (प्र०) हीरा...।

* सू० स० (भ० दी०) पृ० ३४६-३४७। भा० भू* (के०) पृ० ६२।

सुप्रसिद्ध होता है, वह अन्य आरोपों के न होते हुए भी सिद्ध होता है, उसके लिये दूसरा आरोप आवश्यक वा नियत नहीं होता, पर परंपरित में एक आरोप दूसरे आरोप का कारण होता है, अर्थात् एक आरोप दूसरे आरोप के बिना सिद्ध नहीं होता, इत्यादि....(दे० वामनी व्याख्या—काव्य-प्रकाश, रस-गंगाधर तथा साहित्य-दर्पण)।

नयनों पर—विशेष कर 'नायिका के नयनों पर, ब्रजभाषा-कवियों ने अपने-अपने सूक्ति-रत्नों-द्वारा गागर में सागर-भरने का सुंदर प्रयास किया है, और उसमें वे सफल ही नहीं, अधिकाधिक सफल हुए हैं। यहाँ हम केवल 'गुलाव' कवि की एक सुंदर सूक्ति देते हैं, यथा—

'आबरवाँ' लखि होत 'गुलाब', की चीकन 'मखमल-हूँ सों दराज है।
'डोरिया' लाल परी है मुलाइम, जो तनजेब बढ़ाबँन काज है॥
'मलमल' हाथ रहे लखि लाखँन, गाढ़े फसाब-फँसे तजि लाज है।
आवत है कमाख्वाब बिलोकति, नैंन नहीं नए नोंखे बजाज हैं॥'

यहाँ, कवि-प्रयुक्त—आवरवाँ (आव-रवाँ = आव (शोभा) रवाँ = फीकी पड़ जाती है, गुलाव (कवि-नाम व पुष्प-विशेष), डोरिया (आँख के लाल डोरे, व वस्त्र विशेष) तनजेब (तन-जेव = तन (शरीर) को जेव (शोभा), मलमल (वस्त्र-विशेष व मलना) और कमख्वाव (कमख्वाव=कम (न्यून), ख्वाव (निद्रा) नींद का न आना आदि श्लिष्ट शब्द-संयुक्त नेत्ररूप बजाज (वस्त्र-विक्रेता) का सुंदर रूपक है, जो मुद्रालंकार से मभकर अति-बन-सवर गया है। वकौल 'नूहनारवी'—

'वही है इक निगाहे नाज़ लेकिन अपने मौके पर।
कभी नस्तर, कभी नावक, कभी तलवार होती है॥'

पुनः उदाहरन भिन्न-पद ते जथा—

नीति-मग-मारिबे कों ठग हैं सुभग, मन[१]—
बालक-बिकल करि डारिबे कों टोंना[२] हैं।
दीठि-खग फाँसिबे[३] कों लासा-भरे लागें हिय-
पींजरा[४] में राखिबे कों खंजन के छोंना[५] हैं॥

पा०—१. (वें०) मनु...। (प्र०) जिय...। २. (सं० पु० प्र०) (का०) (वें०) (प्र०) टोंने। ३. (का०) (वें०) (प्र०) फाँदिबे कों...। ४. (का०) (वें०) (प्र०) पींजरे...। ५. (सं० पु० प्र०) (का०) (वें०) (प्र०) छोंने...।

'दास' निज प्राँन-गथ अंतर ते बाहर न-
राखत, हैं क्योंहूँ कौंन्ह कृपँन[1] के सोंना[2] हैं।
ग्यौंन-तरुबर-तोरिबे कों करिबर, जिय[3]-
रोचन तिहारे बिय[4]-लोचन सलोंना[5] हैं॥

वि०—"दास जी कृत यह उदाहरण--'भिन्न (अश्लेष्ट = श्लेष-रहित) परंपरित रूपक" की 'माला' का है। भिन्न परंपरित-रूपक-माला—"जहाँ विना श्लेष-शब्दों के कई रूपकों-द्वारा अन्य (एक) रूपक सिद्ध किया जाय।" यहाँ बिय (दो) सलोने लोचनों पर 'नीति-मग-मारिबे कों ठग०'...से लेकर 'ग्यौंन-तरुबर तोरिबे कों करिबर०' आदि श्लेष-रहित शब्दों द्वारा रूपक के रम्योद्यान में कितने ही अभियोग लगाये गये हैं, जो द्रष्टव्य है, क्योंकि—

'है दफ़ीना हुस्न का ज़ेरे ज़मीं।

*

सूरतें क्या-क्या मिली हैं ख़ाक में।
है दफ़ीना हुस्न का ज़ेरे ज़मीं॥

माला-रूपक उदाहरन जथा—

जच्छिनी सुखद मो उपासनौं किए की सिरी,
सरस[6] हिए की दारु-दुख की जु[7] आगि है।
बपुस बरत की जु बरफ बनाई सीत-
दिन की तुराँई[8] जो गुँनन रही तागि है॥
'दास' दृग-मींनन की सरित सु सीली, प्रेम-
रस की रसीली कब सुधा[9] के रस पागि है।
हाइ, मो[10] गेह तँम-पुंज की उजियारी प्राँन—
प्यारी उतकंठा[11] सों कबै कंठ लागि है॥

वि०—"जहाँ अनेक उपमानों का (एक) उपमेय पर आरोप किया जाय वहाँ रूपक की 'माला' कही जाती है, जैसी इस छंद में। दासजी के इस उदाहरण पर किसी कवि की यह सूक्ति भी सुंदर है—सरस है, यथा—

पा०—१. (का०) (वें०) (प्र०) कृपिन...। २. (सं०) (का०) (वें०) (प्र०) सोंने...। ३. (प्र०) मन...। ४. (का०) तिय...। ५ (सं० पु० प्र०) (का०) (वें०) (प्र०) सलोंने। ६. (वें०) (प्र०) सारस...। ७. (प्र०) सु...। ८. (प्र०) रजाई...। ९. (का०) (वें०) (प्र०) कब सुधा-रस-पागि है। १०. (का०) (वें०) (प्र०) मम...। ११. (का०) (वें०) उतकंठ ..।

"लाल-प्रवाल से ओठ रसाल, अँमीरस पाँन के ताप बुझाइ हैं।
श्रीफल से बरजोर, कठोर,—उरोज को कोरँन काँम-जगाइ हैं॥
कुंदन-कांति से लोल-कपोल,—अँमोलन चूंमि कें दाह-बढ़ाइ हैं।
फूलँन के परजंक पै पौढ़ि, मयंक-मुखी कब अंक लगाइ हैं॥"

पुनः उदाहरन जथा—

अब तौ बिहारी के वे बाँनिक गए-री,
तेरी तँन-दुति-केसर कौ नेंन-कसमीर भौ।
स्रोंन तुब[1] बाँनी स्वाँति-बूंदँन कौ चातक भौ,
साँसन कौ भरिबौ सो द्रौपदी[2] कौ चीर भौ॥
हिय कौ हरख मरु-धरनीं कौ नीर भौ-री,
जियरा[3] मँनोभव[4]-सरँन कौ तुनीर भौ।
एरी, बेगि करि कें मिलाप-थिर-थापि न तौ
आप अब चाँहत अतँन कौ सरीर भौ॥*

वि०—"दासजी ने यह छंद अपने द्वितीय ग्रंथ "शृंगार-निर्णय" में "ऊढ़ा" नायिका (अपने विवाहित पति के अतरिक्त अन्य पुरुष से प्रेम करने वाली) के अंतर्गत—"दुःख-साध्या" (कष्ट से मिलने वाली) के उदाहरण में भी उद्धृत किया है। ऊढ़ा, यथा—

"जो ब्याही तिय और की, करै और सों प्रीति।"

—जगद्विनोद (पद्माकर)

किंतु, हमारी अल्प-मति के अनुसार नायिका के प्रति नायक का दूती-द्वारा विरह-निवेदन है,—मिलने की उत्कंठा जाग्रत करना है और यही दासजी ने अपने "दुःख-साध्या" के लक्षण में कहा भी है, यथा—

"साध्य करै पिय-दूतिका, बिबिध-भाँति सँमझाइ।
'दुख-साध्या' ता कों कहैं, परकीयँन में पाइ॥"

—शृंगार-निर्णय, ६२

दासजी की इस रचना पर किसी कवि की यह रचना भी अजर-अमर है, यथा—

पा०—१. (का०) (वें०) (प्र०) (शृं० नि०) तो...। २. (का०) (वें०) (प्र०) द्रुपदजा कौ...। ३. (का०) (वें०) (प्र०) जियरौ...। ४. (रा० पु० प्र०) (रा० पु० का०) (ग० पु० नी० मु०) मनोभव के सरँन...। (प्र०) (सं० पु० प्र०) (शृं० नि०) मदन-तीर गँन कौ...।

*, शृं० नि० (भि० दा०) पृ० ३३, ६७।

"अहिंन - खिलावतु है, मृगँन - लरावतु है,
सुकँन-पढ़ावतु है नेंकु ना टरतु है।
कबहूँ कै संख-पूरि 'संभु' जू की पूंजा करै,
कबहुँक कै कुंड - बूड़ि सिंघँन धरतु है॥
कबहूँ कै कदली के खंभ ते लपेटि जंघ,
कबहूँ कै कंज सिर - राखि बिहरतु है।
जा दिंन ते न्हात चार-आँखें भई ता दिंन ते,
बावरौ-सौ भाँति-भाँति भावनाँ करतु है॥"

अथ परिनाँम रूपक लच्छन जथा—

करत जु है उपमाँन है, उपमेऐं कौ काँम।
नहिँ दूषँन अँनुमानिऐं,[1] है भूषँन 'परिनाँम'॥

वि० - "जब उपमान होकर उपमेय का कार्य करे, अर्थात् किसी कार्य के करने में जहाँ उपमान उपमेय से अभिन्नरूप होकर उस कार्य के करने को समर्थ हो, तब 'परिनाम' (परिणाम) अलंकार कहा गया है। दासजी,—"जहाँ उपमान होकर उपमेय का कार्य करे, वहाँ उक्त अलंकार मानते हैं। संस्कृत-साहित्य के अलंकाराचार्य - विशेष कर पंडितराज जगन्नाथ 'परिणाम' और 'रूपक' के समान उदाहरणों में रूपक और परिणाम की प्रथक्ता बतलाते हुए कहते हैं कि "जहाँ उपमान स्वयं किसी कार्य के करने में असमर्थ होने के कारण उपमेय से एक रूप होकर उस कार्य (उपमेय-द्वारा होने योग्य कार्य) को करे तब वहाँ 'परिणाम', और जहाँ उपमान स्वयं ही (अपने) किसी कार्य को (उपमेय की बिना सहायता के) करने में समर्थ हो, वहाँ रूपक होता है—"विषयिणः प्रकृतोपयोगितायाअवच्छेदकीभूतं विषयातादूप्यं परिणामः। विषयी यत्र विषयात्मतयैव प्रकृतोपयोगी न स्वातंत्रेण स परिणामः। अत्र च विषयाऽभेदो विषयिण्युपयुज्यते रूपके तु नैवमिति रूपकादस्य भेदः—(रस-गंगाधर)।" पर अलंकार-सर्वस्व (संस्कृत) के रचयिता इस मत के विपरीत हैं। आपने पंडितराज के रूपक के विषय को परिणाम का विषय मान इन दोनों के भेद में कहा है कि "रूपक में उपमेय के स्वयं समर्थ रहते हुए भी आरोप्यमाण (उपमेय) का किसी कार्य करने में औचित्य-मात्र होता है, और परिणाम में बिना उपमान के आरोप-बिना उपमेय कार्य नहीं कर सकता। इस लिये पंडितराज के युक्ति-संगत मत रूपक और

पा०—१. (का०) (वें०) उनमानिऐं...।

परिणाम के विषय-विभाजन में औचित्य प्रतीत नहीं होता इत्यादि...।" यहाँ दासजी ने रूपक के अंतर्गत परिणाम का उल्लेख "काव्य-प्रकाश"--मम्मट् (संस्कृत) की टीका 'उद्योत' से लिया है। वहाँ भी इसे स्वतंत्र अलंकार न मान कर रूपक के अंतर्गत-ही उल्लेख किया है।

काव्य-प्रकाश में श्रीमम्मट ने 'रशनोपमा' की भाँति 'रसनारूपक' नाम से रूपक का एक विशेष भेद और माना है, तथा दासजी की भाँति अन्य उपमा-वाचकादि रूपकों का नहीं। रसनारूपक के प्रति वे कहते हैं—"इत्यादि, रशना-रूपकं न वैचित्र्य वदिति न लक्षितम्।" रसनारूपकादि जैसे अलंकारों में विशेष चमत्कार न होने से नहीं कहे गये। साहित्य-दर्पण (संस्कृत) में भी—'अधिका-रूढवैशिष्ट्य-रूपक' (जिस रूपक में वैशिष्ट्य—विशेषण अधिक आरूढ हो, अर्थात् आरोप्यमाण की अपेक्षा भी आरोप-विषय में कुछ विशेषता अधिक दिखलाई जाय) नाम का एक भेद और कहा गया है। साथ-ही वहाँ परिणाम के भी—

"परिणामो भवेत्तुल्यातुल्याधिकरणो द्विधा।"

—सा० द० १०, ३५

*

"तुल्याधिकरण-परिणाम" और 'अतुल्याधिकरण-परिणाम' नामक दो भेद और लिखे मिलते हैं। दासजी ने भी परिणाम का एक भेद 'समस्त-विषयक-परिणाम' और माना है, एवं संस्कृत ग्रंथ-रचयिताओं ने इसकी माला।"

सच तो यह है कि रूपक में उपमेय पर उपमान का आरोप मात्र होता है, उसका वास्तविक कार्य से कोई संबंध नहीं रहता। उदाहरण-रूप में कहा जा सकता है—'उसके मुखचंद्र को देखता हूँ।' यहाँ देखना कार्य है, किंतु उसका चंद्र से कोई संबंध नहीं। चंद्र यहाँ केवल मुख की समानता (सुंदरता) प्रकट कर केवल शोभा बतलाता है और यदि यह कहा जाय—'वह नेत्र-कमल से देख रही है' तब वह परिणाम का विषय बन जायगा, क्योंकि यहाँ नेत्र के देखने का कार्य उपमान कमल के द्वारा होना कहा गया है। रूपक में केवल समानता-ही रहती है और परिणाम में एकात्मता-सी लाई जाती है, जिससे उपमान उपमेय का कार्य भी करने लगता है जो उसका कार्य नहीं। परिणाम—एक विशिष्ट प्रकार का रूपक ही है, क्योंकि रूपक होते हुए भी वह उपमेय तथा उपमान में तादात्म-स्थापित कर उपमेय का प्रकृत कार्य उपमान के द्वारा कराता है। जैसे दासजी द्वारा कथित निम्नलिखित उदाहरण में।'

उदाहरन जथा—

कर कंजँन, खंजँन-द्दगँन, ससि-मुखि-अंजँन-देति ।
बिज्जु[1]-हास ते 'दास' जू, मँन-बिहंग गहि लेति ॥

*

अथ समस्त-विषयक रूपक लच्छन जथा—

सकल बस्तु ते होत जहँ,[2] आरोपित उपमाँन ।
तिहिं 'समस्त-बिषयक' कहैं, 'रूपक' बुद्धि-निधाँन ॥

*

कहुँ 'उपमा', 'बाचक' कहूँ, 'उत्प्रेच्छादिक (ते) होइ ।
कहूँ लिऐं 'परनाँम, कहुँ रूपक रूपक सोइ ॥

वि०—"जैसा पूर्व में कहा गया है कि 'रूपक के प्रथम—'अभेद' और 'ताद्रूप्य दो भेद होते हैं, इसके बाद इन दोनों के 'सम', 'अधिक' और 'न्यून' नाम के तीन-तीन भेद । तदनंतर 'सम-अभेद' के तीन-भेद—'सावयव' अथवा 'सांग' (अवयवों—अंगों के सहित उपमेय में उपमान का आरोप किया जाना), 'निरवयव' या 'निरंग' (अवयवों वा अंगों से रहित केवल उपमान का उपमेय में आरोप करना) तथा 'परंपरित' और कहे जाते हैं । अतएव सावयव के 'समस्त-विषयक' वा 'समस्त-वस्तु-विषयक' (संपूर्ण आरोप्यमान और आरोप के विषयों का शब्द-द्वारा स्पष्ट कथन करना) और 'एक देशविवर्त्ति' आदि दो भेद संस्कृत-अलंकाराचार्यों ने किये हैं । दासजी ने भी यही ऊपर लिखित दोहों में कहा है । साथ-ही आपने रूपक के 'उपमा-वाचक', 'उत्प्रेक्षा-वाचक', 'परिणाम-रूपक' और 'रूपक-रूपक' के साथ 'अपन्हुति-संयुक्त रूपक' उल्लेख-युक्त-रूपक'—आदि अन्य भेद भी किये हैं और इनके सफल उदाहरण भी दिये हैं । संस्कृत-ग्रंथों में—'रूपक-रूपक' (उपमेय में एक उपमान का आरोप कर फिर एक और आरोप करना), 'युक्त-रूपक', 'अयुक्त-रूपक', 'हेतु-रूपक' और रूपक की ध्वनि'— आदि अन्य भेद भी कहे गये हैं । 'आगे यह भी कहा गया है कि "जिस रूपक में विशिष्टता अधिक आरूढ़ हो तब उसे 'अधिकारूढ़ वैशिष्ट्य रूपक' कहा जाता है, जैसे—'यह मुख निष्कलंक चंद्र है ।' यहाँ मुख पर चंद्र का आरोप है, किंतु मुख की विशिष्टता चंद्र से अधिक उस (मुख) के निष्कलंक (कलंक-रहित) होने के कारण बतलायी गयी है,

पा०—१. (वें०) बीज··· । २. (प्र०ा) है ·· ।

अस्तु, ऐसी अवस्था में यहाँ 'व्यतिरेक' अलंकार क्यों न माना जाय ? क्योंकि 'उपमान को अपेक्षा उपमेय में कुछ अधिक उत्कृष्टता दिखलाना-ही 'व्यतिरेक' है और यही ध्येय वा लक्ष्य 'अधिकारूढ वैशिष्ट्य-रूपक' का भी है। और यदि यह कहा जाय कि उक्त ध्येय (लक्ष्य) इस अलंकार का नहीं है, तब इस प्रकार के नये भेदों की आवश्यकता ही नहीं रहती, वहाँ शुद्ध रूपक मात्र है, क्योंकि उपमेय पर उपमान का आरोप-ही 'रूपक' है और उपमानोपमेय में किसी गुण का प्रकृत्या अधिक वा कम होना उनके आरोपण में कोई बाधा नहीं डालता। ऐसी अवस्था में प्रधानतः रूपक होते हुए भी उनके अधिक, न्यून और समादि भेद भले-ही कर लिये जाँय, पर वे रूपक अवश्य रहेंगे और जब वे मूलतः रूपक न हों तथा उपमानोपमेय में अधिकता वा हीनता दिखलाई जाय, तब वहाँ अन्यान्य अलंकार हो सकते हैं। उदाहरण जैसे—"उसका मुख चंद्र-सा है" अथवा "उसका मुख चंद्र है", यहाँ "उपमा-रूपक" अलंकार कहे जाँयगे। इसी प्रकार "निष्कलंक होने के कारण उसका मुख सकलंक चंद्र से बढ़कर है" में 'व्यतिरेक' कहा जायगा। "उस (नायिका) का मुख-चंद्र आकाश में उदय होने वाले चंद्र से निष्कलंक होने के कारण बढ़कर है"—कहने पर "अधिकतद्रूप रूपक" होगा और "उसका मुख मानों चंद्रमा है", यह उत्प्रेक्षा है। इन सभी उदाहरणों में "मुख का चंद्र से साम्य लेकर ही वर्णन किया गया है। सभी वर्णनों में कुछ-न-कुछ भिन्नता है और इसी भिन्नता से तद्-तद् स्थानों पर विविध अलंकार संयुक्त हो गये हैं, वे सब स्पष्ट हैं। व्यतिरेक और अधिकतद्रूप-रूपक में क्या अंतर है, विशेष यही जानने योग्य है, क्योंकि प्रायः दोनों के विषय (भाव) एक-ही हैं, जो कुछ भिन्नता है, वह उनके वर्णनों में है। व्यतिरेक-वर्णन में उपमान चंद्र से उपमेय मुख में अधिकता वा वैशिष्ट्य दिखलाना मात्र है, एक का दूसरे पर आरोपण नाम मात्र को भी नहीं किया गया है। पर अधिकतद्रूप रूपक में मूलतः मुख पर चंद्र का आरोप है और उस आरोप के अनंतर-ही मुख-चंद्र को आकाशगामी सकलंक चंद्र से बढ़कर कहा गया है, मुख्यतः यही इन दोनों अलंकारों में भेद है।"

उपमा-वाचक रूपक उदाहरन जथा—

नेंम, प्रेंम साहि,[1] मति-बिमति सचिब चाहि,
कुलकी जु[2] सींव हाव-भाव-पील-सरि जू।

पा०—१. (रा० पु० का०) सतराज, बिमाति...। २. (का०) (वें०) सील...। (प्र०) दुकूल...।

पति औ सुपति नैंन-गति ज्यों[1] तरल-तुरी[2],
सुभासुभ मनोरथ[3] रहे हैं अति लरि जू ॥
आठों गोठ धरम की, आठों भाव सात्विक[4] की,
त्यों[5] प्यादे 'दास' दुहूँघाँ प्रबल भिरे अरि जू ।
लाज औ मनोज दोऊ चतुर खिलार उर-
वाके, सतरंज कैसो बाजी धरो[6] भरि जू ॥

वि०—"दासजी का यह "उपमा-वाचक रूपक" का उदाहरण रीति-शास्त्र के "नायिका-भेद" के अनुसार "मध्या" नायिका का उदाहरण कहा जा सकता है, मध्या—

"नब जोबँन पूरँनबतो, लाज-मँनोज समाँन ।
ता सों 'मध्या' नायिका, बरत सुकबि-सुजाँन ॥"

—शृं० नि० (भि० दा०)

अतएव नायिका-भेद के ग्रंथों में मध्या के चार भेद विविध नामों से कहे गये हैं । केशव और चिंतामणि ने—आरूढ यौवना, प्रगल्भवचना, प्रादुर्भूत मनोभवा और सुरति-विचित्रा, इन्हीं को 'देव कवि' ने वयक्रमानुसार रूढ़यौवना (१७ वर्ष), प्रादुर्भूतमनोभवा (१८ वर्ष), प्रगल्भ-वचना (१६ वर्ष) और विचित्र-सुरता (२० वर्ष) नाम से माने हैं । ये भेद केशव-चिंतामणि-प्रयुक्त (कहे गये) भेदों को वयक्रमानुसार बनाकर आगे-पीछे करना मात्र है । रसलीन ने भी मध्या के—उन्नतयौवना, उन्नतकामा, प्रगल्भवचना और सुरति-विचित्रा-रूप चार भेदों को ही प्राथमिकता देते हुए 'लघुलज्जा' नाम का पाँचवाँ भेद और कहा है । आप "केशव-चिंतामणि-एण्ड को०" से प्रथक् नहीं गये, किंतु मध्या के केशव-चिंतामणि-प्रयुक्त आरूढ-यौवना रूप प्रथम भेद को 'उन्नत यौवना' और तीसरे भेद 'प्रादुर्भूतमनोभवा' को "उन्नतकामा" देकर अन्य द्वितीय-चतुर्थ भेदों को यथानाम-रूप-ही रहने दिया है । मतिराम और पद्माकर ने उपर्युक्त भेद नहीं माने हैं । मान-प्रादुर्भूत मध्या के 'धीरादि' तीनों भेद नंददास (अष्टछाप) कृत 'रस-मंजरी' के अनुसार अवश्य माने हैं और इनके सुंदर उदाहरण भी दिये हैं ।

साहित्य-दर्पण (संस्कृत) में विश्वनाथ चक्रवर्ती ने 'मध्या नायिका' के विचित्र-सुरता[1], प्ररूढस्मरा[2], प्ररूढ़ यौवना,[3] ईषत्प्रगल्भवचना[4] और मध्यम-

पा०—१. (का०) (वें०) (प्र०) औ...। २. (वें०) तुरे...। ३. (का०) (वें) (प्र०) मनोरथ-रथ रहे लरि जू। (सं० प्र० प्र०)...रहे हैं लरि। ४. (का०) (वें०) सात्त्विकी...। ५. (वें०) (सं० प्र० प्र०) ज्यों०...। ६. (सं० प्र० प्र०) (वें०) राखी...। (का०) (प्र०) रखी...।

व्रीडता[५] नाम से पाँच भेद कहे हैं, किंतु उदाहरण—'विचित्रसुरता' और 'प्ररूढस्मरा' के-ही दिये हैं। दासजी ने अपने नायिका भेद के ग्रंथ शृंगार-निर्णय में—साधारण मध्या, स्वकीया मध्या और परकीया मध्या भेद भी मान इनके सुंदर उदाहरण दिये हैं। यही नही, ब्रज-रीति-ग्रंथों में मध्या के अवस्था-भेदानुसार—प्रोषितपतिका, आगतपतिका, आगच्छत्पतिका, आगमष्यत्पतिका, खंडिता, कलहांतरिता, विप्रलब्धा, उत्कंठिता, वासकसज्जा, स्वाधीन पतिका, अभिसारिका, प्रवत्स्यत्पतिका भेद कहकर सुंदर उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। दासजी ने ये भेद नहीं माने हैं, पर अन्य साहित्यकारों ने मध्या का मुरवैठना, मान, सुरतारंभ, रति, विपरीति और सुरतांत का भी वर्णन बहुत सुंदर रूप से किया है। वात्स्यायन ने कामसूत्र की द्वितीय-मंजरी में नायिका के अवस्थानुसार तीन विकल्पमान मध्या को 'तरुणी' संज्ञा दी है। यथा—

"यावच्छोडशसंख्यमब्दमुदिता बालाततस्त्रिंशतम्,
यावत्स्यात्तरुणीति बाण विशिख प्रख्यं तु यावद्भवेत्।
सा प्रौढेत्यभिधीयते कविवरैर्वृद्धातदूर्ध्वं स्मृता,
निद्या कामकलाकलापविधिषुत्याज्या सदा कामिभिः॥"
—का० सू० ३,२

वास्तव में 'उपमा-वाचक रूपक' के रत्न-जटित डब्बे में प्रस्तुत दासजी का यह रमणीय-रत्न रूप उदाहरण बहुत सुंदर है। भारतीय प्रसिद्ध खेल 'शतरंज' का—'काले-सफेद' या लाल-हरे रंगों से रंजित मुहरों का लज्जा और मनोज के रूप में सुंदर ही नहीं—'सुंदरं किन्न सुंदरम्' है। 'मध्या के ब्रज-साहित्य में एक से एक बढ़कर मनोरम उदाहरण हैं, जिन्हें श्री नंददासजी की इस मनोहर सूक्ति के सहारे—

'भरे भवन के चोर भए, बदलत-ही हारे।'

हार जाते हैं—यह अच्छा, कि यह अच्छा, कह-समझ कर ही थके जाते हैं, फिर भी दो उदाहरण देने का लोभ संवरण नहीं कर सके, वे उदाहरण निम्न हैं—

"मेरी कुल-पूज्य सदाँ रौंनी-ठकुरौंनी तुही,
तोहि नित आँखिन औ हिय में भरति-हौं।
तेरे-ही सँजोग हित दच्छिन रसीले अग,
मौंनि-मौंनि आलिन की सीख निदरति हों॥
आँनि बन्यों जोग अब मेरे बड़े भोगँन ते,
या-ही ते अधींनता लै दींनता करति हौं।

हेरँन दै नेंक प्राँन - प्रीतँम - मुखारबिंद,
हा-हा लाज आज तेरे पाँइन परति हों ॥"

*

"बिधि कौंन-हूँ बासर कों बितवै, मँन नाह की चाह लगी है नई।
कबि 'भानु' सजाइ सँमेंटति सेज, सजावति फेरि सुगंध मई॥
कभू दीप-कपूर जरावै बुझाइ कें, फेरि जरावति रंग-रई।
परी लाज-मनोज के मोह तिया, जुग चुंबक-बीच की लोह भई॥"

*

"इस अंदाजे-हया से और चोरी खुल गयी दिल की।
कहा था उनसे किसने? झेंपकर तिर्छी नज़र कर लो॥"

अथ उत्प्रेच्छा-वाचक रूपक जथा—

धूसरित धूरि मानों लिपटो[1] बिभूति भूरि,
मोंती माल माँनों लगाऐं गंग गल[2] सों।
नील-गुँन गूंथे[3] मनिबारे आभरँन कारे,
डोंरू कर[4] धारे जोरि द्वैक उतपल सों॥
बंक-बघ-नखुनाँ[5] बिराजै उर[6] 'दास' मनों,
बाल-बिधु राख्यौ जोर दैकें[7] भाल-थल सों।
ताकें कँमला के पति गेह जसुधा के फिरें,
छाके गिरिजा के ईस माँनों हलाहल सों॥

अस्य तिलक

इहाँ 'माँनों' उत्प्रेच्छा-वाचक ते रूपक प्रत्यच्छ है।

वि०—"वेंकटेश्वर प्रेस बंबई से प्रकाशित प्रति' में—दूसरी लायन (पंक्ति) तीसरी के स्थान पर और तीसरी दूसरी के स्थान पर है।"

अथ अपन्हुति वाचक रूपक जथा—

धावें धुरवारो, नँदवारी, असवारी किऐं[8]
कारी-कारो घटा ना मतंग मद-धारी हैं[9]।

पा०—१. (का०) (वें०) (प्र०) लपटी…। २. (वें०) (प्र०) जल…। ३. (का०) (वें०) गूंदे…। ४. (का०) (वें०) उर…। ५. (का०) (सं० पु० प्र०) (वें०) विमल बघनहाँ…। (प्र०) बंक बघ नहियाँ…। ६. (सं० पु० प्र०) रसमाल मानों…। ७. (सं० पु० प्र०) (वें०) द्वैकें…। ८. (का०) (वें०) (प्र०) (सं० पु० प्र०) की है। ९. (सं० पु० प्र०) (का०) (प्र०) है।

न्यारी-न्यारी दिसि च्यारी[1] चपला-चँमतकारी,
बरनें अँनारो[2] ए कटारी-तरबारी हैं[3] ॥
केकी-किलकारी 'दास' बूंदँन सरारी पौंन-
दुंदभि[4] धुँकारी तोप[5] गरज डरारी हैं[6] ।
बिंन[7] गिरिधारी, झर भारी मिस मैंन ब्रज-
नारी-प्राँनहारी देब-दलँन उतारी हैं[8] ॥

अस्य तिलक

इहा हूँ···ना, मतंग मद-धारी हैं' ते अपन्हुति व्यंगि है।

अथ रूपक-रूपक जथा—

गिल गए सेदँन,[9] जहाँ-ई-तहाँ छिल गए,
मिल गए, चंदँन भिरे हैं इहि भाइ सों।
गाढ़े ह्वै रहे हैं[10] सहे सनमुख तुकौंन-लीक,
लोहित-लिलार लागी छींट अरि घाइ सों ॥
श्रीमुख-प्रकास तँन 'दास' रीति साधुँन की,
अज-हूँ लो लोचँन तँमीले रिसि-ताइ सों।
सोहैं सब[11] अंग सुख-पुलक सुहाए हरि,[12]
आए जीति सँमर सँमर महाराइ सों ॥

वि० —"दासजी ने इस 'रूपक-रूपक' के उदाहरण को प्रथम छठवें उल्लास में 'स्वतः संभवी अलंकार ते वस्तु व्यंगि' के उदाहरण में भी दिया है, और वहाँ तिलक रूप में कहा है कि 'इहाँ नाइका रूपक-उत्प्रेक्षा अलंकार करिकें नाइक कौ अपराध जाहर करति है, यै (अलंकार) ते बस्तु व्यंगि है।' खंडिता नायिका की उक्ति।"

खंडिता नायिका के प्रति पीछे बहुत कुछ उसके भेदादि के साथ लिखा जा चुका है। यहाँ उक्त नायिका का उदाहरण-स्वरूप 'अष्टछाप' के प्रमुख कवि 'और कवि गढ़िया, 'नंददास' जड़ियां की रचना उद्धृत करते हैं, यथा—

पा०—१. (का०) (वें०) (प्र०) चारी···। २. (वें०) अन्यारी···। ३. (सं० पु० प्र०) (का०) (प्र०) है। ४. (वें०) (प्र०) (का०) दुंदुभी ·। ५. (प्र०) तेबै···। ६. (सं० पु० प्र०) (का०) (प्र०) है। ७. (का०) (वें०) (प्र०) बिना···। ८. (सं० पु० प्र०) (का०) (प्र०) है। ९. (का०) (वें०) (प्र०) स्वेदन···। १०. (सं० पु० प्र०) (वें०) हीं···। ११. (वें०) (सं० पु० प्र०) सर्बांग, सुख···। १२. (वें०) हरी।

"जागे हौ रैंन तुँम सब, नैंनाँ अरुँन हँमारे।
तुँम्ह कियौ मधु-पाँन, घूंमत हँमारौ मँन, काहे तें नंद-दुलारे॥
उर नख-चिन्ह तिहारें, पीर हँमारें, कारँन कौंन पियारे।
'नंददास'-प्रभु न्याइ स्याँम घँन, बरखे अँनत जाइ हम पै झूंमझुँमारे॥"

पुनः उदाहरन जथा—

केलि-थल कुंड-साजि, सँमधा[1]-सुँमन-सेज,
बिरह की ज्वाल बाल बरै प्रति रोंम है।
उपचार आहुति कै बैठीं सखी आस[2]-पास,
स्रुवा पल-नैंन[3] नेंह-अँसुवा अधोंम है॥
बलि-पसु मोद भयौ, बिलपँन - मंत्र ठयौ,[4]
अवधि को आस गँनि लयौ दिँन नोंम है।
'दास' चलि बेगि किन कीजिऐ सफल-कॉम,
रावरे - सदँन स्यॉम, मदँन कौ होंम है॥

वि०—"यह विरह-निवेदन रूप रूपक में रूपक का उदाहरण अति उत्तम है, इस पर कुछ लिखना—टीका-टिप्पणी करना इसके रूप (सौंदर्य) को धुँधला करना है। फिर भी एक लोभ संवरण नहीं कर सके हैं, और मथुरा-निवासी कविवर "नवनीत" जी का एक छंद इसके साथ दे रहे हैं। पाठक देखें दोनों रत्नों में कौन अधिक उज्वल है। अस्तु—

"सरस सुधारि करि बेदी प्रेंम-बेदनाँ की,
मदँन प्रधाँन पूंजा-पाठ-ध्याँन धरि हैं।
'नवनीत' मंडप सुहायो अपवाद-ही कौ,
रोदँन - रिचाँन के प्रयोगँन उचरि हैं॥
पूरित बियोग - आँच हृदै-कँमल के कुंड,
एक तंत्र गोपिन के जूथ अनुँसरि हैं।
सकल सँजोग-सुचि नैंन के स्रुवाँन-भरि,
घृत-अँसुवाँन बैठि प्राँन होंम करि हैं॥

*

"घृत-अँसुवा, नैंना-स्रुवा, रोदँन-रिचा बिभाग।
तँन आहुति बिरहागि में, करें कॉमिनी जाग॥"

पा०—१. (वें०) (प्र०) समिध...। २. (का०) आँन...। ३. (वें०) दुनें..
४. (प्र०) ठये...।

समस्त-बिषयक परिनाम रूपक जथा—

अँनी नेह नरेस की माधौ बँने, बँनीं राधे[1] मनोज की फौज खरी।
भटभेरौ भयौ जमुनाँ-तट 'दास' जू साध[2] दुहूँन की सौंन[3]-घरी॥
उर जात चँडोलँन गोल-कपोलँन, जौ लौं मिलाप-सलाह करी।
तब लौं-हीं[4] हरौल-भटाच्छँन सौं, री कटाच्छँन की तरबार परी॥

अथ उल्लेखालंकार लच्छन जथा—

एकै में बहु बोध कै, बहु गुँन सो[5] 'उल्लेख'।
परंपरित - मालाँन सौं, लींनों भिन्न बिसेख॥

वि०—"संस्कृत-अलंकाराचार्यों ने" अभेद-प्रधान आरोप मूलक अलंकार "उल्लेख" (उल्लेख) के लच्चण के प्रति कहा है कि "जहाँ एक वस्तु वा व्यक्ति को निमित्त-भेद से—ज्ञाताओं अथवा विषय-भेद के कारण अनेक प्रकार से "उल्लेख" (वर्णन) किये जाने पर होता है। क्योंकि उल्लेख का अर्थ है—"लिखना, उत्कृष्ट रूप से वर्णन करना।" इन्होंने उल्लेख को "प्रथम" (अनेक व्यक्ति एक-ही वस्तु वा व्यक्ति को अपने-अपने अनुभव और रुचि के साथ कितने ही रूपों में देख उसका अनेक प्रकार से वर्णन करें) और "द्वितीय"—(एक-ही वर्ण्य-वस्तु का एक-ही व्याख्याता कई प्रकार से उसके गुणों के अनुसार वर्णन करे) दो रूपों में —भेदों में भी माना है। यही नहीं, आप महानुभावों ने इसके "शुद्ध" (जिसमें किसी अन्य अलंकार का मिश्रण न हो) और "संकीर्ण" (अन्य अलंकारों से मिश्रित) दो भेद और माने हैं तथा भ्रांतिमान-मिश्रित, रूपक-मिश्रित, रूपक के स्वरूप, फल और हेतु मिश्रित एवं इसकी ध्वनि के भी सुंदर उदाहरण दिये हैं। दासजी ने इन प्रथम और द्वितीय रूप दोनों-ही उल्लेखालंकारों का लच्चण इस छोटे-से दोहे में किया है।

उल्लेख का विषय दासजी के मतानुसार "परंपरित माला-रूपक" अथवा "निरवयव-माला रूपक और भ्रांतिमान् से कुछ-कुछ मिल-सा जाता है, पर उसकी विशेषता—भिन्नता दिखलाते हुए साहित्यकारों का कहना है कि "निरवयव-माला रूपक में ग्रहण करने वाले व्यक्ति अनेक नहीं हुआ करते, उल्लेख में हुआ करते हैं। इसी प्रकार एक वस्तु में दूसरी वस्तु के आरोप होने पर 'रूपक' होता है, उल्लेख नहीं, किंतु एक वस्तु का उसके वास्तविक धर्मों-द्वारा अनेक प्रकार से

पा०—१. (का०) राधौ...। २. (वे०) (प्र०) सान...। ३. (वे०) जु सौंन...। (सं० पु० प्र०) ज्यों सौंन...। ४. (का०) तौलौं बीर हरौल...। (वे०) तौलौं हरौल...। (सं० पु० प्र०) तौलौं वाके भटाच्छन...। ५. (का०) (वे०) सौं...।

ग्रहण अवश्य किया जाता है। भ्रांति में भ्रम होता है, शुद्ध वा प्रथम उल्लेख में नहीं, किंतु यहाँ सूक्ष्म रूप से देखा जाय तो इसमें भ्रम का समावेश अस्पष्ट रूप से-ही सही, पर रहता अवश्य है। जैसा कि दासजी के नीचे लिखे 'प्रथम' उदाहरण में। यहाँ नायिका एक ही है, पर उसे देखनेवाले अपने-अपने अनुसार भ्रम-वश कई रूपों में देखते हैं। श्रीमद्भागवत के दशम-स्कंध में भगवान श्री कृष्ण के मथुरा आने पर लोगों ने उन्हें क्या-क्या समझा, यह उल्लेख से अलंकृत अत्युत्तम उक्ति है, यथा—

"मल्लानामशनिर्नृणां नरवरः स्त्रीणां स्मरो मूर्तिमान्,
गोपानां स्वजनोऽसतां क्षितिभुजां शास्ता स्वपित्रोः शिशुः।
मृत्युर्भोजपतेर्विराडविदुषां तत्त्वं परं योगिनाम्,
वृष्णीनां परदेवतेति विदितो रंगं गतः साग्रजः॥"
—दशम पूर्वा० ४३, १७

❀

"मल्ल ब्रज जाँने, औ नर जाँने नर-बर,
नारि जाँने यहीं काँम-मूरति रसाल है।
गोप जाँने सुजँन, सु जादव कुल-देव जाँने,
असँन नृपति जाँने साँसता कराल है॥
पंडित बिराट जाँने, जोगी पर-तत्त्व जाँने,
रंग-भूमि राँम-कृस्न गऐं ऐसौ हाल है।
नंद जाँने बालक, 'गुबिंद' प्रतिपाल जाँने,
साल सत्रु-बंस जाँने, कंस जाँनों काल है॥"

अस्य उदाहरन एक में बौहतन कौ बोध जथा—

पीतम प्रीति-मई अँनुमाँने,[1] परोसिन जाँनें सु[2] नीतिंन सौं ठई।
लाज-सँनीं[3] बड़ी निभनीं, बर नारिनि में सिरताज गँनीं गई॥
राधिका कौं ब्रज की जुबती कहैं याहि[4] सुहाग-सँमूह दई दई।
सौति[5] हलाहल-सी[6] ती कहैं, सखी[7] कहैं सुंदरि-सील-सुधा-मई॥*

पा०—१. (का०) (वें०) (शृं० नि०) उनमानें···। २. (शृं० नि०) सुनी तिहि सों···। ३. (का०) (वें०) (प्र०) सनी है···। ४. (वें०) वाही···। ५. (का०) सौती···। ६. (का०) (वें०) (प्र०) सौ ती···। ७. (का०) (वें०) (प्र०) औ-सखी कहैं···।

* शृं० नि० (भि० दा०) पृ०-८८।

वि०—दासजी ने प्रथम उल्लेखालंकार के इस उदाहरण को अपने 'शृंगार-निर्णय' में भी 'स्वकीया के माधुर्य-वर्णन' में दिया है। आपसे पूर्व 'मतिराम' जी ने भी अपने 'रस-राज' में स्वकीया के वर्णन में कहा है—

"जाँनति सौति अँनीति है, जाँनति सखी सु नीति।
गुरुजँन जाँनत लाज है, पीतँम जाँनत प्रीति॥"

यों तो स्वकीया-नायिका के वर्णन का उदाहरण कवि 'मंचित' का भी हृदय-हारी है, जैसे—

"तुँम नाँव लिखावती हौ हँम पै, हँम नाँव कहा कहि लीजिऐ जू।
अब नाव चलै सिगरे जल में, थल में न चलै कहा कीजिऐ जू॥
कबि 'मंचित' औसर जौ अँकतीं, सकती नहिं, हाँ पर जीजिऐ जू।
हँम तौ अपनों 'बर' पूंजती हैं, सपने-हूँ न 'पीपर' पूंजिऐ जू॥"

छंद यह भी सुंदर है, साहित्य में वेजोड़ है, पर 'दासजी' के 'पीतम-प्रीतिमई अँनुमाँ०'...के बराबर नहीं, फिर भी—

"अपनी तो आशकी का किस्सा ये मुख्तसिर है।
हम जा मिले ख़ुदा से, दिलबर बदल-बदल कर॥"

पुनः उदाहरन 'एक में बहु गुँन जथा—

साधुँन कों सुख-दाँनि है, दुरजँन-गँन दुख-दाँनि[1]।
बैरिंन[2] बिक्रँम-हाँनि[3] प्रद, राँम तिहारौ पाँनि[4]॥

वि०—"जैसा कि पूर्व लिखा जा चुका है कि उल्लेख—भ्रांति-मिश्रित, रूपक मिश्रित और रूपक में भी 'फल' तथा 'हेतु' मिश्रित के अनंतर इसकी 'ध्वनि' भी होती है। उपमा-मिश्रित उल्लेख भी मिलता है, जैसे—

"अवनी की भाल-सी, सुबाल-सी दिनेस जाँनी,
लाल-सी है काँन्ह करी बाल सुख-थाल-सी।
नरकँन कों हाल-सी, बिहाल-सी करैया भई,
धरमँन कों उद्धत सुढाल-सी बिसाल-सी॥
'ग्वाल' कबि भक्तँन कों सुर-तरु-जाल-सी है,
सुंदर रसाल-सी, कुकरमँन कों भाल-सी।
दूतँन कों साल-सी, जु चित्त कों हुसाल-सी है,
जँम कों जँजाल-सी, कराल काल-ब्याल-सी॥"

पा०—१. (वें०) दाम। २. (प्र०) बिप्रन...। ३. (प्र०) दाँन...। ४. (वें०) नाम...।

पर ऐसे उदाहरण 'द्वितीय उल्लेख रूप 'संकीर्ण'—अन्य अलंकारों से मिश्रित के ही भेद हैं। रूपक और उपमा-मिश्रित उल्लेख का उदाहरण नीचे लिखा भी अति सुंदर है, यथा—

"बदँन-मयंक पै चकोर ह्वै रहत नित,
पंकज-नयँन देखि भौंर-लौं भयौ फिरै।
अधर-सुधा-रस के चखिबे कों सुमन सु-
पूतरी ह्वै नैंनँन के तारँन फयौ फिरै॥
अंग-अंग गहँन अनंग सुभँटन होत,
बाँनी-गाँन सुनि ठगे मृग-लौं ठयौ फिरै।
तेरे रूप-भूप आगें पिय कौ अँनूप, मँन,
धरि बहु-रूप बहुरूपिया भयौ फिरै॥

किंतु, आचार्य दंडी ने 'बदँन-मयंक०...' रूप ऐसे उदाहरणों में 'हेतुरूपक-अलंकार को ही माना है, सकीर्ण अथवा अन्य अलंकार-मिश्रित उल्लेख नहीं।'

"इति श्री सकलकलाधर कलाधरबंसावतंस श्रीमन्महाराजकुँमार
श्री बाबू हिंदूपति-बिरचिते काव्य-निरनए' बितरेक-
रूपक अलकार बरननो नाम दसमोल्लासः॥१०॥

—:०:—

अथ ग्यारहवाँ उल्लासः

अथ अतिसयोक्ति-आदि अलंकार बरनन जथा—

'अतिसयोक्ति' बहु भाँति की, औ[1] 'उदात्त' तहँ लाइ।
'अधिक', 'अल्प' 'सबिसेसनों', पाँच[2] भेद ठैहराइ॥

अतिसयोक्ति-भेद कथन जथा—

जहँ अत्यंत सराहिऐ, सो[3] अतिसोक्ति' कहंत।
'भेदक' 'संबंधौ' 'चपल', 'अक्रमाति'[4] अत्यंत॥

वि०—"दासजी ने इस (दशवें) उल्लास में—अतिशयोक्ति' और उस (अतिशयोक्ति) के 'विविध भेद'—भेदकातिशयोक्ति, संबंधातिशयोक्ति, चपलातिशयोक्ति, अतिक्रमातिशयोक्ति-आदि, भेदाभेदों के साथ वर्णन करते हुए 'उदात्त', 'अधिक', 'अल्प' और 'विशेष'—अलंकारो का कथन किया है। संस्कृत-अलंकाराचार्यों ने अतिशयोक्ति' को अभेद प्रधान अध्यवसायमूलक-अलंकार माना है और 'उदात्त' को वर्णन वैचित्र्य-प्रधान तथा 'अधिक', 'अल्प' और 'विशेष' को—विरोधमूलक अलंकार।

अतिशयोक्ति के स्वरूप तथा भेद-निर्माण में प्रथम सर्वोत्कृष्ट स्थान 'उदभट्' का है, क्योंकि भामह और दंडी-द्वारा अतिशयोक्ति लक्षण का वह निखरा हुआ स्वस्थ स्वरूप नहीं मिलता जो उद्भट् ने प्रस्तुत किया है। आचार्य मम्मट् ने अतिशयोक्ति का उदभट्-जन्य स्वरूप ही अपनाया है, पर अपनी धारणा—"निर्गीयाध्यवसानंतु प्रकृतस्य परेणयत्"—रूप अपने रंग में रँगकर···। बाद के अलंकाराचार्यों ने इसे ही हृदय से अपनाया और अतिशयोक्ति की रूप-रेखा अब यही मानी जाने लगी, जो पं० राज जगन्नाथजी कृत रसगंगाधर के अतिशयोक्ति-लक्षण से स्पष्ट है, यथा—

"विषयणाविषयस्य निगरणमतिशयः तस्योक्तिः—अतिशयोक्तिः।"

इसी प्रकार 'भामह'-द्वारा निर्मित 'उदात्त' अलंकार' के स्वरूप में भी महापुरुषों की वही महत्ता प्रतिपादित होती है, जिसे उनके समकालीन अज्ञात-नामा

पा०—१. (का०) (वें०), उदातौ तहँ ल्याइ। (प्र०), अरु उदात···। २. (का०) (वें०) (प्र०) पच···। ३. (का०) (वें०) (प्र०) अतिसयोक्ति सुकहंत। ४. (का०) आक्रमाति···।

अलंकाराचार्य विभूति-पूर्ण समझते थे। दंडी ने इन दोनों मान्यताओं को उदात्त-निरूपण रूप में शीर्ष स्थान दिया और बाद में भी यही द्विधा प्रतिपादित होती रही। मम्मट् ने इसे स्वीकार नहीं किया, अपितु उद्भट की उदात्त-परिभाषा का अनुगमन किया, क्योंकि उदात्त में जो वस्तु-वर्णन उन्हें अभिप्रेत थी वह आरोपित वस्तु-वर्णन है। इसलिये स्वभावोक्ति से—जिसमें यथा-वद् वस्तु का वर्णन हुआ करता है, उससे पृथक् है तथा 'भाविक' से भी जिसमें यथावद् वस्तु वर्णन कवि-हृदय के संवाद से प्रकाशित हुआ करती है—भिन्न है।

अतिशयोक्ति-लक्षण के प्रति दासजी ने संस्कृत के अन्य अलंकाराचार्यों के साथ मोटे रूप में—'अत्यंत सराहनेवाली' उक्ति को कहा है। संस्कृताचार्यों ने इस स्थूल-लक्षण के साथ 'लोक-मर्यादा को उल्लंघन करनेवाली उक्ति' और जोड़ दिया है, क्योंकि अतिशय का शब्दार्थ—'अतिक्रांत' (उल्लंघन) है। कोई-कोई अतिशयोक्ति का अर्थ—'लोकोत्तर' उक्ति भी मानते हैं। ऐसा वर्णन, जो संसार की सामान्य बातों का उल्लंघन कर गया हो, 'लोकोत्तर' कहलाता है। अतिक्रांत का भी यही ध्येय वा कथन है। अतएव जहाँ प्रस्तुत को अत्यंत प्रशंसा के लिये लोक-सीमा का उल्लंघन कर कोई 'उक्ति' कही जाय, अर्थात् जहाँ विषय (अप्रस्तुत, या उपमान) विषयी (प्रस्तुत, वा उपमेय) को निश्चित रूप से अपने में लीन कर एकदम अभेद-प्रतीति होने लगे—उसका अध्यवसाय हो जाय, तो वहाँ 'अतिशयोक्ति' कही जाती है और इसके मुख्य भेद हैं—"रूपकातिशयोक्ति, भेदकातिशयोक्ति, संबंधातिशयोक्ति, असंबंधातिशयोक्ति तथा कारणातिशयोक्ति।" दासजी ने इन नाम और क्रम में उलटफेर कर 'अतिशयोक्ति' के प्रथम—"भेदकातिशयोक्ति, संबंधातिशयोक्ति," संबंधातिशयोक्ति के दो—"योग्य से अयोग्य की तथा अयोग्य से योग्य की कल्पना", भेद कहते हुए "चपलातिशयोक्ति, अक्रमातिशयोक्ति" और "अत्यंतातिशयोक्ति"—आदि कह कर, तदनंतर—"संभवनातिशयोक्ति, उपमातिशयोक्ति, सापन्हवातिशयोक्ति, रूपकातिशयोक्ति" तथा "उत्प्रेक्षातिशयोक्ति आदि बारह भेद कहे हैं। संस्कृत-अलंकाराचार्यों ने—जैसा पूर्व में उल्लेख हो चुका है। अतिशयोक्ति के प्रथम—"रूपकाति०, भेदकाति०, संबंधाति०" और "कारणाति०" रूप पाँच भेद मान कर फिर "रूपकातिशयोक्ति" के भेद "शुद्ध" तथा "सापन्हव", संबंधातिशयोक्ति के भेद "संभाव्यमाना" व "निर्णयमाना", एवं कारणातिशयोक्ति के भेद "अक्रमाति०, चपलाति० तथा अत्यंतातिशयोक्ति भेद भी कहे हैं। ब्रजभाषा के आदि-रीति-ग्रंथकार 'चिंतामणि' ने-अपने "कवि-कुल-कल्पतरु" में इस (अतिशयोक्ति) के चार प्रकार ही माने हैं, यथा—

"'अतिसयोक्ति' है चारि बिधि, मंमट-कथँन-प्रकार ।
बरनत 'चिंतामनि' सुकबि, निज मति के अनुसार ॥"

पर "भाषा-भूषण" में जसवंत सिंह जी ने—"रूपकाति०, सापन्हवाति०, भेदकाति०, संबंधाति०, असंबंधाति०, जिसे "जोग से अजोग" रूप में वर्णन किया गया है, के अनंतर अक्रमाति०, चपलाति०" और "अत्यंताति० रूप आठ प्रकार—भेद कहे हैं। इसी प्रकार कवि मतिराम (ललित-ललाम) ने भी आठ प्रकार की—रूपकाति० सापन्हवाति०, भेदकाति०, संबंधाति०, संबंधाति० (द्वितीय), अक्रमाति०, चपलाति० और अत्यंताति०" मानी है। दूलह कवि (कविकुल-कंठाभरण) भी आपके अनुगामी हैं और अंतिम रीति कालिक कवि पद्माकर भी इसी पथ के पथिक हैं।

अतिशयोक्ति का विषय अति व्यापक है। शब्दार्थ की जो भी विशेषताएँ हैं, वे सब इसके आश्रित मानी गयी हैं। इसलिये अतिशयोक्ति के विभिन्न चमत्कारों की विशेषताओं के कारण इस अलंकार के विभिन्न नाम निर्देश किये गये हैं, किंतु जहाँ किसी चमत्कार-युक्त युक्ति में किसी विशेष अलंकार का नाम नहीं दिया गया है, तो वहाँ अतिशयोक्ति कही जा सकती है। इसलिये-हीं आचार्य दंडी (संस्कृत) ने—"संदेह, निश्चय, मीलित और अधिक"-आदि अनेक अलंकार प्रथक्-प्रथक् निर्धारित न कर अतिशयोक्ति के अंतर्गत-ही लिखे हैं। अतिशयोक्ति के उपसंहार में दंडी कहते हैं—

"अलंकारांतराणामप्येकमाहुः परायणम् ।
वागीशमहितामुक्तिमिमामतिशयाह्वयम् ॥"

—काव्यादर्श (सं०) २।२२०

अर्थात् "अतिशयोक्ति" अधिकाधिक अलंकारों की आश्रयभूत होने के कारण 'वाचस्पति'–द्वारा पूजित है।"

अथ प्रथम भेदकातिसयोक्ति लच्छन बरनन जथा—

'भेदकातिसै' उक्ति जहँ[1] सुभा-मई सब बात ।
जग ते यै कछु और-हीं सकल ठौर कहि जात ॥

वि०—"दासजी ने भेदकातिशयोक्ति के लक्षण में—"जगत से भिन्न कुछ और ही कहने" को कहा है। यह लक्षण अव्यापक है, अस्तु "उपमेय के अन्यत्व वर्णन में जहाँ अभेद रहते हुए भी भेद प्रकट किया जाय—जिनमें

पा०—१.(सं० प्र० प्र०) (का०) सुबह मही सब...। (.वें०) सुन हम-ही सब...। (प्र०) मग में है सब...। (प्र-२) के तहँ जु मही।

अभेदता है, उनमें अन्य सब का एक-ही में अध्यवसाय कर (उसका) सब से भेद प्रकट किया जाय, वहाँ होती है। श्रीजयदेव का कहना है—

"भेदकातिशयोक्तिश्चेदेकस्यै वान्यतोच्यते।"

—चंद्रालोक, ५. ४५

जहाँ केवल कहने का ढंग बदल कर कहने के कारण कही हुई बात में जोर लाने की इच्छा से जो बात कही जाय", वहाँ भेदकातिशयोक्ति होती है। भेदकातिशयोक्ति में 'अभेद में भेद" और रूपकातिशयोक्ति में "भेद में अभेद" होता है।"

भेदकातिसयोक्ति उदाहरन जथा—

भाबी, भूत, बर्तमान माँनबी न होइ[1] ऐसी,
दैबी-दाँनबीन-हूँ सो न्यारौ[2] इक डौर-हीं।
या बिधि को बँनिता जो बिधिनाँ बनायौ चहैं[3],
"दास" तौ सँमझिऐ प्रकासै निज बौर[4]-हीं॥
कैसें[5] लिखै चित्र कों चितेरौ चकि जात लखि,
द्वैक दिँन बीतें दुति और-और दौर-हीं।
आज भोर और-हीं,[6] पैहैर होत और-हीं[7] है,
दुपहर और-हीं[8], रजँनि होत और-हीं[9]॥

वि०—दासजी का यह उदाहरण "अभेद में भेद"–रूप भेदकातिशयोक्ति का है जो "औरें" शब्द से प्रकट हो रहा है। भेदकातिशयोक्ति के उदाहरण पद्माकर' और "द्विजदेव"— पूरा नाम "महाराज मानसिंह" अयोध्या के बहुत सुंदर कहे जा सकते हैं, यथा—

"औरें भाँति कुंजँन में राग-रत भौंर-भीरि,
औरें भाँति भौरँन में बौरँन के ह्वै गए।
कहै 'पदमाकर' सु औरें भाँति गलियाँन,
छलिया-छबीले-छैल औरें छबि छ्वै गए॥

पा०—१. (सं० प्र० प्र०) (का०) (वें०) है है...। २. (सं० प्र०- प्र०) न्यारें यै डौर...। (का०) (वे०) न्यारी यह डौरई। ३. (वे०) चाहैं...। ४. (का०) (वें०) बौरई। ५. (का०) (सं० प्र० प्र०) चित्रित करैं धौं क्यों चितेरौ यह चालि कालि, परों दिन-बीतें दुति औरें और दौरई। (वे०) चित्रित करै क्यों है चितेरौ यह चालि-कालि-परों दिन बीतें द्युति औरें और दौरई। ६. (का०) (वें०) (प्र०) औरई। ७. ८, ९. (का०) (वें०) (प्र०) (स० पु० प्र०) (प्र०) (सं० पु० प्र०) औरई।

औरें भाँति बिहँग-सँमाज में अवाज होति,
अबै रितुराज के न आज दिन-द्वै गए।
औरें रस, औरें रीति, औरें रंग, औरें राग,
औरें तँन, औरें मँन, औरें बँन ह्वै गए॥"

*

औरें भाँति कोकिल-चकोर ठौर-ठौर बोलें,
औरें भाँति सबद पपीहँन के ब्वै गए।
औरें भाँति पल्लव लए हैं बृंद-बृंद-तरु,
औरें छबि-पुंज-कुंज-कुंजँन उँनें गए॥
औरें भाँति सीतल-सुगंध-मंद डोलें पोंन,
"द्विजदेव" देखत न ऐसे पल द्वै गए।
"औरें रति, औरें रंग, औरें साज, औरें संग,
औरें बँन, औरें छँन, औरें मँन ह्वै गए॥"

ये दोनों उदाहरण वसंत-आगमन के हैं तथा "औरें" शब्दों के द्वारा वन-कुंजादि में भेद न होते हुए भी भेद कहा गया है। इन्हें हम भेदकातिशयोक्ति की 'माला' भी कह सकते हैं, क्योंकि दोनों छंदों में "औरें" शब्द-द्वारा वासंतिक-सामिग्री रूप उपमेयों की भिन्नता कही गयी है। ये दोनों-ही छंद उत्तम हैं, पर दास जी का उदाहरण—

"आज भोर और-हीं, पँहैर होति और-हीं, दुपहर और-हीं, रजँनि होति और-हीं॥"

का जवाब नहीं है, दोनों ही इसके सम्मुख दुपहर के दीपक-से हैं। उर्दू के महाकवि 'अकबर' ने ठीक-ही कहा है—

"लहज़ा-लहजा है तरक्की पर तेरा हुस्नोजमाल।
जिसको शक हो, तुझे देखे तेरी तस्वीर के साथ॥"

पुनः यथा—

अँनन्वयौ की ब्यंग में,[1] भेदकातिसै-उक्ति।
उतै कियौ स्थापित निरखि, परबींनँन की जुक्ति॥

वि०—"दासजी ने अनन्वय (एक-ही वस्तु को उपमानोपमेय-भाव से कहना) के व्यंग्य से भी 'भेदकातिशयोक्ति' मानी है, पर उदाहरण नहीं दिया है।

पा०—१. (का०) (वें०) (प्र०) यह...।

द्वितीय संबंधातिसयोक्ति-लच्छन जथा—

संबंधातिसै-जुक्ति कों, 'द्वै-बिधि' बरनत लोग।
कहूँ जोग ते अजुग है, कहुँ अजोग[1] ते जोग ॥

वि०—"दासजी ने 'संबंधातिशयोक्ति' को "योग्य में अयोग्य" "और अयोग्य में योग्य" रूप दो प्रकार की बतलाया है। अर्थात्, जहाँ योग्य (वस्तु वा पदार्थ) में अयोग्यता दिखलायी जाय वहाँ 'संबंधातिशयोक्ति' का पूर्व भेद और जहाँ अयोग्य (वस्तु वा पदार्थ) में योग्यता स्थापित की जाय वहाँ संबंधातिशयोक्ति का दूसरा भेद कहा जायगा।

संस्कृत में—अयोग्य में योग्यता वर्णन को, संबंधातिशयोक्ति (जहाँ उपमेयोपमान में वास्तविक संबंध न होने पर भी संबंध बतलाया जाय) और दूसरे अयोग्य में योग्यता रूप वर्णन को "असंबंधातिशयोक्ति (जब किसी को योग्य होने पर भी अयोग्य बतलाया जाय, अथवा संबंधित प्रति वस्तुओं का प्रतिषेध किया जाय) कहा है, जो दासजी से भिन्न पड़ता है। भाषा-भूषण में भी संस्कृत-अनुसार प्रथम संबंधातिशयोक्ति के विषय में "अयोग्य में योग्यता और दूसरी संबंधातिशयोक्ति में—योग्य को अयोग्य कहना-ही लक्षण बतलाया है, यथा—

"संबंधातिसयोक्ति जहँ, देत अजोग-हि-जोग।"

*

"अतिसयोक्ति दूजी वहै, जोग अजोग-बखाँन ॥"

अस्तु, असंबंध में संबंध-कल्पना किये जाने पर "संबंधातिशयोक्ति" कही जाती है और इसके संस्कृत में "संभाव्यमाना (यहाँ—'यदि', ब्रजभाषा में 'जो' आदि शब्दों के प्रयोग-द्वारा असंभव कल्पना की जाय) और "निर्णीयमाना" (जहाँ निश्चित रूप से असंभव की कल्पना की जाय—निर्णीत रूप से असंभव वर्णन किया जाय) दो भेद किये हैं।

प्रथम उदाहरन जोग ते अजोग की कल्पना कौ जथा—

छामोदरी, उरोज तुब,[2] होत जु[3] रोज उतंग।
अरी, इन्हैं या[4] अंग में, नहिं सँमान कौ ढंग ॥

पा०—१. (प्र०), कहूँ अजोगै जोग। २. (वें०) तू...। ३. (वें०) उरोज उतंग। ४. (वें०) ये...।

पुनः उदाहरन जथा—

घाँघरे[1] भींन-सों, सारी महींन-सों,[2] पींन-नितंबँन-भार उठै[3] खचि[4]।
'दास' सुबास सिँगार-सिँगारत, बोझँन-ऊपर-बोझ उठै मचि॥
सेद[5] चलें मुख-चंद ते[6] च्वै, डग द्वैक धरें महि[7] फूलँन सों सचि।
जात है पंकज-पात[8]-बियार सों, वा सुकमारि कौ लंक लला लचि॥*

अस्य तिलक

(प्रथम उदाहरन में) कुचँन कौ अंग में माइबौ (समाइबौ=समानों) जोग है, (पै) अमाइबौ (नहीं समानों) अजोग कह्यौ (अरु या सवैया में) नायिका चलिबे जोग है, (पै) कह्यौ न चलि सकैगी, सो जोग-बौंत में अजोग की कलपनाँ करी।

वि०—"दासजी ने इस छंद में "घाँघरे" के साथ महीन—हलकी-फुलकी पतली साड़ी का वर्णन किया है। ब्रज में अथवा अन्यत्र लँहगे (घाँघरे) के साथ साड़ी नहीं पहनी जाती, अपितु "ओढ़ना" ओढ़ा जाता है। अस्तु, दासजी ओढ़ने का सारी (साड़ी) जैसा दो अक्षर वाला पर्यायवाची शब्द न पाकर भींन, महींन और पींन की वहिया में वह गये-से मालूम देते हैं।

दासजी ने यह छंद - उदाहरण. अपने "शृंगार-निर्णय" में कुछ पाठ-भेद के साथ नायिका की सुकुमारता-वर्णन में भी दिया है—उद्धृत किया है। सुकमारता—नज़ाकत के वर्णन में अकबर साहिब—इलाहाबाद का एक शेर बहुत अच्छा है, जैसे—

"नाज़ कहता है कि ज़ेवर से हो तज़ईने—जमाल।
नाज़ुकी कहती है, सुर्मा भी कहीं बार न हो॥"

दासजी के उक्त उदाहरण के साथ यह निम्न-लिखित किसी कवि की उक्ति भी पठनीय है—

"लहलही लहरें लुनाई की उदित अंग,
उचके कुचँन कैसी कंचुकी यों गचिकी।
मंद पग धरति मरू कै गयंद - गति,
चंद-मुखी चाँदनी चकित चाह सचिकी॥

पा०—१. (सं० पु० प्र०) (का०) (वें०) (प्र०) (शृं० नि०) घाँघरौ...। २. (शृं० नि०) सी...। ३. (शृं० नि०) उठ्यौ। ४. (सं० पु० प्र०) हचि। ५. (का०) (वें०) (प्र०) स्वेद...। ६. (शृं० नि०)...चंदन च्वै। ७. (प्र०) मग...। ८. (शृं० नि०) बारि...।

* शृं० नि० (भि० दा०) पृ० ८६, २५३। ब्र० ना० भे० (मी०) पृ० २११, ११।

कैसें घनस्यॉम वौ बाँम बँन - धाँम आबै,
घाँम के लगे ते काँम-लता जाति पिचिकी।
अति सुकमारि सिसकति भार - हारन के,
बारन के भार कैऊ बार लंक लचिकी॥

कविवर लच्छीराम ने भी यही बात और भी सुंदर रीति से कही है, यथा -

"अंग - राग धरत मरोरति है भौंहें,
पग जाबक रचत संक हियरें अपार-सी।
सीबी करै लाजँन - लपेटी बाइ-मंद-हू में,
ऑनन अमंद - आब ऊपर में झार-सी॥
कबि 'लछिराम' स्याँम-सुंदर तिहारी सोंह,
आबै सुकमारि कैसें कँमल के हार-सी।
बार - घँन - भारँन सों, उरज - पहारँन सों,
लंक परजंक - हू पै लचकति तार - सी॥"

पुनः उदाहरन अजोग ते जोग की कलपना जथा—

कोकँन अति सब लोक ते, सुख-प्रद रॉम-प्रताप।
बँन्यों रहत जिँन दंपतिँन, आठौं पैहैर मिलाप॥

पुनः उदाहरन जथा —

कंचँन - कलित नग लालँन बलित सोंध,[१]
द्वारिका ललित जा की दीपति अपार है।
ताकी बर[२] बल्लभी बिचित्र अति ऊँची
जासों निपटै नजीक सुरपति कौ अगार है॥
'दास' जब-जब जाइ सजनीं सयाँनीं संग,
रुकमिनि राँनी तहँ करति बिहार है।
तब - तब सची, सुर- सुंदरीन संग[३] लहि,
कल्पतरु - फूल लै - लै देति उपहार है॥*

पा०—१. (का०) (वें०) (प्र०) सौध। २. (सं० पु० प्र०) (वे०) ताके पर...। ३. (सं० पु० प्र०) (का०) करु लै, कल्पतरु-फूल लै मिलत उपहार...। (वें०)... सुंदरी निकर लै कल्पतरु फूल लै मिलत...। (प्र०)—सुंदरीन संग में कल्पतरु फूल...। (र० कु०)...सुंदरी निकर लै कल्पतरु फूलहि मिलत उपहार है।

* र० कु० (अ०) पृ० १८८, ५०८।

वि०—"दासजी का यह उदाहरण प्रथम "संबंधातिशयोक्ति (जहाँ असंबंध वस्तुओं में संबंध दिखलाते हुए अतिशयोक्ति की जाय) का है। द्वारिका के कलशों (भवनों के कलसों) का स्वर्ग-लोक के अमरों के आगारों से कोई संबंध नहीं है, यह इस लोक की विभूति है और वह स्वर्ग-लोक की, फिर भी संबंध दिखलाकर उनकी ऊँचाई की अतिशयोक्ति की गयी है...इत्यादि...।

एक बात और, वह यह कि इस संबंधातिशयोक्ति के दोनों भेदों के प्रति बा० ब्रजरत्न दास (अलंकार-रत्न) का कथन है कि "कुछ लोगों ने योग्य को अयोग्य तथा अयोग्य को योग्य कह कर संबंधातिशयोक्ति के भेद माने हैं, पर वे ठीक नहीं ज्ञात होते...।" कारण कुछ नहीं लिखा है, किंतु ब्रजभाषा में संबंधातिशयोक्ति के विषय (लक्षण) के प्रति प्रायः सभी अलंकार-ग्रंथ-रचयिताओं ने इसी 'योग्यायोग्य' को कसोटी ठहराया है। श्री यशवंत सिंहजी के 'भाषा-भूषण' का आदेश संबंधातिशयोक्ति-व्युत्पत्ति के साथ दिया जा चुका है। अन्य, यथा—

"जहँ अजोग है जोग में, जहँ अजोग में जोग।
संबंधातिसयोक्ति यै, भाँखत सब कबि लोग॥"

—ललित लला० (मतिराम)

"संबंतिधासयोक्ति बरनें अजोगै-जोग—जोग में अजोग भेद दूसरौ बिसेख्यौ है॥"

—क० कं० भ० (दूलह)

संबंधातिसयोक्ति सु जाँनों, जहँ अजोग में जोग बखाँनों।
दूजी ताहि कहति कबि लोगू, जहाँ जोग में भनँत अजोगू॥

—पद्मा० (पद्माकर)

इस सूत्रों में आधुनिक अलंकार-ग्रंथ रचयिता भी जैसे—पं० जगन्नाथ प्रसाद 'भानु' (काव्य-प्रभाकर), कन्हैयालाल पोद्दार (काव्यकल्पद्रुम-अलंकार-मंजरी), अर्जुनदास केड़िया (भारती-भूषण) इत्यादि..., भी यही व्युत्पत्ति (विषय) मानते हैं। संस्कृत में भी—

"सबंधातिशयोक्तिःस्यादयोगेयोगकल्पनम्।

*

"योगेऽप्ययोगः संबंधातिशयोक्तिरितीर्यते।"

—आदि सूत्र "योग्यायोग्य" के समर्थन-रूप में मिलते हैं।" अस्तु, दासजी के इस छंद को "रस-कुसुमाकर" रचयिता महाराज प्रतापसिंह ददुआ साहिब अयोध्या ने "अद्भुत-रस" के उदाहरण में संकलित किया है।

तृतीय चपलातिसयोक्ति लच्छन जथा—

निपट उतालो[१] सों जहाँ, बरँनत हैं कछु काज।
सो 'चपलातिसै-उक्ति' है, सुनों सुकबि सिरताज ॥

वि०—"जहाँ निपट (अति, एकदम) उताली (शीघ्रता) से किसी कार्य का वर्णन किया जाय, वहाँ सुकवियों के सिरताजों ने 'चपलातिशयोक्ति' कही है। दूसरा लक्षण है—"जब कारण के बाद विद्युतगति से शीघ्र-ही कार्य का होना कहा जाय—कारण का नाम लेते ही कार्य हो जाय, वहाँ चपलातिशयोक्ति होती है।"

उदाहरन-जथा—

काहू कह्यौ आइ कंसराइ के मिलँन-काज,[२]
लेंन आयौ कोंन्हें कोऊ मथुरा की[३] लंग-ते।
त्यों-हीं कह्यौ आली सों[४] न गयौ हरि, ज्वाब दियौ
मिलें हँम कहा ऐसे मूँढ़ बिन-ढंग ते॥
'दास' कहै ता-सँमें सुहागिँन कौ कर भयौ,
बलया - बिगत दुहूँ बातँन - प्रसंग ते।
आधिक[५] ढरकि गईं बिरहा की छौंमता ते,
आधिक[६] तरकि गईं आँनद - उमंग ते॥

वि०—"दासजी द्वारा दिया गया "चपलातिशयोक्ति" का यह उदाहरण नायिका-भेद के अनुसार "प्रवत्स्यत्प्रेयसी-नायिका" (जिस नायिका का प्रिय प्रदेश—दूसरे देश जाने को प्रस्तुत हो) का भी उदाहरण है। प्रवत्स्यत्प्रेयसी—मुग्धा, मध्या, प्रौढ़ा, परकीया और गणिका भी होतीं हैं। गच्छत्पतिका भी इसे कहते हैं। यही नहीं, इन नायिका-भेद-निष्णातों ने प्रवत्स्यत्प्रेयसी—'प्रियतम के होने वाले वियोग की आशंका से दुखित होनेवाली' को भी माना है, यथा—

"होंनहार पिय के बिरह, बिकल होइ सो बाल।
ताहि 'प्रवच्छतिप्रेयसी,' बरनत बुद्धि-बिसाल॥"
—रसराज (मतिराम)

पा०—१. (प्र०) सीघ्रता...। २. (सं० पु० प्र०) (का०) (वें०) काहू सोध दयौ कंसराइ के मिलाइबे कों, लें न...। ३. (का०) (प्र०) मथुरा-अलंग ते...। (वें०) (सं० पु० प्र०) द्वारिका-अलंगते। ४. (सं० पु० प्र०) (प्र०) सोतौ गयौ वह-अब दैव, मिलें हम कहा ऐसौ मूँढ...। (का०) (वें०)...कहा ऐसौ...। ५. (सं० पु० प्र०) आधी सो...आधी...।

अस्तु, चपलातिशयोक्ति का कवि 'गंग' प्रणीत उदाहरण अति सुंदर है, ब्रजभाषा के छंदों में अग्रगण्य है, यथा—

"बैठी-ही सखिन-संग पिय कौ गँमन सुन्यों,
सुख के सँमूह में बियोग-आगि भरकी।
'गंग' कहै त्रिबिध सुंगध लै बह्यौ सँमीर,
लागत-ही ताके तँन भई बिथा जरकी॥
प्यारी कों परसि पोंन गयौ माँन-सर पै
जु लागत-ही औरें गति भई मानसर की।
जलचर जरे औ सिबार जरि छारि भई,
जल-जरि गयौ, पंक-सूख्यौ, भूमि दरकी॥"

और प्रवस्यत्प्रेसी के दो उदाहरण, यथा—

"बाल सों लाल बिदेस के हेत, हरें हँसिकें बतियाँ कछु कींनीं।
सो सुनि बाल गिरी मुरझाइ, धरी हरि धाइ गरें गहि लींनीं॥
मोंहन-प्रेम-पयोध भयौ, जुरि दीठि दुहूँ की गई रस-भींनीं।
माँगै बिदा को, बिदा को करै, मिलि दोऊ बिदा कों बिदा करि दींनीं॥

*

मिस-ही-मिस जाँन की बात कही, सो सुनें न बिथा सहिजाति भई।
उर-लाडिली के बिरहागि-जरी, सुधि औ बुधि-हू दहि जाति भई॥
ठगि-से रहे 'सेवक' स्याँम लखें, रसनाँ-गति की गहि जाति भई।
इमि नेंन ते नोंखी नदी प्रघटी, बलिहारी, बिदा बहि जाति भई॥

*

"उलझन थी, इत्तराब था, काहिश थी, दर्द था।
जाना तुम्हारा रात क़यामत हुआ मुझे॥"

पुनः उदाहरन जथा—

तेरे जोग काँम यै, राँम के सँनेही, जाँमबंत कह्यौ,
औध-हू के द्यौस दस[1] द्वै रह्यौ।
एती बात सुँनत[2] अधिक[2] हँनुमंत गिरि-
सुंदर तें कूदि कें सुबेल पर ह्वै रह्यौ॥

पा०—१. (वें०) दसा···। २. (का०) एती बात अधिक सुने ते···। (वें०) प्र०) एती बात अधिक सुनत···।

'दास' अति गति कौ चपलता कहाँ लौं कहौं,
भालु-कपि-कटक अचंभे[3] जकि ज्वै रह्यौ।
एक छिन बार-पार लागी पारावार[4] के,
गगँन-मध्य कंचँन-धँनुष ऐसौ ज्वै रह्यौ ॥ *

अस्य तिलक

इहाँ चपलातिसै-उक्ति में उपमाँ कौ अंगागी-भाव संकर है।

वि०—"दासजी के इस छंद को रस-कुसुमाकर-रचयिता ने 'स्थायी-भावांतर्गत 'आश्चर्य' के उदाहरण में संकलित किया है।" आश्चर्य वा विस्मय अद्‌भुत-रस का स्थायी-भाव है, यथा—

"जाकौ थाई 'आचरज', सो उदभुत-रस गाव।
असंभवित जेते चरित, तिन कों लखत बिभाव ॥"
—जगद्‌विनोद (पद्माकर)

अतएव जिस रस के आस्वादन से आश्चर्य प्रकट हो, वहाँ 'अद्‌भुत रस' कहा जाता है। इसके संचारी—हर्ष, शंका वितर्क, मोह, आवेग, स्थायी—विस्मय (आश्चर्य) इत्यादि…हैं, 'जो चौथे उल्लास' में लिखे जा चुके हैं। इस अतिशयोक्ति के उदाहरण में 'रत्नाकर' बा० जगन्नाथदास का निम्नलिखित छंद भी सुंदर है, यथा—

"बोध-बुधि-बिधि के कँमंडल-उठावत-ही,
धाक सुर-धुँनि की धँसी यों घट-घट में।
कहै 'रतनाँकर' सुरासुर ससंक सबै,
बिबस बिलोकत लिखे-से चित्रपट में ॥
लोकपाल दौरँन दसों दिसि हहरि लागे,
हरि लागे, हेरँन सुपात-बरबट में।
असँन नदीस लागे, खसँन गिरीस लागे,
ईस लागे कसँन फनींस कटि-तट में ॥"

यह ध्यान रहे, चपलतिशयोक्ति 'कारण के ज्ञान, अर्थात् देखने-सुनने मात्र से ही तत्त्क्षण कार्य के होने के वर्णन में होती है, अन्यत्र नहीं।'

पा०—३. (का०) (वें०) (प्र०) अचंभा…। ४. (र० कु०) बारापार कों…।

* र० कु० (अ०) पृ० २०,३७।

पुनः उदाहरन जथा--

चकि-चौंकती चित्र-हु के कपि सों, जकि क्रूर-कथाँन सुँनें जो डरै।
सुँनि भूत-पिसाचँन की चरचाँन, बिमोहित ह्वै अकुलाइ परै॥
चलिबौ सुँनि पाँइ दुखें तँन धाँम[1] के, नाँम-हिं सों स्रँम-भूरि भरै।
सो[2]सोय[3]चह्यौ बँन कौ चलिबौ, हिय-रे[5] धिग तू न अजों बिहरै॥

वि०—"यहाँ भी वही बात है, 'जो' सीया (श्रीजनक-नंदिनी जानकी) चित्र-लिखित कपि (बंदर) के देखने से एकाएक चौंक पड़ती हैं, क्रूर-कथाओं के सुनने मात्र से-ही डर जाती हैं, भूत-पिशाचों की चर्चा सुनकर-ही जो विमोहित होकर अकुला जाती है, घर में हो तनिक चलने का नाम सुनकर स्रम से (जिनके) पाव दुखने लगते हैं, वही वन को गमन करना चाहती हैं··· ! रे हृदय, तुझे धिक्कार है (जो यह देखकर भी) नहीं फटता···। इसे चपलातिशयोक्ति की माला भी कह सकते हैं।'

चतुर्थ अतिक्रमातिसयोक्ति लच्छन जथा—

अतिक्रमाँतिसै-जुक्ति'[6]जहँ, कारज-कारँन साथ।
भू[7]परसत हैं साथ-ही, तो सर औ[8]अरि-माथ॥

वि०—"जहाँ कार्य-कारण दोनों एक काल (समय) में ही साथ-साथ हों, वहाँ 'अतिक्रमातिशयोक्ति' अलंकार बनता है, जैसा लक्षण-रूप दोहे की अर्धाली में--'सर (बाण) और अरि (शत्रु) माथ (मस्तक) साथ-साथ पृथ्वी का स्पर्श करते हैं।' अक्रम का शब्दार्थ है--'क्रम-हीन'। अतएव इस अलंकार में कार्य-कारण का उचित क्रम—आगे-पीछे नहीं रहता, दोनों साथ-साथ ही कहे जाते हैं।"

द्वितीय उदाहरन जथा—

राम, असि तेरी अस बैरिंन के[9]कीने[10]हाल,[11]
ताते दोऊ काज इक साथ-हीं सजत हैं।
ज्यों हीं ये कोस कों तजति ह्वै दयाल त्यों-हीं-
वे हू सब निज-निज कोस कों तजत हैं॥

पा०—१. (वें०) धाँम···। २. (स० पु० प्र०) (का०) (वें०) तिहि। ३. (प्र०) तेहि सोंप चह्यौ ··। ५. (प्र०) हियरौ···। (रा० पु० का०) हियरा···। ६. (का०) (वें०) (प्र०) उक्ति ··। ७. (वें०) जा···। ८. (का०) (वें०) (प्र०) अरु ··। ९. (का०) (वें०) (प्र०) कौ ··। १०. (का०) (वें०) (प्र०) कीन्हों। ११ (वें०) हाथ ··।

'दास' ये धारा कों छुजत[1] जब-जब, तब-तब-
वे[2] हूँ सब असुन की धारा कों छुजत[3] हैं।
या कों तू कँपाइ कें भँजाबत है ज्यों-ज्यों, त्यों-त्यों,
वे हू काँपि[4]-काँपि ठौर-ठौरँन भजत हैं ॥*

पंचम अत्युक्ति-लच्छन बरनन जथा—

जहाँ दीजिऐ जोग[5] कों, अधिक जोग[6] ठैहराइ।
अलंकार 'अत्युक्ति' तहँ[7], बरनँत है कबिराइ ॥

वि०—"जहाँ योग्य को अधिक योग्य ठहराया—बताया जाय, वहाँ "अत्युक्ति" अलंकार कहा गया है। कोई-कोई आचार्य शौर्य तथा औदार्य-आदि के अत्यंत मिथ्या-पूर्ण वर्णन होने पर भी इस अलंकार को मानते हैं। साथ-ही—औदार्य, प्रेम, सौंदर्य, विरह-आदि की अनेक अत्युक्तियाँ कही-सुनी गयी हैं।

काव्य-प्रकाश (संस्कृत) में "अत्युक्तिअलंकार" नहीं माना गया है, पर उसकी टीका—'उद्योत'-कार का मत है कि यह 'उदात्त'-अलंकार के अंतर्गत कहा जा सकता है। कुवलयानंद के कर्ता का यह अभिमत है कि जहाँ "समृद्धि का अतिशय वर्णन किया जाय वहाँ 'उदात्त' और जहाँ शौर्यादि का अतिशय वर्णन हो वहाँ "अत्युक्ति"-अलंकार मानना चाहिये। सम्यक् रूप से देखा जाय तो अत्युक्ति का अतिशयोक्ति वा उदात्तालंकार से पृथक् वर्णन करने का कोई औचित्य प्रतीति नहीं होता, अपितु दासजी को भाँति उसे अतिशयोक्ति के दायरे में-ही रखना उचित प्रतीत होता है।"

उदाहरन जथा—

एती अँनाकँनीं कीजै[8] कहा, रघु के कुल में[9] को कहाइ कें नाइक।
आपनों मेरौ धों नाँम बिचारौ,[10] हों दींन[11] अधींन तू दींन कौ दाइक ॥
हों[12] तौ अँनाथ अँनाथँन में, इक[13] तेरौ-ई नाँम, न दूजौ सहाइक।
मंगँन तेरे[14] के मंगँन सौ, कलपद्रुँम आज है माँगिबे लाइक ॥

पा०—१. (का०) (वें०) (प्र०) सजति, (सजत)...। २. (का०) (वें०) (प्र०) वै सकल...। ३ (का०) (वें०) (प्र०) सजत...। ४. (का०) (प्र०) कँपि कँपि...। (वें०) कंपि-कंपि...। ५.-६. (का०) (वें०) (प्र०) जोग्य...। ७. (वें०) तिहि...। ८. (सं० पु० प्र०) (का०) (वें०) (प्र०) कीबौ...। ९ (प्र०). कुल बीच कहाइ...। १०. (वें०)...बिचारि हो...। ११. (का०) हींन । १२. (का०) मैं तौ...। (वें०) मैं हों...। १३. (का०) (वें०) तजि...। १४. (का०) तेरी को मंगन...। (वें०) तेरे यों मंगन...।

* स० स० (भ० दी०) पृ० ४०१, ३७।

वि०—"दासजी प्रणीत यह सवैया "औदार्य की अत्युक्ति कहा जा सकता है।"

पुनः उदाहरन जथा—

सुँमन-मई महि में करै, जब सुकमारि बिहार।
तब सखियाँ सँग-ही फिरैं, हाथ लिएँ कच-भार॥

वि०—"सौंदर्य की 'अत्युक्ति' है। सौंदर्य को—नायिका-सौंदर्य वर्णन में अत्युक्ति अलकार को, विविध भाषा के कवि कोविदों ने बहुत कुछ अपना कर (इसके सहारे) कहा-सुना है, यथा—

'गोल-गोल गोरी गरबीली की बिलोकि ग्रीव,
सख सकुचाइ जाइ सिंध में तच्यौ करै।
पीक-लीक-दीखति गिलति गल-गोरे कल-
कठ सँमता-लों कूकि कोकिल पच्यौ करै॥
बिँन-हीं बिचारे सुनि सैहजै उचारे मृदु-
बचँन-बिचारे-कबि रचनाँ रच्यौ करै।
भारी भई भीर वा अहीर बृषभाँन-भोंन,
बीर, बरसाँने स्याँम-बेद सौ बच्यौ करै॥

*

"छाले-परिबे के डरँन, सकै न हाथ छिबाइ।
झिझकति हिऐं गुलाब के, झँवा झँवावति पाँइ॥"

*

"शानों पै ज़ुल्फ़, ज़ुल्फ़ में दिल, दिल में हसरतें।
इतना तो बोझ सर पै, नज़ाकत कहाँ रही॥"

अथ अत्यंतातिसयोक्ति लच्छन जथा—

जहँ कारज[1] पैहलें सधै,[2] कारँन पीछें होइ।
'अत्यंतातिसै-जुक्ति' तहँ,[3] बरँनत हैं सब कोइ॥

वि०—"जहाँ कार्य प्रथम और कारण तदनंतर हो, कार्य के बाद कारण उत्पन्न हो—कारण के प्रथम-हो कार्य हो जाय, वहाँ "अत्यंतातिशयोक्ति" कही जाती है। स्वभावतः कारण के बाद कार्य हुआ करता है, पर इसमें विपरीत कार्य के बाद कारण का होना दिखलाया जाता है।"

पा०—१ (का०) (वें०) (प्र०) जहाँ काज...। २. (रा० पु० प्र०) सरै...। ३. (का०) (वें०) तिहिं। (प्र०) तेहिं...।

उदाहरन जथा—

जात[1] सबै हुते माघ की रात, निदाघ[2] के द्यौस कौ साज-सजावते।
फेरि विदेस कौ नाँम न लेते, जो[3] स्याँम दसा यै देखँन पावते॥
'दास' कहा कहिऐ सुँनि-हीं-सुँनि, पीतँम आवते, पीतँम आवते।
जात भयौ[4] पैहलें तँन[5]-ताप, औ पीछें मिलाप भयौ मँन-भावते॥

वि०—"दासजी का यह उदाहरण जहाँ "अत्यंतातिशयोक्ति" का उत्तम उदाहरण है, वहाँ नायिका-भेदानुसार "आगमप्यत्पतिका नायिका" (जिसका प्रियतम विदेश से आनेवाला हो, अथवा उसके आने की बात सुन कर प्रसन्न होने वाली) का है। इसे आगच्छत्पतिका नायिका भी कहते हैं। आगमप्यत्पतिका वा आगत्पतिका नायिका के प्रति ब्रजभाषा-रीति ग्रंथों में मतभेद है। कोई इन्हें प्रथक-प्रथक् और कोई इन्हें एक-ही मानता है। इन प्रथक् मानने वाले आचार्यों में—सैय्यद गुलाम नबी 'रसलीन' प्रधान हैं। दासजी भी इसी मत के अनुयायी हैं। अतएव रसलीन ने "आगतपतिका" नायिका के आगमप्यत्पतिका, आगच्छत्पतिका एवं आगतपतिका रूप तीन भेद माने हैं। यही नहीं, आपने इस नायिका के साथ—'संजोग-गर्विता आगतपतिका' रूप से एक नया भेद और माना हैं तथा लक्षण दिया है—

"प्रिय आयौ परदेस ते, गरब करति जो बाल।
सो "संजोगिनिगरबता", बरनत बुद्धि-बिसाल॥"

—रस-प्रबोध

अस्तु, जिस (नायिका) का प्रियतम विदेश से आकर मिल गया हो, वह 'आगतपतिका' जो प्रियतम को (केवल) आया हुआ-ही सुने, वह- आगच्छत्पतिका' और जिसका प्रिय विदेश से आनेवाला हो—जिसके आने की बात-ही सुनी हो, वह "आगमप्यत्पतिका" नायिका कही गयी है। उदाहरण, यथा—

"प्रिय-आगम सुनि पथिक-मुख, उँमग्यौ अंग सँनेह।
नख ते सिख लों बाल की, भई चीकनीं देह॥"

और सामान्या (गणिका) आगमप्यत्पतिका नायिका का उदाहरण और भी सुंदर है, जैसे—

"आवत सुनि परदेस ते, धनीं मित्र अति आस।
बारबिलासिनि कें भयौ, बारंबार बिलास॥"

—रस-प्रबोध

पा०—१. (का०) (प्र०) जातें...। २. (का०) निदाह...। ३. (वें०) सु...। ४. (सं० पु० प्र०) (वें०) भई...। ५. (वे०) वह ताप तौ, पीछं...।

रसलीन-कृत ये दोनों दोहा वास्तव में 'अत्यंतातिशयोक्ति' अलंकार से अलंकृत ब्रजभाषा-साहित्य की अमूल्य निधि हैं। द्विजदेव ने भी इस अलंकार से अलंकृत उक्त नायिका का वर्णन किया है, और खूब किया है, यथा—

"बादि-ही चंदँन चारु घसै, घँनसार घनों घिसि पंक बनावत।
बादि उसीर-सँमीर चँहै, दिंन-रैंन पुरैंन के पात-बिछावत॥
आप-ही ताप मिटी 'द्विजदेव' सुदाघ-निदाघ की कौंन कहावत।
बावरी, तू नहिं जाँनति आज, मयंक-लजावत मोंहँन-आवत॥"

*

"न पूछो कुछ शबे-वादा, बला की इन्तज़ारी है।
सदा पर काँन, दर पर आँख, दिल में बेकरारी है॥"

कोई शायर

अतिसयोक्ति के अन्य-भेद कथन जथा—

"'अतिसयोक्ति' संभावनाँ, संकर करें-हुँ[1] निबाहु।
उपमा औरु अपह्नुत्यौ, रूपक-उत्प्रेच्छाहु॥

अथ प्रथम सभावनातिसैउक्ति उदाहरन जथा—

सागर-सरित-जल[2] जहँ-लौं जलासैं जग,
सब में जौ क्यों[3] हूँ कल-कज्जल रलाब-हीं[4]।
अवनि-अकास भरि[5] कागर गँजाइ कल्पतरु[6]
कलँम सुँमेर-सिर बैठक बनाब-हीं[7]॥
'दास' दिंन-रैंन कोटि-कलप लौं सारदा सहस-
कर ह्वै जौ लिखबे में[8] चित्त कों चलाब-हीं।
होइ हद काजर-कलँम-कँगारँन[9] कौ,
तऊ[10] गुपाल-गुँन-गँन कौ हद नहिं पाब-हीं॥

पा०—१. (का०) (वें०) करौ···। (प्र०) वरहु··। २. (का०) (वें०) (प्र०) सर···। ३. (का०) (वें०) (प्र०) के हूँ किल कज्जल···। ४. (का०) (वें०) (प्र०) रलावई। ५. (वें०) भरी···। ६. (का०) कमलकुस मेरु सिर···। (वें०) कलमकुस मेरु सिर···। (प्र०) ··अकास होइ कागद कलपतरु—कलम सुमेर···; ७. (का०) (वें०) (प्र०) बनावईं। ८ (का०) (वें०) ही चित्त लावई। (प्र०)··· चितलावईं। ९. (का०) कागदन की। (वें०) कागजन कौ···। (प्र०) कागरन कौ। १०. (का०) (प्र०) तऊ न हद पावईं। (वें०) तऊ न हद पावईं।

वि०—'यहे दासजी का उदाहरण 'संभावना' को लेकर अतिसै (अतिशय) उक्ति कही गयी है। यह सूक्ति, संस्कृत की—

"असति गिरिसमस्या कज्जले सिंधुपात्रे,
सुरवरतरुशाखा लेखनीपत्र मूर्वीम्।
लिखितयदि गृहीत्वा शारदा सर्वकाले,
तदपि तव गुणानामीशपारं न याति॥"

सूक्ति के सहारे, जरा-से हेर-फेर—'ईश के स्थान पर गोपाल,' को लेकर हुई है, फिर भी अपने बाँकपन में कम नहीं है। संभावना की पराकाष्ठा है।

अथ उपमा-अतिसयोक्ति लच्छन जथा—

बुधि-बल ते उपमाँन पै, अधिक-अधिकई होइ।
सो[1] 'उपमाँतिसै-जुक्ति है,' 'प्रौढ-उक्ति' है सोइ॥

वि०—'जहाँ बुद्धि-बल से उपमान पर अधिकाधिक बल (जोर) दिया जाय, अर्थात् उत्कर्ष के जो कारण न हों उन्हें भी कारणों की कल्पना की जाय, तब वहाँ 'उपमातिशयोक्ति' अथवा 'प्रौढोक्ति' कहा जाता है। प्रौढोक्ति में उक्ति प्रौढ़ होती है—बढ़कर कही जाती है। यहाँ बढ़ाकर कहने के लिये उत्कर्ष के अहेतु को उत्कर्ष का हेतु कहा जाता है। किसी वस्तु के उत्कर्ष-वर्णन में जो हेतु न हो उसे भी हेतु मानकर वर्णन किया जाता है, जैसा दासजी के निम्न-लिखित उदाहरण में।'

उदाहरन-जथा—

'दास' कहै लसैं[2] भादों-कुहू की, अँध्यारी-घटा-घँन-से कचकारे।
सूरज-बिंब में ईंगुर बोरे, बँधूक-से हैं अधरा अरुनारे॥
वाड़व[3] आँच ते ताए-बुझाए, महा बिष के जँम जी-कै सँवारे।
माराँन-मंत्र से बीजुरी-साँन, लगाए[4] नराच से नेंन तिहारे॥ *

वि०—'यहाँ दासजी-द्वारा वर्णित कामिनी (नायिका) के कच (बाल), उसके अरुणारे अधर और नयनों का वर्णन है, उत्कर्ष के तद्‌तद कारण—बाल, अधर और नयनों के वे नहीं जो कहे गये हैं, अपितु उनसे उपमान

पा०—१. (सं० पु० प्र०) (का०) (वें०) तव उपमा-अत्युक्ति है। २. (का०) (वें०) (प्र०) लगे। ३. (का०) बाड़ौ की आँच ते ताप…। (वें०) बाड़ौ कि आँच…। (मं० मं०) बाड़ौ की आँच के ताए-बुझाए…। ४. (का०) (प्र०) लगें ये…।
* म० मं० द्वि०-कलिका (अजा०) पृ० ६,१७।

(बाल-अधर-आँख) कहीं अधिक काले, अरुण और बाण से (पैने) हैं, फिर भी उन्हें—भादों कुहू को०···आदि को, उनके उत्कर्ष के कारण कल्पना किये गये हैं, जो वास्तव में नहीं हैं।'

'दासजी ने यह अलंकार रसगंगाधर और कुवलयानंद के अनुसार प्रथक् रूप से माना है। काव्यप्रकाश की टीका उद्योत्कार का कहना है कि इस अलंकार का विषय संबंधातिशयोक्ति के अंतर्गत आ जाता है, इसलिए इस (उपमातिशयोक्ति) का प्रथक् वर्णन उचित नहीं, क्योंकि—

"मखतूल, नीलमनि, चंचरीक, सबकी उपमा को पेलें हैं।
मुख-सरद-चद से लगी हुई क्या संबुल की-सी बेलें हैं॥
लहराती हुई नजर आईं दिल में जहरों की रेलें हैं।
रुखसार-हेम के थालों पर, दो चढ़ी नागनी खेलें हैं॥"

*

कामिनियों के नेत्र-कमलों पर कवियों ने बड़ी-बड़ी उड़ाने भरी हैं, कलेजे निकाल-निकालकर रख दिये हैं। दो उदाहरण, यथा —

"कंजँन-खंजँन-गंजँन हैं, अलि अंजँन-हूँ मद-मंजँन बारे।
ए कजरारे, ढरारे, पियारे, बिसारे न जात बिसारे, बिसारे॥
अंचल-ओट अखारे में खेलत, तारे निहारे हैं चंचल-तारे।
सोंम-सुधा-सर के मधि डोलत, माँनों मींन भए मतवारे॥"

*

"ऐसे दीवाने हों, सर संग से फोड़ें अपना।
कभी बादाम जो देखें तेरी प्यारी आँखें॥"

*

'अँमी-हलाहल - मद-भरे, सेत-स्याँम - रतनार।
जियत-मरत-झुकझुक परत, जिहि चितवन इकबार॥'

सापह्नवातिसयोक्ति लच्छन जथा—

जँह दीजे गुँन और कौ, औरहिं में ठैहराइ।
'सापह्नुति-अत्युक्ति'[१] तहँ[२], बरँनत हैं कबिराइ॥

वि०—'जहाँ और के गुणों को और—अन्य में ठहरा दिया जाय, अपह्नव (छिपाने) के लिये जहाँ अतिशयोक्ति की जाय (कही जाय), वहाँ "सापह्नवातिशयोक्ति' कहते हैं।

पा०—१. (वें०) अत्योक्तितिहिं··· । २. (का०)···तिहिं । (प्र०) अतिशयोक्ति· सापन्हु तिहिं··· ।

अस्य उदाहरन जथा—

तेरे-ही[1] नींके लसें[2] मृग-नेंन[3], औ[4] तो-ही कों नींकें[5] सुधाधर मॉंनें ।
तो-ही ते[6] होत निसा हरि कों[7], वे[8] तोहिऐ कलानिधि कॉंम की जॉंनें ॥
तेरे[9] अनूँपम-ऑंनन की, पदवी सब[10] वाहि कों देति अयॉंनें[11] ।
तू-ही है बॉंम गुबिंद कों रोचक[12], चंदै तौ मति-मंद बखॉंनें ॥*

अस्य तिलक

पर्जस्यापह्नुति 'हेतु' प्रघट करत है, इहाँ नाहीं ।

वि०—"दासजी का यह उदाहरण "मानिनी नायिका" के प्रति सखी की उक्ति है । मानिनी—अपने प्रिय को अन्य नायिका की ओर आकर्षित जान ईर्ष्या से मान करने वाली को कहते हैं । इसे साहित्य-रसिक "मानवती" भी कहते हैं, यथा—

"लखि नाइक-औगुँन, करत, जो इरखा-करि मॉंन ।
'मानवती' ता कों कहत, जे कबि बुद्धि-निधॉंन ॥"

—रसिक-विनोद

अस्तु, मान तीन प्रकार से प्रकाशित किया जा सकता है, यथा—

"तींन-भाँति पिय सों करति, मॉंन-कोप परकास ।
मुख-परि, कै पीछें, किधों चुप ह्वै रहै उदास ॥"

—रसलीन

मानिनी नायिका नहीं, अपितु उस (नायिका) के मान की शोभा पर अष्ट-छाप की छाप से अलंकृत श्रीनंददास जी का एक पद निरखिये । ओह.....कितना सुंदर है, कि कुछ कहा नहीं जाता, यथा—

"पैहलें तौ देखौ आइ मानिनी की सोभा लाल,
पाछें तें मनाइ लीजो प्यारे-हो गुबिंदा ।
कर पर धर कर कपोल, प्यारी रही नेंन-मूंदि,
कँमल-बिछाइ मॉंनों सोयौ सुख चंदा ॥

पा०—१. (का०) (प्र०) तेरौ-ई...। २. (वें०) (र० सा०) लख्यौ...। ३. (का०) (वें०) (प्र०) नैनन...। ४. (का०) (वें०) (प्र०) तोही कों...। (रा० पु० नी० सी०) जु तोही कों...। ५. (प्र०) सत्र। (र० सा०) सत्य...। ६. (का०) (वें०) (प्र०) सों...। ७. (र० सा०) की...। ८. (का०) (वें०) (प्र०) हम...। ९. (का०) (प्र०) तेरौ...। १०. (का०) (वें०) (प्र०) (र० सा०) वोहि कों सब देति...। ११. (वें०) (र० सा०) सयानें। १२. (का०) (वें०) (र० सा०) लोचन। (रा० पु० नी० सी०) रोचन।

* र० सा० (भि० दा०) पृ० १५ ।

रिस-भरी भोंह ज्यों भोंरा-से भरबरात,
इंद-तर आयौ मकरंद-हित अरबिंदा ।
'नंददास'-प्रभु ऐसी काहे कों रूसैरे बाल,
जाके मुख देखे ते मिटत दुख-दंदा ॥"

पद की व्याख्या अनावश्यक है, राग 'अड़ाने' की जोरदार स्वाभाविक ऐंड पद-पद और शब्द-शब्द से बरस रही है ।

"सर उठाओ, बुत बने बैठे हो क्यूं ?
मानो, मान जाओ, खुदा के वास्ते ॥"

जैसा कि पूर्व में 'रसलीन' ने कहा है—मान प्रकट करने के तीन—"मुख-नरि, कै पीछें, किधों चुप ह्वै रहै उदास" प्रमुख प्रसाधन हैं। उसी प्रकार मान भी "लघु, मध्यम और गुरु रूप से तीन प्रकार का होता है और उसके निवारण के उपाय भी तीन-ही होते हैं, यथा—

"सैहजै हाँसी-खेल में, बिनै-बचँन सुँन काँन ।
पाँइ-परें तिय के मिटै, लघु, मध्यम, गुरु-माँन ॥

—भाषा-भूषण

लघु मान के वर्णन में किसी कवि की यह अति अनूठो उक्ति है, ब्रज-भाषा-साहित्य में इसकी जोड़ नहीं है, जैसे—

माँनी न माँनवति भयौ भोर, सु सोच ते सोइ गयौ मन भाँवन ।
तिहिं ते सास कही, दुलही, भई बार कुँमार कों जाहु जगावँन ॥
माँन कौ रौस, जगैवे की लाज, लगी पग नूपुर पाटी बजावँन ।
सौ छबि-हेरि हिराइ रहे हरि, कोंन कौ रूसिवौ काकौ मनावँन ॥"

रूपकातिसयोक्ति लच्छन जथा—

बिदित जाँन उपमाँन[१] कों, कथँन काव्य में देखि ।
'रूपकातिसै-जुक्ति' सो, बर्न[२] एकता लेखि ॥

वि०—"जहाँ उपमेय का कथन न कर केवल उपमान के कथन-द्वारा उपमेय का वर्णन किया जाय, उपमेयोपमान दो पदार्थ होने के कारण और उनमें भेद होते हुए भी उपमेय का कथन न कर केवल उपमान का-ही कथन—वर्णन

पा०—१. (सं० पु० प्र०) (का०) (वे) उपमाहिं...। २. (रा० पु० प्र०) (रा० पु० का०) बर्न्य...।

किया जाय, वहाँ—"रूपकातिशयोक्ति" कही जाती है। दासजी का कहना है कि "जहाँ प्रसिद्ध काव्य-गत उपमान का ही कथन हो, उसी के द्वारा उपमेय का लक्ष्य कराया जाय वहाँ उक्त अलंकार कहा जायगा।

रूपकातिशयोक्ति और रूपक के सामंजस्य (समानता) पर अलंकाराचार्यों का कहना है कि "रूपक में उपमेयोपमान दोनों कहे जाते हैं, वहाँ अभेद न होने पर अभेद मान लिया जाता है, रूपकातिशयोक्ति में केवल उपमान के कथन से अभेद न होने पर भी अभेद निश्चय-सा होता है, क्योंकि यहाँ केवल उपमानों का ही उल्लेख होता है, उन्हीं में उपमेयों का निगरण (निगल जाना) हो जाता है। अभेद-ज्ञान निश्चयात्मक यहाँ है।

रूपकातिशयोक्ति के साहित्यकारों ने दो भेद माने हैं—"शुद्ध, और सापह्नव"। जहाँ अपह्नव की रीति के बिना उपमान का उल्लेख हो, वहाँ "शुद्ध" और जहाँ अपह्नव की रीति से उपमान का उल्लेख हो—वर्णन हो, तब वहाँ "सापह्नव" कही जायगी। यही नहीं, साहित्यकारों का यह भी कथन है कि "कभी-कभी रूपकातिशयोक्ति और वाचकोपमेयलुप्ता के उदाहरणों में भी अधिकतया साम्यता नजर आ जाती है, अस्तु "रूपकातिशयोक्ति" में जहाँ उपमान प्रसिद्ध और उसका वर्णन लोकोत्तरता पूर्वक रहता है, वहीं वाचकोपमेयलुप्ता में उपमान का धर्म के साथ उल्लेख रहता है। यही इनकी भिन्नता है।"

अस्य उदाहरन जथा—

'दास' देव-दुरलभ सुधा, राहु-संक निरसंक।
सकल-कला कब ऊगि है, बिगत कलंक मयंक॥

वि०—"दासजी का यह शुद्ध रूपकातिशयोक्ति" का उदाहरण है, बिना अपह्नव की रीति के उपमान चंद्र का कथन है, उपमेय 'मुख' का नहीं, अतएव शुद्ध है।

पुनः उदाहरन जथा—

चंद में ओप अँनूप बढ़ै, लगी, रागँन में[1] उंमड़ी अधिकाई।
सो ती कलिंदजा की कछु होती,[2] जो कोकँन के दरम्याँन लखाई॥

पा०—१. (का०) (वें०) (प्र०) की...। २. (का०) (वें०) (प्र०) होति है, कोकन...।

दास जू' कैसी चँमेलो खिली,[1] लगी फैलि[2] सुबास-हु की रुचि राई।
खंजँन काँनन-ओर चले, अवलोकत-ही[3] हरि साँझ सुहाई॥

वि०—"रूपकातिशयोक्ति का उदाहरण महाराज रघुराज सिंह रीवाँ का भी बड़ा सुंदर है, यथा—

"जुगल कुहू के बीच देखो रेख जोंन्ह-ही की,
ताके अध-अरध इंदु-अंक में अवनि जात।
सावक-भुजंग जुग जोहत जुगल ओर,
जलचर जुगल जलूस के न ठैहरात॥
'रघुराज' आरसी हू ताके बीच बारिज हू,
सुक-मुख लींनें एक मध्य में सु जलजात।
बिंबफल-भीतर बिलोके हैं अँनार-बीज,
कौतुक सकल ससि-मंडल में दरसात॥"

अथवा—

"राअरे बिरह सुँनों साँवरे-सँलोंने गात,
जो-जो ब्रज जात तिन्हें कौतुक मिलत हैं।
काकली न सुँनीं परै कुंज की गली के बीच,
बिंब-मुरझाइ कुंद-कली न खिलत हैं॥
देखिऐ अचंभौ चलि चंद-बंम के बतंस,
हंस हारि रहे कहूँ नेंक न हिलत हैं।
कँनक-लता पै कंज सूखि रह्यौ कृपा-पुंज,
ता पै खंजरीट बैठि मोंती ऊगलत हैं॥"

अथ उत्प्रेच्छा में अतिसयोक्ति जथा—

'दास' कहाँ-लों कहों में बियोगिँन के तँन-तापँन की अधिकाई।
सूखि गए सरिता, सर, सागर, सर्ग, पताल[4] धरा-अकुलाई॥
काँम के बस्य भयौ[5] सिगरौ जग, जाते भई मँनों संभु-रिसाई।
जारि कें फेरि सँवारँन कों, छिति के हित पावक-ज्वाल बढ़ाई॥

वि०—"दासजी का यह छंद "दूती" कृत कर्म विरह-निवेदन का उदाहरण भी कहा जा सकता है। दूती—

पा०—१. (वें०) खुली। (प्र०) खुले...। २. (का०) फैले। (वें०) (प्र०) फैली...। ३. (सं० पु० प्र०) (का०) है। (वें०) हों...। ४. (का०) (वें०) अकास...। (सं० पु० प्र०), औनि-अकास-धरा...। ५. (का०) (वें०) भये सिगरे जग।

"जो तिय है दूतत्व में, अतिसै परँम प्रबींन।"

और कार्य, यथा—

"उभै काज दूतींन के, सब कबि किए बखाँन।
बिरह-निबदँन एक अरु संवट्टँन सुखदाँन॥"

—शृंगार-सुधाकर

दासजी के इस छंद की भाँति, किसी अज्ञात कवि का यह छंद भी 'विरह-निवेदन' रूप सुंदर है, जैसे—

"आज बरसाँने हौं बिलोकिबे कों गई सोतौ,
नई दसा देखी में अनंग आगि-बोरी की।
लूक-सी लगति पोंहँचति परिसर पास,
पैंठि भौंन-भीतर जरै सो भाँति होरी की॥
राज करौ गोकुल मिजाज रावरे कौ यह
अकह-कहाँनी-सी करी है चित-चोरी की।
जरिजाइ हलक, फलक परें ओठँन में,
बिरह-बिथा की कथा कहौं जो किसोरी की॥"

अथ उदात्त अलंकार लच्छन जथा—

संपति की अत्युक्ति कों, सब[1] कबि कहै 'उदात'।
जहँ उपलच्छँन बड़ेन कौ, ताहू की[2] यै बात॥

वि०—'जहाँ संपत्ति की अत्युक्ति कही जाय, लोकोत्तर समृद्धि का वर्णन किया जाय, अथवा महान् पुरुषों का चरित्र वर्ण्य-वस्तु का अंग मात्र कहा जाय, तब वहाँ 'उदात्त' अलंकार कहा जाता है। उदात्त का शब्दार्थ है—उच्च, श्रेष्ठ, विशद और दयावान।

उदात्त अलंकार में संपत्ति का वर्णन इतना श्रेष्ठ हो कि वह इह लोक में संभाव्य न हो, अर्थात् लोकोत्तर हो और महान् पुरुषों का उच्च चरित्र वर्णनीय वस्तु का अंगमात्र होकर उसकी लोकातिशयता प्रकट करे, इत्यादि'''। अस्तु, इस प्रकार 'उदात्त' दो प्रकार का - साहित्य-मर्मज्ञों ने कहा है। प्रथम उदात्त—'अतिशय समृद्धि वा संपत्ति के वर्णन में' और दूसरा 'महान् आत्माओं के चरित्रों को अंगीभूत बनाकर कहने में'। दासजी ने दोनों के ही उदाहरण क्रमशः दिये हैं।

पा०—१. (का०) (वें०) सुकबि कहैं उदात। २. (वें०) कौ'''।

प्रथम उदात्त कौ उदाहरन जथा—

जगत-जँनक बरनौं कहा, जँनक-देस कौ ठाठ।
सैहैल-मैहैल हीरँन बने, हाट, बाट, करहाट॥

दूसरौ उदात्त बड़ेन कौ उपलच्छन जथा—

भूषित-संभु-स्वयंभु-सिर, जिनके पग की धूर।
हठिकर पाँइ झँवाबती,[1] तिंन सौं तिय मगरूर॥

वि०—'उदात्त अलंकार के उदाहरण रूप 'रसखाँन' और कवि लच्छीराम के छंद भी सुंदर हैं, यथा—

"ब्रह्म मैं ढूढ्यौ पुराँनन-बेदँन, छंद सुँने चित चौगुने चायँन।
देख्यौ-सुँन्यों न कबौं-कित-हूँ, वौ कैसौ सरूप, औ कैसे सुभायन॥
हेरत-हेरत हारि गयौ, 'रसखाँन' बतायौ न लोग-लुगायँन।
देख्यौ अहा, वौ कुंज-कुटीर में, बैठ्यौ पलोटत राधिका-पायँन॥"

*

"जा मैहमाँ कों सँवारें बिरंच, महेस हु बेद न ब्रह्म-बिचारौ।
सारद, नारद, सेस, गँनेस, सुरेस-हु कौ मन हेरत हारौ॥
माँनस-मंजु मुनीसँन के, 'लछिराँम' मराल सरूप सँवारौ।
ता हरि कों गुजरैटी कहैं, मिल्यौ काँमरी बारौ अहीर कौ बारौ॥

पुनः उदाहरन जथा—

महाबीर पृथवी-पति-दल के चलत,
ढलकत बैजंती[2] खलकत जो[3] सुरेस कौ।
'दास' कहै बलकत महाबल-धीरँन[4] कौ,
धलकत[5] उर में महीप देस-देस कौ॥
फलकत बाजिन[6] के भूरि धूरि-धारा उठै,
तारा ऐसौ झलकत (जु) मंडल दिनेस कौ।
थलकत भूँमि, हलकत भूँमिधर,[7]
छलकत सातौं सिंध (औ) दलकत फँन सेस कौ॥

पा०—१. (नें०) भुवावती…। २. (सं० पु० प्र०) (का०) (वें०) बैजयंत…। ३. (का०) (वें०) ज्यों…। (रा० पु० प्र०) ज्यौ…। ४. (वें०) बल-धीरन के। (सं० पु० प्र०) बलकत बल-महाबीरन के…। ५. (प्र०) धरकत…। ६. (प्र०) पारन…। ७. (वें०) धर…।

अथ अधिक अलंकार बरनन जथा—

अधिकाई[1] आधेइ की, जहँ अधार ते होइ।
औ अधार आधेइ ते, 'अधिक' अधिक ए जोइ[2] ॥

वि०—"जहाँ बड़े आधेय और आधार की अपेक्षा क्रमशः अल्प आधार और अधिक आधेय का वर्णन किया जाय, वहाँ 'अधिक' अलंकार कहा जाता है। यह दो प्रकार का—"आधेय की अपेक्षा आधार, तथा आधार की अपेक्षा आधेय का अधिक वर्णन-रूप" होता है। अर्थात्, जहाँ कवि-प्रतिभा की कल्पना से—चमत्कार से, न्यूनाधिकता का वर्णन हो वहाँ यह अलंकार होगा, अन्यत्र—वस्तुतः न्यूनाधिकता के वर्णन में नहीं।

दंडी ने अपने काव्यादर्श में इस अलंकार को अतिशयोक्ति के "अंडर-ग्राउंड" माना है, तदनुसार दासजी ने भो।"

प्रथम अधिक उदाहरन जथा—

सोभा नंद कुमार को, पारावार अगाध।
'दास' ओछरे[3] दृगँन-मधि,[4] क्यों भरिऐ भरि साध ॥

वि०—'दासजी से पूर्व गो० तुलसीदासजी भी इसी अलंकार की ओट में एक बड़े मार्के की बात कह गये हैं, जैसे—

"ब्यापक ब्रह्म निरंजँन-हुँ, निरगुँन बिगत बिनोद।
सो अज प्रेंम औ भक्ति-बस, कौसिल्या की गोद ॥"

द्वितीय अधिक उदाहरन आधेइ ते आधार अधिक—

बिस्वामित्र[5] मुँनीस को, मैंहमाँ अपरंपार।
करतल-गत आँमलक-सँम, जा[6] कों सब संसार ॥

पुनः उदाहरन जथा—

सातों समुद्र घिरी बसुधा, औ[7] सातों गिरीस धरे सब ओरें।
सातों[8]-ही दीप[9] सबै[10] दरम्याँन में, होंइगे खंड किते तिहिँ ठोरें ॥
'दास' चतुरदस[11]-लोक प्रकासित, हैं ब्रह्मंड इकीस ही जोरें।
एते-हिँ[12] में भजि जइहै कहाँ खल, श्री रघुनाथ सों बैर-बिथोरें ॥

पा०—१. (वें०) अधिकारी...। २. (का०) (वें०) (प्र०) दोइ। ३. (वें०) बोछरे...। ४. (का०) (वें०) (प्र०) मधि। ५. (वें०) बेस्यामित्र...। ६. (का०) (वें०) जिन...। (प्र०) जिनके...। ७. (का०) (वें०) (प्र०) यह...। ८. (का०) (वें०) (प्र०) सात...। ९. (का०) (वें०) (प्र०) दीप...। १०. (का०) (वें०) धरे...। ११. (का०) (वें०) चतुरदसै...। १२. (का०) ही...।

अस्य तिलक

इहाँ व्यंगारथ ते राम कौ अमल जस जगते अधिक है, कह्यौ ।

पुनः उदाहरन जथा—

सुँनियत जा के उदर में, सकल लोक-बिस्तार ।
'दास' बसैं तौ उर सदाँ,¹ सोई नंद-कुमार ।।

वि०—"दासजी के इस दोहे के साथ 'रसलीन' कवि के निम्न-लिखित दोहे भी देखने योग्य हैं—

"तींन पेंड जाके अहो, त्रिभुवन मे न सँमाहिँ ।
धँनि राधे, राखति तिन्हें, लोयँन-कोयँन-माँहिँ ।।

*

तुँम गिरि लै नख पै धरयौ, हँम तुँम कों द्दग-कोर ।
इन दुहूँ में तुम-हीं कहौ, अधिक कियौ को जोर ।।

*

घट - बढ़ इनमें कोंन हैं, तुही साँवरे ऐंन ।
तुम गिरि लै नख पै धरयौ, हँम गिरिधर लै नेंन ।।"

और हठीजी कहते हैं—

गिरि-पति लागी मेरु, मेरु-पति लागी भूँमि,
भूँमी-पति लागी कौल-कच्छप के चारी सों ।
दिग-पति लागी दिगपालँन के हाथ 'हठी',
सुर - पति लागी सुरराज छत्रधारी सों ।।
दाँन-पति करँन, करँन - पति लागी बलि,
बलि-पति लागी कैलास के बिहारी सों ।
तीनों लोक-पति की लगी है बीर ब्रज-पति सों,
ब्रज-पति की लगी है वृषभाँन की दुलारी सों ।।"

अथ अल्प अलंकार बरनन जथा—

अल्प-अल्प आधेइ ते, सूच्छँम होइ अधार ।
"छला छगुनियाँ-छोर कौ, पोंहचेन² करत बिहार ।।"

वि०—"जहाँ अति अल्प (सूक्ष्म) आधेय से बड़े आधार को अल्प

पा०—१. (स० पु० प्र०) कहूँ । २. (प्र०) भुज में...।

(छोटा) वर्णन किया जाय, वहाँ "अल्प" अलंकार कहा गया है। यहाँ लक्षण के अनुसार 'आधार' और 'आधेय' की अल्पता (छुटाई) वर्णन की जाती है।

कुवलयानंद (संस्कृत) में 'अल्प' स्वतंत्र अलंकार माना है, और अन्यत्र दासजी की भाँति "अधिक" के अंतर्गत। अतएव यह अलंकार पूर्व कथित 'अधिक' के द्वितीय भेद के विपरीत बनता है।"

उदाहरन जथा--

'दास' परँम तँन[1] सुतँन-तँन, भौ परमाँन-प्रमाँन।
तहाँ बसत[2] हौ साँवरे, तुँम ते लघु[3] को आँन॥

*

कोऊ कहै करहाट के[4] तंतु में, कोऊ[5] परागँन में अँनुमाँनी।
ढूँढ़ि फिरे[6] मकरंद के बुंद में, 'दास' कहै जलजात न जाँनी[7]॥
छाँमता-पाइ रमाँ ह्वै गई परजंक कहा करै राधिका राँनी।
कौल में दास निबास किए हैं, तलास किऐं-हूँ न पावत प्राँनी॥*

वि०—"दासजी के अल्प-अलंकार-लक्षण के साथ दिये गये उदाहरण—"छला छुगुनियाँ-छोर कौ०" के साथ किसी कवि की निम्न उक्ति भी अति अल्प है, यथा—

"काहि बतावति मुद्रिके, काहि करति परनाँम।
कंकँन की पदवी दई, तुँम-बिँन या कहँ राँम॥"

दासजी ने "कोऊ कहै करहाट के तंतु में०" वाला छंद अपने 'शृंगार-निर्णय' में नायिका की "छामता"--(सूक्ष्मता = दुबली-पतली, कोमल) के उदाहरण में भी दिया है। अतएव उक्त 'छामता' के साथ अन्य कवि का यह 'विरह-निवेदन' रूप छंद अवश्य देखें। कितना सुंदर है, यथा—

"एक हती खीनीं पै ऐते एतौ माँन ठाँन,
भई अति दूबरो बिरह - ज्वाल - जरती।
पास धरौ चंदँन सुबास-ही ते बाढ़ै ताप,
हो तो जो सँमीर तौ उसासँन उसरती॥

पा०—१. (वें०) लघु...। २. (सं० पु० प्र०) तहाँ न बसिऐ साँवरे...। ३. (सं० पु० प्र०) तनु...। ४. (वें०) करहाटक-तंतु...। ५. (का०) (वें०) (प्र०) काहू...। ६. (का०) (वें०) (शृं० नि०) ढूंढहु-री मकरंद...। ७. (का०) (वें०) (प्र०) ग्यानी। (शृं० नि०) जलजा-गुन ग्याँनी।

* शृं० नि० (भि० दा०) पृ० १०८, ३२५।

चंदँन की रेख रही आभा अवसेस सु तौ,
देखत बँनत पै न कहत बनें रती।
स्यावती गुबिंद, अरबिंद की कली में राखि,
जौ न मकरंद - बीच डूबबे ते डरती ॥"

अथ बिसेस अलंकार बरनन जथा—

अँनाधार आधेइ औ एकै ते बहु सिद्ध ।
एकै सब थल बरनिएं, त्रि-बिधि 'बिसेसँन' बृद्ध ॥

वि०—"जहाँ आधार के बिना आधेय की स्थिति विलक्षणता के साथ वर्णन की जाय, वहाँ 'विशेषालंकार' बनता है। विशेषालंकार तीन प्रकार का होता है। अस्तु, जहाँ ज्ञात आधार के बिना आधेय का (प्रसिद्ध आधार के बिना आधेय की स्थिति का) वर्णन किया जाय तब वहाँ प्रथम विशेष और "जहाँ एक-ही वस्तु की अनेक स्थानों में एक-ही समय स्थिति का वर्णन किया जाय तब वहाँ द्वितीय विशेष" तथा "जहाँ कोई कार्य करते हुए दैवात अशक्य कार्य के भी हो जाने का वर्णन किया जाय," वहाँ तृतीय विशेषालंकार माना जाता है।

ब्रज-साहित्य के अलंकार-ग्रंथों में प्रायः "पर्याय" और "विशेषालंकार" के उदाहरण मिले-जुले से मिलते हैं. क्योंकि इन दोनों में एक-ही वस्तु की अनेक स्थलों में स्थिति का वर्णन किया जाता है, किंतु यह ठीक नहीं, पर्याय में एक वस्तु की स्थिति अनेक स्थलों में क्रमशः एक दूसरे के अनंतर वर्णन की जाती है तथा "विशेष" में वह एक-ही काल में कही जाती है—यहाँ एक काल में एक-ही स्वभाव से किसी आधेय की अनेक आधारों में स्थिति वर्णन की जाती है, यथा—

"एकात्मायुगपद्वृत्तिरेकस्यानेक गोचरा।"

—काव्य-प्रकाश (संस्कृत) १३५

प्रथम बिसेस उदाहरन अनाधार ते आधेइ जथा—

सूँम,[1] दाता, सूरौ, सुकबि, सेत फरें[2] आचार ।
बिनौं देह-हूँ 'दास' ए, जीवत[3] इहि[4] संसार ॥

वि०—"प्रसिद्ध आधार के बिना आधेय की स्थिति-वर्णन किये जाने को "प्रथम विशेषालंकार" का विषय माना गया है, अतएव यहाँ सूम से लेकर सुकवि-

पा०—१. (स० पु० प्र०) (वे०) सुभ...। २. (का०) (वे०) (प्र०) करैं...। ३. (का०) जीव तरहि...। ४. (प्र०) येहि...।

आदि की स्थिति देह के बिना भी संसार में कही गयी है, इस लिये यहाँ प्रथम विशेषालंकार है।

दासजी के इस दोहे के कई पाठांतर मिलते हैं, प्रथम जैसे—

"सुभ दाता, सूर-हुँ सुकबि,सेत करें आचार।
बिना देह के 'दास' ए, जीव तरें संसार॥"

और दूसरा —

सूरबीर, दाता, सुकबि, सेत करावँन हार।
बिना देह-हू 'दास' ए, जीवत इहि संसार॥"

पर, बहु हस्तलिखित प्रतियों-द्वारा मान्य पाठ ऊपर मूल में दिया गया है।

दूसरौ उदाहरन बिसेस कौ एक-ही ते बहु सिद्ध जथा—

तिय, तुव तरल-कटाच्छ-सर,[१] सहैं धीर उर-धारि।
सही माँनियो[२] तिँन सहे, तुपक, तीर, तरवारि॥

तीसरे बिसेस कौ उदाहरन एकै सब थल बरनिबौ जथा—

जल में, थल में, गगँन में, जड़-चेतँन में 'दास'।
चल-अचलँन[३] में एक-ही, परमाँतमाँ परकास॥

"इति श्रीसकल कलाधर कलाधरबंसावतंस श्रीमन्महाराज कुँमार श्रीबाबू हिंदूपति बिरचिते 'काव्य-निरनए' प्रत्युक्तादि-अलंकार बरनन नाम एकादशोल्लासः।" (११)

——

पा०—१. (का०) (सं० पु० प्र०) (वें०) जे। (प्र०) ये...। २ (का०) (वें०) सही मान ते सहि चुके,। (प्र०) सही माँनिएँ तिन...। ३. (का०) (वें०) (प्र०) (सं० पु० प्र०) चर-अचरन में...।

बारहवाँ उल्लास

अथ अन्योक्ति-आदि अलंकार बरनन जथा—

अप्रस्तुत परसंस औ प्रस्तुत अंकुर लेखि।
सँमासोक्ति, ब्याजस्तुत्यौ, आच्छेपै अवरेखि ॥

*

परजाजोक्ति-सँमेत किय, षट भूषँन इक ठौर।
जाँनि सकल 'अन्योक्ति' में, सुँनों सुकबि सिर-मौर ॥

वि०—"दास जी ने इस बारहवें उल्लास में अन्योक्ति-प्रधान—"अप्रस्तुत-प्रशंसा, प्रस्तुतांकुर, समासोक्ति, व्याजस्तुति, आक्षेप और पर्यायोक्ति-आदि छह अलंकारों का, उनके भेदों-सहित वर्णन किया है। संस्कृत-अलंकार-साहित्य में "समासोक्ति", जो वहाँ 'अर्थ-वैचित्र्य प्रधान मानी गयी है, के अतरिक्त अन्यों को "अभेद-प्रधान अध्यवशाय-मूलक अलंकारों के प्रथम भेद—"भेद प्रधान" अलंकारों के बाद "गम्य-प्रधान" अलंकारों में गिनाया गया है। इन अन्योक्ति-अलंकृत अलंकारों में दासजी ने प्रथम "अप्रस्तुत-प्रशंसा का वर्णन किया है, जो पाँच प्रकार का है।"

अथ अन्योक्ति-अंतर्गत अप्रस्तुत-प्रसंसा भेद जथा—

कारज-मुख काँरन-कथँन काँरन के मुख काज।
वहुँ साँमान्य-बिसेस द्वै[1], होव ऐस-हीं साज ॥

*

कहूँ सहस[2]-सिर डारि कें, कहत सहस[3] सों बात।
'अप्रस्तुत-परसंस' के पाँच—भेद औदात ॥

वि०—"जैसा दासजी का कथन है—अप्रस्तुतप्रशंसा (जहाँ अप्रस्तुत की प्रशंसा, उसका वर्णन—प्रस्तुताश्रय अप्रस्तुत का वर्णन करना, अप्रस्तुत का इस प्रकार वर्णन करना कि प्रस्तुत स्पष्ट लक्षित हो जाय-इत्यादि...) के पाँच भेद—कार्य-मुख से कारण, कारण-मुख से कार्य, सामान्य का विशेष से, विशेष का सामान्य से

पा०—१. (वें०) (प्र०) है...। २. (का०) (वें०) (प्र०) सरिस। ३ (का०) (वें०) (प्र०) सरिस...।

और सदृश का सदृश से बोध कराने के कारण होते हैं। संस्कृत-साहित्य में इन्हें पूर्वापर-क्रम से—कारण-निबंधना, कार्य-निबंधना, विशेष-निबंधना, सामान्य-निबंधना और सारूप्य-निबंधना, जिसे "अन्योक्ति" भी कहते हैं, नाम दिये हैं।

अप्रस्तुत-प्रशंसा में प्रस्तुत वर्णन के लिये अप्रस्तुत का कथन किया जात है—प्रसंग-गत बात को न कह कर अप्रासंगिक बात के वर्णन-द्वारा प्रसंग-गत बात का बोध कराया जाता है। यह अप्रस्तुत-द्वारा प्रस्तुत का बोध किसी संबंध के बिना नहीं होता, इसलिये अप्रस्तुत-द्वारा प्रस्तुत-बोध के लिये संबंध तीन प्रकार के—(सामान्य-विशेष संबंध, कार्य-कारण संबंध और सारूप्य संबंध) कहे गये हैं। संस्कृत "अलंकार-सर्वस्वकार" का कहना है कि "सामान्य-विशेष संबंध" अर्थांतर-न्यास-नामक अलंकार में भी होता है, किंतु वहाँ इन दोनों (सामान्य विशेष) का कथन शब्द-द्वारा स्पष्ट किया जाता है और "अप्रस्तुत-प्रशंसा" में इन दोनों में से एक का।

संस्कृत-अलंकार-ग्रंथों में अप्रस्तुत-प्रशंसा के और भी—इन पाँचों के अतिरिक्त भी, भेद किये हैं, जैसे प्रथम—"कारण, कार्य, सारूप्य, विशेष और सामान्य-निबंधनादि"...। सारूप्य-निबंधना के—"श्लेष-हेतुक, सादृश्य-मात्र, श्लिष्ट-विशेषण"। इसी प्रकार सादृश्य-मात्र—"अध्यारोप से, अनध्यारोप से और अंशारोप से कही गयी है। अतएव अप्रस्तुत प्रशंसा के 'ग्यारह भेद होते हैं, किंतु मुख्यतः तीन (सामान्य-विशेष, कार्य-कारण और सारूप्य) अथवा पाँच (सामान्य, विशेष, कार्य, कारण और सारूप्य अथवा—सामान्य, विशेष, हेतु, कार्य और सारूप्य-निबंधना) भेद-ही माने हैं। ये सारे भेद काव्य-प्रकाश-कर्त्ता श्रीमम्मट मान्य हैं, जिन्हें परिस्कृत रूप में उन्होंने उद्भट से लिया था। भामह और उद्भट ने कहने को तो अप्रस्तुत की प्रशंसा में प्रस्तुत के अभिधान-द्वारा किसी नये कारणों को गवेषणा नहीं की, अपितु वही घिसे-पिटे मार्ग को अपनाया, जिसे पूर्व के आचार्य प्रशस्त कर गये थे। हाँ, उद्भट के टीकाकार 'प्रतिहारेंदुराज' ने 'काव्यालंकार-सार-संग्रह-वृत्ति' में अप्रस्तुत-वर्णन से प्रस्तुत के प्रत्यायन में एक नये संबंध का उल्लेख अवश्य किया है। जो आगे चलकर प्रशस्त बना—अप्रस्तुत के भेदों का कारण बना। वह संबंध क्या था? उसका विशद निरूपण 'अलंकार सर्वस्व'-कार ने किया। जो तीन प्रकार का था—"०...**त्रिविधश्च संबंधः—सामान्यविशेष भावः सारूप्यं चेति" वचनात्**।" बाद में इसी त्रिसूत्री संबंध को पकड़ कर आचार्य रुय्यक ने 'अप्रस्तुत-प्रशंसा' के—१, सामान्यविशेष-भावरूप के संबंध में, २, कार्य-कारणभावरूप संबंध में, ३, सारूप्य संबंध में तीन भेद और इन तीनों के उपभेद क्रमशः—१, सामान्य से विशेष की प्रतीति में, विशेष से सामान्य की प्रतीति में,

२, कार्य से कारण की प्रतीति में, कारण से कार्य की प्रतीति में, ३. साधर्म्य पूर्वक तुल्य से तुल्य की प्रतीति में, वैधर्म्य पूर्वक तुल्य से तुल्य की प्रतीति में" और निर्माण किये। आचार्य मम्मट ने इन्हीं भेदों को अपनाया, इन्हीं का परिस्कार किया, किंतु अप्रस्तुत से प्रस्तुत के विधान में रुय्यक मान्य ऊपर लिखे विभाजन रूप-त्रिविध संबंधों का उल्लेख नहीं किया। तुल्य से तुल्य की प्रतीति रूप अप्रस्तुत प्रशंसा के विवेचन में आपने कुछ विशेषता अवश्य दिखलायी, जो रुय्यक की की परिभाषा में अस्पष्ट थी—प्रस्फुट नहीं थी। ब्रजभाषा-रीति-ग्रंथ-रचयिताओं ने, जिनमें भाषा-भूषण के कर्त्ता महाराज जसवंत सिंह और मतिराम (ललित-ललाम) आदि प्रमुख हैं, इसके दो-ही भेद माने हैं, यथा—

"अलंकार द्वै भाँति कौ, अप्रस्तुत-परसंस।
इक बरनत प्रस्तुत-बिनाँ, दूजौ प्रस्तुत अंस॥"

—भाषा भूषण

पर चिंतामणि (कविकुल-कल्पतरु), दूलह कवि (कविकुल-कंठाभरण) और पद्माकर (पद्माभरण) ने ऊपर लिखे पाँच भेद माने हैं। दासजी ने प्रथम—प्रस्तुत-अप्रस्तुत, समासोक्ति, लक्षित प्रस्तुतांकुर, व्याजस्तुति-लक्षित प्रस्तुतांकुर, तदनंतर ऊपर लक्षित "अप्रस्तुत-प्रशंसा के—कार्य-करण, सामान्य-विशेष और सादृश्य से निबंधित पाँचों भेद, पुनः प्रस्तुतांकुर और व्याजस्तुति, समासोक्ति, व्याजस्तुति के लक्षण-उदाहरण, अप्रस्तुत-प्रशंसा से व्याजस्तुति की भिन्नता आदि का वर्णन किया है।'

प्रथम प्रस्तुत-अप्रस्तुत बरनन जथा—

कबि-इच्छा जिहिं कथँन की, 'प्रस्तुत' ताकों जाँन।
अँन चाँह्यौ[1] कहिबौ परै[2], सो 'अप्रस्तुत' माँन॥

अतः अप्रस्तुत-प्रसंसा जथा—

अप्रस्तुत के कहति-ही[3], प्रस्तुत जाँन्यों जाइ।
'अप्रस्तुत-परसंस' तिहिं, कहत[4] सकल कबिराइ॥

समासोक्ति-लच्छित प्रस्तुतांकुर* जथा—

दोऊ प्रस्तुत देखिकें[5], 'प्रस्तुत-अंकुर'-लेखि।
सँमासोक्ति प्रस्तुत-हिं ते, अप्रस्तुत अबरेखि॥

पा०—१. (का०) अनचहि हूँ सु कहे परै...। (वें०) अनचाहित-हूँ कहि परै...। २. (प्र०) कहिबे परौ...। ३. (का०) कहत जहँ। ४. (का०) (प्र०) कह-हिं...। * का० मु०—'प्रस्तुतांकुर समासोक्ति लच्छन।' ५. (प्र०) होत जहँ...।

व्याजस्तुति-लच्छन जथा—

इँन में स्तुति-निंदा मिलें, 'व्याजस्तुति' पैह्चाँन।
सब में ए[१] जोजित किऐं, होत अँनेक बिधाँन॥

वि०—'दासजी ने ऊपर लिखे दोहों में 'अप्रस्तुत-प्रशंसा' के विभेद बतलाते हुए प्रथम 'प्रस्तुत-अप्रस्तुत', फिर 'अप्रस्तुत-प्रशंसा', तदनंतर 'प्रस्तुतांकुर' और उस से विकसित 'समासोक्ति' तथा 'व्याजस्तुति' की (मोटे रूप से) उत्पत्ति कही है, जो उनकी नयी सूझ-बूझ को—अलंकारों के वर्गीकरण की सुंदर परिपाटी को, बतलाती है।'

आचार्य मम्मट् ने आपने काव्य-प्रकाश में 'प्रस्तुतांकर' अलंकार का उल्लेख नहीं किया है, समासोक्ति और व्याजोक्ति का वर्णन किया है। समासोक्ति और व्याजस्तुति प्राचीन अलंकाराचार्य संमत हैं। अस्तु, भामह और उद्भटाचार्यों ने समासोक्ति की परिभाषा—'समान विशेषण के सामर्थ्य से प्रकृत-परक-वाक्यों के द्वारा अपकृत अर्थ के अभिधान' को माना है। रुय्यक उक्त लक्षण से विपरीत हैं, वे—

"विशेषणानां सारूप्याद् प्रस्तुतस्य गम्यत्वे समासोक्तिः।"

मानते हैं। मम्मट् ने रुय्यक-लक्षण को ही अपनाया है—उसी से प्रभावित हुए हैं। व्याजस्तुति के प्रति भी आचार्य मम्मट् के अलग विचार हैं, वहाँ भी वे भामह—उद्भटादि प्राचीन अलंकाराचार्यों का अनुगमन न कर एक नया मार्ग ही प्रशस्त करते हैं।'

अथ अप्रस्तुत-प्रसंसा कौ प्रथम भेद कारज-मिस कारन कौ उदाहरन जथा—

न्हात[२] समैं 'दास' मेरे पाँइन परयौ हो[३] सिंध-
तट[४] नर-रूप कोऊ[५] निपट बेकरार में।
मैं कह्यौ[६] को है तू, कह्यौ बूझत[७] कृपा-कर[८] तौ-
सहाइ कछु करौ ऐसे संकट अपार में॥

पा०—१. (का०) (वें०) (प्र०) यह···। २. (का०) (वें०) (प्र०) न्हाँन···। ३. (का०) (वें०) (प्र०) है···। ४. (र० कु०) ··सिंधु, नटबर है कें···निपट बिकार में। ५. (का०) (वें०) (प्र०) (सु० स०) (भा० भू०) है···। ६. (का०) (प्र०) (भा० भू०) कही तू कोहै, (वें०) (सु० स० (र० कु०) कह्यौ तू को है···। ७. (का०) (वें०) बूझती···। ८. (का०) (वें०) (प्र०) (सं० पु० प्र०) (र० कु०) (सु० स०) (भा० भू०) कै···।

हौं[1] तौ बड़वानल बसायौ हरि-ही कों, मेरी-
बिनती सुनाऔ द्वारिकेस[2]-दरबार में।
ब्रज की अहीरिनि[3] के अँसुवा बलित आइ
जमुनाँ जराति[4] मोहि महानल-झार में॥ *

अस्य तिलक

इहाँ "न्हात-सँमे ते लै कें बड़वानल कौ जमुनाँ सों अपनों जरिबौ आदि सब कारज जो कहे सो अप्रस्तुत हैं, गोपिँन कौ बिरह कारँन है सोई प्रस्तुत है, सो कह्यौ।

वि०—"दासजी का यह छंद–उदाहरण, "अप्रस्तुत-प्रशंसा" का (दासजी-द्वारा माना गया) प्रथम भेद—"कारज-मुख कारँन कथँन०..." (कार्य से कारण-कथन करने का—अप्रस्तुत कार्य से प्रस्तुत कारण के बोध कराने) का है। व्याख्या, "अस्य तिलक" रूप में दासजी-द्वारा स्पष्ट है। गोपी-विरह-संताप की कितनी बढ़ी-चढ़ी यह उक्ति नहीं, 'अत्युक्ति' है, जिसकी प्रशंसा में कुछ कहा नहीं जा सकता। ब्रज से वहे (उत्पन्न) विशद आँसू यमुना-जल में घुल-मिल कर गंगा और गंगा-द्वारा सागर में मिलने के बाद उस (समुद्र) की तरंगों-द्वारा बड़वानल के पास पहुँचना और उसे जलाने लगना, अर्थात् "ब्रजांगनाओं का कृष्ण-वियोग-रूप प्रस्तुत कारण न कह उन (ब्रजांगनाओं) के अश्रु-मिश्रित जल से बड़वाग्नि के जलने का अप्रस्तुत कार्य का कहना—"कार्य-द्वारा कारण-कथन करना कितनी सुंदर उक्ति है कि वाह...।

"इस इश्क़ो-आशकी के मजे हम से पूछिये।
दौलत लुटाई, रंज सहे, खो दिया सबाव॥"

रस-कुसुमाकर संग्रह-कर्त्ता महाराज ददुआ साहिब अयोध्या तथा "सूक्ति-सरोवर" के संग्रह-कर्त्ता ला० भगवानदीन ने दासजी के इस छंद को "आँसुवों" तथा अर्जुनदास केड़िया ने "भारती-भूषण" (अलंकार-ग्रंथ) में संस्कृतानुसार अप्रस्तुत प्रशंसा के द्वितीय भेद "कार्य-निबंधना (जहाँ अप्रस्तुत कार्य का वर्णन कर प्रस्तुत कारण का बोध कराया जाय) के उदाहरणों में संकलित किया है।"

पा०—१. (का०) (पु०) (भा० भू०) मैं हौं...। २. (र० कु०) (सू० स०) द्वारिका के...। ३. (का०) (प्र०) (सू० स०) (भा० भू०) अहीरिनी...। ४. (का०) (वें०) (प्र०) (सू० स०) (भा० भू०) जरावै...। (सं० पु० प्र०) (र० क०) सतावै...।

* र० कु० (अ०) पृ० ४०,८८। सू० स० (भ० दी०) पृ० ३७३,२। भा० भू० (के०) पृ० १६७।

अप्रस्तुत-प्रसंसा द्वितीय भेद-काराँन-मुख कारज-कथन कौ उदाहरन जथा—

जोति के गंज ते[1] आधौ बराइ, बिरंचि[2] रची बृषभाँन-दुलारी[3] ।
आधौ रह्यौ सो ताहू ते आधौ लै, सूरज-चंद-प्रभाँन में डारी ॥
'दास' द्वै[4] भाग किए उबरे के,[5] तरैयँन में छबि एक की सारी ।
एक-ही भाग ते तींन-हूँ लोक की, रूपवती-जुबतींन सँवारी ॥

अस्य तिलक

इहाँ या कथा काराँन ते कारज जो है नायिका की सोभा सो बरनी ।

वि०—"दासजी-द्वारा वर्णित यह छंद अप्रस्तुत-प्रशंसा का द्वितीय-भेद"—"काराँन के मुख काज" (कारण से कार्य-कथन) और संस्कृतानुसार अप्रस्तुत-प्रशंसा के प्रथम भेद "कारण-निबंधना (अप्रस्तुत कारण का वर्णन कर प्रस्तुत कार्य का बोध कराना) का उदाहरण है। अर्थात्, नायिका से नायक को मिलाने रूप प्रस्तुत कार्य का वर्णन न कर नायिका के अति स्वरूपवती रूप अप्रस्तुत कारण का वर्णन कर—उसके सौंदर्य का बोध कराना है। अस्तु, ठाकुर कवि-रचित यह छंद भी इस अलंकार का सुंदर उदाहरण है, यथा—

"कोंमलता कंज ते, सुगध सब गुलाबँन ते,
चंद ते प्रकास लीनों उदित उजेरौ है ।
रूप रति-आँनन ते, चातुरी सुजाँनन ते,
नीर निरबाँनन ते कौतुक निबेरौ है ॥
'ठाकुर' कहत ए मसाला बिधि कारीगर,
रचनाँ निहारि क्यों न होत चित चेरौ है ।
कंचँन कौ रंग लै, सबाद लै सुधा कौ,
बसुधा-सुख लूटि कें बनायौ मुख तेरौ है ॥

अथ तृतीय भेद सामान्य-मुख (मिस) बिसेस कौ उदाहरन जथा—

या जग में तिन्हें धन्य गिनों, जे सुभाइ पराए भले कहँ दौरें ।
आपनों[6] कोऊ भलौ करै ता कौ, सदाँ गुँन-माँनि[7] रहें सब ठौरें ॥

पा०—१. (का०) (वें०) (प्र०) में...। २. (वें०) बिरंचित रज, बृषभाँन कुमारी। ३. (का०) (प्र०)...कुँमारी। ४. (प्र०) दुभाग...। ५. (का०) (प्र०) (स० पु० प्र०) कौ...। (वें०)...भाग कियौ उबरे कौ...। ६. (का०) (वें०) आपनऊ सां भलौ करै...। ७. (का०) (वें०) (प्र०) मानें...।

'दास' जू हैं जो सकै तौ करै, बदलें उपकार के लाख[1]-करोरें।
काज हितू के लगें तँन-प्रान, जो[2] दौंन ते नेंक नहीं मुख[3]-मोरें॥

वि—"दासजी-द्वारा प्रस्तुत यह उदाहरण अप्रस्तुत-प्रशंसांतर्गत तृतीय, अथवा संस्कृताचार्यों-द्वारा वर्णित चतुर्थ भेद "सामान्य-निबंधना" (सामान्य अप्रस्तुत-द्वारा विशेष प्रस्तुत की बात स्पष्ट करना) का है। माननी नायिका-प्रति सखी वा दूती की प्रार्थना-संयुक्त उक्ति-द्वारा विरह-संतप्त नायक से मिलने रूप विशेष का स्पष्टी करण है।

दासजी के इस छंद के छल-स्वरूप कुछ ऐसी-ही उक्ति "जैनदी महम्मद" की याद आ गयी है, जैसे—

"अँनरस-औसर औ रूसे में जु आवै काँम,
ता सों जो दुरावै दीठि ऐसौ को कठोर है।
हाथ-हू धरेंगे, अंकमाल-हू भरेंगे,
मँन-माँनें सो करेंगे, या में तुम्हें का मरोर है॥
"जैनदी मुहम्मद" न माँनि कें हँमारौ कह्यौ,
राखौ वाही ओर तौ चलै न कछु जोर है।
पींठि है तिहारी, पै हँमारी है हँमारे जाँनि,
काहे तें! रिसाँने तें हँमारी होत ओर है॥"

बिसेस मुख (मिस) सामान्य कौ उदाहरन जथा—

'दास' परसपर लखौ, गुँन छीर के नीर मिलें सरसात है।
नीर[4] बिकावत आपने मोल जहाँ-जहाँ[5] जाइकें आप बिकात है॥
पावक जारँन छीर लगै, तब नीर जरावत आपनों गात है।
नीर की पीर-निवारिबे कारँन, छीर घरी-ही-घरी उफनात है॥

वि०—"दासजी का यह छंद आपके अनुसार अप्रस्तुत-प्रशंसा के अंतर्गत चतुर्थ और संस्कृत-अलंकाराचार्यों-द्वारा वर्णित तृतीय भेद "विशेष-निबंधना" जिसमें अप्रस्तुत विशेषार्थ—जो बात किसी खास से संबंध रखती हो, के वर्णन-द्वारा प्रस्तुत सामान्यार्थ (जो बात सर्व साधारण से संबंध रखती हो) को सूचित किया जाय, का है।"

पा०—१. (का०) (व्या०) (वें०) (प्र०) आगु...। २. (व्या०) (वें०) के...। ३. (का०) (वें०) मुँह...। (प्र०) मँन...। ४. (का०) नीरौ बेंचावन...। ५. (का०) जहं...। ६. (वें०) लख्यौ...।

तुल्य प्रस्ताव में तुल्य कौ उदाहरन जथा—

तुहीं बिसद जस भाद्रपद, जग कों जीवँन देत ।
रुचै चातकै कातकै, बूंद-स्वाँति के हेत ॥

वि०—' संस्कृत-अलंकाराचार्यों-द्वारा वर्णित दासजी का यह छंद "सारूप्य-निबंधना" का उदाहरण है, जो "तुल्य प्रस्ताव में तुल्य" वा "कहूँ सदृस (सरिस) सिर डारिकें, कहत सदृस (सरिस) सों बात" का-ही नामांतर है । सारूप्य-निबंधना "प्रस्तुत को न कह उसके समान अप्रस्तुत को कहा जाय, समान अप्रस्तुत का वर्णन कर प्रस्तुत का बोध कराया जाय", अर्थात् किसी वस्तु के प्रस्तुत रहने पर उसके तुल्य किसी अप्रस्तुत वस्तु का वर्णन किया जाय, को कहते हैं, यथा—

"तदन्यस्य वचस्तुल्ये तुल्यस्येति च.....।"

—काव्य-प्रकाश (सस्कृत) १०, ६६ ।

और इस "तुल्ये प्रस्तुते तुल्याभिधाने..." (काव्य-प्रकाश, संस्कृत १०वाँ उल्लास) अर्थात् "तुल्य के प्रस्तुत रहने पर किसी तत्तुल्य अन्य पदार्थ के कथन के"—"श्लेप-हेतुक, समासोक्ति-हेतुक और सादृश्य-हेतुक" तीन प्रकार (भेद) कहे हैं। कोई-कोई इन तीनों के "श्लेप-हेतुक (विशेषण-विशेष्य दोनों का श्लिष्ट होना), श्लिष्ट-विशेषण (केवल विशेषण का श्लिष्ट होना) और सादृश्य-मात्र (श्लिष्ट शब्द के प्रयोग-बिना अप्रस्तुत का ऐसा वर्णन जो प्रस्तुत से समानता रखता हो) नाम भी कहते हैं । साहित्य-दर्पण (संस्कृत) में इसके दो ही रूप—"**तुल्ये प्रस्तुते तुल्याभिधाने च द्विधा**" अर्थात्, "तुल्य के प्रस्तुत होने पर तुल्य के अभिधान में दो ही भेद मानते हुए उन्हे "श्लेषमूला, सादृश्यमात्र मूला च" कहाहै । वहाँ (साहित्य-दर्पण में) "श्लेपमूला" के भी—

"श्लेषमूला पि समासोक्तिवद्विशेषणमात्रश्लेषे, श्लेषवद्-
विशेष्यस्यापि श्लेषे भवतीति द्विधा ।"

अर्थात्. "श्लेपमूलक सारूप्य-निबंधना" भी समासोक्ति की भाँति केवल विशेपणों के और श्लेप की भाँति विशेष-विशेष्य दोनों के श्लिष्ट होने पर भी होती है", कहते हुए इसके भी दो भेद माने हैं । कोई-कोई इस सारूप्य-निबंधना के तृतीय भेद "सादृश्य-मात्र-निबंधना" के भी—'-अनध्यारोप-द्वारा" (आरोप के बिना), 'आरोप-द्वारा' (आरोप के साथ) और "आरोप-अनारोप-द्वारा" (आरोप-अनारोप के बिना) तीन भेद और कर इनके उदाहरण भी प्रस्तुत करते हैं ।

अथ सब्द-सक्ति ते अप्रस्तुत-प्रसंसा कौ उदाहरन जथा—

गुँन-करनीं गज कौ धँमीं, गरें[1] धरें सुभ साज।
अहै[2] ग्रही तिहिँ राज सौं, सजै[3] आपनों काज॥

पुनः उदाहरन जथा—

'दास जू' जाकौ[4] सुभाव यहै, निज अंक में डारि किते[5] नहिँ मारै।
को हरुवौ अरु को गरुवौ, को भलौ, को बुरौ, कबहूँ न बिचारै॥
ओर कों चोट सहाइबे काज, प्रहार सहै अपने उर भारै।
आइ परयौ खल खाल के बीच, करै अब को तुब छोह-छुहारै॥

अथ प्रस्तुतांकुर (रूप) कारज-कारन दोऊ अप्रस्तुत कौ उदाहरन जथा—

'दास' उसासँन होत हैं, सेत कँमल-बँन नील।
राधे-तँन-आँचन अली, सूखत अँसुवा-भील[6]॥

अस्य तिलक

इहाँ बिरह कौ तेज औ अँसुवान कौ (आधिक्य) दोऊ बरनत हैं, दोऊ अप्रस्तुत हैं।

वि०--"दासजी के इस दोहे में नायिका की विरह-जन्य उसासों से श्वेत-कमलों का नीला पड़ जाना—मुरझा जाना और विरहाग्नि-तचित तन से आँसुवों को "झील" (बहुलता) का सूख जाना कार्य-कारण आदि अप्रस्तुत होते हुए भी, अर्थात् 'अन्योक्ति' के अंग होते हुए भी, प्रस्तुत रूप से कहे गये है, पर नायक के प्रति दूती-द्वारा कथित नायिका के विरह-ताप का वर्णन प्रत्यक्ष उपालंभ है, जो प्राकर्णिक होते हुए भी प्रस्तुत है।"

पुनः उदाहरन जथा—

आरज आइबौ आली कह्यौ, भजि सौंमुहें तें गई ओट में प्यारी।
एक-ही एड़ी महावरी[7] ही, स्रँम ते दुहुँ फैली खरी[8] अरुनारी॥
'दास' न जाँनें धों कोंन है दीवौ, चितै दुहुँ पाइँन नाइँन[9] हारी।
आप[10] कह्यौ अरी दाँहिने दै, मोहिँ जाँन परै पग बाँम है भारी॥

पा०—१. (वें०) (प्र०) गारौ धरै सुसाज। २. (का०) (वें०) (प्र०) महो...। ३.(का०) (प्र०) सधै...। (वें०) (सं० पु० प्र०) साधै...। ४. (सं० पु० प्र०) (का०) (वें०) याके...। ५. (प्र०) कितेकन्ह मारै। ६. (वें०) झील...। ७. (वें०) महावर...। (प्र०) महावर दै...। ८. (रा० पु० नी० सी०) फली...। ९. (का०) (वें०) नाँइ बिहारी...। १०. (का०) आपी...। (वें०) आली।

अस्य-तिलक—

इहाँ हूँ अंग की सुकमारता (औ) पाँइ की ललाई प्रस्तुत हैं, पर अप्रस्तुत-रूप सों कही है।

वि०—"कुछ ऐसी-ही बात "कविवर विहारीलाल" दूसरी तरह से कहते हुए एड़ी का वर्णन करते है, यथा—

"कौहर-सी 'एड़ीन' की, लाली निरखि सुभाइ।
पाँइ महावर देहि को, आप भई बे पाँइ॥

अथवा—

पाँइ महावर दैंन कों, नाँइन बैठी आइ।
फिरि-फिरि जाँनि महावरी, एड़ी-मींजति जाइ॥"

और 'पग बाँम है भारी' पर किसी शायर का नीचे लिखा शेर कोई और ही संदेश दे रहा है—कुछ और ही गूढार्थ वता रहा है, जैसे—

"सोच इसका न होगा मुझको, तो फिर किसको हो।
जानती तू नहीं क्या...,पाँव है भारी अभा॥"

पुनः उदाहरन जथा—

सिंघनी औ मृगनीं की ता ढिंग जिकर कहा,
बार औ[1] मुरार-हू ते[2]खींनीं[3] चित्त धरि तू।
दूरि-हीं ते[4] नेंसुकि नजर-भर[5] पावत-ही,
लचकि-लचकि जात जी में ग्याँन करि तू॥
तेरौ परमाँन परमाँन कौ[6] प्रमाँन है, पै
'दास' कहै गरुआई आपनीं सँभरि तू।
तू तौ मँन है रे[7], वौ निपट-ही तँन है रे[8],
लंक पै दौरत कलंक सों तौ डरि तू॥ *

अस्य तिलक

इहाँ हू छींन कटि-बरनन के संग भारी मँन कौ, वा पै दौरिबौ—ललचाइबौ दोऊ अप्रस्तुत होत-हू प्रस्तुत रूप सों बरनन हैं।

पा०—१. (का०) (वें०) (प्र०) बार-हू... । (न० सि० ह०) मार हू... । २. (न० सि० ह०) सों... । ३. (का०) (वें०) (प्र०) खींन... । ४. (न० सि० ह०) सों... । ५. । (वें०) भाव... । (प्र०) भार... । ६. (का०) (वें०) (प्र०) के । ७. (प्र०) री... । ८. (प्र०) री... ।

* शृं० नि० (भि० दा०) ११,३५ । न० सि० ह० (प० सु०) पृ० २२,६८ । श० स० (भ० दी०) २६६,२३ ।

वि०—दासजी ने पूर्वोक्त 'दास उसासँन०', 'आरिज आइबो०'और 'सिंघनी औ मृगनीं की०' इन तीनों उदाहरणों के शीर्षकों में 'प्रस्तुतांकर का नामोल्लेख भी किया है तथा इनसे भी पूर्व—'दोऊ प्रस्तुत देखिकें, प्रस्तुत-अंकुर लेखि'०.....भी कहा है। अस्तु, प्रस्तुतांकुर—'एक प्रस्तुत के वर्णन से दूसरे प्रस्तुत का वर्णन होने पर माना जाता है। यहाँ दोनों ही एक दूसरे से अंकुरित होते हैं, क्योंकि इस अलंकार में प्रायः ऐसा भी होता है कि कोई अलंकृत वाक्य किसी दूसरे को सुनाकर किसी अन्य से कहा जाय तो वे दोनों अपने-अपने ऊपर घटा मान अपना-अपना भाव समझ लेते हैं।

कुवलयानंद (संस्कृत) के कर्त्ता ने 'प्रस्तुत के द्वारा किसी अन्य वांछित प्रस्तुत के वर्णन में प्रस्तुतांकुर अलंकार मानते हुए कहा है कि 'अप्रस्तुत-प्रशंसा में अप्रस्तुत-द्वारा प्रस्तुत का वर्णन होता है और प्रस्तुतांकुर में प्रस्तुत—द्वारा अप्रस्तुत का। वास्तव में अप्रस्तुत-प्रशंसा और प्रस्तुतांकुर में बहुत अल्प (सूक्ष्म) भेद है, जो सहज नहीं जाना जा सकता, फिर भी अलंकाराचार्यों का कहना है कि 'अप्रस्तुत-प्रशंसा में अप्रस्तुत का वर्णन और प्रस्तुत का तात्पर्य सम-बल से होता है तथा प्रस्तुतांकुर में प्रस्तुत के प्रति मुख्य भाव प्रकट होता है किंतु, प्रथम प्रस्तुत पर भी द्वितीय प्रस्तुत के समान घटना चाहिये। गूढोक्ति और प्रस्तुतांकुर में भी जरा-सा भेद है। गूढोक्ति में जहाँ दूसरा सुननेवाला आग्रह-युक्त उस उक्ति से लाभ उठाता है, वहाँ प्रस्तुतांकुर में वह आग्रह स्पष्ट नहीं होता।

प्रस्तुतांकुर को कुछ आचार्यों ने (दासजी की भाँति) भिन्न अलंकार नहीं माना, इसे अन्योक्ति ही समझा है, पर अप्रस्तुत में कभी-कभी व्यंजना वा शब्द-शक्ति से प्रस्तुत के अंकुर दिखलायी पड़ ही जाते हैं, जिससे इस अलंकार का भिन्न असतित्व मानना ही चाहिये..., फिर भी पंडितराज जगन्नाथ अपने रस-गंगाधर (संस्कृत) में इसकी पृथक् मान्यता के प्रति कहते हैं कि 'ध्वन्यालोक' (संस्कृत) में दिये गये उदाहरण विशेष में ध्वन्याकार अप्रस्तुत-प्रशंसा-ही मानते हैं, प्रस्तुतांकुर नहीं। अन्य उदाहरणों (सखि जनों द्वारा कही गयी उक्ति में कमलनी और हंस के) में अप्रस्तुत के वृत्तांत-द्वारा अप्रस्तुत (नायिका के रति-आदि) वृतांत का ही कथन किया गया है, इस लिये यहाँ भी अप्रस्तुत प्रशंसा है, प्रस्तुतांकुर नहीं। अप्रस्तुत-प्रशंसा में मुख्यार्थ (मुख्य-तात्पर्य) के अतरिक्त जो कुछ वर्णन होता है, वह सब अप्रस्तुत-शब्द के ही प्रयोग हैं, जो कहीं अति अप्राकरणिक हैं और कहीं प्राकरणिक, इसलिये प्रस्तुतांकुर-अलंकार प्रथक् नहीं माना जा सकता, अपितु उस (प्रस्तुतांकुर) का अप्रस्तुत-प्रशंसा में ही गतार्थ हो जाता है, इत्यादि...।'

दासजी का यह छंद—'सिंघनी-औ-मृगनीं की०' दासजी के 'शृंगार निर्णय', परमानंद सुहाने के 'नखसिख-संग्रह' और ला० भगवानदीन के 'सूक्ति सरोवर' में नायिका की कटि-वर्णन के अंतर्गत दिया गया है। नायिका की कटि के वर्णन में संस्कृत से लेकर ब्रजभाषा-साहित्य में ही नहीं, खड़ी बोली के साहित्य में भी बड़ी-बड़ी सुंदर सूक्तियाँ कही गयी है। एक-एक क्रमशः जैसे—

"देहं हेमद्युति परिहृतांभोजदृष्टिं च दृष्टिं,
राशीभूतभ्रमरपटलीचारुवेषं च केशम्।
दृष्ट्वासद्यो विपुल हृदयानंदमूढेन धात्रा—
सारंगाक्ष्याः किमु रचयितुं विस्मृतो मध्यदेशः॥"

*

"सुमँन में बास जैसें सु-मँन में आवै कैसें,
'नाँ' कह्यौ चँहत सो तौ 'हाँ' कह्यौ चँहत है।
सुरसरि-सूर-तनया में सरसुति जैसें,
बेद के बचँन-बाँचें साँचें निबहत है॥
परिवा के इंदु की कला ज्यों रहै अंबर में,
पर वाकौ अच्छ परतच्छ ना लहत है।
बुद्धि-अँनुमाँन के प्रमाँन परब्रह्म जैसें,
ऐसें कटि छींन कवि 'मीरँन' कहत है॥"

*

"सिंघ न जीता लंक-सरि, हारि लींन्ह बँन-बास।
तिहिं रिस रकत-पियत फिरै, खाइ मारि कें माँस॥"

*

"कै जान बाल की गिरह पड़ी, खोले-से होवे अमर कहीं।
कैसी कल-कंजन की दिलवर, तनधारी बैठा समर कहीं॥
कै लीक भावई की सोहै, नभ में निश्चै का कमर कहीं।
उसको दो दीन दरस होवै, जो देखै तेरी 'कमर' कहीं॥"

*

"मू से बारीक बताते हैं 'कमर' उस गुल की।
मैं तो कहता-हूँ उस गुल के 'कमर' है ही नहीं॥"

*

"हरचंद जुस्तजू में रहे, साहबे-निगाह।
देखा जो दूरबीं से न आई नजर 'कमर'॥"

अंत में, 'कमर' का नाम कटि क्यों पड़ा 'इस पर 'रसनिधि' की एक सूक्ति, यथा—

"नेही-मँन कटि जात लखि, पीतँम-कटि-अभिरांम।
कस-कर ऐसौ काट यै, पायौ है 'कटि' नाँम॥"

मन (भारी) अर्थ से विपरीति 'रसनिधि' की यह उक्ति भी सुंदर है, यथा—

"उड़त फिरत जो तूल-सँम, जहाँ-तहाँ बेकाँम।
ऐसे हुरुए कौ धरयौ, कहा जाँन 'मन' नाँम॥"

अथ सँमासोक्ति लच्छन जथा—

जहँ¹ प्रस्तुत में पाइऐ, अप्रस्तुत कौ ग्यौंन।
कहुँ बाचक, कहुँ स्लेस ते, 'सँमासोक्ति' पैह्चाँन॥

वि०—"जहाँ प्रस्तुत (जिसका स्पष्ट वर्णन किया जाय) के कथन में अप्रस्तुत (समता से जिसपर उस व्यवहार का आरोप किया जाय) का ज्ञान पाया जाय—उसका वर्णन किया जाय, अथवा अप्रस्तुत का वर्णन भी निकलता हो, वहाँ दास जी के अनुसार "समासोक्ति" अलंकार होता है और उसकी पहचान कहीं वाचक से और कहीं श्लेष से होती है। चंद्रालोक (संस्कृत) कर्त्ता का कहना है—"जहाँ किसी प्रस्तुत विषय को उठाकर उसी वाक्य में लिंग-क्रिया आदि के रूप में गर्भित किसी अन्य अप्रस्तुत-विषय की झलक दिखलायी जाय" अथवा संक्षिप्त-रूप में कहा जाय—"जहाँ प्रस्तुत के वर्णन द्वारा समान विशेषणों से अप्रस्तुत का भी बोध कराया जाय, तो वहाँ 'समासोक्ति' अलंकार होता है।

समासोक्ति—समास, अर्थात् 'थोड़े में बहु कथन' को कहते हैं। अतएव 'समासोक्ति' में संक्षेप से कही गयी उक्ति होती है, अर्थात् एक प्रस्तुत-अर्थ के वर्णन द्वारा दो (प्रस्तुत-अप्रस्तुत) अर्थों का, प्रस्तुत के वर्णन में समान (प्रस्तुताप्रस्तुत दोनों के साथ संबंध रखने वाले) विशेषणों की सामर्थ्य से अप्रस्तुत का बोध कराया जाता है, जैसा दास जी ने पूर्व में—'संमासोक्ति प्रस्तुतै ते, अप्रस्तुत अबरेखि' रूप से कहा है। समासोक्ति में दासजी-मतानुसार विशेष-वाचक शब्द श्लिष्ट नहीं होता, केवल विशेषण समान रहते हैं। ये समान विशेषण ही कहीं श्लेष-युक्त और कहीं श्लेष-रहित (साधारण) होते हैं।

पा०—१. (का०) जेहि (जिहिं)।

अलंकार-आचार्यों का कहना है कि 'समासोक्ति' का विषय 'श्लेषालंकार की भाँति दुरूह है—कठिन है, क्योंकि यह प्रायः श्लेषालंकार तथा एकदेश-विवर्त्तिरूपक के साथ घुलमिल जाता है, पर गहरी दृष्टि से देखने पर इसका प्रथकत्व साफ और सुंदर रूप से जाना जा सकता है। अस्तु, श्लेष से इसकी पृथकृता का वर्णन करते हुए आप लोगों का कहना है—"श्लेष-समासोक्ति" में यह प्रथकृता है कि प्रथम (श्लेषालंकार) में—प्रकृत-अप्रकृत आश्रित श्लेष में, विशेष्य-वाचक पद श्लिष्ट होता, जब कि द्वितीय (समासोक्ति) में केवल विशेषण ही श्लिष्ट होता है। प्रकृताप्रकृत रूप उभयाश्रित श्लेष में विशेष्य पद श्लिष्ट तो नहीं होता, पर उसका—प्रकृताप्रकृत विशेष्य का, विभिन्न शब्दों द्वारा कथन अवश्य किया जाता है। समासोक्ति में केवल प्रकृत विशेष्य का शब्द-द्वारा वर्णन करते हुए, अर्थात् समान विशेषणों की सामार्थ्य से प्रकृत के साथ अप्रकृत का भी बोध कराया जाता है। एक देशविवर्त्त-रूपक (वह सांग रूपक जिसमें सभी अंगों का आरोपण स्पष्ट शब्दों में न कह कर उनके अर्थ-बल से जाना जाता हो) में प्रस्तुत में अप्रस्तुत का आरोप किया जाता है, उपमान अपने रूप से उपमेय को आच्छादित कर ढक लेता है, किंतु समासोक्ति में उस रूप का आच्छादन नहीं होता, अपितु प्रस्तुत व्यवहार के द्वारा अप्रस्तुत के व्यवहार की प्रतीतिं मात्र होती है।

समासोक्ति में जिस दूसरे अप्रस्तुत अर्थ की प्रतीतिं होती है, वह व्यंग्यार्थ होती है, पर यह व्यंग्यार्थ प्रधान न होने के कारण "ध्वनि" का विषय नहीं बनता, अपितु समासोक्ति में वाच्यार्थ की प्रधानता रहती है—उसमें ही अधिक चमत्कार होता है, व्यंग्यार्थ गौण रहता है। ऐसे गौण व्यंग्यार्थ को-ही समासोक्ति का विषय माना गया है, जैसे—

'व्यंग्यस्य यत्र प्राधान्यं वाच्यमात्रानुयायिनः।
समासोक्त्यादयस्तत्र वाच्यालंकृतयः स्फुटः॥"

—ध्वन्यालोक १, १३,

अतएव जहाँ व्यंग्यार्थ अप्रधान रहकर वाच्यार्थ का शोभा-परक हो, वहाँ समासोक्ति अवश्य होती है।

संस्कृत-अलंकाराचार्यों ने समासोक्ति के निम्नलिखित भेद माने हैं,—समासोक्ति, इसके "विशेषणों की समानता से, लिंग की समानता से और कार्य की समानता से" तीन भेद मान प्रथम भेद "विशेषण की समानता" के श्लिष्ट विशेषण (जब कि विशेषण-पद श्लिष्ट हो) और साधारण विशेषण (श्लेष-रहित विशेषण) रूप दो भेद और माने हैं।

आचार्य रुय्यक ने समासोक्ति का "औपम्यगर्भा" नामक एक नया भेद और माना है। इस पर पंडितराज जगन्नाथ और विश्नाथ चक्रवर्ती कहते हैं—औपम्यगर्भा समासोक्ति नहीं हो सकती, कारण—उपमा में केवल सादृश्य की प्रतीति होती है, व्यवहार की नहीं। केवल व्यवहार की प्रतीति में होने वाली समासोक्ति के गर्भ में उपमा नहीं हो सकती।

दासजी ने समासोक्ति के "शुद्ध, अर्थात् व्यवहार (कार्य) की समता से, वाचक से—साधारण-साम्य से और श्लेष से तीन-ही भेद मान इनके क्रमशः उदाहरण दिये हैं।"

सँमासोक्ति प्रथम उदाहरन जथा—

आँनन में झलकें[1] स्रँम-सोकर,[2] औ[3] अलकें-बिथुरीं छबि-छाई।
'दास' उरोज धँने थैहरें, छैहरें मुकताँन की माल सुहाई॥
नेंन-नचाइ, लाचइकें लंक, मचाइ-बिनोद, बचाइ कुराई।
प्यारी प्रहार करै कर-कंज, कहा कहौं कंदुक-भाग-भलाई॥

अस्य तिलक

इहाँ कंदुक (लिंग-भेद सों) पुरुष जाँन्यों जाइ है, सो ए सब काम (स्वकीया-नायिका के) बिपरीति के-से जाँने जात हैं, ता ते 'समासोक्ति' है।

पुनः उदाहरन जथा—

सैसब-हति जोबँन भयौ, अब या तँन सरदार।
छींनि पगँन ते दृगँन दिय,[4] चंचलता-अधिकार॥

वि०—"दासजी से चंचलता का अधिकार पा अति चंचल बनने वाले इस दोहे के साथ 'विहारी लाल' का यह नीचे लिखा दोहा भी बरबस याद आ जाता है—

"अँपने अँग के जाँन कें, जोबँन-नृपति प्रबींन।
तँन, मँन, नेंन, नितंब कौ, बड़ौ इजाफा कींन॥"

अस्तु विहारी लाल के इस दोहे में भाव के साथ अलंकारों—हेतुत्प्रेक्षा (अमरचंद्रिका-हरिप्रकाश), फलोत्प्रेक्षा (रस-चंद्रिका), काव्य-लिंग, रूपक और तुल्ययोगिता का बहुत सुंदर वर्णन है।

पा०—१. (का०) झलकयौ...। २. (वे०) स्वेद...। ३. (का०) वों...। (वे०) छुरें...। ४. (वे०) दिप...।

पुनः उदाहरन स्लेस ते जथा—

बहु ग्यौंन-कथौंन लै थाकी[१] हौं मैं, कुल-कौंन-हूँ कौ बहु नेंम लियौ।
इन[२] तीखी चितौंन के तीरेंन ते, भँनि 'दास' तुनींर भयौ-ई हियौ ॥
अपने-अपने घर जाहु सबै,[३] अब लौं सखि सीखि दियौ-सो-दियौ।
अब तौ हरि-भौंह-कँमानँन[४] हेत, हौं प्रौंनन कौं कुरबौंन कियौ ॥

अस्य तिलक

इहाँ हरि की भौंह-कँमानन पै प्रौंन कों न्यौछावर कियौ ये प्रस्तुत है, पै कुरबाँन कमाँन की म्याँन-हूँ जाँनी जात है सो स्लेस है।

वि०—"दासजी की यह सरस-सूक्ति परकीया नायिका (पर-पुरुष से प्रेम करनेवाली) की उक्ति है। ब्रज-साहित्य में 'परकीयत्त्व' की, उसके प्रेम की बड़ी महिमा है। यहाँ उस झमेले में न पड़ परकीया नायिका-द्वारा कथित दो-एक उक्तियाँ देते हैं। प्रथम 'सूर' की, यथा—

'सुंदर बदँन सदँन सोभा कौ, निरखि नेंन-मँन थाक्यौ।
हौं ठाढ़ी, बीथिँनि-ह्वै, निकस्यौ, उझकि झरोखँन झाँक्यौ ॥
मोंहन इक चतुराई कीन्हीं, गेंद-उछारि गगँन-मिस ताक्यौ।
बारौं-री लाज बैरिन भई मों कों, हौं गँमार मुख-ढाँक्यौ ॥
चितवँन में कछु कर गयौ टोनाँ, अब न रहत मँन राख्यौ।
"सूरदास-प्रभु सरवस लै कें, हँसत-हँसत रथ-हाँक्यौ ॥"

*

"हँम एक कुराह चली-तौ-चली, हटकौ इन्हें ए नाँ कुराह चलें।
इहि तौ बलि आपनों सोचिती हैं, पँन पालिऐ सोई जो पालें-पलें ॥
'कवि ठाकुर' प्रीति करी है गुपालसों,(सुतौ)टेरें कहौं सुनों ऊँचे गलें।
हमें नींकी लगी सो करी हँमनें, तुम्हें नींकी लगी न लगी तौ भलें ॥

एक और—

"कहिबौ कों बिथा, सुनिबे कों हँसी, को दया सुनिकें उर-आँनत है।
अरु पीर घटै तजि धीर सखी, दुख को नहि कापै बखाँनत है ॥
'कबि बोधा' कहे में सबाद कहा, को हमारी कही पुनि माँनत है।
हमें पूरी लगी, कै अधूरी लगी, यै जीव हँमारौ-ई जाँनत है ॥"

पा०—१. (वें०) थाकि...। २. (का०) (वें०) (प्र०) यह...। ३. (रा० पु० नी० सी०) भले...। ४. (रा० पु० नी० सी०) के...।

अथ व्याजस्तुति-लच्छन जथा—

अप्रस्तुत परसंस औ[1] 'व्याजस्तुति' की बात।
कहूँ भिन्न ठैहेरात है[2], कहूँ जुगल मिल जात॥

वि०—"व्याजस्तुति के विषय में संस्कृत-अलंकाराचार्यों का कहना है कि "व्याजस्तुतिमुँखेनिंदा स्तुतिर्वा रूढिरन्यथाः" (काव्य-प्रकाश—१०,१६६) अर्थात्, 'व्याजस्तुति' उस अलंकार को कहते हैं जिससे आरंभ में तो निंदा वा स्तुति प्रकट हो, पर परिणाम में तद्‌विपरीत अर्थ से उसका तात्पर्य प्रकट हो।

व्याजस्तुति के दो भेद श्री मम्मट् (काव्य-प्रकाशकार) ने भी माने हैं, क्योंकि उन्हें वहाँ स्तुति-पर्यवसायिनी केवल निंदा-ही विवक्षित नहीं—निंदापर्यवसायिनी स्तुति भी अभीष्ट थी। प्राचीन अलंकाराचार्यों में जिनमें भामह और उद्भट प्रधान हैं, की दृष्टि में केवल एक निंदा के व्याज स्तुति-परक अर्थ-ही मुख्य रहा, दूसरा नहीं। अतः उद्‌भट कहते हैं—

"शब्दशक्तिस्वभावेन यत्र निंदेव गम्यते।
वस्तुतस्तु स्तुतिः श्रेष्ठा व्याजस्तुतिरसौ मता॥

अर्थात्, व्याजस्तुति का सौंदर्य प्रस्फुटन इसी में है कि शब्दों की अभिधायक शक्ति निंदा का बोध भले ही करावे, पर साथ-ही पदार्थ-पर्यालोचन के द्वारा जो वाक्यार्थ निकाले वह स्तुति-परक ही हो। अतएव मम्मट-मतानुसार 'व्याजस्तुति' दो प्रकार की—व्याजरूपा स्तुति और निंदा-व्याज-रूपा स्तुति बन गयी, किंतु भामह-उद्‌भटादि प्राचीन अलंकाराचार्य प्रणीत व्याजस्तुति का केवल एक ही रूप—व्याज से, निंदा के बहाने स्तुति रह गया, जिसको मम्मट के साथ बाद के आचार्यों ने नहीं माना—नहीं माना।

व्याजस्तुति का शब्दार्थ है—"बहाने से स्तुति"। यह बहाना—"निंदा से स्तुति का अथवा स्तुति से निंदा का" कहा जा सकता है। अतएव दास जो के कथनानुसार "इनमें स्तुति निंदा मिले, व्याजस्तुति पैहचाँन" के बाद "अप्रस्तुत प्रशंसा और व्याजस्तुति अलंकार का विषय कहीं मिला हुआ और कहीं भिन्न" देखा जाता है।

यहाँ निंदा के व्याज स्तुति करना तो ठीक, पर स्तुति के बहाने निंदा करना दूसरी बात है। अतएव ब्रजभाषा के अलंकाराचार्यों ने संस्कृत अलंकाराचार्यों द्वारा कथित "व्याजिन-स्तुति" (व्याजेन स्तुतिः—व्याजेन वा स्तुति—निंदा के बहाने स्तुति) और "व्याजरूपा-स्तुति" (स्तुति का बहाना मात्र) रूप एक ही

पा०—१. (का०) (वें०) (प्र०) अरु...। २. (का०) (वें०) (प्र०) अरु...।

शब्द के दो अर्थों को ध्यान में रख 'व्याजस्तुति' और 'व्याजनिंदा' नाम से दो पृथक्-पृथक् अलकारों को मान दिया है। यों तो इन ब्रजभाषा के आचार्यों में ऊपर लिखे (व्याज-स्तुति और व्याज-निंदा) भेदों के प्रति मतभेद है, अर्थात् कोई इन्हें प्रथक-प्रथक और कोई एकत्रित रूप से मानते हैं, जो उचित प्रतीत नहीं होते। ब्रजभाषा-आचार्यों ने इस व्याज-स्तुति के उपर्युक्त दो ही भेद नहीं, अन्य दो भेद—एक की निंदा से दूसरे की स्तुति (और की निंदा से दूसरे की स्तुति) और एक की स्तुति से दूसरे की निंदा (और की स्तुति से दूसरे की निंदा) और माने हैं, पर संस्कृताचार्यों ने इन्हे 'व्यंग्य-काव्य' कहा है, अलंकार-भेद नहीं। ब्रजभाषा-काव्य में इन सबके उदाहरण दिये गये हैं। दास जो ने इन—"एक की निंदा-स्तुति से दूसरे की निंदा-स्तुति" रूप भेद नहीं माने हैं, अपितु इनके स्थान पर "स्तुति के व्याज से स्तुति" और "निंदा के व्याज से निंदादि भेदों का उल्लेख करते हुए दोनों के उदाहरण दिए हैं। भानु ("जगन्नाथप्रसाद भानु—"काव्य-प्रभाकर") ने व्याजस्तुति के—"उसी की निंदा से उसी की स्तुति, उसी को स्तुति से उसी की निंदा, और की निंदा से और की निंदा, और की स्तुति से और की स्तुति, और की निंदा से और की स्तुति", तथा "और की स्तुति से और की निदा" आदि छह भेद माने हैं।"

व्याजस्तुति भेद-लच्छन जथा—

स्तुति-निंदा के व्याज कहुँ, कहुँ[1] निंदा स्तुति-व्याज।
स्तुति-अस्तुति[2] के व्याज कहुँ, निंदा-निंदा साज॥

अथ निंदा-व्याजस्तुति कौ उदाहरन जथा—

भौंर-भौंर तँन भँननाती मधु-माँखी-सँम,
कौंनन-लों फाटो[3] फाटी आखें[4] बँधी लाज की।
व्यालिनीं[5]-सी बेंनीं, खींन लंक, बल-हींन सँम,
लींन होत[6] सकलहि[7] भूषँन सँमाज की॥
'दास' पर-चित्तँन[8] के[9] चोर ठैहराए-
उरजँन पाई पदवी कठोर सिरताज की।

पा०—१. (का०) निंदा-स्तुति की व्याज। (वे०) (प्र०) निंदा. स्तुति के व्याज। २. (रा० पु० प्र०)—अस्तुति व्याजै कहूँ...। ३. (का०) (का०) फाटि-फाटि आँखी...। ४. (वें०) आँखीं...। ५. (का०) (प्र०) व्यालिनि...। (रा० पु० का०) व्याली...। ६. (वें०) होती...। ७. (का०) (वें०) सकल-हिँ...। ८. (का०)—चित्त हू की ठहराई उरजँन...। ९. (वें०) की चोर ठहराई, उर जाँन पाई...। (प्र०) दास चित्त-चोर ठहरायी उरजँन जग पाई तब पदवी...।

कौंन जाँनें कौंन-धौं सुकृतँन[1]-भलाई-बस,
भाँमिनि[2] भई तू मँन-भाई ब्रजराज की ॥

अथ स्तुति-ब्याज निंदा कौ उदाहरन जथा—

गोरस कौ बेचिबौ-बिहाइ कें गँवारिँन
अहीरनीं, तिहारे प्रेम-पालिबे को क्यों अरै।
एते पै चाहिऐ जौ रावरे के कौंमल-हिऐं,
कौंन नित[3] आपने कठोर कुच सों दरै ॥
'दास' प्रभु कींनी भली दींनीं यों सजाइ अब,
नींकें निस—बासर बियोगानल में जरै।
ए जू[4] ब्रजराज, सब राजँन के महाराज,
तुँम्ह-बिन आज ऐसी राजनीति[5] को करै ॥

अथ स्तुति-ब्याज स्तुति कौ उदाहरन जथा—

दास नंद के दास की, सरि न करै पुरहूत।
बिद्यमाँन गिरिबरधरँन, जाकौ पूत-सपूत ॥

•

अँमल-कँमल की है प्रभा, बाल बदँन कौ[6] डौर।
ता कौ नित चुंबन करै, धन्य भाग तुव भौर ॥

अस्य तिलक

इहाँ प्रथम (दोहा) में दोऊ प्रस्तुत हैं, ताते प्रस्तुतांकुर में मिलत है, दूजे में बदन प्रस्तुत है सो अप्रस्तुत-प्रसंसा में मिलत है।

अथ निंदा-ब्याज निंदा कौ उदाहरन जथा—

नहिँ तेरौ, पै[7] बिधि-हु कौ, दूखँन काग कराल।
जिन तो[8] कों, कलरवौ कों, दीनों बास रसाल ॥

•

दई निरदई सों भई, 'दास' बड़ी यै[9] भूल।
कँमल-मुखी कौ जिँन कियौ, हियौ कठिनई-मूल ॥

पा०—१.(का०)(वें०)(प्र०) सुकृत की भलाई...। २. (का०) (प्र०) भामिनी...। ३. (का०) (वें०) ..हिए कों वह आपने...। ४. (का०) (वें०) हो जू...। (प्र०) एहो ब्रज...। ५. (का०) (वें०) (प्र०) राजनीति और को...। ६. (का०) (प्र०) की...। (वें०) के...। ७. (का०) (वें०) (प्र०) यह...। ८. (का०) (प्र०) तो कहँ...। (वें०) तो हू...। ९. (वें०) है...।

वि०—"निंदा के बहाने निंदा, अर्थात् "अन्य की निंदा" का 'भानुजी' ने भी सुंदर उदाहरण संकलित किया है, यथा—

"फूँकि कें आई सबै बँन कों, हिय फूँकि कें मैंन की आगि जगावति।
तू तौ रसातल बेधि गई, उर-बेधति, नेंक दया नहिँ ल्यावति॥
आप गई अरु औरँन खोवति, सौति के कौंम भली-बिधि आवति।
ज्यों बड़े बंस ते छूटी है त्यों बड़े बंस ते औरँन-हू कों छुड़ावति॥"

ब्याजस्तुति और अप्रस्तुत-प्रसंसा कौ संमिलित उदाहरन जथा—

बात इति तोसों भई, निपट भली करतार।
मिथ्याबादी काग कों, दींनों उचित अहार॥

*

जाहि सराहत सुभट तुँम, दसमुख बार अँनेक।
सुतौ हँमारे कटक में, ओछौ धाँमन एक॥

पुनः उदाहरन जथा—

काहू धँनबंत कौ न कबहूँ निहार्‌यौ मुख,
काहू के न आगें दौरिबे कौ नेंम लीयौ[1] तें।
काहू कौ न रिँन करें, काहू के दिए ही बिँन,
हरौ तिँन असँन-बसँन छोरि दीयौ[2] तें॥
'दास' निज सेबक-सखा सों अति[3] दूरि रहि,
लूटै सुख-भूरि कों हरख-पूरि हीयौ[4] तें।
सोबत सुरुचि जागि, जोबत[5] सुरुचि धन्य,[6]
बांधब[7] कुरंग कहि, कहा तप कीयौ[8] तें॥

पुनः उदाहरन जथा—

तें-हूँ सबै उपमाँन ते भिन्न, बिचारत-ही बहु द्यौस मर्‌यौ[9] पचि।
'दास जू' देखें-सुँनें जे[10] कहूँ, अति चिंतँन के जुर जात खर्‌यौ[11] तचि॥
सो-हू बिनाँ अपनों अँनुरूप कौ, नायक-भेंट[12] बिथाँन रही खचि।
ए[13] करतार, कहा फल पायौ[14] तू, ऐसी अपूरब रूपबती रचि॥

पा०—१. (का०) (वें०) (प्र०) लियौ...। २. (का०) (वें०) (प्र०) दियौ...। ३. (वें०) अबि...। ४. (का०) (वें०) (प्र०) हियौ...। ५. (का०) (प्र०) (वें०) जोवतो...। ६. (वें०) धंध। ७. (का०) (वें०) (प्र०) बंधव...। ८. (का०) (वें०) (प्र०) कियौ...। ९. (वें०) मरौ...। १०. (का०) (वें०) जु बहु (बही)। ११. (का०) (वें०) (प्र०) खरौ...। १२. (का०) (प्र०) भेंटै...। १३. (का०) रे...। १४. (वें०) पाए...।

अथ आच्छेपालंकार बरनन जथा—

जहाँ बरजिऐ कहि इहै, अवसि करौ यै काज।
मुकर परत जिहिं बात कों, मुख्य वही जहँ राज॥

अस्य भेद जथा—

दूखि आपने कथँन कों, फेरि कहै[1] कछु और।
'आच्छेपालंकार' के,[2] जाँनों तीनों ठौर॥

वि०—"संस्कृताचार्यों ने 'अध्यवसायमूलक गम्य-प्रधान अलंकारों में 'आक्षेपालंकार (जहाँ विवक्षित अर्थ का किसी प्रकार से निषेध-सूचित हो—विवक्षित अर्थ का निषेध जैसा किया जाय,) को अंतिम अलंकार मानते हुए इसके 'उक्ताक्षेप, व्यक्ताक्षेप और निषेधाक्षेप' नाम से तीन भेद किये हैं। आक्षेप का शब्दार्थ है—अपवाद, कटूक्ति, व्यंग्यादि···, पर मूलतः इसका अर्थ 'फेंकना—'अपने पास की वस्तु को दूर फेंकना' होता है। संस्कृताचार्यों ने इसका अर्थ 'निषेध' भी माना है, क्योंकि इसमें कथित बात का निषेध भी होता है। इस निषेधात्मक चमत्कार की प्रधानता के कारण ही इस अलंकार का यह नाम पड़ा है। अतएव उक्त अलंकार में कहीं 'निषेध' और कहीं 'विधि' का आभास होने से ऊपर लिखे तीन भेद माने गये हैं। उद्भट ने जो आक्षेप का लक्षण प्रस्तुत किया है—

प्रतिषेध इवेष्टस्य यो विशेषाभिधित्सया।
आक्षेप इति त संतः शंसंति कवयः सदा॥

अर्थात्, कवि-वाणी में कुछ ऐसी भंगिमापूर्ण विचित्र शब्दावली हुआ करती है जिसमें वह अर्थ, जिसका विधान करना अभीष्ट हो उसे कुछ ऐसे निषेध के ब्याज से वर्णित किया जाता है कि निषेध होने पर भी वह विधि के अंतिम रूप में परिणत हो जाता है—चमत्कार-जनक बन जाता है। अस्तु, मम्मट्-मान्य आक्षेप-लक्षण के स्वरूप वर्णन में भो उक्त निषेध का स्पष्ट वर्णन है, फिर भी वहाँ कारिका में—वृत्ति में '···निषेधोनिषेध इव' कहकर इस निषेध को निषेधाभास के रूप में स्वीकार किया गया है, जो कि आक्षेप अलंकार का प्राण है और जिसके बिना उक्त अलंकार का वाच्य-वैचित्र्य बनना असंभव है।

अलंकाराचार्यों (संस्कृत और व्रजभाषा दोनों) में इस अलंकार के भेदों में विवाद है। कोई इसके दो ('निषेधाभास आक्षेपो वक्ष्यमाणोक्तगो द्विधा—

पा०—१. (वें०) करै···। २. (प्र०) कौ···।

सा० द० १,६५), कोई ऊपर लिखे तीन और कोई इन तीनों के प्रकारांतर से (जैसे—उक्ताक्षेप के चार भेद, जहाँ कही हुई इष्ट बात के स्वरूप-ही का निषेध-सा किया जाय, २—जहाँ कही हुई बात का निषेध-सा किया जाय, ३—जहाँ वक्ष्यमाण या कही जानेवाली पूर्ण इष्ट बात का निषेध-सा किया जाय और जहाँ कुछ अंश कहकर बाकी अंश का निषेध-सा किया जाय—आदि) सात भेद मानते हैं, किंतु मुख्य ऊपर लिखे अथवा दासजी-द्वारा कथित तीन-भेद ही प्रसिद्ध हैं।

संस्कृत-अलंकार ग्रंथों में प्रथम आक्षेप के—'वक्ष्माण-निषेधाभास, उक्त-विषय में स्वरूप का निषेधाभास और उक्त-विषय में कही हुई बात का निषेधाभास' आदि तीन भेद माने हैं।

ध्वन्यालोक (संस्कृत) में भामह के 'आक्षेप-अलंकार के प्रथम भेद 'वक्ष्यमाण-विषयक' "अहंत्वा यदि नेक्षेय०···" उदाहरण को लेकर बहुत कुछ विवेचन किया गया है। "अहंत्वा यदि नेक्षेय०' अर्थात् 'मैं तुमको (यदि) तनिक देर भी न देखूँ तो उत्कंठातिरेक से···बस इतना ही रहने दो, आगे अप्रिय बात कहने से क्या लाभ" की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि 'इस उदाहरण में जो वक्ष्यमाण अर्थ है—'मर जाऊँगी', उसका पूर्व हो निषेध—'बस इतना ही रहने दो, आगे अप्रिय बात कहने से क्या' रूप में कर दिया गया है। यहाँ 'मर जाऊँगी' व्यंग्य है—ध्वनि है, अतएव यह व्यंग्य (ध्वनि) होने से ध्वनि का अंतर्भाव इस अलंकार में किया जा सकता है, किंतु ध्वनि वहाँ होती है जहाँ व्यंग्य प्रधान हो। इस उदाहरण में व्यंग्य अवश्य है, पर वह प्रधान नहीं है। यहाँ तो व्यंग्य से वाच्यार्थ ही अलंकृत हो रहा है। इसलिये इस अलंकार में ध्वनि का अंतर्भाव नहीं हो सकता—इत्यादि···।" वामन (संस्कृत काव्यालंकार सूत्र-वृत्ती) ने भी 'आक्षेप' का लक्षण (विषय) 'उपमानाक्षेपश्चाक्षेपः (सू० ४, ३,२७) माना है, अर्थात् जहाँ उपमान का आक्षेप निष्फलत्वाभिधान से किया जाय वहाँ यह अलंकार होता है। किंतु नवीन आचार्य ऐसे लक्षण में—स्थिति में, आक्षेप नहीं मानते, वे वहाँ 'प्रतीप' अलंकार मानते हुए आक्षेप का लक्षण ऊपर लिखे भामह के मतानुसार ही करते हैं। वामन के इस—'उपमानाक्षेप०' सूत्र की व्याख्या करते हुए 'लोचन'कार ने 'उपमानस्य चंद्रादेराक्षेपः, अस्मिन् सति किं त्वयाकृत्यमिति'···कहते हुए जो उदाहरण दिया है, वह साहित्य-दर्पण में कथित प्रतीपालंकार से मिलता-जुलता है। लोचनकार ने वामन के लक्षणानुसार जो उदाहरण—"तस्यास्तन्मुखमस्ति सौम्यसुभगं किं पार्वणेनेंदुना'०···दिया है, वहाँ पूर्णचंद्र के साथ मुख की

सादृश्यादि रूप उपमा व्यंग्य है, प्रधान नहीं। वह वाच्य को ही अलंकृत कर रही है। यहाँ 'किं पार्वणेनेंदुना' से चंद्र का निष्फलत्वाभिधान रूप अपमानात्मक वाच्य अधिक चमत्कारी है। इसलिये यहाँ अथवा ऐसे उदाहरणों में व्यंग्य-प्राधान्य रूप ध्वनि का अस्तित्व न होने से उस (ध्वनि) का आक्षेप में अंतर्भाव नहीं कहा जा सकता, क्योंकि व्यंग्य और ध्वनि समानार्थक नहीं। सभी प्रतीयमान अर्थ व्यंग्य हैं, ध्वनि नहीं। ध्वनि वहीं मानी जायगी, जहाँ व्यंग्य का प्राधान्य हो।

कुछ आचार्यों ने 'वामन' के इस सूत्र—'उपमानाक्षेपः० की व्याख्या 'उपमानस्य आक्षेपः सामर्थ्यादाकर्षणम्' रूप से भी की है। अर्थात् जहाँ उपमान का सामर्थ्य से आकर्षण किया जाय, वह शब्दतः उपात्त न हो तो वहाँ आक्षेप-अलंकार कहा जायगा। इसके उदाहरण में वामन प्रयुक्त उदाहरण—"ऐंद्रं धनुः पांडुपयोधरेण०.........' जो 'उपमानस्याक्षेपतः प्रतिपत्तिरित्यपि-सूत्रार्थः" रूप से देते हैं। अस्तु, इस उदाहरण में भी ईर्ष्याकलुषित नायकांतर रूप उपमान आक्षिप्त है, वह वाच्यार्थ को ही अलंकृत कर रहा है। अतएव यह वामन-मतानुसार आक्षेप का उदाहरण हो सकता है, भामह-आदि के मत से नहीं। वे यहाँ समासोक्ति अलंकार मानते हैं, उसका विषय कहते हैं। अतएव 'आक्षेप' में उक्त बात मानने और करनेवाले भी इसमें वाच्य का चारुत्व-ही स्वीकार करते हैं, क्योंकि आक्षेप वचन-सामर्थ्य से ही प्रधानतया वाक्यार्थ प्रतीत होता है। वहाँ विशेष के बोधन की इच्छा से जो शब्दोपात्त रूप आक्षेप है, वही व्यंग्य विशेष का आक्षेप कराता है—वही उसका मुख्य काव्य-शरीर है। यहाँ चारुत्व के उत्कर्ष मूलक वाच्य और व्यंग्य का प्राधान्य विवक्षित होता है, जैसे—

> "अनुरागवती संध्या दिवसस्तत्पुरः सरः।
> अहो दैवगतिः कीदृक् तथापि न समागमः॥"
>
> —ध्वन्यालोक १, १३

यहाँ नायक-नायिका के कथनोपकथन में व्यवहार रूप व्यंग्य की प्रतीति होने पर भी वाच्य का चारुत्व अधिक होने से वाच्य को ही प्रधानता विवक्षित है।

इस—'अनुरागवती०...'रूप उदाहरण में वामन-मतानुसार 'आक्षेप' और भामह-मतानुसार 'समासोक्ति' अलंकार माने गये हैं तथा इस बात का खयाल करके ही ध्वनिकार ने यहाँ उक्त उभय-अलंकारात्मक उदाहरण दिया है, किंतु यहाँ आक्षेप है, या समासोक्ति यह विचारणीय प्रश्न नहीं है। यहाँ प्रकृत बात तो इतनी-ही है कि अलंकार-स्थल में व्यंग्य सर्वथा वाच्य में गुणीभूत

हो जाता है, इसलिये ऐसे स्थलों में व्यंग्य का प्राधान्य न रहने से इसे ध्वनि-काव्य या ध्वनि का विषय नहीं कहा जा सकता। अतएव ध्वनि का अलंकारों में अंतर्भूत होने का प्रश्न नहीं उठता"—इत्यादि...।

प्रथम आच्छेप "आयुस-मिस बरजिबे कौ उदाहरन जथा—

जैऐ बिदेस, महेस करै[1] उत बात तिहारो सबै बनि आवैं।
पीतँम कों बरजै कछु कौंम में, बाँम[2] अयानिनि कौ पद पावै॥
एती बिनै करि[3] दासिँन पै,[4] कहि जाइबी नेंक बिलंब न लावै।
काँन्ह पयाँन करौ तुँम्ह ता दिनाँ,[5] मोहि लै देव-नदी अँन्हवावै[6]॥

वि०—"दासजी का प्रस्तुत उदाहरण -"आयुस-मिस बरजिबौ"—रूप आक्षेप का, उसके प्रथम भेद का उदाहरण कहा गया है, पर संस्कृत और ब्रज-भाषा के अलंकार-आचार्यों के मतानुसार आक्षेप अलंकार के तृतीय भेद—व्यक्ताक्षेप (जिस कथन में अनिष्ट अर्थ की ऐसी विधि हो—आज्ञा हो, जो निषेध के तात्पर्य से गर्भित हो) का और नायिका-भेद की दृष्टि से "प्रवत्स्यत्पतिका" (प्रियतम के होने वाले वियोग की आशंका से दुखित) नायिका का उदाहरण है। अतएव उक्त नायिका का कथन है कि "आप प्रदेश अवश्य जाँय, पर उस दिन जाँय जिस दिन मुझे गंगा में नहलाया जाय, अर्थात् जब मैं "मर जाऊँ"। विधि-पूर्वक बचनों में निषेध है—विदेश-गमन रूप अनिष्ट की संमति का आभास मात्र है, विदेश-गमन रूप अनिष्टार्थ की विधि है—आज्ञा है, साथ-ही अंतिम पद-द्वारा विदेश-गमन के निषेध का तात्पर्य गर्भित है।

प्रवत्स्यत्पतिका रूप प्रिय-गमन से दुखित नायिका के वर्णन में भी ब्रजभाषा के कवियों ने अपने से पूर्व साहित्यकारों से बाजी मार ली है। दो-एक उदाहरण, जैसे--

"माँन कै भुरी न, दसा-दुसह दुरी न,
छिँन एकौ बिछुरी न, हठि हठि न हठाँऊगी।
पीठ देंउ जी-ही कों न पीठ पी कों दैंउ नेंक,
नीठ परदेस चले, उठि न बिठाँऊगी॥
पीतँम सों प्रीति की प्रतीति, मेरें और की न-
प्रेंम-पीठ-बैठि मोर-ऐंठि न बढ़ाँऊगी।

पा०—१. (वें०) करौ उतपात...। (प्र०) करें...। २. (का०) नाम...। ३. (का०) (वें०) करौ...। ४. (का०) (वें०) (प्र०) सों...। ५. (का०) (वें०) (प्र०) दिन...। ६. (का०) (वें०) नहवावैं।

प्राँनपति प्रात - ही पयाँन करौ चाँहैं 'देव',
सेवा करिबे कों संग प्राँनन - पठाँऊगी ॥"

❀

"रोकहुँ जो तौ अमंगल होत, औ प्रेम-नसै जो कहों 'पिय-जाइऐ।
जो कहों 'जाउ न', तौ प्रभुता, जो कछू न कहौं तौ सँनेह-नसाइऐ ॥
जो 'हरिचंद' कहों तुँम्हरे-बिन, 'जीहों न' तौ यै क्यों पातियाईऐ।
ताते पयाँन सँमें तुम सों हँम, का कहें प्यारे, हँमें सँमझाइऐ ॥"

❀

"जाने की जिद है, जाइये, है देर किस लिये।
गुजरेगी जिस तरह से, हँम भी गुजार देंगे ॥"

अथ द्वितीय आच्छेप रूप 'निषेधाभास' कौ उदाहरन जथा—

आज ते नेह कौ नाँतौ गयौ, तुँम नेंम[1]-गह्यौ हौं-हू[2] नेंम-गहोंगी[3]।
'दास जू' भूलि न चाहिऐ[4] मोहि, तुम्हें अब क्यों हूँ न हौं-हूँ चहोंगी ॥
वा दिँन मेरे प्रजंक पै सोए हौ. हौं[5] वह[6] दाव लहौं प लहोंगी।
माँनों भलौ कै[7] बुरौ मँनमोंहँन, सेज[8] तिहारी में सोइ रहोंगी ॥*

वि०—"दासजी कथित यह उदाहरण आक्षेप द्वितीय रूप "निषेधाभास" का—"जिसमें विवक्षितार्थ का वास्तविक निषेध न हो, निषेध का आभास मात्र हो," का है। संस्कृत में इसे "निषेधाक्षेप" भी कहा जाता है।

अथ तृतीय आच्छेप रूप "निज-कथँन कौ दूषँन-भूषँन" जथा—

तुव मुख बिमल-प्रसन्न अति, रह्यौ कँमल-सौ फूलि।
नहिँ-नहिँ पूरँन चंद-सौ, कँमल कह्यौ में भूलि ॥

पुनः उदाहरन जथा —

जिय की जीवँन-मूरि मँम, वौ[9] रँमनी-रँमनीय।
यै-हु[10] कहत हौं भूलि कें, 'दास' वही मो जीय ॥

पा०—१. (प्र०) नेह...। २. (प्र०) हम...। ३. (रा० पु० नी० सी०) गहेंगी...। ४. (रा० पु० नी० सी०) चाँहों हमें, तुम्हें अब क्यों-हू न हम-हूँ चहेंगी। ५. (रा० पु० नी० सी०), हँम वौ दाव लहें पै लहेंगी। ६. (का०) (वें०) यह। ७. (का०) (प्र०) कि...। (वें०) की...। ८. (वें०) सैन तिहारी मैं स्वै-ही...। (रा० पु० का०) सेज तिहारीऐ। (रा० पु० नी० सी०) हम सेज तिहारिऐ सोइ रहेंगी। ९. (का०) (प्र०) वा...। १०. (का०) (वें०) (प्र०) यहौ...।

* शृं० नि० (भि० दा०) पृ० ३४, १९१।

वि०—दासजी कृत यह (दोनों उदाहरण) तृतीय आक्षेप—"निज कथन कौ दूखँन मिस भूषँन-सम बरनन" का है। अलंकार के अन्य ग्रंथों में यह प्रथम आक्षेप (जिसमें अपने कथितार्थ का उत्कर्ष-सूचक निषेध किया जाय) का है। ये दोनों उदाहरण नायिका के सौंदर्य और प्रेम के उत्कर्ष को सूचित करते हैं। मतिरामजी ने भी उक्त अलंकार का सुंदर उदाहरण प्रस्तुत किया है, यथा—

"दै मृदु-पाँइन जावक कौ रँग, नाह कौ चित्त रँगै-रँग जातें।
अंजन दै करौ नैंनँन में सुखमाँ बढ़ि स्याँम - सरोज - प्रभातें॥
सोंने के भूषँन अंग रचौ, "मतिराम" सबै बस कीवे की घातें।
यों-हीं चलौ न, सिंगार सुभाव-हि, मैं सखि, भूलि कही सब बातें॥"

अथ परजायोक्ति अलंकार बरनन जथा—

कहै[1] लच्छनाँ-रीति लै, कछु रचनाँ सों बैंन।
मिस-करि कारज साधिबौ, 'परजाजोक्ति' सु ऐंन॥

वि०—"जहाँ पयार्य—शब्दार्थानुरूप 'प्रकार' और 'व्याज' (बहाने) इन दोनों (अर्थों) के आधार पर वर्णन किया जाय, वहाँ उक्त अलंकार कहा जाता है। दासजी ने यहाँ—पर्याय-अलंकार का लक्षण न कह उसके दोनों भेदों—"जहाँ लक्षणा की रीति से—व्यंग्य से, अपना इच्छित अर्थ कहना" और "जहाँ किसी बहाने से मन-वांछित-कार्यसाधा जाय", का लक्षण कहा है।

पर्यायोक्ति का शब्दार्थ है, पर्याय (अन्य प्रकार) से कहना—अपने अभीष्ट अर्थ को सीधी भाँति न कह घुमा-फिराकर कहना। यह घुमा-फिराकर कहना 'प्रकार' (जिसमें विवक्षितार्थ का वर्णन सीधी रीति से न कर चमत्कारपूर्ण प्रकारांतर से किया जाय) से तथा "व्याज" (जहाँ किसी रमणीय व्याज—बहाने के साथ —द्वारा अभीष्ट-साधन किया जाय) से बनता है।

पर्यायोक्ति का सर्वप्रथम लक्षण भामह का इस प्रकार है "पर्यायोक्तं पदन्येव प्रकारेणाभिधीयते।" जिसे उद्भट ने परिष्कृत किया और दंडी ने भी इनका अनुशरण किया। काव्य-प्रकाशकार मम्मट् ने उक्त अलकार के लक्षण में अनुशरण तो भामह, उद्भट और दंडी का ही किया है, पर अपने वाक्-वैचित्र्य के साथ। भामह और दंडी कृत लक्षणों में जो 'अन्य प्रकार' तथा 'प्रकारांतर' का रूप अस्पष्ट था उसे आपने—'अवगमन-व्यापार', वा व्यंजन-व्यापार से कहकर अधिक

पा०—१. (का०) (वें०) (प्र०) कहिय...।

स्पष्ट कर दिया। साथ-ही व्यंजना के द्वारा वाच्यार्थ का अभिधान रूप जो पर्यायोक्ति का प्राण था, उसे भी अधिक स्फुट कर दिया। क्योंकि उक्त अलंकार में व्यंजना-द्वारा वाच्यार्थ का अभिधान-ध्वनि द्वारा नहीं—उसका चमत्कार व्यंग्यार्थ से विभूषित नहीं, अपितु "उक्ति-वैचित्र्य" से है...।

अथ प्रथम रचना सों बेंन (शब्दार्थानुरूप प्रकार) कौ उदाहरन जथा—

जा तुव बेंनी के बेरी के पच्छ कौ, राजी मनोहर सीस चढ़ाई।
'दास जू' हाथ लिऐं रहै कंठ, उरोज, भुजा, चख तेरे कै[1] भाई॥
तेरे-ई रंग कौ[2] जा कौ पटा, जिन तो रद-जोति की माल बँनाई।
तो मुख के तौ हरायल[3] आज, दई उनकों अति हायलताई॥

दूसरौ उदाहरन मिसकरि (व्याज से) कारज साधिबे कौ जथा—

आज चंदभागा,[4] चंपलतिका - बिसाखा कों,
पठई[5] हरि-बाग में[6] कलों में करि कोट-कोट।
साँझ - सँमें बीथिनि में ठाँनि[7] द्दग - मींचनों
भुराई तिन राधे कों जुगत कै निखोट-खोट॥
ललिता के लोचँन मिँचाइ चंदभागा सों,
दुराइबे कों ल्याँई वे तहाँ-ई 'दास' पोट-पोट।
जाँन - जाँन धरी, तिय - बाँनी लरखरी,[8] तकि
आली तिहिँ घरी,[9] हँसि-हँसि परीं लोट-लोट॥*

वि० —"द्वितीय पर्यायोक्ति का लक्षण जैसा दासजी ने माना है, वह लक्षण "चंद्रालोक" (जयदेव) और "कुवलयानंद" के अनुसार है--पर इस लक्षणा-नुसार "पर्यायोक्ति" (प्रकारांतर से कहा जाना) का जो विशेष चमत्कार है, वह स्पष्ट नहीं होता...। दंडो ने इसका लक्षण—"इष्ट-अर्थ को स्पष्ट न कह, उसकी सिद्धि के लिये प्रकारांतर से कहा जाना "माना है।"

पा०—१. (वें०) को...। २. (वे०) की जाकी पटा...। ३. (का०) हरायत...। ४. (वे०) चंद्रावली...। ५. (वें०) पठाई। ६. (का०) (वें०) (प्र०) तें...। ७. (शृं० नि०) ठाँनीं दृग-मींचनी...। ८. (का०) (वें०) (प्र०) लरबरी...। (शृं०-नि०) रसभरी सब। ६. (का०) (वें०) (प्र०) धरी...।

* शृं० नि० (दास) पृ० ८२, २४२।

आचार्य मम्मट ने भी अपने काव्य-प्रकाश (संस्कृत) के दशवें उल्लास में अन्य अलंकारों के साथ पूर्वापर-क्रम से अप्रस्तुत प्रशंसा तदनंतर आक्षेप, व्याज-स्तुति, पर्यायोक्ति और समासोक्ति का उल्लेख किया है। प्रस्तुतांकुर अलंकार आपने नहीं माना और समासोक्ति के प्रति भी आपके विचार स्फुट रूप में नहीं हैं। यों तो समासोक्ति नाम का प्रथम उल्लेख वार्त्तिक रूप में—

"तुल्ये प्रस्तुते तुल्याभिधाने त्रयः प्रकाराः श्लेषः 'समासोक्तिः' साहश्यमात्रं वा तुल्यात्तुल्यस्यहि आक्षेपे हेतुः।"

अर्थात् तुल्य विषय के प्रस्तुत रहने पर उसके तुल्य अप्रस्तुत विषय के वर्णन में तीन प्रकार संभव हैं, जिन्हें—श्लेष, समासोक्ति और सादृश्य-मात्र का सद्भाव कहकर किया है। और आगे—

"साधारणविशेषणवशादेव समासोक्तिरनुक्तिमपि उपमानविशेष०...।"

में भी किया गया है, पर उसे प्रथक् अलंकार रूप से नहीं अपनाया है। यही प्रस्तुतांकुर के संबंध में भी कहा जा सकता है। अस्तु, वहाँ इन दोनों-ही अलंकारों का उल्लेख नहीं है।

"इति श्री सकलकलाधर कलाधरबंसावतंस श्रीमन्महाराजकुँमार श्री बाबू हिंदूपति-बिरचिते 'काव्य-निरनए' अन्योक्ति-आदि अलकार बरननं नाम द्वादसोल्लासः॥"

—००—

अथ तेरहवाँ उल्लासः

बिरुद्धालंकार बरनन जथा—

बिबिध, बिरुद्ध—'बिभावनाँ", "ब्याघातै" उरु आँन।
"बिसेसोक्ति"¹औ "असंगति," "बिषम" सहित छै जाँन ॥

वि०—' इस उल्लास में दासजी ने संस्कृताचार्यों-द्वारा कहे गये "विरोध-मूलक"—"विरुद्ध (विरोधाभास), विभावना, व्याघात, विशेषोक्ति, असंगति, "और विषम" आदि छह अलकारों का कथन किया है। संस्कृत-साहित्य में विरोध-मूलक तेरह (१३) अलंकार माने गये हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं—"विरोधाभास, विभावना, विशेषोक्ति, विषम, सम, असंगति, असंभव, विचित्र, व्याघात, अधिक, अल्प, विशेष और अन्योन्य। "दासजी के उक्त छह विरुद्धालंकार (विरोध-मूलक) मानने का क्या आधार है, कुछ कहा नहीं जा सकता। वह स्वतंत्रता-संयुक्त है। "रुय्यक" और उनके शिष्य "मंखक" ने भी "विरोध मूलक बारह अलंकार—"विरोध, विभावना, विशेषोक्ति, सम, विचित्र, अधिक, अन्योन्य, विशेष, व्याघात, अतिशयोक्ति, कार्य-कारण पौर्वापर्य असंगति और विषम माने हैं। इनमें "अल्प" और 'असंभव" का वायकाट कर 'अतिशयोक्ति' को स्थान दिया गया है। ये सभी अलंकार विरोध-मूलक हैं। सम को विरोध-मूलक न होने पर भी "विषम" का विरोधी होने के कारण इस वर्गीकरण में स्थान मिला है, इत्यादि. . .।

काव्य-प्रकाश संस्कृत के मान्य ग्रंथ में भी इनका कोई प्रथक् उल्लास के साथ कथन वा वर्णन नहीं है। वहां प्रथम विभावना पुनः विशेषोक्ति और इसके बाद विरोधाभास, असंगति, विषम और व्याघात का बिना कोई क्रम के आगे-पीछे उल्लेख है। साहित्य-दर्पण में भी प्रायः यही परिपाटी है। अस्तु, विरोधालंकार वहाँ है, जहाँ सुने जाने वाले शब्द से विरोध-सा प्रतीति तो हो, परंतु शब्दों का अन्य-परक तात्पर्य होने से उसका परिहार भी हो जाय...। अर्थात् विरोध के आभास से विकृत होकर भी चमत्कार-जन्य बना रहे, क्योंकि यह अलंकार तभी अलंकार है, जब कि वाच्यार्थ में विरोध प्रतिभाषित होता रहे। यदि उसके

पा०—१. (का०) (प्र०) बिसेसौक्तिरु असंगत्यौ...। (वें०) बिसेसोक्ति अरु संगतौ, बिषम समोक्ति छहू...।

व्यंग्यार्थ में विरोध प्रतीति न हो तो वहाँ उक्त अलंकार नहीं, उसकी ध्वनि होगी। वस्तुतः उक्त अलंकार, कवि-प्रतिभा का शब्द रूपावतार है, जो अपनी विवक्षा से प्रजापति की सृष्टि में परिवर्तन कर नीरस को भी सरस बना देता है—कठोर में भी कोमलता का सृजन करता है।

प्रथम विरुद्धालंकार जथा—

कहत, सुँनत, देखत जहाँ, है कछु अँनमिल-बात
चमतकार-जुत-अरथ-जुत, सो "बिरुद्ध" औदात[1] ॥

वि०—"जहाँ कहते, सुनते और देखते चमत्कार से पूर्ण अर्थ-युक्त अन-मिल (बिना मेल=प्रथम कही हुई के विरुद्ध) बात कही-सुनी जाय वहाँ 'विरुद्धालंकार' होता है, ऐसा दासजी का अभिमत है। संस्कृत-अलंकाराचार्यों की भाँति भाषा-भूषण-रचयिता ने भी 'विरुद्धालंकार' को 'विरोधाभास' नाम देते हुए इसका विषय उन्हीं की भाँति -

"भासै जबै बिरोध-सौ, वहै "बिरोधाभास" ।"

माना है, अर्थात् जहाँ वास्तविक विरोध न होकर विरोध-सा भासित हो, वहाँ यह अलंकार होता है—बनता है। यह विरोध का आभास जाति, गुण, क्रिया और द्रव्य के वर्णनों में, एक के प्रति दूसरे का पारस्परिक रूप में प्रकट होता है, जैसा श्री दासजी ने "विरुद्धालंकार" के भेद करते हुए कहा है। यथा—

अथ विरुद्धालंकार-भेद बरनन जथा—

जाति-जाति, गुँन-जाति औ क्रिया-जाति अबरेख।
जाति-द्रव्य, गुँन-गुँन[2] क्रिया, क्रिया-क्रिया-गुँन लेख ॥

*

क्रिया-द्रव्य, गुँन-द्रव्य औ, द्रव्य-द्रव्य पैहचाँन।
ए दस भेद 'बिरुद्ध' के, गनें[3] सुँमति उर-आँन ॥

वि०—"उक्त दस भेदों से अलंकृत 'विरुद्धालंकार'—जाति का जाति से, जाति का गुण से, जाति का क्रिया से, जाति का द्रव्य से, गुण का गुण से, गुण का क्रिया से, गुण का द्रव्य से, क्रिया का क्रिया से, क्रिया का द्रव्य से, द्रव्य का द्रव्य से माना जाता है।

पा०—१. (का०) (वें०) (प्र०) अवदात...। २. (वें०) गँन...। ३. (वें०) गँनौं...।

विरोधालंकार में यह आवश्यक है कि कही हुई बातों में विरोध स्पष्ट दिखलाया जाय, पर वास्तविक विरोध न हो। वास्तविक विरोध-प्रदर्शन होने पर वह दोष बन जायगा। यहाँ विरोध ऐसा हो जिसका उचित कारणों से समाधान किया जा सके, क्यों कि यहाँ विरोध न होकर विरोध का आभाष मात्र है। यों तो विभावना, विशेषोक्ति और विरुद्ध ये तीनों-ही अलंकार विरोध-मूलक हैं, प्रथम दो (विभावना-विशेषोक्ति) में विरोध संकुचित है— अपवाद रूप में आता है, विरुद्ध में उत्सर्ग के रूप में, अर्थात् पूर्णतः प्रदर्शित किया जाता है। पहिले दोनों में विरोध कार्य-कारण संबंध से होता है, इसमें कार्य-कारण का कोई संपर्क नहीं होता। विभावना में कारण का अभाव अपूर्णतादि वाधक हैं, कार्य वाध्य है। कारण का अभाव वास्तविक है और कार्य कल्पित है तथा विशेषोक्ति में इसके विपरीति, उलटा। इसमें कारण वाधक है तथा कार्य का अभाव वाध्य है, अर्थात् कारण के प्रस्तुत रहते भी कार्य के न होने की कल्पना की जाती है। उपरोक्त (विभावना-विशेषोक्ति) दोनों में वास्तविक तथा कल्पित में विरोध रहता है। विरुद्ध में दोनों-ही वाध्य-वाधक होते हैं और दोनों-ही समबल के होते हैं।"

प्रथम विरुद्ध "जाति-जाति सों कौ उदाहरन जथा—

प्राँनन[1]-हरत, न धरत डर, नेंकु दया कौ साज।
एरी, यै द्विजराज भौ, कुटिल कसाई आज॥

अस्य तिलक

इहाँ 'रूपक' अंग है, जाति-गुँन सों बिरुद्ध।"

वि०—"इस उदाहरण में "द्विजराज" और "कसाई" दोनों-ही जाति-वाचक शब्द हैं, दोनों-ही एक-दूसरे के विरोधी हैं, पर विरह-दशा में दोनों को सम (बराबर) कहा गया है।"

द्वितीय विरुद्ध "जाति सों क्रिया" कौ उदाहरन जथा—

दरसावत थिर दाँमिनी, केलि-तरुनि-गति[2] देत।
तिल-प्रसून सुरभित करत, नौतन बिध झख-केत॥ *

अस्य तिलक

इहाँ "रूपकातिसै-उक्ति" अपरांग है, जाति क्रिया सों बिरुद्ध है।

पा०—१. (रा० पु० प्र०) प्रान-हरत नहिं...। २. (प्र०) दुति...।
* भा० भू० (केशिया) पृ० २१४।

पुनः उदाहरन जथा—

पंगुँन कौ पग होत[1], अंधेन[2] कौं आसा-मग,
एकै जौंन ह्वै कें जग कीरति चलाई है।
बिरचै[3] बितौंन बैजयंती बारि गहै थाहैं,
बास-सी बिलासो बिस्व-बिदित बड़ाई है॥
छाया करै जग कौं, थहाया करै ऊँच[4]-नीच,
पाइ जिहिँ बंसँन[5] में बढ़त सदाँई है।
कौंन्ह-मुख लागि[6] करै करँम-कसाइँन कौ,
वाही बंस बाँसुरो जँनम-जरी[7] जाई है॥*

वि०—"जो पंगुओं (लँगड़ों) को पैर, अंधों को मार्ग-प्रदर्शन का—किसी सवारी का काम देकर जग में कीर्ति फैलाए। जिससे लोग वितान (पाल-तंबू) और पताकाएँ तानते हैं, गहरे पानी की थाह लगाते हैं, कपड़े सुखाने की अरगनी बनाते हैं, जो छप्पर में बँध कर छाया और ऊँचे-नीचे मार्ग में सहारा देता है, ऐसे वंश में पैदा होकर ये "जनम-जरी" श्रीकृष्ण के मुँह-लगकर कसाई का कार्य करती है, इत्यादि ..। यह जाति से क्रिया-विरुद्ध का सुंदर उदाहरण है।"

अथ तृतीय बिरुद्ध जाति सों द्रव्य कौ उदाहरन जथा—

चंद कलंकित जिन कियौ, कियौ सकंट मृनार[8]।
बहै बुधंन बिरही करै, अबबेकी करतार[9]॥

अथ चतुर्थ बिरुद्ध गुँन सों गुँन कौ उदाहरन जथा—

प्रिया, फेरि कहि वैस-हीं, करि बिय[10]लोचँन लोल।
मोहि निपट मींठे लगें, ए तेरे[11] कटु बोल॥†

अथ पंचम बिरुद्ध क्रिया सों क्रिया कौ उदाहरन जथा—

सिव साहिब अचरज भरयौ, सकल रावरौ अंग।
क्यों कौंमें जारयौ, कियौ क्यों कौंमिनि अरधंग॥

पा०—१. (वें०) होते...। २. (का०) (वे०) (प्र०) अधँन ..। ३ (वें०) बिरचौ ..। ४. (का०) (वें०) (सू० स०) ऊँचौ-नींचौ पाया। ५. (का०) बंस में यों बढ़त...। (वें०) बंस के मे बढ़त...। (प्र०) पाई जेहि बंस में यों बढ़ती सुहाई है। ६. (वें०) लागी...। ७. (वें०) (सू० स०) जरी...। ८. (वे०) मृनाल ..। ९. (वें०) करताल...। १०. (का०) बिबि...। ११. (का०) (प्र०) (सं० पु० प्र०) तेरी...। (वें०) तेरौ...। (का०) (वें०) (प्र०) (स० पु० प्र०) मींठी लगै, यह तेरी—तेरौ..।

* सू० स० (ला० भ० दी०) पृ० ५४। † भा० भू० (केडिया) पृ० २१७।

अथ षष्ठ बिरुद्ध गुँन सों क्रिया कौ उदाहरन जथा—

दच्छिन पौंन त्रिसूल भयौ, त्रिगुनों[1] नहिं जाँने कि सूल है कैसौ।
सीरौ मलै[2] जगती में बहै, दुख दैंन कों भौ अहि-संगी अँनैसौ॥
बारिज हू बिष-रीति[3] लई,[4] अब 'दास' भयौ है[5] जु औसर ऐसौ[6]।
जाहि पियूष-मयूष कहैं, वौ[7] कॉम करै रजनीचर जैसौ[8]॥

अथ सप्तम बिरुद्ध गुँन सों द्रव्य कौ उदाहरन जथा—

'दास', छाँड़ि[9] दासीपनों, कियौ न दूजौ तंत।
भावी-बस तिहिं कूबरी, लह्यौ कंत जग-बंद॥

अथ अष्टम बिरुद्ध क्रिया सों द्रव्य कौ उदाहरन जथा—

केस, मेद, कच, हाड़ सों[10] बवै त्रिबेंनी-खेत।
'दास' कहा कौतुक कहों, सुफल च्यारि लुनि लेत॥

अथ नवम बिरुद्ध द्रव्य सों द्रव्य कौ उदाहरन जथा—

ज्यौ पट लह्यौ[11] बघंबरो, सज्यौ चंद नख[12] भाल।
डौंरु-ब्याल त्यों संग्रह्यौ, तजि मुरली-बँनमाल॥

अथ बिरुद्धालंकार-संसृष्टि उदाहरन जथा—

नेह-लगावत रूखी परी तँन,[13] देखि गही अति उन्नतताई।
प्रीति बढ़ावत बैर-बढ़ायौ, तू कोंमल[14] गात[15] गही कठिनाई[16]॥
जे ती करो अँनभाँवती तू, मन-भाँवती तेती सजाइ कों पाई।
भाकसी भौंन, भयौ ससि सूर, मलै बिष ज्यों सर-सेज सुहाई॥

बि०—"काव्य-निर्णय" की सभी (हस्त-लिखित तथा मुद्रित) पुस्तकों में बिरुद्धालंकार के कथित दस भेदों के उदाहरण-रूप दस छंद तो मिलते हैं, पर शीर्षक नहीं मिलते। एक को कमी खटकती रहती है। यहाँ विविध शीर्षकों

पा०—१. (का०) (वें०) (प्र०) त्रिगुने...। २. (वें०) (सं० पु० प्र०) मलैज गन्यो मैं बहु दुख...। ३. (वें०) बिपरीत...। ४. (का०) (वें०) (प्र०) लियौ। ५. (का०) (प्र०) यह...। (वें०) अब...। ६. (रा० पु० प्र०) (रा० पु० नी० सी०) कैसौ...। ७. (का०) (प्र०) वह...। (वें०) वहै...। (सं० पु० प्र०) ससि...। ८. (स० पु० प्र०) कैसौ। ९. (का०) (वें०) (प्र०) छोड़ि ...। (रा० पु० नी० सी०) छाँड़ि दास दासीपनों। १०. (का०) (प्र०) जो ..। (वें०) सों...। ११. (का०) (वें०) लह्यौ। १२. (सं० पु० प्र०) खत...। (प्र०) सज्यो चद्रवत भाल। १३ (वें०) नत...। १४. (का०) (वें०) कोमली...। १५. (प्र०) बाँनि...। (रा० पु० प्र०) गात...। १६. (सं० पु० प्र०) निठुराई।

पर नजर डालने से ज्ञात होता है कि काव्य-निर्णय के लेखक (कापी-कर्त्ता) महोदयों ने विरुद्धालंकार के द्वितीय भेद "जाति से गुण का" विरोध-दर्शक-शीर्षक नहीं लिखा और "दरसावत थिर दाँमिनि०..." जो उक्त भेद का उदाहरण है, तृतीय "जाति से क्रिया" का भेद मान उसके नीचे वाला छंद घनाक्षरी "पंगुँन कौ पग होत०..." भी तृतीय भेद का उदाहरण स्वीकार कर किया है। हमने यहाँ छंद तथा उनके शीर्षक समस्त पुस्तकों के आधार पर लिखे हैं, पर यह गलत है। अस्तु, तृतीय के स्थान पर चतुर्थ, चतुर्थ के स्थान पर पंचम... क्रमशः होने चहिये, जिससे उक्त अलंकार के दसों शीर्षकों व उदाहरणों का सामजस्य बैठ जाय...।

एक बात और, वह यह कि इस अलंकार में "जाति, गुण क्रिया, और द्रव्य" पारभाषिक शब्द आये हैं, अतएव—"जिन शब्दों से एक-ही प्रकार के अनेक व्यक्तियों का बोध हो, उसे "जाति वाचक-शब्द" कहते हैं। देव, मनुष्य, पशु-पक्षी, पहाड़, नद-नदी और वृक्षादि जाति-वाचक शब्द हैं। गुण वा गुण-वाचक शब्द जो गुणों को प्रकट करे, जिनसे द्रव्यों का गुण सूचित हो और "क्रिया" वा क्रिया-वाचक शब्द वे कहलाते हैं जिनसे व्यापार का होना या करना पाया जाय। इसी प्रकार द्रव्य—"जिस शब्द से व्यक्ति-विशेष का बोध हो, उसे नाम और जिसका वह शब्द नाम हो उस व्यक्ति-विशेष को "द्रव्य" कहते हैं, जैसे-विष्णु शब्द, यह 'विष्णु' शब्द तो नाम है, किंतु जिस देवता का यह नाम है वह (देवता) 'द्रव्य' है। अतः सूर्य, चंद्र, दिलीप कामधेनु, हिमालयादि सब द्रव्य हैं।

भाषा-अलंकार-ग्रंथों में 'द्रव्य' शब्द से महर्षि 'कणाद'-कृत "वैशेषिक-दर्शन में कहे गये-पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिशा, मन और आत्मारूप नौ द्रव्यों को ग्रहण किया गया है, जो इनमें गृहीत नहीं हो सकते। यहाँ तो व्याकरणानुसार जो अर्थ अभीष्ट है, वही ग्रहण किया जाना उचित है। यही अर्थ भगवान् पतजलि के महाभाष्य में भी माननीय हैं।

महा कवि केशव ने अपनी प्रसिद्ध - "कवि-प्रिया" में "विरोध (विरुद्ध)" और "विरोधाभास" दो प्रथक्-प्रथक् अलंकार माने हैं (दे० प्रिया-प्रकाश—ला० भगवानदीन, पृ० १६०, १६४ प्रथम संस्करण) और दोनों के ही प्रथक्-प्रथक् उदाहरण (विरोध—"सोमित सुबास हाम०"... और "विरोधाभास—"परम पुरुष कुपुरुष-सँग सोभियतु०",...) दिये हैं, तथा लक्षण इस प्रकार लिखे हैं। विरोधालंकार, यथा—

"'केसौदास' बिरोध-मय रचियतु बचन-बिचारि।
तासों कहत "बिरोध" सब, कबि-कुल सुबुधि बिचारि ॥"

विरोधाभास—

"बरनत लगै बिरोध सौ, अर्थ सबै अबरोध।
प्रघट "बिरोधाभास" पै, समझत सबै सुबोध ॥"

अतएव "पोद्दार श्रीकन्हैयालाल" का यहाँ कहना है कि "महाकवि केशव स्वयं इन दोनों (अलंकारों) को प्रथक्ता नहीं दिखला सके हैं। उन्हों (केशव) ने विरोध का लक्षण अस्पष्ट लिखकर उदाहरण "काव्यादर्श' से अनुवादित सूक्ति का दिया है, यथा—

"सोभित सुबास हास सुधा सों सुधार्यौ बिधि,
बिध कौ निवास जैसौ तैसौ मोहकारी है।
'केसौदास' पावन परम हंस गति तेरी,
पर-हिय-हरँन प्रकृति कों नें पारी है॥
बारक बिलोकि बल-बीर से बलींन कहूँ,
करत बरहिँ बल ऐसो बैम—बारी है।
एरी मेरी सखी, तेरी कैसें कै प्रतीत कीजै,
कृस्नानुसारी—दग करनानुसारी हैं॥"

यहाँ कृष्ण और कर्ण इन श्लिष्ट शब्दों के प्रयोग से जो विरोध दिखलाया गया है वह कृष्ण का "श्यामरंग" और कर्ण का कान (श्रवण) श्लेषार्थ होने से विरोध का आभास रह जाता है, वास्तव में विरोध नहीं। दूसरे उदाहरण—

"आपु सितासित-रूप, चितै चित स्याँम-सरीर रँगै रँग-रातें।
'केसव' काँनन-हींन सुनें, सु कहै रस की रसनाँ-बिन बातें॥
नैन किधों कोउ अंतरजाँमी-री, जाँनति नाहिँन बूझति तातें।
दूर लों दौरत हैं बिन-पाँइन, दूर—दुरी दरसै मति आतें॥"

के भी प्रथम चरण में कारण के गुण से कार्य का गुण विरुद्ध होने के कारण तृतीय विषम और शेष चरणों में कारण के अभाव में कार्य की उत्पत्ति होने के कारण प्रथम "विभावना ही लक्षित होती है, विरोध नहीं।"

ला० भगवानदीनजी भी "पिया-प्रकाश" में कहते हैं—"प्रथम छंद—(सोभित सुबास०...) के प्रथम और तृतीय चरण में विरोध है और दूसरे तथा चौथे में उसका "आभास", पर श्री केशव ने विरोधाभास को विरोध के अंतर्गत-ही माना है...। क्योंकि इन दोनों चरणों में श्लेष के कारण विरोध नहीं, आभास रह गया है।

दूसरे छंद—"आपु सितासित०..." के प्रति आप (दीनजी) का कहना है कि "इस छंद के प्रथम चरण में विषम और शेष चरणों में विभावना दिखलायी देती है, पर विचार करने से ये ठहरते नहीं, क्योंकि प्रथम चरण में "रँग-राते" शब्द से तात्पर्य प्रेम से हैं, किसी रंग विशेष से नहीं। शेष चरणों में कान, जीभ और चरण के संबंध में कहा गया है, वह भी अनिवार्य कारण-कार्य के संबंध में नहीं ठहरता। यह आवश्यक नहीं है कि जिसके कान, जीभ, चरण हों वह सब कुछ सुने, बोले और चले भी। केशवदासजी का मत है कि विभावना में कारण-कार्य का संबंध अनिवार्य होता है, जो यहाँ नहीं है। फिर भी लाला जी का विचार है कि यह—'आपु सितासित०..." छंद, प्रथम "विभावना" का उदाहरण होना चाहिये, पुस्तक-लेखकों की असावधानी से उक्त (विरोध) अलंकार के साथ यह छंद यहाँ लिखा गया है। श्लेपार्थ से विरोध नष्ट हो जाता है और उसका केवल आभास-मात्र रह जाता है, इस आभास को-ही केशवदास-जी ने "विरोध" नामक अलंकार माना है, बाद के आचार्य ऐसा नहीं मानते। वे पूर्व लिखित विषय को हो विरुद्धालंकार का विषय मानते हैं—अन्य नहीं।"

विरोधाभास के उदाहरण ब्रजभाषा-साहित्य में बड़े सुंदर-सुंदर हैं, जिन्हें ब्रजभाषा-मर्मज्ञ देख और सुन सकते हैं। यहाँ दो-एक उर्दू-साहित्य के पद्य उद्धृत करते हैं, जो विरोधाभास के उत्कृष्ट उदाहरण कहे जा सकते हैं। यथा—

"रही याँ सुलह पर भी जंग बाहम।
तबीयत उनसे मिल-मिलकर लड़ा की॥

*

क़त्ल दुश्मन का नहीं मुश्किल, बहुत आसान है।
चाहिए इक दोस्त मुझ-सा, दिल बढ़ाने के लिए॥"

*

इससे तो और आग वह बेदर्द हो गया।
अब आह आतशीं से भी दिल सर्द हो गया॥"

—इत्यादि...

अथ विभावना-अलंकार लच्छन जथा—

बिन कै लघु कारँनन ते, कारज परघट होइ।
रोकत-हूँ करि[1] कारनें, बस्तुँन ते बिध सोइ॥

पा०—१. (सं० पु० प्र०) (का०) कि अकारनी, या किम कारनी...। (वे०) (प्र०) रोकत-हू करि कारनी...।

विभावना-भेद जथा—

कारँन ते कारज कछू, कारज-ही ते हेत।
होत[१] छै-बिध जु "बिभावना", उदाहरन कहि देत ॥

वि०—"संस्कृत-अलंकाराचार्यों ने "विभावना" कारणांतर की कल्पना किये जाने पर मानी है। श्रीमम्मटाचार्य कहते हैं—"क्रिया (हेतु-रूप) के बिना कहे-ही जहाँ फल का प्रकट होना कहा जाय", वहाँ अथवा जहाँ "हेतु-रूप क्रिया का बिना कथन किये-ही उसके फल का प्रकाश किया जाय वहाँ 'विभावना' समझनी चाहिये। साहित्य-दर्पण (संस्कृत) में—हेतु के बिना यदि कार्य की उत्पत्ति का वर्णन किया जाय तो विभावना और वह दो - "उक्तानुक्ता" (जिसमें निमित्त उक्त हो, और जिसमें निमित्त अनुक्त हो) रूप की कही है। आपका मत है कि "जब बिना कारण के जो कार्य की उत्पत्ति कही जाय तो वहाँ कुछ न कुछ दूसरा कारण अवश्य रहता है और वह कारण कहीं उक्त होता है - कहीं अनुक्त। दासजी का यह लक्षण चंद्रालोक के "बिना कारण ही जहाँ कार्य की उत्पत्ति दिखलाई जाय—(विभावना विनापिस्यात्कारणं कार्य जन्म चेत्) के अनुसार है। भाषा-भूषणकार श्री यशवंतसिंह विभावना को "कारन-बिन-ही काज" रूप में मानते हुए "**होति छै भाँति बिभावनाँ**" कहा है। चिंतमणि ने — "**कारज उतपति की जहाँ, कारन कौ प्रतिसेध**", मतिराम ने —"**बिनाँ हेतु जहाँ बरनिएँ प्रघट होत है काज**", दूलह ने—**हेतु-बिन-कारज की उपज— "बिभावनाँ है०"** और पद्माकर ने—"**सो बिभावनाँ जाँन, कारज-बिन कारज जहाँ**"— कहते हुए उसके छह प्रकार का उल्लेख किया है।

विभावना का शब्दार्थ है—"कारण का अभाव", अथवा जैसा पूर्व में कहा है—"कारणांतर की कल्पना, अर्थात् जो मूल कारण है, उसकी अनुपस्थिति का कथन करना।" अतएव विभावना के सभी भेदों में मूल कारण का अभाव होता है। यह अभाव कहीं स्व से और कहीं अर्थ के द्वारा प्रकट होता है। बिना कारण के कोई कार्य नहीं होता, पर कवि अपने-कौशल से 'बिना—कारण अपूर्ण कारण के होते, प्रतिबंधक के होते, अकारण-द्वारा होते विरोधी कारण-द्वारा कार्य और कार्य से कारण होने का' वर्णन कर अपने काव्य में कुछ ऐसे चमत्कार पैदा कर देता है कि जो विभावना का विषय बन हृदय हारी हो जाता है। और उसका यह अलंकरण-ही विभावना को छह रूपों में विभक्त कर देता है। अतएव "प्रसिद्ध कारण के अभाव में भी कार्य के उत्पन्न होने पर "प्रथम-

पा०—१. (वे०) होती छै बिध बिभावना...।

विभावना" कही जाती है, जो 'उक्तानुक्त' निमित्तादि रूप से दो प्रकार की होती है। काव्य-प्रकाशादि संस्कृत-ग्रंथों में यही दो भेद माने गये हैं। कुवलयानंदकार ने इस प्रथम के अतिरिक्त पाँच भेद और भी माने हैं, किंतु वे पाँचों भेद प्रथम-भेद के अंतर्गत आ जाते हैं, यह काव्यादर्श और रसगंगाधर-कार का अभिमत है।"

अथ प्रथम बिभावना-"बिना कारन के कारज" बरनन कौ उदाहरन जथा—

पीरी होति जाति दिन रजनी के रंग-बिँन,
जियरा[1] रहै बूड़त, तरत बिन बार-हीं।
बिष के बगारे बिँन बाके सब अंगँन,
बिषारे करि डारे हैं बिलाकँनि तिहार-हीं॥
'दास' बिँन चलें ब्रज बिँन[2] हीं चलाएँ-
यै चरचा चलैगी लाल बीतें दिन--चार-हीं।
हाइ वौ बनिता बरी है[3] बिँन बारें-हीं,
जरी है बिंन-जारें-हीं मरी है बिँन मार-हीं॥

अथ दुतिय बिभावना कौ उदाहरन-"थोरे कारन सों कारज" जथा—

राखत हैं जग कौ परदा, औ[4] आप सजे दिग-अंबर राखें।
भाँग-बिभूत भँडार-भरयौ, पै[5] भरें गृह 'दास' कौ[6] जो अभिलाखें॥
छाँह करें सिगरे[7] जग को, निज-छाँह कों चाँहत हैं बर[8]-साखें।
बाँहन है बरदा इक, पै बर-दाइक बाजि औ बारँन लाखें॥

अथ तृतीय बिभावना कौ उदाहरन"रोकें-हूँ कारन सों कारज कौ ह्वैबौ" जथा—

तो[9] बेंनी ब्यालिनि अहै[10] बाँधी गुँनन-बँनाइ।
तऊ बाँम, ब्रज चंद कों बदाबदी[11] डसि जाइ॥*

पा०—१. (का०) (वें०) जीरौ...। (प्र०) मन...। २. (सं० पु० प्र०) बीन ब्रज ही...। ३. (का०) (वें०) (सं० पु० प्र०) री बिन बारें हीं, जरी-री, बिन जारें हीं, मरी-री...। ४. (का०) (वें०) (प्र०) कहैं..। ५ (का०) है ..। (वें०) भंडार-भरी पै...। ६ (वें०) (प्र०) कै...। ७. (सं० पु० प्र०) (का०) (वें०) सब कौ हर जू, निज छाँह .। ८. (का०) (वें०) (प्र०) (सं० पु० प्र०) बट...। ९. (का०) (वें०) (प्र०) तुम...। १० (का०) (वें०) रहै...। (सं० पु० प्र०) (प्र०) (अ० म०) तुव बेंनी ब्याली रहै,। ११. (सं० पु० प्र०) बदीबदा...।

* अ० मं० (पो०) पृ० २४५।

अस्य तिलक

इहाँ "बेंनी-ब्यालिनि" में रूपक अपरांग है ।

वि०—"वेणी रूपी व्यालिनि (सर्पणी) का गुणों (डोरों) से बँधी होने पर भी अदबदा कर डस जाना—काट खाना, रुकावट होते हुए भी कार्य का हो जाना तृतीय विभावना के विषय का सुंदर उदाहरण है । कविराज विहारीलाल की भी इस विभावना-भेद से विभूषित अनेक सुंदर सूक्तियाँ पाई जाती हैं, जैसे—

"देह-लग्यौ ढिग गेह-पति, तऊ नेह निरबाहि ।
ढोली-अँखियँन-हीं इतै, गई कँनखियँन चाहि ॥"

*

"चित-बित बचत न, हरत हठि, लालँन-द्रग बरजोर ।
सावधान के बटपरा, ए जागत के चोर ॥"

*

कर-मुंदरी की आरसी, प्रतिबिंबित प्यौ पाइ ।
पींठ दिएँ निधरक लखै, इकटक दीठि लगाइ ॥"

और "गोकुल कवि" कहते हैं—

"रूप-भरी तरुनीं तिन कों लखि, तैसौ बसै चित सोभित कीन्हों ।
'गोकुल' मैंर मनोभव कौ, नख-ते-सिख लों छरिकें भरि दीन्हों ॥
रावरे कौ गुन ए जू बजाइ स्यों, पाँइ-परों कछु जाइ न चीन्हों ।
मोंहन के मन कों सजनी, तुम्ह मोंहन से ठग कों ठगि लीन्हों ॥"

अथ चतुर्थ बिभावना कौ उदाहरन "अकारन बस्तु ते" जथा—

पाँहन-पाँहन ते कढ़ै पावक, क्यों[1]-हूँ कहूँ यै बात फबै-सी ।
काठ-हु-काठ सों फूँठौ न पाठ, प्रतीति परै जग-जाहरि जैसी ॥
मोंहन-पाँनिप के सरसें, रस-रंग की राधे तरंगनि ऐसी ।
'दास' दुहूँ की[2] लगा लगी सों[3], ऊपजी यै दारुँन आगि-अनैसी ॥*

अस्य तिलक

इहाँ उपमाँ अपरांग है ।

पा०—१. (का०) (वें०) (प्र०) (भा० मं०) के...। (रा० पु० नी० सी०) क...। २. (वें०) के मिलें-बिछुरें, उपजी...। ३. (प्र०) (भा० मं०) में...।

* भा० मं० (पो०) पृ० २४६, ४२२ ।

वि०—"जहाँ अहेतु (जो किसी वस्तु का कारण नहीं, उस) से कार्य प्रकट होता हो, वहाँ 'चौथी विभावना'' कही जाती है। दासजी ने यहाँ पानिप (पानी) से आग का प्रकट होना—जो उसका कारण नहीं है, उससे आग का प्रकट होना कहा है।

कन्हैयालाल पोद्दार ने यहाँ "पाँचवी-विभावना (विरुद्ध कारण से कार्य की उत्पत्ति) मानते हुए कहा है—"यहाँ पानी से अग्नि-लगना विरुद्ध कारण से कार्य की उत्पत्ति है।" हमारी अल्प दृष्टि से यहाँ दोनों 'विभावना' बन सकती हैं, पर पाँचवीं विभावना विशेष स्पष्ट है। यथा -

"साँमन-आँमन हेरि सखी, मन - भाँमन - आँमन चौंप बिसेखी।
छाए कहूँ 'घँन-आँनद' जाँन, सभार की ठौर लै भूलँन लेखी॥
बूँदें लगें सब अग उदै, उलटी गति आपने पाएँन पेखी।
पौंन सों जागत आगि सुनीं-ही, पै पाँनी सों लागत आज मैं देखी॥"

पुनः उदाहरन जथा—

श्री[1] हिंदूपति, तेंग तुव, पाँनिप - भरी सदाँ-हिं।
अचरज या की आगि[2] सों, अरि-गँन जरि-जरि जाँहिं॥

अथ पाँचवीं बिभावना कौ उदाहरन "कारन ते कारज कछु" जथा—

सखि, चैत है फूलँन कौ करता, करिबे[3] सु[4] अचेत अचेंन लग्यौ।
कहि 'दास' कहा कहिऐ कलरौ-हु[5] जो बोलँन वै[6] कल-बेंन लग्यौ॥
जग-प्राँन कहावत पौंन[7] कौ गौंन, सो प्राँनन कों दुख-दैंन लग्यौ।
यै कैसौ निसाकर[8] मोहि-बिनाँ पिय साँकरे[9] कै जिय लेंन लग्यौ॥

पुनः उदाहरन जथा—

'दास' कहा कौतुक कहौं, हारि गरें निज हार।
जैतबार - संसार कों, जीति लेति यै दार॥

अथ छठीं बिभावना कौ उदाहरन—"कारज ते कारन" जथा—

चंद - निरखि सकुचत कँमल, नहिं अचरज नँद - नंद।
पै[10] अचरच तिय-मुख-कँमल, निरखि जु सकुचत चंद॥

पा०—१. (का०) ओ...। २. (का०) (वें०) (प्र०) (स० पु० प्र०) आँच सों...। ३. (का०) (वें०) (प्र०) करने। ४. (प्र०) सो...। ५. (का०) हित बोलन...। (वें०) (प्र०)—हि जो (जु)। ६. (का०) जो...। ७. (स० पु० प्र०) (का०) (वें०) गौंन के पौंन-हूँ, प्रानन...। ८. (का०) बिषाकर...। ९. (प्र०) साँकर...। १०. (का०) (वें०) यह...। (प्र०) यह अदभुद तिय...।

पुनः उदाहरन जथा—

फेरि काढ़िबी बारि ते, बारिजात दँनुजारि।
चलि देखौ, जहँ द्दग[१]-कढ़त बारिजात ते बारि ॥

वि०—"कारण के द्वारा कार्य की उत्पत्ति को छठी विभावना का विषय माना गया है। इस विभावना का "रघुनाथ" कवि-कृत वर्णन—उदाहरण भी सुंदर है, यथा—

"आँनति-ही न बसंत कौ आगँम, बैठी-ही ध्याँन-धरें निज पी कौ।
एते में काँनन-ओर सों आइकें, काँनन में परयौ बोल पिकी कौ ॥
हे 'रघुनाथ', कहा कहिऐ, कहि आयौ 'हा', आयौ गरौ भरि ती कौ।
लोचँन-बारिज सों अँसुवाँन कौ, अथाह बह्यौ परवाह नदी कौ ॥"

आचार्यों का मत है कि 'विभावना' और पूर्व कथित 'विरुद्धालंकार' मिलते-जुलते अलंकार हैं, फिर भी विरुद्ध में विरोधी पदार्थों का संसर्ग कहा जाता है और कार्य-कारण वा कारण-कार्य के संबंध का नियम भी नहीं होता। विभावना में ऐसा नहीं है, यहाँ कारण-कार्य नियमित रहते हैं।"

दूलह कवि ने अपने "कविकुल-कंठाभरण" में विभावना के छहों भेदों के उदाहरण दो छंदों में बड़ी सुंदर रीति से समझाये हैं, जैसे—

"बिंन-हेतु कारज की उपज"[१] बिभावनाँ हैं,
अंजन - बिनाँ - हीं नैंन ऐंन कजरारे हैं।
"कारँन अपूरे पूरे काज[२]" दूसरी है,—
नैंकु पग मग - धारे जगमग धारे हैं ॥
"होइ प्रतिबंधक भऐं हूँ पर काज[३]" देखौ,
तीसरी बिभावनाँ के चरित निहारे हैं।
राधिका पै चौकी राखी, चौकिन पै रखवारे,
तऊ केलि करत निहारे काँन्ह कारे हैं ॥

*

चौथी है—"अकारँन ते कारज-जनम" रूप-
लता पै सोभावाँन श्रीफल सुहाए भे।
पाँच-ईं—"बिरुद्ध काज प्रापति" प्रबीन मंजु-
बदन ते बैंन कढ़ि सौति-उर पार भे ॥

पा०—१. (का०) (वें०) कढ़त द्दग...। (प्र०) देखौ-द्दग जेहि कढ़त...।

"होंइ जहाँ कारज, ते कारँन उपज" देखौ,
छठईं विभावनाँ के ऐसे उपचार भे।
कहै नटनागर सकल गुन - आगर,
तो अधर - सुधा ते सुख - सागर अपार भे॥"

अस्तु विभावना के छहों विभेदों में मुख्य कारण छिपा कर कृत्रिम का कथन होता है। दोनों कारण-कार्य में विरोध (गड़बड़) सभी स्थलों में आभास-मात्र का है, वास्तविक नहीं। मुख्य विरोध वहीं हैं, जहाँ दोनों वस्तुओं का साथ होना असंभव है।

संस्कृत-अलंकार ग्रंथों में विभावना के प्रति--"**आश्लिष्टातिशयोक्तिश्च सर्वत्रैव विभावना**" कहा गया है, अर्थात् विभावना में नियमित रूप से अतिशयोक्ति मिली हुई रहती है। रसगंगाधर में पंडितराज जगन्नाथ कहते हैं—"**एव चास्मिन्नलंकारे सर्वत्राऽपि कार्यांशे अभेदाध्यवसानरूपकातिशयोक्तिरनुप्राणकतया स्थिता।**" काव्य-प्रकाश (मम्मट) के टीकाकार नागेश भट्टजी का कथन है—"**अतिशयोक्तिस्तुतदंगं।...सर्वथा कार्यांशेऽभेदबुद्धिः विभावना जीवितुम्। साच क्वचिदतिशयोक्तिरूपतया क्वचिद्रूपकेण...।**" अलंकार सर्वस्व (संस्कृत) के रचयिता कहते हैं—"**द्वैविध्येऽप्यभेदाध्यवसायादेकत्वमतिशयोक्त्या, साचास्यामव्यभिचारिणीति नतद्बाधेनास्या उत्थापनम् अपितु तदनुप्राणितत्वेन**" और इसकी टीका "जयरथ-विमर्शनी" में कहा गया है—"**अतिशयोक्ति विनास्याअनुत्थानात् अतएवेयमतिशयोक्त्यनुप्राणितैव भवतीति सिद्धम्।**" इत्यादि इन सभी मतों का अभिप्राय है कि "बिना अतिशयोक्ति के विभावना का सिद्ध होना संभव नहीं है, अर्थात् विभावना का अस्तित्व अतिशयोक्ति पर-ही निर्भर है।

विभावना में अतिशयोक्ति का मिश्रण अनिवार्य होते हुए भी वह प्रधान न होकर विभावना की अंगी भूत रह कर उसे (विभावना को) ही सुशोभित करती रहती है। इसलिये संस्कृत के अलंकार ग्रंथों में संकलित किये गये विभावना के उदाहरण अतिशयोक्ति-मिश्रित होते हुए भी विभावना के ही उदाहरण हैं, क्योंकि विभावना के मूल में अभेद अध्यवसाय मूलक अतिशयोक्ति का होना अति आवश्यक माना गया है।"

अथ "व्याघात" अलंकार बरनन जथा—

जाहि तथाकारी गँनें, करै अन्यथा सोइ।
कहूँ सुद्ध-विरुद्ध-हीं,[१] ह्वै[२] "व्याघात" जु दोइ॥

पा०—१. (प्र०) सों...। २. (सं० पु० प्र०) (का०) (वे०) (प्र०), है व्याघातै दोइ।

वि—"व्याघात अलंकार के विषय के प्रति संस्कृत-अलंकार ग्रंथों में विविध मत हैं। कोई—"जिसमें किसी वस्तु को किसी कर्त्ता ने एक प्रकार से सिद्ध किया हो और कोई दूसरा कर्त्ता उसी वस्तु को उसी प्रकार से विजय-लाभ की इच्छा के लिये तद्विपरीत बना दे।" अथवा—'जिस उपाय के द्वारा जो वस्तु किसी एक कर्त्ता ने सिद्ध की हो, उसी को दूसरा कर्त्ता प्रथम कर्त्ता को विजित करने की इच्छा से उन्हीं उपायों द्वारा जो उससे विपरीत रूप में कर दिया हो तो उसी को—निज साधित वस्तु के विनाश का कारण होने से, 'व्याघात' अलंकार कहा जाता है।" यह काव्य प्रकाशकार "श्रीमम्मट" का मत है। चंद्रालोक में जयदेव कहते हैं– "जिसका जो प्रकृत गुण हो उसे हटाकर उस पर उसके विपरीति गुण का आरोप करने को "व्याघात" कहते हैं। विश्वनाथ चक्रवर्त्ती "साहित्य-दर्पण" (संस्कृत) में कहते हैं—"जो वस्तु किसी एक ने एक प्रकार से सिद्ध की है और दूसरा यदि उसी उपाय से उसी वस्तु को पहिले से विपरीति कर दे तो 'व्याघात-अलंकार' मानना चाहिये। दासजी कहते हैं—"जहाँ सच्चे कर्त्ता को कोई अन्यथा कर दे" वहाँ यह अलंकार बनता है।" इत्यादि ..इन सभी परिभाषाओं को लक्ष कर यदि कोई उक्त अलंकार-द्योतक परिभाषा सुंदर शब्दों में बन सकती है तो वह यह हो सकती है—"जिस उपाय से किसी व्यक्ति के द्वारा कुछ कार्य सिद्ध किया जाय और फिर उसी उपाय से—उसी प्रकार के उपाय से, दूसरे किसी व्यक्ति-द्वारा वह कार्य अन्यथा कर दिया जाय, उसे विपरीति बना दिया जाय तो 'व्याघात' अलंकार का विषय बनता है। व्याघात "वि" और "आघात" शब्दों से बना है। जिसका अर्थ होता है विशेष आघात, प्रहार, धक्का। इसलिये इस अलंकार में अन्य व्यक्ति के द्वारा सिद्ध किये गये कार्य को अन्य द्वारा प्रहार करके अन्यथा किया जाता है, यथा—"साधितवस्तु व्याहति हेतुत्वात् व्याघातः।"

व्याघात में तीन बातें आवश्यक हैं। प्रथम यह कि "एक के द्वारा किसी उपाय से एक कार्य सिद्ध किया जाय।" दूसरी बात है—"दूसरे के द्वारा उसी उपाय से उस कार्य को व्याघात पहुँचाकर अन्यथा कर दिया जाय" और तीसरी बात है—"वह वर्णन साधारण स्थिति का न होकर चमत्कार से पूर्ण हो।" ये तीनों कारण "प्रथम व्याघात" के हैं। इसी प्रकार दूसरे "व्याघात" (जब एक ही उपाय या तर्क से विपरीत कार्य का संपादन वा समर्थन किया जाय) में भी दो बातें आवश्यक हैं। प्रथम यह कि "एक के द्वारा एक उपाय या तर्क से किसी कार्य का होना प्रस्तावित हो" और द्वितीय—"दूसरे के द्वारा उसी उपाय वा तर्क को लेकर विपरीत कार्य सुगमता से होना कहा जाय। इस प्रकार इन दोनों भेदों

में यही विभिन्नता है कि जहाँ "प्रथम में कार्य हो जाने पर दूसरे के द्वारा उसका विघटन होता है," और द्वितीय में "दोनों एक ही उपाय वा तर्क से विपरीत कार्य का होना प्रस्तावित किया जाता है।"

अथ प्रथम "व्याघात" कौ उदाहरन तथा कारी कौ अन्यथा ह्वै वे ते जथा—

जे जे[१] बस्तु सँजोगनिन, होत परँम सुख-दाँन।
ते-ही[२] चाँहि बियोगनिन, होत प्राँन की हाँन॥

पुनः उदाहरन जथा—

'दास' सपूत सपूत[३] हो, गथ-बल होई, न होइ।
इही[४] कपूतौ की दसा, भूलि न भूलौ[५] कोइ॥

पुनः उदाहरन जथा—

तो सुभाव भाँमिन लखें[६] मो[७] हिय होत सँदेह।
सौतिन कों रूखो करे, पिय-हिय करत[८] सँनेह॥

अथ द्वितीय व्याघात—"काहू कों विरुद्ध-ही सुद्ध" कौ उदाहरन

लोभी धँन संचै करै, दारिद कौ डर[९] माँन।
'दास' वहै डर[१०] माँनिकें, दाँनि देति है दाँन॥

वि०—"अलंकार-रत्न में बा० ब्रजरत्नदास जी ने इस दोहे में प्रथम व्याघात मानते हुए कहा है कि "यहाँ दारिद्रय के भय से लोभी धन संचय (बटोरता) करता है और उसी दारिद्रय के भय से दानी उदारता पूर्वक दान करता है। लोभी इस लोक की दरिद्रता से डर कर धन-संग्रह करता है, और दानी जन्मांतर की दरिद्रता का भय खा कर धन का दान करता है, इत्यादि..., परंतु यहाँ विरुद्धता में शुद्धता का वर्णन होने से द्वितीय व्याघात ही है।"

पा०—१. (रा० पु० प्र०) जो-जो...। २. (का०) (वें०) (प्र०) ताही...। ३ (वें०) (सं० पु० प्र०) कपूत हीं। ४. (का०) (वें०) (प्र०) इहै...। ५. (का०) वें०) (प्र०) भूलै...। ६. (का०) (वें०) (प्र०) वहै...। ७. (का०) मोहि इहै...। (प्र०) मोहि यहै सं०...। ८. (का०) (प्र०) करै...। (वें०) भरै...। ९. (का०) (प्र०) ज्वर...। (वें०) दारिद की डर...। १०. (वें०) ज्वर...।

पुनः उदाहरन जथा--

मुनि-जँन जप-तप करि चहैं, सूली-दरसँन-चाउ।
जिहिं न लहैं 'सूली' वहै,[1] तसकर चहैं उपाउ॥

वि०—"इस दोहे में दास जी प्रयुक्त श्लेषमय "सूली" (शूली) शब्द ने जो "श्री देवादि देव महादेव" और "फाँसी" अर्थ का द्योतक है, "व्याघात" अलंकार को अति सुंदर बना दिया है।"

पुनः उदाहरन जथा--

वा अधरा-रस[2] रागी हियौ, जिय पागी वहै छबि 'दास' बिसाली।
नेंनँन सूझि परैं वौ[3] सूरत, बेंनन बूझि परै वही[4] आली॥
लोग कलंक लगावत[5] हैं, औ लुगाई कियौ करें कोटि कुचाली।
बादि-बिथा सखि क्यों बसि[6] है-री, गहै न भुजा-भरि क्यों बँनमाली॥*

वि०—"दासजी ने यह उदाहरण कुछ पाठ-भेद के साथ, अपने शृंगार-निर्णय" नायिका भेद के ग्रंथ में भी "परकीया" के अंतर्गत "धीरत्व" के उदाहरण में दिया है।

कुछ ऐसी-ही बात इसी अलंकार से अलंकृत भारतेंदु बा० हरिश्चंद्रजी ने भी कही है, जैसे—

"नाँम धरौ सिगरे ब्रज के, अब कोंन-सी बात कौ सोच रहा है।
क्यों 'हरिचंद जू' और-हू लोगँन माँनों बुरौ भरी, सोऊ सहा है॥
होंनी हुती सो तौ होइ चुकी, इन बाँतन में अब लाभ कहा है।
लागें कलंक-हु अंक लगों नहिं, तौ सखि, भूल हँमारी महा है॥

कविवर लच्छीराम का भी 'व्याघात द्वितीय' का उदाहरण सुंदर है, देखने योग्य है, जैसे—

"बाँहें-झकझोरँन, सु नासिका की मोरँन में,
बँनमाल-तोरँन बिनोद बलकतु है।
कबि 'लछिरॉम' काँम-काँमनाँ-कलपतरु,
भौं-धनु-मरोर माँन-मद-झलकतु है॥

पा०—१. (का०) (वें०) यही...। २. (शृं० नि०) अँनु...। ३-४. (का०) (वें०) (शृं० नि०) वहै...। ५. (का०) (वें०) लगाव-हि बीत्यौ, लुगाई करै कियौ कोटि...। (शृं० नि०) लगावत लाख, लुगाई। ६. (वें०) क्यों न सहै री।

* शृं० नि० (भि० दा०) पृ० २८, ८०।

गारी-दै चलँन, मचलँन रोषबारी पै,
भाग-भरी सौगुनौं सुहाग झलकतु है।
त्यौं-त्यौं बिन-दाँम स्याम सुंदर बिकाँनों जात,
ज्यौं ज्यौं बाँम-लोचँन में लाली बलकतु है॥

प्रथम व्याघात के उदाहरण-स्वरूप दासजी के—"तो सुभाव भाँमिन लखें०" इस छंद के साथ "मतिराम" जी का 'प्रत्यक्ष दर्शन' से देदीप्यवान नीचे लिखा छंद भी सुंदर है, यथा—

"मोहँन लला कों मँन-मोहिंनी बिलोकि बाल,
कसि करि राखति है उँमगे उँमाह कों।
सखिन की दीठ कों बचाइ कें निहारति है,
आँनद-प्रबाह-बीच पावत न थाह कों॥
कबि"मतिराँम और सब-ही के देखत ही,
ऐसी भाँति देखति छिपावति उछाह कों।
वे ही नैंन रूखे-से लगत औरु लोगँन कों-
वे-ही नैंन लागत सँनेह-भरे नाह कों॥"

अथ बिसेसोक्ति लच्छन बरनन जथा—

हेतु घँने-हू काज-बिन[1] 'बिसेसोक्ति न सँदेह।
देह-दियौ[2] निसि-दिन बरै, घटै न हिय कौ नेह॥

वि०—"कारणों के रहते हुए भी जब कार्य की उत्पत्ति न दिखलाई जाय, अथवा दासजी द्वारा कथित—"जब अति हेतु के रहते हुए भी कार्य की उत्पत्ति न हो तो, वहाँ 'विशेषोक्ति' मानी जाती है।

विशेषोक्ति, तीन शब्दों—"वि" "शेष" और "उक्ति" का संयुक्त रूप है। अतएव 'वि' का अर्थ है–'गत' और 'शेष' का अर्थ है–'कार्य' और उसके सामुहिक रूप का अर्थ है "गत हो गया है कार्य जिसका, ऐसे कारण की उक्ति। अर्थात्, कारण होते हुए भी कार्य का न होना कहा जाना। संस्कृत-अलंकार ग्रंथों में–"किंचित् विशेष प्रतिपादयितुमुक्तिः", अर्थात् कुछ विशेष बात के प्रतिपादन के लिपे उक्ति" कहा गया है और इसके तीन भेद—"अनुक्त-निमित्ता" (कार्य के उत्पन्न न होने का निमित्त न कहा जाना), "उक्त-निमित्ता" (कार्य के उत्पन्न न होने का निमित्त कहा जाना) और "अचिंत्य-निमित्ता (कार्य के उत्पन्न न होने का निमित्त अचिंत्य होना) कहे गये हैं।

पा०—१. (का०) (वे०) (प्र०) नहिं। २. (का०) (प्र०) दिया...। (प्र०) दिसा...।

जैसा पूर्व में कहा गया है कि "कारण के होते हुए भी कार्य न होने का चमत्कार युक्त वर्णन 'विशेषोक्ति' का विषय है, । यों तो कारण के उपस्थित होते ही स्वभावतः कार्य हो जाता है, किंतु जहाँ इसके विपरीत वर्णन हो—कारण की उपस्थिति में भी कार्य का न होना उक्ति-वैचित्र्य के द्वारा संतोषजनक रूप में प्रकट किया जाय तो वह उक्ति विशिष्ट होगी और वह 'विशेषोक्ति' कहलायगी, क्योंकि इस प्रकार का वर्णन विशेषता लाने के लिये ही किया जाता है । कारण के रहते कार्य के न होने के विशेष कारण होते हैं, उन्हें ही मनोरंजकता के साथ प्रकट करना कवि का ध्येय होता है ।

साहित्य-दर्पण में—"सति हेतो फलाभावे विशेषोक्तिस्तथा द्विधा"—हेतु के रहते हुए भी फल की प्राप्ति न हो तो वहाँ विशेषोक्ति कही जायगी और वह दो प्रकार की कहते हुए—अचिंत्य-निमित्ता को अनुक्त-निमित्ता का ही भेद मान, उसे अनुक्त-निमित्ता के अंतर्गत मान पृथक् नहीं कहा है, जैसे—"अचिंत्यनिमित्तत्वं चानुक्तनिमित्तस्यैव भेद इति पृथंनोक्तम् ।" श्रीमम्मट (काव्य-प्रकाश संस्कृत) कहते हैं—"विशेषोक्तिरखंडेषु कारणेषु फलावचः" (कारण-सामिग्री होने पर भी कार्य का न होना) कहते हुए "मिलितेऽवपि कारणेषु कार्यस्याकथनं विशेषोक्ति । अनुक्तनिमित्ता, उक्तनिमित्ता अचिंत्यनिमित्ता च" रूप पूर्व में कथित तीन भेद किये हैं । भामह भी—"एक देशस्य विगमेया गुणांतरसंस्तुतिः । विशेष प्रथनायासौ विशेषोक्तिरितिस्मृता ॥" कहते हुए इसके तीनों 'उक्तानुक्त-चिंत्यनिमित्ता' भेद माने हैं । वामन कहते हैं—"एकगुणहानिकल्पनायां साम्यदार्ढ्यं विशेषोक्तिः" (जहाँ एक गुण की न्यूनता की कल्पना करने पर जो साम्य-पुष्टि की जाय, वहाँ विशेषोक्ति) । यहाँ "उक्तानुक्तचिंत्यनिमित्ता के प्रति ध्वन्यालोककार का अभिमत है कि "इन तीनों भेदों में से अचिंत्य और उक्तनिमित्ता विशेषोक्ति में व्यंग्य की सत्ता नहीं होती और अनुक्त-निमित्ता विशेषोक्ति में प्रकरण-वश व्यंग्य की प्रतीति-मात्र होती है और न उस प्रतीति के कारण कोई सौंदर्य ही उत्पन्न होता है ।" अतएव आपने विशेषोक्ति का एक ही भेद अनुक्तनिमित्ता का ही वर्णन किया है । क्योंकि अनुक्त और अचिंत्य-निमित्ता विशेषोक्ति में कार्य के अभाव का निमित्त नहीं कहा जाता, वह व्यंग्य रहता है । यहाँ उस व्यंग्यार्थ-ज्ञान से चमत्कार नहीं, अपितु कारण-द्वारा कार्य के उत्पन्न न होने के वाच्यार्थ में ही चमत्कार है— वाच्यार्थ ही प्रधान है । यहाँ अचिंत्यत्व से इतना-ही तात्पर्य है कि वह निमित्त साधारण बुद्धिवालों की समझ से परे है, सभी की समझ से दूर नहीं । कारण के रहते कार्य न होने का सहज नियम कवि अपने कौशल से उक्ति-वैचित्र्य-द्वारा भंग करता है और वह कौशल इसी में है कि "वह ऐसा किसी

अभिप्राय से सकारण करता है, जिससे उसकी उक्ति में विशेष चमत्कार आ जाय।

व्रजभाषा के रीति-ग्रंथों में केशव से आदि लेकर पद्माकर और ग्वालजी तक सभी आचार्यों ने विशेषोक्ति का एक-ही भेद माना है।"

अथ बिसेसोक्ति उदाहरन जथा—

नाभि-सरोबर औ त्रिबली की,[१] तरंगँन पैरत[२] ही दिन-रात है।
बूड़ि[३] रहें तँन-पाँनिप-ही में, नहीं बनमाल-हू ते[४] बिलगात है॥
'दास जू' प्यासी नई अँखियाँ, घँनस्यॉम-बिलोकत ही अकुलात है।
पीबौ करें अधरामृत[५] कों, तऊ[६] इनकी सखि, प्यास न जात है॥*

वि०—"दासजी के इस उदाहरण में सेठ कन्हैयालाल पोद्दार (अलंकार-मंजरी में) अनुक्त-निमित्ता विशेषोक्ति मानते हुए कहते हैं—"यहाँ प्यास मिटाने का कारण अधरामृत का पान किये जाने पर भी प्यास का न मिटना कहा गया है, उसका 'निमित्त' नहीं कहा गया है, इसलिये अनुक्तनिमित्ता विशेषोक्ति है।"

एक बात और, वह यह कि विशेषोक्ति पूर्व-कथित विभावना से विपरीत कही जाती है, क्योंकि विभावना में कारण के बिना कार्य उत्पन्न होता है और विशेषोक्ति में कारण के रहते हुए भो कार्य नहीं होता। विभावना में अवास्तविक या अप्रसिद्ध कारणों की कल्पना की जाती है, विशेषोक्ति में कारणों के रहते हुए भी कार्य न होने के विशेष कारण कल्पित किये जाते हैं इत्यादि।"

अथ असंगति अलंकार कथन जथा—

जहँ कारँन है और थल, कारज औरें ठाँम।
अँनत करँन कों चाहिऐ, करै अँनत-ही काँम॥

*

और काज करिबे लगत[७], करै जु औरें काज।
त्रि-बिध असंगति' कहते हैं, सुकबिन के सिरताज॥

पा०—१. (स० पु० प्र०) (का०) (वें०) कै...। २. (रा० पु० का०) तैरत...। ३. (का०) (वें०) (प्र०) बूडी...। ४. (का०) (वें०) में...। ५. (का०) (वें०) (प्र०) अधरामृत हू कों...। ६. (रा० पु० नी० सी०) तऊ सखि इनकी प्यास...। ७. (सं० पु० प्र०) (का०) (वें०) (प्र०) करनें लगै...।

* का० मं० (पो०) पृ० २४८, ३२६।

वि०—"दासजी ने ऊपर लिखे दो दोहों-द्वारा "असंगति" अलंकार को तीन प्रकार का माना है। ये तीन प्रकार (भेद) हैं—"कार्य-कारण के भिन्न स्थल, "एक स्थल की क्रिया दूसरे स्थल" और आरंभ तो किसी कार्य का किया जाय, पर किया जाय कोई दूसरा-ही। इस प्रकार ये प्रथम, द्वितीय और तृतीय भेद कहे जाते हैं। संस्कृत-अलंकार-ग्रंथों में भी ये ही प्रथम (विरोध के आभास-सहित कार्य-कारण के एक ही काल में पृथक्-पृथक् आश्रय—स्थान का वर्णन), द्वितीय (अन्यत्र कर्त्तव्य-कार्य को अन्यत्र किया जाना) और तृतीय (जिस कार्य के करने को प्रवृत्त हो उसके विरुद्ध कार्य किया जाना) असंगति नाम दिये हैं।

असंगति का अर्थ है संगति का न होना, स्वाभाविक संगति का त्याग। इस अलंकार में कारण-कार्य की, वा केवल कार्य की स्वाभाविक संगति का त्याग कहा जाता है। यह साधारण नियम है कि जहाँ कारण होता है वहीं कार्य भी, किंतु कवि, कौशल-विशेष-द्वारा अपनी रचना में चमत्कार उत्पन्न करने के लिए उस कार्य का अन्यत्र (दूसरे स्थान पर) होना कह उसे असंगति अलंकार से अलंकृत करता है। यहाँ यह आवश्यक नहीं, कि वैयधिकरण्य कार्य-कारण में ही हो, अपितु जिन्हें एक स्थान पर स्वभावतः होना चाहिये वहाँ भी वैयधिकरण्य होने से यह अलंकार कहा जाता है और जहाँ स्वभावतः कारण एक स्थान पर है और उसका कार्य अन्यत्र है तो ऐसी अवस्था में वैयधिकरण्य नहीं तथा असंगति अलंकार भी नहीं, क्योंकि असंगति में एकाधिकरण्यवालों का जिनका एक स्थान पर रहना प्रसिद्ध हो, वैयधिकरण्य होता है तथा "विरोध" में इसके विपरीत वैयधिकरण्य होता है।

काव्य-प्रकाश (संस्कृत) में लिखा गया है—"असंगति अलंकार, विरोधाभास का बाधक होने से विरोधाभास नहीं है, क्योंकि यहाँ (असंगति में) जो विरोध प्रकट होता है वह दोनों धर्मियों के विभिन्न आधार के द्वारा होता है और विरोधाभास में उन दोनों धर्मियों का एक-ही आधार पर रहना आवश्यक है। (दे० काव्य प्रकाश द० उ० पृ० ३३२)।"

अथ 'कारज-कारन कौ बिभिन्न थल बरनन रूप प्रथम असंगति कौ उदाहरन जथा—

'दास' दुजेस[१] बरौंन[२] में, पाँनिप बढ्यौ अपार।
जहाँ-तहाँ बूड़े अँमित, बैरिन के परिवार॥

पा०—१. (का०) (वें०) (प्र०) द्विजेस...। २. (रा० पु० का०) घटौन...।

अस्य तिलक

इहाँ कारज कहूँ अरु कारँन कहूँ के बरनँन ते असंगति है ।

पुनः उदाहरन जथा---

रीति तो[1] सौतिँन की कैसी तो[2] माँड़ें-मुख,
केसरि-सौ, उँन कौ बदँन होत पियरौ।
तेरे उर-भार[3] उरजातँन कौ अधिकात,[4]
उँन कौ दरकिबे[5] कों अकुलात हियरौ ॥
'दास' तो[6] नेंनँन में बिधिनाँ[7] लुँनाई भरी,
उँन कों किरकिरी ते सूझत न नियरौ।
पाँनिप-समूह सरसात तो[8] अंगँन में,
बूड़ि-बूड़ि आवत है उँन कौ क्यों जियरौ ॥

अस्य तिलक

इहाँ हूँ नाइका के केसर सों मुख-माँड़िबे ते वाकी सौतिनन कौ म्हों पीरौ होंनों, उरोजँन की अधिक उठाँन ते उन (सौतिन) के हिय कौ दरकिबौ आदि...बरनँन में असंगति है ।

वि०—"कार्य-कारण भिन्न रूप प्रथम असंगति का श्री विहारीलाल कृत सतसई में ब्रजभाषा का वह सुंदर उदाहरण है, जिसका जोड़—बराबरी का किसी साहित्य में उदाहरण नहीं, यथा—

**"द्ग उरझत, टूटत कुटँम, जुरत चतुर-चित प्रीति ।
परत गाँठ दुरजँन हिऐं, दई नई यै रीति ॥"**

काव्य-प्रभाकर में भानुजी ने यहाँ असंगति का तीसरा भेद माना है, जो ठीक नहीं है, क्योंकि तीसरी असंगति का विषय उन्हीं के अनुसार—"जो कार्य आरंभ करना, उसे न कर दूसरा कार्य कर बैठना" है, वह यहाँ नहीं है ।

स्व० जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ने श्री मद्भागवत के—"**चलसि यद् ब्रजाच्चारयन् पशून् नलिनसुंदरं नाथ ते पदं, शिलतृणांकुरैः सीदतीति नः कलिलतां-**

पा०—१-२ (का०) (पु०) (सं० पु० प्र०) तुम...। (वें०) तुव...। ३. (प्र०) माँझ...। ४. (प्र०) अधिकार...। ५. (का०) (वें०) (प्र०) दरकि एकै अकुलात...। ६. (का०) (प्र०) तुम...। (वें०) तुव...। ७. (का०) (वें०) (प्र०) बिधि नें...। ८. (का०) (प्र०) तुम...। (वें०) तुव...।

मनः कांत गच्छति—" (द० पू० अ० ३१, ११)" के आधार पर एक सुंदर सूक्ति सृजते हुए प्रथम असंगति का अच्छा उदाहरण उपस्थित किया है, जैसे—

"कत अवनी में आइ अटत अठौंन-ठौंन,
परत न जाँन कौंन कौतुक बिचारे हैं।
कहै 'रतनाकर' कँमल-दल हू सों मंजु,
मृदुल अँनूपम चरँन रतनारे हैं॥
धारें उर-अंतर निरंतर लड़ावें हँम,
गावें गुँन बिबिध बिनोद मोद-भारे हैं।
लागत जो कंटक तिहारे पाँइ प्यारे हाइ,
आइ पैहलें-हीं हिय बेधत हँमारे हैं॥"

इसी अलंकार से अलंकृत एक 'फ़ार्सी' का शेर भी बड़ा सुंदर है, जिसे चिरस्मरणीय स्वर्गीय पं० पद्मसिंहजी, जो संस्कृत, हिंदी (व्रजभाषा) और उर्दू के अति ज्ञाता थे, कहा करते थे, यथा—

"कहाँ है दुख्तरे रिज़ हम महरसव वादाख्वारों में।
तेरे डर से वो काफ़िर जा छिपी परहेज़गारों में॥

अस्तु, परम साहित्य-मर्मज्ञ पं० पद्मसिंहजी शर्मा कथित इस शेर के साथ समय के पृष्ठों पर लिखी एक भूली हुई कहानी है, जिसका इस लेखक से संबंध था और जिसे स्थानाभाव के कारण लिखना अनुचित है।

पुनः उदाहरन जथा—

मो मति पैरँन लागी अली, हरि-प्रेम-पयोध की बात न जाँनी।
'दास' थकयौ मँन-संगति[१] हूँ, गई बूड़ि सबै कुल-काँनि[२]-कहाँनी॥
फूल उठ्यौ हियरा[३] भरि पाँनिप, लाज-भरी बौहतै[४] उतराँनी।
अंग दहैं उपचारि की आगि,[५] सो कैसी[६] नई भई रीति सयाँनी॥

अथ द्वितीय असंगति—"और थल की क्रिया और थल" कौ उदाहरन जथा—

में देख्यौ बँन-न्हात, राँमचंद तो[७] अरिँन[८]-तिय।
कटि[९]-तट पैहरें पात, दृग-कंकँन, कर में तिलक॥

पा०—१. (सं० पु० प्र०) (का०) (वें०)—सक वही...। २. (का०) (व०) (प्र०) रीति...। ३. (का०) (वें०) (प्र०) हियरौ...। ४. (सं० पु० प्र०) (का०) (वें०) बहुरयौ—बहुरौ...। (प्र०) बहुतै ..। ५. (प्र०) आँचि...। ६. (रा० पु० का०) कैसी भई-नई...। ७. (का०) (३०) तुम...। (वें०) तुव...। ८. (सं० पु० प्र०) तो अरि-तियँन...। ९. (सं० पु० प्र०) पैहरें कटि-तट-पात, कंकन दृग...।

पुनः उदाहरन जथा—

लाहु कहा खए[1] बेंदी दिऐं, औ कहा है तरौंनौं[2] बाँह[3]-गड़ाऐं ।
कंकँन-पींठ, हिऐं ससि-रेख, की बात बँनें बलि मोहि बताऐं ॥
'दास' कहा गुँन ओठ में अंजँन, भाल में जावक-लीक[4]-लगाऐं ।
कौंन्ह, सुभाइ-ही बूझति[5] हों में, कहा फल नेंनँन पाँन-खबाऐं ॥*

वि०—"दासजी का यह छंद उनके "शृंगार-निर्णय" में "मुग्ध-हाव" के तथा "रस-कुसुमाकर" में "मुग्धा-खंडिता" के उदाहरण में भी संकलित किया हुआ मिलता है । मुग्ध-हाव, यथा—

"जाँनि-बूझि कें बौरई, जहाँ धरति है बाँम ।
'मुग्ध-हाब' तासों कहैं, बिभ्रँम-ही के धाँम ॥"

अस्तु, ऐसे 'असंगति' के उदाहरण "खंडिता" (प्रियतम, नायक को रात्रि में अन्यत्र रमण कर प्रातः रति-चिन्हों से मंडित देखकर दुःखित होने वाली) नायिका के उदाहरणों में बहुधा मिलते हैं । जैसे—

"प्रीति रावरे सों करी परँम सुजाँन जाँन,
अब तौ अजाँन बनि मिलत सबेरे पै ।
'लच्छीराँम' ताहू पै सुरंग ओढ़नी लै सीस,
पीत - पट देत गुजरैटिँन के खेरे पै ॥
सराबोर छलकें प्रसेद - कँन लाल - भाल,
मदँन - मसाल वारों बदँन - उजेरे पै ।
आपुने कलंक सों कलंकिनीं बनीं हों, लूटि-
और हू कौ धरत कलंक सिर मेरे पै ॥

अथवा —

"खेल न खेलिऐ ऐसे भटू, सुपरौसिँन कोऊ कहूँ लखि लै है ।
माँनहुँ नाँ बरजी हँमरी, अब काहे कों कोऊ सिखावँन दै है ॥
नंद-कुँमार महा सुकुमार, बिचार कें फेरि हिऐं पछितै है ।
घालिऐ नाँ इँन फूलँन की, पँखुरी कहूँ अंगँन में गड़ि जै है ॥"

पा०—१. (का०) (शृं० नि०) कहौ...। (प्र०) (शृं० ल० सौ०) कर...। (र० कु०) खरौ...। २. (का०) (वें०) (प्र०) (शृं० नि०) (र० कु०) तरौंना के...। ३ (शृं० नि०) बेंहु...। ४. (रा० पु० नी० सी०) पीक...। ५. (शृं० नि०) पूंछति...।

* शृं० नि० (भि० दा०) पृ० ६३, २७७ । र० कु० (अ०) पृ० ११०, १४२ । शृं० ल० सौ० (ब० प०) पृ० ११७ ।

यह "प्रताप कवि" कृत-रचना है, "सखी की उक्ति नायिका के प्रति"। यहाँ मार नायक पर पड़ रही है और पीर (दरद) सखी को हो रही है, अतएव "असंगति" है। रसकुसुमाकर के संग्रह कर्त्ता ने दासजी के इस छंद कौ 'मुग्धा-खंडिता' के उदाहरणों में संकलित किया है। हमारी दृष्टि से यह (मुग्धा-खंडिता नायिका) का उदाहरण नहीं हो सकता, क्योंकि जब वह कहने-सुनने लगी तब उस (नायिका) में 'मुग्धत्व' कहाँ रहा, जो उसकी प्रधान शोभा का कारण है......।"

अथ तीसरी "असंगति"-"कारज और अरंभिए, अरु करिऐ और" कौ उदाहरन जथा—

प्रघट भए घँनस्यॉम तुँम, जग - प्रतिपालँन-हेत।
नाँहक बिथा-बढ़ाइ कें,[1] औरँन[2] कौ जिय[3] लेत ॥

पुनः उदाहरन जथा—

आँनद-बीज बयौ अँखियाँन, जँमाइ[4] बिथाँन की जी में जई है।
वेलि-बढ़ाइ[5] चबाइँन[6] जो ब्रज-धाँमन-धाँमन फैलि गई है॥
'दास' दिखाइ[7] कें तूँबर-फूल, फलै[8] दियौ[9] आँन[10] कुसाँन-मई है।
प्रीति बिहारी को मालिनँ ह्वै[5], इहि बारी में रीति बगारी नई है ॥*

अस्य तिलक

इहाँ 'रूपक' कौ संकर भाव है।

वि०—"तीनों असंगति अलंकारों का एक-ही छंद में सुंदर उदाहरण "दूलह" कवि ने भी अति रोचक दिया है, जैसे—

"अंतै हेतु, अंते काज" जाँनों 'असंगति'—रैन-
जागे तुँम, आलस हँमरे तँन छायौ है।

पा०—१. (का०) (वें०) क्यों। २. (का०) (वें०) (प्र०) अवलँन...। ३. (सं० पु० प्र०) ज्यौं...। ४. (का०) जमायौ..। (वें०) जमाई...। (म० मु०) जमाई...। ५. (का०) (सं० पु० प्र०) बढ़ायौ...। (वें०) बोलि पठायो चबाई की जो,। ६. (का०) (सं० पु० प्र०) चबाई की जो,। (प्र०) चबाई कै जो। (मं० मे०) चबाव की जो,...। ७. (म० मं०) लगाइ कें तौंबरि...। (का०) ...तोंबर...। (वें०) तौंबरि...। (प्र०) तूँबरि...। (सं० पु० प्र०) ताबरी...। ८. (का०) (वें०) फली...। ९. (मं० मं०) दई। (प्र०) आनक सान मई...। १०. (वें०) (म० मं०) री,

* म० मं० (का०) पृ० १०७ (द्वि० क०)।

अनँत करे की बात अंतै करि दीजै 'दूजी'—
'जावक पगँन लाल भाल में दिखायौ है ॥
और करिबे कों भए उदित कुँमर कौन्ह,
कियौ सो बिरुद्ध भेद तीसरौ जतायौ है ।
ललक सों आए लघु माँन मेंटिबे कों पीक—
पलक-फलक गुरु-माँन फलकायौ है ॥

छंद में तीनों लक्षण-उदाहरण स्पष्ट हैं, "खंडिता" नायिका है। छंद में वर्णित तीसरी असंगति के प्रति इतना-विशेष कहना है कि "नायक आया अवश्य पर मान-मोचन नहीं किया, करता तो 'विषम' अलंकार का विषय बन जाता—उदाहरण हो जाता...।

असंगति अलंकार के उदाहरण उर्दू-साहित्य में भी काफी मिलते हैं, एक पूर्व में दिया गया है, दो-एक की और बानगी देखिये, जैसे—

"बाँधी जो उसके हाथ में कल गैर ने महदी।
आँखों में मेरी देख के लोहू उतर आया ॥"

ज़िक्र उस परीवश का, और बयाँ अपनाँ।
बन गया रक़ीब, जो था राज-दाँ अपना ॥

बुझ गया गुलरू के आगे शमा औ गुल का चिराग ।
बुलबुलों में शोर, परवानों में मातम छा गया ॥

"किया गैरों को क़त्ल उसने, मरे हम शर्म के मारे।
हमें तो मौत भी आई नसीबे दुश्मनाँ होकर ॥"

इत्यादि...। एक बात और, वह यह कि "दासजी के इस छंद को "मनोज-मंजरी" कार अजान कवि ने 'पूर्वानुराग, मिलन से पूर्व व्याकुलता की—मिलने की, दर्शन (देखने) की इच्छा के उदाहरण में संकलित किया है। पूर्वानुराग उभय-दली शृंगार-रस के वियोग-पक्ष का एक विशेष भेद है।

भारतीय-साहित्य-ग्रंथों में वियोग वा विप्रलंभ-शृंगार तीन—"पूर्वानुराग, मान और प्रवास रूपों में विभक्त किया गया है। इस (पूर्वानुराग) के उदाहरण प्रस्तुत करने में कवियों ने बड़ी सहृदयता से कार्य किया है—सुंदर से सुंदर उदाहरण प्रस्तुत किये हैं, एक जैसे—

"चाँहति दुरायौ तो सों कौ-लगि दुराऊं दैया,
साँची हों कहों-री बीर सुँन सुख काँन दै।

साँवरौ-सौ ढोटा इक ठाढ़ौ जमुनाँ के तीर,
मों-तँन निहारौ नीर-भरि अँखियाँन दै ॥
वा दिन ते मेरी-री दसा कों कछु बूझै मति,
चाँहे जो खिवायौ तौ वही रूप-दाँन दै ।
हा-हा करि पाँइ परौ, रह्यौ नहिं जाइ घर,
पनघट जाँन दै री, पनघट जाँन दै ॥"

अथवा—

"कुंज गई हुती लै सखियाँन कों, आयौ तहाँ कढ़ि नंद कौ बारौ ।
मोर पखाँन कौ मौर धरें, गरें गुँज-हरा छवि पुंज बगारौ ॥
हेरि 'अजाँन सी है रही बोर, अधीर ह्वै जा-छँन मोहि निहारौ ।
बै गयौ नेह कौ बीज हिएँ, मँन लै गयौ मोंहँन मोंहिनी बारौ ॥"

अथ "विषमाँलंकार" बरनन जथा—

अँनमिल बातँन कौ जहाँ, परत कैस हूँ ढंग[1] ।
कारँन कौ रँग और-ही, कारज औरें रंग ॥

*

करता कों न क्रिया-फल,[2] अँनरथ-ही फल होइ ।
'बिषँम' अलँकृत[3]'तीन-विधि', बरनत हैं सब कोइ ॥

वि०—"दासजी से पूर्व ब्रजभाषा के अन्य आचार्यों ने भी इन्हीं (दासजी) की भाँति–'विषम' को असंगति के सदृश तीन प्रकार का कहा है । विषम का अर्थ 'सम' न होना, विषम (परस्पर विरुद्ध) घटना का वर्णन अथवा जैसा वर्णन होना चाहिये, वैसा न होकर–उसके विपरीत या विरोधी का वर्णन करना होता है । अस्तु, कार्य-कारण-संबंधी गुण-क्रियादि दो वस्तुओं का संबंध वा किसी कार्य का फल जैसा होना चाहिये, वैसा न होने पर "विषमालंकार" कहा जाता है । स्वभावतः कारण का जो गुण होगा तदनुरूप कार्य का भो वही रूप होगा, किंतु कवि-हृदय जब कुछ चमत्कार के साथ अनुरूप वर्णन करता है तब इस अलंकार का रूप–विषय बनता है, क्योंकि उसका शब्दार्थ-ही ऐसा है । साहित्य में इसके तीन भेद हैं । "प्रथम–अँनमिल बातन कौ जहाँ, परत कैसे-हूँ ढंग" (जहाँ बेमेल बातों–वस्तुवों का एक साथ होना कहा जाय), द्वितीय—" कारँन कौ रँग

पा०—१. (का०) (वें०) (प्र०) संग...। २. (का०) (सं० पु० प्र०) करता कौ न क्रिया सुफल, । (वें०) सफल । (प्र०) फलै । ३. (का०) (वें०) (प्र०) विषमालंकृत...।

और-ही कारज औरैं रंग'' (जहाँ कारण किसी और रंग का हो और कार्य—उससे उत्पन्न कार्य, किसी और रंग का हो) तथा तृतीय—''करता कौ न क्रिया-फल, अँनरथ-ही फल होइ'' (जहाँ कर्ता के अनुरूप क्रिया-फल न होकर विपरीत फल हो, अर्थात् जहाँ सुंदर उद्यम करने पर भी बुरा फल हो) कहा गया है। संस्कृत-अलंकार-ग्रंथों में इन तीनों भेदों को—''परस्पर में वैधर्म्यवाली वस्तुओं का संबंध अयोग्य सूचन करना, कर्ता को क्रिया के फल की प्राप्ति न होकर उसके विपरीत अनर्थ की प्राप्ति होना' तथा ''कारण के गुण-क्रियाओं का क्रमशः विरुद्ध वर्णन करना''—इत्यादि प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय 'विषम' कहा गया है। कोई-कोई ग्रंथकार ''प्रथम विषम'' के गुण-विरोध' और ''क्रिया-विरोध' नाम के दो भेद पृथक-पृथक मानते हैं, जो उचित हैं।

काव्य-प्रकाश-कार आचार्य मम्मट् ने विषम के चार भेद माने हैं। यथा—

''क्वचिद्यदतिवैधर्म्यान्न श्लेषो घटनामियात्।
कर्त्तुः क्रियाफलावाप्तिर्नैवानर्थश्च यद्भवेत्॥
गुण क्रियाभ्यां कार्यस्य कारणस्य गुणक्रिये।
क्रमेण च विरुद्धे यत्स एष विषमो मतः॥''

अस्तु, ''प्रथम विषम वहाँ, जहाँ दो संबंध रूपों से विवक्षित पदार्थों का उनके अति वैलक्षण्य के कारण परस्पर संबंध की अनुपपन्न प्रतीति विशेष रूप से होती रहे। द्वितीय वहाँ, जहाँ कर्त्ता को उसकी क्रिया का फल मिलना तो अलग, उलटे एक अनर्थ जैसा प्रतीति हो। तीसरा वहाँ, जहाँ कार्य के गुण से कारण के गुण का विरोध प्रतीति होता हो और चौथा वहाँ, जहाँ कार्य की क्रिया से कारण की क्रिया विपरीति जैसी प्रतीति होती हो।'' इन लक्षणों का और भी खुला-सा वहाँ गद्य-कारिकाओं में किया गया है। अतएव इनमें दो भेद तो रुद्रट् के 'काव्यालंकार' की देन है और दो रुय्यक के 'अलंकार-सर्वस्व' की, यथा—

कार्यस्य कारणस्य च यत्र विरोधः परस्परं गुणयोः।
तद्वत्क्रिययोरथवा संजायेतेति तद् विषमम्॥

*

विरूपाकार्याऽनर्थयोरुत्पत्तिर्विरूपसंघटना च विषमम्॥

—इत्यादि

यहाँ इतना ध्यान रखने की बात है कि ''जहाँ कारण-कार्य में स्वाभाविक रूप से विषमता रहती हो वहाँ यह अलंकार नहीं बनता, अपितु कवि-द्वारा उक्ति-वैचित्र्य से विषमता उत्पन्न होने पर-ही यह अलंकार कहा जायगा। विरोध, असंगति और विषम की पृथकता भी समझने की चीज है। विरोध में—''दो

भिन्न स्थानों पर रहने वालों की ऐक्यता (एकाधिकरणकर) दिखलाते हुए चमत्कार उत्पन्न किया जाता है", असंगति में--"एक स्थान पर होने वाले कार्य-कारणों का भिन्न स्थानों में होना वर्णन करते हुए चमत्कार बतलाया जाता है" और विषम में--"कार्य-कारण-संबंधी गुणों और फलों का अनुरूप से वर्णन करते हुए उसे चमत्कार पूर्ण बनाया जाता है। अर्थात्—"विरोध में"—"वैयधिकरण्य वालों का एकाधिकरण होता है।" 'असंगति' में – कार्य-कारण का वैयधिकरण्य होता है" और विषम में—विशेष कर उसके तृतीय भेद में, कार्य-कारण के विजातीय गुण-क्रिया का योग चमत्कार-पूर्ण होता है।

संस्कृत-ग्रंथों में विषम के प्रथम तथा तृतीय भेदों में पूर्वापर का, अर्थात् प्रथम को तीसरा और तीसरे को प्रथम मानने का भी उल्लेख भी मिलता है, किंतु स्वभावतः जो क्रम ऊपर लिखा गया है, वही उचित प्रतीत होता है।"

अथ प्रथम 'विषँम'—"अँनमिल बातँन" कौ उदाहरन जथा—

कल[१]-कंचँन सौ[२] वौ अंग[३] कहाँ, औ[४] कहाँ ये मेघँन-सौ तँन कारौ।
कहाँ वौ कौल-कली बिकसी-सी,[५] कहाँ तुँम सोइ रहौ गहि डारौ॥
'दास जू'[६] ल्याउ-ही-ल्याउ कहौ, कछु आपनों[७]-वाकौ न बीच बिचारौ।
वौ कोंमल[८] गोरो[९]-किसोरी कहाँ, औ कहाँ गिरि-धारँन-पाँन तिहारौ॥*

*वि*०--"यहाँ-नायक-प्रति दूती के कथन में "नायिका-नायक" के परस्पर विरुद्ध धर्म वाले वर्णों का—कोमल-कठोर अंगों का, संबंध 'कहाँ-कहाँ' शब्दों-द्वारा अयोग्य, बे-मेल सूचित किया गया है, इसलिये प्रथम विषम है।

प्रथम विषम का उदाहरण "कविवर मतिराम" का भी सुंदर है, यथा—

"ऊधौ जू, सूधौ बिचार है धों, सो कछू सँमझें हँम-हूँ ब्रजबासी।
माँनि हैं जो अँनुरूप कहौ 'मतिराम' भली ये बात प्रकासी॥

पा०—१. (का०) (वें०) (सं० पु० प्र०) किल...। २ (का०) (वें०) सी ..। (प्र०) सों। ३. (का० रा० पु०) (भ० मं०) रंग...। ४. (का०) (वें०), कहँ रंग कदबनि के तनु कारौ। (सं० पु० प्र०) (का० स० पु०) कहँ रंग कंदबँन सौ...। ५. (का०) (वें०) (सं० पु० प्र०) कहँ सेज कली बिकली वह होइ। (रा० पु० प्र०) कहाँ वौ सेज-कली बिकसी...। (भ० मं०) कहँ कौल कली-बिकसी वह होइ...। ६. (का०) (वें०) (प्र०) (भ० मं०) निज 'दास जू' ल्याउ-ही...। ७. (वें०) आपने...। ८. (का०) वह कौल-सी...। ९. (सं० पु० प्र०) (वें०) कोरी...।

* भ० मं० (पो०) पृ० २५७।

जोग कहाँ मुनि-लोगँन-जोग, कहाँ अबला-मति है चपला - सी ।
स्याँम कहाँ अभिराँम-सरूप, कुरूप कहाँ वौ कंस की दासी ॥"

उर्दू-साहित्य में भी इसके प्रचुर उदाहरण मिलते हैं, जैसे—

"कहाँ तू, और कहाँ उस परी का वस्ल 'नज़ीर' ।
मियाँ तू छोड़ ये बातें दिवाना-पन की - सी ॥"

—नजीर अकबराबादी

अथ द्वितीय बिषँम-"कारँन-कारज भिन्न-रंग" कौ उदाहरन

नेंन बसे[1] जल-कज्जल-संजुत, पो[2] अधराँमृत की अरुनाई ।
'दास' गई सुधि-बुद्धि-हरी लखि केसरिया-पट-सोभ सुहाई ॥
कोंन अचंभौ कहौ अँनुरागी, भयौ हियरा[3] जस उज्जलताई ।
साँवरे, रावरे नेह - पगें - हीं, पगी तिय - अंगँन में पियराई ॥

वि०—"अस्तु कविवर विहारीलाल का नीचे लिखा दोहा भी द्वितीय-"विषम" का अच्छा उदाहरण है यथा—

"या अनुरागी चित्त की, गति नहिं सँमझै कोई ।
ज्यों-ज्यों बूड़ै स्यांम-रँग, त्यों-त्यों ऊजर होई ॥"

और उर्दू वाले इसी अलंकार से अलंकृत कर कहते हैं—

"समझ कर रहमे-दिल तुमको, दिया था हमने दिल अपना ।
मगर तुम तो बला निकले, गज़ब निकले, सितम निकले ॥"

अथ तृतीय "बिषँम"—करता कौ क्रिया-फल नाहीं, पै अँनरथ" कौ उदाहरन—

हुतो[4] नीर-चर-हँनन कों, किएँ तीर बक ध्यॉन ।
लींनों झपटि सचाँन तिहिं, गयौ ऊपरै प्रॉन ॥

पुनः उदाहरन जथा—

तो[5] कटाच्छ-उर मँन दुरयौ, तिमिर-केस में जाइ ।
तहँ[6] बेंनी ब्याली डस्यौ, कीजै कहा उपाइ ॥

पा०—१. (का०) (प्र०) वहैं...। (वें०) नेंनन में जल...। २. (वें०) पीय-धरामृत...। ३. (का०) (वें०) (प्र०) हियरौ ..। ४. (प्र०) सर-तट जलचर-हँनन कों, धरें हुतो बक...। ५. (का०) (प्र०) तुअ। (वें०) तुव...। ६. (प्र०) तहँ ब्यालिन बेंनी डस्यौ...।

पुनः उदाहरन जथा—

सिंघो-सुत कौ[1] मौंन भै, ससा गयौ ससि-पास।
ससि-सँमेत तहँ ह्वै गयौ, सिंघी सुत कौ ग्रास॥

*

जिहिं मोहिबे काज सिँगार-सज्यौ, तिहिं देखत[2] मोह में आइ गई।
न चितौंन चलाइ सकी, उन-ही कौ[3] चितौंन के घाइ[4] अघाई गई॥
भाँनु[5]-लली की दसा सुनौं[6] 'दास जू', देति ठगौरी ठगाइ गई।
नँद-गाँउ[7] गई दधि-बेचँन कों, तहँ आप-ही-आप बिकाइ गई॥

वि०—"कन्हैयालाल पोद्दार ने दासजी के—"तिहिं मोहिबे काज०..." छंद में द्वितीय विषम मान—"यहाँ श्री कृष्ण को मोहने के कार्य का विनाश होकर स्वयं मोहित हो जाने से अनिष्ट की प्राप्ति है" कहा है, किंतु वास्तव में यह छंद उक्त 'विषम' का ही उदाहरण है, क्योंकि ब्रजभाषा के आचार्यों ने आप द्वारा कहे गये द्वितीय 'विषम' के विषय को तृतीय विषम मान तदनुरूप उदाहरण दिये हैं। 'तृतीय विषम' का 'गोकुल कवि' का उदाहरण भी सुंदर है, यथा—

"रूप-गुमाँन-भरी अबलों, सब-ही की दसा सुँनती उठि कोहि-री।
चोरिबे कों चित-से बित्त कों, चलि आई-ही पौरि पैं आवति जोहि-री॥
'गोकुल' होति लखालखी पौर-हीं, ह्वै गयौ चेटक-सौ चख पोहि-री।
मैं मँन मोंहँन कौ कहाँ मोह्यौ, गयौ मँन-मोंहँन-हीं मँन-मोहि-री॥"

और कवि 'वृंद' जी कहते हैं—

"छींन भई तँन कौंम-मई, जिनके हित बाट इते दिँन हेरी।
आगँम जोतिषी-बूझति-ही, नित देव-मनावत साँझ-सबेरी॥
आयौ सु प्राँन-पिया परदेस ते, देहु बधाई कहै सुनि मेरी।
'वृंद' कहै उँन गारी दई औ निकारि दई तब अतर-चेरी॥"

यहाँ नायिका-द्वारा पति के विदेश से पधारने की शुभ-सूचना देनेवाली दासी को बधाई (धँन) प्राप्त न होकर गाली और घर से निकाले जाने का अनिष्ट-

पा०—१. (वें०) की...। २. (का०) (वें०) देखते...। ३. (सं० पु० प्र०) (का०) (वें०) के...। ४. (सं० पु० प्र०) (प्र०) भाइ। ५. (का०) (वें०) (प्र०) वृषभाँन ..। ६. (प्र०) यह...। ७. (रा० पु० नी० सी०) नँदगाउँ...। (प्र०) बरसाँनें।

* अ० मं० (पोद्दार) पृ० २६०। का० का० (रा० सा०) पृ० ४४।

बुरा पारतोषिक मिला, जो तृतीय 'बिषम' का फल है—विषय है। साथ-ही नायिका-द्वारा प्रियतम के विदेश से आगमन की शुभ सूचना देनेवाली दूती वा दासी को गाली के साथ-साथ घर से निकालना भी कुछ समझ में नहीं आता। अस्तु, इस गाली और घर से निकाले जाने का गूढ़ रहस्यमय कारण उन्हीं (वृंदजी) से सुनिये, यथा—

"पिय कौ आगँम सुनति-ही, फूली सब तँन नारि।
बिरह-दसा देखी न पिय, ताते दई निकारि॥"

"इति श्री सकल कलाधर-कलाधरबंसावतंस श्री महाराज कुँमार श्री बाबू हिंदूपति-बिरचिते "काव्य-निरनए" बिरुद्धालंकार बरननो नाम त्रयदसोध्यायः॥"

अथ चौदहवाँ उल्लास

अथ उल्लासादि अलंकार बरनन

बिबिध भाँति 'उल्लास', 'अबग्या' 'अँनुग्याहि'[1] गँनि।
बहुरयौ 'लेस', 'बिचित्र', 'तद्गुनों', 'सगुँन' 'दास' भँनि॥
औरु अतद्गुँन', 'पूर्बरूप[2]', 'अँनुगुँन', अवरेखै।
'मीलित'[3] औ 'सामान्य', जाँन 'उँनमील',[4] - बिसेसै॥
ए होत 'चतुरदस' भाँति के[5], अलंकार सुनिएँ सुँमति।
सब गुँन-दोष-प्रकार गुँनि[6], किएँ एक-ही ठौर थिति॥

वि०—"दासजी ने इस उल्लास में चौदह (१४) अलंकारों जैसे—उल्लास, अवज्ञा, अनुग्या, लेश, विचित्र, तद्गुण, स्वगुण, अतद्गुण, पूर्वरूप, अनुगुण, मीलित, सामान्य, उन्मीलित" और विशेष" का वर्णन किया है। संस्कृत-अलंकार-ग्रंथों में—"उल्लास और अवज्ञा" को "वर्णन-वैचित्र्य-प्रधान"[1] "लेश-अनुज्ञा" को "तर्क-न्याय मूलक",[2] "विचित्र-विशेष" को "विरोध-मूलक"[3] और बाकी के अन्य अलंकारो—"तद्गुण, स्वगुण, अतद्गुण, पूर्वरूप, अनुगुण, मीलित, सामान्य और उन्मीलित" को "लोक-न्याय मूलक[4]" श्रेणी में विभाजित किया गया है। दासजी द्वारा इन चतुष्टय-रूप में विभाजित अलंकारों को एक ही शृंखला में – उल्लास में, वर्णन करना उनके आचार्यत्त्व का निर्देशक है, क्योंकि उक्त अलंकारों का संस्कृतानुसार विभिन्न वर्गी होते हुए भी उनके विषयों में साम्यता अधिक है।"

ऊपर लिखे—'उल्लासादि" अलंकार संस्कृत के पुराने अलंकार-ग्रंथों में नहीं मिलते। सर्व प्रथम आचार्य रुद्रट् ने - "तद्गुण, पिहित और विशेष तीन अलंकारों की उत्पत्ति की और मम्मटजी ने 'अतद्गुण' नामक नया अलंकार रचा। इनके बाद पीयूषवर्षी श्रीजयदेव के 'चंद्रलोक' में—"अनुगुण, अवज्ञा, उन्मीलित, उल्लास" और "पूर्वरूप" नाम के पाँच अधिक अलंकार पाये जाते हैं। श्रीअप्पय दीक्षित ने भी इन ऊपर लिखे नौ (९) अलंकारों का

पा०—१. (वें) अवग्यानुग्या ही...। (प्र०) अनुअग्या...। २. (वें०) पुरस्वरूप...। ३. (का०) (वें०) (प्र०) मिलित...। ४. (का०) (वें०) (प्र०) उन्मिलित ..। ५. (का०) (वें०) को...। ६. (का०) (प्र०) सब गुनदोषादि प्रकार गँनि, कियौ...। ७. (वें०) कियौ...।

उल्लेख करते हुए "अनुज्ञा" नाम का एक नया अलंकार लिखा। 'लेश', 'विचित्र' और 'सामान्यालंकार' भी मिलते हैं, "स्वगुण" अलंकार का (संस्कृत और ब्रजभाषा ग्रंथों में) कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता। इससे ज्ञात होता है कि उक्त (स्वगुण) अलंकार दासजी की देन है। रुद्रट्-जन्य जो 'पिहित' अलंकार था, यद्यपि वह संस्कृत अलंकार—'मीलित' में समा गया, फिर भी वह ब्रजभाषा के अलंकार-ग्रंथों में अब भी दर्शन दे देता है। किंतु समझ में नहीं आता कि पिहित (छिपाना) मीलित (मिला हुआ) में कैसे घुल-मिल गया जब कि दोनों का अर्थ विभिन्न है।

दासजी मान्य इन अलंकारों का संस्कृतानुसार पूर्व लिखित वर्गीकरण में भेद है, भिन्न मत हैं, भिन्न नाम हैं—जैसे, 'विरोध मूल' – विचित्र और विशेष, न्यायमूल—सामान्य, 'संसर्गमूल'—मीलित, उन्मीलित, तद्गुण, अतद्गुण, पूर्वरूप, अनुगुण, उल्लास, अवज्ञा, लेश" और 'प्रकीर्णक'—अनुज्ञा कहा गया है।

इस उल्लास में, दासजी ने सर्वप्रथम 'उल्लास' अलंकार का उसके पाँचों भेदों के सहित वर्णन किया है, इसके बाद अवज्ञा-अनुज्ञादि अलंकारों का। संस्कृत-अलंकार ग्रंथों में "अवज्ञा" के दो भेद—"गुण से गुण" और "दोष से दोष" की प्राप्ति" रूप में माने गये हैं। दासजी ने इन दोनों के अतिरिक्त दो भेद—"जहाँ दोष ते गुन नहीं०" तथा–"जहँ गुँन ते दोषौ नहीं०...को प्राप्ति पर भी माने हैं। ब्रजभाषा के अन्य अलंकाराचार्यों ने ये भेद नहीं माने हैं। अवज्ञा के बाद अनुज्ञादि अलंकारों का आपने सांगोपांग वर्णन किया है।"

अथ "उल्लास" अलंकार बरनन जथा—

औरँन के[१] गुँन-दोष ते, औरँन[२] के गुँन-दोष।
बरनत यों 'उल्लास' हैं, कबि-पंडित मति-कोस[३]॥

वि०—"जब एक के गुण-दोष से दूसरे के गुण-दोष प्रकट किये जाय — वर्णन किये जाय, तब अलंकाराचार्य "उल्लास" का विषय मानते हैं। संस्कृत-व्याकरणानुसार 'उल्लास' की व्युत्पत्ति 'उत्' और 'लश' से मानी गयी है, जिसका अर्थ होता है-"प्रबल दोष-संबंध"। कोई-कोई 'प्रकाश' और 'प्रसन्नतादि' (अर्थ) भी मानते हैं। इस प्रकार उल्लास में "एक पदार्थ के प्रबल गुण-दोष के संबंध से दूसरे को गुण-दोष प्राप्त होना कहा जाता है, जिससे इसके चार भेद–"गुण से

पा०—१. २. (का०) (वे०) (प्र०) औरे...। ३. (वे०) चोष ।

गुण, दोष से दोष,गुण से दोष और दोष से गुण बन जाते हैं। दासजी ने इन चारों के उदाहरण--"गुण से गुण, गुण से दोष, दोष से गुण और दोष से दोष नाम से दिये हैं। दासजी ने उल्लास को 'अप्रस्तुत-प्रशंसा' और अर्थांतर-न्यास से अनुप्राणित मान इसका पाँचवाँ भेद संकर रूप भी मानकर उसका भी उदाहरण दिया है।

उल्लासालंकार को कुवलयानंदकार (संस्कृत) ने, श्री जयदेव के कथनानुसार भेद-रहित स्वतंत्र अलंकार माना है। उद्योतकार (संस्कृत) ने उल्लास के प्रथम-द्वितीय भेद तो माने हैं, तृतीय-चतुर्थ भेदों को 'विषम' अलंकार के अंतर्गत बतलाया है। कुछ आचार्य इसे 'काव्यलिंग' के भीतर-ही गणना करते हैं।

पूर्व-कथित (तेरहवाँ उल्लास) 'असंगति' अलंकार के प्रथम भेद से इस (उल्लास) के प्रथम-द्वितीय भेद मिलते-जुलते हैं, पर असंगति में कार्य-कारण का और उल्लास के उक्त भेदों में प्राकृतिक गुण-दोषों का संबंध होता है। पंचम विभावना और उल्लास के तृतीय-चतुर्थ भेदों के उदाहरणों में भी बहुत कुछ साम्यता पायी जाती है, किंतु विभावना (पाँचवीं) में विलोमी कारण से कार्य की उत्पति होती है और उल्लास में क्रमशः "एक के गुण से दूसरे को दोष तथा एक के दोष से दूसरे को गुण की प्राप्ति होती है।

अथ प्रथम उल्लास—"गुँन ते गुँन" कौ उदाहरन जथा—

औरँन[1] के गुँन और कों-गुँन "पैहलौ[2] "उल्लास"।
"'दास' सँपूरँन चंद लखि, सिंध-हिऐं उल्लास[3] ॥"

पुनः उदाहरन जथा—

कह्यौ देवसरि प्रघट ह्वै, 'दास' जोरि जुग-हाँथ।
भयो सोय तुव न्हाँन ते, मेरौ पावँन पाथ[4] ॥

वि०—"उल्लास के प्रथम भेद "गुण से गुण" का उदाहरण ग्वाल कवि-कृत भी सुंदर है, यथा—

"गेह में लगे हैं, तिय-नेह में पगे हैं पूर-लोभ में जगे हैं, अदेह तेह सँमुनाँ।
कुटिल-कुढ़गँन में, कूरँन के संगँन में, छके रति-रंगँन में नंगँन ते कँमुनाँ ॥
'ग्वाल कवि' भनत गरूर-भरे अति पूर, जाँनिऐं जरूर जिन्हें काहू कौ गँमुनाँ।
लैहैर करें ते हरि-लोक में लैहैर करें, लैहैर तिहारी के लखैया मातु जँमुनाँ ॥

पा०—१. (का०) (वें०) (प्र०) औरै...। २. (का०) (वें०) पहिले...। ३. (का०) (वें०) (प्र०) हुल्लास। ४. (वें०) साथ।

श्री मतिरामजी का उदाहरण भी सुंदर है, यथा—

गुच्छँन के अवतंस लसें, सिखि-पिच्छँन अच्छ किरीट बनायौ।
पल्लव लाल समेत छरी, कर पल्लव-से 'मतिराँम' सुहायौ॥
गुंजँन के उर मंजुल-हार, निकुंजँन ते कढ़ि, बाहर आयौ।
आज कौ रूप लखें ब्रजराज कौ, आज-ही आँखिन कौ फल पायौ॥"

अथ द्वितीय उल्लास "और के गुँन ते और कों दोष" जथा—

औरनँ[1] के गुँन और कों, दोष-"उलासै" होत।
"बारिद जग-जीवँन-भरत, मरत आक के गोत॥"

*

बास-बगारत मालती, करि-करि सैहैज बिकास।
पिय-बिहींन बँनितँन[2]-हिएँ, बिथा बढ़त[3] अँनयास[4]॥

वि०—"द्वितीय उल्लास "गुण से दोष की प्राप्ति" के वर्णन में कन्हैया-लाल पोद्दार ने अपनी 'अलंकार-मजरी' में नीचे लिखा एक शेर भी उदाहरण स्वरूप लिखा है, जैसे—

"पान खा-खा न हँस, इस तरजा तू ऐ दुश्मने-जाँ।
अभी मर जाँयगे खूं में लबो-दंदान कई॥.'

वाकई भाव और कहने का ढंग सुंदर है। द्वितीय उल्लास का यह उदाहरण बे-जोड़ है।"

अथ तृतीय उल्लास-"और के दोष ते और कों गुँन" जथा—

दोष और के और कों,-गुँन "उल्लासै" लेखि।
"रघुपति कौ बँन-बास भौ,-तपसिँन सुखद बिसेखि॥"

*

भली भई[5] करता कियौ, कंटक-कलित[6] मृनाल।
तुव भुजाँन-सँम[7] जाँन कबि[8] उपमाँ देति[9] जु बाल॥

पा०—१ (का०) (वें०) (प्र०) औरँ...। २. (का०) (वें०) बनितानि-हिय। ३. (रा० पु० नी० सी०) बढ़ें बिथा...। ४. (का०) (वें०) अन्यास। ५ (प्र०) भयौ। ६. (प्र०) बलित...। ७. (का०) (वें०) की...। ८. (का०) (वें०) सब ..। ९. (का०) (वें०) (प्र०) देते बाल।

अथ चतुर्थ उल्लास—"और के दोष ते और कों दोष" जथा—

"उल्लासै" जहँ और के, दोष और कों दोष।
"भऐं संकुचित-कँमल-निस, मधुकर लह्यौ न मोष ॥"

वि०—"चतुर्थ उल्लास—"और के दोष से और को दोष-प्राप्ति" का उदाहरण कवि श्री विहारीलाल का यह दोहा भी सुंदर है, जैसे—

"संगति-दोष लगै सबँन-कहे ते साँचे बैंन।
कुटिल-बंक भों-संग ते, भए कुटिल-गति नैंन ॥"

महाबीर प्रसाद मालवीय ने स्वसंपादित "काव्य-निर्णय" में जो वेल्ड-वीयर प्रेस प्रयाग से प्रकाशित हुआ है, इस चतुर्थ उल्लास के लक्षण-उदाहरण को तृतीय उल्लास का लक्षण-उदाहरण माना है, अर्थात् क्रम-विपर्यय किया है—

अथ "संकर-उल्लास" लच्छन जथा—

'अप्रस्तुत परसंस' जहँ, औ अरथांतरन्यास।
तहँ होत अँनचाँहिं-हू, बिबिध-भाँति'उल्लास' ॥

अस्य उदाहरन जथा—

है, इहि तो बँन-बंनु कौ जो, लखिऐ[1] सह-गाँठ असार कठोरै।
'दास' ए आपस में इहि भाँति, करें रगरौ जिहिँ पावक दौरै ॥
आपँन-हूँ कुल-संकुल-जारि, जराबत है सहवास के औरै।
हे[2] जग-बंदन, चंदँन तोहि, बिनास कियौ इँन[3] ठौर-कुठौरै ॥

अथ "अवग्या-अलंकार लच्छन जथा—

औरें के गुन और कों—गुनँन 'अवग्या' पाइ।
"बड़े हमारे नैंन तौ,[4] तुम्हें कहा जदुराइ ॥"

वि०—"किसी एक के गुण-दोष से किसी दूसरे को गुण-दोष प्राप्त न होने पर "अवज्ञा" अलंकार कहा जाता है। अवज्ञा पूर्वोक्त अलंकार "उल्लास" का विरोधी है। उल्लास में अन्य के गुण-दोषों को अंगीकार किया जाता है, यहाँ (अवज्ञा में) नहीं।

पा०—१. (का०) लखि ऐसौ असार...। (वें०) (सं० पु० प्र०) लखियै सो सगाँठि असार...। (प्र०) लखि ये सह...। २. (का०) (वें०) (प्र०) रे...। ३, (का०) (वें०) इहि...। ४ (वें०) सों...।

अवज्ञा अलंकार को सर्व प्रथम 'जयदेव' ने 'चंद्रालोक' में तथा अप्पय दीक्षित ने 'कुवलयानंद' में स्थान दिया है—निर्माण किया है। अवज्ञा के प्रति कुछ आचार्यों का कथन है कि यह (अवज्ञा) अलंकार स्वतंत्र न मानकर "विशेषोक्ति" के अंतर्गत मनाना चाहिये, क्योंकि विशेषोक्ति की भाँति अवज्ञा में भी कारण के होते हुए कार्य का अभाव दिखलाया जाता है।

संस्कृत-अलंकार ग्रंथों में अवज्ञा के—"गुण से गुण के न होने में" तथा "दोष से दोष के न होने में" दो भेद माने हैं। दासजी ने दो भेद और–दोष से गुण के न होने तथा गुण से दोष के न होने-रूप में भी माने हैं तथा इनके सुंदर उदाहरण दिये है, इत्यादि ...।"

उदाहरन जथा—

निज सुघराई कों सदाँ, जतँन करें मतिमाँन।
पितु-प्रबींनता[1] कौ गरब, करिबौ[2] कोंन सयाँन॥

वि०—"प्रथम अवज्ञा—"गुण से गुण की अप्राप्ति" का उदाहरण 'मति-राम' विरचित भी सुंदर है, यथा—

"मेरे दृग-बारिद बृथाँ, बरसत बारि-प्रबाह।
उठत न अंकुर नेह कौ, तो उर-ऊसर माँह॥'

अथ द्वितीय 'अवग्या'–और के दोष सों और कों दोष न होंनों जथा—

औरें दोष न[3] और कों, दोष 'अवग्या' सोउ।
"मूंढ़ सरित डारें सुरा, भूलि न त्यागत कोउ॥"

पुनः द्वितीय उदाहरन जथा—

आक औ कँनक-पात तुँम जो चबाबत[4] हौ,
तौ खट-रस-बिंजँन न[5] केहूँ भाँति लटि गौ॥
भूषँन-बसँन कींने[6] ब्याल-गज खाल कों तौ,
साल-सुबरँन कौ न धारिबौ[7] उलटि[8]-गौ॥

पा०—१. (वें०) प्रबीन ताकौ...। २. (का०) (वें०) (प्र०) कीबौ ..। ३. (का०) (वें०) दोषँन और के। ४. (का०) (वें०) (प्र०) चबात...। ५. (वें०) को...। ६. (का०) (प्र०) कीन्हों...। ७. (का०) वें०) पेन्हिबौ...। (रा० पु० नी० सी०) पैरिबो...। ८. (सं० पु० प्र०) उलटि...।

'दास' के दयाल हौ[1] सु रीति-ही उचित तुम्हैं,
लींनी जो कुरीति तौ तिहारौ ठाठ-ठटि गौ।
ह्वै कें जगदीस कीनों बाँहन बृषभ कों,
तौ कहा सिव साहिब गयंदँन कौ घटि गौ ॥

अथ तृतीय अवग्या–"दोष ते गुँन न हों नों"–लच्छन-उदाहरन जथा—

जहाँ दोष ते गुँन नहीं, इहौ "अवग्या" 'दास'।
"जहाँ[2] खलँन कौ गँन बसै, तहाँ न धरँम-प्रकास ॥"

पुनः उदाहरन जथा—

काँम-क्रोध-मद-लोभ की, जा हिय-बसी जँमात।
साधु-भाँवती-भक्ति तहँ, 'दास' बसै किहिँ भाँत ॥

अथ चतुर्थ 'अवग्या'—"गुँन ते दोष न हों नों" लच्छन जथा—

जहँ गुँन ते दोषौ नहीं, इहौ[3] 'अवग्या बेस।
"राँम-नाँम सुँमरँन जहाँ, तहाँ न संकट लेस ॥"

पुनः उदाहरन जथा—

कोरी-कबीर, चँमारौ[4] 'दास' हो,[5] जाट धनौं, सदनाँ[6]-हूँ[7] कसाई।
गीध गुनाह-भरयौ-ही हुतो, भरि-जँनम अजामिल कींनीं ठगाई ॥
'दास' दई इँन कों गति जैसी, न तैसी जपींन-तपींन हूँ पाई।
साहिब साँचौ न दोष गँनें,[8] गुँन एक लहै जो सँमेत सचाई ॥*

वि०—"भारती-भूषण" में दासजी के इस "अवज्ञा" के चतुर्थ उदाहरण को अवज्ञा के द्वितीय लक्षण—"दोष से दोष की अप्राप्ति" के उदाहरण में संकलित किया गया है।

अथ 'अँनुग्या' अलंकार लच्छन बरनन जथा—

दोषौ में गुँन देखिऐ, तहाँ[9] 'अँनुग्या' नाँम।
"भलौ भयौ मग-भ्रँम भयौ,[10] मिले बीच घँनस्याँम ॥"

पा०—१. (वे०) हीं...। २. (प्र०) लखन...। ३. (प्र०) यही...। ४. (का०) (भा० भू०) चमार, रैदास...। (वे०) चमार रैदास...। ५. (प्र०) ह्वै...। ६. (का०) (वे०) (प्र०) (भा० भू०) सधना...। ७. (का०) (वे०) हो...। ८. (वे०) गहैं...। ९. (का०) (वे०) (प्र०) ताहि...। १०. (वें०) भई...।

* भा० भू० (केडिया) पृ० ३०६।

वि० — "जहाँ दोष में भी गुण माना जाय, दोष को भी गुण स्वीकार किया जाय, वहाँ अनुज्ञा-अलंकार कहा-सुना जाता है। अनुज्ञा- --'अनु' और 'ज्ञा' का संयुक्तरूप है, जिसका अर्थ 'अनुकूल ज्ञान' होता है। इसलिये उक्त अलंकार में दोष वाली वस्तु को अपने अनुकूल मानकर उसकी इच्छा की जाती है,—दोष युक्त वस्तु भी अनुकूल समझी जाकर ग्रहण की जाती है। कोई - कोई आचार्य अनुज्ञा का अर्थ 'अनुमति' वा 'अंगीकार' भी करते हैं, तब इसका अर्थ होगा-'दोषों का 'अंगीकार' करना......।

कुवलयानंद में अप्पय दीक्षित ने और रस-गंगाधर में पंडितराज जगन्नाथ ने अनुज्ञा को स्वतंत्र-अलंकार और अन्य आचार्यों ने 'विशेष' अलंकार के अंतर्गत माना है।"

कन्हैयालाल पोद्दार की 'अलंकार-मंजरी' में 'अनुज्ञा' के उदाहरण-स्वरूप भक्तवर 'रसखान' का निम्नलिखित छंद सुंदर दिया गया है, —

"काहू सों माई, कहा कहिऐ, सहिऐ जु सोई 'रसखाँन' सहावें।
नेंम कहा जब प्रेंम कियौ, तब नाचिऐं सोई जो नाच-नचावें॥
चाँहत हैं हँम और कहा सखि, क्यों-हूँ-हूँ पिय कों देखँन पावें।
चेरिऐ सों जु गुपाल रचे तौ चलौ-री सबै मिल चेरी कहावें॥"

पुनः दूसरौ उदाहरन जथा—

कोंन मनावै माँनिनी, भई और की और।
लाल रहे छकि लखि-ललित, लाल बाल-दृग-डौर[1]॥

वि० "दासजी की—"कोंन मनावै माँनिनी०" रूप सरस सूक्ति पर अष्टछाप के प्रसिद्ध 'जड़िया कवि' नंददासजी की सुंदर उक्ति देखिये। मानिनी के स्वरूप का आप कैसा सुंदर भाव-युक्त वर्णन करते हैं—चित्र-सा खींचते हैं, यथा—

"तुँम्ह, पैहलें तौ देखौ आइ, माँनिनी की सोभा लाल,
पाछें तें मनाइ लीजो प्यारे हो गुबिंदा।
कर पर धर कर कपोल, प्यारी रही नेंन मूंदि—
कँमल - बिछाइ माँनों सोयौ सुख चंदा॥
रिस—भरी भोंह माँनों भौरा है अरबरात,
*
'नंददास'-प्रभु ऐसी काहे कों रिसऐ बाल,
जाके मुख देखे ते मिटत दुख-दंदा॥"

पा०—१. (का०) (वें०) (प्र०) कोर।

अथ लेसालंकार-लच्छन उदाहरन बरनन जथा—

जहाँ दोष गुँन होत है, 'लेस' वहीं[1] सुख-कंद ।
"छीन-रूप ह्वै द्वैज-दिँन, चंद भयौ जग बंद ।।"

वि०"जहाँ दोष को गुण-रूप में" और "गुण को दोष-रूप में" जैसा दास जी ने आगे कहा है-"गुँनों दोष ह्वै जात है, 'लेस-'रीति यै और" उक्तिवैचित्र्य से कल्पित किया जाय, वहाँ लेश के विषय बनते हैं। लेश का शब्दार्थ-'अंश, भाग, तुच्छ और छोटा (अल्प) होना कहा गया है, अतएव यहाँ किसी गुणवाली वस्तु के अंश-विशेष में दोष तथा दोषवाली वस्तु के अंश-विशेष में गुण दिखलाया जाता है। अथवा किसी वस्तु को तुच्छ दिखलाना लेशालंकार का विषय है।

लेश को व्याज-स्तुति, उल्लास और अवज्ञा से प्रथक् बतलाते हुए अलंकाराचार्यों का कथन है---व्याज-स्तुति में प्रथम प्रतीत होने वाले अर्थ के विपरीत, स्तुति के शब्दों से निंदा अथवा निंदा के शब्दों से स्तुति का तात्पर्य होता है, लेश में यह बात नहीं है। यहाँ दोष को गुण वा गुण को दोष रूप में किसी अंश विशेष के द्वारा मान लिया जाता है। उल्लास में 'एक का गुण-दोष दूसरे को प्राप्त होता है और लेश में गुण-दोष को वा दोष-गुण को उनके विपरीत दोष-गुण में कल्पित किया जाता है। अवज्ञा और लेश के प्रति कहा जाता है-"अवज्ञा में उत्कट गुण की लालसा से दोष वाली वस्तु की इच्छा की जाती है तथा लेश में दोष वाली वस्तु में गुण अथवा गुणवाली वस्तु में दोष कवि-कल्पना द्वारा किया जाता है।

प्रथम लेश का उदाहरण "मतिराम" कवि-कृत भी सुंदर है, यथा—

कत सजनी ह्वै अँनमनी, अँसुवा-भरति ससंक ।
बड़े भाग नँदलाल सों, झूंठें-हुँ लगत कलंक ।।"

अथ प्रथम 'लेस' कौ पुनः उदाहरन जथा—

ललित लाल मुख-मेजि कें, दियौ गँमारिन[2] फेरि ।
लीलि न लीन्हों यै बड़ौ, लाभ[3] जौहरी हेरि ।।

वि०—"प्रथम लेश के उदाहरण स्वरूप विहारीलाल का यह दोहा भी विशेष प्रसिद्ध है, जथा—

पा०—१. (प्र०) वहै...। २. (का०) (वें०) (प्र०) गँवारन...। ३ (वें०) लाल...।

"चित पित-मारक-जौग गुँनि, भयौ भऐं सुत सोग।
फिरि हुलस्यौ जिय जोयसा, सँमर्फें जारज-जोग॥

अथ द्वितीय लेस "गुँन ते दोष" कौ लच्छन उदाहरन जथा—

"गुँनों दोष ह्वै जात हैं, लेस-रीति यै और।
"फलें सुहाए मधुर फल, आँम गए झकझौर॥"

वि०—"द्वितीय लेश के उदाहरण-स्वरूप भी कविवर विहारीलाल का यह दोहा सुंदर है, जैसे—

"कहा कहां वाकी दसा हरि प्राँनन के ईस।
विरह-ज्वाल जरिबौ लखें, मरिबौ भयौ असीस॥

नायिका के विरह-ज्वाला में नित्य-प्रति जलने से उसके मरने की—दोष से गुण की, आशीष मानती है, क्योंकि विरह-ज्वाला से जलने में दुःखाधिक्य है। उर्दू के प्रसिद्ध कवि "वर्क़ लखनवी" ने भी यह बात—विहारीलाल की तरह कही है, जैसे—

"अब ये हालत है कि फुरकत में एवज जीने के।
मेरे मरने की मुर्झ, लोग दुआ देते हैं॥

और श्री लच्छीराम जी इसी लेश में लपेट कर कहते हैं—

"बूझी में—"गैया हँमारी कहाँ", बछुरा में रह्यौ वौ बाँसुरी बारौ।
बोलिबौ हाइ गरें परयौ यों, 'लछिरॉम' कह्यौ फिरि बोलि निहारौ॥
माहर ह्वै बिचल्यौ मग में हठ, साँकरे-घूंघट घेर उघारौ।
छ्वै छिगुनी कौ छला-छल में, मँन-मौंनिक लै गयौ लूटि हमारौ॥"

प्रताप कवि का लेशालंकार-संयुक्त नवोढा-नायिका का वर्णन तो और भी सुंदर है, यथा—

"पिय-मँन-भावँनि नबेली सुख-दाँनि निज-रूप की छटाँन रति-रंभा-निदरति है।
सुंदर सरूप तँन सैहैज सिँगारँन सों, अंगँन अँनूप दुति दूनीं उघरति है॥
कहै 'परताप' मनि-मंदिर मयक-मुखी, मुख कै मलीन डर संकै धरति है।
पीठि दै लुगाइन की दीठै बचाइ, ठकुराँइन सु नाँइन के पाँइन-परति है॥"

यहाँ "नायिका का केलि मंदिर में जाना गुण था, पर दुःख-दोष प्राप्ति की झलक से द्वितीय लेश प्रकाशित हो रहा है।"

अथ बिचित्र अलंकार लच्छन बरनन जथा—

करत दोष की चाँह जहँ, ताही में गुँन देखि।
तहँ 'बिचित्र' भूषँन कह्यौ,[१] हिऐं चित्र अवरेखि ॥

वि०—"जहाँ दोष की चाहना पर गुण दिखलायी दे, वहाँ दासजी ने "विचित्र-अलंकार माना है।

अलंकार-ग्रंथों (संस्कृत-ब्रजभाषा) में विचित्रालंकार की विविध व्याख्याएँ मिलती हैं। चंद्रालोककार कहते हैं—"विचित्रं चेत्प्रयत्नः स्याद् विपरीतफलप्रदः" (जहाँ किये गये प्रयत्न से विपरीत फल मिले) और विश्वनाथ चक्रवर्ती कहते हैं—"विचित्रं तद्विरुद्धस्य कृतिरिष्ट फलाय चेत्"—साहित्य-दर्पण, (जहां अपने अभीष्ट की प्राप्ति के लिये उसके विरुद्ध अनुष्ठान किया जाय) तथा इसी प्रकार ब्रजभाषा में—"इच्छा फल बिपरीत की कीजै जतन—बिचित्र" (भाषा-भूषण), "कहि बिचित्र सु बिरुद्ध फल पावन कौ उद्योग" (चिंतामणि), "जहाँ करत उद्यँम कछू, फल-चाँहत बिपरीत" (मतिराम) और "सो 'बिचित्र' फल-चहि जु कछु, जतँन करें बिपरीत" (पद्माकर) इत्यादि अनेक मिलती-जुलती परिभाषाएँ हैं।

विचित्र का शब्दार्थ—विस्मय, अद्भुत और आश्चर्य कहा जाता है। इस लिये इस अलंकार में इच्छा के विपरीत-प्रयत्न रूप अद्भुतता कथन की जाती है। अतएव जब इष्ट-फल की प्राप्ति के लिये उससे विपरीत कार्य किया जाय तब 'विचित्रालंकार' कहा जाता है। यहाँ यही विचित्रता होती है कि "हम चाहते तो कुछ और हैं, और करते उसके विपरीत हैं। साधारणतः इच्छानुसार प्रयत्न किया जाता है, जिससे इष्ट फल की फल-प्राप्ति हो, पर यहाँ ऐसा नहीं है...।"

अथ बिचित्र कौ उदाहरन जथा—

जीवन-हित प्राँनँ तजै, नवै उँचाई-हेत।
सुख-कारँन दुख-संग्रहै, ऐसौ[३] भृत्य[४] अचेत ॥

वि०—'विचित्र अलंकार का उदाहरण 'कवि रघुनाथ' का सुंदर है, यथा—

"तीरथ न करें, नेंम-ब्रत कों न धरें एकौ,
भूलें-हूँ परें न काहू संगँम के संग में।

पा०—१. (का०) (वें०) (प्र०) तिहि...। २. (का०) (वें०) कहौ...। ३. (वें०) (प्र०) ऐसे...। ४. (का०) सृत्यु...।

रात में न जागें, ध्याँन-जोति कों न पागें,
कहूँ कैसें-हूँ न लागें कहै कोऊ काऊ ढंग में ॥
बेद कौ न भेद अवगाहती हैं न 'रघुनाथ',
निपुन भयौ न चाँहती हैं जोग-अंग में।
करिबे कों उज्जल सुधा-सौ अभिराँम देखौ,
मँन ब्रज-बाँम रँगती हैं स्याम-रंग में ॥"

कविवर "विहारीलाल" कहते हैं—

"मरिबे कौ साहस 'कियौ', बढ़ें बिरह की पीर।
दौरति है सँमुहैं-ससी, सरसिज, सुरभि-सँमीर ॥"

पुनः बिचित्र के दूसरे रूप कौ लच्छन-उदाहरन जथा—

दोष-बिरोधी के बलै, गँनौं न गुँन-उद्योत[1]।
कछु भूषँन-बिस्तरँन गुँन, रूप, रंग, रस[2] होत ॥

वि०—"जहाँ प्रबल विरोध के कारण गुणों का उदय न होने पर भी कवि-कथन की वैचित्र्यता के कारण गुणों के साथ रूप-रंग और रस पैदा होता हो तो वहाँ भी यह 'विचित्रालंकार' मानना चाहिये। यह दासजी का अभिमत है, किंतु इस अभिमत का उदाहरण आपने नहीं दिया है।"

अथ तद्गुँन-अलंकार लच्छन जथा—

'तद्गुँन', तजि गुँन आपनौं, संगत कौ गुँन लेत।
पाऐं पूरब रूप फिर, स्वगुँन सुमति[3] कहि देत ॥

वि०—"जहाँ अपना गुण त्याग कर संगति—पास वालों का गुण-ग्रहण किया जाय, वहाँ 'तद्गुण' अलंकार दासजी-मतानुसार है।

तद्गुण अलंकार का विवेचन सर्व प्रथम—रुद्रट्, मम्मट और रुय्यक् ने अपने-अपने ग्रंथों (काव्यालंकार, काव्य-प्रकाश, अलंकार-सर्वस्व और अलंकार-सूत्र) में किया है। रुद्रट् ने इसे "अतिशयवर्ग" और रुय्यक् ने "न्याय-मूल" वर्ग के लोक-न्याय-मूलक भेद के अंतर्गत गणना की है। श्रीमम्मट् 'तद्गुण' का विषय बतलाते हुए कहते हैं—

"स्वमुत्सृज्य गुणं योगादत्युज्ज्वल गुणस्य यत्।
वस्तु तद्गुणतामेति भण्यते स तु तद्गुणः ॥"

पा०—१. (वें०) (प्र०) उद्दोत...। २. (प्र०) से। ३. (सं० पु० प्र०) नाम...।

अर्थात् तद्गुण वह अलंकार कहा जाता है, जिसमें न्यून गुणवाली प्रस्तुत वस्तु किसी अप्रस्तुत अत्यंत उज्वल (उत्कृष्ट) गुणवाले पदार्थ के गुण को ग्रहण कर ले।" यही नहीं, आप व्याख्या करते हुए पुनः कहते हैं—"जहाँ कोई वस्तु अपने वास्तविक रूप को छिपा कर किसी समीपस्थ विशेष गुणवाले पदार्थ के आत्म-गुण-संपत्ति के द्वारा प्रभावान्वित वा संक्रांतवर्ण होकर उसी के छाया-सदृश रूप को प्राप्त हो जाय, तब वहाँ यह अलंकार होता है, क्योंकि उस अप्रकृत पदार्थ का गुण यहाँ प्रकृत पदार्थ में संक्रांत हो जाता है। इसलिये यह 'तद्गुण' कहलाता है......।" पीयूषवर्षी जयदेव की परिभाषा सूक्ष्म और सार-गर्भित है। आप कहते हैं—"तद्गुणः स्वगुणत्यागादन्यतः स्वगुणोदयः" (अन्याश्रय-जनित अपना गुण त्यागकर दूसरे का गुण-ग्रहण करने पर तद्गुण होता है) ब्रजभाषा में भी इसकी संस्कृत से मिलती-जुलती विविध परिभाषाएँ हैं। उन सब को लक्ष में रख पोद्दार कन्हैयालाल की गद्य-परिभाषा शुद्ध और परिष्कृत और अपने में पुष्ट समझ कर यहाँ उद्धृत की जाती है, जैसे—"अपना गुण त्याग कर उत्कट गुणवाली निकटवर्त्ती दूसरी वस्तु के गुण-ग्रहण करने के वर्णन को 'तद्गुण' अलंकार कहते हैं।"

तद्गुण का अर्थ है—"उसका, दूसरे का, अन्य का गुण। इसलिये इस अलंकार में लक्षणानुसार अन्यदीय गुण का ग्रहण होता है। यहाँ गुण से—'रूप-रस-गंधादि' लिया जाता है, यथा—

"गुणोऽप्रधाने रूपादौ मौर्व्यां सूत्रे वृकोदरे।

—केशव-कोष

अस्तु, संस्कृत-विज्ञ अलंकाराचार्यों का कहना है—श्रीमम्मट-मान्य तद्गुण-लक्षण 'अलंकार-सर्वस्व'-कर्ता के तद्गुण की परिभाषा से अनुप्राणित है।

अथ उदाहरन जथा—

पन्नाँ-संग पन्नाँ ह्वै प्रकासत छँनक[1] कँनक—
रंग पुनि[2] लै कैं पैग रंगँन पलत है।
अधर-ललाई लावै लाल की ललक पाऐं,[3]
अलक - झलक मरकत - सौ लगत[4] है॥

पा०—१. (का०) (प्र०) छनक लै कनक। (वें०) छनकु लै कनक...। २. (का०) ...पुनि पैगु रंगनि पलतु...। (वें०) (प्र०) पुनि पै कुरंगनि...। (सं० पु० प्र०) पुनि पै गुन रंगन...। ३. (का०) पायौ...। (वें०) पाय...। ४. (का०) (वें०) (प्र०) हलत है। (सं० पु० प्र०) (न० सि० ह०) सौ रलत है।

ऊदौ, अरुनौंयौ है,[1] पीत-पाटल हरौयौं[2] है,
दुति लै दुहूँघाँ[3] 'दास' नैंनँन-छलत है।
सँमरथ नींकें[4] बहुरूपिया-लों थाँन-ही में,
मोंती नथुनीं कौ[5] बर बाँने[6] बदलत है ॥*

अस्य तिलक

इहाँ, उपमाँ अपरांग है, ताते अंगांगी संकर है।

वि०—"तद्गुण अलंकार के उदाहरण-वर्णन में ब्रजभाषा के कवियों ने बड़ी ऊँची-ऊँची उड़ानें उड़ी हैं—बहुत-ही सुंदर-सुंदर सूक्तियाँ सूजी हैं, एक-दो उदाहरण, जैसे—

"आसँन एक पै आँनद-सों पिऐं, आपुस में रस-रूप बिसाल कौ।
मैं, 'रघुनाथ' गई तिहिं औसर, हाथ लिऐं सुचि फूल की माल कौ ॥
रीझि रही दुति देखि दुहूँ की, लखौ कौतुक एक भटू या हाल कौ।
अंग के रंग सों अंग कौ रंग भौ—गोरी कौ साँवरौ, गोरौ गुपाल कौ ॥"

*

"कौहर, कौल, जपा-दल, बिद्रुम, का इतनी जो बँधूक में कोति है।
रोचँन, रोरी, रची मेंहदी, 'नृप-संभु' कहै मुकता-सँम पोति है ॥
पाँइ धरें ढरै इंगुर-सौ, तिन में मँनि-पाइल की घँनी ओति है।
हाथ है-तीन लों चारहुँ ओर ते, चाँदनी चूँनरी के रँग होति है ॥"

*

"कालिह-ही गूंथी बबा की सों में, गज-मोंतिँन की पैहरी-ही आला।
आइ कहाँ ते गई पुखराज की, संग गई जमुनाँ-तट बाला ॥
न्हात-उतारी में 'बेंनी-प्रबींन', हँसै सुनि बेंनँन नेंन-बिसाला।
आँनति नाँ अँग की बदली, बदली-बदली सब सों कहै माला ॥"

यहाँ 'पोद्दार' (कन्हैयालाल—अलंकार-मंजरी) जी का मत है—"यद्यपि कंचन-वर्णी नायिका के अंग-प्रभा के कारण मोतियों की माला का 'पीत-गुण' ग्रहण किया जाना कहा गया है, किंतु इस वर्णन में 'तद्गुण' गौण है, भ्रांति

पा०—१. (का०) (प्र०) अरुनौं है पीत...। (वें०) अरुनी है पीत...। २. (का०) (वें०) (प्र०) हरौंहैं है कें...। ३. (का०) (वें०) (न० सि० ह०) दुर्घा की दास...। ४. (न० सि० ह०) नींकौ...। ५. (का०) (वें०) (प्र०) के...। ६. (प्र०) बानों...।

* न० सि० ह०, पृ० ११२, ३७५।

प्रधान है, इसलिये यहाँ तद्गुण भ्रांतिमान् अलंकार का अंग-मात्र है, प्रमुख नहीं।" बिहारीलाल का यह दोहा भी 'तद्गुण अलंकार का अच्छा उदाहरण है, यथा—

"अधर धरत हरि के परत, ओठ-दीठि-पट-जोति।
हरित-बाँस की बाँसुरी, इंद्र-धनुँष- रँग होति॥

'लच्छीराम" कहते हैं—

"भोर-हिं आज हमारी अली, सजिबे कों सिंगार कही ललचाइ कें।
कींनीं कछू हठ है हँम सों, 'लछिराम' सु भीतरी चौक बुलाइ कें॥
है गयौ हेंम कौ हार लला मिलि, माँनस मेरे बिलोकि लजाइ कें।
चार घरी लों चकीसी-रही, गज- गौहर कौ गजरा पैहराइ कें॥

और "श्री भारतेंदु"—

"आज एक ललनाँ, जवाहर खरीदबे कों,
आई हुती सुघर सुहाई हाट बारे की।
कर में लिये ते भए मुक्ता प्रबाल जैसे,
गुंजा-से लखाने फेरि दीठि दृग-तारे की॥
कहै 'हरिचंद' मोंती आप-से लखाए फेरि,
हास कौ बिलास बढ्यौ सुखमाँ कतारे की।
बीजक कौ मोल बढ्यो, नफा की चलावै कोंन,
अकल हिराँनी वा जौहरी बिचारे की॥

*

"गजब नैरंगे-अक्स आरिजे-रंगीने दिखलाया।
सुनहरा था दुपटा, हो गया गुलनार काँधे पर॥

*

"मुबाफे-जर लपेट दिया मुँह के अक्स ने।
गरदन पै आके बन गई, गोटे का हार जुल्फ॥

पुनः उदाहरन जथा—

सखि, तू कहै प्रवाल भौ, मुकता हाथ-प्रसंग।
लख्यौ दीठि'चहुँटाइ हौं, सु तौ चिहुँटनी-रंग॥

अथ "स्वगुँन" उदाहरन जथा—

भाँवतौ आँवतौ जौंन नबेली, चँमेली के कुंज जो पेंठत[1] जाइ कें।
'दास' प्रसूनँन 'सोंनजुही' करै, कंचँन-सी तँन[2] जोति-मिलाइ कें॥
चौंकि मँनोरथ-हू हँसि लेंन, चलै पग लाल-प्रभा मग[3] छाइ कें।
बीर, करै करबीर-झरै[4], निखलै हरखै छबि आपनी[5] पाइ कें॥*

वि०—"दासजी ने यह छंद "स्वगुण" अलंकार के शीर्षक से सुशोभित कर अपने 'काव्य-निर्णय' में दिया है। स्वगुण का अर्थ है—अपना गुण, किंतु आपने इसका कोई लक्षण नहीं दिया है कि स्वगुण क्या है। यही नहीं, आपने इस छंद को अपने 'शृंगार निर्णय' ग्रंथ में 'परकीया वासकसज्जा' के उदाहरण में भी दिया है।"

अथ अतदगुँन अलंकार लच्छन जथा—

बहै[6] 'अतदगुँन' जो नहीं, संगत कौ गुन लेत।
पूर्बरूप गुँन नहिं मिटै, भऐं मिटँन के हेत॥

वि०—"जहाँ संगत—पास का गुण-ग्रहण न किया जाय, मिटने (नाश) का कारण होते हुए भी अपना गुण न त्यागा जाय, तब वहाँ "अतद्गुण" अलंकार कहा जायगा। अथवा—समीपवर्ती वस्तु के गुण का रूप-रस गंधादि का ग्रहण किया जाना संभव होते हुए भी ग्रहण न किये जाने को 'अतद्गुण' कहते हैं। अतद्गुण, तद्गुण-अलंकार का विरोधी है—उससे विपरीत है। वहाँ (तद्गुण में) समीप वस्तु का गुण ग्रहण किया जाता है, यहाँ (अतद्गुण में) नहीं। किसी-किसी संस्कृत-अलंकार-ग्रंथों में इस (अतद्गुण) के दो रूप (भेद) भी मिलते हैं। जैसे—"जब अवर्ण्य-वस्तु न्यून गुण वाली होकर भी समीपस्थ उत्कृष्ट गुण वाली वर्ण्य-वस्तु के गुण का ग्रहण न करे, तथा जब वर्ण्य वस्तु पास में अवर्ण्य वस्तु के रहते उसका गुण-ग्रहण न करे" इत्यादि... और इन दोनों के उदाहरण संस्कृतानुसार ब्रज-भाषा में इस प्रकार बनते हैं, प्रथम-उदाहरण यथा—

"पिय अनुरागी ना भयौ, बसि रागी मँन-माँहि।"

—भा०-भू०

पा०—१. (का०) (शृं० नि०) (सं० पु० प्र०) बैठती...। (प्र०) बैठत...। (रा० प्र० का०) पैंठती...। २. (वें०) तम। ४. (सं० पु० प्र०) (का०) (वें०) (प्र०) (शृं० नि०) महि...। ४. (शृं० नि०) भरौने बलै हरखै छबि...। ५. (सं० पु० प्र०) आपनों...। ६. (का०) (वे०) सु अतद्गुन के हूँ नहीं,। (प्र०) सोई अतद्गुन है नहीं...। (सं० पु० प्र०) सुही...।

* शृं० नि० (भि० दा०) पृ० ५४, १६१।

और द्वितीय का—

"राजहंस नित रहत हैं, गंग-जमुँन की धार।
घटै-बढ़ै नहिं सेतता, रहै एक अनुसार॥"

—अलंका -रत्न

ये दोनों उदाहरण 'साहित्य-दर्पण-संस्कृत' के निम्न श्लोकों के अनुसार हैं, जैसे—

"हंस सांद्रेण रागेण भूतेऽपि हृदये मम।
गुणगौर निषण्णोऽपि कथं नाम न रज्यसि॥"

और—

गांगमंबु सितमंबु यामुनं कज्जलाभमुभयत्र मज्जतः।
राजहंस तव सैव शुभ्रता चीयते न च न चापचीयते॥"

यहाँ, 'राजहंस'-रूप उस महापुरुष से तात्पर्य है जो—'गंगा-सम शुभ्र-सज्जन-मंडली तथा यमुना-सदृश काले गुण-संयुक्त दुर्जन-मंडली के मध्य रहकर भी इन दोनों के भले-बुरे प्रभाव में न आकर अपने स्वरूप और निश्चय पर अटल रहता है (सा० द०—पं० शालिग्राम०)।

इन दोनों उदाहरणों के प्रति अलंकाराचार्यों का कहना है—ऐसे उदाहरण तो विशेषोक्ति के अंतर्गत भी आ जाते हैं, क्योंकि विशेषोक्ति में—"कारण के रहते कार्य का न होना वर्णन किया जाता है। किंतु यहाँ दोनों उदाहरणों में केवल कारण रहते कार्य का अभाव-मात्र नहीं है, अपितु अन्य का गुण-ग्रहण संभव होते हुए भी ग्रहण न करना यह विशेष चमत्कार है, जो इस (अतद्‌गुण) की विशेषता है।

तद् और अतद्‌गुणालंकारों का विषय उल्लास और अवज्ञालंकारों से भी टकराता हुआ कहा जाता है, क्योंकि उल्लास-अवज्ञा में भी "एक के गुण:दोष से दूसरे का गुण-दोष संयुक्त होना (उल्लास) तथा एक के गुण-दोष दूसरे के लिए गुण दोष का न होना (अवज्ञा) कहा जाता है। अस्तु, इन दोनों (उल्लास-अवज्ञा) से इन दोनों (तद्-अतद्) का प्रथकत्व यह है कि वहाँ (उल्लास-अवज्ञा में) गुण-शब्द दोष का प्रतिपक्षी है—विरोधी है। वहाँ एक के गुण-दोष अन्य स्थान पर होने-न-होने में उसी के गुण-दोषों का मिलना-न-मिलना भर नहीं है, अपितु सद्‌गुरु के उपदेश-द्वारा अच्छे-बुरे शिष्यों में जिस प्रकार ज्ञान की उत्पत्ति-अनुत्पत्ति होती है, उसी प्रकार उसके गुण-दोष से उत्पन्न होने वाले दूसरे प्रसिद्ध-गुण-दोषों का होना न होना और तद्-अतद् में 'गुण' शब्द दोष का प्रतिपक्षी न होकर खालिश रूप-

रस-गंध और रंग का वाचक है। यहाँ वह दूसरे के रंगों से रँगने वा न रँगने का द्योतक है। जैसे रंग से शुभ्र वस्तु का लाल होना-न होना लक्षित है तथा यही उल्लास-अवज्ञा से तद्-अतद् की पृथकता है।

अथ अतद्गुँन-उदाहरन जथा—

कौवा,[1] जपादिक[2]-सौं उबट्यौ, सज्यौ केसर के[3] अँग-राग अपारौ।
न्हात[4] अँनेक बिधाँन सरै रस सांत[5] में सांत[6] करै कित न्यारौ॥
'दास जू' त्यौं[7] अँनुराग-भरथौ हिय-बीच बसाइ करौ नहिँ न्यारौ।
लींन-सिँगार न होत तऊ, तँन आपनों रंग तजै नहिँ कारौ॥

वि०—"अतद्गुण-अलंकार का उदाहरण कविवर 'बिहारीलाल' का निम्न-लिखित दोहा भी सुंदर है, यथा—

"एरी, यै तेरी दई, क्यौं हूँ प्रकृति न जाइ।
नेह-भरे हिय राखिऐ तउ रूखिऐ लखाइ॥"

इस दोहे में कोई-कोई विरोधाभास (स्नेह से भी चिकनी न होने के कारण) और विशेषोक्ति (स्नेह कारण से चिकनाहट कार्य न होने में) अलंकार-द्वय को भी मानते हैं, किंतु "नायक के स्नेह-पूरित पात्र (हृदय) में रहते हुए भी नायिका का स्नेह (चिकनाई-स्नेही) गुण ग्रहण न करने में अधिक बल है—जोर है।

"आँखों में रह रहे हो, दिल-से नहीं गये हो।
हैरान हूँ य शोख़ी, आई तुम्हें कहाँ से॥"
—मीर

पूर्व-रूप-जथा—

सारी सितासित, पोरी, रतीली-हु में बगरावै वहै छबि प्यारी।
आभा-सँमूह में अंबर कों, पैहचाँनिबौ[8] 'दास' बड़ी किऐं बारी[9]॥
चंद-मरीचिँन सों मिलि अँगँन[10]-अंगँन फैलि रही[11] दुति न्यारी।
भौंन-अँध्यारे-हु बीच गऐं, मुख-जोति ते[12] बैसिऐ होति उज्यारी॥

पा०—१. (का०) (वें०) कैवा जपादिन...। २. (सं० पु० प्र०) जबादन सौं। ३. (का०) (वें०) (सं० पु० प्र०) कौ...। ४. (का०) (वें०) (प्र०) न्हान...। ५-६. (का०) (वें०) (सं० पु० प्र०) संत...। (प्र०) रसा सांतलों सांत...। ७. (का०) (वें०) (सं० पु० प्र०) हों..। ८. (का०) (वें०) (प्र०) (सं० पु० प्र०) पहिचानिऐ...। ९. (का०) (वें०) बारी। (प्र०) बड़ी किन्हवारी। १०. (प्र०) (सं० पु० प्र०) आँगन...। ११. (सं० पु० प्र०) (का०) (वें०) (प्र०) रहै...। १२. (सं० पु० प्र०) सों...।

पुनः उदाहरन जथा—

हरि, खरगी औ ब्याल, गज, आगें दौरत राज।
राज-छुटें-हूँ तुव दुहुँन, बँनें[1] राज कौ साज॥

अस्य तिलक

इन दोनों उदाहरन में गुँन-मिटबे के कारन होत-हूँ अपनों गुँन न मेंटिनों "पूरबरूप" है।

वि०—"दासजी ने "पूर्वरूप" अलंकार का लक्षण नहीं लिखा, कारण स्पष्ट है। पूर्वरूप नाम में ही शब्दार्थ—लक्षण निहित है। फिर भी 'पूर्वरूप' का लक्षण भाषा-भूषण के रचयिता "महाराज जसवंतसिंह" जी कृत इस प्रकार है—

"'पूर्वरूप' लै संग-गुँन,—तजि फिर अपनों लेत।
दूजें, जब गुँन नाँ मिटै, किऐं मिटँन कौ हेत॥"

अर्थात् प्रथम पूर्वरूप वहाँ होता है "जहाँ कोई वस्तु पासवाली वस्तु के लिये हुए गुण को त्याग पुनः अपना गुण-ग्रहण करे" और दूसरा पूर्वरूप वहाँ, "जहाँ किसी गुण के मिटने का कारण होते हुए भी वह (गुण) न मिटे।" दासजी—रचित दोनों उदाहरण दोनों पूर्वरूपों के हैं।

चंद्रालोक में भी 'पूर्वरूप' के दो भेद—"पुनः स्वगुणसंप्राप्तिर्विज्ञेया पूर्वरूपता" (अन्याश्रय-जनित निज गुण के नष्ट होने पर पुनः अपने रूप में आ जाना) और "यद्वस्तुनोऽन्यथा रूपं तथा स्यात्पूर्वरूपता" (जिस वस्तु का नाश करने के बाद उसके धर्म का स्थापन अन्य वस्तु के द्वारा दिखलाया जाय) किये गये हैं। ब्रजभाषा में भी श्री चिंतामणि के अलावा प्रायः सब ने पूर्वरूप के दोनों भेद माने हैं। पूर्वरूप के प्रति कन्हैयालाल पोद्दार का कहना है—"कुवलयानंद में "अरुण-कांति से अश्व सूर्य के भिन्न वर्ण हो जाते हैं०" और "लखत नीलमनि होति अखि कर बिद्रुम दिखरात, मुकता कौ मुकता बहुरि लख्यौ तोहि मुसक्यात।" —(अलंकार-मंजरी पृ० ३४४-४५) आदि उदाहरणों में पूर्वरूप अलंकार माना है। काव्य-प्रकाश में इस प्रकार के उदाहरण तद्गुण के अंतर्गत-ही दिखाये गये हैं। वस्तुतः (पोद्दारजी के कथनानुसार) ऐसे उदाहरणों में कुछ विशेषता भी नहीं है, अतः तद्गुण-ही मानना युक्ति-युक्त है।" पर यह कथन पोद्दारजी का असंगत है-समझ

पा०—१. (का०) (वें०) बन लिये राज कु साज—राज के साज। (प्र०) बन लिय राजक साज।

के बाहर है। आपसे पहिले सभी संस्कृत और ब्रजभाषा के आचार्यों ने इसे पृथक् अलंकार माना है और उदाहरण भी दिये हैं, जो तद्गुण से तो पृथक् हैं-ही पूर्वरूप के अति अनुरूप हैं। अतएव—"जहाँ किसी से गए हुए गुण के पूर्ववत् पुनः प्राप्ति का कथन हो—वर्णन हो" वहाँ उक्त अलंकार निःसंकोच मानना चाहिये।" पूर्वरूप का अर्थ है—पहिले वाला रूप प्राप्त करना, जो तद्गुण में नहीं हो सकता, वहाँ नहीं समा सकता।"

अथ अँनुगुँन-अलंकार लच्छन जथा—

'अँनुगुँन' संगत ते जहाँ, पूरँन-गुँन-सरसाइ।
"नील-सरोज कटाच्छ-लहि, अधिक नील ह्वै जाइ ॥"

वि०—"जहाँ किसी वस्तु की संगति से—सामीप्य से, किसी (अन्य) वस्तु का गुण अधिक बढ़ जाय, वहाँ 'अनुगुण' कहलाता है, जैसे–कामिनी के कटाक्ष से नील कमलों का अधिक नील—गहरे नीले रंग का हो जाना।

अनुगुण का अर्थ है–"गुण का बढ़ना। अतएव, अन्य के सामीप्य से स्व-गुण (अपने स्वाभाविक गुण) का उत्कर्ष होना 'अनुगुण' कहलाता है। इसी से इस अलंकार में किसी वस्तु के स्वाभाविक गुण का अन्यदीय गुण के संबंध से उत्कर्ष (बढ़ना) कहा जाता है। अनुगुण के 'अनु' उपसर्ग का अर्थ—'समान', वैसा-ही, उस जैसा-ही है, इसलिये जैसा गुण है वैसे-ही गुणवाले का सामीप्य होने से उस गुण का उत्कर्ष है, विरोधी गुण से नहीं, क्योंकि विपरीत गुणों का सामीप्य उत्कर्ष का कारण नहीं हो सकता।"

अँनुगुँन दुतीय उदाहरन जथा—

जदपि हुती फीकी निपट, सारी केसर-रंग।
'दास' तासु[१] दुति ह्वै गई, सुंदरि-रंग-प्रसंग ॥

वि०—"ब्रजभाषा के अलंकार-ग्रंथों में दासजी कृत क्रम—तद्गुण, अतद्गुण, पूर्वरूप" और तब "अनुगुण", अमान्य है। भाषा-भूषण-रचयिता से लेकर ग्वाल-आदि तक अलंकार-ग्रंथ सृजेताओं ने-प्रथम तद्गुण, बाद में पूर्वरूप, फिर अतद्गुण और तदनंतर अनुगुण माना है। यह क्रम समीचीन है—उपयुक्त है।"

पा०—१. (सं० पु० प्र०) सात...। (रा० पु० प्र०) बहै...।

अथ मिलित औ साँमान्य अलंकार लच्छन जथा—

'मीलित' जँनिऐं जँह मिलै, छीर-नीर[1] के न्याइ।
है 'साँमान्य' मिलै जँह, हीरा-फटिक सुहाइ[2] ॥

वि०—"दासजी ने इस एक दोहे-द्वारा "मीलित" (जहाँ दो वस्तुऐं चीर-नीर=दूध-पानी की भाँति मिल जाँय, एक रूप हो जाँय) और "सामान्य" (जहाँ सादृश्य के कारण दो विशेष पदार्थों में—हीरा-स्फटिक की भाँति भेद लक्षित न हो) रूप दो अलंकारों का वर्णन किया है।

मीलित-अलंकार (जहाँ समान धर्म-गुण वाली विभिन्न वस्तुएँ एक दूसरे में मिलकर ऐसी विलीन हो जाँय कि उनमें भिन्नता ज्ञात न हो) का सर्व प्रथम रुद्रट् ने, भोज ने, मम्मट् ने और तत्पश्चात् रुय्यक् ने अपने-अपने ग्रंथों में उल्लेख किया है। इनसे पूर्व भट्टि, भामह, दंडी, उद्भट और वामन-आदि अलंकार-आचार्यों ने इसका वर्णन नहीं किया है। सामान्य का मम्मट और रुय्यक् ने-ही वर्णन किया है। इन रुद्रट्-भोजादि के बाद इन दोनों अलंकारों (मीलित-सामान्य) का प्रायः सभी ने वर्णन किया है। साहित्य-दर्पण (संस्कृत) में 'मीलित' का लक्षण—"मीलितं वस्तुनो गुप्तिः केनचित्तुल्यलक्ष्मणा:" (किसी तुल्य-लक्षण वाली वस्तु में वस्तु का छिप जाना) और 'सामान्य' का—"सामान्यं प्रकृतस्यान्यतादात्म्यं सदृशैर्गुणैः" (सदृस गुणों के कारण प्रकृत वस्तु का अन्य वस्तु के साथ भेद प्रतीत न होना—तदात्मरूप हो जाना) लक्षण दिया है और साथ ही लिखा है—मीलित में तुल्य-लक्षणवाली वस्तु कहीं स्वाभाविक होती है और कहीं बाहर से आई हुई। इसी प्रकार 'सामान्य" के प्रति आपका कथन है—"मीलित में उत्कृष्ट और निकृष्ट गुणवाली दोनों वस्तुएँ छिप जाती हैं और 'सामान्य' में दोनों-दो वस्तुओं का समान गुण (धर्म) होने कारण भेद प्रतीत नहीं होता। मीलित में गोपन होता है, सामान्य में तादात्म्य इत्यादि...।

सामान्य का चंद्रालोककार ने सुंदर लक्षण लिखा है। आप कहते हैं—"सामान्यं यदि सादृश्याद्भेद एव न लक्ष्यते", अर्थात् सामान्य उसे कहते हैं जहाँ समानता-जनित भेद-ही न रहे—भिन्नता-ही लक्षित न हो, रूप्य-रूपक नीर-क्षीर से एक हो जाँय।

संस्कृत-ग्रंथों में मीलित और सामान्य के वर्गी-करण में भी विभिन्न मत हैं। कोई 'मीलित' को 'वास्तव' में, कोई 'संसर्ग-मूलक' में और कोई 'न्याय-मूलक'

पा०—१. (रा० पु० नी० सी०) नीर-छीर...। २. (का०) (वें०) (प्र०) सुभाइ...।

के भेद "लोक-न्याय-मूल वर्ग में मानते हैं। सामान्य को प्रायः सभी ने 'न्याय-मूलक वर्ग' के अंतर्गत ही माना है। किंतु ऐसे (तद्गुण, अतद्गुण, पूर्वरूप, अनुगुण, सामान्य, मीलित-उन्मीलितादि जैसे) अलंकार विभिन्न-न्यायों—"वाक्य-न्यायमूल, तर्क-न्यायमूल, लोक-न्यायमूल और गूढार्थ-प्रतीत-मूलादि" पर ही अवलंबित हैं।

मीलित का अर्थ है—'मिल जाना" और सामान्य का शब्दार्थ है—समान का भाव। अतएव जैसा पूर्व में दासजी द्वारा कथन है मीलित अलंकार में एक वस्तु दूसरी वस्तु के साथ नीर-क्षीर-न्यायानुसार आपस में मिलकर छिप जाती हैं। यह छिपना—स्वाभाविक तथा आगंतुक धर्मों के द्वारा होता है। इसलिये 'मीलित' की परिभाषा—किसी वस्तु के स्वाभाविक वा आगंतुक (किसी कारण-वश आये हुए) साधारण (एक समान) चिन्ह के द्वारा दूसरी वस्तु के तिरोधान (दिखायी न देना, छिपाया जाना) होने के वर्णन रूप में कही गयी है तथा भेद भी दो – स्वाभाविक-आगंतुक धर्मों-द्वारा तिरोधान होने पर माने हैं।

सामान्य में प्रकृत-अप्रकृत का साम्य कहा जाता है। अप्रस्तुत के समान गुण न होने पर भी समान गुण कहने के लिये अत्यक्त-गुण (अपना गुण न छोड़ने) वाले प्रस्तुत की अप्रस्तुत के साथ एकात्मता कही जाती है। कुवलयानंद में सादृश्य से कुछ भेद प्रतीति न होने पर भी यह (सामान्य) अलंकार माना है और 'काव्यादर्श' (दंडी) में मीलित को अतिशयोक्ति का एक भेद विशेष।

सामान्य के लक्षण विशेष में—"अत्यक्त-निज गुण" का उल्लेख किया गया है जिससे उस (सामान्य) की 'तद्गुण' से पृथक्ता दिखलायी गयी है। तद्गुण में अपना गुण त्याग दूसरे के गुण का ग्रहण होता है, सामान्य में नहीं। इसी प्रकार मीलित में बलवान् गुणवाली वस्तु में दूसरी निर्बल वस्तु के स्वरूप का तिरोधान हो जाता है, वे भिन्न ज्ञात नहीं होती और सामान्य में दोनों वस्तुओं का स्वरूप प्रतीत होते हुए भी गुण की समानता से दोनों में अभेद की प्रतीत होती है।

तद्गुण और भ्रांति से मीलित की प्रथक्ता दिखलाते हुए संस्कृत-अलंकाराचार्यों का कहना है—"तद्गुण में साधारण (तुल्य) चिन्ह वाली वस्तु का तिरोधान नहीं होता, अपितु उत्कट-गुण वाली वस्तु का गुण-ग्रहण किया जाता है। मीलित में समान-गुण एक-दूसरे में तिरोधान हो जाते हैं, छिप जाते हैं—मिल जाते हैं। भ्रांति में एक के स्थान पर दूसरे का भ्रम होता है, दोनों उपस्थित नहीं रहते, मीलित में दोनों रहते हुए भी एक दूसरे में छिप जाते हैं।

अथ मीलित-उदाहरन जथा—

हुती, बाग में लेति प्रसूँन अली, मँन-मोँहँन-हूँ तहँ आइ पर्यौ।
मँन-भायौ घरीक भयौ पुनि गेह, चबाइँन में मँन जाइ पर्यौ॥
द्रु ति-दौरि गई घर[1] 'दास' तहाँ, न बँनावत[2] नेंक उपाइ पर्यौ।
धँक, सेद, उसासँ, खरोंटँन[3] कौ, कछु भेद न काहू लखाइ पर्यौ॥

वि०—"दासजी का यह उदाहरण मीलित के प्रथम भेद "स्वाभाविक-धर्म-द्वारा तिरोधान" का है, क्योंकि धक, स्वेद, उसास और नखक्षत आदि साधारण चिन्ह नायिका की कोमलता (परिश्रम आदि के कारण) तथा वर्ण (रंग) में छिप जाना है—तिरोधान हो जाना है।

मीलित का उदाहरण 'गणिका रूप-गर्विता नायिका के वर्णन में 'गुलाब कवि' द्वारा रचित भी सुंदर है, यथा—

"देखि-देखि सजनी सयाँनी सबै कंचन के,
रंग-सँम अंगँन में भूषँन बनावै नाँ।
नाँहन-हूँ लाइ-लाइ मलि-मलि भूलि जाइ,
जावक लगायौ, नाँ-लगायौ पार-पावै नाँ॥
सुकबि 'गुलाब' त्यों प्रदोष के बताए-बिँन,
बैठों जिहि भोंन जँनी दीपक जगावै नाँ।
कुंदँन-कँमाल की मालँन में हीर-लाल,
लालै न लगाए बिँन लाल पैहरावै नाँ॥"

मीलित अलंकार के उदाहरण नायिका-भेद के शुक्ल-कृष्णाभिसारिका के वर्णन में प्रायः मिलते हैं। मीलित का उदाहरण बिहारीलाल का यह दोहा भी सुंदर है, जैसे—

"तरबँन-कँनक-कपोल-दुति, बीचै-बीच बिकाँन।
लाल-लाल चँमकत चुनीं, चौका चिन्ह-समाँन॥"

बिहारी के इस दोहा में विविध टीकाकार अर्थ-भेद से—मीलित, पूर्णोपमा, लोकोक्ति, वृत्यानुप्रास, एकवाचकानुप्रवेश संकर, मीलित और पूर्णोपमारूप संकर और व्याजोक्ति आदि कितने-ही अलंकारों का अनुमान करते हैं।"

पा०—१. (का०) (वें०) (प्र०) गृह। २. (का०) (सं० पु० प्र०) बनाइबे...। (प्र०) बनाइये...। (वें०) तब नाइबे नेंकु...। ३. (का०) घरोटन कों...।

पुनः मीलित उदाहरन जथा—

केसरिया-पट, कँनक-तँन, कँनकाभरँन-सिँगार ।
गत केसर केदार में, जाँनी जाति न[१] दार ॥

वि०—"दासजी कथित यह उदाहरण मीलित के "आगंतुक-धर्म-द्वारा तिरोधान" रूप द्वितीय भेद का है। नायिका का, केसरिया वस्त्र, सुवर्ण के आभूषण पहिने केसर के खेत में अनुगमन ज्ञात न होना आगंतुक-धर्मों-द्वारा तिरोधान है।

किसी-किसी ब्रजभाषा के अलंकार-आचार्य ने 'मीलित' की 'माला' भी मानी है, यथा—

"अधर पाँन, मेंहदी करँन, चरँन महावर-रंग ।
लखि न परत सखि सुमुखि के, अहो अलौकि अंग ॥"

यहाँ नायिका के अधर-लालिमा में पान, हाथों की ललाई में मेंहदी और चरणों की अरुणता में जावक के रंगों का विलीन हो जाना, छिप जाना—भिन्नता का ज्ञान न होना रूप तीन वर्णनों के कारण "माला" मानी है।"

अथ साँमान्य-उदाहरन जथा—

आरसी कौ आँगन सुहायौ, मँन - भायौ-[२]
नेहरँन[३] में भरायौ जल-उज्जल सुँमन माल ।
चाँदनीं बिचित्र लखि चाँदनी-बिछोंनँन[४] पै,
दूरि कै सहेलिँन[५] कों बिलसै इकेली-बाल ॥
'दास' आस[६]-पास बहु-भाँतन बिराजैं धरे,
पन्ना, पुखराज, मोंती, माँनिक-पदक लाल ।
चंद-प्रतिबिंब ते न न्यारौ होत मुख औ न-
तारे प्रतिबिंब[७] ते न्यारौ होत नग[८]-जाल ॥*

वि०—"सामान्य का उदाहरण 'रघुनाथ' कविवर से भी अच्छा बन पड़ा है, जैसे—

पा०—१. (वे०) मदार। २. (का०) (वे०) (सं० पु० प्र०) (शृं० नि०) छबि-छायौ...। ३. (प्र०) नहरन में...। ४. (का०) बिछौनों पर। (वे०) (शृं०-नि०) बिछौंना पर...। (प्र०) बिछौंने पर..। ५. (सं० पु० प्र०) (शृं० नि०) चँदुवँन...। ६. (प्र०) आप...। ७. (प्र०) बिंबन...। ८. (शृं० नि०) नख...।

* शृं० नि० (दास) पृ० १० ३२।—नायिका-दीप्ति-वर्णन।

"पायौ भेद सखिन सों सोवति अकेली बाल,
प्रथम - सँमागँम के भरी भै - भारी में ।
'रघुनाथ' चल्यौ तहाँ, जागी पाइ आहट कों,
ठाढ़ी भई भागि-लागि भीतर अटारी में ॥"
कहा कहों कौतुक, कह्यौ न मोपै जात, कछु,
अब-लों न देख्यौ ऐसौ रूप और नारी में ।
चित्रँन-सों मिलि भई चित्र, हाथ में न आई,
हारौ हेरि प्यारौ, रही प्यारी चित्रसारी में ॥

और पद्माकर जी कहते हैं—

"थौस-गँन गौरँन के गौर के उछाहँन में,
छाई उदैपुर में बधाई ठौर - ठौर है ।
देख्यौ भींम राँना या तमासे-तकिबे के लिएँ,
माँची आसमाँन में बिमाँनन की भौर है ॥
"कहै पदमाकर" ,त्यों धोखे मा-उमाँ के,
गज-गोंनिन की गोद में गजानँन की दौर है ।
पार-पार हेला, महामेला में महेस पूंछे,
गौरँन में कोंन-सी हँमारी गँनगौर है ॥"

अथ "उँनमीलित" औ बिसेस अलंकार लच्छन जथा—

जहँ मीलित - साँमान्य में, कछु¹ भेद ठैहराइ ।
तहँ 'उँनमिलित'-'बिसेसक'-हि, बरनँत सुकबि²सुहाइ ॥

वि०—"जब मीलित और सामान्यालंकार में कुछ भेद ठहराया जाय, तब वहाँ सुकवि "उन्मीलित" और 'विशेषक' अलंकारों का सुंदर रीति से वर्णन करते हैं। अर्थात् जब दो पदार्थों का गुण एक-सा होते हुए भी किसी कारण-वश उनमें भेद जान लिया जाय तब वहाँ "उन्मीलित" और "जहाँ सादृश्य के कारण उत्पन्न भ्रम किसी प्रकार अपने-आप लक्षित हो जाय" तो वहाँ "विशेषकालंकार कहा जाता है।

उन्मीलित, मीलित-अलंकार का विरोधी कहा जाता है, क्यों कि इसमें एक वस्तु दूसरी वस्तु के साथ मिलकर भी किसी कारण-वश पृथक् प्रतीति होने लगती है और "विशेषक" (जहाँ प्रस्तुत-अप्रस्तुत में गुण-सादृश्य होने पर भी किसी

पा०—१. (स० पु० प्र०) कछुक...। २. (का०) (वें०) सुमग...।

कारण से विशेषता की स्फुरणा हो) में कुछ उन्मीलित जैसा-ही वर्णन होने पर भी 'सामान्य' की भाँति वस्तुओं की स्थिति भिन्न रहकर भी किसी कारण से पृथक् जानी जाती है।

कुवलयानंद में भी 'उन्मीलित' और इसी से मिलते-जुलते 'विशेषक' को 'मीलित' तथा 'सामान्य' का विरोधी (प्रतिद्वंदी) अलंकार मान कर पृथक् अलंकार के रूप में लिखा है, पर काव्य-प्रकाश में इन दोनों को 'सामान्य' के अंतर्गत-ही लिखा है। उद्योतकार ने यहाँ स्पष्टीकरण करते हुए कहा है—"कारण विशेष-द्वारा भेद प्रतीत होने पर भी जिस अभेद की प्रथम प्रतीति हो चुकी है, वह अभेद दूर नहीं हो सकता, इसलिये ऐसे स्थलों पर 'सामान्य' ही मानना चाहिये 'विशेषक' नहीं।

विशेषक अलंकार को, विशेष अलंकार-आचार्यों ने पृथक् अलंकार के रूप में नहीं माना है, इसलिए इसका वर्गीकरण भी नहीं हुआ है। ब्रजभाषा में भी विशेष आचार्यों ने इसे पृथक् अलकार के रूप में नहीं माना। जिन आचार्यों ने माना है, उन्होंने इसके सुंदर-से-सुंदर उदाहरण भी प्रस्तुत किये हैं।"

प्रथम उँनमीलित उदाहरन जथा--

सिख-नख फूलँन के भूषँन बिभूषित कर[१],
बाँधि लीनों बलया, बिगत कींनीं बजनीं।
ता पर सँवारयौ[२] सेत अंबर कौ डंबर,
सिधारी स्याँम-संनिधि निहारी काहू[३] न जनीं ॥
छीर के तरंग की प्रभा कों गहि लींनीं तिय,
कींनी छीर-सिंध-छिति कातिक की रजनी।
आँनद-छटा[४] सों तँन-छाँह-हूँ छिपाएँ जाँनि[५],
भौरँन की भीर संग लएँ[६] जात सजनीं ॥*

वि०—"उन्मीलित अलंकार से अलंकृत कृतियाँ प्रायः सभी अलंकाराचार्यों ने सजी हैं, प्रथम गो० तुलसीदास जी की सूक्ति जैसे—

चंपक-हरवा अँग-मिलि, अधिक सुहाइ।
जाँनि परै सिय-हियरें, जब कुँम्हिलाइ ॥

पा०—१. (का०) (वें०) (प्र०) (शृं०नि०) कै...। २. (का०) (प्र०) सँवारे...। (वें०) सँवारि...। ३. (शृं० नि०) कहूँ...। ४. (प्र०) (शृं० नि०) प्रभा...। ५. (वें) (प्र०) (शृं० नि०) जाति...। ६. (वें०) ल्याएँ...।

* शृं० नि० (दास) पृ० ५३, १६७। शुक्लाभिसारिका नायिका-वर्णन।

बिहारीलाल कहते हैं—

"जुबति जोंन्ह में मिलि गई, नेंकु न परति लखाइ
सोंधे के डोरें-लगी, अली चली सँग जाइ ॥"

मतिराम कहते हैं—

"सरद-चाँदनी में प्रघट, होत न तिय के अंग।
सुनत मँजु मजीरि-धुनि, सखी न छाँड़ति सँग ॥"

पुनः उँनमीलित—उदारन जथा—

जमुनाँ-जल में मिलि चली, उँन अँसुवन की धार।
नीर दूरि ते ल्याइयतु, जहाँ[1] न पैयत खार ॥

अथ बिसेसक उदाहरन जथा—

मँन-मोहँन मँन-मथँन कों[2], द्वै कहितो को जाँन।
जौ इँन-हूँ कर कुसुँम के[3], होते बाँन-कमाँन ॥

पुनः उदाहरन जथा—

भई प्रफुल्लित कँमल में[4], मुख-छबि मिलत बनाइ।
कँमलाकर में काँमिनी, बिहरति होति लखाइ ॥

वि०—"विशेषक का उदाहरण 'रघुनाथ' कवि का भी सुंदर है, आप कहते हैं—

"खेलत खेल मिहीँचिनी कौ, चितसारी में जाइ छिपी छबि छाई।
चित्र-लिखी पुतरींन सों न्यारी कै, हे 'रघुनाथ' गई न बताई ॥
हरेत-हारो सखी सिगरी, अपनी-अपनी करिकें चतुराई।
द्यौस में आई न हाथ कहा कहौं, राति भई तब राधिका पाई ॥"

ध्यान रहे, उन्मीलित और विशेषक में अधिक भेद नहीं, बहुत-ही सूक्ष्म भेद है। उन्मीलित में हेतु की और विशेषक में समय की अपेक्षा है, जो इनकी पृथकता का हेतु है।"

श्री मतिराम का भी विशेष-रूप सुंदर उदाहरण है, यथा—

"आई फूलँन-लँन कों, चली बाग में लाल।
मृदु-बोलँन सों जानिऐं, मृदु-बेलिनँ में बाल ॥

एक बात और, वह यह कि श्री दासजी ने जैसा पूर्व में कह आये हैं—'इस उल्लास में' रीति-काल (संस्कृत-ब्रजभाषा) के पूर्वापर आचार्यों से विपरीत 'उल्लासादि' अलंकारों का निरूपण किया है—उनके तद्‌तद् लक्षणों को

पा०—१. (का०) (वे०) (प्र०) जहँ न पाइयत...। २. (का०) (वें०) की...। ३. (का०) (वें०) (प्र०) कौ, हो तो बान...। ४. (का०) मों...।

गहरी दृष्टि से निरखते-परखते हुए उन्हे एक ही पंक्ति में प्रस्तुत किया है। किंतु उनके आधार-भूत कहे जाने वाले मम्मट-कृत काव्य-प्रकाश (संस्कृत) ग्रंथ में उक्त 'उल्लासादि' अलकार के साथ अस्तव्यस्त (इधर-उधर) रूप में सज्जित किया है—अन्यान्य-अलंकारों के आगे-पीछे "मीलित, सामान्य, विशेष, विशेष के भेद, तद्गुण" और "अतद्गुण' का उल्लेख किया है। काव्य-प्रकाश-मान्य 'मीलित' रुद्रट के 'पिहित' का सुंदर रूपांतर है। रुद्रट-कृत पिहित का लक्षण इस प्रकार है—

"यत्रातिप्रबलतया गुणः समानाधिकरणमसमानम्।
अर्थांतरपिदध्यादाविर्भूतमपि तत् 'पिहितम्'॥

जिसे मम्मट ने मीलित में मंडित करते हुए—

"समेन लक्ष्मणा वस्तु वस्तुना यन्निगूह्यते।
निजेनागतुना वापि तन्मीलितमिति स्मृतम्॥"

रूप में अपनाया है। अस्तु, यहाँ आप-द्वारा कथित—'समेनलक्ष्मणा' और 'निजेनगंतुना'—दि शब्दों का अभिप्राय है—"साधारण लक्षण वा चिन्ह-द्वारा, और इस चिन्ह के सहज-स्वाभाविक रूप वा नैमिक्तिक आगंतुक होने का। अतः जहाँ किसी के द्वारा किसी वस्तु से उसके स्वभावतः प्रबल होने के कारण किसी दूसरी के तिरोहित होने का वर्णन किये जाने पर जो वहाँ अलंकार कहा जायगा उसका नाम—मीलित है, और यह दो प्रकार का है—१, स्वाभाविक और २, नैमिक्तिक चिन्ह निगूहन (तिरोधान) रूप में। रुय्यक की भी यही संमति है, यथा—

"वस्तुना वस्त्वंतरनिगूहनं मीलितम्।"

इस प्रकार मम्मट-मान्य—सामान्य, विशेष, तद्गुण और अतद्गुण के लक्षण इनकी परिभाषा, रुद्रट-रुय्यक-जन्य का विकाश ही कहा जा सकता है। केवल तद्गुण के प्रति इतना अधिक कहा जा सकता है कि "मम्मट-मान्य तद्गुण लक्षण रुद्रट-लक्षण से प्रतिभाषित तो अवश्य है, किंतु लक्षण पर नहीं, विश्लेषण-विशिष्ट पर आधारित है—इसे ही उन्होंने स्वीकार किया है, जो इस प्रकार है—

"असमान गुणं यस्मिन्नतिबहुलगुणेन वस्तुना वस्तु।
संसृष्टं तद्गुणतां धत्तेऽन्यस्तद् गुणः स इति।"

और अतद्गुण—तद्गुण का विपर्यय है ही, अस्तु मम्माटाचार्य ने उसे लक्षण-उदाहरण-सहित अपना लिया है—तद्वद् उद्धृत किया है।

"इति श्री सकल कलाधरकलाधरवंशावतंस श्री मन्महाराज-कुँमार
श्री बाबू हिंदूपति विरचिते काव्य-निरनए उल्लासालंकार-
गुँन-दोषादि बरनँन नाम चतुर्दसोल्लासः।"

—○○—

अथ पंद्रहवाँ उल्लास:

अथ सँमादि अलंकार बरनन जथा—

उचित-अँनुचिती[1] बात में, चमतकार लखि 'दास'।
औ कछु[2] मुक्तक-रीति-लखि, कहत यहै[3] उल्लास ॥
'सँम', 'सँमाधि', 'परिवृत्त' गँनि, 'भाविक', 'हरख', 'बिषाद'।
'असंभवौ'[4] 'संभावनौं, 'सँमुच्चयौ' अबिबाद' ॥
'अन्योअन्य',[5] 'बिकल्प' पुँनि, 'सह', 'बिनोक्ति', 'प्रतिसेध'।
'बिधि', 'काव्यार्थापत्ति' – जुत, सोरह कहत सुमेध ॥

वि०—"दासजी ने इस (पंद्रहवें) उल्लास में—"सम, समाधि, परिवृत्ति, भाविक, हर्ष (प्रहर्षण), विषाद, असंभव, संभावना, समुच्चय, अन्योन्य, विकल्प, सहोक्ति, विनोक्ति, प्रतिषेध, विधि" और "काव्यार्थापत्ति" नामक सोलह (१६) अलंकारों का वर्णन उनके भेद—सहित किया है। साथ-ही उक्त उल्लास-रूप में इनका वर्गीकरण करते हुए कहा है—इन अलंकारों की उचितानुचित बातों—कहन-गति का ध्यान रखते हुए मुक्तक-रीति के अनुसार इन्हें यहाँ अलंकृत किया है।

संस्कृत में इन अलंकारों को—'भेद-प्रधान' (सहोक्ति-विनोक्ति), 'विरोध-मूलक'(अन्योन्य, असंभव, सम), 'वाक्य-न्याय-मूलक' (परिवृत्ति, काव्यार्थापत्ति, विकल्प, समाधि, समुच्चय), 'वर्ण-वैचित्र्य-प्रधान' (प्रहर्षण, भाविक, विषादन) वर्गों में विभक्त किया है। विधि-प्रतिषेध को कोई 'गूढार्थ-प्रतीति' वर्ग के अंतर्गत मानता है, कोई नहीं। संभावना का किसी ने वर्गीकरण नहीं किया है। इन सबों के प्रति अन्य वर्गीकरण भी मिलते हैं, जैसे—'सादृश्य-गम्यमान्' (सहोक्ति-विनोक्ति), विरोधमूल' (असंभव), 'न्यायमूल' (काव्यार्थापत्ति, परिवृत्ति, विकल्प, समाधि, समुच्चय), 'गूढार्थ-प्रतीति मूल' (प्रतिषेध, विधि) और 'प्रकीर्णक' (अन्योन्य, प्रहर्षण, भाविक, विषादन, सम)। संभावना अलंकार की इस वर्गी-करण में भी गति नहीं, वह यहाँ भी जाति-वहिष्कृत है।

पा०—१. (प्र०) अनुचितौ...। २. (का०) इक...। ३. (का०) (वें०) (प्र०) एक...। ४. (वें०) असंभवी...। ५. (प्र०) अन्योन्यरु...।

संभावनालंकार की चंद्रालोक से उत्पत्ति है, सर्व प्रथम वहीं उसका नामोल्लेख मिलता है। इनके अतरिक्त रुद्रट् और रुय्यक् कृत वर्गी-करण भी मिलता है। अस्तु, रुद्रट् ने–'परिवृत्ति' और 'अन्योन्य' को वास्तव-वर्ग में, सहोक्ति को औपम्य वर्ग में रखा है। रुय्यक् ने भी सहोक्ति-विनोक्ति को 'गम्यमान औपम्य' वर्ग में, अन्योन्य-सम को 'विरोधमूल' वर्ग में, विकल्प-समाधि और समुच्चय को 'काव्य-न्याय' अर्थात् वाह्य-न्याय मूलक वर्ग में स्थान दिया है।

संस्कृत-अलंकार ग्रंथों में, सर्व-प्रथम भट्टि-उद्भटादि कथित छब्बीस (२६) अलंकारों में 'परिवृत्ति' और 'सहोक्ति' का उल्लेख मिलता है, तत्पश्चात् भाविक का। भाविक को भट्टि-उद्भटादि के बाद भोज, मम्मट और रुय्यक ने भी माना है, वामन ने नहीं। इसी प्रकार अन्योन्य को रुद्रट्, मम्मट, रुय्यक ने, समुच्चय को रुद्रट्, भोज, मम्मट, रुय्यक् ने, समाधि को भोज, मम्मट, रुय्यक् ने, विनोक्ति को मम्मट-रुय्यक ने, काव्यार्थापत्ति और विकल्प' को रुय्यक् ने सर्व प्रथम स्वीकार किया है। असंभव, प्रहर्षण, विषादन और संभावना को पीयूषवर्षी जयदेव ने, तथा प्रतिषेध और विधि को अप्पय दीक्षित ने स्वीकार किया है। प्रतिषेध का 'यशस्क' के 'अलंकारोदाहरण' में भी उल्लेख मिलता है।"

अथ प्रथम 'सँम' अलंकार लच्छन जथा—

जाकों जैसौ चाहिऐ, ताकों तैसौ-ई संग।
कारँन[1] में[2] सब[3] पाइऐ, कारँन-ही कौ[4] अंग[5]॥

*

उद्यँम[6]-करि जो है मिल्यौ, वहै उचित धरि चित्त।
है बिषमालंकार कौ, प्रतिद्वंदी 'सँम' मित्त॥

वि०—"दासजी ने इन दोनों दोहों में 'सम' अलंकार को पूर्व-आचार्यों की भाँति तीन विभागों में विभक्त किया है। आपने प्रथम-'सम' वहाँ माना है,—"जहाँ एक-दूसरे का यथायोग्य-संबंध दिखलाया जाय—एक का दूसरे के साथ अनुरूप कारणों से योग्य-संबध का वर्णन किया जाय। आपके कथनानुसार दूसरा 'सम' वहाँ है, जहाँ—कार्य में कारण के सब अंग मिल जाँय, कारण से ठीक-ठीक मिलता कार्य हो" और तीसरा 'सम' आपकी मान्यतानुसार वहाँ होता है—"जहाँ उद्यम (परिश्रम) करते-ही उचित (तत्-अनुकूल) फल मिल जाय, कार्य

पा०—१. (का०) (वें०) (प्र०) कारज...। २. (का०) मों...। ३. (वें०) सत्रु...। ४. (का०) के...। ५. (का०) (वें०) रंग। ६. (का०) (प्र०) उद्दिम...।

सिद्ध हो जाय। संस्कृत-अलंकार ग्रंथों में 'सम' को—"यथायोग्य संबंध वर्णन किये जाने पर", "कारण के अनुरूप कार्य का वर्णन किये जाने पर" और "बिना अनिष्ट के कार्य की सिद्धी के वर्णन को क्रमशः प्रथम, द्वितीय और तृतीय "सम"-अलंकार का लक्षण कहा है। यही नहीं, वहाँ प्रथम 'सम' के सदासद्योग संबंध के कारण दो भेद अधिक किये गये हैं, क्योंकि यथायोग्य संबंध कहीं उत्तम और कहीं निकृष्ट पदार्थों का भी होता है। अतएव सद्योग में—"उत्तमों का श्लाघनीय यथायोग्य-संबंध" और असद्योग में—असद् वस्तुओं का निंदनीय यथायोग्य संबंध का वर्णन किया जाता है। साथ-ही श्लेष से अनिष्ट होते हुए भी प्रकट रूप में इष्ट-प्राप्ति ज्ञात हो तो वहाँ भी 'सम' का विषय माना जायगा।

सम का अर्थ है—यथायोग्य, बराबर। इसी से यह अलंकार 'विषम' का विरोधी है—उससे विपरीत है। अतएव साधारण रूप कारण के अनुरूप कार्य का होना, उद्यम करने पर उसका फल मिलना और यथा योग्य का संबंध होना ही 'सम' नहीं है, अपितु कवि, जब अपने कौशल से कुछ उक्ति-वैचित्र्य लाकर अनुरूप कारण देते हुए वे कारण चाहे वास्तविक न हों—योग्य कार्य, फल-प्राप्ति तथा उचित संबंध का वर्णन करता है तभी यह अलंकार बनता है और इन वर्णनों में श्लेष की सहायता भी माननीय है।

काव्य-प्रकाशकार श्री मम्मट 'समालंकार' के प्रथम जनक (उत्पत्ति करने वाले) कहे जा सकते हैं, क्योंकि आपसे पूर्व आचार्यों के ग्रंथों में इसका उल्लेख नहीं मिलता। काव्य-प्रकाश में इसका लक्षण—"**समं योग्यतया योगो यदि संभावितः क्वचित्**" (यदि कहीं पर दो वस्तुओं का संयोग यथोचित जानकर स्वीकार कर लिया जाय तो 'सम') कहा गया है। साथ-ही वहाँ—"इन दोनों के बीच में यह प्रशंसनीय है, यदि ऐसे औचित्य के संबंध की निश्चयरूप से कहीं पर प्रतीति हो तो वहाँ पर भी 'सम' अलंकार होगा। यह अलंकार दो सत्-असत्पदार्थों के द्वारा भी प्रकट किया जा सकता है", इत्यादि ..(का० पु० दशम उल्लास, साहित्य-संमेलन प्रयाग वाला)।" यहाँ सदासत्पदार्थों के योग वाले उदाहरण भी दिये हैं। निष्कर्ष यह कि श्री मम्मट ने सम का एक-ही भेद का उल्लेख करते हुए कहा है—"**सममौचित्यतोऽनेकवस्तु संबंध वर्णनम्**" (जहाँ उचित रूप से अनेक वस्तुओं का संबंध वर्णन किया जाय) और साहित्य-दर्पण में—"**समं स्यादानुरूप्येण श्लाघा योग्यस्य वस्तुनः**" (योग्य वस्तुओं की अनुरूपता के कारण प्रशंसा) को सम का लक्षण मान एक-ही भेद का उल्लेख किया है।"

अथ प्रथम सँम–'जथाजोग' कौ उदाहरन जथा--

अँग-अंग बिराजत है उँनके, इँन-हीं के कँनीन[1] कौ रंग-सँन्यों।
उन्हें भोंर की भाँति बसाइबे कारँन, 'दास' इन्हें कल-कंज भँन्यों॥
लखि-री, उँनके[2] बस करिबे[3] कों, इँनकौ उँनमें[4] गुँन-जाल तँन्यों।
घँनस्यॉम कौ स्यॉम-सरूप अली, इँन आँखिन के[5] अँनुरूप बँन्यों॥

वि०—"प्रथम 'सम' का उदाहरण 'भारती-भूषण' में केड़िया-द्वारा दिया गया भी, सुंदर है, जैसे--

"छैल छलिया है तौ छबीली - कर फूल - छरी,
जो है जमुनाँ-जल तौ भंग-भ्रँमरी-सी है।
स्यॉमघँन हैं तौ स्यॉमाँ-देह-दुति-दाँमिनी हैं,
बिरही बिहारी, जिय - जोबनि जरी-सी है॥
मोंहँन मलिंद है तों कुंद - कलिका-सी यह,
चंद ब्रजचंद है तौ कृत्तिका - लरी - सी है।
जौ हैं बँनमाली तौ बिराजै गल-माल, लाल-
तरु है तँमाल तौ पै लतिका हरी-सी है॥"

रहीम और विहारी की भी कोई-कोई रचना प्रथम—"सम" की हृदयहारी कृतियाँ हैं, प्रथम 'रहीम' की जैसे—

"नेंन सँलोंने, अधर मधु, कहु 'रहीम' घटि कोंन।
मींठौ भाबै लोंन पै, मींठे - ऊपर लोंन॥"

*

"नित-प्रति एकत-ही रहत, बैस-बरँन-मँन एक।
चँहियतु जुगल-किसोर-लखि, लोचँन जुगल अँनेक॥"

—विहारी

विहारी के इस दोहे में कोई--"नेत्रयुगल-रूप कारण से युगल-मूर्त्ति-दर्शन-रूप कार्य के न होने पर 'विशेषोक्ति' भी मानते हैं। परमानंदजी अपनी संस्कृत-व्याख्या-द्वारा इस दोहे में—"यदि आँखों के अनेक जोड़े हों तब-ही यह जोड़ी निरखी जा सके" इस प्रकार जोड़ी के देख सकने के लिये आँखों की अनेक जोड़ियों की संभावना से संभावनालंकार माना है (दे० संजीवन-भाष्य—पं०-

पा०—१. (का०) (वें०) (प्र०) कनीनका-रंग...। २. (का०) (वें०) (प्र०) उनकौ..। ३. (का०) (वें०) कीबे-ही कों...। (प्र०) (स० पु० प्र०) कीबे-हि...। ४. (का०) (प्र०) इनमें...। ५. (का०) (वें०) हीं...।

पद्म सिंह पृ० ३७)। विहारी जी का निम्न-लिखित दोहा भी 'सम' का सुंदर उदाहरण है—

"चिर-जीऔ ओरी-जुरै, क्यों न सँनेह गँभीर।
को घटि, ए वृषभाँनुजा, वे हलधर के बीर॥

इस पर भी टिप्पणी स्व० श्री पद्मसिंह शर्मा की दर्शनीय है, जो उन्होंने "सतसईसौष्ठव" के पृ० ६७-८ पर दी है।"

अथ प्रथम सँम कौ पुनः उदाहरन जथा—

हरि-किरीट केकी-पखँन, निज लाइक फल[1] पाइ।
मिल्यौ चंद[2] की चंद्रिकँन, अँनु-अँनु ह्वै मँनु जाइ॥

अस्य तिलक

इहाँ-हूँ जथा जोग कौ संग बरनँन हैवे ते 'प्रथम सँम' है।

अथ दुतीय सँम—"कारज-जोग कारन कौ उदाहरन" जथा—

चंचलता सुर-बाज ते 'दास जू', सैलँन ते कठिनाई गही है।
मोंहन रीति महा बिष की दई, मादकता मदिरा ते[3] लही है॥
धीमर देखि डरें जर सों, बिहरें जल-जंतु की रीति यही है।
न्याइ-ही नींच[4]-हि-नींच फिरै, यै इंदिरा सागर-बीच रही है॥*

वि०—"द्वितीय सम का उदाहरण भी "कविराजा मुरारीदान" रचित "भारती-भूषण" (केड़िया, पृ० २५५) में सुंदर दिया गया है, यथा—

"गोकुल-जनँम लियौ, जल-जमुनाँ कौ पियौ,
सुबल सुमित्र कियौ ऐसौ जस-जाप है॥
भँनत 'मुरारि' जाके जँननी जसोदा जैसी,
ऊधव निहारि, नंद तैसौ तिहिं बाप है॥
काँम-बाँम ते अँनूप तजि ब्रज चंद - मुखी,
रीझे वे कूबरी - कुरूप - सों अँमाप है।
पंचतोर - भय कौ न बीर नेह-भय कौ न,
बय कौ न, पूतना के पय कौ प्रताप है॥

पा०—१. (का०) (वें०) (प्र०) थल...। २ (का०) (वें०) चद्रकनि-चद्रकनि...। ३. (का०) (वें०) (प्र०) (स० स०) सों...। ४. (प्र०) नीचन-संग फिरै...।

* स० स० (ला० भ० दी०) पृ० ६३, ६५।

अथ तृतीय सँम—"उद्यँम करि पायौ सोई उत्तम" कौ उदाहरन जथा—

जो कौंनन ते उपजि कें, कौंनन देति जराइ ।
ता पावक सों उपजि घँन, हँनें पावक-हि जाइ ॥*

वि०—"दासजी के इस उदाहरण के प्रति द्वितीय सम (जिसमें कारण अनुकूल ही कार्य हो) मानकर केड़िया जी (भारती भूषण-रचयिता) ने—"यहाँ भी अपने उत्पादक कानन (वन) को जला देने वाला पावक कारण है, जिससे उद्भूत घन (बादल) कार्य अग्नि को बुझा देने वाला है, अतः उसके अनुकूल-ही वर्णन हुआ है" कहा है जो विपरीत है—अनुप्रयुक्त है। कारण दोनों पूर्वार्ध-उत्तरार्ध में "उपजि" क्रिया उद्यम की-ही द्योतक है, इसलिये यह उदाहरण द्वितीय का नहीं, तृतीय सम का ही है।"

पुनः उदाहरन जथा—

मधुप, तुँम्हें सुधि लँन कों, हँम[1] पै पटए स्याँम ।
सब सुधि लै, बेसुधि[2] करीं, अब बैठौ किहि कौंम ॥

वि०—"तृतीय सम रूप राजस्थानी-भाषा में विरचित किसी अज्ञात कवि का निम्न-लिखित उदाहरण भी दर्शनीय है—मननीय है,—

"राधा पूंजी गँवरजा, भर मोतीड़ा थाल ।
मथुरा पायो सासरो, बर पायो गोपाल ॥"

अथ सँमाधि अलंकार लच्छन जथा—

क्यों-हूँ कारज करि[3]-जतँन, निपट सुगँम ह्वै[4] जाइ ।
ता सों कहत 'सँमाधि' लखि, काक-ताल के[5] न्याइ ॥

वि०—"जहाँ किसी प्रकार यत्न करने के प्रथम-हीं 'काक-तालीय-न्याय' से (अचानक) सुगमतापूर्वक कार्य हो जाय" वहाँ दासजी-मतानुसार 'समाधि-अलंकार कहा जायगा। भाषा-भूषण (ब्रजभाषा) के कर्त्ता—"सो 'समाधि' कारज सुगँम, **और हेत मिलि होत**" (जहाँ अन्य हेतु के मिल जाने से कोई कार्य सुगमता-पूर्वक हो जाय) लक्षण मानते हैं। और मतिराम का लक्षण है—"**और हेत के**

पा०—१. (वें०) हमें पठाए...। २. (का०) (प्र०) बिसुधी करी, । (वें०) सुधि मिलै बिसुधि...। ३. (का०) (वें०) की...। (प्र०) को। ४. (सं० पु० प्र०) होइ। ५. (का०) (वें०) कौ...।

* भा० भू० (केड़िया) पु० २५५, द्वितीय-सम-उदाहरण ।

मिलन ते, सुखद होत जहँ काज।" संस्कृत में—"**समाधिः सुकरं कार्यं कारणां-तरयोगतः** (समाधि उसका नाम है, जहाँ कतिपय अन्य कारणों के योग से कार्य सुगम हो जाय—काव्य-प्रकाश—मम्मटाचार्य) कहा है। यह और मतिराम का लक्षण, जैसा उसका पाठांतर—"सुकरु होत जहँ काज" मिलता है, एक है। इसकी व्याख्या करते हुए—वृत्ति देते हुए, काव्य-प्रकाशकार कहते हैं—"अन्यान्य-हेतुओं की सहायता से जहाँ पर आरंभ किये कार्य को कर्त्ता, बिना यत्न के संपादन करे वहाँ 'समाधि अलंकार' होता है।" आप से मिलती-जुलती-ही परिभाषाएँ प्रायः अन्य संस्कृत के अलंकार-ग्रंथों में दी गयी हैं।

समाधि का अर्थ व्युत्पत्ति से—कार्य को भले प्रकार, अच्छे प्रकार करना, अथवा सुखपूर्वक किया जाना है, जो काक-तालीय न्याय से अकस्मात् दूसरे कारण या अन्य कर्त्ता की सहायता से प्रधान कर्त्ता द्वारा आरंभ किया हुआ कार्य सुख-पूर्वक, अनायास संपन्न हो जाता है। इस लिये इसका लक्षण कोई-कोई आकस्मिक कारणांतर के योग से कर्त्ता को कार्य की अनायास सिद्धि होना" भी करते हैं (अलंकार-मंजरी—पोद्दार पृ० ३०५)।

समाधि-अलंकार का सर्व प्रथम वर्णन भोज ने सरस्वतीकंठाभरण (संस्कृत) में किया है, अतएव वे इसके जनक हैं। इसके बाद मम्मट और रुय्यक ने 'काव्य-प्रकाश' और 'अलंकार-सर्वस्व' में इसे अपनाया है। बाद को इस (समाधि) की परंपरा निरंतर चलती रही। ब्रजभाषा में भी यह उपरोक्त ग्रंथों से ही आया, यह निर्विवाद है। आचार्य दंडी और महाराज भोजराज ने अपने-अपने ग्रंथों में इसका नाम 'समाहित' दिया है। साथ-ही समुच्चय (जहाँ अनेक पदार्थों का समुच्चय—समूह एक समय में एक साथ होना वर्णन किया जाय—दे० यही उल्लास, आगे समुच्चय अलंकार) और समाधि की भिन्नता दिखलाते हुए संस्कृत-अलंकाराचार्यों का कहना है—"समुच्चय में सभी कारण एक साथ मिलकर एक कार्य करते हैं, एक कर्त्ता के होते हुए अन्य (दूसरे) कर्त्ता परस्पर स्पर्धा से एकत्रित हो जाते हैं और समाधि में एक कार्य पूर्ण करने में यथेष्ट कारण होते हुए भी दूसरे कारण बाद में अनायास मिलकर उस कार्य को सुगमतापूर्वक कर देते हैं—अर्थात् यहाँ योग्यता प्राप्त करने वाला एक-ही साधक होता है, अन्य साधक अचानक काकतालीय-न्याय से सहायक हो जाते हैं। समुच्चय में अन्य कर्त्ता स्पर्द्धा-भाव से वही कार्य सिद्ध करने में संमिलित होते हैं, और यहाँ (समाधि में) यथार्थ कर्त्ता एक-ही होता है, अन्य कर्त्ता तो अचानक आ जाते हैं।"

सँमाधि-उदाहरन जथा—

धीरज-धरि कित[1] करति अब, मिलँन-जतँन[2] की चाह।
होंन चँहत कछु द्यौस में, तो-मोंहँन कौ ब्याह॥

पुनः उदाहरन जथा—

काहे कों 'दास' महेस-महेसुरी, पूंजिबे[3] - काज प्रसूनँन - तूरति।
काहे कों प्रात-अँन्हाइकें[4]-री, बहु दाँनन दै ब्रत - संजँम - पूरति॥
देखि-री, देखि, भटू,[5] भरि-नेंनँन, कोटि-मँनोज[6]-मँनोहर-मूरति।
ए-ही[7] हैं लाल-गुपाल अली, जिहिँ-लागि रही[8] दिँन-रेंन[9] बिसूरति॥*

वि०—"समाधि-अलंकार से समलंकृत 'रघुनाथ कवि' की यह उक्ति भी अनूठी है, जैसे—

"प्यारौ चल्यौ-परदेस सुन्यों, मँन-माल-मनोरथ की बहु गूंदें।
राख्यौ सँनेह चहें तिहि औसर, लाज-सँमाज हठै मुँह-मूंदें॥
हे 'रघुनाथ', कहा कहों भाग की, चाह्यौ मँनोज कछू कियौ दूंदें।
एते अचानँक - ही दरसे घँन, औ बरसे दस - बीसक बूंदें॥"

अथ परिबृत्त अलंकार-लच्छन जथा—

कछु लैबौ[10] - दैबौ कथँन, ता कौ बिँनमै जाँन।
अलंकार[11] 'परिबृत्त' है,[12] बरँनत[13] सुकबि-सुजाँन॥

वि०—"जहाँ विनमय रूप में कुछ लेने-देने का कथन किया जाय वहाँ अच्छे—सुजान कवि "परिवृत्ति" अलंकार मानते हैं।

परिवृत्ति का अर्थ है—अदला-बदला, लेन-देन, विनिमय, परिवर्त्तनादि। एक वस्तु देकर दूसरी वस्तु का लेना परिवर्त्तन कहलाता है। यह परिवर्त्तन सम-

पा०—१. (का०) (वें०) (प्र०) (सं० पु० प्र०) धीर धरहि कत करहि...। २. (वें०) जनन...। ३. (शृं० नि०) पूंजन...। ४. (का०) (सं० पु० प्र०) (वें०) अन्हानन कै बहु...। (प्र०) अन्हान कै तू बहु...। (शृं० नि०) नहानँनि कै बहु...। ५. (का०) (वें०) (स० पु० प्र०) (शृं० नि०) अँगौठि कें नेंनँन...। ६. (स० पु० प्र०) (रा० पु० का०) मनोज-सी मोंहन...। ७. (प्र०) आए हैं। ८. (का०) (वें०) (प्र०) (शृं० नि०) रहै...। ९. (सं० पु० प्र०) राति...। १०. (का०) (वें०) लीबौ-दीबौ...। (प्र०)...लीबौ-दीबौ अधिक. ताके बदलें...। ११. (का०) (वें०) परिवृत्तालंकार हु। १२. (प्र०) तहँ...। १३ (का०) (वें०) ताही कहत सुजान।

* शृं० नि० (दास) पृ० ७४, २२०। सखि-कर्म के अंतर्गत—संदर्शन।

(अच्छी वस्तु देकर अच्छी और बुरी वस्तु देकर बुरी लेना) और "विषम" (अच्छी वस्तु देकर बुरी तथा बुरी वस्तु देकर अच्छी लेना) दो रूपों में होता है। इसलिये उक्त अलंकार के प्रथम दो और तत्पश्चात् इन दो के दो-दो भेद और हो जाते हैं।

परिवृत्ति अलंकार को आदि (भट्टि-आदि) से लेकर अंत तक सभी संस्कृत-और ब्रजभाषा के अलंकाराचार्यों ने माना है। विषय-वर्गीकरण की दृष्टि से कोई 'परिवृत्ति' को 'वास्तव वर्ग' में, कोई 'काव्य-न्याय रूप वाह्य-न्याय' वर्ग में और कोई न्यायमूलक 'वाक्य-न्याय मूल' में इसकी गणना करते हैं। आचार्य मम्मट ने 'काव्य-प्रकाश' (संस्कृत) में परिवृत्ति अलंकार का लक्षण – "**परिवृत्तिर्विनिमयो-योऽर्थानां स्यात्समासमैः**" (जहाँ पर सम-असम वस्तुओं के द्वारा पदार्थों का विनमय हो) कहा है। साथ-ही सम-असम-द्वारा इसके भेदों "सम-सम, सम-असम और असम-सम" को भी कहा है। चंद्रालोक में—"**परिवृत्तिर्विनमयोन्यू-नाभ्यधिकयोर्मिथः**" (परस्पर न्यूनाधिक का परिवर्त्तन होने पर) रूप में 'न्यून देकर अधिक' अथवा 'अधिक देकर न्यून लेना'-आदि दो भेद-ही माने हैं। साहित्य-दर्पण में भी—"**परिवृत्तिर्विनमयः समन्यूनाधिकैर्भवेत्**" (समान, न्यून और अधिक के साथ विनमय करने पर) लक्षण के साथ तीन भेदों का ही कथन है, पर अन्य ग्रंथों में ऊपर लिखे चार भेदों का उल्लेख मिलता है।

वामनाचार्य ने "काव्यालंकार सूत्र" में--"**समविसदृशाभ्यां परिवर्त्तनं परिवृत्तिः** (समान-असमान से परिवर्त्तन—परिवृत्ति) कहते हुए पुनः "**समेन-विसदृशेन वार्थेन अर्थस्य परिवर्तनं परिवृत्तिः**" (समान वा असमान अर्थ से अर्थ का परिवर्त्तन—परिवृत्तिः) कहा है, अतः आप दो-ही (सम से सम और असम से असम) भेद मानते हैं। आचार्य भामह ने इसके प्रति नयी बात कही है, यथा—

> "**विशिष्टस्य यदादानमन्यापोहेन वस्तुनः।**
> **अर्थांतरन्यासवती परिवृत्तिरसौ यथा॥**"
>
> —**काव्यालंकार, ३, ३६।**

अर्थात् आपके मतानुसार परिवृत्ति अलंकार में "अर्थांतरन्यास" (प्रस्तुत अर्थ का अप्रस्तुत अर्थांतर के न्यास से समर्थन किया जाय) भी अवश्य रहना चाहिये, यह "**अर्थांतरन्यासवती परिवृत्तिः**" लिखकर स्पष्ट कर दिया है। इसका उदाहरण भी दिया है, पर वामन के साथ उनके परवर्त्ती आचार्यों ने परि-वृत्ति के साथ अर्थांतरन्यास का होना कोई न्याय-संगत नहीं माना है। इसलिये विश्वनाथ चक्रवर्त्ती ने साहित्य-दर्पण (संस्कृत) में 'परिवृत्ति' का ऊपर लिखे लक्षण में परिवृत्ति (विनमय) का होना—सम, न्यून और अधिक तीनों के

साथ लिखा है। वामनाचार्य ने जिस 'विसदृश' रूप एक भेद के अंतर्गत न्यून और अधिक रूप दोनों भेदों का संग्रह कर दिया था, उसे साहित्य-दर्पण के कर्त्ता ने न्यूनाधिक-परक व्याख्या के साथ कुछ नूतनता ला दी है। वामन के 'विसदृश' को सम, न्यून और अधिक में विभक्त कर सुंदरता भर दी है।"

ब्रजभाषा-अलंकार-ग्रंथों में परिवृत्ति के एक वा दो भेदों का-ही उल्लेख मिलता है, जो "थोड़ा देकर बहुत अथवा बहुत देकर थोड़ा लेना" रूप में विभक्त है। " "भाषा-भूषण" और "कविकुल-कंठाभरण" में थोड़ा देकर बहुत लेने में, 'ललित-ललाम' में—"घाटि-बाढ़ि द्वै बात कौ, जहाँ पलटिबौ होइ" और दासजी के इस "काव्य-निर्णय" ग्रंथ में "बहुत देकर थोड़ा लेने" रूप एक-ही भेद में यह अलंकार माना है। पद्माभरण में—"थोड़ा देकर बहुत" और "बहुत देकर थोड़ा लेने पर दो रूपों में यह अलंकार माना है।"

एक बात और, वह यह—परिवृत्ति में विनमय-"कवि-कल्पित" होता है, वास्तविक नहीं। जहाँ वास्तविक विनमय (लेन-देन) होगा वहाँ यह अलंकार नहीं होगा। साथ-ही अपनी वस्तु के त्याग-ग्रहण रूप कथन में भी यह अलंकार नहीं होता। कविं-कल्पना-द्वारा कुछ वा विशेष, विशेष वा कुछ देने-लेने में-ही यह अलंकार होता है। ब्रजभाषा में इसके विपरीत—"बहुत लेकर कुछ न देना" रूप कुछ सुंदर सूक्तियाँ भी मिलती है, जैसे

अति सूधौ सँनेह कौ मारग है, जहाँ नेंक, सयाँनप-बाँक नहीं।
तहाँ साँचे चलें तजि आपन पौ, झिझिकें कपटी जो निसाँक नहीं॥
'घँनआँनद' मीत सुजाँन सुनों, यहाँ एक ते दूसरौ आँक नहीं।
तुँम कोंन - धों पाटी पढ़े हौ लला, 'मँन' लेति हौ देति छटाँक नहीं॥

यहाँ पोद्दार कन्हैयालाल (अलंकार-मंजरी) जी का कहना है—"यहाँ मन लेकर बदले में छटाँक भी न देना, "कम-विशेष" देकर "कम-विशेष" 'अवश्य' लेने के विपरीत है, बदले में कुछ भी नहीं मिलना ऐसे कवि-प्रतिभापूर्ण वर्णनों में "अपरिवृत्ति" (नामक नया) अलंकार माना जा सकता है। अपरि-वृति पूर्वाचार्यों ने निरूपण नहीं किया है, परंतु (ऐसे उदाहरण रूप) इस 'अपरिवृत्ति' में चमत्कार होने के कारण उसे मानना उचित अवश्य है।"

अथ परिवृत्त-उदाहरन जथा—

तिय, कंचँन-सों तँन तेरौ उन्हें,-मिलिबौ[1] भयौ सोंतुख कौ सपनों।
उँन कौ नग-नील-सौ गात है तैसें[2]-हिं, तौ बस 'दास' कहा लपनों॥

पा०—१. (का०) (वें०) (स० पु० प्र०) मिलिकें...। २. (का०) (वें०) (प्र०) तैस-ही ...।

इँन बातँन तेरौ गयौ न कछू, उँन-हीं डेहकायौ अरी[1] अपनों ।
जिँन[2] हीरा अमोल दियौ औ लियौ,-ये द्वै-पल कौ तो प्रेम-पनों ॥

वि०—'परिवृत्ति अलंकार के रोचक उदाहरण ब्रजभाषा में कम मिलते हैं, और जो मिलते हैं, उनमें परिवृत्ति के लक्षणानुसार न्यूनाधिक्यता आ जाती है, फिर भी विहारीलाल का निम्नलिखित दोहा लोकोक्ति (अंगुलिदाने भुजंगिलसि) रूप ललित लोच से पगा हुआ इस अलंकार का सुंदर उदाहरण कहा जा सकता है, यथा—

"छुवै छिगुनी पोंहचौ-गिलत, अति दीनता - दिखाइ ।
बलि-बाँमन कौ ब्यौंत लखि, को बलि तुम्हें पत्याइ ॥

उर्दू कवियों के भी कुछ अशआर इस (परिवृत्ति) अलंकार के मिल जाते हैं, जैसे—

"दिल लेके मुफ्त, कहते हैं कुछ काम का नहीं ।
उलटी शिकायतें हुईं, अहसान तो गया ॥"

*

"दर्द-दिल अव्वल तो वह आशिक़ का सुनते-ही नहीं ।
और जो सुनते हैं, तो सुनते हैं फ़िसाना की तरह ॥"

*

ख़त तुम्हारा हमको पहुँचा, है फ़क़त इतनी रसीद ।
वाह, क्या लाया है, क़ासिद मेरे दफ्तर का जवाब ॥"

अथ 'भाविक' अलंकार लच्छन जथा—

भूत-भविस्यत[3] बात कों, जहँ बोलत ब्रतमाँन ।
'भाविक' भूषँन कहत हैं, ता कों सुँमति-सुजाँन ॥

वि० – "भाविक का लक्षण 'दासजी' द्वारा कथित इस लक्षण से भाषा-भूषण का अधिक स्पष्ट है, चुस्त है और भाषा की सफैयत से भी सुंदर है, यथा— "भाविक, भूत-भविष्य जो, परतछ कहै बनाइ" वा "बताइ" । वर्तमान की दुर्गति "ब्रतमाँन" ने सारा मजा किरकिरा कर रखा है । फिर भी 'ब्रतमान' (दासजी) और 'परतछ' (म० जसवंतसिंह) एक-ही थैली के चट्टे-बट्टे हैं, कुछ भी अंतर नहीं ।

पा०—१. (का०) (वें०) (प्र०) (सं० पु० प्र०) अली...। २. (का०) (वें०) निज हीरौ अमोल दयौ औ लयौ, । (प्र०) निज...दयौ औ लयौ...। ३. (का०) (५०.) (प्र०) भविस्यहु . ।

अतएव दासजी और पूर्व रचनाकार श्री जसवंत सिंह जी कथित 'भाविक-अलंकार' वहाँ होता है, 'जहाँ भूत-भविष्य (बीती हुई और आने वाली) की बातों – घटनाओं का वर्तमानवत् अथवा प्रत्यक्ष जैसा वर्णन किया जाय, क्योंकि भाविक का अर्थ है—"भाव की रक्षा।"

भाविक अलंकार को पूर्व-अलंकाराचार्यों—भट्टि, भामह, दंडी और उद्भट आदि ने तो माना है, काव्यालंकार-सूत्र के कर्त्ता वामन ने नहीं। भोज, मम्मट और रुय्यक ने भी इसे अपनाया है तथा पियूषवर्षी जयदेव और विश्वनाथ चक्रवर्ती ने भी। लक्षण प्रायः समान हैं, जैसे—**प्रत्यक्षा इव यद्भावाः क्रियंते-भूतभाविनः**" (जहाँ भूत-भविष्य-काल के पदार्थ भी वर्तमान काल के प्रत्यक्ष पदार्थ के समान प्रकट किये जाँय—काव्य प्रकाश मम्मट--पं० हरिमंगलमिश्र-द्वारा अनुवादित) यहाँ 'भूतभाविनः' शब्द द्वंद-समास के द्वारा बनने के कारण अर्थ में -"जो पूर्व में हो चुका है और जो भविष्य में होने वाला है" होता है। इसी प्रकार भाव भी —"**भावः कवरेभिप्रायोऽत्रास्तीति भाविकम्**" (भाव, अर्थात् कवि का अभिप्राय जिसमें रहता है वह भाविक) कहा गया है। साहित्य-दर्पण में इससे कुछ विशद लक्षण कहा गया है, जैसे—

"अद्भुतस्य पदार्थस्य भूतस्याथ भविष्यतः।
यत्प्रत्यक्षायमाणत्वं तद्भाविकमुदाहृतम् ॥"

अर्थात् भूत या भविष्यत् (के) किसी अद्भुत पदार्थ को प्रत्यक्षवत् अनुभव करने पर "भाविक" अलंकार होता है। साथही यहाँ "न चापं प्रासादाख्यो-गुणः"—इत्यादि कहते हुए-"इसे प्रसाद गुण के अंतर्गत नहीं कह सकते, क्योंकि भूत और भविष्यत् के प्रत्यक्षवत् भासित होने में प्रसाद गुण हेतु नहीं है। यह अद्भुत-रस भी नहीं है, क्योंकि यह (भाविक) विस्मय का हेतु है, विस्मय-स्वरूप नहीं। अतिशयोक्ति भी यह नहीं, क्योंकि यहाँ अध्यवसाय नहीं है। भूत-भविष्यत् वस्तुओं को ठीक उसी प्रकार वास्तविक रूप में प्रकाशित होने के कारण 'भ्रांति' अलंकार भी नहीं है। स्वभावोक्ति में वस्तु का सूक्ष्म स्वरूप वर्णित रहता है, वही उस अलंकार का स्वरूप है, पर यहाँ वस्तु की 'प्रत्यक्षायमाणता' विशेष है। और यदि कहीं स्वभावोक्ति में भी यह चमत्कार दीखे तो इन दोनों का—भाविक और स्वभावोक्ति का संकर जानना चाहिये इत्यादि" (साहित्य-दर्पण-शालिग्राम शास्त्री का हिंदी-अनुवाद)। उपरोक्त लक्षणों के विपरीत चंद्रालोक में भाविक को 'भाविकच्छवि' नाम देते हुए लक्षण-रूप में—'**देशात्मविप्रकृष्टस्य-दर्शनं भाविकच्छविः** (जहाँ देश वा आत्मा-संबंधी बात घुमाकर कही जाय, वहाँ भाविकच्छविः) कहा है।

भाविक का वर्गीकरण करते हुए किसी ने "वास्तव वर्ग" में, किसी ने "वर्णन-वैचित्र्य-प्रधान" वर्ग में और किसी ने 'प्रकीर्णक' वर्ग में इसे रखा है और शब्दार्थ 'भूसत्तायां-इक' रूप से व्युत्पत्ति करते हुए—"सत्ता की, भाव-स्थिति की रक्षा करना" कहा है। इसी लिए इस अलंकार में भूत-भविष्यत् भाव को वर्तमान की भाँत कहकर उनकी रक्षा की जाती है। क्वचित् संस्कृत-अलंकाराचार्यों ने भाविक के भूत और भविष्य-कालीन वर्णनों में दो भेद "भूतकालीन, भविष्य-कालीन" मान इनके उदाहरण भी दिये हैं, जथा—

भाविक उदाहरन जथा—भूतकाल कौ

आज[1] बाकी[2] भृकुटी गढ़ी है मेरे नैन. अजों
कसकै चितौंन[3] उर-छेद पार ह्वै भई।
काजर[4] जँहैर-सौ कैहैर करि डारयौ हु तो,
मंद-मुसिक्यौंन जौ[5] न होती वौ[6] सुधा-मई॥
'दास' अजहूँ-लौं दृग-आगे ते न न्यारी होति,
पैहरें सुरंग सारी सुंदर[7] बधू नई।
मोहि[8] मोद[9] दै करि, सँनेह-बीज बै करि, औ[10]
कुंज-ओट कै करि, चितै करि चली गई॥

द्वितीय भाविक उदाहरन जथा—"भविष्य काल कौ"

आज बड़े-बड़े भागँन-चाहि, बिराजत मेरौ-ही भाग[11] बिचारौ।
'दास जू' आज दियौ[12] बिधि मोहिं, सुरालइ के सुख ते सुख न्यारौ॥
आज मो भाग[13] उदैगिरि में उयौ[14], पूरब-पुन्न कौ तारौ उज्यारौ।
मोद में अंग, बिनोद में जीय, चहुँ कोद में चाँदिनी, गोद में प्यारौ॥

अस्य तिलक

इन दोनों प्रथम-दुतिय उदाहरन में भूत काल की बात कौ और भविष्य में

पा०—१. (का०) (वें०) (सं० पु० प्र०) अजों बाँकीं...। २. (प्र०) बाँकी...। ३. (का०) (वें०) (सं० पु० प्र०) कटाच्छ...। ४. (का०) (वें०) (प्र०) (सं० पु० प्र०) कज्जल...। ५. (का०) (वें०) यों...। ६. (का०) ज्यों...। (वें०) जो...। (प्र०) वा...। ७. (वें०) चूंदरी। (प्र०) सुंदरि बरनई। (सं० पु० प्र०) सुंदरी...। ८. (का०) (वें०) (प्र०) मोही...। ९ (का०) (वें०) मोह...। १०. (का०) (वें०) (प्र०) जु...। ११. (वें०) भाग्यवन्यारौ। (सं० पु० प्र०), बरयारौ। १२. (का०) (वें०) (प्र०) दयौ...। १३. (का०) (वें०) (प्र०) भाल...। १४. (का०) (वें०) (प्र०) उयौ...।

होइबे वारी बात कौ बरतमान-सौ बरनँन है वे ते 'भूत-भाविक' और 'भविष्य-भाविक' बनत हैं ।

वि०—"भूतकालिक 'भाविक का' वर्णन 'प्रोषित नायक' के उदाहरण स्वरूप यह सवैया भी बहुत सुंदर है, यथा—

"साहस कै, बस कै, रिस कै, जब माँगी बिदेस-बिदा मृदु-बाँन सों ।
सो सुनि बाल रही मुरझाइ, दही बर-बेलि ज्यों घीर-दबाँन सों ॥
नेंन, गरौ, हियरौ भरि आयौ, पै बोलि न आयौ कछू वा सुजाँन सों ।
सालें अजों हिय-माँझि गड़ी, वे बड़ी अँखियाँ, उँमड़ी अँसुवाँन सों ॥"

*

"जाँम-भरे दिँन है चलिबौ, सुनि प्यारी निसा सब रोवति खोई ।
हौं कह्यौ रोईऐ न, जैऐ घरै, यै रोइबौ तौ सुँनि हैं सब कोई ॥
सोई 'निवाज' सदाँ सुधि सालति, साहस कै-कै चली पग दोई ।
आधिक दूरि-लौं आइ चितै, पुनि आइ गरें लपटाइ कें रोई ॥"

ये दोनों छंद भूतकालिक वर्णन को वर्त्तमान जैसा वर्णन करने के हैं, भविष्य-भाविक के भी दो उदाहरण देखिये, जैसे—

"दग-लाल, बिसाल, उँनीदे कछू, गरबीले-लजीले-से पेखहिँगे ।
कब धों बिथुरी - सुथरी अलकें, झपकी पलकें अबरेखहिँगे ॥
'कबि संभु' सुधारति भूषँन-भेष, बिलोकनि यों जग-लेखहिँगे ।
अँगरात उठी रति - मंदिर ते, कब-धों वौ भाँमती देखहिँगे ॥"

*

"भीतर ते उठि-आवति देखि, कबै वौ बाल भुजा-भरि लै है ।
'सेखर' कंठ-लगाइ कें पीछे ते, आँनद के अँसुवाँन अन्है है ॥
कंत भले, भले बोल के साँचे, कह्यौ तुँम हो हँम वा दिँन ऐ हैं ।
औधि-गऐं यों तिया-घर आइ, कबै हँम हाइ उराहनों पै हैं ॥"

अथ प्रहरषँन अलंकार-लच्छन जथा—

जतँन-घँने[१] करि थाकिऐ[२], बांछित यों-ही जासु[३] ।
बांछित थोरौ, लाभ अति[४], दैब-जोग ते आसु[५] ॥

पा०—१. (सं० पु० प्र०) (का०) (प्र०) घनी...। (वें०) यत घनीं...। २. (प्र०) थापिऐ...। ३. (प्र०) साज। ४. (प्र०) बहु...। ५. (प्र०) झाज...।

जतँन-ढूंढते बस्तु की, बस्तु-हिँ आवै हाथ।
त्रिबिध 'प्रहरषँन' कहत हों,[1] लखि लखि कबिता-गाथ॥

वि०—"प्रहर्षण के शब्दार्थ-द्वारा—जहाँ हर्ष-वर्द्धक अर्थ की सिद्धि हो वहाँ यह (प्रहर्षण) अलंकार होता है और उसके तीन भेद हैं, जैसा दासजी कहते हैं। प्रथम प्रहर्षण वहाँ "जहाँ अति यत्न कर थकने पर भी वांछितार्थ अल्प हो", दूसरा वहाँ "जहाँ वांछितार्थ थोड़ा, पर दैव-योग से लाभ अधिक हो" और तीसरा प्रहर्षण वहाँ—"जहाँ वस्तु-प्राप्ति का यत्न ढूंढते-ही वस्तु की प्राप्ति हो जाय"।

इन तीनों प्रहर्षण-भेदों की दासजी-द्वारा मान्य व्याख्याओं के विपरीत भी व्याख्याएँ (लक्षण) मिलती हैं, यथा-ब्रजभाषा—

"तीन 'प्रहरषँन' जतँन-बिँन, बांछित-फल जो होइ।
बांछित-हू ते अधिक फल, स्रँम-बिँन लहिऐ सोइ॥

*

साधन जाके जतँन कों, बस्तु चढ़ै-कर सोइ।

अर्थात् "जहाँ इच्छित-फल की प्राप्ति बिना यत्न के हो जाय, जहाँ बिना परिश्रम के वांछित-फल से भी अधिक प्राप्ति हो जाय और जहाँ वही वस्तु हाथ लग जाय, जिसके यत्न का साधन किया जा रहा हो"–इत्यादि क्रमशः प्रथम, द्वितीय और तृतीय प्रहर्षण के लक्षण हैं, जिन्हें भाषा-भूषण के रचयिता महाराज जसवंत सिंह जी ने कहा है। मतिरामजी ने भी तीनों प्रहर्षणों के लक्षण क्रमशः–**"जहँ उत्कंठित अर्थ की बिन-उपाइ-ही सिद्धि"**, **"जहँ मँन-इच्छित अर्थ ते, अधिक सिद्धि अभिराँम"** और **"जहाँ अर्थ की सिद्धि कौ, जतन-हिँ ते फल होइ"** लिखे हैं। मतिरामजी–द्वारा कथित तृतीय प्रहर्षण का लक्षण भाषा भूषण से प्रथक् है। पद्माकर कहते हैं—**"बांछित-फल-सिधि जतँन बिँन०......"**, **सु प्रहरषँन सिधि-अर्थ की बांछित ते अधिकाइ"**, **जा-हित जतँन सु ताहि ते मिलै०"......**इत्यादि। पद्माकर-द्वारा कथित तृतीय प्रहर्षण का लक्षण भी पूर्व कथित भाषा-भूषण से विपरीत है। अतएव इन सब के साथ संस्कृत के भी अलंकार-ग्रंथों के आधार पर तीनों प्रहर्षणों के निम्नलिखत लक्षण सुंदर बनते हैं, जैसे—

"उत्कंठित पदार्थ की बिना यत्न के सिद्धि होना, वांछित अर्थ की अपेक्षा अधिक लाभ होना, उपाय की खोज-द्वारा साक्षात् फल मिलना-इत्यादि......।"

पा०—१. (का०) (प्र०) हैं...।

तीसरे प्रहर्षण का लक्षण इस प्रकार भी कहा जा सकता है—"जहाँ वांछितार्थ की प्राप्ति के साधन का उपाय करते-करते साक्षात् फल प्राप्त हो जाय...।

प्रहर्षण अलंकार, सर्व प्रथम पीयूषवर्षी जयदेव ने अपने चंद्रालोक में माना है। वहाँ ऊपर लिखे तीनों भेद नहीं मिलते, यथा—"वांछितादधिकप्राप्तिर-यत्नेन प्रहर्षणं" (जहाँ वांछित फल बिना यत्न के अधिक मिल जाय)। काव्य-प्रकाश (मम्मट) की "उद्योत" नामक व्याख्या में—"कारणांतर के सुयोग-द्वारा कार्य की सिद्धि होने के कारण" रूप प्रहर्षण को 'समाधि' अलंकार के अंतगत मानकर उल्लेख किया है। पंडितराज जगन्नाथजी और अप्पय दीक्षित ने चंद्रा-लोक की भाँति इसे स्वतंत्र अलंकार रूप में मान दिया है।

सबसे प्रथम अलंकारों के मूलतत्त्वों पर विचार कर उसका वर्गीकरण करने वाले आचार्य उद्भट ने अपने चार - "वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेश (अर्थ-श्लेश) वर्गों में कहीं भी इस अलंकार का स्मरण नहीं किया है। आचार्य उद्भट का समय ईसा की अष्टमशताब्दी के लगभग माना जाता है। वामन आचार्य उद्भट के समकालीन थे। रुद्रट का समय ईसा की नवमशताब्दी, भोज-राज की ईसा की ग्यारहवीं शताब्दी, मम्मट्ट की भी उक्त ग्यारहवीं शताब्दी, रुय्यक, वाग्भट और हेमचंद्राचार्य की बारहवीं शताब्दी और पीयूषवर्ष जयदेव की ईशा की बारहवीं-तेरहवीं (का मध्य) मानी जाती है। इससे ज्ञात होता है उद्भट का वर्गीकरण जयदेव से प्रथम होने के कारण वहाँ 'प्रहर्षण' का उल्लेख नहीं है। रुय्यक के सात अलंकार-वर्ग में भी इसका उल्लेख नहीं है, कारण पूर्व लिखित है। फिर भी प्रहर्षण की—"वर्णन वैचित्र्य-प्रधान श्रेणी" तथा "प्रकीर्णक" अलं-कारों में गणना की जाती है।"

अथ प्रथम प्रहरषँन कौ उदाहरन जथा—

ज्वाल के जाल उसासँन ते बढ़ें, देखी[1] न ऐसी बिहाल-बिथा ती।
सीर-सँमीर, उसीर-गुलाब के, नीर-पटीर-हू ते सरसाती॥
श्री ब्रजनाथ सँनाथ करो,[2] मोहि ज्याइ लई लपटाइ[3] कें छाती।
आज-हूँ या के तँनें-पतनें जतनें सब मेरी धरी रहि जाती॥

वि०—"दासजी कृत यह उदाहरण प्रथम-प्रहर्षण के लक्षणानुसार "जतैंन-घँने करि थाकिऐ, अरु बाँछित फल यों ही" का है, जो—"ज्याइ लई लपटाइ कें

पा०—१. (वें०) देखौ ..। (सं० पु० प्र०) देख्यौ न...। २. (का०) (वें०) (प्र०) कियौ मोहि ज्याइ लियौ...। ३. (का०) (वें०) इहि लाइकें छाती। (प्र०) गहि लाइकें...।

छाती" रूप अल्प फल से प्रकट है। यहाँ लक्षण में 'योंहिँ' का अर्थ "कारण विशेष से नहीं, अनायास-ही प्राप्त होना इसी प्रकार है" और ध्वन्यार्थ—"तुच्छ" है—अल्प है। प्रहर्षण के अन्यथार्थ (जहाँ इच्छित फल की प्राप्ति बिना यत्न हो जाय) का उदाहरण पीयूषवर्षी श्री जयदेव कृत 'गीतगोविंद' का यह—"मेघैर्मेदुरमंबरं०..." श्लोक जिसका व्रजभाषानुवाद निम्नलिखित छंद है, सुंदर है—उपयुक्त है, यथा—

"मेघँन सों नभ छाइ रह्यौ, बँन-भूमि तमालँन सों भई कारी।
साँझ भई डरि है घर याहि दया-करिकें पोंहचावहु प्यारी॥
यों सुँनि नंद-निदेस चले दुहूँ, कुंजँन में हरि-भाँनु-दुलारी।
सोई कलिंदी के कूल इकंत की, केलि हरै भव-भीति हँमारी॥"

विहारीलाल का नीचे उद्धृत दोहा भी इस 'प्रथम प्रहर्षण' (उपाय के बिना ही उत्कंठितार्थ की सिद्धि का होना) का सुंदर उदाहरण है—

"कर-मुँदरी की आरसी, प्रतिबिंब्यौ प्यौ पाइ।
पीठि-दिऐं निधरक लखै, इकटक दीठि लगाइ॥"

अथवा—

"खिँचे माँन-अपराध ते, चलिगे बढ़ें अचेंन।
जुरत दीठि तजि रिस खसी, हँसे दुहुँन के नेंन॥

अर्थात् "सखी की सिफारिश और दूती के उपाय-बिना ही मेल हो गया", इससे अच्छा (प्रथम) प्रहर्षण और क्या होगा!" इति श्री स्व० पं० पद्मसिंह शर्मावचनात्...।

रीति-काल के अति प्रतिभावान् कवि 'पद्माकर' का नीचे लिखा उदाहरण भी प्रथम प्रहर्षण का सुंदर उदाहरण है—

"गोकुल की गलिँन-गलींन यै फैली बात,
काँन्हें नँदरौंनी वृषभाँन-भौंन ब्याहती।
'कहै' पद्माकर' यहाँ-ई त्यों तिहारौ चलै,
ब्याह कौ चलँन यहै साँवरौ सराहती॥
सोचति कहा हौ, कहा करिहें चवाइँन ए,
आँनद की अवली न काहे अवगाहती।
प्यारौ उप-पति सु होत अँनुकूल, तुँम्ह—
प्यारी परकीया ते स्वकीया होंन चाँहती॥"

उत्तमादूती द्वारा नायिका के प्रति प्रहर्षण-अलंकार से अलंकृत कितने सुंदर मिलाप के लिये वचन हैं...।

पूर्वोक्त "समाधि" में भी कर्त्ता के कुछ यत्न करते हुए अकस्मात् कारणांतर की प्राप्ति से सुगमतापूर्वक कार्य हो जाता है और यहाँ बिना उपाय किये ही वांछितार्थ की सिद्धि मिलती है।"

अथ दुतिय प्रहरषँन कौ उदाहरन जथा—

जा[1]-परछाँहीं लखँन कों, हारे परि-परि पाँइ।
भाग-भलाई रावरी, वही[2] मिली अब आइ॥

अस्य तिलक

इहाँ बांछित थोरौ लाभ अति-रूप दुतीय प्रहरषँन है। जाकी (केवल) परछाँही-हूँ देखिबे कों-हीं पाँइ परि-परि हारे वही भाग की भलाई (अच्छाई) ते अपने आप आइकें मिली सो 'बांछित थोरौ लाभ-अति के रूप में प्रघट है।

वि०—"वांछित थोरौ लाभ-अति" रूप द्वितीय प्रहर्षण का मतिराम कृत उदाहरण भी सुंदर है, यथा—

"चित्र में बिलोकति-ही लाल कौ बदन बाल,
जीते जिहिँ कोटि चंद सरद पुनींन के।
मुसिकाँन अँमल, कपोलँन कै रुचि बृंद-
चँमकें तरोंनँन के रुचिर चुनींन के॥
पीतँम-निहारयौ बाँह-गहत अचाँनक ही,
जामें 'मतिरॉम' मन सकल मुनींन के।
गाढ़े गही लाज में, न कंठ-हू फुरत बॅन,
मूल छ्वै फिरत नॅन बार-बरुनींन के॥"

अथ तृतीय प्रहरषँन कौ उदाहरन जथा—

भोर-हीं आइ[3]सखी[4]सों निहोरि कें, राधे कह्यौ मोहिँ मीत मिलावै।
ताहि[5] तकाइ कें भोंन गई वौ, आप कछू करिबे कों उपावै॥
ता-ही[6] सँमें तँह माधौ गए, दुख-राधे-बियोग कौ बाहि सुनावै।
पाइकें सूँनों निलैं-मिले[7] दूँनों, बढ़्यौ[8] सुख-पूँनों[9] दुहूँ उर-लावै॥*

पा०—१. (प्र०) जो...। २. (सं० पु० प्र०) आप मिली वौ आइ। (प्र०) वहै...। ३. (शृं० नि०) आँन...। ४. (का०) (वें०) (प्र०) (सं० पु० प्र०) (शृं० नि०) जनीं सों...। (वें०) मिलावौ। ५. (शृं० नि०) ता हित कारनें भोंन...। (वें०) उपायौ। ६. (शृं० नि०) दास तहीं चलि माधौ गए, दुख राधे बियोग कौ ताहि। (वें०)सुनायौ। ७. (का०) (वें०) (प्र०) मिल...। ८. (का०) (वें०) (प्र०) बढ़े...। ९. (का०) (वें०) (प्र०) दूनों...। (वें०) आयौ।

* शृं० नि० (दास) पृ० ३८, ११२—मुदिता-उदाहरण।

वि०—"दासजी का यह छंद तृतीय प्रहर्षण—जतँनें ढूंढत वस्तु कै, बस्तु आवै हाथ", (वांछितार्थ वस्तु की प्राप्ति के लिए यत्न ढूंढने के साथ-ही वांछितार्थ—वस्तु का मिल जाना) का उदाहरण है। साथ-ही यह छंद "मुदिता-नायिका" (नायिका-भेदानुसार) का उदाहरन भी है, जिसे आपने अपने 'शृंगार-निर्णय' नामक ग्रंथ में दिया है। मुदिता नायिका का लक्षण—

"वहै बात बँनि आवई, जो चित-चाँहति होइ।
तातें आँनदित महा, 'मुदिता' कहिएँ सोइ॥

—शृंगार-निर्णय

इस छंद में शृंगार-निर्णयानुसार पाठ भेद भी हैं, जो पाठांतर में नीचे दिया गया है, फिर भी यहाँ दो बात विशेष कहनी है—दो शब्दों 'दूँनों' और 'पूँनों' के प्रति कुछ अधिक कहना है, जो 'सूँनों' शब्द के फेर में बने हैं। दूँनों शब्द 'ब्रजावधी' है जो 'दोनों' के अर्थ का द्योतक है, पर 'पूँनों' पूर्ण के अर्थ में कहाँ और कब प्रयुक्त होने लगा, कुछ कहा नहीं जा सकता। पूँनों शब्द ब्रज में पूर्णिमा के लिए आज भी प्रचलित है। शायद इसी से आपने यह निर्माण किया हो...। इसी प्रकार दूसरे चरण में आई हुई "तकाइ" क्रिया भी 'महावीर प्रसाद मालवी 'बीर' के अर्थ-मान्य की दृष्टि से विचारणीय बन गयी है। क्योंकि आपने स्वसंपादित 'काव्य-निर्णय' में इसका अर्थ 'दिखाकर" माना है, किंतु यहाँ यह 'तकाइ' तकना (सक्रि०)—देखने से नहीं, "तकाने" से बनी है, जिसका अर्थ होता है 'देखने का काम दूसरे से कराना, दूसरे को सँभाल कर जाना, जिससे उसकी अनुपस्थिति में कोई हानि न हो। मुहावरे में भी—"दादी जी, नेंकु जा घरकूँ-ऊँ ताकियों मैं अभई आई..."इत्यादि...।"

अथ बिषादँन–अलंकार लच्छन जथा—

सो 'बिषाद' चित-चाँह ते[1], उलटौ[2] कछु है जाइ।
सुरत समैं पिक पातकी[3], कुहू[4] दियौ समझाइ॥

वि०—"जिस बात की चित्त (मन) में इच्छा होने पर यदि उससे उलटा हो जाय—जिस बात की चित में इच्छा है, पर उससे विपरीत हो जाय, तो 'विषाद' वा 'विषादन' अलंकार माना जायगा और यदि अधिक-अल्प रूप में कहा जाय तो—"जहाँ वांछितार्थ के विरुद्ध लाभ होने का वर्णन हो" वहाँ भी उक्त अलंकार माना जायगा।

पा०—१. (सं० पु० प्र०) सों०...। २. (का०) (वें०) अँनचाहौं है...। ३. (का०) (वें०) (सं० पु० प्र०) पापिनी...। ४. (का०) कुहू कियौ री हाइ।

विषादन शब्द विषाद से बना है, जिसका अर्थ 'विशेष दुःख' होता है। अतएव इच्छा के विरुद्ध फल के मिलने में प्रायः दुःख होता है, इसलिए इस अलंकार का नाम-करण अनुरूप है।

विषादन भी सर्व प्रथम 'चंद्रालोक' में-ही दृष्टिगत होता है, बाद में अन्यत्र। अतएव आप उसके जनक कहे जा सकते हैं। चंद्रालोक में इसका लक्षण है—

"ईष्यमाण विरुद्धार्थं सम्प्राप्तिस्तु विषादनम्।"

अर्थात्, अपनी इच्छा के विरुद्ध फल की प्राप्ति होना—विषादन है। विषादन का वर्गीकरण, पश्चात् निर्माण होने से रुद्रट और रुय्यक ने नहीं किया है। बाद में उसका वर्गीकरण वर्णनवैचित्र्य-प्रधान तथा प्रकीर्णक अलंकारों की सूची में किया गया है। वह कब और कैसे, इसका पता नहीं चलता। विषादन पूर्व कथित अलंकार 'प्रहर्षण' का प्रतिद्वंदी है, क्योंकि प्रहर्षण में वांछित-अर्थ की सिद्धि के द्वारा हर्ष—अधिक हर्ष प्रकट किया जाता है और यहाँ विषाद वा विषादन में "वांच्छित अर्थ के विरुद्ध लाभ के द्वारा दुःख प्रकट किया जाता है—जैसा दासजी ने इस दोहे के उत्तरार्ध में बतलाया है।"

एक बात और, वह यह कि विषादन को उद्योतकार (काव्य प्रकाश के टीका कार) ने 'विषम' अलंकार के अंतर्गत माना है। अस्तु, पंडितराज जगन्नाथ जी का इस विषय में कहना है कि विषम में अभीष्टार्थ के लिए उद्योग किया जाता है और विषादन में उस (अभीष्टार्थ) की इच्छा मात्र होती है, अतएव यह प्रथक है।"

पुनः उदाहरन जथा—

मोहँन आयौ[१] हुतो[२] सपने, मुसिकात औ[३] खात बिनोद सों बीरा[४]।
सोती[५] हुती परजंक पै हों-हूँ, उठी मिलिबे कों[६] सु करि मँन-धीरा॥

पा०—१. (सुं० ति०) (सुं० स०) (का० प्र०) आए...। २. (का०) (प्र०) (सं० पु० प्र०) (शृं० नि०) (सुं० ति०) (सुं० स०) (का० प्र०) हहौ...। ३. (का० प्र०) से...। ४. (का०) (वें०) (प्र०) (सं० पु० प्र०) (शृं० नि०) (सुं० नि०) (सुं० स०) (का० प्र०) बीरौ। ५. (का०) (स० पु० प्र०) (शृं० नि०) (सुं० ति०) (सुं० स०) (का० प्र०) बैठी...। (वें०) बैठी हरें परजंक में...। ६. (का०) (वें०) (प्र०) (सं० पु० प्र०) (शृं० नि०) (सुं० ति०) (सुं० स०) (का० प्र०) कहँ कै मन धीरौ।

ऐसे में 'दास' बिसासिनि[1] दासी, जगाई[2] डुलाइ[3] किँवार-जँजीरा[4] ।
हाइ[5] अकारथ भौ सजँनी, मिलिबौ ब्रजनाथ कौ हाथ कौ हीरा[6] ॥*

वि०—"दासजी का यह छंद विषाद वा विषादन (क्योंकि काव्य-निर्णय की प्रतियों में दोनों ही नाम मिलते हैं, पर शुद्ध नाम इसका "विषादन" ही है) अलंकार की सान पर चढ़ा नायिका-भेदानुसार 'स्वप्न-दर्शन' का वर्णन बहुत सुंदर है। अतः आप का यह छंद नायिका-भेद के संग्रह ग्रंथों में दासजी के 'शृंगार-निर्णय' के अनुसार 'सुंदरी-तिलक' (भारतेंदु), 'सुंदरी-सर्वस्व' (पं० मन्नालाल) और काव्य-प्रभाकर (पं० जगन्नाथ प्रसाद भानु) आदि कितने-ही ग्रंथों में "स्वप्न-दर्शन" के उदाहरणों में ही संकलित मिलता है, जिससे इसकी सुंदरता असंदिग्ध है। साथ-ही तत्तत् स्थानों पर नीचे लिखे पाठानुसार है। निम्न-लिखित पाठ शृंगार-निर्णय का नहीं, काव्य-निर्णय का है। काव्य-निर्णय में मूल तथा पाठांतर में दिया हुआ पाठ है। शृंगार-निर्णयानुसार पाठ इस प्रकार है—

"मोंहँन आयौ इहाँ सपने, मुसिकात और खात बिनोद सों बीरौ ।
बैठी हुती परजंक में होंहूँ, उठी मिलिबे कहँ कै मँन-धीरौ ॥
ऐसे में 'दास' बिसासिन दासी, जगायौ डुलाइ किँवार-जँजीरौ ।
कुंठौ भयौ मिलिबौ ब्रजनाथ कौ, एरी गयौ गिरि हाथ कौ हीरौ ॥

स्वप्न-दर्शन पूर्वानुराग के—"श्रवण, चित्र, स्वप्न और प्रत्यक्षादि चार दर्शनों में तीसरा दर्शन है। स्वप्न-दर्शन के अखाड़े में भी ब्रजभाषा के कवियों ने अनेक कलाबाजियों के साथ उत्पात मचाया है। वह उत्पात देखने लायक है, जैसे—

"आए कॉन्हि द्वार आली, बेगि उठि देखौ धाइ,
काहू यै बात कही आँनद-सुधा-मई ।
केतिकौ दिनाँ की हिऐं तपँन बुझाइबे कों,
हों-हूँ 'परसाद' प्यारे-देखँन तहाँ गई ॥

पा०—१. (सुं० ति०) (सुं० स०) (का० प्र०) बिसासिनी...। २. (का०) (वें०) (प्र०) (सं० पु० प्र०) (शृं० नि०) जगायो...। ३. (वें०) दुलाइ...। (रा० पु० नी० सी०) हलाइ...। ४. (का०) (वें०) (प्र०) (सं० पु० प्र०) (शृं०-नि०) (सुं० ति) (सुं० स०) (का० प्र०) जँजीरौ। ५. (का०) (शृं० नि०) (सुं० ति०) (सुं० स०) (का० प्र०) कूंठौ भयौ मिलिबौ ब्रजनाथ कौ, एरी गयौ गिरि हाथ कौ हीरौ। (वें०) होइ अकाथ गयौ सजनी, मिलिबौ ब्रजनाथ कौ हाथ कौ हीरौ। ६. (प्र०) (सं० पु० प्र०) हीरौ।

*, शृं० नि० (दास) पृ० ६६, २८७। सुं० ति० (भारतेंदु) पृ० १६४, ६६१। सुं० स० (मन्नालाल) पृ० १८६, ४। का० प्र० (भा०) पृ० ४२६।

झूंठौ-सुख-सपनें में करैंन न पायौ ए हो
निरदई ऐसी मोहि तुरत दगा दई ।
जौलों भरि-नैंनँन वौ मूरति निहारि देखों,
तौ-लों नैंन-छाँड़ि नींद-बैरिन बिदा भई ॥"

*

"सपने में आयौ सखी, साँवरौ-सलोंनों वह,
जिहि अंग-अंग सों अनंग कों लजायौ है ।
मोंहिनी-सी बातें कहि-कहि गहि-गहि बाँह,
भाँति - भाँति हरख हजार उपजायौ है ॥
कहै 'सिवदत्त' मो पै कछूनाँ कह्यौ-ई परै,
बिरह-बियोग बिनाँ नाह नें भजायौ है ।
जौलों हँसि-हँसि गरें लाऊँ-री रसिकराइ,
तौ लों वा बजरमारे गजर - बजायौ है ॥"

*

सपने - हूँ सोंवँन न दई निरदई दई,
बिलपति रही जैसें जल-बिन मछियाँ ।
'कुंदन' सँदेसौ आयौ लाल मधुसूदन कौ,
सबै मिलि दौरीं लेंन अँगँन बिलखियाँ ॥
बूझे समाचार ना मुखागर सँनेसौ कछु,
कागद लै कोरौ हाथ दींनों कहि सखियाँ ।
छतियाँ सों पतियाँ लगाइ बैठी बाँचिबे कों,
जौ-लों खोलोंखाँम तौ लों खुलि गईं अँखियाँ ॥

*

"काहू-काहू भाँति राति लागो-ही पलक तहाँ-
सपने में आँनि केलि-रीति उँन ठाँनी-री ।
आप दुरे जाइ मेरे नेंनँन - मुदाइ कछु,
हों-हूँ बजमारी ढूंढिबे कों अकुलाँनी-री ॥
ऐरी मेरी आली, या निराली करता की गति,
'द्विजदेव' नेंकऊ न परत पिछाँनी-री ।
जौ-लों उठि आपनों पथिक-पिय ढूंढों तौ-लों
हाइ इँन आँखिन सों नींद-ही हिराँनी-री ॥"

उदू कवियों ने भी इस बंदिश पर बहुत कुछ कहा है और जो कुछ कहा है उसमें नजाकत है—नफ़ासत है, जैसे—

"जगाने, चुटकियाँ लेने, सताने कौन आता है।
यह छिप कर ख्वाब में अल्लाह जाने, कौन आता है॥"

*

"वादे के अपने सच्चे थे, आते वह ख्वाब में।
'नाज़िम' तुम्हीं को नींद न आयी तमाम रात॥"

*

"ख्वाब में उनको किसी ने रात छेड़ा है ज़रूर।
देखते हैं गौर से मुझको बुलाकर सामने॥"

*

"ख्वाब में भी छिपाके मुँह आये।
उनकी शर्मो-हेजाब ने मारा॥"

अथ संभव-असंभव अलंकार-लच्छन जथा—

बिंन-जाँनें ऐसौ भयौ, 'असंभवै' पैहचाँन।
जो यों होइ तौ होइ यों, 'संभाबना' सुजाँन॥

वि०—"जहाँ बिना जाने कुछ का कुछ होना वर्णन किया जाय, अथवा जहाँ ऐसी बातों का वर्णन हो जो संभव न होते हुए भी घट जाँय, वहाँ "असंभव" और जहाँ यह कहा जाय कि यदि ऐसा होता तो वहाँ 'संभव' वा 'संभावना' अलंकार होता है।"

असंभ-सभव अलंकारों का सबसे प्रथम वर्णन 'चंद्रालोक' में मिलता है, वहाँ इनके लच्छण—"असभवोऽर्थ निष्पत्तावसभाव्यत्ववर्णनं" (भूत वाक्य में जो क्रिया कही जाय, उस पर संदेहात्मक वाक्य कहना - असंभव) और "संभावनां-यदीत्थं स्यादित्यूहोन्यप्रसिद्धये" (जब कुछ तर्क-वितर्क करके, यदि ऐसा हो तो ऐसा हो, यह निरूपण किया जाय तब—संभावना) कहा है। रुद्रट, भोज, मम्मट और रुय्यकादि अलंकाराचार्यों के उत्तर-काल में इसकी सृष्टी होने से इन दोनों का वर्गीकरण भी नहीं हुआ है। फिर भी बाद के कुछ आचार्यों ने इन दोनों की और विशेष कर 'असंभव' की गणना 'विरोधमूलक' अलंकारों में की है। संभावना अलंकार का वर्णन किसी ने किया है और किसी ने नहीं, अतएव उसका कोई वर्गीकरण नहीं मिलता। असंभव का विवरण "हिंदी-अलंकार ग्रंथों में सेठ कन्हैयालाल पोद्दार, सेठ अर्जुनदास केड़िया तथा बा० ब्रजरत्न दास के अलंकार-

मंजरी, भारती-भूषण और अलंकार-रत्न में तो मिलता है, पर संभव वा संभावना का नहीं। ब्रजभाषा-अलंकार ग्रंथों में प्रायः ये दोनों ही अलंकार मिलते हैं। अलंकार-सर्वस्व (रुय्यक-मंखक) और काव्य-प्रकाश (मम्मट) में असंभव अलंकार जैसे उदाहरण 'विरोधालंकार' के अंतर्गत दिखलाये हैं। कन्हैयालाल पोद्दार ने 'असंभव' की यह व्युत्पत्ति (लक्षण) लिखी है—"किसी अर्थ-सिद्धि की असंभवता वर्णन किये जाने को 'असंभव' कहते हैं।" यह लक्षण कविवर मतिराम जी के अलंकार-ग्रंथ 'ललित-ललाम' के अनुसार है, यथा—

"जहाँ अर्थ के सिद्धि कौ, सभव बचँन न होइ।
तहाँ 'असंभव' होत है, बरँनत हैं सब कोइ॥"

केशवदास जी ने असंभव को 'असंभावितोपमा' रूप में मानते हुए 'संभावना' नहीं माना है। भाषा-भूषण में संभावना के प्रति सह-उदाहरण कहा गया है—

"जौ यों होइ तौ, होइ यों, 'संभावनाँ' बिचार।
बक्ता होतो सेस तौ, लहितो तो-गुन-पार॥

पद्माकरजी ने असंभव-संभावना के--"सु 'असंभव' जु असंभवित, कारज भयौ दिखात" तथा 'जु यों होइ तौ होइ यों, यह संभावन जाँन" आदि लक्षण दिये हैं।"

प्रथम असंभव उदाहरन जथा—

छबि-मै ह्वै है कूबरी, पबि ह्वै हैं ए अंग।
ऊधौ[१], हँम जाँन्यों न यै, तुम ह्वै हौ हरि-संग॥

पुनः उदाहरन जथा—

हरि-इच्छा सब ते प्रबल, बिक्रँम सकल अकाथ।
को[२] जाँनत[३] लुटि जाँइगीं, अबला अरजुँन-साथ॥

अस्य-तिलक

इहाँ अर्थांतरन्यास के संकर कौ संकर है।

अथ संभावनाँ-अलंकार उदाहरन जथा—

कस्तूरी-थपि-नाभि मृग[४], वाहि[५] दियौ बिधि[६] मीच।
मैं बिधि हौं-हुँ तो उहि धरों, खल-जीभँन के बीच॥

पा०—१ (वें०) उद्धव...। २. (का०) (वें०) (स० पु० प्र०) किन जाँन्यों लुटि...। ३. (रा० पु० प्र०) जाँनी...। ४. (का०) ((प्र०) बिधि...। (वें०) अड बिधि...। ५. (वें०) (प्र०) (सं० पु० प्र०) बादि दयौ मृग मीच। ६. (का०) मृग...।

पुनः उदाहरन जथा—

हुतो तोहि दैंनों [1] हरि-हिँ, जौ पै [2] बिरह-सँताप।
कुच-संकर द्वै बीच बलि, तौ क्यों कियौ मिलाप॥

संभावनाँ पुनः उदाहरन जथा—

आई मधु - जाँमिनी, न आए [3] मधुसूदँन जू,
राति नाँ सिराति, द्यौस - बीतत बलाइ में।
करते भली, जौ प्राँन करते पयाँन आज,
ऐसे में [4] आली और देखिती नाँ उपाइ में॥
कहा कहौं 'दास' मेरी होती तबै निसा जब,
राहू ह्वै [5] निसाकर [6] कों ग्रसती बनाइ में।
हर-ह्वै कें जारि डारयौ [7] मँनमथ, सो हरिजू के-
मँन-मथिबे कों होती मँनमथ जाइ में॥

वि०—"असंभव अलंकार का निम्नलिखित छंद, जो किसी अज्ञात कवि की रम्य-रचना है सुंदर है, यथा—

"यों दुख दै ब्रज-बासिन कों, ब्रज कों तजि कें मथुरा सुख पै हैं।
वे रसकेलि-बिलासँन की, बन-कुंजँन की बतियाँ बिसरै हैं॥
जोग-सिखाबन कों हँम कों, बहुरयौ तुमसे उठि धावँन ऐ हैं।
ऊधौ, नहीं हँम जाँनत-हीं, मन - मोहँन कूबरी-हाथ बिकै हैं॥"

और संभावना का, यथा—

"बाम-बाहु-फरकत मिलैं, जौ हरि जीवँन-मूरि।
तौ तो ही सों भेंटि हों, राखि दाँहिनी-दूरि॥"

—बिहारी-सतसई

तोष कवि प्रणीत संभावना से संयुक्त 'आगतपतिका' नायिका (प्रियतम-आगमन की सूचना मिलने पर प्रसन्न होने वाली) के कथन से उल्लसित यह छंद - भी सुंदर है, यथा—

"पैंजनी-गढ़ाइ, चोंच सोंने-सों मढ़ाइ दै-हों,
कर-पर ल्याइ पर रुचि सों सुधरि हों।

पा०—१. (का०) (वें०) (प्र०) दीबे...। (सं० पु० प्र०) दीबौ...। २. (सं० पु० प्र०) यह...। ३. (सं० पु० प्र०) आयौ...। ४. (का०) (वें०) (प्र०) ऐसे में न आली और देखती उपाय में। ५. (वें०) (स० पु० प्र०) ह्वै कै निसाकर...। ६. (का०) (वें०) निसाकर ग्रासती बनाइ में। ७. (का०) (वें०) (प्र०) (सं० पु० प्र०) जारि डारि, मनमथ हरि जू के...।

कहै 'कवि तोष' छिन अटक न लै हों कवौ
कंचँन - कटोरें अटा खीरि-भरि धरि हों ॥
एरे काग, तेरे सुभ सगुँन - सँजोग आज,
मेरे पति आवें तौ बचँन तें न टरि हों।
करती करार, तौ न पैहलें करोंगी सब,
अपने पिया कों फेरि पाछें अंक - भरि हों ॥'

*

"सुनके आमद उनकी अज़खुदरफ्ता हो जाते हैं हम।
पेशवा लेने को जाना, कोई हमसे सीख जाय ॥"

अथ सँमुच्चै अलंकार लच्छन जथा—

एकै करता सिद्धि के[1], औरौं होंइ सहाइ।
बोहौत होंइ इक बारि करि[2] द्वै अँनमिल इक-भाइ ॥

*

ऐसी - भाँतिन जाँनिऐं, 'सँमुच्चयालंकार'।
मुख्य एक लच्छिन वहै[3], बौहौत भऐं इकबार ॥

वि०—"दासजी ने 'समुच्चय' तीन प्रकार का माना है। प्रथम वहाँ 'जहाँ कार्य-सिद्धि के लिए एक कर्ता पर्याप्त होते हुए और भी उस प्रथम के सहायक हो जाँय।" द्वितीय समुच्चय वहाँ "जहाँ एक बार ही बहुत से कर्ता व कारण एकत्रित हो कर कार्य करें" तथा इसी प्रकार तृतीय समुच्चय वहाँ "जहाँ दो अनमिल (पृथक-पृथक भाव वाले) कर्त्ता एक होकर किसी कार्य को सिद्धि करें।" काव्य-प्रकाश (संस्कृत) में श्री मम्मट ने इन तीनों भेदों के लक्षण-रूप कहा है— "**तत्सिद्धिहेतावेकस्मिन्यत्रान्यत्तत्करं भवेत्। समुच्चयोऽसौ०। तस्य प्रस्तुतस्य कार्यस्य एकस्मिन्साधके स्थिते साधकांतराणि यत्र सम्भवंति स समुच्चयः।**" अर्थात् "प्रस्तुत कार्य की सिद्धि के एक हेतु के उपस्थित रहने पर भी जहाँ (उसकी सिद्धि के लिए) और भी अनेक कारण कहे गये हों, वहाँ समुच्चय...।" साथ ही वहाँ इस प्रथम भेद के और भी भेद करते हुए कहा है—"यही समुच्चय सद्, असद् और सदसत् वस्तुओं के एकत्रित होने पर भी होता है और वहाँ—"सत्वन्यो युगपद्या गुणक्रियाः (एक प्रकार का और समुच्चय जहाँ गुण और क्रिया दोनों का एक साथ होना कहा जाय) के बाद '**गुणौ च क्रिये च गुणे**·

पा०—१. (का०) (वें०) (प्र०) कौं...। २. (का०) (वें०) (प्र०) (सं० पु० प्र०) कै.। ३. (का०) (वें०) (प्र०) यही,।

क्रिये च गुणक्रियाः'' (जहाँ दो गुण दो क्रियाएं तथा एक गुण एक क्रिया के साथ-साथ कथन) रूप तीन भेद और कहे हैं। युगपद्या (यौगपद्य=एक साथ होना) शब्द का विश्लेषण करते हुए वहाँ (काव्य-प्रकाश में) कहा गया है कि "यह यौग-पद्य (एक साथ होना) रूप समुच्चय केवल एक ही अधिकरण (आश्रय) वालों में, अथवा विभिन्न अधिकरण वालों में भी होता है यह ठीक नहीं, भिन्न-भिन्न अधिकरणों में भी समुच्चय होता है, परंतु समानाधिकरण्य और वैयधिकरण्य रूप दोनो दशाओं में भी समुच्चय होगा, यह नियम सिद्ध नहीं होता। (दे० काव्य-प्रकाश, हिं० व्या०—साहित्य-संमेलन)।

समुच्चय, आचार्य रुद्रट से लेकर सभी अलंकाराचार्यों ने स्वीकार किया है। इसलिए इसका वर्गीकरण प्रथम उभय-वास्तव और औपम्य वर्ग में, तदनंतर काव्य-न्याय रूप वाह्य-न्याय वर्ग में अथवा वाक्य-न्याय मूलक वर्ग में किया गया है।

समुच्चय का अर्थ, एकत्रित—"एक साथ इकट्ठा होना" संस्कृत के आचार्य-वर्गों ने माना है। अस्तु इस व्याख्या-द्वारा किसी कार्य को सिद्ध करने के लिये एक कर्त्ता के विद्यमान दूसरे कर्त्ता भी परस्पर स्पर्धा-युक्त होकर पूर्व कार्य को सिद्ध करने के लिए एकत्रित हो जाते हैं, जो समुच्चय कहलाता है। इन आचार्यों ने समुच्चय, विकल्प-अलंकार के विपरीत माना है और कहा है—विकल्प में समान-बल वालों की एक-ही काल में एकत्रित स्थिति असंभव है, समुच्चय में नहीं। समुच्चय में समान बल वालों की एकत्रित स्थिति एक काल में होती है।

संस्कृत-ग्रंथों में 'समुच्चय' के भेद इस प्रकार कहे गये हैं—'प्रथम' समुच्चय (किसी कार्य के करने के लिये एक साधक के होते हुए दूसरे साधकों का कथन), द्वितीय समुच्चय (गुण, क्रिया अथवा गुण-क्रिया दोनों का एक-ही काल में वर्णन किया जाना)। इसके बाद प्रथम समुच्चय के—'सद्योग' (उत्तम साधकों का योग), 'असद्योग' (असत् साधकों का योग) और 'सद्-असद् योग' (सत्-असत् दोनों साधकों का योग) तीन भेद और किये गये हैं। प्रथम-कथित द्वितीय समुच्चय के भी 'गुण-समुच्चय', क्रिया-समुच्चय और गुण-क्रिया दोनों का समुच्चय रूप तीन भेद कहे गये हैं। इनके उदाहरण भी दिये हैं, साथ-ही 'क्रिया-समुच्चय' को 'कारक-दीपक' से पृथक् बतलाते हुए कहा है कि "कारक दीपक" में भी समुच्चय की भाँति अनेक क्रियाओं का कथन किया जाता है, पर वे क्रमशः (आगे-पीछे) होती हैं और उक्त समुच्चय में सब क्रियाएँ एक साथ होती हैं। पर्याय के द्वितीय भेद में भी विविध वस्तुओं का क्रमशः एक आश्रय होता है, यहाँ एक साथ एकत्रित होकर। सहोक्ति में एक क्रिया में दो अर्थों का अन्वय—

एक का प्रधानता से द्वितीय का गौणता से होता है, पर समुच्चय में प्रधानता से ही सब का अन्वय होता है। वहाँ सहोक्ति में 'सह'—आदि वाचक-शब्द होते हैं, समुच्चय में नहीं।

ब्रजभाषा-अलंकार ग्रंथों में समुच्चय-भेदों के प्रति दो मत हैं। कुछ इसके तीन भेद (जिनमें चिंतामणि-आदि आचार्य प्रधान हैं) और विशेष दो भेद (जिनमें भाषा-भूषण रचयिता जसवंत सिंह प्रधान हैं) मानते हैं। तीन भेद मानने वाले—"एक साधक के साथ अन्य साधक" रूप समुच्चय, सदृश जोग समुच्चय और गुण-गुण जोग समुच्चय—आदि तीन भेद और दो भेद मानने वाले, "एक साथ बहुत भाव-उत्पन्न समुच्चय और एक कार्य करने को अनेकों का समुच्चय" मानते हैं"

अथ प्रथम सँमुच्चै उदाहरन जथा—

दारँन-सितारँन के[१] तारँन की तौंनें मजु,
तैसिऐ मृदंगँन की धुँनि-धँधकारतो[२]।
चँमकें कँनक - नग - भूषँन बँनकवारे,[३]
तैसी घूंघरूँन का झँनक झँनकारतो[४]॥
'दास' गरबीली पग-ठौंन, बंक भौंह[५]-नैंन,
तैसिऐ चितौंन बिहसँन[६] मोहि मारतौ।
बाँकी मृगनैंनी की अचूक गति लँन[७] मृदु,
हीरा-से[८] हिए कौं टूक-टूक करि डारतो॥

अथ दुतीय सँमुच्चै उदाहरन जथा—

धँन, जोबँन, बल, अग्यता, मोह-मूल इक एक।
'दास' मिलें चारयौं तहाँ,[९] पैऐ कहाँ[१०] बिबेक॥

*

नाँतौ नींचौ गर परयौ, कुसँग[११]-निवास, कु-भौंन।
बंध्या-तिय के[१२] कटु बचँन, दुखद घाइ कौ लौंन॥

पा०—१. (का०) (वें०) (सं० पु० प्र०) की...। २. (का०) धुँधकारती। ३. (वें०) बने...। ४ (वें०) झनँक मान-झारती। (सं० पु० प्र०)...मन-झारती। ५. (का०) अुव-नैंनि...। (सं० पु० प्र०) भुव-नौंनि...। (वें०) दास गरबीली पगु मंक बंक अुवनौंनि...। ६. (का०) (वें०) (प्र०) सहसँन...। ७. (प्र०) लींन...। ८. (वें०) सौं ..। ९. (सं० पु० प्र०) जहाँ...। १०. (सं० पु० प्र०) कहा...। ११. (सं० पु० प्र०) कुस गुनि बास...। १२. (वें०) कौ...।

पूत सपूत, सुलच्छनीं,[१] तँन अरोग, धँन-धंध ।
स्वाँमि-कृपा, संगति सुमति, सोंनों और सुगंध ॥

अस्य तिलक

इहाँ सँमुच्चै के तीसरे उदाहरन में "सोंनों और सुगंध" ते 'दृष्टांतालंकार' अपरांग है । अरु सब पदँन में बहु भावँन कौ गुंफँन है ।

वि०—"सेठ कन्हैयालाल पोद्दार ने अपनी 'अलंकार-मंजरी' में द्वितीय समुच्चय के प्रथम उदाहरण—"धँन, जोबँन, बल, अग्यता०..." को प्रथम समुच्चय के द्वितीय भेद असद्योग (असत् साधकों का योग होना) के उदाहरण में मान कर लिखा है—'धन-यौवनादि चारों में एक-ही उचितानुचित का विचार न रहने के लिये पर्याप्त है, पर यहाँ - 'धन-यौवनादि' चारों असतों का समुच्चय (इकट्ठा होना) कहा गया है ।" हमारी अल्प बुद्धि से भी ये तीनों उदाहरण प्रथम समुच्चय के तीन भेद-स्वरूप—सत्, असत् और असदसत् (तृतीय छंद—सद्योग का, प्रथम छंद—असद्योग का और द्वितीय छंद सद्सद्योग का) के उदाहरण हैं, जिससे समुच्चय के दोही भेद, जैसे कि भाषा-भूषण-आदि में वर्णन किये गये हैं बन जाते हैं, पर 'काव्य-निर्णय' की हस्त-लिखित विशेष - प्रतियों में उक्त संपूर्ण उदाहरणों को तीन भागों में विभक्त कर शीर्षकों में प्रथम, द्वितीय और तृतीय "समुच्चय उदाहरण जथा—" लिखा है, जो उचित नहीं है । साथ-ही इन तीनों छंदों का क्रम भी ठीक नहीं है । इनका क्रम प्रथम—"पूत-सपूत०...", द्वितीय-'धँन-जोबँन०...' और तृतीय-"नाँतौ नींचौ०..." इस प्रकार होना चाहिये ।

दासजी-कृत प्रथम छंद—"धँन-जोबँनादि०" संस्कृत के इस नीति-वाक्य का सुंदर अनुवाद है, यथा—

"यौवनं धनसंपत्ति, प्रभुत्वमविवेकिता ।
एकैकमप्यनर्थाय किमु यत्र चतुष्टयं ॥"

किसी अज्ञात कवि की निम्नलिखित रचना भी ऊपर लिखे नीति-वाक्य रूप सूक्ति का उदाहरण है—अनुवाद है, यथा—

"जोबँन,धँन,अबिवेकता, प्रभुता में कोउ एक ।
करैं अनर्थ, यहाँ सबै, रह्यो न कछू बिबेक ॥"

अथ तृतीय सँमुच्चै-उदाहरन जथा—

संसै सकल चलाइकैं, चली मिलँन-पिय बाँम ।
अहँन-बदँन करि आपनों, सौत-बदँन करि स्याँम ॥

पा०—१ (का०) (वें०) (सं० पु० प्र०) सुलच्छनों...।

वि०—"दासजी कृत तृतीय समुच्चय (द्वै अँनमिल इक भाइ) स्वरूप यह छंद द्वितीय समुच्चय भेद-रूप "गुण-समुच्चय" का है, जो अरुणता और श्यामतादि दो गुणों के—अनमिल योग का वर्णन है।

क्रिया-समुच्चय (द्वितीय समुच्चय का भेद विशेष) का उदाहरण स्व० बा० जगन्नाथदास 'रत्नाकर' रचित 'उद्धवशतक' का यह छंद भी सुंदर है, यथा—

"दीन-दसा देखि ब्रज-बालँनि की ऊधव कौ—
गरिगौ गुमाँन - ग्याँन - गौरव गुठाँने-से।
कहै 'रतनाकर' न आए मुख बैंन - नैंन,—
नीर-भरि ल्याए भए सकुचि सिहाँने-से॥
सुखे-से, स्रँमे-से सकबक-से, सकेसे, थके,
भूले-से, भ्रँम-से, भभरे-से, भकुवाँने-से।
हौले-से, हले-से, हूले-हूले-से, हिए में हाइ,
हारे-से, हरे-से, रहे हेरत हिराँने-से॥"

अथ अन्योन्य-अलंकार लच्छन जथा—

होत परसपर जुगल सौं, सो 'अन्योन्य' सुछंद।
"लसत चंद-सों जाँमिनी, जाँमिनि-हूँ[1] सों[2] चंद॥"

वि०—"जहाँ युगल (दो) पदार्थों का परस्पर समान संबंध कथन हो—एक-ही क्रिया के द्वारा दो वस्तुओं की परस्पर कारणता का वर्णन हो वहाँ 'अन्योन्य' अलंकार कहा जाता है, जैसे—

"लसत चंद सों जाँमिनीं, जाँमिनि हूँ सों चंद।"

अन्योन्य का वर्णन सर्व प्रथम रुद्रट ने तदनंतर मम्मट ने और इनके पश्चात् रुय्यक ने किया है। अतएव अलंकार-वर्गीकरण में प्रथम रुद्रट ने इसे 'वास्तव-वर्ग' में, तत्पश्चात् रुय्यक ने 'विरोध-मूलक वर्ग' में इसकी गणना की है। कोई इसे 'प्रकीर्ण' वर्ग में भी मानते हैं, जो उपयुक्त नहीं है।

काव्य-प्रकाश में इसका लक्षण—"एक ही क्रिया द्वारा दो पदार्थों की परस्पर—एक-दूसरे की कारणता कहने को" कहा गया है। इसी प्रकार साहित्य-दर्पण में भी—"**अन्योन्यमुभयोरेकक्रियायाः करणं मिथः**" (अन्योन्य तब, जब एक-ही क्रिया को परस्पर करे) लक्षण लिखा गया है और उदाहरण, जैसा

पा०—१. (का०) (वें०) (सं० पु० प्र०) ही...। २. (सं० पु० प्र०) ते...। (सं० पु० प्र०—द्वि०) जाँमिनी सों ज्यों...।

दासजी ने दिया है "लसत चंद सों..." रूप—"रजन्याशोभते चद्रश्चंद्रेणापि निशीथिनी" दिया है।

अन्योन्य का अर्थ—परस्पर है, अतएव यहाँ दो वस्तुओं को परस्पर एक जाति की क्रियाओं का उत्पादक कहा जाता है, क्योंकि दोनों-ही अन्योन्य रूप से एक-दूसरे में वही विशेषता उत्पन्न करते हैं, जो एक-दूसरे में हो—दोनों एक-दूसरे के प्रति वही कार्य करते हैं, जो एक-दूसरे के लिये समान रूप से हो, इत्यादि।

केड़िया (अर्जुनदास) जी के भारती-भूषण में इसके तीन भेद—"जिसमें पारस्परिक कारणता (एक-दूसरे के कारण होने) का वर्णन हो वहाँ, जिसमें परस्पर के उपकार का वर्णन हो वहाँ और जिसमें परस्पर समान व्यवहार (जैसा कोई करे वैसा-ही उसके साथ करना) करने का वर्णन हो वहाँ, कहे हैं और इनके पृथक्-पृथक् उदाहरण भी दिये गये हैं। अतः केड़िया जी द्वारा दिये गये इन भेदों पर पोद्दार कन्हैयालाल जी की संमति है कि "प्राचीनों की निर्दिष्ट—एक जाति की क्रियाओं का परस्पर में उत्पादक होना" रूप लक्षण में केड़िया जी कथित तीनों भेदों का समावेश हो जाता है, इसलिये उपकारात्मक तथा व्यवहारात्मक क्रियाओं का होना उदाहरणांतर मात्र है, पृथक्-पृथक् भेद नहीं, अतः ये (भेद) अनुपयुक्त हैं।"

अन्योन्य के औरु उदाहरन जथा—

मोल-तोल कै[1] ठीक बँनि, इँन[2] किय साँझ सकाँम।
वौ[3] निसि बढ़वत लेति गथ, कहि-कहि लालै-स्याँम॥

•

हरि की औ हरि-दास का, 'दास' परसपर रीति।
देत ए उन्हें, वे इन्हें,[4] कँनक-बिभूति सप्रीति॥

•

ज्यों-ज्यों तँन-धारा किएँ, जल-प्यावति रिझिवारि।
पियें जात त्यों-त्यों पथिक, बिरली[5]-ओख-सँभारि॥

•

वातें स्याँमा-स्याँम की न वैसी अब आली, स्याँम—
स्याँमा-तकि भाजें, स्याँमा स्याँम सों जकी रहै।

पा०—१. (रा० पु० प्र०) करि...। २. (प्र०) यह किय साहस काम। ३. (वें०) कहँ। ४. (का०) (वें०) उन्हें...। ५. (का०) (प्र०) बिरली बैन सँवारि। (वें०) बिरलो बोल सँवारि।

अब तौ लख्यौ-ई करैं स्याँमा कौ बदँन स्याँम,
स्याँम के बदँन लागी स्याँमा की टकी रहै ॥
'दास' अब स्याँमा के सुभाइ मद छाके स्याँम,
स्याँमा स्याँम-सोभा[१] के आसव-छकी रहै।
स्याँमा के बिलोचँन के हैं-री स्याँम-तारे,
औ स्याँमा स्याँम-लोचँन की लोहित लकीर है ॥*

वि०—"दासजी की इस अन्योन्यरूप अनुपम कृति पर किसी अज्ञात कवि का यह सुमधुर छंद भी अति प्रशंसनीय है--

"हों मुरली मुरलीधर की लई, मेरी लई मुरलीधर माला।
हों मुरली मुरलीधर की धरी, मेरी धरी मुरलीधर माला ॥
हों मुरली मुरलीधर की दई, मेरी दई मुरलीधर माला।
हों मुरली मुरलीधर की भई, मेरी भए मुरलीधर माला ॥"

और "ज्यों-ज्यों तँन-धारा किऐं०", रूप दासजी कथित छंद के मनोहर भाव पर सेठ कन्हैयालाल पोद्दार प्रयुक्त किसी संस्कृत-कवि की सूक्ति का अनुवाद-रूप यह छंद भी सुंदर है, यथा—

"छीदी-आँगुरिँन पथिक ज्यों, पीवन लाग्यौ बारि।
प्रपा-पालिका-हू करी, त्यों-त्यों पतरी धारि ॥"

यहाँ 'प्रपापालिका' और "छीदी-अँगुरिन" का अर्थ है—'प्याऊ-पिलाने वाली' (स्त्री), तथा छिद्र—छेद-संयुक्त=प्रथक्-प्रथक् अँगुलियों द्वारा बनी ओक, अस्त-व्यस्त उँगलियों से बँधी ओक। इसी प्रकार दासजी के उक्त छंद में "तँन-धारा" का अर्थ है पतली-धार तथा "बिरली-ओख" का अर्थ है, वही अस्त-व्यस्त उँगलियों से बँधी ओख, जिसमें पानी न ठहरे, बराबर जमीन पर गिरता चला जाय।

अन्योन्यालंकार का उदाहरण मुरलीधर कवि रचित निम्नलिखित छंद भी बहुत सुंदर है, यथा—

"पाँनी लै पाँनि तू उसारति है बार-बार,
सुधा-लै प्रनाँम तोहि करत सिंधु-नंदनीं।
तू पूंजत आखत लै, वौ पूंजत नखत लै,
तू गहैं अलक, वौ गहैं तँम-छंदनीं ॥

पा०—१. (का०) (वें०) (प्र०) सोभन। (स० पु० प्र०) सोभ नीके...।
* का० का० (रा० च० सिं०) पृ० ७८।

'मुरलीधर सुकवि' सेत चीर तँन धारयौ तें में,
बाहू के गरे में चाँदनो कौ परयौ फंदनाँ ।
चंद - बंदनाँ कों तू ठाढ़ी भई - री बाल,
तेरे मुख-चंद को करत चंद बंदनाँ ॥''

और इसी अलंकार में मतिराम कहते हैं—

''सकल सिंगार-साज संग लै सहेलिन कों,
सुंदरि मिलन चली आँनद के कंद कों ।
कवि 'मतिराँम' मग करति मँनोरथँन,
पेख्यौ परजंक पै न प्यारे नँद-नंद कों ॥
नेह ते लगी है देह दाँहन दहत गेह,
बाग में बिलोकि द्रुम-बेलिनँ के बृंद कों ।
चंद कों हँसत तब आयौ मुख-चंद,
अब चंद लाग्यौ हँसन तिया के मुख-चंद कों ॥''

अथ विकल्प अलंकार लच्छन जथा—

है 'विकल्प' यह कै वहै, यै निसचै जहँ राज ।
सत्रु-सीस, कै सस्त्र निज, भूमि गिराऊँ आज ॥

वि०—''जहाँ इस प्रकार का विकल्प हो कि 'यह है, वा वह' वहाँ 'विकल्प' अलंकार कहा जाता है । विकल्प का शब्दार्थ है—''अनेन वान्येनवेति विकल्पः'' (कौटिल्य-अर्थशास्त्र) यह, या वह । यही नहीं, विकल्प का अर्थ विरोधी या विविध कल्पना भी किया जाता है, अर्थात् दो वस्तुओं में एक-ही वस्तु चाहे 'यह या वह' को मान्यता दी जाती है । तुल्य-बल वाली विविध एकत्रित-स्थितियों में विरोध होने के कारण सादृश्य-गर्भित विकल्प कहा जाता है और इसके वाचक शब्द हैं—''अथवा, आदि, कि, कै, किधों, कैधों वा ।''

संस्कृत-अलंकार ग्रंथों में सबसे प्रथम रुय्यक आचार्य ने अपने अलंकार-'सर्वस्व' तथा 'सूत्र' में इस (विकल्प) का उल्लेख करते हुए इसे 'काव्य-न्याय (बाह्यन्याय) मूलक वर्ग में (इसकी) गणना की है । कोई-कोई इसी 'काव्य-न्याय' का 'वाक्य-न्याय' भी नाम करण करते हैं । अलंकार-सर्वस्व और सूत्र के बाद चंद्रालोक में इसका नामोल्लेख—''विकल्पस्तुल्यबलयोर्विरोधश्चातुरी युतः'' (दो विरुद्ध क्रिया-भाव प्रकट करने वाले किसी एक क्रिया के वाचक शब्द के द्वारा चतुरतापूर्वक 'यह, या वह' कहने पर विकल्प) उक्त लक्षण बतलाते हुए किया गया है । साहित्य-दर्पण के कर्त्ता (रचयिता) विश्वनाथ चक्रवर्ती ने भी चंद्रा-

लोक के पूर्ण लक्षण को उसी रूप-रंग में अपनाया है और उदाहरण दिया है—**नमयंतु शिरांसि धनूंषि वा०...** "अर्थात्, **"सत्रु सीस कै सस्त्र निज, भूमि-गिराऊँ आज"** जैसा दासजी ने कहा है।

विकल्प में चार बातें—१, दो सदृश बल की वस्तुएँ, २, दोनों एक-ही के द्वारा साथ-साथ न हो सकें, ३, ऐसा होने से दो में इच्छानुसार एक कर सके और ४, दोनों में कल्पित सादृश्य हो, आवश्यक मानी जाती हैं। विकल्प, केवल विकल्प होने पर अलंकार नहीं बनता, जैसे इस अलंकार-आशय के अनुसार "भारती-भूषण" प्रयुक्त निम्न उदाहरण में—

> **"एती सुबास कहाँ अँनतै, बहकी इन भाँतिन को बरछै है।**
> **आवत है वह रोज सँमीर लिऐं-री सुगधँन कौ जु दलै है॥**
> **देखि अली, इन भाँतिन की अलि-भौरँन ओर सु काँनन ह्वै है।**
> **कै उत फूलँन कौ बँन होइगौ, कै उँन कुंजन राधिका ह्वै है॥"**

'यहाँ केवल विकल्प है, विकल्प अलंकार नहीं। अलंकार रूप में विकल्प वहीं होगा, जहाँ परस्पर विरोधी दो वस्तुओं की एकत्रित स्थिति असंभव होने पर विरोध हो। इस उदाहरण में वायु के सुगंधित करने और मृगावली के होने में श्री राधिका जी का और फूलों के बाग का (वहाँ) होना समान बल मात्र है। इनकी एकत्र स्थिति, असंभव न होने के कारण विरोध सूचित नहीं करती, अपितु दोनों के एकत्र होने पर भी वायु का सुगंधित तथा मृगावली का वहाँ होना संभव है।" यह सेठ कन्हैयालाल जी का अभिमत है, क्योंकि विकल्प के अलंकार रूप में यह निश्चय रहता है कि दो में से कोई एक अवश्य है। संदेह अलंकार में अनिश्चय होता है, यहाँ निश्चय, और यही इन दोनों की विलगता है। विकल्प को समुच्चय अलंकार के विपरीत भी कहा जाता है, क्योंकि विकल्प में समान बल वालों की एक-ही काल में एकत्र स्थिति का होना असंभव कहा जाता है और समुच्चय में समान बल वालों की एक काल में एकत्रित स्थिति का वर्णन किया जाता है।"

विकल्प उदाहरन जथा—

जाइ उसासँन के संग छूटि, कै[1] चंचला के चइ लूटि लै जाँहीं।
चातक पातक[2] पच्छिँन देंहि, कै[3] लेंहि घँने घँन जे घँहराँहीं॥

पा०—१. (का०) (वें०) (प्र०) कि...। २. (प्र०) पातक लों हि मनों कि घनाघन जौन घने...। ३. (का०) (वें०) कि...।

"दास जू' कौन कुतर्क कियौ करै, जीव है एक-ही दूसरौ नाँहीं।
पौंन लै अंतक भौंन सिधारै[1], कै मारै मँनोभव लै सिर-माँहीं ॥

वि०—"विकल्प का उदाहरण सेठ कन्हैयालालजी प्रयुक्त अलंकार-मंजरी में, बीकानेर के अद्वतीय साहित्यिक महाराज पृथ्वीराजसिंह की उक्ति जो प्रातः स्मरणीय महाराणा प्रतापसिंह के प्रति कही-लिखी गयी थी, उद्धृत की गयी है, यथा—

"पटकूँ मूंछाँ-पाण कै पटकूँ निज-तँन-करद।
दीजै लिख दीवाण, इँण दो-महली बात इक ॥"

अर्थात् मैं "मूंछों पर हाथ पटकूं ताव दूं, या अपने शरीर पर तलवार पटकूं (मारूं), कृपया इन दोनों में एक बात लिख भेजिये।"

अथ सहोक्ति, बिनोक्ति औ प्रधिषेध अलंकार लच्छन जथा—

कछु-कछु संग 'सहोक्ति" कछु बिन सुभ-असुभ 'बिनोक्ति'।
यै नहिँ, यै परतच्छ-ही, कहिऐ 'प्रतिषेधोक्ति' ॥

वि०—"दासजी ने इस छंद में तीन—"सहोक्ति, विनोक्ति और 'प्रतिषेधोक्ति (प्रतिषेध) के लक्षण, क्रमशः—"जहाँ कुछ-कुछ संग कहा जाय, बिना सुभासुभ के कुछ कहा जाय तथा ये नहीं, ये प्रत्यक्ष रूप से कहा जाय," कहे हैं, अर्थात् जहाँ एक साथ-ही दो वाक्यों का सह-आदि के बल पर आनंद को बढ़ाते हुए मनोरंजकता के साथ वर्णन किया जाय", जहाँ कोई प्रस्तुत को किसी वस्तु के बिना शुभ और अशुभ रूप में कहा जाय" तथा—जहाँ किसी प्रसिद्ध अर्थ का—निषेध का, किसी विशेष अभिप्राय से निषेध किया जाय, वहाँ क्रमशः 'सहोक्ति', 'विनोक्ति' और 'प्रतिषेध' वा प्रतिषेधोक्ति कहे जाते हैं।

सहोक्ति, सह—साथवाले भाव की उक्ति होती है, यह अलंकाराचार्यों का मत है, क्योंकि यहाँ सह-संगादि शब्दों के सामर्थ्य से एक अर्थ के अन्वय का बोधक शब्द दूसरे अर्थों के अन्वय का बोधक भी होता है। अर्थात् एक अर्थ का प्रधानता से तथा दूसरे अर्थ का अप्रधानता से एक-ही क्रिया में अन्वय कराता है और जहाँ दोनों-दोनों अर्थ प्रधान होते हैं, वहाँ 'दीपक' वा 'तुल्ययोगिता' अलंकार माने जाते हैं, क्योंकि इन दोनों (दीपक-तुल्ययोगिता) में भी उपमेयोपमानों का पृथक्-पृथक् वा एक साथ प्रधानता से एक क्रिया के साथ अन्वय होता है। यह अन्वय सहोक्ति की भाँति वहाँ प्रधान और अप्रधान भाव से नहीं होता, जोकि सहोक्ति में सह-आदि शब्दों के चमत्कारपूर्ण अर्थ में होना चाहिये,

पा०—१. (वें०) (स० पु० प्र०) सिधारौ कै मारौ...।

किंतु साधारण वर्णन में 'सह-आदि शब्दों के रहने पर भी यह (सहोक्ति) अलंकार वहाँ नहीं बनता। सहोक्ति, अतिशयोक्ति का मिश्रण चाहती है, इसका विशद विवेचन करते हुए बा० ब्रजरत्न दास (अलंकार-रत्न) जी कहते हैं कि "राम, लक्ष्मण और सीता के साथ बन गये, इस कथन में सहोक्ति का वाचक 'साथ' शब्द के रहते हुए भी यहाँ सहोक्ति नहीं है, क्योंकि राम शब्द यहाँ कर्त्ता-कारक में है तथा प्रधान है, और लक्ष्मण तथा सीता शब्द अपादान-कारक में होने से अप्रधान हैं--गौण हैं। साथ-ही इस कथन में कोई उक्ति वैचित्र्य भी कवि-कल्पना द्वारा नयी नहीं की गई है। यहाँ 'साथ' शब्द केवल व्यक्ति-वाचक शब्दों का ही संबंध बतला रहा है, घटनाओं का नहीं, अतएव सहोक्ति भी नहीं। इसलिये सहोक्ति में अतिशयोक्ति का होना अत्यंत आवश्यक है। अतिशयोक्ति "अभेदाध्यवसाय-मूलक" वा कार्य-कारण के पौर्वापर्य से होती है, इसलिये सहोक्ति भी श्लेषाश्लेष युक्त दो रूपों में कही जाती है। यही बात साहित्य-दर्पण के कर्त्ता विश्वनाथ चक्रवर्ती भी कहते हैं, यथा—

"सहार्थस्य बलादेकं यत्र स्याद्वाचक द्वयोः।
सा सहोक्तिर्मूलभूतातिशयोक्तिर्यदा भवेत्॥"

अर्थात्, "सह शब्दार्थ के बल से जहाँ एक शब्द दो अर्थों का वाचक हो वहाँ सहोक्ति और इसके मूल में अतिशयोक्ति अवश्य रहनी चाहिये...... इत्यादि।"

तुल्ययोगिता से सहोक्ति की पृथक्ता दिखलाते हुए श्रीवामनाचार्य अपने काव्यालंकार सूत्र में कहते हैं—"वस्तुद्वयक्रिययोस्तुल्यकालयोरेकपदाभिधानंसहोक्तिः" अर्थात्, दो वस्तुओं की तुल्यकालीन (दो) क्रियाओं का एक (ही) पद से (एक साथ) कथन 'सहोक्ति' कही जाती है, "क्योंकि" दो वस्तुओं की तुल्यकालीन दो क्रियाओं का एक ही पद से कथन सहार्थक शब्द की सामर्थ्य से करना सहोक्ति है (काव्यालंकारसूत्र-वृत्ती—हिंदी-अनुवाद)।

विनोक्ति भी जब प्रस्तुत वस्तु किसी अन्य वस्तु के बिना अशोभन या नहीं अशोभन वर्णित की जाय, तब वहाँ होती है, क्योंकि इसका शब्दार्थ है—"किसी के बिना"। मूलतः इसमें भी कवि-कथन द्वारा उक्ति वैचित्र्य होना चाहिये। परिभाषा में—'शोभन है' न कहकर, 'अशोभन' नहीं' कहा गया है जो सकारण है। इस पर साहित्य-दर्पणकार कहते हैं कि "अशोभन" का तात्पर्य यद्यपि वही शोभन है,—होता है, फिर भी वैसा न लिखने का कारण यह है कि वह वस्तु प्रकृत्या शोभन है, पर किसी अन्य वस्तु के सान्निध्य से अशोभन हो गयी है और उस अन्य वस्तु का सान्निध्य हटते-ही वह पुनः अपनी प्रकृत शोभा से सुशोभित

हो जायगी, क्योंकि उसकी अशोभनता स्वाभाविक नहीं, दूसरे के कारण से है—अन्य के सान्निध्य से है। अतः विनोक्ति भी सहोक्ति की भाँति दो प्रकार की बन जाती है। वैसे भी विनोक्ति सहोक्ति की विरोधी है, इसलिये इसके दो उदाहरण होने ही चाहिये थे। ब्रजभाषा के अलंकार-ग्रंथ 'भाषा-भूषण' में महाराज जसवंत-सिंह इन दोनों भेदों को सोदाहरण इस प्रकार कहते हैं, यथा—

"है 'बिनोक्ति' द्वै भाँति की, प्रस्तुत कछु बिन छींन।
औ सोभा अधिकी लहै, प्रस्तुत कछु बिन हींन॥"

*

"द्दग खंजँन-से, कंज-से, अंजँन-बिनँ सोभें न।
बाला सब गुँन सरस तू, रंच रुखाई है न॥"

अर्थात् विनोक्ति दो प्रकार की है, प्रथम वहाँ "जहाँ प्रस्तुत (उपमेय) किसी के बिना क्षीण (अशोभन) हो" तथा दूसरी वहाँ "जहाँ प्रस्तुत उपमेय किसी वस्तु से हींन (रहित) हो कर अधिकाधिक शोभा पाए" और इन उभय-विनोक्ति के क्रमशः उदाहरण जैसे—"नायिका के नेत्र खंजन और कमल से सुंदर होते हुए भी बिना अंजन के शोभा युक्त नहीं, अर्थात् वे अंजन लगाले ने के बाद अशोभन नहीं रह जाँयगे, अपितु उनकी शोभा अधिक बढ़ जायगी। इस प्रकार "वह बाला, तनिक भी रुखाई न होने के कारण—"सब गुँन सरस" है, सर्व गुण संपन्न है। यद्यपि यहाँ बाला (नायिका) स्वतः प्रकृत्या सर्व गुण-सपन्न है,—सौंदर्य-युक्त है और उसमें रुक्षता (कठोरता) भी होती तो वह अशोभवन हो जाती, अतः रुक्षता का अभाव बतलाकर कवि ने यहाँ उसकी अशोभानता दूर कर दी—उसकी शोभा को इस अभाव के वर्णन से और बढ़ा दिया। यहाँ 'बिना' शब्द जो विनोक्ति का वाचक है, उसके कथन किये बिना भी उस (बिना) के अर्थ को "है न" शब्द से व्यक्त कर वही भाव भर दिया गया है। विनोक्ति के कभी-कभी ऐसे उदाहरण भी अधिक चमत्कार पूर्ण मिल जाते हैं, जिनमें दोनों वस्तु एक-दूसरे के अभाव में शोभा-हीन कही जाती हैं, दोनों की व्यर्थता कही जाती है, यथा—

"निरर्थकं जन्म गतं नलिन्या यया न दृष्टं तुहिनांशुबिंबम्।
उत्पत्तिरिंदोरपि निष्फलैव दृष्टा विनिद्रा नलिनी न येन॥"

—साहित्य-दर्पण

कमलिनी का जन्म व्यर्थ-ही गया, जिसने शीतल किरणों वाले चंद्र-बिंब को न देखा और चंद्र की उत्पत्ति भी निष्फल-ही हुई जिसने प्रफुल्लित कमलिनी के दर्शन न किये।" ऐसे स्थलों पर विनोक्ति-मानना पंडितराज जगन्नाथ जी का भी

अभिमत है, आप भी ऐसे वर्णनों में विनोक्ति मानते हैं। यदि "निरर्थकं जन्म गतं०..." वाली विनोक्ति को और भी स्फुट रूप में कहा जा सकता है तो, यों जैसे--"सुंदर नेत्र, बिना अंजन के और अंजन बिना सुंदर नेत्र के शोभा नहीं पाते"...इत्यादि।

और प्रतिषेध, जहाँ किसी प्रसिद्ध अर्थ (निषेध) का—किसी विशेष अभिप्राय से फिर निषेध किया जाय, अथवा जहाँ किसी पदार्थ का प्रसिद्ध निषेध होते हुए भी अभिप्रायांतर से गर्भित पुनः निपेध किया जाय, कहा गया है, क्योंकि प्रतिषेध का अर्थ है—'निषेध'। अस्तु, इसमें जिस बात का निषेध प्रसिद्ध हो उसका—जैसा पूर्व में लिख चुके हैं, फिर निषेध किया जाता है। यहाँ सेठ कन्हैयालाल पोद्दार (अलंकार-मंजरी में) कहते हैं—"प्रसिद्ध निषेध का पुनः निषेध निरर्थक होने के कारण अर्थांतर-गर्भित निषेध में कुछ अधिक चमत्कार होने के कारण-ही यह अलंकार पृथक् माना गया है।"

प्रतिषेध के—"मोंहँन-कर मुरली नहीं, है कछु बड़ी वलाइ" जैसे भाष-भूषण के उदाहरण में अलंकाराचार्य 'प्रतिषेध' नहीं मानते, वहाँ वे कहते हैं कि "पूर्व कथित-लक्षणानुसार प्रतिषेध में किसी निषेध का पुनः निषेध किसी विशेष निषेध के प्रतिपादन के विचार से ही किया जाता है, वह यहाँ नहीं है। यहाँ मुरली का निषेध कर उसमें 'वलाय' का आरोप किया गया है, जिससे यहाँ प्रतिषेध न बन कर 'अपन्हुति' ही कही जायगी।

सहोक्ति को प्रथम भट्टि, भामह, दंडी, उद्भट और वामनादि अलंकाराचार्यों ने, 'विनोक्ति' को मम्मट और रुय्यक आचार्यों ने तथा प्रतिषेध को चंद्रालोककार ने सर्व प्रथम माना है। सेठ कन्हैयालाल पोद्दार अपनी अलकार-मंजरी की भूमिका में, इस प्रतिषेध के जनक अप्पय्य दीक्षित को जो चंद्रालोक रचयिता के समय से बाद के हैं, मानते हैं। साथ-ही टिप्पणी में नोट देते हैं कि यह अलंकार 'यशस्क कृत अलंकारोदाहरण' में भी है। पोद्दार जी का यह उल्लेख उपयुक्त नहीं है, क्योंकि चंद्रालोक में प्रतिषेध का उदाहरण यों दिया गया है—

"प्रतिषेधः प्रसिद्धानां कारणानामनादरः।"

—तृ० म० ९ वाँ श्लोक

जिससे ज्ञात होता है कि उक्त अलंकार के जनक अपय्य दीक्षित जी नहीं, चंद्रालोक-कर्त्ता पीयूषवर्षी जयदेव हैं।

सहोक्ति को रुद्रट ने "औपम्य वर्ग" में, रुय्यक और उनके शिष्य मंखक ने सहोक्ति के साथ विनोक्ति को भी "गम्यमान औपम्य" वर्ग में, जो रुद्रट के औपम्य-वर्ग नाम का ही विशद रूप है, माना है। तत्पश्चात् ये सहोक्ति-विनोक्ति

साम्य-मूलक अलंकारों के भेदाभेद-प्रधान वर्गीकरण के अंतर्गत 'भेद-प्रधान वर्ग में मानी गयीं हैं। कोई-कोई इन्हें सादृश्य-गम्यमान (जिसमें सादृश्य छिपा हुआ हो) वर्ग में भी मानते हैं, पर यह वर्ग 'भेद-प्रधान वर्ग में समा जाता है। प्रतिषेध भी गूढार्थ-प्रतीति मूलक वर्ग में विभाजित किया हुआ मिलता है।"

अथ प्रथम "सहोक्ति" उदाहरन जथा—

जोग-बियोग खरौ हँम पै, वौ[1] कूर-अकूर के साथ-हीं आए।
भूंख औ प्यास सों भोग-बिलास लै 'दास' वे आपने संग सिधाए ॥
चीठी के संग बसीठी लै आइकें, ऊधौ हँमें वे[2] आज बताए।
कॉन्ह के संग[3] सयाँन सखा,[4] तुँम कूबरी[5]-कूबर बीचि बिकाए ॥

*

फूलँन के सँग फूलि हैं रोंम, परागँन के सँग लाज-उड़ाइ है।
पल्लब-पुंज के संग अली, हियरा[6] अँनुराग के रंग रँगाइ है ॥
आयौ बसंत,[7] न कंत हितू, अब बीर-बदोंगी जो धीर-धराइ है।
साथ तरूँन के पातँन के, तरुनींन के प्राँन[8] निपात ह्वै जाइ है ॥*

वि० —"ये दोनों उदाहरण शुद्ध सहोक्ति के हैं, श्लेष-मिश्रित द्वितीय भेद के नहीं।"

अथ बिनोक्ति उदाहरन जथा—

सूधे सुधा-सँने बोल सुहावने, सूधें[9] निहारिबौ नेंन-सुधों हैं।
सूधे[10] सरोज-बँधे-से उरोज हैं, सूधे सुधा-निधि-सौ मुख जों हैं ॥
'दास जू' सूधे सुभाइ-सों लींन, सुधाई-भरे[11] सिगरे अँग सो हैं।
भाँवती चित्त अँमावती मेरी, कहाँ ते भई' ए[12] सुधाई की भों हैं ॥

*

देस-बिँन भूपत, दिनेस-बिँन पंकज, फँनेस-
बिँन-मँनि, औ निसेस[13]-बिँन जाँमिनी।

पा०—१. (का०) (वें०) (प्र०) वहि...। २ (का०) (प्र०) वह...। (वें०) वहै...। (सं० पु० प्र०) ऊधौ, वौही हमें...। ३. (वे०) साथ...। ४. (प्र०)...तुम्हें निज कूबरी-कूबर...। ५. (वें०) कूबर...। ६. (का०) (वें०) (प्र०) (अ० म०) हियरौ। ७. (वें०) ..बसंत री कंत...। ८. (वें०) (प्र०) (सं० पु० प्र०) (अं० मं०) कोप निपात...। ९. (का०) (वें०) (प्र०) सूधौ ..। १०. (का०) (वें०) (प्र०) सुद्ध...। ११. (सं० पु० प्र०) भरौ सिगरौ...। १२. (का०) (वें०) भई-भई भोंहैं। १३. (प्र० रि० ह०) बिन ससि...।

* अं० मं० (क० पो०) पृ० १६३।

दीप बिँन-नेह[1] (औ) सुगेह बिँन-संपत,
(औ) देह-बिँन देही, घँन-मेह-बिँन दाँमिनी ॥
कबिता सुछंद-बिँन, मींन[2] जल-बृंद-बिँन,
मालतो मलिंद-बिँन, होति छबि-छाँमिनी ।
'दास, भगवंत-बिँन, संत अति ब्याकुल,
बसंत-बिँन लतिका[3], सुकंत-बिँन काँमिनी ॥*

*

नेगी बिँन-लोभ कौ, पटैत बिँन-छोभ[4] कौ,
तपसी बिँन-सोभ[5] कौ, सत यों[6] ठैहराईएं ।
गेह बिँन-पंक कौ, सँनेह[7] बिँन-संक कौ,
सदाँ बिँन-कलंक कौ सुबंस सुख-दाईऐ ॥
बिद्या बिँन-दंभ सूत, आलस-बिहीन दूत,
बिनाँ - कुबिसँन[8] पूत मँन[9] - मधि ल्याईऐ ।
लोभ[10]-बिँन जप-जोग, 'दास' देहूँ-बिँन-रोग,
सोग-बिँन भोग बड़े भागँन ते पाईऐ ॥

वि०—"विनोक्ति के दो सुंदर उदाहरण "राजा टोडर मल" नवरत्न-सभा अकबर बादशाह और अमान कवि-कृत भी सुंदर हैं, यथा-'टोडरमल'—

गुँन-बिँन धँनु जैसें, गुरु-बिँन ग्याँन जैसें,
माँन - बिँन दाँन जैसें, जल-बिँन सर है ।
कंठ-बिँन गीत जैसें, हेत-बिँन प्रीत जैसें,
बेस्या रस रस-रीति जैसें, फूल-बिँन तर है ॥
तार-बिँन जंत्र जैसें, स्याँने बिँन-मंत्र जैसें,
नर-बिँन नारि जैसें, पूत-बिँन घर है ॥

पा०—१. (का०) गेह औ सनेह बिँन संपत, अदेह बिन...। (वें०) (प्र०) (र० कु०) ..नेह औ सुगेह बिन संपनि अदेह बिन देह...। (प्र०).. सुदेह-बिन देही घन...। २. (प० अ० ह०) मालती मलिंद बिँन, सर अरबिंद-बिँन होत...। ३. (र०-कु०) कोकिल...। ४. (स० पु० प्र०) छोह कौ...। ५. (स० पु० प्र०) सोह...। (वें०) सोभा कौ...। ६. (का०) (वें०) (प्र०) सतायौ...। ७. (का०) सनेही...। ८. (का०) (वें०) (प्र०) कुव्यसन...। ९. (का०) मध्य मनल्या...। (वें०) (प्र०) (सं० पु० प्र०) मनि मधि—मन—मध्य . । १०. (वें०) लोग...।

*, प० रि० ह० (परमानंद सुहाने) पृ० २८, १ । र० कु० (म० अयो०) पृ० ११: ६ ।—रस-निरूपण ।

'टोडर' सुकबि तैसें मँन मैं बिचारि देखौ,
धर्म - बिँन धँन जैसें, पंछी बिँन-पर है ॥

*

सुंदर सरीर होइ, महा रँनधीर होइ,
बीर होइ भींम-सौ भिरैया आठों जाँम कौ।
गरुऔ गुमाँन होइ, भलौ साबधाँन होइ,
साँन होइ साहिबी प्रताप - पुंज-धाँम कौ ॥
भनँत 'अमाँन' जौ पै मघवा महीप होइ,
दीप होइ बंस कौ जनैया गुँन-ग्राँम कौ।
सर्ब गुँन-ग्याता होइ, जद्यपि बिधाता होइ,
दाता जौ न होइ तौ हमारे कौंन काँम कौ ॥

अथ प्रतिषेध उदाहरन जथा—

गैयँन-चरैबौ है[1] न, गिरि कौ उठैबौ है[2] न,
पावक-अँचैबौ हैं न, पाहँन कौ तारिबौ।
धनुँष-चढ़ैबौ है[3] न, बसँन बढ़ैबौ है[4] न,
नाग - नाँथ[5] लैबौ है न, गनिका उधारिबौ ॥
मधुसुर-मारिबौ नाँ, बकासुर-बिदारिबौ नाँ,
बारँन - उधारिबौ[6] नाँ मँन में बिचारिबौ।
ह्याँ पै[7] तौ न जइ है पेस, सुनौं राँम-भुबनेस,
सब ते कठिन बेस, मेरे[8] क्लेस-टारिबौ ॥

"प्रतिषेध का निम्न-लिखित उदाहरण भी सुंदर है, यथा—

"ऐसी करौ करतून बलाइ ल्यों, नींको बड़ाई लहौ जग तातें।
आई नई तरुनाई तिहारी-है, ऐसे छके चितबौ दिँन-रातें ॥
लीजिए दाँन हो, दीजिए जाँन, तिहारी सबै हँम जाँनती घातें।
जाँनों हँमें जिनँ वे बँनिता, जिनँ सों तुँम ऐसी करौ बलि बातें ॥"

पा०—१.-२. (का०) (वें०) (प्र०) नहीं...। ३, ४. (का०) (वें०) (प्र०) नहीं...। ५. (का०) (प्र०) नथि...। ६. (रा० पु० का०) उद्धारिबौ...। ७. (का०) ह्यां ते...। (वें०) ह्यां ते है न जैबो पेस...। ८. (का०) (वें०) (प्र०) (सं० पु० प्र०) मेरौ...।

"माजू महारांनी कों बुलाबौ महाराज हूँ कों,
लीजै मत केकई - सुँमित्रा के जिब कौ।
रात कों सपत रिषि हू के बीच बिलसत,
सुनों उपदेस ता अरुंधती के पिय कौ॥
'सेंनापति' बिस्व में बखाँने बिस्वामित्र नाँम,
गुरु - बोलि बूझिऐ प्रबोध करें हिय कौ।
खोलिऐ निसंक यै धँनुष न संकर कौ,
कुँवर मयंक - मुख कंकँन है सिय कौ॥

*

"पद - पखरिबौ चँहयों जबै बैदरभ - कुँमारी।
तबै सकुचि द्विज कह्यौ, नाँथ हँम दींन-भिखारी॥
अस आदर मम करौ नाँथ, सो कहा मरँम-गुनि।
हँम न होंइ सुकदेव-ब्यास,नहिं गरग, कपिल मुनि॥
नहिं भृगु, नहिं नारद हुतें, दुरबास-हूँ मत जाँनिऐं।
हँम दींन सुदाँमाँ रंक हैं, अजों नाँथ पैहचाँनिऐं॥"

अथ विधि-अलंकार लच्छन जथा—

अलंकार 'बिधि' सिद्धि कों, फेरि कीजिऐ सिद्ध।
"भूपति है, भूपति वही, जाकें नीति समृद्ध॥"

वि०—"जहाँ सिद्ध (विधि) को फिर सिद्ध किया जाय, किसी सिद्धार्थ को किसी विशेष अभिप्राय से पुनः सिद्ध किया जाय, वहाँ 'विधि अलंकार' होगा, यह दास जी का अभिमत है।

विधि का अर्थ—'विधान' माना जाता है, अतएव जहाँ जिस वस्तु का विधान सिद्ध है, उसका फिर से अर्थांतर-गर्भित विधान किया जाता है। यह प्रतिषेध का प्रतिद्वंदी अलंकार है।

इस अलंकार का उल्लेख अप्पय दीक्षित ने कुवलयानंद (संस्कृत) में किया है, अस्तु वहाँ इसका कोई वर्गीकरण नहीं है। फिर भी इस विधि अलंकार को प्रतिषेध का साथी (भले ही प्रतिद्वंदी है) होने के कारण इसे 'गूढार्थ-प्रतीत मूल' वर्ग में बिठाया जा सकता है।"

विधि-उदाहरन जथा—

धरें काच-सिर औ करै, नग कौ पगँन बसेर।
काच, काच है[1], नग नगै, मोल-तोल की बेर॥

*

रे मँन, कौंन्ह में लींन जु[2] होइ तौ, तो-हू कों में मँन में गुंनि[3] राखों।
जीब जौ हाथ करै ब्रजनाथ तौ, तोहि में जीबँन हों[4] अभिलाखों॥
अंग गुपाल के रंग-रँगै[5] तौ, हों अंग-लहे कौ महा-फल चाखों।
'दासजू' धाँम है स्याँम कों राखै[6] तौ, तारिका तोहि में तारिका-भाँखों॥

वि०—"विधि अलंकार से विभूषित 'गोकुल कवि' की यह सुंदर सूक्ति भी दर्शनीय है, जैसे—

"चौसर चंदँन सों चुपरे, सुचि कंचँन की रुचि सों भरि भावें।
उन्नत, पींन, कठोर महा, मकरध्वज के करि - कुंभ लजावें॥
'गोकुल' कंचुकी-बीच दुरे, दुरि देखत ही कुचकाँन दुरावें।
लागत हैं पिय के उर सों, तब ओज भरे-ते सरोज कहावें॥"

अथ काव्यार्थापत्ति अलंकार लच्छन जथा—

यहै भयो तौ यै कहा, या[7] बिधि जहाँ बखाँन।
कहत काव्य-पद[8] सहित तहँ,'अरथापत्ति' सुजाँन॥

वि०—'काव्यार्थापत्ति इस उल्लास का अंतिम अलंकार है, जिसका लक्षण दासजी मतानुसार—"यह हुआ तो यह क्यों नहीं" किया गया है। काव्यार्थापत्ति (अर्थापत्ति) को रुय्यक तथा पीयूष-वर्ष जयदेवजी ने माना है। जयदेव के चंद्रालोक में इसका लक्षण अर्थापत्ति नामकरण के साथ—"**अर्थापत्तिः स्वयं सिध्येत्पदार्थांतर वर्णनं**" (जहाँ स्वयं सिद्ध पदार्थ के अंतर का भी वर्णन हो) कहा गया है। अर्थात् जहाँ एक पद में वर्णित क्रिया-द्वारा दूसरे पद का अर्थ बिना कहे स्पष्ट हो जाय वहाँ अर्थापत्ति वा काव्यार्थापत्ति अलंकार कहना चाहिये। साहित्य-दर्पण (संस्कृत) में कहा है —"**दंडपूपिकयान्यार्थागमोऽर्थापत्तिरिष्यते**" (दंडपूपिका-न्याय से दूसरे अर्थ का ज्ञान होने पर—अर्थापत्ति)। इस 'दंडपूपिका-न्याय' को अधिक स्फुट करते हुए वहाँ (साहित्य-दर्पण—हिंदी-विमला

पा०—१. (का०) (वें०) हीं...। २. (का०) जों...। (वें०) जो...। ३. (का०) (वें०) गंनि...। ४. (का०) (वें०) (प्र०) में...। ५. (स० पु० प्र०) रँगी । ६. (स० पु० प्र०) (वें०) राखौ...। ७. (का०) (वें०) इहि बिधि कहा...। ८. (का०) यह...।

टीका में) लिखा गया है कि "किसी ने कहा कि 'डंडा (लकड़ी) चूहे ने खा लिया" तो इसमें यह बात भी आ गयी कि उस डंडे में बँधे हुए अपूप (मालपूआ) भी उस (चूहे) ने खा लिये। जिसने डंडे जैसी कठोर वस्तु नहीं छोड़ी (उसे खा गया तो) वह मुलायम और मीठे पूओं को कब छोड़ने वाला है। इसी तुल्यन्याय से जहाँ अर्थांतर की अर्थ-बल से सिद्धि होती हो वहाँ 'दंडपूपिका-न्याय' कहलाता है। अस्तु, जहाँ किसी दुष्कर कार्य की सिद्धि के द्वारा सुकर (थोड़े परिश्रम से होने वाला) कार्य की सुगम सिद्धि इसी (दंडपूपिका-न्याय से) प्रकार प्रतीत होती हो वहीं इस न्याय (दंडपूपिका-न्याय) का विषय होता है। इसमें कहीं प्रकृत अर्थ से अप्रकृत अर्थ की और कहीं अप्रकृत से प्रकृत अर्थ की प्रतीति होती है।"

काव्यार्थापत्ति का अर्थ है—काव्यगत अर्थ का आ पड़ना। इस लिये यहाँ किसी एक अर्थ की सिद्धि के सामर्थ्य से दूसरे अर्थ की सिद्धि स्वयं आ पड़ती है,—हो जाती है। अर्थात्, "जिसके द्वारा कोई कठिन कार्य सिद्ध हो सकता है तो उसके द्वारा सुगम कार्य का सिद्ध होना क्या कठिन है," इस प्रकार वर्णन का किया जाता है।

मीमांसिकों के अनुसार भी अर्थापत्ति एक प्रकार का वह 'प्रमाण' है—जिसके द्वारा एक बात के कथन से दूसरी बात स्वतः सिद्ध मान ली जाती हो। इसमें प्रथम उपपाद्य और द्वितीय उपपादक ज्ञान कहलाता है। उदाहरणार्थ कहा जा सकता है कि "केवल नियमित भोजन से रामदत्त अति स्वस्थ है," इससे यह बात स्वतः सिद्ध हो जाती है कि अनियमित भोजन से उसका स्वास्थ्य ठीक नहीं रहता। न्याय-शास्त्र इसे अनुमान के भीतर मानता है, पृथक् प्रमाण नहीं। अतः साहित्य में अलंकाराचार्यों ने इस "उपपाद्योपपादक-ज्ञानानुसार ही इस काव्यार्थापत्ति अलंकार को माना है। काव्यार्थापत्ति का लक्षण कविकुल-कंठाभरण (दूलह कवि) में स्पष्ट और सुंदर है, वहाँ बाल की खाल नहीं खींची गयी है, यथा—"जहाँ कीन्यों अरथ सों अरथ को सिद्धि, "काव्य-अर्थापति" अलंकार ऐसें निरवहा है।" अर्थात् एक अर्थ से किसी दूसरे अर्थ की भी सिद्धि ही वहाँ...।

काव्यार्थापत्ति यदि श्लेष-मूलक हो तो अधिक शोभा-परक बन जाती है, यह कुछ अलंकाराचार्यों का अभिमत है, वास्तव में यह कथन सत्य के अधिक समीप है। कारण भी स्पष्ट है। कोई-कोई आचार्य अनुमानालंकार को काव्यार्थापत्ति-विषय-जनक मानते है, यह ठीक नहीं है। अनुमान में दो बातों के संबंध की भावना होना अनिवार्य है—व्याप्य-व्यापक की एकत्र स्थिति आवश्यक है, काव्यार्थापत्ति में नहीं। यही दोनों का पृथक्-करण है।"

अस्य उदाहरन जथा—

बंधुजीव के[1] दुख-दहै, अरुँन-अधर तव बाल।
'दास' देत इहिं[2] क्यों डरै, पर-जीवँन-दुख-जाल॥*

*

मैं, वारों वा[3] बदँन पै, कोट-कोट सत इंद।
ता पें ए बारें[4] कहा, 'दास' रुपईया-बृंद॥

*

चंद-कला-सौ कहायौ कहूँ ते, नखच्छत-पंक[5] लग्यौ उर तेरे।
सौतिहू कौ[6] मुख पूरँन चंद-सौ, जोति-बिहीन भयौ जिहिं नेरे॥
कातिक-हू कौ कलानिधि पूरौ, कहा कहौं[7] सुंदरि तो-मुख हेरे।
'दास' यहै अँनुमाँनि कें अंग-सराहिबौ छोड़[8] दियौ मँन मेरे॥

वि०—"सूरत मिश्र का यह छंद भी 'काव्यार्थापत्ति' रूप सुंदर है, जिसे भारती-भूषण में उद्धृत किया गया है—

"जिँन-जिँन सीपँन के मोंती हुते अंगँन में,
तरे ते-ते सीप-जीव करि चित-चाव कों।
जिँन-जिँन बृच्छँन की लाख हुती भूषँन में,
'सूरत' सु तरे तेहू छाँड़ि दुख-दाव कों॥
मींजत पटंबर, दिगंबर भए हैं कीट,
चूरँन ते गेंडा-गज तरे निज भाव कों।
सुंदरिँन-अँन्हात ए हू हैं तरे ऐसें, अरु
तिनकी कहा है, जाँनें गंगा के प्रभाव कों॥"

और भक्त-प्रवर "रसखान", जिनके प्रति कहा गया है—"इन मुसलमाँन कवि-जँनन पर कोटँन हिंदू वारिऐ" का काव्यार्थापत्ति के कलेवर में चमकता हुआ ऐसा अनुपम भूषण है, जिसे धारण करने के लिये सब का दिल मचल जाय, यथा—

"लाज कौ लेप चढ़ाइ कें अंग पचीं सब सीख कौ मंत्र सुनाइ कें।
गारुड़ ह्वे ब्रज-लोग थक्यौ, करि औषध बेसक सोंह दिवाइ कें॥

पा०—१. (का०) (प्र०) कों दुखद है। २. (का०) यह...। (वें०) यों...। ३. (का०) (वें०) जा...। ४. (सं० पु० प्र०) ता पर वारें ए कहा...। ५. (का०) (वें०) एक...। ६. (वें०) (सं० पु० प्र०) के मुख पूरन चंद-से, जोति बिहीन भऐ तिहि...। ७. (का०) (वें०) (प्र०) कहि...। ८. (वें०) राखि लियौ मन...।

* स० स० (ला० भ० दी०) पृ० २६०, ७।

ऊधौ सों को 'रसखाँन' कहै, जिँन चित्त धरयौ तुमें ऐसे उपाइ कें।
कारे-बिसारे कौ चाँहें उतारयौ अरे बिष बावरे राख-लगाइ कें ॥"

वास्तव में जैसा पूर्व में ऊपर लिखा—कहा गया है—"काव्यार्थापत्ति के कलेवर में चमकता हुआ 'श्री रसखान' जी का यह अनुपम आभूषण रूप वह उदाहरण है, जिस पर टिप्पणी करते हुए हृदय में विचार करना पड़ता है कि कहीं छंद-विभूषित भाव में शब्द-स्पर्श से खरोंच न लग जाय—नश्तर जैसा दुरुपयोग न हो जाय, क्योंकि 'ऊधौ सों को 'रस-खाँन' कहै०" से लेकर "कारे-बिसारे कों चाँहें०"...तक भव्य-भाव ही नहीं, उसके शब्दों में भी ऐसी मंजुलता है कि वह छूते-ही—उसके भाव-भरे शब्द जिह्वा पर आते-ही, मैले न हो जाँय यह आशंका उत्पन्न हो जाती है, वाह.. !

कारे-बिसारे कौ चाँहें उतारयौ, अरे त्रिष बावरे राख लगाइकें।

*

"इति श्री सकल कलाधरकलाधरबंसावतंस श्री मन्महाराज-कुँमार श्री बाबू हिंदूपति बिरचिते काव्य-निरनए सँमालंकारादि-गुँन-दोष बरनँन नाम पंचदसोल्लासः।"

—००—

अथ सोलहवाँ उल्लास

अथ सूच्छँम-अलंकारादि बरनन जथा—

सूच्छँम, पिहित[1], औ जुक्ति गँनि, गूढोत्तर, गूढोक्ति।
मिथ्याँध्यवसायौ[2] ललित, बिवृतोक्ति, व्याजोक्ति॥

*

परिकर, परिकर-अंकुरौ, ए[3] ग्यारह अवरेखि।
धुँनि के भेदँन में इन्हैं, वस्तु व्यंग करि[4] लेखि॥

वि०—"दासजी ने इस उल्लास में—"सूक्ष्म, पिहित, युक्ति, गूढोत्तर, गूढोक्ति, मिथ्याध्यवसित, ललित, विवृत्तोक्ति, व्याजोक्ति, परिकर और परिकरांकुर नाम के ग्यारह अलंकारों का वर्णन किया है। संस्कृत में ये अलंकार सर्व प्रथम रुद्रट ने "परिकर और सूक्ष्म को 'वास्तव वर्ग' में, पिहित को 'अतिशय वर्ग' में माना है। अन्य अलंकार उन्होंने नहीं माने हैं। इनके बाद रुय्यक और उनके शिष्य मंखक ने 'परिकर' को 'गम्यमान औपम्य वर्ग के अंतर्गत 'विशेषण-वैचित्र्य' में, व्याजोक्ति को गूढार्थ-प्रतीति मूल वर्ग में माना है। इन्होंने भी परिकर और व्याजोक्ति के अतरिक्त अन्य-अलंकारों को नहीं माना है। रुय्यक के बाद—'परिकर, परिकरांकुर' अर्थ-वैचित्र्य प्रधान वर्ग में, 'पिहित और ललित' लोकन्याय मूल वर्ग में, 'सूक्ष्म, व्याजोक्ति, गूढोक्ति, विवृतोक्ति और मिथ्याध्यवसित'—'गूढार्थ-प्रतीति-मूल वर्ग में माने गये हैं। युक्ति और गूढोत्तर का यहाँ उल्लेख नहीं है। युक्ति अलंकार का चंद्रालोक में तो उल्लेख मिलता है, गूढोत्तर का नहीं। गूढोत्तर अलंकार केवल ब्रजभाषा के अलंकार ग्रंथों में मिलता है। इस वर्गीकरण के अतरिक्त एक और वर्गीकरण मिलता है, जिसमें—"सूक्ष्म, व्याजोक्ति, युक्ति, पिहित और ललित को गूढार्थ प्रतीति मूल वर्ग में और 'गूढोक्ति, विवृतोक्ति, परिकर, परिकरांकुर और मिथ्याध्यवसित को उक्ति-चातुर्य मूलक वर्ग में रखा है। गूढोत्तर यहाँ भी वहिष्कृत है। दासजी ने इन संपूर्ण अलंकारों को एक-ही वर्ग में "ध्वनि-प्रधान" मानकर इनमें वस्तु-व्यंग्य का कथन किया है।"

पा०—१. (का०) (वें०) (प्र०) पिहितौ जुक्ति...। २. (प्र०) मिथ्याध्यवसित ललित अरु...। ३. (का०) (वें०) (प्र०) ग्यारह...। ४. (का०) (वें०) (प्र०) कै...।

अथ सूच्छँमालंकार लच्छन जथा—

चतुर-चतुर बातें करें[1], संग्या कछु ठैहराइ ।
तिहिं[2] 'सूच्छँम' भूषँन कहैं, जे प्रबीन कबिराइ ॥

वि०—"दासजी के कथनानुसार सूक्ष्म अलंकार का लक्षण-"किसी संज्ञा-विशेष को ठहरा कर विद्वद्जनों का चातुर्य-पूर्ण वार्त्तालाप है, जिसे पास बैठे हुए साधारण व्यक्ति न समझ सकें । संस्कृत-अलंकार ग्रंथों में सूक्ष्म का कथन-दंडी ने, रुद्रट ने, भोज ने, मम्मट और रुय्यक ने किया है । आचार्य मम्मट ने काव्य प्रकाश (संस्कृत) में इसका लक्षण यह दिया है—

"कुतोऽपिलक्षितः सूक्ष्मोऽप्यर्थोऽन्यस्मै प्रकाश्यते ।
धर्मेण केनचिद्यत्र तत्सूक्ष्मं परिचक्षते ॥"

अर्थात् "जहाँ किसी ज्ञापक कारण (आकार—आकृति वा संकेत) द्वारा कोई सूक्ष्म (केवल सहृदय व्यक्तियों के जानने योग्य) वस्तु किसी धर्म (आकृति वा संकेत) से अन्य के प्रति प्रकट की जाय तो वहाँ सूक्ष्मालंकार है ।" साथ-ही यहाँ 'ज्ञापक-कारण' की विषद व्याख्या करते हुए कहा गया है कि "यहाँ 'ज्ञापक-कारण' से तात्पर्य 'आकार' या 'संकेत' से है और 'सूक्ष्म शब्द से तात्पर्य उस अर्थ से है जिसे अत्यंत तीक्ष्ण बुद्धिवाले सहृदय व्यक्ति-ही समझ सकें ।" सूक्ष्म की इस परिभाषा-द्वारा इसके 'आकार से लक्षित होने वाला' और 'संकेत-द्वारा लक्षित होने वाला' दो भेद हो जाते हैं । साहित्य-दर्पण में भी इसके ऊपर लिखे दोनों भेदों का उल्लेख है ।

सूक्ष्म का अर्थ है—महीन, बहुत बारीक, जिसे साधारण बुद्धिवाला व्यक्ति न समझ सके और जिसे समझने के लिये तीक्ष्ण-बुद्धिवाला व्यक्ति ही चाहिये । अथवा तीक्ष्ण-बुद्धि के द्वारा सहृदय व्यक्तियों के जानने योग्य रहस्य, जैसा कि ऊपर काव्य-प्रकाशकार का मत है । अतएव आकार वा संकेत (इंगित) द्वारा ज्ञात सूक्ष्म रहस्य को विदग्धतापूर्ण युक्ति से जहाँ सूचित किया जाय वहाँ यह अलंकार होता है । यहाँ आकार से मतलब है-भाव-भंगिमा, जो अंग-प्रत्यंग रूप विशेष संस्थान से सूचित होती है । संकेत से-इंगित से तात्पर्य है चेष्टा, इशारा । साथ-ही सूक्ष्म में तीन बातें भी आवश्यक है-'जिसका रहस्य है वह और उसे जानकर सूचित करनेवाला उभय व्यक्ति का होना, आकार या इंगित से रहस्य ज्ञात कर लेना और इस रहस्य-ज्ञान को ऐसी युक्ति से उस पर सूचित करना कि साधारण व्यक्ति न समझ सके ।

पा०—१. (स० पु० प्र०) जहाँ...। २. (रा० पु० प्र०) तह...।

संस्कृत के अलंकार-ग्रंथों में जैसा पूर्व में लिख चुके हैं—सूक्ष्म, चेष्टा और आकरा-द्वारा लक्षित होने के कारण उभय-भेदात्मक है। अतएव आकार-लक्षित-सूक्ष्म-अर्थ के ज्ञाता-द्वारा साकूत चेष्टा की जाने में कुवलयानंदकार 'पिहित' अलंकार मानते हैं। यही नहीं, वहाँ (कुवलयानंद में) इंगित आकार के अतिरिक्त जहाँ उक्ति-द्वारा भी, सूक्ष्म-अर्थ के प्रदर्शित किये जाने पर भी उक्त अलंकार माना है।" ब्रजभाषा-साहित्य में इसका एक-ही भेद कथन किया गया है, उदाहरण तीनों के मिल जाते हैं।"

अथ सूच्छँमालंकार उदाहरन जथा—

आज चंदभागा वा[1] चंद-बदनी पै अली[2],
निरतँन करति आई[3] मोर के परँन कों।
वाहि[4] धों सँमझि कहा बेंनी-गहि रही तब,
वौ-हू[5] दरसायौ-री बँधूक के दरँन कों॥
'दास' वहि[6] परस्यौ कहा धों उरजात, उहि—
परस्यौ कहा धों दुहूँ[7] आपने करँन कों।
नागरी-गुँनागरी चलति भई ताही छिंन,
गागरी लै तीर[8] जँमुनाँ जल-भरँन कों॥

वि०—"सूक्ष्मालंकार के दो नीचे लिखे छंद भी हमारी समझ से बहुत सुंदर हैं। प्रथम है, गो० तुलसीदासजी का यथा—

"गौतँम-तिय-गति सुरति करि, नहिं परसत पद पाँनि।
मँन-बिहँसे रघुबंस-मँनि, प्रीति अलौकिक जाँनि॥

और द्वितीय ब्रजभाषा के कवि कालिदास का, यथा—

"प्रथँम-सँमागँम के औसर नवेली-बाल,
सकल कलाँन करि प्यारे कों रिझायौ है।
देखि चतुराई, मँन-सोच भयौ पीतँम के,
लखि पर-नारि मँन-संभ्रँम-भुलायौ है॥

पा०—१. (का) (सं० पु० प्र०) उहि...। (वें०) (प्र०) वहि..। २. (का०) (वें०) (प्र०) (सं० पु० प्र०) आली.। ३. (का०) (प्र०) आए...। ४. (का०) (वें०) यह...। (प्र०) वह...। ५. (का०) (वें०) (प्र०) (सं० पु० प्र०) वाहू...। ६. (का०) (वें०) यहि...। (सं० पु० प्र०) इहि...। ७. (का०) (वें०) (प्र०) दोऊ...। (सं० पु० प्र०) उहूँ...। ८. (का०) (वें०) (सं० पु० प्र०) रीती...।

'कालिदास' ताही समैं निपट प्रबीन तिया,
काजर लै भीति - माँहि चित्रक बनायौ है।
ब्यात लिखी सिंघनीं, निकट गजराज लिख्यौ,
जोंनि ते निकर, छोंना मस्तक पै धायौ है॥"

गोस्वामीजी की रम्य रचना पर कुछ व्याख्या, अलंकार-निरदर्शन अनुचित है, क्योंकि वह भक्त-हृदयों का गुप्त शिरोभूषण है। कालिदासजी की रचना में यह अलंकार कुछ गूढ़ है। अस्तु, 'समस्त रति-कोविदा' नायिका ने नायक को अमित देख प्रसवती सिंहनी का बालक समीप में खड़े गजराज के मस्तक पर लिखकर (सूक्ष्मालंकार-द्वारा) यह जनाया कि जिस प्रकार सिंह - सावक जन्म पाते ही अपने स्वभावानुसार गजराज पर आक्रमण करता है, वही क्रिया स्वाभाविक रूप में हमारी है।"

अथ पिहित-अलंकार लच्छन जथा—

जहाँ छिपी पर-बात कों, जाँनि जँनावै कोइ।
तहाँ 'पिहित' भूषँन कहैं, छिपी[1] पहेरी सोइ॥

वि—"जहाँ कोई किसी की (गुप्त) बात को जानकर जनावे-प्रकट करे, वहाँ 'पिहित' अलंकार होता है। भाषा-भूषण में भी पिहित का लक्षण इसी प्रकार— "जहाँ किसी की छिपी (गुप्त) बात को जानकर कोई छिपा भाव प्रकट किया जाय" वहाँ 'पिहित', यथा—

'पिहित' छिपी पर-बात कों, जाँनि दिखावै भाइ।"

ब्रजभाषा में पिहित के ऐसे-ही मिलते-जुलते लक्षण हैं। ये लक्षण चंद्रालोक के अनुसार हैं। संस्कृत-अलंकार ग्रंथों में पिहित के शब्दार्थ (आच्छादन करना— किसी दूसरे पदार्थ को ढक लेना) को लक्ष में रख "जहाँ किसी आश्रय का एक-गुण दूसरे असमान गुण को आच्छादित कर ले और उसे अन्य समझ कर कार्यतः प्रकट कर दे" वहाँ 'पिहित-अलकार' कहा है', क्योंकि इसमें एक आश्रय (अधिकरण) में रहने वाला गुण अपनी प्रबलता से दूसरी वस्तु को—ऐसी वस्तु को जो समान न हो, ढक लेता है। लक्षण में यहाँ 'असमान' का प्रयोग है— कथन है, जो उसे मीलितालंकार से पृथक् करता है। मीलित में समान गुण-द्वारा दूसरी वस्तु का तिरोधान होता है, पिहित में नहीं। पिहित में एक गुण दूसरे गुण को, जो सदृश न हो—ठीक उस जैसा न हो, अपनी प्रबलता से ढँक लेता

पा०—१. (का०) (प्र०) छपी...। (वें०) (सं० पु० प्र०) छपे...।

है........। यदि ब्रजभाषा के अलंकाराचार्यों के अनुसार लक्षण जो ऊपर दासजी ने कहा है, मान लिया जाय तो 'पिहित' के नामार्थ का कोई चमत्कार नहीं रहता और न सूक्ष्मालंकार के साथ उसकी कोई पृथक्ता-ही प्रदर्शित होती है। यदि दोनों गुण समान हों और एक दूसरे को ढंक लें तब वहाँ मीलित और कारण-वश प्रकट होने पर 'उन्मीलित' बन जाता है। एक उदाहरण जैसे—

"बिरह-जनित कृसता सखी, तन-दुति में छिपि जाइ।"

यहाँ नायिका के तन-रूप एक-ही आश्रय में कृशता और तन-द्युति दोनों ही हैं और वे असमान भी हैं। तन-द्युति—द्वारा शरीर की कृशता आच्छादित है, वह ज्ञात नहीं होती—तन-द्युति के आगे कृशता की ओर दृष्टि-ही नहीं जाती, किंतु नायिका की हरदम सामीप्य रहने वाली सखी (सहचरी) जान लेती है। यहाँ कृशता और तन-द्युति समान गुण-संपन्न नहीं हैं, किंतु वे एक दूसरे के विपरीत हैं—पद-तल एवं जावक की लाली के सदृश समान गुणवाली नहीं हैं। इसलिये इस—"बिरह-जनित०"...दोहार्ध में मीलित वा उन्मीलित नहीं कहा जा सकता। सूक्ष्म भी यहाँ नहीं है, क्योंकि सूक्ष्म-लक्षणानुसार यहाँ किसी एक संकेत या रहस्य के समझने की बात इसमें नहीं है।"

पिहित अलंकार रुद्रट, मम्मट और रुय्यक-आचार्यों ने माना है। अतः इसका उल्लेख रुद्रट-द्वारा 'अतिशय वर्ग' के अंतर्गत लिखा है। रुय्यक ने इसका कोई भी वर्गीकरण (इसे मानते हुए भी) नहीं किया है, क्यों नहीं किया? इसका भी उत्तर नहीं मिलता। बाद में इसका उल्लेख "लोक-न्याय मूल वर्ग में तथा गूढार्थ प्रतीति-मूल वर्ग में मिलता है। पिहित के मम्मट-द्वारा मान्य रूप में सेठ कन्हैयालाल जी कहते हैं—मम्मट के काव्य-प्रकाश में इसका कोई उल्लेख नहीं है।" काव्य-निर्णय की किसी-किसी (हस्त-लिखित) प्रति में 'पिहित' के स्थान पर "बिहित" नाम भी मिलता है।

अस्य उदाहरन जथा—

लाल-भाल रँग लाल लखि, बाल न बोली बोल।
लज्जित किय[1] बिन दृगँन कों, करि सौंमुहैं कपोल॥

*

परँम पियासी पदँम-दृग,[2] प्रबिसी आतुर नीर।
अंजलि-भरि पुनि[3] तजि दियौ, पियौ न गंगा-नीर॥

पा०—१. (का०) (वें०) (प्र०) (सं० पु० प्र०) लजित कियौ ता दृगन कों, कै...। २. (सं० पु० प्र०) परम पषा पदुम-दृगी। ३. (का०) (वें०) (प्र०) (सं० पु० प्र०) क्यों...।

अस्य तिलक

इहाँ नायिका नें हाथ की लाली सों नीर (जल) रकत (लोहू) जाँन्यों, ताते नाहीं पियौ.....।

❀

केलि-फैल[1] में 'दास जू', मँनि-मै-मंदिर द्वार।
बिँन-अपराधै[2] रँमन कों, कीन्हों चरँन-प्रहार॥

अस्य तिलक

इहाँ नायिका नें रमँन (प्रियतम) के संग 'मनि-मंदिर' में—(मणि-मंदिर के प्रतिबिंबों में नायक के साथ भ्रम-वश) आप-सम और कों देख्यौ ताते...।

अथ 'जुक्ति-अलंकार[3] लच्छन जथा—

क्रिया-चातुरी सों जहाँ, करै[4] बात कों गोप।
ताहि 'जुक्ति'[5] भूषँन कहैं, जिन्हैं काव्य की चोप॥

वि०—"जहाँ क्रिया-चातुर्य से किसी बात को—गुप्त रहस्य को छिपाया जाय वहाँ 'युक्ति' भूषण (अलंकार) होता है। अर्थात् जहाँ कोई क्रिया कर (आंतरिक) मर्म छिपाया जाय वहाँ यह अलंकार माना जाता है।

युक्ति अलंकार का प्रथम उल्लेख चंद्रालोक में ही मिलता है। वहाँ उसका लक्षण—"युक्तिर्विशेषसिद्धिश्चेद्विचित्रार्थंतरान्वयात्" (दोनों—उपमानोपमेय के संबंध को दिखलाते हुए उपमेय में विशेष चमत्कार दिखलाना) कहा है। यह लक्षण ब्रजभाषा के आचार्यों से नहीं मिलता। कोई-कोई ब्रजभाषा-आचार्य इसे "गुप्तालंकार" के नाम से भी बोलते हैं।"

अस्य उदाहरन जथा—

होरी की रैंन बिताइ[6] कहूँ, प्रिय-पीतँम भोर-हीं आवत जोयौ।
नेंक न बाल जँनात[7] भई, जऊ कोप कौ बीज गयौ हिय[8]-बोयौ॥
'दास जू' दै-दै गुलाल की मारँन, अंकुरिबौ वा[9] बीज कौ खोयौ।
भाँवते[10]-भाल कौ जावक, ओठ कौ अंजँन, ही कौ नखच्छत गोयौ॥*

पा०—१. (का०)...कला...। (वें०) (प्र०) (सं० पु० प्र०)...फैल-हूँ...। २. (का०) (वें०) (प्र०) (सं० पु० प्र०) बिन पराध क्यों ..। ३ (सं० पु० प्र०) गुप्तालंकार। ४. (सं० पु० प्र०) करत...। ५. (सं० पु० प्र०) गुप्त...। ६. (शृं० नि०) बिहाई कहूँ, उठि भोर-हीं भाँवतौ आवत ..। ७. (का०) (वें०) (प्र०) जनाइ...। (शृं० नि०) जनाई...। ८. (प्र०) हित...। ९. (का०) (वें०) (शृं० नि०) उहि...। (प्र०) यहि...। १० (वें०) भावतौ ओठ कौ अंजन, भाल कौ जावक, ही कौ नखच्छत गोयौ।

* शृं० नि० (दास) पृ० ६१, १८१।

वि०—"युक्ति अलंकार के उदाहरण "मुग्धा-प्रवत्स्यत्पतिका" (प्रियतम-जन्य भविष्यत्वियोग की आशंका में दुखित) नायिका के अंतर्गत बहुत से सुंदर-सुंदर उदाहरण भरे पड़े हैं, जैसे—

"जा दिँन ते चलिबे की चरचा चलाई तुम,
ता-दिँन ते वाके पियराई तँन-छाई है।
'कहै मतिराँम' छोड़े भूषँन, बसँन, पाँन,
सखिँन-सों खेलँन - हँसन - बिसराई है॥
आई रितु सुरभि-सुहाई, प्रीति वाके चित्त,
ऐसे में चलौ लाल, राब-री बड़ाई है।
सोबत न रैंन, दिँन-रोबत रहति बाल,
बूझे ते कहति—"माइके की सुधि आई है॥"

युक्ति, युक्ति-युक्त है, पर हमारी समझ से गो० तुलसीदास कृत मानस में निम्न-लिखित चौपाई इस अलंकार की सबसे सुंदर उदाहरण कही जा सकती हैं, यथा—

"बहुरि बदँन-बिधु अंचल-ढाँकी, पिय-तँन चितै भौंह करि बाँकी।
खंजँन-मंजु तिरीछे नैंननि, निज-पति कहे तिँन-हि सिय-सैंननि॥"

यह छंद दासजी ने अपने "शृंगार निर्णय" में भी "प्रौढाधीरा" नायिका के उदाहरण में दिया है। युक्ति अलंकार का उदाहरण 'प्रताप' कवि का भी सुंदर है, यथा—

"पीतँम-संग प्रबीँन तिया, रस-केलि-प्रसंगँन में अनुरागी।
चुंबँन औ परिरंभँन के बिपरीत-बिलासँन में निसि जागी॥
सेज-परी बिलसै रस-खाँनि, सबै सुख-माँनि हिऐं रस-पागी।
मोद-मई मुकताँन के मंजुल, काहे ते हार-उतारँन लागी॥"

अथवा—

"केसर-रंग चुकै जब-हीं, तब लै कर ताही में नीर-मिलावै।
धूंम-पटास-सी जाँनत-हीं, तब लाल के गाल गुलाल-लगावै॥
'माँखन' गारिकें, गीतँन-गाइकें, गेंद-चलाइकें, बाद-बढ़ावै।
छाँड़ि कें लाड़िली होरी कौ औसर जाँन परै छिन एक न आवै॥"

युक्ति का उदाहरण मतिराम जी का भी सुंदर है, यथा—

"लैंन कों फूल निकुंजँन-माँझि गयौ मिलि गोपिँन कौ गँन भारौ।
नंद-लला तिय के हिय में 'मतिराँम' तहाँ दृग-बाँन सुभायौ॥
गेह चलीं सखियाँ-सिगरीं, चित्त सुंदर - साँवरे - रूप लुभायौ।
आँखिन पूरि कटीले कपोलँन, कंटक कोंमल पाँह चुभायौ॥"

"आले हो तो आइये, मुड़-मुड़ न देखो इस तरफ़ ।
यह सितम, हम पर न कीजे बाद आने के लिये ॥"

अथ गूढ़ोत्तर—अलंकार लच्छन जथा—

अभिप्राइ के[1] सहित जो ऊतरु काहू[2] देइ ।
ताहि 'गूढ़-उत्तर' कहें[3] जाँन सुँमति-जँन लेइ ॥

वि०—"जब किसी को साभिप्राय (गूढ़) उत्तर दिया जाय—किसी गूढ़-भाव से युक्त उत्तर दिया जाय, वहाँ 'गूढोत्तर' अलंकार कहा जाता है। यही लक्षण संस्कृत-अलंकार-ग्रंथों में इस प्रकार मिलता है—"किंचिदाकूतसहितं-स्याद्गूढोत्तरमुत्तरम्"। अतएव यह अलंकार "अपन्हव-मूलक वर्ग" में विभक्त किया जा सकता है।"

अस्य उदाहरन जथा—

नीर के कारँन आई अकेलिऐ[4], भीर-परें सँग कोंन कौ लीजै ।
ह्याँ-हूँ न कोऊ, गयौ[5] दिबसौ-ऊ, अकेलें उठात[6]-घरा पट-भींजै ॥
'दास' इतै लिरवाँन[7] कों ल्याइ, भलें[8] जल-न्हाइऐ, प्याइऐ, पीजै ।
ए तौ निहोरौ हँमारौ करौ[9], घट-ऊपर नेंक घरा[10] धरि दीजै ॥*

वि०—'गूढोत्तर-अलंकार के उदाहरण प्रायः "वचन-विदग्धा" (बचनँन की रचनाँन सों, जो साधै निज काज) या "स्वयंदूतिका" (रमणार्थ स्वयं दूति-पन करने वाली) नायिका के वर्णनों में किये जाते हैं, जैसे ऊपर लिखा दासजी का उदाहरण। अस्तु, दासजी का यह उदाहरण नायिका-भेदानुसार वचन-विदग्धा नायिका की उक्ति स्वरूप है। स्वयंदूतिका ! यथा—

पा०—१. (का०) (वें०) त...। (स० पु० प्र०) अभिप्राइ संजुत किऐं, ऊतरु...। २. (का०) (वें०) (प्र०) कोऊ...। ३. (का०) (वें०) (प्र०) कहत...। ४. (वें०) अकेली पै...। ५. (वें०) (सं० पु०) नया...। (प्र०) न द्यौस कछू है, अकेले...। ६. (का०) (प्र०) (शृं० नि०) उठाएँ घरौ...। (वें०) उठाइ घरौ...। (रा० पु० प्र०) उठातौ...। ७. (वें०) लिरबाइ कों...। (शृं० नि०) गऊआँन कों...। ८. (का०) भलौ जल न्हाइऐ, प्याइऐ पीजै। (वें०) भलौ जल न्याइबौ, प्याइजै...। (प्र०) (सं० पु० प्र०) भलौ जल छाँह कौ प्याइऐ...। (रा० पु० प्र०) भलें जल छाँह में प्याइऐ...। ९. (का०) (वें०) लला...। (शृं० नि०) हरी...। १०. (का०) (वें०) (प्र०) (सं० पु० प्र०) घटौ...। (शृं० नि०) घरौ...।

*, शृं० नि० (दास) पृ०—३४, १०१। वचन-विदग्धा—नायिका।

"झाँम परीक निवारिऐ, कलित-ललित-अलि-पुंज।
जँमुनाँ-तीर तँमाल-तरु, मिलत मालती-कुंज॥"

यह भी गूढोत्तर अलंकार का उदाहरण है। दो उदाहरण (वचन-विदग्धा-स्वयंदूतिका के) और, जैसे—

"ठाढी बतरात, इतरात-ही परोसिँन ते,
जैसी तिय दूसरी न पूरब-पछाँह में।
दीठि परिगऐ तहाँ सुंदर सुँजाँन काँन्ह,
औचक-ही प्रघट पूछ्यौ कर पर-छाँह में॥
'सोंमनाथ' त्यों-हीं प्राँन-प्यारे कों सुनाइ कह्यौ,
तिय नें सखी सों तरुनाई के उछाह में।
बंसीबट-निकट हँमें तू मिलियो-री, काल्हि-
कातिक नहाँऊँगी तरैयँन की छाँह में॥"

स्वयंदूतिका—

"बसौ पथिक, या पौर में, यहाँ न आवै और।
यै मेरी, यै सासु की, यै नँनदी की ठौर॥"

अस्तु एक बात और, वह यह कि गूढोत्तर अलंकार वहीं बनेगा—वहीं कहा जायगा, जहाँ किसी की जिज्ञासा (कुछ पूछने) पर गूढ (कुछ खास मतलब प्रगट करने वाला) उत्तर दिया जायगा। दासजी कथित जैसे उदाहरणों में यह अलंकार नहीं हो सकता, क्योंकि 'उत्तर' शब्द उसकी चुगली खा रहा है। उत्तर शब्द वहीं अलंकृत होगा, जब कि किसी के कुछ पूछे जाने पर, कुछ कहा जायगा—उत्तर दिया जायगा, यथा—

"हश्र के दिन तो मिलोगे, यह किया मैंने सवाल।
सोचकर कुछ देर में ज़ालिम ने कहा—'मुश्किल है'॥"

अथ गूढ़ोक्ति-अलंकार जथा—

अभिप्राइ-जुत जहँ कहिय, काहू सों कछु बात।
तहँ 'गूढ़ोक्ति' बखाँन हीं, कबि, पंडित औदात॥

वि०—"जहाँ साभिप्राय किसी से कुछ बात कही जाय,—किसी दूसरी बात के बहाने हृदयस्थ गूढ बात (अभिप्राय) प्रकट की जाय, वहाँ पंडित और कवि 'गूढ़ोक्ति' मानते हैं। अथवा—जहाँ किसी दूसरे के बहाने से किसी दूसरे को उपदेश दिया जाय वहाँ यह अलंकार होता है। संस्कृत-अलंकार-ग्रंथों में गूढ़ोक्ति का लक्षण—*"गूढोक्तिरन्योद्देश्यं चेद्यदन्यं प्रति कथ्यते"* (अन्योद्देशक वाक्य अन्य दूसरे के प्रति कहे जाँय) मिलता है।

गूढोक्ति का अर्थ गुप्त-उक्ति, छिपा हुआ कथन, और के व्याज से और से कही जाने वाली बात,—अन्य के प्रति वक्तव्य को निकटस्थ व्यक्ति से गुप्त रखकर कहना, इत्यादि......। यदि इस लक्षण को और भी स्पष्ट किया जाय तो कहा जा सकता है कि जिससे वास्तव में कोई बात कहना है वह कथन के समय अकेला नहीं है और भी व्यक्ति उपस्थित हैं, उस समय स्पष्ट कहने से वह बात छिपी नहीं रहेगी, इसलिये वह जिसके प्रति कहना है उसे सुनाते हुए निकटस्थ व्यक्ति से इस प्रकार बात कही जाय जिससे दूर का व्यक्ति जिसको लक्ष्य में रखकर कही गयी है वह तो समझ जाय, पर समीपस्थ न समझे.........।

गूढोक्ति के प्रति काव्य-प्रकाश (संस्कृत) के "उद्योत-टीकाकार" नागोजी भट्ट व्याजोक्ति की व्याख्या के साथ कहते हैं—"गूढोक्ति ध्वनि काव्य है, अलंकार का विषय नहीं, क्योंकि इस (गूढोक्ति) में दूसरे को सूचित करते हुए स्पष्ट नहीं कहा जाता; व्यंग्यार्थ के द्वारा ध्वनित होता है। अलंकार तो वहाँ बनते हैं, जहाँ व्यंग्यार्थ उक्ति के द्वारा स्पष्ट कर दिये जाँय (दे० का० प्र० पूना-संस्करण पृ०—१४३)।

अप्रस्तुत प्रशंसा के भेद सारूप्य-निबंधना जिसे कोई-कोई 'अन्योक्ति' भी कहते हैं और गूढोक्ति के लक्षण समान प्रतीत होते हैं। उदाहरणों में भी कोई विशेष पृथकृता प्रतीत नहीं होती इत्यादि......। किंतु अप्रस्तुत-प्रशंसा के उक्त भेद में प्रस्तुत का बोध कराने के लिये अप्रस्तुत का वर्णन होता है, साथ-ही वहाँ प्रस्तुत के प्रति किसी प्रकार का उपदेश करने का तात्पर्य गर्भित रहता है और गूढोक्ति में—जिससे कुछ गूढ रहस्य कहना हो, वह उससे न कह कर समीपस्थ दूसरे से कह कर उसे (जिससे कहना है) श्लिष्ट शब्दों के नियम से बतलाया जाता है। गूढोक्ति में श्लेष होते हुए भी समीपस्थों को छलने के रूप में विशेष चमत्कार होता है, इसलिये श्लेषालंकार से भी इसकी पृथकृता स्पष्ट दीखती है और इसीलिये गूढोक्ति की "गूढार्थ-प्रतीति-मूल" वा "उक्ति-चातुर्य-मूल" वर्ग में गणना की जाती है।"

गूढ़ोक्ति-उदाहरन जथा—

'दासजू' न्योंतें गए[1] घर के सब, कालिह ते ह्याँ न परोसिनों आवति।
हौं-हीं अकेली कहाँ लों रहों, इँन अंखी-अधँन[2] ज्यौ बैहरावति॥
पीतंम छाइ रह्यो[3] परदेस, अँदेस इहै जू सँदेस न पावति।
पंडित हौ, गुँन-मंडित हौ, महि-देव तुँम्हें सगुनोंति-हौ आवति॥

पा०—१. (का०) (वें०) (स० पु० प्र०) गईं कछु बीस कों...। (प्र०) गई घर की सब,...। २. (का०) (वें०) (प्र०) अंधँन को ज्यो .। ३ (सं० पु० प्र०) रहे...।

वि०—"दासजी का गूढोक्ति-उदाहरण-स्वरूप यह छंद "स्वयंदूती" नायिका का है। दासजी के इन गूढोक्ति लक्षण-उदाहरण के प्रति पोद्दार कन्हैयालाल जी का अलंकार-मंजरी में कहना है कि "दासजी ने जो गूढोक्ति के लक्षण-उदाहरण दिये हैं वे अपूर्ण हैं, क्योंकि गूढोक्ति के लक्षण (जो संस्कृत-ग्रंथों) में 'अन्योद्देशक वाक्य को अन्य के प्रति कहा जाना है वह अवश्य कहना चाहिये।" अस्तु, पोद्दारजी का उक्त आदेश यदि मान लिया जाय तो गूढोक्ति के संस्कृत-व्रजभाषा के अनेक उदाहरणों को पृथक् कर दिया जायगा, जो चमत्कार-पूर्ण हैं, कवि प्रतिभा के जीते-जागते उदाहरण हैं। साथ-ही वे गूढोक्ति के उदाहरण स्वरूप अत्युत्कृष्ट उक्तियाँ हैं, जो अन्योद्देशक......जैसा पोद्दारजी ने कहा है, नहीं हैं। उदाहरणार्थ दासजी का ऊपर वाला छंद जिसमें गूढ-अभिप्राय से गुंफित नायिका की पथिक के प्रति स्वयंदूतिका के रूप में उक्ति है—कथन है। गूढोक्ति, शब्दार्थानुसार पर (अन्य) से किसी की उपस्थिति और अनुपस्थिति दोनों में हो सकती है। जैसा दासजी के इस उदाहरण में। यहाँ सामीप्य में सख्यादि का व्यवधान नहीं है, फिर भी गूढोक्ति का यह सुंदर उदाहरण है। जहाँ सख्यादि-रूप विविध व्यवधान होंगे और पोद्दारजी की निर्देशक अन्योद्देशक .. वाक्यावलि होगी, वहाँ भी गूढोक्ति कही और मानी जायगी। नीचे 'अन्योद्देशक०' और 'अन्योद्देशक-रहित' वचन विदग्धा तथा स्वयंदूतिका रूप नायिकाओं के दो उदाहरण उद्धत किये जाते हैं, जो गूढोक्ति के अति सुंदर उदाहरण हैं,. 'अन्योद्देशक०' वचनविदग्धा, यथा—

"कातिकी-न्हाँन कों लोग चले, अपनों-अपनों सब-ही सँग-जोरयौ।
राखि गई घर-सूंने बिसासिँन सासु जँजाल ते मोहि इहाँ छोरयौ॥
है तौ भलौ, घर-ही जो रहौ तुँम, यों कहिकें नँनदी-हूँ निहोरयौ।
प्यारी परौसिँन सों कह्यौ टेरि, परौसी के काँन सुधा-सौ निचोरयौ॥

*

"साँसरें जाइ कछू दिन ते रह्यौ, छाँड़ि दियौ निज मंदिर भैया।
वाऊ दवा-ऊ दहें जुर-सों, परसों लई कातिकी की मग मैया॥
याही मसूल मरों, का करौ, 'रिखिनाथ' परौसिँन मैं परों पैया।
कोऊ कहूँ न मिलै मग में, हौं सवार-ही जाति दुहावँन गैया॥"

स्वयंदूतिका, यथा—

"को हौ,—जोतिसी हौ, कछु आगँम बखाँनत हौ,
धाँम-धाँम नाँम जग-जाहर हँमारौ सौ।

आवौ, बैठि जावौ, पग-छुवौ, पाँन खावौ फिरि,
सुचितै सुचित्त है कें गँमित निकारौ तौ ॥
"ठाकुर' कहत यै प्रेम की परीच्छा - छाँन,
इच्छा कौ प्रमाँन भली भाँति निरधारौ तौ ।
मेरौ मँन, मोहँन ते लागत है बार - बार,
मोंहँन कौ मँन मौते लागि है बिचारौ तौ ॥

*

"पंथ अति कठिँन, पथिक कोऊ संग नाहिं,
तेज भए तारा-गँन, छाँहन भयौ रबि है ।
खग ताके बिटप, मधुर चले कल्लँन कों,
कंज गए सकुचि, कँमोदिनी पै छबि है ॥
जोगी है तौ बिरह की ज्वाला की जरी बताउ,
भोगी है तौ कहौ काँम-पीर कैसे दबि है ।
जोतिसी जु है तौ कहि पीउ घर ऐहैं कब,
बरनँन की जै घटा जोपै कोऊ कबि है ॥"

*

"यह तो नहीं, कि तुम-सा जहाँ में हँसी नहीं ।
इस दिल को क्या करूं, कि बहलता कहीं नहीं ॥"

अस्तु, हमारी क्षुद्र-बुद्धि के अनुसार पोद्दारजी का अभिमत उपयुक्त नहीं है ।"

अथ मिथ्याँध्यवसाइ लच्छन जथा—

एक झुँठाई-सिद्ध कों, झूंठौ बरनें[१] और ।
सो'मिथ्याँध्यवसाइ'है,[२] भूषँनकबि-सिरमौर ॥

वि०—"जहाँ एक झूंठ को सिद्ध करने के लिए और भी झूठों (असत्य-बातों) का वर्णन हो वहाँ "मिथ्याध्यवसित" अलंकार होता है । भाषा-भूषण रचयिता कहते हैं—"मिथ्याँध्यवसति कहत कछु, मिथ्याँ-कल्पँन-रीति", अर्थात् "जहाँ एक मिथ्या बात के समर्थन में दूसरी मिथ्या बात की कल्पना की जाय—अथवा कही जाय ।

मिथ्याध्यवसित का अर्थ, मिथ्या और अध्यवसित को भिन्न (अलग-अलग) कर झूठ और निश्चय मान "मिथ्यत्व का निश्चय" करते हैं । अध्यवसित का

पा०—१. (सं० पु० प्र०) बरनवु...। २. (प्र०) सो मिथ्याध्यवसिति कहैं ।

अर्थ 'प्रयास' भी है। ऐसी स्थिति में 'मिथ्याध्यवसित' की परिभाषा—"जिस प्रकार की मिथ्या बात को सिद्ध करना है, वैसी-ही—मिलती-जुलती अन्य मिथ्या की कल्पना की जानी चाहिये, नहीं तो प्रयास व्यर्थ होकर अलंकार सिद्ध न कर सकेगा।

मिथ्याध्यवसिति के जनक कुवलयानंद के रचयिता कहे जाते हैं। फिर भी काव्य-प्रकास (संस्कृत) की 'उद्योत' टीका के कर्त्ता 'नागोजी भट्ट' कहते हैं कि "यह अलंकार अतिशयोक्ति के अंतर्गत है, भिन्न नहीं। दूसरा अभिमत है कि इस अलंकार में मिथ्यात्व सिद्ध करने के लिये दूसरे मिथ्यात्व की—मिथ्यार्थ की कल्पना किये जाने के कारण नया चमत्कार है, कुछ नवीनता है, इसलिए प्रथक् मानना उचित है। कुवलयानंद में इसका लक्षणोदाहरण इस प्रकार माना है, यथा—

"मिथ्याध्यवसितिर्मिथ्यासिद्धयै मिथ्यार्थनिर्मितिः।
मिथ्याध्यवसितिर्वेश्यां वशयेत्खस्रजं वहन् ॥"

और जिसका ब्रजभाषानुवाद होता है—

"मिथ्याध्यवसित झूंठ-हित, कहै जु झूंठी-रीति।
धरै जु माला नभ-कुसुँम, करै सु पर-तिय प्रीति ॥"

मिथ्याध्यवसित को "गूढार्थ-प्रतीति मूलक कहा जाता है। साथ-ही यह 'उक्ति-चातुर्य-मूलक वर्ग में भी बिठलाया जा सकता है।"

अस्य उदाहरन जथा—

सेज अकास के फूलँन को सजि, सोवति[1] दीनें प्रकास किबारें।
चौक[2] में बाँझ के पूत[3] रहे[4], बहु पाँइ-पलोटत[5] भूमि के तारें ॥
नीर में 'दास' बिहार करें[6] अहि-रोंम-दुसालँन[7] कों सिर डारें।
कोंन कहै[8] तुम झूंठी कहौ, मैं सदाँ बसतौ-उर लाल तिहारें ॥

और मिथ्याध्यवसित का 'रघुनाथ कवि' कृत उदाहरण, जैसे—

"गावत बंदर बैठे निकुंज में, ताल-सँमेत में आँखिन पेखे।
तें जो कह्यौ यह, सो सुँनिके, अपने मन में इँन साँच न रेखे ॥
या में न झूंठ कछू 'रघुनाथ' है, ब्रम्ह सँनातन माया के लेखे।
गाँउ में जाइ कें मैं हूँ बछाँन कों, बैल हिं बेद पढ़ावत देखे ॥

पा०— १. (का०) (वें०) (प्र०) सोवती दीन्हि...दीन्ही, दीन्ह...। २. (वें०) (प्र०) चौकी...। ३. (वें०) बेटा...। ४. (सं० पु० प्र०) बसें...। ५. (वें०) पलोटती...। ६. (का०) (प्र०) करों—करौ...। (वें०) नीर में दास बिहार करौ। (सं० पु० प्र०)...बिहारो करौ...। ७. (वें०) दुसालौ नयौ सिर...। (सं० पु० प्र०) दुसालौ न ए...। ८. (वें०) को हौ...।

अथ ललित-अलंकार लच्छन जथा—

'ललित' कह्यौ कछु[1] चाहिऐं, ता[2] ही कौ प्रतिबिंब ।
"दीप-बारि देख्यौ चहें, कूर जु सूरज - बिंब ॥"

वि०—"यहाँ जो बात कहनी हो उसी के प्रतिबिंब-रूप बात कहने पर 'ललित' अलंकार होता है ।

ललित का अर्थ है—सुंदर, इच्छित । अतएव सुंदर वा इच्छित (वर्ण-नीय) वृतांत का प्रतिबिंब कहा जाने पर यह अलंकार बनता है । अर्थात्, जहाँ कहने वाली बात अप्रिय वा गोप्य हो उसीके प्रतिबिंब-भाव-युक्त दूसरी बात, जो सुनने में अप्रिय न हो और सुंदर हो, कही जाय तब वहाँ ललित बनेगा । इसके विपरीत कठोर बात को प्रतिबिंब रूप द्वारा और भी कठोर-रूप से कहने पर यह अलंकार नहीं होगा, क्योंकि इस अलंकार का ध्येय—सुनने वालों को कुछ सांत्वना या आश्वासन देना होता है । प्रसन्नता से भरपूर वर्ण्य विषय को स्पष्ट कहने में कुछ आपत्ति नहीं होती, इसलिये वहाँ अलंकरण की आवश्यकता नहीं, अपितु दुःखादि को बात छिपाकर, साथ ही उसे सुचारु रूप से कहना-ही अलंकारता है, जिससे वह 'ललित' बने.. ।

ललित को स्वतंत्र-अलंकार मानने में विभिन्न मत हैं । कोई आचार्य इसे 'अप्रस्तुत-प्रशंसा के अंतर्गत मानते हैं, तो कोई समासोक्ति के, और कोई—निद-र्शना के भीतर मानते हैं तो कोई रूपकातिशयोक्ति के—इत्यादि । अस्तु, इन अप्रस्तुत-प्रशंसादि अलंकारों के अंतर्गत ललित को न मान स्वतंत्र रूप में कथन करने वाले आचार्यों का कहना है कि "अप्रस्तुत प्रशंसा में वाच्यार्थ अप्रस्तुत होता है, ललित में प्रस्तुत होता है—प्रकरण-गत श्रोता के सन्मुख कहा जाता है । समासोक्ति में प्रस्तुत वृत्तांत में अप्रस्तुत वृत्तांत को प्रतीति करायी जाती है, यहाँ प्रस्तुत का प्रतिबिंब कहा जाता है । निदर्शना में प्रस्तुत-अप्रस्तुत दोनों का कथन करते हुए उन दोनों में एकता का आरोप किया जाता है, यहाँ केवल प्रस्तुत का ही प्रतिबिंब कहा जाता है । इसी प्रकार रुपकातिशयोक्ति में पदार्थ का अध्यवसान होता है, अभेद-ज्ञान का निश्चय होता है—उपमान-द्वारा उपमेय का निगरण होता, यहाँ प्रस्तुत वाक्य का अप्रस्तुत रूप में प्रतिबिंब कहा जाता है—इत्यादि कारणों से ललित किसी के अंतर्गत नहीं - स्वतंत्र है, अपने में पूर्ण है । फिर भी कहीं-कहीं इसका पृथक-करण, निदर्शना तथा पर्यायोक्ति जैसे अलंकारों से करना कठिन-ही है । उदाहरणों के प्रति-भी यही बात है, कोई

पा०—१. (प्र०) जो...। २. (प्र०) (सं० पु० प्र०) कहिय तासु प्रति...।

(पंडितराज जगन्नाथ) इसके अन्य-द्वारा दिये गये उदाहरण में पर्यायोक्ति मानते हैं तो कोई निदर्शना के उदाहरण में लक्षित। कुवलयानंद, जो इसका जनक-स्थान है, के द्वारा प्रस्तुत उदाहरण जैसे—"ललितं निर्गतेनीरे सेतुमेषा-चिकीर्षति" अर्थात् "सेतु-बाँधि करिहौ कहा अब तौ उतर्‍यौ अंबु" अथवा—"सेतु बाँधिबौ चहँतु है, अब तू उतरें बारि" में ललित न मान उद्योतकार निदर्शना मानते हुए इसे इस (निदर्शना के अंतर्गत) के अंतर्गत ही मानते हैं—'लोके-लोके मतिर्भिन्ना'...इसे-ही कहते हैं।"

ललित-उदाहरन जथा—

कंट-कटीलका बागँन में बयौ[1] 'दास' गुलाबँन-दूरि कै दीजै।
आज ते सेज अंगारँन की करौ, फूलँन कौं दुख-दाँनि गँनीजै॥
ऊधौ, अहीरिनी के गुरु हैं[2], इनकौ सिर आयुस मौंन-हीं लीजै।
गुंज के गंज गहौ, तजि लालँन, डारि सुधा, विष-संग्रह कीजै॥

•

बोलँन में कल[3] कोकिल के, कुल की कलई कब धौं उघरैगी।
कौंन घरी इँन भौंन-जरे, उजरेन[4] कौं[5] बसंत-प्रभाँन भरैगो॥
हाइ कबै या[6] कूर-कलंकी[7]-निसाकर[8] के मुख छार परैगी।
प्रौंन-प्रिया इँन नेंनँन कौं, किहि द्यौस कृतारथ-रूप करैगी॥

—'वि०—"ललितालंकार से सुशोभित प्रस्तुत धर्मी "कलहांतरिता नायिका" के प्रति कही गयी, सखि-द्वारा पति के मनाने पर भी न मानने का उपालंभ देते हुए के रूप में प्रस्तुतार्थ का वर्णन न करती हुई; उसके प्रतिबिंब-रूप आती हुई लक्ष्मी के आने पर दरवाजा बंद करने का अप्रस्तुतार्थ वर्णन रूप 'गुलाब सिंहजी (बूंदीनरेश) की यह उक्ति भी सुंदर है, यथा—

"बात सुँनें नहिँ तू जँन की, मँन की करतूतँन में मँन-लावै।
लाभ-अलाभ नहीं सँमझै, उरझी-सुरझी न 'गुलाब' लखावै॥
काज-अकाज सँमान गँनें, अपकीरति-कीरति-सी भल भावै।
तू कसि है, घर आवति संपति, हाथँन द्वार-किँवार लगावै॥"

पा०—१. (वें०) बयौ...। (प्र०) बबौ...। २. (वे०) हौ उनकौ सिर...। (स० पु० प्र०) हौ, उनके...। ३. (का०) (वें०) किल...। ४. (का०) उज्वरे कौं...। (वें०) उतरे कौं ५. (प्र०) उजरे में...। ६. (का०) (वें०) (प्र०) यह...। ७. (का०) कलंकि...। ८. (वें०) (स० पु० प्र०) निसाचर...।

कलहांतरिता के उदाहरण-स्वरूप 'देव कवि' का यह छंद ब्रजभाषा-साहित्य में सबसे सुंदर माना जाता है, यथा—

"प्रेम-सँमुद्र परयौ गैहरे, अँभिमाँन के फेंन रह्यौ गहि-रे मँन।
कोप-तरंगँन ते बँहरे, अकुलाइ पुकारत क्यों बहि-रे मँन॥
'देव जू' लाज-जहाज तें कूद, भज्यौ मुख-मूँदि अजों रहि-रे मँन।
जोरत-तोरत प्रोति तुही, अब तेरी अँनीत तुही सहि-रे मँन॥"

*

"मोंहँन-मींत सभीत गौ, लखि तेरौ सनमाँन।
अब सु दगा दै तू चल्यौ, अरे मुहई माँन॥"

अथ विवृतोक्ति लच्छन जथा—

जहाँ अरथ गूढ़ोक्ति कौ कोऊ करै प्रकास।
'विवृतोक्ति' तासों कहें, सकल सुजँन[१]-जँन 'दास'॥

वि०—"जहाँ गूढ़ोक्ति (कही हुई गुप्त बात) का कोई प्रकाश करे—छिपा हुआ गुप्त भाव (कवि-कल्पना-द्वारा) प्रकट किया जाये वहाँ 'विवृतोक्ति' कही जाती है।

विवृतोक्ति का वर्णन सर्व प्रथम कुवलयानंद में ही मिलता है। वहाँ इसका लक्षण—"विवृतोक्तिः श्लिष्टगुप्तं कविनाविष्कृतं यदि" (कवि-कथन-द्वारा श्लेष से छिपाई हुई वस्तु प्रकट करना) कहा गया है, क्योंकि विवृतोक्ति—खुली हुई, उघाड़ी हुई उक्ति—अर्थ की द्योतक है। कोई-कोई इसका अर्थ—व्याख्या, अथवा टीका—संयुक्त बात भी कहते हैं। इसलिये जहाँ रहस्य की बात स्वतः स्पष्ट कर दी जाय वहाँ 'विवृतोक्ति'। अर्थात् श्लिष्ट-शब्दों के प्रयोगादि-द्वारा चातुर्य से छिपाये हुए रहस्य को कवि-द्वारा प्रकट कर खोलना-ही उक्त अलंकार है। विवृतोक्ति में प्रथम उक्ति-चातुर्य से कुछ गूढ़ बात कही जाती है और पुनः उसे खोल दिया जाता है।

विवृतोक्ति—गूढार्थ-प्रतीत मूल अलंकार है और उक्ति-चातुर्य मूल से भी संपन्न है। इसलिये इसे स्वतंत्र अलंकार मानना श्रेयस्कर है, किंतु पोद्दार कन्हैयालाल जी का कहना है कि "विवृतोक्ति के कुवलयानंद में दिखाये गये उदाहरण व्याजोक्ति-उदाहरणों के समान हैं, अतः हमारे विचार से (वह) व्याजोक्ति से प्रथक् नहीं, जब कि कुवलानंदकार ने इसके उदाहरण में व्याजोक्ति

पा०—१. (का०) (वे०) (प्र०) सुकवि...।

स्वीकार की है।" इसी प्रकार इनसे भिन्न मत प्रकट करते हुए भारती-भूषण (हिंदी) के रचयिता का कहना है कि "इस विवृतोक्ति में गूढोक्ति से छिपे हुए अर्थ के (कवि-द्वारा) प्रकट किये जाने मात्र की भिन्नता को भिन्न अलंकारता के लिये पर्याप्त कारण न मानकर किसी-किसो ग्रंथकार ने इसका गूढोक्ति में अंतर्भाव किया है", पर हमारे विचार में इस भिन्नता के कारण इसकी भिन्न गणना होना अनुचित नहीं', (उचित-ही है) और प्रायः ग्रंथों में ऐसा-ही हुआ भी है।" साथ-ही विवृतोक्ति के यहाँ दो भेद—"श्लिष्ट-शब्दों और साधारण शब्दों की विवृतोक्ति" भी मानते हैं।"

अथ उदाहरन जथा—

नैंन नचौंहे, हँसौंहे कपोल, अँनंद सों अंगन[१]-अंग अँमात है।
'दास जू' सेदँन-सोभ जगी, परें[२] प्रेंम-पगी-सी ठगी[३] ठैहरात है॥
मोहि भुराबै[४] अटारी चढ़ी, कहि कारी घटा बक[५]-पाँति सुहात है।
कारी घटा-बक[६]-पाँति लखें, इहि भाँति भए कहौ[७] कौंन के गात हैं॥*

*

किऐं[८] सरस तँन कौं[९] रही, तँनकौ रही न ओट।
लखि सारी कुच में लसी, कुच में लसी खरोट॥

*

द्वार-खरी नवला अँनूपम निरखि,
उतरत भौ पथिक तहाँ[१०] तँन-मँन-हारि कें।
चातुरी सों कह्यौ, इत रह्यौ हँम चाँहें, नाहिँ[११]—
जायौ[१२] जात उँन्नत पयोधर निहारि कें॥
'दास' तिँन[१३] ऊतरु दियौ है यों बचँन-भाँखि,
राखि कें सँनेह सखी-मति कों निबारि कें।

पा०—१. (शृं० नि०) अग न अग..। २. (का०) (वे०) (प्र०) परे...। (शृं० नि०) पुरे...। ३. (वें०) (सं० पु० प्र०) डगी...। ४. (का०) (वें०) (प्र०) (सं० पु० प्र०) भुलाबै...। ५,-६, (का०) (वें०) (प्र०) बग...। ७. (का०) (वें०) कहि...। (प्र०) कहु...। ८. (वें०) (सं० पु० प्र०) कियौ...। ९. (वें०) को-रही...। १०. (का०) (वें०) तहीं...। (प्र०) तहँ...। ११. (का०) (प्र०) नहीं...। (वें०) .. रह्यौ हम वै हैं नहीं...। (सं० पु० प्र०) रह्यौ इत चाँहत नहीं...। १२. (वें०) तायौ...। १३. (प्र०) तेहिँ...।

*. शृं० नि० (दास) पृ०—३७, १०६। हेतु-लक्षिता-नायिका।

ह्याँ तौ हैं पखाँन सब मसक न दैहैं कल,
रहिऐ पथिक सुभ आसँन[१] - बिचारि कें ॥

वि०—"दासजी की यह उक्ति "स्वयंदूतिका नायिका" के निरूपण में है, जो संस्कृत की इस अमर सूक्ति का विस्तृत अनुवाद है, संस्कृत-सूक्ति यथा —

"पथिक नात्र स्रस्तरमस्ति मनाक् प्रस्तरस्थले ग्रामे ।
उन्नत पयोधरं प्रेक्ष्य यदि वससि तद्वस ॥"

कोई स्वयंदूतिका नायिका किसी पथिक-रूप नायक से कहती है—"हे पथिक, इस पत्थरों (मूर्खों) से भरे गाँव में कहीं किसी के पास चटाई (बिछौना) आदि नहीं है, यदि चढ़े (उभरे) हुए मेघ (स्तनों) को देखकर तुम यहाँ ठहरना चाहो तो ठहर जाओ ।" यही बात—दासजी को ऊपरवाली उक्ति से स्पष्ट है । यह संस्कृत-उक्ति प्राकृत की देन है, और इसका ब्रजभाषानुवाद किसी कवि-द्वारा किया हुआ निम्न प्रकार है,—

"पथ्थर-थल है पथिक यै, सथ्थर इत न लखाउ ।
पींन-पयोधर-पेखिकें, चहैं आप डटि जाउ ॥"

अथ व्याजोक्ति लच्छन जथा—

बचँन-चातुरी सों जहाँ, कीजै काज-दुराइ[२] ।
सो भूषँन 'ब्याजोक्ति' है, सुंनों सुंमति सँमुदाइ[३] ॥

वि०—'जहाँ वचन-चातुर्य से किसी कार्य को छिपाया जाय, वहाँ 'व्याजोक्ति' होती है। अथवा भाषा-भूषण (म० जसवंतसिंह) के अनुसार—"व्याजोक्ती, कछु और बिधि, कहै दुरै आकार" (जहाँ अपने आकार—रति-चिह्नादि को छिपाकर उसका हेतु कुछ और-ही बता कर दिया जाय) लक्षण होता है। दासजी कृत लक्षण मम्मटादि संस्कृत-अलंकाराचार्यों के अनुरूप है, और भाषा-भूषण का लक्षण कुवलयानंद-मतानुसार है । यथा क्रमशः—

"व्याजोक्तिश्छद्मनोद्भिन्नवस्तुरूपनिगूहनम् ।"

जब कोई वस्तु प्रकट हो गई हो, उसे छल-से छिपाया जाना – व्याजोक्ति ।

"व्याजोक्तिरन्यहेतूक्त्या यदाकारस्य गोपनं ।"

"जहाँ छिपे हुए वृत्तांत का किसी आकार द्वारा भेद खुल जाने पर उसे व्याज-युक्त कथन से छिपाया जाय—व्याजोक्ति ।"

पा०—१. (प्र०) आसन...। २. (का०) दुराव...। (वें०) दुराउ...। ३. (का०) समुदाव । (वें०) समदाउ ।

कुवलयानंद का लक्षण, काव्य-प्रकाशादि संस्कृत ग्रंथों में कहे गये लक्षणों से कुछ अधिक स्पष्ट है, जिसे आकार (रति-जनित स्पष्ट चिन्हों) ने बढ़ावा दिया है।

व्याजोक्ति का शब्दार्थ है—कपट से, छल से और बहाने से कहना। अतः किसी प्रकार (वाक्य-चिन्हादि द्वारा) गुप्त बात (रति) प्रकट हो जाने पर उसे कपट (छल, बहाना) से छिपाया जाना इस अलंकार में वर्णन किया जाता है। यहाँ गुप्त-रहस्य कुछ अवश्य रहना आवश्यक है, जिसके प्रकट होने पर वास्तविक कारण न बता कर अन्य कारण कहते हुए छिपाया जाय। ये लक्षण "सुरति-गुप्ता नायिका" के हैं, यथा—

"सुरति-छिपावै जो तिया, सो 'गुप्ता' उर-आँन।"

गुप्ता—भूत्, भविष्यत् और वर्त्तमान-रूप तीन प्रकार की होती है। भूत-गुप्ता वह जो—"पहिले पर-पुरुष-रति-जन्य-चिन्हों को छिपाते हुए उनका कोई कल्पित कारण बतलाये। भविष्यत वह, जो होने वाले रति-जनित चिन्हों को पहिले से ही छिपाने की चेष्टा करे और वर्त्तमान वह, जो वर्त्तमान में रति के छिपाने की चेष्टा करे। यथा –

"कृति-सुरति परतच्छ सो, सब सों डारति गोइ।"

व्याजोक्ति, सर्व प्रथम वामन के "काव्यालंकार-सूत्र की वृत्ति में देखने को मिलती है। वहाँ इसका लक्षण है—"**व्याजस्य सत्य सारूप्यं व्याजोक्तिः**" (व्याज का सत्य के साथ सारूप्य-व्याजोक्तिः)। अर्थात् असत्य (व्याज) के बहाने से सत्य का सादृश्य (प्रतिपादन करना) व्याजोक्ति है, जिसे कुछ लोग "मायोक्ति" भी कहते हैं, (दे० हिं० अनुवाद पृ० २६७), किंतु यह लक्षण उतना स्पष्ट नहीं है जितना कि बाद के आचार्यों ने किया है। वामन के बाद व्याजोक्ति रुद्रट और भोजराज को छोड़कर सब ने मानी है। इसलिये यह सर्व-संमति गूढार्थ-प्रतीति मूल वर्ग में रखी गयी है।

काव्य-प्रकाश में आचार्य मम्मट इसे अपन्हुति से पृथक् करते हुए कहते हैं—"इसे अपन्हुति नहीं समझना चाहिये, क्योंकि उस (अपन्हुति) में प्रकृत-अप्रकृत वस्तुओं की समता का भी कथन रहता है, जो कि यहाँ असंभव है। श्री मम्मट कृत इस व्याजोक्ति और अपन्हुति की प्रथकृता पर विश्वनाथ जी (साहित्य-दर्पण में) कहते हैं कि "अपन्हुति में जिस बात को छिपाया जाता है, उस (बात) का प्रथम कथन कर फिर निषेध-पूर्वक उसे छिपाया जाता है। छेकापन्हुति में भी अपनी कही हुई बात का ही अन्य-अर्थ कर उसे निषेध-पूर्वक छिपाया जाता है, पर व्याजोक्ति में ये बात नहीं है। यहाँ जिस बात को छिपाया

जाता है वह न तो प्रथम वक्ता-द्वारा कही जाती है और न उसका निषेध ही किया जाता है। अर्थात् छेकापन्हुति में श्लिष्ट शब्द होते हैं तथा सत्य का गोपन वहाँ निषेध पूर्वक होता है, यहाँ (व्याजोक्ति में) बिना निषेध के गोपन होता है। कोई-कोई सूक्ष्म और पिहितालंकारों से इसकी प्रथकृता बतलाते हुए कहते हैं कि "सूक्ष्म और पिहित में क्रिया (चेष्टा) का संबंध होता है और यहाँ वचन का...।"

व्याजोक्ति-उदाहरन जथा—

अब-हीं की है बात हों न्हात हुति, भ्रँम[1] ते गैंहरें-पग जात भयौ।
गहि-ग्राह अथाह कों लै-ही चल्यौ, मँन-मोंहँन दूरहिँ[2] ते चितयौ॥
द्रुति दौरि कें, पौरि कें 'दास' बरोरि[3] कें, छोरि कें मोहिँ जियाइ[4] लयौ।
इन्हें भेंटि[5] कें भेंट हों तोहि अली, भयौ आज तौ मो अवतार नयौ॥*

वि०—"दासजी का यह छंद नायिका-भेद के अनुसार वर्तमान गुप्ता का उदाहरण है। कुछ ऐसा-ही उदाहरण भूत-गुप्ता का "ग्वाल कवि"—निर्मित, जो व्याजोक्ति का भी सुंदर उदाहरण है और दासजी के इस छंद से कहीं ज्यादह सुंदर है, यथा—

"तुँम कैसें आँईं, मैं तों दधि-बेचि आवति-ही,
नाहर निकसि आयौ बँन बजमारे तें।
वानें मैं न देखी, मैं अचक भजी चुपकी-सी,
धँसी करीर की कुटी में डर भारे तें॥
'ग्वाल कवि' बेंदी गई, छरा फँस्यौ, आँगी चली,
छिदे ए कपोल देखौ अति उरभारे तें।
आस-ही न जीवँन की, राँम नें बचाइ राखी,
मरू कै बची हों सास, धरँम तिहारे तें॥

पा०—१. (का०) अचकौ गैहरे ..। (वें०) (म० पु० प्र०) (शृं० नि०) अचकाँ गहरे...। (सु० ति०) (सुं० स०) औचकाँ गहरे...। २. (सं० पु० प्र०) दूर-हीं...। ३. (प्र०) मरोरि...। ४. (शृं० नि०) (सुं० ति०) (सुं० स०) बचाइ...। ५. (वें०) (शृं० नि०) (सुं० ति०) (सुं० स०)...भेंटती भेंटि हों...।

* शृं० नि० (भि० दा०) पृ० ३६, १०६—वर्तमान गुप्ता। सुं० ति० (मा०) पृ० ६७, २२५। सुंदरी सर्वस्व (म०) पृ० ६३, ११। ब्र० भा० का ना० भे० (मी०) २४७, ३२०।

पुनः उदाहरन जथा—

तेरी खीझिबे की रुचि[1]-रीझि मँन-मोंहँन की,
याते बौ[2] स्वाँग नित सजि-सजि आवते[3] ।
आपु-ही तें कुंकुँम की छाप, नख-छत गात,
अंजँन अधर, भाल जावक लगावते[4] ॥
ज्यों-ज्यों तू[5] अयाँनी अँनखाँन[6] दरसावै त्यों-त्यों
स्याँम कृत-आपने लहे कौ फल[7]-पावते ।
उन्हें[8] खिसियाउ 'दास' हँसि जो सुनावै तोहिँ,[9]
वे-हु मँन भाँवते,[10] हमारे मन भाँवते[11] ॥*

वि०—"दासजी ने व्याजोक्ति-रूप इस उदाहरण को अपने नायिका भेद के ग्रंथ शृंगार-निर्णय में—"नायिका-हित सखी के उदाहरण में भी दिया है। उद्दीपन विभाव में सखी का विशेष स्थान है, क्योंकि वह—"तिय-पिय "दोनों की हितू होती है, यथा—

"तिय-पिय की हितकारिनी, 'सखी' कहैं कबिराव ।
उत्तँम अरु मध्यँम, अधँम, प्रघट दूतिका-भाव ॥"
—शृं० नि०

अतएव दासजी कृत व्याजोक्ति का दूसरा उदाहरण नायिका की अधिक हितू सखी का है और नायक-अधिक-हितू सखी, यथा—

"केसरि कै केसर कौ उर में नखच्छत कै,
करो लै कपोलँन में पीक लपटाई है ।
हारावली-तोरि-छोरि, कचँन बिथोरि - खोरि,
मो हू गति भोर इत भोरें उठि आई है ॥

पा०—१. (वें०) (शृं० नि०) रूख...। २. (का०) (वें०) (प्र०) वहै स्वांग सजि-सजि नित...। (शृं० नि०) वहै साज सजि नित...। ३. (वें०) (स० पु० प्र०) आवतो। ४. (वें०) (सं० पु० प्र०) लगावतो। ५. (का०) (प्र०) तें...। ६. (का०) (वें०) (प्र०) (सं० पु० प्र०) (शृं० नि०) अनखानी...। ७. (का०) (वें०) (प्र०) (सं० पु० प्र०) (शृं० नि०) सुख...। (वें०) (सं० पु० प्र०)...पावतो। ८. (का०) (वें०) (सं० पु० प्र०) उनहीं खिस्यावै ..। (प्र०) उन्हें खिसिआवै-दास हास...। (शृं० नि०) तिनहीं खिसावै 'दास' जौ तू यों सुनावै तुम यों हीं मन-भावते...। ९. (का०) तुम वौहू मन...। (वें०) तुम यों हूँ मन...। (प्र०) तुम्हें वाहू मन...। १०. (सं० पु० प्र०) मन-भावतौ...। ११. (वें०) (सं० पु० प्र०) भावतौ।

* शृं० नि० (दास) पृ० ७१, २०१।

पी कौ बिँन-प्रेम कोऊ 'दास' इहि नेंम-
परपंच करि पंच में सुहागिनि कहाई है।
हाँती करि हाँ-सी मोहि ऐसी नाँ सुहाँती,
भेष कंत है तकत ये कैसी चतुराई है॥"

व्याजोक्ति का उदाहरण भारती-भूषण (केड़िया) में सुंदर दिया गया है, यथा होरी (गेय पद)—

"लखि हँम कों मुसिकाँनी, कहा तें मँन में आँनी।
अँखियाँ खंजन-गुँन-गंजँन की, अंजँन-ओप-उड़ाँनी॥
पाँन-पीक की लीक पलक पै, झलक रही रस-साँनी।
—अलक अलि, कत अरुझाँनी॥
अंजन गयौ रुदँन ते पलकँन, कर-मेंहदीं लपटाँनी।
ललक मयूर परे अलकँन पै, चरँन-चोंच गहि ताँनी॥
—व्याल-बनिता उँन जाँनी॥"

अथ परिकर-अलंकार लच्छन जथा—

परिकर, परिकर-अंकुरौ, भूषँन जुगल सुबेस।
साभिप्राइ बिसेसनों, साभिप्राइ बिसेस॥

*

बरनँनीय के साज कौ, नाँम बिसेसँन जाँन।
सो है साभिप्राइ जहँ[१] परिकर भूषँन माँन॥

वि०—"दासजी कृत 'परिकर' और 'परिकरांकुर' इस उल्लास के अंतिम अलंकार हैं। अतएव आपने इन दोनों का, जो प्रायः एक ही तुल्य-बल के अलंकार हैं, प्रथम साथ-साथ वर्णन कर फिर इनकी भिन्नता दिखलायी है। साथ-ही परिकर और परिकरांकुर रूप इन युगल अलंकारों के प्रति प्रथम मोटे रूप से इस प्रकार व्याख्या की है कि "जहाँ साभिप्राय विशेषण हों वहाँ 'परिकर' और 'जहाँ साभिप्राय-विशेष्य हों वहाँ 'परिकरांकुर' होता है। यह दोनों की मूल-व्याख्या है। इसके बाद उक्त अलकारों को और भी स्फुट करते हुए कहते हैं—"वर्णनीय वस्तु की सज्जा का नाम विशेषण है, इसलिये जहाँ यह साभिप्राय (कुछ विशेष आशय लिए) हो, वहाँ 'परिकर' अलंकार मानना चाहिये।

परिकर को रुद्रटादि सभी अलंकाराचार्यों ने माना है, परिकरांकुर को नहीं। परिकरांकुर को चंद्रालोककार ने माना है। अस्तु, परिकर प्रथम अलंकार होने के

पा०—१. (का०) (वे०) (सं० पु० प्र०) तौ...।

कारण रुद्रट कृत चार--वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष-वर्ग के-विभाजन में वह प्रथम वर्ग 'वास्तव' में रखा गया है। रुय्यक-मंखक ने जब संपूर्ण अलंकारों को सज्जा—"सादृश्य-गर्भ, विरोध-गर्भ, शृंखला बद्ध, तर्क-न्याय-मूल, काव्य-न्याय-मूल, लोक-न्याय-मूल और गूढार्थ प्रतीति मूल नामक सात श्रेणियों में विभाजित की तब 'परिकर' को आपने सादृश्य वा औपम्य गर्भ के अवांतर भेद गम्यमान औपम्य के अंतर्गत 'विशेष-वैचित्र्य" में समासोक्ति के साथ और आपके बाद किन्हीं अन्य आचार्य ने "अभेद प्रधान अध्यवसाय मूलक वर्ग के तीसरे भेद "अर्थ-वैचित्र्य प्रधान वर्ग में रखा है। यहाँ साथ में 'परिकरांकुर' की गणना भी कर ली गयी है इसके बाद इन दोनों—परिकर और परिकरांकुर की विशेष विलक्षणता को ध्यान में रख 'उक्ति चातुर्य-मूल वर्ग में गणना की गयी।

परिकर के संबंध में काव्य-प्रकाशकार कहते हैं—"विशेषणैर्यत्साकूतैरुक्तिः परिकरस्तु सः" अर्थात् जहाँ अभिप्राय विशिष्ट विशेषणों के साथ (विशेष्य) उक्ति की जाती है, वहाँ परिकर अलंकार होता है। परिकर के शब्दार्थ—"परिवार, शोभा बढाने वाली सामिग्री के साथ, यह अनुकूल परिभाषा है। परिकर का उपकरण (उत्कर्षक वस्तु, जैसे राजाओं के छत्र-चमरादि) अर्थ भी संस्कृत के 'शब्द कल्पद्रुम' कोष में मिलता है। इसलिये परिकर में ऐसे साभिप्राय विशेषणों का प्रयोग किया जाता है, जो वाक्यार्थ के उत्कर्षक हों—पोषक हों। विशेषण के अभिप्राय युक्त होने के कारण कहने के ढंग में एक चमत्कार पैदा हो जाता है, जो इस अलंकार का प्रयोजन है। साधारण रूप से दिये गये विशेषण वैसा नहीं कर पाते।

यहाँ शंका की जाती है—अभिप्राय-रहित निष्प्रयोजन विशेषण का होना काव्य में 'अपुष्टार्थ' दोष माना गया है, इसलिये साभिप्राय विशेषण होना उक्त दोष का निराकरण (अभाव) मात्र है, ऐसी स्थिति में 'परिकर' की अलंकार रूप में क्या आवश्यकता? इस पर आचार्य मम्मट कहते हैं कि परिकर में एक विशेष्य के अनेक विशेषण होते हैं अतएव परिकर की यही चमत्कार पूर्ण खूबी है।" पंडितराज जगन्नाथ (रसगंगाधर में) कहते हैं—"यद्यपि एक से अधिक विशेषण होने पर व्यंग्य की अधिकता होने के कारण चमत्कार अधिक अवश्य बढ़ जायगा, पर यह नहीं कि जब तक एक से अधिक विशेषण न हों तब तक यह अलंकार नहीं, यहाँ एक भी साभिप्राय विशेषण होने पर 'परिकर' अलंकार बन जायगा।

पंडितराज इतने पर ही अलं (चुप) नहीं हो जाते, वे आगे कहते हैं—"साभिप्राय विशेषण होना, दोषाभाव है, ठीक है, किंतु अपुष्टार्थ-दोष के अभाव का

विषय और परिकर का विषय भिन्न-भिन्न हैं, जैसे—सौंदर्य-युक्त उत्कर्षक विशेषण होना परिकर का और चमत्कार के अपकर्ष का अभाव, अपुष्टार्थ दोष के अभाव का विषय है। ये पृथक-पृथक विषयावलंबी धर्म (लक्षण) यदि संयोग-वश एक ही स्थान पर एकत्रित हो जाँय तो कुछ हानि है ? उपधेय और उपाधि संकरा-संकर होते ही हैं, जैसे—"ब्राम्हण के लिए मूर्ख होना दोष और विद्वान् होना दोष का अभाव और गुण है। इसी प्रकार परिकर में साभिप्राय विशेषणों का होना अपुष्टार्थ दोष का अभाव भी है और चमत्कार पूर्ण होने के कारण अलंकार भी। जैसे—समासोक्ति गुणीभूत व्यंग्य होते हुए भी अलंकार हैं इयादि ..।

परिकर के विशेषणों में जो अभिप्राय निहित हैं, वे गौण व्यंग्यार्थ होते हैं, वहाँ विशेषणों का वाच्यार्थ-ही प्रधान रहता है। यह गौण व्यंग्य (गुणाभूतव्यंध्य) दो प्रकार का, अर्थात् वह कहीं वाच्यार्थ का उत्कर्षक और कहीं 'वाच्य-सिध्दंग' होता है।"

अथ परिकर-उदाहरन जथा—

भाल में जाके कलानिधि है, वौ[१] साहिब ताप हमारे[२] हरैगौ।
अंग में जाके बिभूति भरी, वौ[३] संपति भौंन में भूरि-भरैगौ ॥
घातक है जो मँनोभव कौ, मँन[४]-पातक वाही[५] के जारें[६] जरैगौ।
'दास' जो[७] सीस पै गंग-धरें रहै, ताकी कृपा कहौ[८] को न तरैगौ ॥*

वि०—"परिकर का उदाहरण 'गोकुल नाथ कवि' कृत भी सुंदर है, यथा—

"आवति-ही जमुँनाँ-तट ते, हरि तोहि मिल्यौ ठकुराँइन मेरी।
ता छिँन ते करसाइल-लों, घुँमरै, न परै पलकौ कल पेरी ॥
'गोकुलनाथ' सुरस्सर-साधि, रच्यौ यह मैं बसि मैंन-अहेरी।
घाइल क्यों न करै करिहाइल, पाँइ परों बलि पाइल तेरी ॥"

पा०—१. (का०) (वें०) (प्र०) (सु० स०) वह . । (ह० जु० ह०) सोइ...। २. (का०) (प्र०) (सं० पु० प्र०) (सु० स०) हमारौ...। (वें०) (ह० जु० ह०) हमारी...। ३. (का०) (वें०) (सं० पु० प्र०) वहै (वह) भौंन में संपति भूरि । (प्र०) (सु० स०) विभूति भरौ वहै भौंन में संपति...। (ह० जु० ह०) भरी, रहै भौंन में संपति । ४. (ह० जु० ह०) मम...। ५. (ह० जु० ह०) ताही...। ६. (वें०) जारौ...। (रा० पु० नी० सी०) जोर...। ७. (का०) (सु० स०) जु...। (वें०) जु ..। ८. (का०) (प्र०) (सु० स०) कहु .।

* ह० जु० ह०, पृ० २७, १६। सु० स० (ला० भ० दी०) पृ० २०, २। का० का० (रा० च० सिं०) पृ० २७८।

बिहारी लाल जी कहते हैं —

"कौंन सुँनें, कासों कहौं, सुरति बिसारी नाह।
बदाबदी जिय लेति हैं, ए बदरा बदराह॥"

*

ससि-बदनी मोसों कहत, हों सँमुझी निज बात।
नैंन-नलिन पिय रावरे, न्याइ निरखि नै जात॥

अथवा—

"चंदा-बरनीं-नारि, हँसि जु·पिय मोसों कहीं।
पिय, मरों कटारी-मारि, चंदा-बरनी क्यों कहीं॥"

अथ परिकरांकुर-लच्छन जथा—

बर्नंनीय जु बिसेस है, सोई साभिप्राइ।
'परिकर-अंकुर' कहत हैं, तिहिं प्रबीन-कबिराइ॥

वि०—"जहाँ वर्णनीय विशेष्य अभिप्राय-सहित वर्णन किया जाय, वहाँ 'परिकरांकुर' अलंकार कहते हैं। अर्थात् ऐसे विशेष्य-पद का प्रयोग किया जाय जिसमें कुछ अभिप्राय हों—उस पद की क्रिया से विशेष रूप से वह संबंधित हो। यों तो यह अलंकार 'परिकर' के अंतर्गत-ही है, यथा—'परिकर-अंकुर'। किंतु परिकर में विशेषण और परिकरांकुर में विशेष्य साभिप्राय-युक्त होता है, यही इसकी पृथक्ता है। चंद्रालोक (संस्कृत) में इसका लक्षण—"साभिप्राये विशेष्ये-तु भवेत्परिकरांकुरः" (जहाँ विशेष्य का अभिधान किसी विशेष अर्थ का द्योतक हो, वहाँ परिकरांकुर) कहा है।"

उदाहरन जथा—

भाल में बाँम के ह्वै कें बली, बिँध्यौ[1] बाँकी भौंहे[2] बरुनींन में आइ कें।
ह्वै कें अचेत कपोलँन-छ्वै, बिछलें[3] अधरा कौ पियौ[4] रस धाइ कें॥
'दास जू' हास-छटा मँन चौंक, छिनेक[5] लौं[6] ठोढ़ी के बोच बिकाइ कें।
जाइ उरोज-सिरें-चढ़ि कूद्यौ, गयौ कटि सों त्रिबली में अन्हाइ[7] कें॥

अस्य तिलक

इहाँ लुप्तोपमाँ कौ सँम प्रधान संकर है।

पा०—१. (वें०) बिधि...। (का०) (प्र०) (सं० पु० प्र०) बिधौ..। २. (का०) (वें०) (प्र०) भ्रुवें...। ३. (का०) (वें०) (सं० पु० प्र०) बिछिल्यौ...। ४. (प्र०) बिछुरें अधरा कौ सुधा पियौ धा...। (सं० पु० प्र०)...अधरा में सुधा पियौ...। ५. (प्र०) घरीक...। (सं० पु० प्र०) चौंकि कें, नेंक में...। ६. (का०) (वें०) में...। ७. (का०) (वें०) (प्र०) नहाइ...।

बर, तरुवर तुँम[1] जँनम भौ, सफल बीस-हीं[2] बीस।
हँमें न त्यों[3] तिय-बाग कौ, कियौ असोकौ ईस॥

अस्य तिलक

बर वृच्छ कों स्त्री भाँवरी (परिक्रमा) देति हैं, अरु असोक कों अब लात मारति हैं, तब वौ फूलत है, याते बरनँनीय बिसेस्य (बड़-वृच्छ) साभिप्राय भयौ या लिऐं परिकरांकुर सुद्ध भयौ।

वि०—"परिकरांकुर-अलंकार से अलंकृत अनेक सुमधुर सूक्तियाँ विहारी लाल कृत 'सतसई' में मिलती हैं यथा—

"बाँमा, भाँमा, काँमिनी, कहि बोलौ प्रानेस।
प्यारी कहत न लाज-हीं, पावस चलत बिदेस॥"

*

"बाल-बेलि सूखीं सुखद, इहि रूखे-रुख-घाँम
फेरि डहडही कीजिऐ, सुरस सींचि घँनस्याँम॥"

*

"कियौ सबै जग काँम-बस, जीते जिते अजेइ।
कुसुँम-सरहिं सर-धँनुष कर, अगहँन गहँन न देइ॥"

विहारीलाल जी का प्रथम दोहा शुद्ध परिकरांकुर-अलंकार का उदाहरण है, जो वामा, भामा, कामिनी और प्यारी-शब्दों के श्लेषार्थ से झलक रहा है। द्वितीय दोहे में रूपक और श्लेष से मिलकर परिकरांकुर 'घँनस्याँम' शब्द के द्वारा चमक रहा है। तीसरा दोहा, कहने को तो निरुक्ति से परिपुष्ट काव्यलिंग का अंग (उदाहरण) बन रहा है, फिर भी 'अगहन' के 'ग्रहण न करने' अर्थ के कारण विशेष्य के साभिप्राय हो जाने से यहाँ भी परिकरांकुर दर्शनीय है।

"इति श्री सकल कलाधर-कलाधरवंसावतंस श्री महाराज कुँमार
श्री बाबू हिंदूपति-बिरचिते "काव्य-निरनए" सुर्छँमा-
लंकार बरननो नाम षोडसोध्यायः॥"

——

पा०—१.(का०) तुव...। (वें०) (प्र०) (सं० पु० प्र०) तुम...। २. (का०) (प्र०) हूँ...। (वे०) बिसेहूँ...। (सं० पु० प्र०) हीं...। ३. (का०) यौं...। (वें०) (सं० पु० प्र०) या पिय-बाग...। (प्र०) न अँबिया बाग...। (सं० पु० प्र०) न अब या बाग कौ...।

अथ सप्तहवाँ उल्लास

सुभावोक्ति-अलंकारादि बरनन जथा—

'सुभावोक्ति' 'हेतू'-सहित, जो[1] बहु-भाँति 'प्रमाँन'।
'काव्यलिंग'-'निरउक्ति'[2] गँनि, औ 'लोकोक्ति' सुजाँन ॥

*

पुँनि 'छेकोक्ति' बिचारि कें, 'प्रत्यनीक'-सँम तूल।
'परिसंख्या' 'प्रश्नोत्तरौ', दस बाचक-पद-मूल ॥

वि०—"दासजी ने इस उल्लास में—"स्वभावोक्ति, हेतु, प्रमाण, काव्यलिंग, निरुक्ति, लोकोक्ति, छेकोक्ति, प्रत्यनीक, परिसंख्या और प्रश्नोत्तर दस अलंकारों को वाचक-पद की प्रबलता तथा मुख्यता के कारण एक साथ वर्णन किया है। संस्कृत-अलंकार-ग्रंथों में ये विभिन्न-वर्गों में हैं। जैसे—प्रथम रुद्रट-द्वारा "स्वभावोक्ति, परिसंख्या और हेतु तथा उत्तर 'वास्तव वर्ग में. प्रत्यनीक और उत्तर जो वास्तव वर्ग में आ चुका है औपम्य वर्ग में और हेतु को पुनः अतिशय वर्ग में माना गया है। रुय्यक-द्वारा किये गये विभाजन में भी चार अलंकारों को—प्रथम काव्यलिंग को तर्क-न्याय वर्ग में, द्वितीय 'परिसंख्या को काव्य-न्याय वर्ग में तथा प्रत्यनीक और उत्तर को 'लोक-न्याय मूल' वर्ग में जो न्याय मूल वर्ग के ही अवांतर भेद हैं, माने गये हैं। इस प्रकार रुद्रट-द्वारा मान्य-स्वभावोक्ति, परिसंख्या, हेतु, उत्तर (प्रश्नोत्तर) और प्रत्यनीक पाँच तथा रुय्यक-द्वारा मान्य—काव्यलिंग, परिसंख्या, प्रत्यनीक और उत्तर चार अलंकार हैं। इनके बाद जो और विभाजन मिलता है उसमें—परिसंख्या और प्रत्यनीक न्याय मूलक—वाक्य-न्याय मूल में, काव्यलिंग और हेतु 'तर्क-न्याय मूल में, उत्तर (प्रश्नोत्तर) और लोकोक्ति लोक-न्याय मूल वर्ग में तथा स्वभावोक्ति 'वर्णन-वैचित्र्य-प्रधान वर्ग में विभक्त हैं। यहाँ सात अलंकारों का विभाजन है। एक और विभाजन मिलता है, उसमें काव्यलिंग, परिसंख्या, प्रत्यनीक, उत्तर और हेतु-अलकारों को न्याय-मूल वर्ग में, निरुक्ति गूढार्थ-प्रतीत-मूल वर्ग में लोकोक्ति और छेकोक्ति 'उक्ति-चातुर्य-मूल वर्ग में और स्वभावोक्ति

पा०—१. (का०) (वें०) (प्र०) जे...। २. (का०) (वें०) (सं० पु० प्र०) ...सुनिरुक्ति गँने...अरु...।

को प्रकीर्णक वर्ग में माना गया है। इस प्रकार यहाँ भी नौ अलंकारों का वर्णन है। दशम संख्या रूप—'प्रमाण' का विभाजन नहीं मिलता है।

संस्कृत तथा ब्रजभाषा के अलंकार-ग्रंथों में इन अलंकारों की मान्यता में बड़ा मतभेद है। संस्कृत में—काव्यलिंग उद्भट-वामनादि-द्वारा मान्य, स्वभावोक्ति—भामह, दंडी, उद्भट-द्वारा मान्य, हेतु—भट्टि, दंडी-द्वारा मान्य, उत्तर वा प्रश्नोत्तर—रुद्रट, भोज, मम्मट और रुय्यक-द्वारा मान्य, परिसंख्या और प्रत्यनीक—रुद्रट, मम्मट, रुय्यक-द्वारा मान्य, छेकोक्ति और निरुक्ति—अप्पय दीक्षित द्वारा मान्य और स्वभावोक्ति, हेतु, परिसंख्या, प्रत्यनीक, प्रश्नोत्तर, निरुक्ति और काव्यलिंग—पीयूष वर्षी जयदेव-द्वारा मान्य हैं। इस प्रकार इनकी संख्या यहाँ भी आठ बैठती है। लोकोक्ति और प्रमाणालंकारों की यहाँ भो पूछ नहीं है।

ब्रजभाषा में भी उक्त-अलंकारों की मान्यता में विभिन्न मत हैं, यथा—आचार्य चिंतामणि ने काव्यलिंग, परिसंख्या (उसके विविध भेद), प्रत्यनीक और प्रश्नोत्तर रूप पाँच अलंकार माने हैं। आपके बाद आचार्य केशव ने—स्वभावोक्ति और हेतु नाम के दो-ही अलंकार स्वीकार किये हैं। भाषा-भूषण (जसवंतसिंह) में—काव्यलिंग, छेकोक्ति, निरुक्ति, परिसंख्या, प्रत्यनीक, लोकोक्ति, स्वभावोक्ति और हेतु-अलंकारों का माना है। मतिराम ने—परिसंख्या, प्रत्यनीक, लोकोक्ति, छेकोक्ति, निरुक्ति और हेतु को, दूलह कवि ने—काव्यलिंग, छेकोक्ति, निरुक्ति, परिसंख्या, प्रत्यनीक, लोकोक्ति, स्वभावोक्ति और हेतु ये आठ—अलंकारों का उल्लेख किया है। अस्तु, ब्रजभाषा में भी दो प्रश्नोत्तर और प्रमाणालंकार नहीं माने गये हैं और जिन्होंने ये माने हैं उनकी संख्या नगण्य है।"

प्रथम स्वभावोक्ति लच्छन जथा—

सत्य सत्य बरनँन जहाँ[१], 'सुभावोक्ति' सो जाँन।
ता - संगी पैहचाँनिएं, बहु - बिधि हेतु, प्रमाँन ॥

*

जाकौ जैसौ रूप - गुनँ, बरँनत ताही साज।
ता-सों जाति-सुभाव सब[२], कहि बरँनत कबिराज ॥

*वि*०—"जहाँ सत्य-सत्य का वर्णन हो, अर्थात् जिसका तादृश रूप-गुण और जाति-सुभाव का यथावत् वर्णन हो, वहाँ 'स्वभावोक्ति' कहते हैं तथा इसके साथी हेतु और प्रमाणालंकार हैं।

पा०—१. (सं० पु० प्र०—द्वि० पु०) तहाँ...। २. (प्र०)...सुभाव कहि, बरनत सब...।

स्वभावोक्ति का अर्थ—स्वाभाविक कथन, जिस किसी की चेष्टा या विशेषता-आदि का स्वाभाविक (यथार्थतया - उसके अनुरूप) सत्य, चमत्कार-पूर्ण वर्णन, होता है। जब तक कहने के ढंग में कुछ विचित्रता न हो, अथवा वर्णन में कोई चमत्कार न हो, केवल ज्यों का त्यों सत्य कथन हो तो वहाँ यह अलंकार नहीं कहा जायगा। यहाँ वर्णन (अति) सुंदर, किसी की क्रिया या स्वरूप अथवा जाति-सुभावादि वर्ण्य वस्तु का विशेषता प्रकट करने वाला सत्य-सत्य हृदय को छूने वाला होना चाहिये।

स्वभावोक्ति को, जैसा पूर्व में लिखा जा चुका है, आचार्य भट्टि से लेकर मम्मट-रुय्यकादि सभी आचार्यों ने अलंकार स्वरूप में स्वीकार किया है। आचार्य मम्मट ने काव्य-प्रकाश में औरों की अपेक्षा कुछ व्यापक लक्षण लिखते हुए कहा है—"स्वभावोक्तिस्तु डिंभादेः स्वक्रिया रूप वर्णनम्" (स्वभावोक्ति वहाँ, जहाँ बालक आदि की आत्मगत क्रिया तथा रूपादि का वर्णन हो)। आगे फिर आप मूल कारिका में कहते हैं—जो 'स्वक्रियारूपवर्णनं' पद दिया है उसमें 'स्व' का आत्मगत—जो उन्हीं बालकों में पाया जाय, अन्यत्र का नहीं, से तथा 'रूप' का वर्ण और आकार दोनों से तात्पर्य है, यथा—"स्वयोस्तदेकाश्रययोः। रूपं वर्णः-संस्थानं च।"

साहित्य-दर्पण में भी—"स्वभावोक्तिर्दुरूहार्थ स्वक्रियारूप वर्णनम्" (दुरूह अर्थात् कवि मात्र से ज्ञातव्य जो बालकादि की चेष्टाएँ वा स्वरूप का वर्णन करे) स्वभावोक्ति कहा है। यद्यपि आचार्य मम्मट का लक्षण जितना व्याप्त है, उतना आपका—साहित्य-दर्पणकार का नहीं। फिर भी इसमें एक बात—'बालकादि की चेष्टा आदि...' समान रूप से कहीं है। आगे यह लक्षण घिसते-घिसते 'चंद्रालोक' में इस प्रकार रहा गया—"स्वभावोक्तिः स्वभावस्य जात्यादिषु च वर्णनम्" (जहाँ किसी भी जड़-चेतन्य के स्वाभाविक क्रियाओं तथा भावों का वर्णन-स्वभावोक्ति)। यह विशद और सुंदर लक्षण-ही आगे बड़ ब्रज-भाषा के अलंकार ग्रंथों में मान्यता को प्राप्त हुआ, कारण पूर्व का लक्षण जो बालकों की चेष्टा-आदि के सीमित दायरे में बंद था, वह अब अधिक विस्तृत हो गया। अतएव स्वभावोक्ति का सुंदर और व्यापक लक्षण होगा—"जहाँ मनुष्यादि-जाति के किसी रमणीय स्वभाव के धर्म, क्रिया आदि का चमत्कारपूर्ण सुंदर वर्णन हो, वहाँ 'स्वभावोक्ति'

स्वभावोक्ति को 'वक्रोक्ति-जीवित' के रचयिता 'राजानक कुंतक' न मान कर, इसके मानने वालों पर 'फबती कसते' हुए कहा है—"शरीर चेदलंकारः किमलं कुरुतेऽपरम्। शरीर-ही जब उक्त अलंकार हो जाय तब वह किसे अलंकृत

करेगा।" यहाँ सेठ कन्हैयालाल पोद्दार का कहना है कि—"यह काव्य का सर्वस्व वक्रोक्ति को ही मानने वाले 'राजानक कुंतक' का दुराग्रह मात्र है, क्योंकि प्रकृतिक दृश्यों के स्वाभाविक वर्णनादि भी वस्तुतः चमत्कार पूर्ण और मनोहर होते हैं।"

एक बात और वह यह कि अलंकार के कुछ ग्रंथों में—रूप, वेष तथा भूषण-रचना, जैसे—नख-शिखादि के वर्णनों में 'जाति' नाम के एक प्रथक् अलंकार की उत्पत्ति की गई है, और कहीं इसे स्वभावोक्ति के अंतर्गत-ही मान लिया गया है। अतएव जाति में और स्वभावोक्ति में कुछ ऐसी भिन्नता जो चमत्कार पूर्ण हो, नहीं दिखलायी पड़ती, जिससे ये दोनों अलंकार भिन्न रूप में माने जाँय। अतएव दासजी ने इन्हें भिन्न न मान कर एक-ही स्वभावोक्ति के दो भेद, जाति और स्वभाव रूप से मान पृथक्-पृथक् वर्णन किये हैं।"

अथ प्रथम स्वभावोक्ति—"जाति बरनन कौ उदाहरन जथा—

लोचँन लाल, सुधाधर बाल, हुतासन-ज्वाल सु भाल[१]-भरें हैं।
मुंड की माल गयंद की खाल, हलाहल काल कराल गरें हैं॥
हाथ-कपाल, त्रिसूल जो हाल, भुजाँन में ब्याल-बिसाल जरे हैं।
दीन कौ घाल,[२] अधीन कौ पाल, अधंग में[३] बाल-रसाल धरें हैं॥

वि०—"यहाँ जाति रूप शंकर भगवान के अंग और भूषणों का वर्णन है, जो स्वाभाविक है—सुंदर है।"

द्वितीय सुभावोक्ति-सुभाव बरनन कौ उदाहरन जथा—

बिमल अँगोंछि-पोंछि भूषँन सुधारि सिर,
आँगुरिन-फोरि[४] तृँन-तोरि-तोरि डारतीं।
उर नख-छद, रद-छदँन में रद-छद,
पेखि-पेखि प्यारे कौं झखति[५] झिझकारती॥
भई अँनखों-हीं अवलोकति लला कौं फेरि,[६]
अंगँन-सँवारतीं दिठौंना-दै निहारतीं।
गात की गुराई पर, मैहेज भुराई पर,
सारी सुंदराई पर राई—लौंन बारतीं॥*

पा०—१. (प्र०) सुभाव ..। २. (का०) (वें०) (प्र०) (स० पु० प्र०) दीन-दयाल...। ३. (का०) (प्र०) मों...। ४. (का०) कोर...। '(र० सा०) ..फोरि तोरि-तोरि त्रिन-डारतीं। ५. (वें०) झुकति...। ६. (र० सा०) भये-अँनखोंही अवलोकत लली कों फेर...।

* र० सा० (दास) पृ० १२। हितकारिनी सखी—उदाहरन।

वि०—"जैसे कि दासजी ने 'स्वभावोक्ति' के दो भेद करते हुए जाति और सुभाव (स्वभाव) के प्रथक्-प्रथक् उदाहरण दिये हैं। यहाँ जाति से मनुष्यादि ही नहीं, पशु-पक्षियों का भी—बोलने, चलने, हँसने का यर्थार्थ वर्णन होने पर ही यह अलंकार कहा जायगा। साथ-ही स्वाभाविक रूप में प्राकृतिक वर्णन में भी यह अलंकार माना जायगा। उदाहरणार्थ अश्व और प्रकृति क्रमशः यथा—

"फरकत, फाँदत, फिरत, फिर, तो तुरंग रघुराव।"

*

"छाई छबि स्याँमल सुहाई रजनी-मुख की,
रंच पियराई रही ओर मुररेरे के।
कहै 'रतनाकर' उँमगि तरु-छाँयाँ चली,
बढ़ि अगवाँनी-हेत आवत अँधेरे के॥
घर-घर साजें सेज अंगनाँ सिँगारि अंग,
लौटत उँमंग-भरे बिछुरे सवेरे के।
जोगी, जती, जंगम जहाँ-हीं-तहाँ डेरे देत,
फेरे देत फुदकि बिहंगँम बसेरे के॥"

संस्कृत के अलंकार ग्रंथों में बाल-चेष्टाओं के स्वाभाविक वर्णन में भी यह अलंकार माना है, उदाहरण यथा—

"भोजन करत चपल-चित, इत-उत औसर पाइ।
भागि चले किलकात मुख-दधि-ओदँन लपटाइ॥"
—रा० च० मा० (गो० तुलसीदास)

अथवा—

"नासा-मोरि, नचाइ-दृग, करी कका की सौंह।
काँटे-सी कसकत हिऐं, गड़ी कटीली-भौंह॥"

ॐ

"गड़ी कटीली भौंह, केस निरवारति प्यारी।
तिरछी चितवँन चितै, मैंनों उर-हँनत कटारी॥
कहि 'पठाँन सुलतान' छक्यौ लखि अजब-तमासा।
वाकौ सैहैज सुभाव, और कौ बुधि-बल-नासा॥"

अथवा—

"गड़ी कटीली भौंह, न भूलति कबहुँ भुलाऐं।
वह चितवनि, वह मुरनि, चलनि, चल-चपल नचाऐं॥

प्रौंन रहे 'हरिचंद', एक सोंहँन की आसा।
उँन तौ बिछुरत-ही, बुधि, बल, मँन धीरज-नासा॥''

●

''गड़ी कटीली भौंह जीय-सो चुभत सदाँ-हीं।
अब उँनके बिन मिलें सखी, जिय माँनत नाँहीं॥
लाउ बेगि 'हरिचंद', पूरि मँम कोटँन-आसा।
नाँहीं तौ यै तँन बियोग मो मँनमथ - नासा॥''

स्वभावोक्ति का एक तीसरा भेद पं० जगन्नाथ प्रसाद 'भानु'—''जहाँ प्रतिज्ञा-बद्ध कोई बात कही जाय, अथवा किसी बात (कार्य) का—प्रकार का, प्रण किया जाय वहाँ स्वभावोक्ति रूप एक 'प्रतिज्ञालंकार' और होता है, जिसका उदाहरण है—

''बारि-टारि डारों, कुंभकरनें-बिदारि डारों,
मारों मेघनादै आज यों बल-अँनंत हों।
कहै 'पदमाकर' त्रिकूट-ही कों ढाहि डारों,
डारत करेंई जातुधाँनन कौ अंत हों॥
अच्छहि निरच्छ कपि रुच्छ ह्वै उचारों इमि,
तोसे तिच्छ-तुच्छँन कों कछवै न गंत हों।
जारि डारों लंकै, उजारि डारों उपबँन,
फारि डारौ रॉंमन कों तौ में हँनुमंत हों॥''

किंतु यह सुभाव के अंतर्गत होने से प्रथकता की आवश्यकता प्रतीति नहीं होती। केवल-बाल की खाल निकालना-मात्र है। स्वभावोक्ति का पोद्दार जी ने जो उदाहरण दिया है, वह भी सुंदर है—

''आगें धेंनु धारि हैं री ग्वालँन-कतार ताँ में,
फेरि टेरि - टेरि धौरी - धूँमरीन गोंन ते।
पोंछि पुचिकारँन अँगोंछँन सों पोंछि-पोंछि,
चूंम चारु चरँन चलावै सु बचँन ते॥
कहै 'महबूब' धरी मुरली अधर बर,
फूंक दई खरज - निषाद के सुरँन ते।
अँमित अँनद भरे कद - छबि बृंदाबँन,
मद गति आवत मकुंद मधुबन ते॥''

अथ हेतु अलंकार लच्छन जथा—

या कारँन कौ है यही, कारज यै कहि देतु।
कारज-कारँन एक-ही, कहैं जाँनियतु 'हेतु'॥

वि० —"जहाँ इस कारण का यही कार्य कहा जाय तथा कार्य-कारण एक साथ वर्णन किये जाँय वहाँ 'हेतु' अलंकार होता है।

हेतु का अर्थ कारण है और कारण-वश कार्य होता है। कारण का फल कार्य है और कारण के अनंतर कार्य होता है। साधारणतया भी पहिले कारण का उल्लेख करने के बाद में उसके फलस्वरूप कार्य का कथन किया जाता है, क्योंकि हेतु-कारण समानार्थी हैं। अतएव कारण का कार्य के साथ तथा कारण के साथ कार्य के अभेद वर्णन में यह अलंकार होता है। यद्यपि यहाँ कारण-कार्य क्रमशः कहे गये हैं, फिर भी इसके वर्णन में उक्ति-वैचित्र्य वा चमत्कार-युक्त कथन होना चाहिये। कुवलयानंद में इसका लक्षण—"**हेतोर्हेतुमता सार्थं वर्णनं हेतुरुच्यते**" और साहित्य-दर्पण में भी शब्दाडंबर से यही "**अभेदेनाभिधाहेतुर्हेतोर्हेतुमता-सह**" (हेतु—कारण और हेतुमान्—कार्य का अभेद से कथन करने में—हेतु) कहा है। अतएव 'हेतु' जैसा दासजी ने कहा है, दो प्रकार का—कारण के साथ कार्य के वर्णन में (जब कारण-कार्य का एक साथ वर्णन किया जाय) और कारण-कार्य के अभेद रूप वर्णन में (जब कारण-कार्य एक से, भेद-रहित वर्णन किये जाँय) होता है।

हेतु के प्रति किन्हीं आचार्य का मत है कि यह रूपक का अंग है, किंतु रूपक में उपमेयोपमान का अभेद कहा जाता है और इसमें कारण और कार्य का, अतः यह रूपक से प्रथक है। इसी प्रकार कोई हेतु को काव्यलिंग के और कोई इसके प्रथम भेद को 'अक्रमातिशयोक्ति के अंतर्गत मानते हैं। काव्यलिंग में ज्ञापक कारण से कथितार्थ का समर्थन किया जाता है, हेतु में नहीं। यहाँ उनका एक साथ वर्णन किया जाता है। अक्रमातिशयोक्ति के 'अक्रम' शब्द के व्युत्पति मूलक अर्थ से यह स्पष्ट है कि वहाँ कारण-कार्य का पौर्वापर्य क्रम के बिना एक संग हो जाना वर्णन किया जाता है और यहाँ दोनों (कारण-कार्य) का वर्णन-मात्र ही होता है। अर्थात् अक्रमातिशयोक्ति में कार्य कार्य की पूर्णता रहती है, यहाँ अपूर्णता...।"

अथ प्रथम हेतु उदाहरन जथा—

सुधि गई सुधि की, न चेत रह्यौ चेत ही में,
लाज तजि दीनीं लाज, साज सब गेह कौ।
गारी भए[1] भूषँन, भयौ है उपहास-बास,
'दास' कहै देह में न तेह रह्यौ तेह कौ॥

पा०—१. (का०) (वें०) भई...।

सुख की कहाँनी हँमें, दुख की निसाँनी भई,
झार भयौ[1] अँनिल, अँनिल भयौ[2] मेह कौ।
कुल कौ[3] धरँम भयौ[4] घावरे परँम यहै,
साँवरे[5] करँम सब रावरे सँनेह कौ॥

अस्य तिलक

इहाँ लच्छनासक्ति ते सिगरे कवित्त में अतिसयोक्ति ब्यंग है —"ए सब करँम रावरे सँनेह के हैं"—इतनो बात (कारज-कारन एक) हेतु अलंकार की है।

दूसरौ हेतु—'कारज-कारण एक' उदाहरन जथा—

आज सयाँन यहै सजनीं, न कहूँ चलिबौ न कहूँ कों[6] चलैबौ।
'दास' यहाँ काहू[7] नाँम कौ लैबौ[8], है आपनी बात कौ[9] पेच-बढ़ैबौ॥
होत यहाँ तौ अरीति अबै-री, गुपाल कौ[10] आलिन-ओर चितैबौ।
अंतर-प्रेम-प्रकासक है, यैं तेरौ ही[11] लाल कों देखि लजैबौ॥

वि०—"हेतु अलंकार से सुशोभित प्रताप कवि की यह उक्ति भी अति सुंदर है, यथा—

"सुचि सीतल मंद-सुगंध-सँमीर, सदाँ दस-हूँ दिसि डोलत है।
कल-कोकिल-चातक मोद-भरे, अँनुराग हिएँ हठि खोलत है॥
लपटी लतिका तरु-जालँन सों, तिन पै खग-पुंज कलोलत है।
चहुँ ओर सों बाँनिक सौ बँनिकें, बँन में बरही बहु बोलत है॥"

यहाँ वर्षा-कारण से नायिका-द्वारा अभिसार कराना कार्य सखी को अभीष्ट है, अतएव दासजी कृत इस कारण का यही कार्य रूप प्रथम हेतु है।"

अथ प्रमाँनालंकार लच्छन जथा—

कहुँ प्रतच्छ, अँनुमाँन कहुँ, कहुँ उपमाँन दिखाइ।
कहूँ बड़ेन कौ बाक्य लै, आतम-तुष्टि कहुँ पाइ॥

पा०—१.२. (का०) (वें०) (प्र०) भए...। ३. (का०) (वे०) (प्र०) के...। ४. (का०) (वें०) (प्र०) भए...। ५. (रा० पु० नी० सी०) सबरे...। ६. (वें०) (स० पु० प्र०) की...। ७. (का०) (वें०) (प्र०) ह्याँ काहू के नाम...। (सं० पु० प्र०) ह्याँ काहू कौ नाम...। ८. (का०) (वें०) (प्र०) लीबौ है। ९. (सं० पु० प्र०) में...। १०. (का०) (वें०) की...। (स० पु० प्र०) अबै-री गुपाल के...। ११. (वें०) तेर-ई...।

अँनुपलब्ध संभव कहूँ, कहुँ लै अरथापत्ति[1] ।
कवि 'प्रमाँन' भूषँन कहैं बातजु बरनें सत्ति[2] ॥

वि०—"जहाँ किसी अर्थ का (यथार्थता का अनुभव) कहीं प्रत्यक्ष, कहीं अनुमान, कहीं उपमान, कहीं बड़ों के वाक्य (शब्द), कहीं आत्म-तुष्टि, कहीं अनुपलब्ध, कहीं संभव और कहीं अर्थापत्ति-रूप प्रमाणों से जाना जाय, वहाँ 'प्रमाणालंकार' कहते हैं ।

काव्य-ईश्वरादि निर्णय के लिए 'प्रमाण' की आवश्यकता कही जाती है । अतएव वैशेषिक-शास्त्रकार 'कणाद' मुनि और बौद्धाचार्यों ने प्रथम प्रमाण के दो ही भेद—"प्रत्यक्ष" और 'अनुमान" माने हैं । इनके बाद भगवान कपिलदेव ने सांख्य में 'प्रत्यक्ष' 'अनुमान' और 'शब्द' तीन प्रकार के प्रमाण कहे हैं । इसी प्रकार—महर्षि गौतम ने अपने 'न्याय-शास्त्र' में प्रत्यक्ष, अनुमान शब्द के अतिरिक्त 'उपमान' को भी प्रमाण का भेद माना है । मीमांसा-शास्त्र में 'एकदेशी प्रभाकर' ने महर्षि गौतम के चार—प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द और उपमान के अतिरिक्त अर्थापत्ति-रूप प्रमाण का भी उल्लेख किया है । तदनंतर मीमांसक भट्ट और वेदांत-शास्त्र के भाष्यकारों में अद्वैतवादियों ने प्रत्यक्षादि अर्थापत्ति के बाद एक छठवाँ 'अनुपलब्धि' प्रमाण भी माना है और अंत में भगवान वेदव्यास जी ने पुराणों में—"प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि, संभव और 'ऐतिह्य' नाम के आठ प्रमाण कहे हैं । ऐतिह्य में लोकोक्तियों के अतिरिक्त अन्य विशेषता नहीं होती, इसलिए दासजी ने इसके स्थान पर "आत्म-तुष्टि" लिखा है, जो उचित है—ग्राह्य है । चार्वाक एक ही 'प्रत्यक्ष' प्रमाण को मानते हैं ।

प्रमाण का साधारण अर्थ है—वह साधन जिसके द्वारा किसी वस्तु का यथार्थ ज्ञान हो, वह साधन जिसके सहारे कोई बात सिद्ध की जाय, अथवा वह सबूत जिसका वचन या निर्णय यथार्थ वा आप्त (प्रमाणिक) माना जाय । इसके अतिरिक्त प्रमाण का अर्थ—माप, परिमाण, मात्रा, इयत्ता, सीमा और अवधि भी माने जाते हैं, यथा—"**प्रमाणं हेतु मर्यादाशास्त्रेयत्ताप्रमातृषु**" (अ० को०-३, ३, ५३) । काव्य-साहित्य में इसका लक्षण—"**सन्निकर्षभवंचस्युज्ञान प्रत्यक्षमुच्यते**", अथवा—

"कहिए बचँन प्रमाँन जब, देद साख जुत होइ ।
सत्य बचँन सब ते भलौ, बुरौ कहत नहिं कोई ॥"

पा०—१. (का०) (वें०) (प्र०) अरथापत्य । २. (का०) (वें०) (प्र०) सत्य ।

आठ भेद प्रत्यच्छ गुँनि, अनुँमाँनरु उपमाँन ।
सब्दर्थापति-अनुपलबधि सभव, एतिह जाँन ॥

अतएव जहाँ किसी अर्थ का प्रमाण, अर्थात् यथार्थ का अनुभव (अमुक पदार्थ ऐसा व इतना है) वर्णित हो, वहाँ प्रमाणालंकार होता है और उसके ऊपर लिखे आठ भेद होते हैं। संस्कृत में महाराज भोज ने और अप्पय दीक्षित ने इन्हें स्वीकार किया है तथा कतिपय भाषा-ग्रंथों में भी इनका वर्णन मिलता है। कुछ आचार्यों का कहना है कि प्रमाण रूप प्रत्यक्ष और अनुमान इन दोनों में ही कुछ-कुछ विशेषता है, अन्य प्रमाण—शब्दादि इनके भीतर समा जाते हैं, साथ-ही इनमें कोई लोकोत्तर चमत्कार भी नहीं, इसलिये विस्तार करना व्यर्थ है।" फिर भी प्रत्यक्षादि आठों प्रमाणों की व्याख्या इस प्रकार कही गयी है। प्रत्यक्ष, यथा—

इंद्रिय अरु मँन ए जहाँ, विषइ आपनों पाइ ।
ग्याँन करें प्रत्यच्छ तिहिँ, कहि 'गुलाब' कबिराइ ॥"

अर्थात् जहाँ पाँचों इंद्रियाँ और मन रूप छहों में से किसी एक, दो, तीन वा चार अथवा सबों के विषय का यथार्थ अनुभव हो वहाँ प्रत्यक्ष प्रमाण कहा जाता है। इंद्रियाँ—कर्ण, त्वचा, नेत्र, जिह्वा, नासिकादि और इनके विषय शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध और संकल्प-विकल्प कहे जाते हैं। अनुभव-प्रमाण वहाँ होता है, जहाँ किसी साधन-द्वारा किसी साध्य पदार्थ का निश्चयात्मक अनुमान हो, यथा—"अनुमानंतदुक्तं यत्साध्यसाधनयोर्वचः" अथवा—**अँनुमान जु कारँन देखिकें, कारज लीजै जाँन** ।

संस्कृत-अलंकार-ग्रंथों में प्रमाण तो नहीं, पर इसके द्वितीय भेद 'अनुमान' को अलंकार रूप में अवश्य ग्रहण किया गया है। इन मान्यवालों में—आचार्य रुद्रट, भोज, मम्मट और रुय्यक प्रधान हैं। अतएव श्री मम्मटाचार्य ने काव्य-प्रकाश में इसका लक्षण जैसा पूर्व में लिखा है - **"अनुमानं तदुक्तम्यत् साध्य-साधनयोर्वचः"** (जहाँ साध्य-सिद्ध करने योग्य वस्तु और साधक—सिद्ध करने वाला हेतु, का कथन किया जाय वहाँ अनुमानालकार) कहा है।

अनुमान, कवि-कल्पित चमत्कार पूर्ण साधन के द्वारा साध्य को ज्ञान कराये जाने पर-ही अलंकार श्रेणी में आयेगा, अन्यथा नहीं। यहाँ साधन ज्ञापक-कारण रूप में होता है। अनुमान में, उत्प्रेक्षा-वाचक-शब्द—जानत हों, मानत हों, जानों, मानों और निश्चै आदि का प्रयोग जैसा उत्प्रेक्षा में होता है, वैसा यहाँ (अनुमान) भी प्रायः होता है, किंतु उत्प्रेक्षा में इन वाचक शब्दों का प्रयोग उपमेय में उपमान के सादृश्य की संभावना में अनिश्चित रूप से किया जाता

है और यहाँ इन वाचक-शब्दों का प्रयोग उपमेयोपमान भाव (सादृश्य) के बिना साध्य को साधन-द्वारा सिद्ध करने के लिए निश्चित रूप से किया जाता है।

"उपमान-प्रमाण वहाँ होता है-"जहाँ उपमान के सादृश्य से बिन-देखे हुए उपमेय का ज्ञान कराया जाय। इसी प्रकार 'शब्द-प्रमाण वहाँ—"जहाँ शास्त्र व महाजनों के वाक्य प्रमाण-रूप में वर्णित हों। अथवा—

"जहाँ सास्त्र अरु लोक के, बचँन प्रमान-बखाँन।"

जिसमें अपने अंतःकरण-स्थित विश्वास के साथ किसी अर्थ का प्रमाण कहा जाय, वहाँ 'आत्म-तुष्टि 'प्रमाणालंकार' होता है और "अनुपलब्धि"—"**जाँनि परै नहिं वस्तु कछु, अनुपलब्ध है सोइ।**" अर्थात् जिसमें किसी अर्थ की अप्राप्ति में उसके अभाव का प्रमाण वर्णन किया जाय। इसी प्रकार "संभव-प्रमाणालंकार वहाँ होगा, जहाँ—"**संभवस्तु निमित्तेन वस्तु संभावना यदि,**" अर्थात् "**जहँ संभव है वस्तु कौ संभव नाँम सुहोइ**", (जिसमें किसी अर्थ के संभव होने का प्रमाण-रूप में वर्णनकिया जाय) जहाँ वस्तु की संभावना की जाय। यहाँ, संभव से कथितार्थ के वर्णन से तात्पर्य है, इत्यादि...।

अर्थापत्ति-प्रमाण वहाँ होता है—जहाँ किसी अर्थ का प्रमाण अन्यार्थ के योग से कहा गया हो, व्यर्थ कथित अर्थ अन्य के योग से स्थापित किया गया हो।

अर्थापत्ति, मीमांसकों के अनुसार "जहाँ एक बात के कथन से दूसरी बात स्वतः सिद्ध हो जाय, वहाँ प्रमाण रूप मानी गयी है। अतएव काव्यार्थापत्ति से इसकी प्रथकता बतलाते हुए अलंकाराचार्यों का कहना है कि 'काव्यार्थापत्ति में भी एक अर्थ से दूसरे अर्थ की सिद्धि होती है, पर वहाँ सिद्ध किया जाने वाला अर्थ वस्तुतः अकथित होता है और उसका निर्देश केवल कुछ शब्दों-द्वारा किया जाता है और यहाँ "सिद्ध होने वाला अर्थ स्पष्ट-रूप में कहा जाता है, यही अंतर हैं।

अथ प्रथम प्रमाँन-प्रत्यच्छ कौ उदाहरन जथा—

बाल-रूप जोबँनवती, भव्य-तरुँन कौ संग।
दींनीं[1] दई सुतंत्रता, सती होइ किहिं ढंग॥

वि०—"पूर्ण यौवनवती अविवाहित वा विवाहित स्त्री का तरुण-पुरुषों के साथ स्वतंत्रता से मिलना प्रत्यक्ष में सती होने का ढंग नहीं कहा जा सकता,

पा०—१. (वें०) (प्र०) (सं० पु० प्र०) दीन्हीं दई सुतंत्र के...।

उसका असती होना ही प्रत्यक्ष है। अलंकार-आशय (उत्तमचंद भंडारी) में 'प्रत्यक्ष-प्रमाण का उदाहरण सुंदर है, यथा—

**"सखि, नंद के द्वार सिंगार-सँमैं, सब गोप-कुँमार खरे हित कै।
वौ सूरत नींठि निहारँन कों, सब दीठि लगाइ रहे चित दै॥
तब खोलत-ही पट, मोंहन की छबि-देखत-ही इकबार सबै।
चहुँ ओर ते ग्वाल पुकार उठे,—"ब्रज-दूलह नंद-किसोर की जै॥"**

और कविवर श्री बिहारीलाल का यह दोहा—

**"अजों तरोंनाँ-हीं रह्यौ, स्रुति-सेवत इक अंग।
नाँक-बास बेसर लह्यौ, रहि मुक्तँन के संग॥:'**

बिहारीलाल कृत यह दोहा उनकी 'सतसई' में चोटी का है, साक्षी हैं स्व० पं० श्री पद्मसिंह शर्मा, यथा—"तरौना कान के एक आभूषण का नाम है, जिसे 'तरकी' या 'ढेड़ी' भी कहते हैं। बेसर, नाक का प्रसिद्ध भूषण (नथ) है। कवि ने इन दोनों शब्दों के साथ श्लेष-बज्र से बड़ा अद्भुत चमत्कार दिखलाया है। कवि कहते हैं— "श्रुति (कान) रूप एक अंग का सेवन करने वाला 'तरोंना' अब तक 'तरों+ना' ही है (तरा नहीं है) और 'मुक्तँन' के संग' (मोतियों के साथ रह) 'बेसर' (नथ) ने 'नाँक-बास' (स्वर्ग का बास) प्राप्त कर लिया—नाक में स्थान पा लिया।" "इसका दूसरा 'प्रतीयमान अर्थ है—"कोई किसी मुमुक्षु से कह रहा है कि मुक्ति चाहते हो तो जीवन्मुक्त महात्माओं की संगति करो, श्रुति-सेवा भी एक संसार-तरणोपाय है सही, किंतु इससे शीघ्र नहीं तरोगे। देखो, यह कान का 'तरोंना' श्रुति-रूप एक अंग का कबसे सेवन कर रहा है, पर अब तक "तरोंना-ही रह्यौ"—तरा नहीं, तरोंना-ही बना है और बेसर ने "मुक्तँन के संग रहि (बसि)"—मुक्तों की संगति पाकर "नाँक-बास लह्यौ"—वैकुंठ-बास पाकर सालोक्य मुक्ति प्राप्त कर ली।

अथवा कोई किसी केवल श्रुति-सेवी मुमुक्षु से कह रहा है कि "एक अंग श्रुति का सेवन करते हुए (भी) तुम अब तक नहीं तरे—विचार तरंगों में गोते खा रहे हो और वह देखो, अमुक व्यक्ति मुक्तों को सत्संगति से 'बेसर' अनुपम 'नाक-बास' (वैकुंठ-प्राप्ति, सायुज्य-मुक्ति) प्राप्त कर लिया।

दोहे के तरोंनाँ, स्रुति, अंग, नाक, बेसर और मुक्तँन ये सब पद श्लिष्ट हैं— दु-अर्थक हैं।

संगति की महिमा से ग्रंथ भरे पड़े हैं। गो० तुलसीदासजी ने भी भगवद्-भक्तों को सत्संगति की महिमा बड़े समारोह से समझायी है, पर इस चमत्कार-जनक प्रकार से किसी ने कहा हो, सो हमने नहीं सुना। बिहारी अपने कविता

प्रेमियों की नब्ज पहचानते थे, वह जानते थे कि "अपने बावले" को कैसे समझाया जाता है—रस-लोलुप-कविता-प्रेमी सत्संगति की महिमा को किस रूप में सुनना पसंद करेंगे। रात-दिन जो चीजें प्रेमियों की नजर में समायी रहती हैं, उनकी ओर इशारा करके ही उन्हें यह तत्व समझाना चाहिये। कवि के लिये यही उचित है। नीरस उपदेश पर रसिक-रोगी कब कान देता है—सुनता भी नहीं, आचरण करना तो दूर रहा।

कवि जब विषयासक्त प्रेमी को विषयासक्ति का दुष्परिणाम समझाना चाहता है तो उसके लिए किसी पतित भक्त या योग-भ्रष्ट ज्ञानी का दृष्टांत (प्रत्यक्ष की भाँति) देने को वह इतिहास के पन्ने पलटने नहीं बैठता, वह उस विषयी की दृष्टि में बसी हुई चीज को सामने (प्रत्यक्ष में) दिखाकर झटपट बोल उठता है कि देखो, विषयासक्ति की दुरंतता!

"स्नेहं परित्यज्य निपीय धूमं कांताकचामोक्षपथं प्रपन्नाः।
नितंब संगात्पुनरेव बद्धा अहो दुरंता विषयेषुसक्तिः॥

—सतसई-सौष्ठव (पद्मसिंह)

विहारी के इस दोहे में अलंकारों का भी काफी झुरमुट है। श्लेष से पुष्ट मुद्रलंकार तो चमक-ही रहा है, 'प्रत्यक्ष-प्रमाणालंकार भी अपनी सज-धज दिखा रहा है।" प्रत्यक्ष-प्रमाण रूप किसी कवि की यह सूक्ति भी सुंदर है—

"लखन सुनों, जिहि कारनें, होत जग्य-धँनु-धारि।
मँन माँनत है देखि यै, है वौ जनक दुलारि॥"

दुतिय प्रमाँन—अनुमाँन उदाहरन जथा—

यै पावस तँम, साँझ नहिं, कहा दुचित मति भूलि।
कोक असोक बिलोकिऐ, रहे कोकनँद फूलि॥

वि०—"कविवर ग्वालजी कृत नीति-संमत 'अनुमान' का यह उदाहरण (छंद) भी सुंदर है, यथा—

"जाकी खूब-खूबी खूब-खूबी यहाँ चारँन में,
ताकी खूब-खूबी, खूब-खूबी नाँ अगाहनाँ।
जाकी बदजाती, बदजाती यहाँ चारँन में,
ताकी बदजाती, बदजाती नाँ सराहनाँ॥
'ग्वाल कवि' तेरें यही परसिद्ध - सिद्ध,
यही परसिद्ध जाकी इहाँ-वहाँ सराहनाँ।
जाकी यहाँ चाँहनाँ है, ताकी वहाँ चाँहनाँ है,
जाकी यहाँ चाँह-नाँ है, ताकी वहाँ चाँह-नाँ॥"

"सुँनत पथिक मुँह माघ-निसि, लुऐं चलति उहि गाँम ।
बिनँ-बूझें, बिनँ-ही सुँने, जियति बिचारी बाँम ॥"

*

"नभ-लाली, चाली निसा, चटकाली धुँनि कीन ।
रतिपाली आली अँनत, आए बनमाली न ॥"

उर्दू में भी "अनुमान" पर अच्छी-अच्छी सूक्तियाँ हैं, दो-चार देखिए और सराहिए जैसे—

"बलायें लेके पूछा हमने उनसे, कहिये, क्या समझे ।
वह पहिले मुस्कराये, फिर कहा, तुझसे खुदा समझे ॥"

*

अर्ज मतलब पर बिगड़ जाते हैं वह ।
बात कहना भी शिकायत हो गयी ॥

*

हाल-वस्ले गैर का, उस शोख से क्या पूछिये ।
या तो यह होगा, कि होगा, या यह होगा, होगया ॥

*

ख्वाब में उनको किसी ने रात छेड़ा है जरूर ।
देखते हैं गौर से मुझको बुलाकर सामने ॥

तीसरौ प्रमाँन-उपमाँन कौ उदाहरन जथा—

सहस घटँन में लखि परै, ज्यों एकै रजनीस ।
त्यों घट-घट में 'दास' जू,[१] प्रतिबिंबित जगदीस ॥

चौथौ प्रमाँन 'सबद' के भेद लच्छन जथा—

स्रुति-पुराँन की उक्ति औ[२] लोक-उक्ति दै चित्त ।
वाच्च-प्रमाँन जु माँनिऐं, सब्द-प्रमाँन सुमित्त ॥

वि०—"दासजी ने चौथे प्रमाणालंकर स्वरूप 'शब्द-प्रमाण' के दो भेदों का कथन करते हुए वाच्य-प्रमाण, श्रुति-पुराणादि शास्त्रीय उक्ति, शब्द-प्रमाण रूप लोकोक्तियों को बतलाया है, उदाहरण जैसे—

पा०—१. (का०) (वें०) (प्र०) है...। २. (का०) (वें०) (प्र०) कों...। (सं० पु० प्र०) कै...।

स्तुति-पुराँनोक्त प्रमाँन उदाहरन जथा—

तुँम जु हरी पर-बाल, ता ते हँम या[1] हाल में।
नाथ, विदित सब काल, जो 'हंन्यात सो हंन्यते'॥

लोकोक्त-प्रमाँन उदाहरन जथा—

काँन्ह चलौ किँन एक दिँन, जहँ परपंची[2] पाँच।
देह[3] कहँ तौ लीजियो, कहा साँच कों आँच॥

वि०—"शब्द-प्रमाण और लोकोक्ति के निम्न-लिखित दो उदाहरण भी अति सुंदर हैं, क्रमशः यथा—

"संकर से मुँनि जाहि रटें, चतुराँनन-आँनन-चारि ते गावें।
सो हिय नेंकु-हिँ आवति-ही, मति-मूढ़ महा 'रसखाँन' कहावें॥
जा पर देव-अदेव-भुजंगम, बारत प्राँनन बार न लावें।
ताहि अहीर की छोहरियाँ, छछिया-भरि छाछ पै नाँच-नचावें॥"

❀

"एक तौ भोंन महा अति साँकरौ, दूसरें लोगँन कौ है भराभर।
तीसरौ और बड़ौ दुख हयाँ, घरहाँईं करें घँनों घेर घराघर॥"
कासों कहों में हिए की बिथा, कथा और सुँनों सब भाँति निरादर।
पीतँब कौ मिलनों सजनी, भयौ पास कौ बास बिदेस-बराबर॥"

पाँचयों प्रमाँन 'आत्मतुष्टि'-लच्छन जथा—

अपने अंग-सुभाइ[4] कौ, दृढ़ बिसवास जहाँ-हिं।
'आतँमतुष्टि' प्रमाँन कवि-कोविद कहें[5] तहाँ-हिं॥

अस्य उदाहरन जथा—

मोहिँ भरोसौ जाँहुगी, स्याँम-किसोरै-ब्याहि।
आली, मो अँखियाँ न-तरु[6] इती न रहिती चाहि॥*

वि०—"आत्मतुष्टि के उदाहरण स्वरूप ब्रजभाषा के चहेते कवि 'द्विजदेव' जी की सूक्ति देखिये, यथा—

पा०—१ (का०) (वें०) (प्र०) यहि...। २. (का०) (प्र०) परपचौ...। ३. (वें०) दीज्य कहैं सो दीजिए.। (सं० पु० प्र०) दिव्य कहत सो दीजियो...। ४. (सं० पु० प्र०) सुभाव...। ५. (प्र०) कहत...। ६. (वें०) अँखियाँन-तर...। (सं० पु० प्र०) अँखियाँन-तर इन्हें...।

*, गा० भू० (केडिया) पृ०—३७०।

"जहि जीवँन-मूरि कौ लाहु अली, वै भली जुग-चारि लों जीबौ करें ।
'द्विजदेव जू' त्यों हरखाइ हिऐं, बर-बैंन-सुधा-मधु पीबौ करें ॥
कछु घूंघट-खोल चितै हरि-ओरैंन, चौथ-ससी-दुति छीबौ करें ।
हैंम तौ ब्रज कौ बसबौई तज्यौ, अब चाव-चबाइनें कीबौ करें ॥"

*

हैंम एक कुराह चलीं तौ चलीं, हटकौ इन्हें ए नाँ कुराह चलें ।
इहि तौ बलि आपुनों सूझती हैं, प्रँन - पालिऐ सोई जो पालें-पलें ॥
'कबि ठाकुर' प्रीति करी है गुपाल सों, टेरें कहों, सुँनों ऊँचे गलें ।
हँमें नींकी लगी सो करी हँमनें, तुम्हें नींकी लगौ न लगौ तौ भलें ॥

छठयों प्रमाँन 'अनुपलब्धि' उदाहरन जथा—

यों जु[1] कहों कटि नाँहिं तौ, कुच हैं कौंन[2] अधार ।
परँम इंद्रजाली मदँन, ता[3] कौ चरित अपार ॥

सातयों प्रमान —संभव उदाहरन जथा—

होती विकल बिछोह की, तँनक-भँनक सुँनि कौंन ।
मास - आस - दै जात हौ, याहि गँनों बिँन-प्रौंन ॥

*

उपजेंगे ह्वै हैं अजों, हिंदूपति से दाँनि ।
कह्यौ[4] काल निरबधि[5] अवधि- बड़ी बसुमती जाँनि ॥

वि०—"नीति वाक्य-युक्त संभाव-प्रमाण का उदाहरण ठाकुर कवि रचित यह भी सुंदर है, यथा—

"सामिल में, पीर में, सरीर में न भेद राखें,
हिंमत-कपाट कों उघारें तौ उघरि जाइ ।
ऐसौ ठाँन-ठाँनें तौ बिनाँ-हीं जंत्र-मंत्र किऐं,
साँप के जैहेर कों उतारें तौ उतरि जाइ ॥
'ठाकुर' कहत कछु कठिन न जाँनों यै,
हिंमत किए ते कहौ कहा नाँ सुधरि जाइ ।
चारि जैंनें चारि-हूँ दिसा ते चारों कोंने गहि,
मेरु कों हलाइ कें उखारें तौ उखरि जाइ ॥

पा०—१. (वें०) यों न...। (सं० पु० प्र०) जौन कहों...। २. (का०) (प्र०) (सं० पु० प्र०) केहि...। (वें०) किहिँ...। ३. (का०) (वें०) (प्र०) बिधि कौ...। ४. (का०) (वें०) (प्र०) कहीय...। ५. (का०) (वें०) निरवधिमलख...। (सं० पु० प्र०) निरअवधि-लखि,।

"होगा कोई जहाँ में, (जो) गालिब को न जाने ?
शायर तो अच्छा है, (पर) बदनाम बहुत है ॥"

आठयों प्रमाँन-अरथापत्ति उदाहरन जथा—

तिय-कटि नाँहिंन जौ[1] कहैं, तिन्हैं[2] न मति की खोज।
क्यों रहिते आधार-बिँन, गिरि-से कठिन[3] उरोज ॥

अरथापत्ति बचन-प्रमाँन जथा—

इतौ पराक्रँम करि गयौ, जाकौ दूत निसंक।
कंत कहौ दुस्तर कहा, ताहि तोरिबौ लंक ॥

वि०—"दासजी द्वारा अर्थापत्ति प्रमाण के उदाहरण स्वरूप प्रथम दोहे को किसी कवि ने इस प्रकार अपनाया है, यथा—

"तिय तेरी कटि है, यहै—मैं कीन्हौं निरधार।
जौ न होइ तौ को धरै, बिपुल पयोधर-भार ॥"

रसलीन कहते हैं—

"अरुँन माँग पटियाँ नहीं, मार जगत कों मार।
असित फरी पै लै धरी, रकत भरी तरवार ॥"

अथवा—

"नहिँ अंबर अंग, न संग सखा, बहु भूतँन के डर-सों डरतो।
डरतो पुनि साँपन की सुसुकारनि, भाँग-बटोरत-ही मरतो ॥
मरतो जिहि जाँनी न जन्म-कथा, नर-बाहँन-सों खर नाँ चरतो।
हँसि पारबती कहै संकर सों, हँम नाँ बरतीं, तुँम्हें को बर तो ॥"

श्री केशवदास कृत 'अर्थापत्ति' की माला-स्वरूप निम्न-लिखित छंद भी देखिये, यथा—

"बाल बली न बच्यौ पर-खोरहिँ, क्यों बचिहौ तुँम आपनी खोर-हिँ।
जा लगि छीर-सँमुद्र मथ्यौ, कहि कैसें न बाँधि हैं बारिध-थोर-हिँ ॥
श्री रघुनाथ गँनों असमर्थ न, देखि बिनाँ - रथ, हाथिन, घोर-हिँ।
तोरयौ सरासन संकर कौ, जिहिं सोंच कहा तुव लंक न तोर-हिँ ॥"

यहाँ "स्वयं राम के अपराधी तुम कैसे बचोगे ?" इस अर्थ को "पर (सुग्रीव) का अपराधी बालि उनके द्वारा मारा गया" इस अन्यार्थ के योग से

पा०—१. (का०) (वें०) (प्र०) जे कहैं...। २. (रा० पु० नी० सी०) तौ जु न मति की...। ३. (का०) (वें०) (प्र०) जुगल...।

प्रमाणित किया गया है। इसी प्रकार द्वितीत, तृतीय, चतुर्थ चरण में भी वही बात है, इस लिये माला है"—भारती-भूषणे श्री केड़िया-वचनात्।"

अथ काव्यलिंग अलंकार-लच्छन जथा—

जहँ सुभाव के हेतु कौ, करि[1] प्रमाँन कहि कोइ।
करै सँमर्थन-जुक्ति-बल,[2] 'काव्यलिंग' है सोइ॥

*

कहुँ वाक्यार्थ सँमरथिऐ, कहुँ सबदारथ[3] जाँन।
काव्यलिंग कबि-जुक्ति गँनि, वहै निरुक्ति न आँन॥*

वि०—"जहाँ स्वाभाविक हेतु प्रमाण के साथ युक्ति-बल से समर्थन किया जाय, वहाँ 'काव्यलिंग' कहा जाता है। यह काव्यलिंग—कहीं वाक्यार्थ और कहीं शब्दार्थ के समर्थन से दो प्रकार का होता है। कोई-कोई काव्यलिंग को 'वाक्यार्थता (संपूर्ण वाक्य के अर्थ में कारण का कहा जाना) और पदार्थता (एक पद के अर्थ में कारण का कहा जाना) नाम के उभय भेद में विभक्त करते हैं, पर वात दोनों एक-ही हैं।

काव्यलिंग में दो शब्द हैं—'काव्य' और 'लिंग'। यहाँ 'काव्य' शब्द का प्रयोग तर्कशास्त्र में माने हुए लिंग के साथ पृथक्ता दिखलाने को किया गया है। लिंग का अर्थ—'कारण, चिन्ह' वा 'हेतु' – आदि हैं। अतएव जहाँ वाक्य या पद के अर्थ से हेतु का भी वर्णन—कथन किया जाय, वहाँ यह अलंकार होता है। जो कुछ वर्णनीय विषय है उसके कारण का अन्य वाक्य, पद अथवा शब्दों से उल्लेख करते हुए समर्थन किया जाना इसका विषय है। ब्रजभाषा के ग्रंथों में—"जब किसी अर्थ का समर्थन युक्ति पूर्वक किये जाने पर यह अलंकार मानना कहा है।

काव्यलिंग का जैसा शब्दार्थ किया गया है, 'काव्यलिंग—चिन्ह (कारण) होता है और यहाँ कारण का प्रयोग 'ज्ञापक' या 'सूचक' रूप में होता है, 'कारक' का नहीं। इसी प्रकार ज्ञापक-कारण वह है जिससे किसी वस्तु का ज्ञान हो और सूचक, सूचना देने वाला। अतएव इसी ज्ञापक कारण से यह अलंकार समझा जाता है। यहाँ जो 'कारण' कहा जाता है, उसका बोध 'कारण' शब्द से नहीं, उसके अर्थ से कराया जाता है।

पा०—१. (का०) (प्र०) कै प्रमान जो कोइ। (वें०) कै प्रमान कों कोइ। २. (का०) (वें०) सों...। ३. (का०) (वें०) (सं० पु० प्र०) (प्र०) सब्दार्थ सुजाँन।

* शृं० ल० सौ० (द्विजदेव) पृ० ४०५ (टिप्पणी)।

काव्यलिंग, सर्व प्रथम संस्कृत के उद्भट-आचार्य ने माना है, तदनंतर मम्मट और रुय्यक ने। आचार्य मम्मट ने इसका लक्षण—"**काव्यलिंगं हेतोर्वाक्यपदार्थता**" (जहाँ वाक्यार्थ वा पदार्थ रूप से हेतु—कारण का वर्णन किया जाय वहाँ—काव्यलिंग) लिखा है और साहित्य-दर्पण में—"**हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिंगं निगद्यते**" (जहाँ वाक्यार्थ वा पदार्थ किसी का हेतु हो, वहाँ...) कहा है। आगे साहित्य-दर्पणकार कहते हैं—"कोई, कार्य-कारण भाव में अर्थांतरन्यास नहीं मानते, वाक्यार्थ-गत काव्यलिंग से ही उसे गतार्थ समझलेते हैं। यह ठीक नहीं, क्योंकि जैसा पूर्व में लिखा है—'हेतु तीन प्रकार का—ज्ञापक, निष्पादक और समर्थक रूप में होता है। जहाँ ज्ञापक हेतु हो वहाँ अनुमानालंकार और निष्पादक हेतु में काव्यलिंग तथा समर्थक हेतु में अर्थांतरन्यास का विषय समझना चाहिये", पर कुछ आचार्य कहते हैं कि हेतु - निष्पादक, ज्ञापक और समर्थक तीन प्रकार का होता है, ठीक है, किंतु यहाँ हेतु का तृतीय भेद (समर्थक हेतु) समीचीन नहीं ज्ञात होता, क्योंकि इसमें कार्य-कारण-भाव न मिटने के कारण वह प्रथम भेद (निष्पादक हेतु) में समा जाता है।

काव्यलिंग और अर्थांतरन्यास के विषय-विभाजन में यह भी कहा जाता है कि, अर्थांतरन्यास में वाक्य सामान्य तथा विशेष में होते हैं - एक-दूसरे के समर्थक होते हैं और काव्यलिंग में दोनों वाक्य उक्त रूप न हो कार्य—कारण रूप में होते हैं।

आचार्य मम्मट ने काव्यलिंग को 'हेतु' या 'काव्य-हेतु' भी कहा है। दंडी और भोज ने इसे हेतु के अंतर्गत मान "कारक-हेतु" माना है। हेतु के भी भाव-अभाव-साधनादि कई उपभेद माने हैं। कविप्रिया (केशवदास) में 'हेतु' अलंकार दंडी-अनुसार माना गया है, पर केशवदासजी दंडी के हेतु का स्वरूप नहीं समझे, जिससे उदाहरण उससे पृथक् हो गया है। जो उदाहरण केशवदासजी ने दिया है, वह दंडी-कथित 'अभाव-साधन' हेतु-अलंकार का नहीं, विभावना का विषय—"**अनसाधें हीं साधन सिद्ध भयोई**" बन गया है। क्योंकि यहाँ कारण के अभाव में कार्य का होना कहा गया है। इसी प्रकार 'भाव-अभाव हेतु का जो उदाहरण (जा दिन ते वृषभाँनु लली०) कविप्रिया में दिया गया है, वह भी दंडी के 'चित्र-हेतु' का उदाहरण है, भाव हेतु का नहीं। महा कवि केशव के इस पद्य में कार्य-कारण पौर्वापर्य रूप 'अतिशयोक्ति' है, किंतु ऐसे उदाहरणों में अचार्य दंडी ने अतिशयोक्ति न मानकर चित्र-हेतु-ही माना है। परिकर और काव्यलिंग के प्रति भी इन आचार्यों का कहना है कि "परिकर" में पदार्थ वा वाक्यार्थ के बल से जो अर्थ प्रतीत होता है, वही वाच्यार्थ को पोषित

करता है। वहाँ विशेषण साभिप्राय होता है, जिसके अर्थ से कहने के ढंग में विशेष चमत्कार उत्पन्न हो जाता है। काव्यलिंग में शब्द वा वाक्य का अर्थ दूसरे वाक्य की उक्ति का कारण बन जाता है—साक्षात् पदार्थ वा वाक्यार्थ ही कारण भाव को प्राप्त हो जाते हैं।"

काव्यलिंग के प्रति अलंकाराचार्यों में मत भेद है। कोई इसका लक्षण—"जो समर्थन के योग्य हो उसका समर्थन करना", कोई—"युक्ति से अर्थ का समर्थन करना" और कोई—"स्वभाव, हेतु वा प्रमाण-जन्य युक्तियों से समर्थन करने पर" इसे मानते हैं। ये लक्षण द्रविड़-प्राणायाम जैसे हैं, कहने के ढंग मात्र हैं, तथ्य-युक्त नहीं।"

काव्यलिंग—उदाहरन जथा—

ताल-तँमासे कों आवत बाल के,[१] कौतुक-जाल सदाँ सरसात है।
सोर चकोरिँन कौ चहुँ ओर, बिलोकत[२] बीच हियौ हरखात है॥
'दास जू' आँनन चंद-प्रकास ते, फूले[३] सरोज कली ह्वै जात है।
ठौर-हीं-ठौर बँधे अरबिंद, मलिंद के[४] बृंद घँने[५] भँननात है॥

वि०—"दासजी के इस उदाहरण में स्वभावोक्ति स्वरूप स्वभाव का समर्थन करते हुए काव्यलिंग है।

पुनः उदाहरन जथा—

हिऐं रावरे साँवरे, या ते लगत न बाँम।
गुंज-माल-लौं अरध-तँन, हौं हूँ होंउ न स्योंम॥

*

छबि है इन्हीं की, इन्ह[६] तिहारे खुले[७] बारँन में,
मेरौ सीस[८] छ्वै - छ्वै मोर - पंखँन[९] बताई है।
आँनन-प्रभा कों अरबिंद जल - पैठों 'दास',
बाँनी बर देति[१०] कल - कोकिल दुहाई है॥

पा०—१. (का०) (वें०) ।(सं० पु० प्र०) ताल तँमासे ह्वाँ बाल के आवत...। (प्र०) .....तमासे कैं आवत बाल को, । २. (प्र०) बिलकोत-ही हियरौ हर...। (सं० पु० प्र०) .....हिऐ...। ३. (का०) (प्र०) फूलो...। ४. (का०) कौ...। ५. (का०) घनों...। ६. (का०) ए...। (सं० पु०प्र०) (वें०) (प्र०) इन-हीं की छबि है तिहारे...। ७. (सं० पु० प्र०) छुटे...। ८. (का०) (वें०) (प्र०) (सं० पु० प्र०) सिर...। ९. (का०) (वें०) (प्र०) पच्छँन...। १०. (का०) (वें०) (प्र०) (सं० पु० प्र०) देती किल कोकिल...।

कुच की अचलता कों संभु-सिर लींनो[1] गंग,
रोंमावलि - हेत मधुपावलि[2] मधु - ल्याई है।
है-है[3] सोंहबादी, सो[4] फिरादे ह्याँ[5] कँमल[6] नेंनीं,
जिँन-जिँन की तैंनें[7] चारु चारुता चुराई है॥

वि०—"यहाँ दोनों (दोहा और घनाक्षरी) छंदों में युक्ति से हेतु (कारण) का समर्थन किया गया है, इसलिये यहाँ भी काव्यलिंग है।

पुनः उदाहरन जथा—

सोभा, सुकेसी की केसँन में, है[8] तिलोत्तमाँ की तिल-बीच निसाँनी।
उरबसी ही-में बसी, मुख को अनुहारि[9] सों इंदिरा में पेंहचाँनी॥
जाँनु कों रंभा, सुजाँन[10] कों जाँन है,'दास' जू बाँनी[11] में बाँनी समाँनी।
एती छबीलिंन सों छबि-छींन कें, एक रची बिधि राधिका राँनी॥

वि० "दासजी के इस उदाहरण में प्रत्यक्ष-प्रमाण रूप समर्थन-युक्ति से काव्यलिंग सुशोभित हो रहा है। एक 'द्विजदेव' (महाराज अयोध्या) जी की सूक्ति, जो काव्यलिंग का सुंदर उदाहरण है, देखिये—

"बरुनीं के उघारत वे सिसकें, चहुँघाँ मुख-जोवती आलि चलें।
कँनखैयँन ताकि रहै नँनदी, वे बदी-करि सौति-कुचालि चलें॥
'द्विजदेव' इते पर बाबरे लोग, सो दीठि जितै-तित डालि चलें।
बसिबौ तौ भयौ नित-ही ब्रज में, कब-लों अलि, घूंघट-घालि चलें॥"

श्री द्विजदेव जी की यह उक्ति "रूप-गर्विता' नायिका को सखी-प्रति है। इस उक्ति के प्रति नायिका-निरूपण में मत-भेद हो सकता है, पर 'असंलक्ष्यक्रम व्यंग्यध्वनि' में 'गर्व व्यभिचारी भाव', शब्दालंकार 'वृत्यानुप्रास' से मिलकर और 'वैदर्भी-रीति तथा 'प्रसादगुण' से गुंफित होकर 'काव्यलिंग' निराली शोभा दे रहा है, यह निर्विवाद है। द्विजदेवजो से प्रथम यही बात 'ठाकुर' कवि ने भी कही है, जथा—

पा०—१. (का०) (प्र०) लीन्हों...। (वें०) (सं० पु० प्र०) लीन्हें...। २. (का०) (वें०) (प्र०) मधुपाली (मधुपालि)..। ३. (का०) प्र०) हैं.। (सं० पु० प्र०) कै-कै...। ४. (का०) (वें०) है फिराधी...। (प्र०)(सं० पु० प्र०) है फिरादी...। ५ (सं० पु० प्र०) हाँ...। ६. (वें०) (स० पु० प्र०) चपल-नेंनी। ७. (का०) तू...। (वें०) (प्र०) तू यह चारुता चुराई...। (सं० पु० प्र०) यह तू चारुता चुराई...। ८. (का०) दै...। ६. (का०) (वें०) उनहारि...। १०. (का०) (वें०) (सं० पु० प्र०) सुजान सुजान है। ११, (सं० पु० प्र०) बेंनी।

"हरिजू की गैल यह, मेरी पौरि अगवाँ-सों,
 ह्याँ - ह्वै कढ्यौ ही चँहैं मोहि काँम घर कौ।
ताकौ घरहाँई', दुखहाँई' सोर पारती हैं,
 बास छोड़ि दीजै कै निकसिबौ डगर कौ ॥
'ठाकुर' कहत हों कराहँन भई हों सुँनि,
 सकल उराहँनों जु है रह्यौ अघर कौ।
घरी-पैहैर होइ तौ बचाऐं रहों मेरी बीर,
 देहरी - दुआर दुख आठ - हूँ पहर कौ ॥

*

"राजे - उल्फत, ऐ दिले-बेताब, अफशाँ कर दिया।
खुद भी रुसवा हो गया, मुझको भी रुसवा कर दिया ॥

अथ 'निरुक्ति' अलंकार लच्छन जथा—

"है 'निरुक्ति' जँह नाँम को[1] अरथ-कल्पनाँ आँन।
दोषाकर ससि कों कहें, याही दोष सुजाँन ॥"

वि०—"जहाँ किसी नाम की अर्थ-कल्पना दूसरी की जाय, वहाँ 'निरुक्ति अलंकार' होता है, जैसे—शशि को दोषाकर (दोषों का घर) कहना। भाषा-भूषण में इसका लक्षण इस प्रकार दिया है, यथा—

'सो 'निरुक्ति' जब जोग ते अर्थ-कल्पनाँ आँन।'

अर्थात्, जब किसी योग के कारण (नाम के—संज्ञा के, किसी विशेष जोड़-तोड़ से) कोई अन्य अर्थ की कल्पना की जाय, तब वहाँ यह अलंकार कहा जाता है।

निरुक्ति का अर्थ है—युक्ति, योजना—शब्द, या पद की व्युत्पत्ति-युक्त व्याख्या करना। अतएव यहाँ किसी ऐसे शब्द की जो किसी व्यक्ति आदि का नाम हो, उसकी प्रसिद्ध यौगिक व्याख्या को छोड़ यौगिक शक्ति से चमत्कार-युक्त कल्पना-द्वारा दूसरी व्याख्या की जाती है।

चंद्रालोक में "गुणों के अंगांगीभावों की तुलना दिखलाते हुए उसे एक विशेषणात्मक नाम देने को 'निरुक्त' कहा है, यथा—

निरुक्तं स्यान्निर्वचनं नाम्नः सत्यं यथा नृतं।
ईदृशैश्चरितै राजन्सत्यं दोषाकरो भवान् ॥"

पा०—१. (प्र०) कौ, जोग-कल्पना...।

यहाँ निरुक्त दो प्रकार का—'सत्य' और 'मिथ्या' कहा है। जो व्याकरण से सहज सिद्ध हो वह 'सत्य' और उसके विपरीत 'मिथ्या', जैसे—दोषाकर (दोष आकर) तथा राजन, अर्थात् राज=न। प्रथम (दोषाकर) व्याकरण-सिद्ध है, दूसरा (राजन्) नहीं। अस्तु, इन विभिन्न परिभाषा रूप निरुक्ति का लक्षण होगा—"योगवश किसी नाम का अन्यार्थ कल्पना किया जाना। जहाँ किसी नाम का किसी योगवश प्रसिद्ध अर्थ को त्याग व्युत्पत्ति के द्वारा अन्यार्थ कल्पित किया जाना...।" यथा—

"निरुक्तिर्योगतो नाम्नामन्यार्थत्वप्रकल्पनं।"

पुनः निरुक्ति उदाहरन जथा—

बिरही नर[1] नारींन कों, यै रितु चाहि[2] चबाइ।
'दास' कहैं या कों 'सरद' याही अरथ सुभाइ॥*

*

तो[3] कुल-कॉनन की परबींनता, मींन की भाँति ठगी रहती है।
'दास ज' याही ते हंस-हु के हिय में कछु संक पगी रहती है।
है रस में गुँन, औ गुँन[4] में रस, ह्याँ यै रीति जगी रहती है।
बासर-हू निसि माँनस[5] में बनमाली की बंसी लगी रहती है॥

वि०—"दासजी-कथित इन उदाहरणों में प्रथम दोहार्ध रूप 'दोषाकर' और 'बिरही नर-नारिंन०—में 'सरद' (स=रद—दाँतवाली) दोनों व्याकरण के अनुसार सहज सत्य सिद्ध हैं,। वंसी (वंशी) केवल द्वि-अर्थक—वंशी=मुरली और बंसी-मछलियाँ पकड़ने की डंडी है, जिसका प्रयोग (दोनों ही अर्थों में) दासजी ने "तोकुल-कॉनन की परबींनता०... रूप तीसरे उदाहरण में किया है, वह संस्कृतानुसार होते हुए भी मिथ्या है।

निरुक्ति अलंकार से विभूषित ब्रजभाषा में बड़ी-बड़ी सुंदर सूक्तियाँ सृजी गयी हैं, कहने के ढंगों में बड़े-बड़े चमत्कार उत्पन्न किये गये है, कुछ उदाहरण जैसे—

"ह्वै कै डहडहे दिन सँमता के पाए बिंन,
साँझ-'सरस जाँन सरँमि सिर-नायौ है।

पा०—१. (प्र०) नई...। २. (का०) (वें०) चाइ...। (प्र०) जात...। (रा० पु० प्र०) जाइ...। ३. (का०) (प्र०) तौ...। (वें०) तब...। ४. (वें०) अवगुन...। (प्र०) औगुन...। ५. (वें०) निसि मान-समें...। (सं० पु० प्र०) मानस में निसि बासर हूँ...।

* मु० स० (ला० भ० दी०) पृ० २१६, ११६।

निसा - भरि निसा-पति, करिकें उपाइ, विँन
पाऐं रूप-ग्रासर बिरूप है लखायौ है ॥
कहै 'मतिरांम' तेरे बदँन - बराबरी कों,
ओदरस बिमल बिरंचि नें बनायौ है।
दरप - न रह्यौ ताते दरपँन कहियतु,
मुकरि परत ताते मुकर कहायौ है ॥"

*

"तुँम नाँव लिखावती हौ हँम पै, हँम नाँव कहा कहौ लीजिऐ जू।
अब नाव चलै सिगरे जल में, थल में न चलै कहा कीजिऐ जू॥
'कबि मंचित' औसर जो अँकतीं, सकती नहिं-हाँ पर कीजिऐ जू॥
हँम तौ अपनों बर पूंजिती हैं, सँपने हूं न पी-पर पूंजिऐ जू॥"

※

"नैनाँ-मति रे रसनाँ, निज गुँन लींन।
कर तू पिय झाफकारे, अजुगत कींन॥"

*

आइकें निकट वौ पीत - पटवारौ भट्ट,
अटपटे बेंन बरजोर बतरात है।
देत नाँ भरँन घट, पट कों पकरि-रहत,
नट लों नचावै नेंन नेंक नाँ डरात है॥
मोह ते अधिक उर ओटत है लाँजन ते,
लंगर निकट - हटके सों अधिकात है।
घर - घर घैर सुँनें मँन - हट जात है - री,
पँनघट जात ता कौ पँन घट जात है॥

*

चँहत दुरायौ तो सों कौ-लगि दुराऊँ दैया,
साँची हों कहों-री बीर, सुँन सुख-काँन दै।
साँबरौ - सौ ढोठा इक ठाढ़ौ तीर जँमनाँ के,
मो-तँन निहारयो नीर-भरि अँखियाँन दै॥
वा दिँन ते मेरी-री दसा कों कछु बूझै मति,
चाहैं जो जिबायौ मोहि वही रूप दाँन दै।
हा-हा करि पाँइ परों, रह्यौ नहिं जात बीर,
पँनघट जाँन दै - री, पँन-घट जाँन दै॥"

मदँ-न कहँन यासों लगे, तब ते चतुर बिचारि।
हरौ गयौ याकौ सुमद, मोंहन-बदँन निहारि॥

•

"सूर - कुल - सूर महा प्रबल 'प्रताप' सूर,
चूर करिबे कों म्लेच्छ कूर-पँन कीन्यों तें।
'कहै रतनाकर' बिपत्तिँनि की रेलारेल,
झेल-झेल मातृ-भूमि-भक्ति-भाव-भींन्यों तें॥
बंस कौ सुभाव औ नाँम कौ प्रभाव थापि,
दाप कें दिलीपति कों ताप दीह दीन्यों तें।
घाट-हरदी पै जुद्ध ठाटि अरि - मेद - पाटि,
सारथ बिराट मेदपाट नाँम कीन्यों तें॥"

लोकोक्ति-छेकोक्ति लच्छन बरनन जथा—

सब्द जु कहिऐ लोक-गति, सो 'लोकोक्ति' प्रमाँन।
ताहि कहत 'छेकोक्ति' जो,[१] लिएँ[२] होइ 'उपखाँन'॥

वि—"जहाँ कुछ ऐसे शब्द कहे जाँय जो लोकोक्ति (कहनावत) रूप में प्रमाण हों, वहाँ 'लोकोक्ति' और जहाँ किसी उपखान (कहनावत) के साथ कोई बात कही जाय वहाँ 'छेकोक्ति' कही जाती है। अथवा जहाँ किसी बात में लोक-प्रवाद (कहावत) हो वहाँ लोकोक्ति, और जहाँ कुछ अर्थ-सहित लोकोक्ति (कहावत) कही जाय वहाँ 'छेकोक्ति' मानना चाहिये (भाषा-भूषण)।

लोकोक्ति, शब्दानुसार जन-समुदाय में प्रचलित कहावत कही जाती है, किंतु शुद्ध-अर्थ में यह "मुहाविरा" है, कहावत नहीं। अर्थात् वा-मुहावरेदार कहने का एक ढंग है, जो कहावत नहीं हो सकता, पर जहाँ से यह अलंकार ब्रजभाषा में आया है वहाँ, अर्थात् चंद्रालोक में भी स्फुट नहीं हो सका है, जैसे—

'लोकप्रवादानुकृतिर्लोकोक्तिरिति भण्यते।'

अतएव किसी प्रचलित लोकोक्ति वा मुहावरे का उचित प्रसंग के सहारे प्रयोग कर कुछ चमत्कार पैदा करना 'लोकोक्ति' होगा और छेकोक्ति वहाँ, जहाँ कुछ अर्थांतर-गर्भित लोकोक्ति रूप में बात कही जाय—प्रसंग वर्णन किया जाय।

छेक का अर्थ चतुर होता है, इस लिये इस अलंकार में चतुरतापूर्ण अन्यार्थ से—अभिप्रायांतर से गर्भित लोकोक्ति का प्रयोग किया जाता है, यथा—

पा०—१. (का०) (वें०) (सं० पु० प्र०) ताही छेकोक्तयौ कहैं ..। (प्र०)... लो...। २. (का०) (वें०) होइ लिऐं...। (सं० पु० प्र०) होइ लिऐं उपमान।

"......लोकोक्तेः स्याद्र्थांतरगर्भिता ।"

॥ अथ लोकोक्ति उदाहरन जथा—

बीस-बिसें दस द्यौस में, आँमेंगे बल-बीर ।
नेंन-मूँदि नौ दिंन सहौ,[१] नागरि अब दुख-भीर ॥

वि०—"दासजी का यह उदाहरण 'कुवलयानंद' के लोकोक्ति-उदाहरण—"सहस्व कतिचिन्मासान्मीलयित्वा विलोचने" (नेंन-मूँदि षट-माँस लों सहिऐ बिरह-बिषाद) के अनुरूप है, केवल शब्दांतर के सिवा तनिक भी भेद नहीं है। साथ-ही यह कहने का 'मुहावरा' है, अन्य कुछ नहीं।

इस लोकोक्ति के उदाहरण में नये हिंदी अलंकार-ग्रंथ प्रणेताओं ने 'नेही' कवि की निम्न-लिखित सूक्ति को सबने अपनाया है, यथा—

"गई फूलँन-काज हों कुंजँन आज, न संग सखी जु अचाँनक-री ।
हरि आइ गए, भजि जाँउ किंतै, जित-ही-तित काँटेन सों जक-री ॥
कबि 'नेही' कहै अति कौंम छयौ, सुतौ मारग रोकि रह्यौ तक-री ।
सुँन-री सजनीं, गति ऐसी भई, ज्यों—"मारनों बैल, गऊ सकरी ॥"

अथवा—

"मैं चार-हूँ ओर उज्यौ मुख-चंद की, चाँदनी चारु निहारि लै-री ।
बलि जो पै अधींन भयौ पिय-प्यारौ, तौ एतौ बिचार-बिचारि लै-री ॥
'कबि ठाकुर' चूकि गयौ जो गुपाल, तुही बिगरी कों सँम्हारि लै-री ।
अब रहिहै, न रहिहै यहौ सँमयौ—"बैहती नदी, पाँय-पखारि लै-री ॥"

*

न चली कछु लालची लोचँन सों, हठ-मोचँन के पँहिनों-ईं परयौ ।
'रतनाकर' बंक-बिलोकँन-बाँन, सहाए बिनाँ सहिनों-ईं परयौ ॥
उत ते वे गात छुवाइ चले, तब तौ प्रेंन कों ढहिनों-ईं परयौ ।
भरि आह, कराह 'सुँनों-जू-सुनों' नँदलाल सों यों कहिनों-ईं परयौ ॥

ऊपर के दोनों छंद अलंकार-ग्रंथानुसार लोकोक्ति के उदाहरण और नीचे का छंद 'मुहावरा' से मजबूत है। उर्दू में मुहावरों की भरमार है, यथा—

बनाऐ क्या समझ कर शाखे-गुल पर आशियाँ अपना ।
चमन में आह, क्या रहना—'जो हो बे-आबरू रहना ॥'

*

गुंचों के मुस्कराने पै कहते हैं हँस के फूल—
"अपना करो ख़याल, हमारी तो कट गई" ॥"

पा०—१. (का०) (वें०) (प्र०).. नव दिन सहै...।

कोई इन फूलों की क़िस्मत देखना—
"जिन्दगी काटों में पल कर रह गई ॥"

*

दिल टूटने से थोड़ी-सी तकलीफ़ तो हुई।
"लेकिन तमाम उम्र को आराम हो गया ॥"

*

नामे को पढ़ना मेरे जरा देखभाल कर।
"कागज पै रख दिया है, कलेजा निकाल कर ॥"

*

अकबर ने सुना है अहले-गैरत से यही।
"जीना जिल्लत से हो तो, मरना अच्छा ॥"

*

मुझको सुना-सुना के वोह कहना किसी का हाय।
"जिससे कि जी में रंज हो, उससे कलाम क्या ॥"

छेकोक्ति उदाहरन जथा—

ओ मँन बाल हिरानौं हुतो, सु[१] किते दिन तें मैं किती करी दोर है।
सो ठैहरयौ तो[२] ठोढ़ी के गाड़ में, देहि अजों तौ बढ़ौई निहोर है ॥
'दास' प्रतच्छ भई पँन-हाँ, अलकें तब[३] तारँन दै[४] कें अँकोर है।
होत दुराऐं कहा अब तौ, लखि गौ 'दिल-[५]चोर' तलास[६] न चोर है ॥

वि०—"दासजी कृत 'छेकोक्ति' का उदाहरण कुछ जचता नहीं। केवल 'दिल-चोर' वा 'दिलचोर' संधि-युक्त या विशेषण-विशेष्य-युक्त होने पर भी लक्षण-अनुसार नहीं बनता—स्फुट नहीं होता...। छेकोक्ति के सुंदर उदाहरण कवि 'जगतानंद' के उपखान-दशम (भागवत कथा) में मिलते हैं, यथा—

"ठाली नाँइन मूँडै-पटा"

*

गोदी लै हरिकों जब भाजी, दरवज्जे-बाहर अति लाजी।
गिरी खाइ कें तबै पछार, लंबे पग औ हाथ-पसार ॥

पा०—१. (का०) को...। (वें०)...हिरानों हो ताकों, किते दिन ते...। (सं० पु० प्र०)...हिरानौं है ताकों, किते-दिन ते मैं करी किती...। २. (का०) (प्र०) (सं० पु० प्र०) तुव...। (वें०) तुम...। ३. (का०) (वें०) (प्र०) तुम...। ४. (सं० पु० प्र०) लै...। ५. (वें०) तिल...। ६. (वें०) (प्र०) तिलासन चोर...।

व्याकुल प्रौंन फिरत हैं नैंन, हिय पर कीन्ह, निरखि नहिँ चैंन ।
बार - बार फिकरावै छटा,—'डाली बाँहन मूँडै पटा'' ॥

''सूँनों घर, भिड़ियँन कौ राज''

*

इक ग्वालिँन-घर खबर मँगाइ, द्वै-चारक दए सखा पठाइ ।
ग्वाल कह्यौ ह्याँ कोऊ नाँहीं, कृस्न कह्यौ तब चलौ तहाँ-हीं ॥
घर में जाइ धँसे गल-गाज,—''सूँनों घर भिड़िँयन कौ राज ॥

*

''नाँचनि निकसी तौ भलें, घूंघट काहे देति''

*

घूंघट काहे देति, कहत श्री कुँवर कँन्हाई ।
चोरी ते हरि-पकरि गोपि, जसुमति पै ल्याई ॥
देति उराहँन आइ, मात यै देत हँमें दुख ।
आइ गए तब नंद, सकुचि करि फेरि रही मुख ॥
मुख-फेरति क्यों ग्वालिनी, कह्यौ जसोमति चेति ।
नाँचनि निकसी तौ भलें,—''घूंघट काहे देति'' ॥

अथवा—

''रहाँ देखा सब-ही का अंत, जैसा गद्दा, वैसाई संत ।
यै ससार काज का खाजा, जैसाई गद्दा, वैसाई राजा ॥''

*

''बाल के आँनन-चंद लग्यौ नख, आली बिलोकि प्रभा अति हाँसी ।
आज न द्वैज है चंदमुखी, मतिमंद कहा कहैं ए पुरबासी ॥
बापुरौ जोतिषी जाँनैं कहा, अरी मैं कहों जो पढ़ि आई हों कासी ।
चंद दुहूँ के दुहूँ इक ठौर हैं, आज है द्वैज औ पूरँनमासी ॥''

अथ 'प्रत्यनीक'-अलंकार लच्छन जथा—

सत्रु-मित्र के पच्छ ते,[१] किएं बैर औ हेत ।
'प्रत्यनीक' भूषँन कहें, जे[२] हैं सुमति-सचेत ॥

वि०—''जहाँ शत्रु-मित्र के पक्ष से विरोध और प्रीति की जाय वहाँ, 'प्रत्यनीक' अलंकार कहा जाता है ।

पा०—१. (सं० पु० प्र०) सों...। २. (सं० पु० प्र०) जो...।

प्रत्यनीक—लक्षण के प्रति विविध मत हैं। संस्कृत अलंकार ग्रंथों में इसका लक्षण—

"प्रतिपक्षमशक्तेन प्रतिकर्त्तुं तिरस्क्रिया।
या तदीयस्य तत्स्तुत्यै 'प्रत्यनीकं' तदुच्यते ॥"

जब कोई अशक्त जन अपने शत्रु को हानि न पहुँचा सके, पर उसी शत्रु की स्तुति के लिये उसके किसी अन्य संबंधी का तिरस्कार करे तो—प्रत्यनीक कहा जाता है।

तिरस्कार करने वाले शत्रु का जो साक्षात् पराभव नहीं कर सकता, पर उसी शत्रु की बड़ाई के लिये उसके किसी आश्रित का तिरस्कार करता है, तो सेना के प्रतिनिधि तुल्य होने के कारण इस अलंकार को प्रत्यनीक कहते हैं (काव्य-प्रकाश मम्मट)। दूसरा चंद्रालोक में लक्षण है—"प्रत्यनीकं बलवतः शत्रोः पक्षे पराक्रमः" (जहाँ विजेता के किसी संबंधी के प्रति पराजित शत्रु के द्वारा कोई हीन-भाव प्रदर्शित किया या कराया जाय वहाँ...)। विश्वनाथ जी चक्रवर्त्ती साहित्य-दर्पण में कहते हैं—

"प्रत्यनीकमशक्तेन प्रतीकारे रिपोर्यदि।
तदीयस्य तिरस्कारस्तस्यैवोत्कर्ष साधकः ॥"

अर्थात्, प्रधान शत्रु के तिरस्कार करने में अशक्त होने के कारण यदि उसके किसी संबंधी का तिरस्कार किया जाय जिससे उस शत्रु या प्रतिपक्षी का ही उत्कर्ष प्रकट हो तो प्रत्यनीक कहा जायगा।"

व्रजभाषा के अलंकार ग्रंथों में जो संस्कृतानुसार लक्षण इसके मिलते हैं, वे कहीं अनुवाद मात्र हैं, कही स्वतंत्र है, जैसे—

"जाइ लियौ नहिं बैर जहँ, पर सों प्रबल-बिचारि।
पक्षै कौ अपकार जो, 'प्रत्यनीक' निरधारि ॥"

—चिंतामणि

❀

"प्रत्यनीक सो, प्रबल-रिपु, ता हित सों करि जोर।"

—भाषाभूषण

*

"प्रबल सत्रु के पच्छ पै, जहँ बिक्रम-उल्लास।"

—मतिराम

*

'प्रत्यनीक' दुख देत जहँ, सु अरि-पच्छ कौ कोइ।

—पद्माकर

। 'प्रत्यनीक' प्रबल विपच्छ-पच्छ पै प्रकोप......।

—दूलह

इत्यादि इन (संस्कृत तथा ब्रजभाषा के) सभी लक्षणों पर दृष्टि डालने से उनकी पक्ष-विपक्षता प्रकट हो जाती है—भिन्नता लक्षित हो जाती है।

संस्कृतानुसार प्रत्यनीक का अर्थ–सेना के प्रति, प्रतिपक्षी या शत्रु की सेना और सैन्य का प्रतिनिधि (प्रति+अनीक) किया जाता है, यथा प्रति—"**प्रति प्रतिनिधौ वीप्सालक्षणादौ प्रयोगतः**" (अमर०) तथा अनीक—"**अनीकोऽस्त्रीरणे-सैन्ये**" (मे० को०) अस्तु, प्रत्यनीक में सैन्य का अर्थ लक्षणा से 'शत्रु' और 'शत्रु का प्रतिनिधि' माना गया है। इस लक्षणानुसार शब्दार्थ-द्वारा शत्रु के प्रतिनिधि (संबंधी) का तिरस्कार यहाँ किया जाता है। ये संबंधी दो प्रकार के होते हैं—'साक्षात्संबंधी' और 'परंपरागतसंबंधी'। साक्षात्संबंधी में–'शत्रु के साथ साक्षात्संबंध रखने वाले का तिरस्कार किया जाता है और परंपरागत-संबंधी में शत्रु के संबंधी के साथ संबंध रखने वाले का तिरस्कार किया जाता है।

संस्कृत के अलंकार-ग्रंथों में प्रत्यनीक स्वतंत्र अलंकार के रूप में वर्णन किया गया है, फिर भी वहाँ इसके साथ 'हेतूत्प्रेक्षा' जुड़ी हुई मानी गयी है। यही नहीं, पंडितराज जगन्नाथजी तो इसे हेतुत्प्रेक्षा के अंतर्गत ही मानते हैं, परंतु शत्रु का-ही नहीं, शत्रु के संबंधी का भी तिरस्कार किया जाना ही इस अलंकार की विशेषता है। अर्थात्, यहाँ उत्प्रेक्षा की प्रधानता नहीं, शत्रु-संबंधी तिरस्कार ही प्रधान रहता है। अतएव स्वयं शत्रु के जीतने में असमर्थ पाकर उस (शत्रु) के संबंधी को तिरस्कृत किये जाने पर यह अलंकार बनता है।"

अस्य उदाहरन जथा—

मदँन-गरब-हरि, हरि कियौ–सखि परदेस-पयाँन।
वही बैर-नाँते अली, मदँन हरत मो प्राँन॥

*

तेरे हास-बेसँन औ सुंदर सुकेसँन सो[1],
छीनीं[2] छबि लींनी 'दास' चपला-घँनन[3] की।
जाँन कें कलापी की कुचाली ते[4] मिलापी मोहिं,
लागे बैर लेंन क्रोध मेंटँन मँनन[5] की॥

पा०—१. (का०) जौ...। (वें०) जु...। (प्र०) लौं...। २. (का०) (वें०) (प्र०) (सं० पु० प्र०) छीनि...। ३. (रा० पु० नी० सी०) घनीन की। ४. (वें०) तौ...। ५. (रा० पु० नी० सी०) मनीन...।

कहियो[1] सँदेसौ चंद्-बदनीं सौं चंद्रावलि,
अज - हूँ मिलौ[2] तौ बात जाँनिऐ गैंनन[3] की।
तो बिंन बिलोकें खींन, बल - हींन साजैं सब,
बरखा - सँमाजै ए[4] इलाजै मो[5] हूँनन की॥

वि०—"दासजी के ये दोनों प्रत्यनीक के उदाहरण पूर्व में लक्षण-कथित "शत्रु परक बैर (शत्रुता) के, अथवा 'साक्षात्सबंध के हैं। दासजी से पूर्व के ब्रजभाषा–रीति–आचार्यों ने इसका एक भेद-ही स्वीकार कर लक्षण—उदाहरण लिखे हैं।

अथ मित्र-पच्छ कौ उदाहरन जथा—

प्रेम तिहारे ते प्राँन-प्रिया, सब चेत की बात अचेति ह्वै मेंटति।
पायौ[6] तिहारौ लिख्यौ कछु सो, छिँन-हीं-छिँन बाँचति[7] खोलि-लपेटति॥
छैल जू सैल तिहारी सुँने, तिहिँ गैल की धूरि लै[8] नेंन - धुरेंटति।
राबरे अंग कौ रंग बिचारि, तँमाल की डारि भुजा-भरि भेंटति॥

परिसंख्या अलंकार-लच्छन जथा—

नहीं बोलि पुनि दीजिऐ, क्यों-हूँ कहुँक[9] लखाइ।
कहि बिसेस, बरजँन करै, संग्रह-दोष - बराइ॥

*

पूंछ्यौ-अँनपूंछ्यौ जहाँ, अर्थ-सँमरथन[10] आँनि।
'परिसंख्या' भूषँन वही, यै तजि और न जाँनि॥

वि०—"दासजी ने परिसंख्या का ऊपर-लिखा लक्षण बताते हुए उसे तीन प्रकार का प्रश्न-पूर्वक व्यंग (**नहीं बोलि पुनि दीजिऐ, क्यों हूँ कहुँक लखाइ**), प्रश्न-पूर्वक वाच्य (कहि बिसेस बरजँन करै,संग्रह-दोष बराइ) और बिना-प्रश्न व्यंग्य (**पूंछ्यौ-अँनपूंछ्यौ जहाँ, अर्थ समर्थन—वा अर्थ सँमरथँन आँनि**) कहा है।

पा०—१. (का०) (वें०) (सं० पु० प्र०) कहिबी...। २. (का०) (वें०) (प्र०) (सं० पु० प्र०) मिलै.। ३. (रा० पु० नी० सी०) बनीन...। ४. (वें०) एई लाजै..। ५. (का०) (वें०) (प्र०) मोहनन...। (रा० पु० प्र०) मोहनीन.। ६. (वें०) बाँचौ...। ७. (वें०) खोलति बाँचि लपेटति। ८. (का०) (वें०) (सं० पु० प्र०) धूरनि नेंन...। ९. (का०) (वें०) (प्र०) कहीं...। (सं० पु० प्र०) कछुक...। १०. (का०) (प्र०) समर्थन...।

परिसंख्या—परि + संख्या दो शब्दों से बना है, जिसमें 'परि' उपसर्ग है तथा उसके कई अर्थ हैं। यह परि जिस शब्द के साथ जुड़ जाता है उसकी अर्थ-वृद्धि में सहायक बन जाता है, अर्थात् उसके अर्थ की वृद्धि करता है। परिसंख्या में उस (परि) ने नियम भाव की वृद्धि की है। धर्म-ग्रंथों में 'विधि, नियम और परिसंख्या प्रधान शब्द माने गये हैं। अस्तु, विधि का अर्थ वहाँ "क्या करणीय है, केवल यही बतलाना किया गया है। साथ-ही, कई प्रकार से हो सकने वाले कामों में एक का ऐसा आदेश दे जिससे दूसरे का निषेध समझा जाय, उसे 'नियम' तथा—'जिसमें निषेध-ही किया जाय' उसे परिसंख्या कहा है। अतएव जहाँ प्रश्न हुए, अथवा बिना प्रश्न हुए कोई बात उसी के सदृश अन्य बातों को व्यंग्य या वाच्य से निषेध करने के अभिप्राय से कही जाय तब वहाँ परिसंख्या-अलंकार कहा जाता है। यह कही हुई बात अवश्य-ही अन्य प्रमाणों से सिद्ध तथा प्रसिद्ध होनी चाहिये। सेठ कन्हैयालाल पोद्दार (अलंकार-मजरी में) परिसंख्या का अर्थ—अन्यत्र वर्जन (निषेध) मान कर कहते हैं कि "परिसंख्या अलंकार में अन्य प्रमाणों से जानी हुई जो बात प्रश्न के पश्चात् या बिना-ही प्रश्न कही जाती है, अथवा दूसरा कुछ प्रयोजन न होने के कारण उसी के समान किसी दूसरी बात के निषेध के लिए कही जाती है तथा यह निषेध कहीं प्रतीयमान (व्यंग्य) और कहीं शब्द-द्वारा स्पष्ट किये जाने पर 'परिसंख्या' चार प्रकार का होता है।" जैसे—१. प्रश्न पूर्वक प्रतीयमान निषेध, २. प्रश्न पूर्वक वाच्य (शब्द-द्वारा) निषेध, प्रश्न-रहित प्रतीयमान निषेध और प्रश्न-रहित वाच्य निषेध—इत्यादि.........।"

यदि इसे और भी स्पष्टरूप से कहा जाय तो, इस अलंकार के प्रथम प्रश्न पूर्वक, बिना प्रश्न दो भेद तदनंतर इन दोनों के वाच्य तथा व्यंग्य से निषेध होने के कारण और भी दो भेद बन जाते हैं, जैसे—प्रश्न पूर्वक व्यंग्य, प्रश्न पूर्वक वाच्य, बिना प्रश्न व्यंग्य और बिना प्रश्न वाच्य-इत्यादि.........।

परिसंख्या का सर्व प्रथम उल्लेख रुद्रट के काव्यालंकार (संस्कृत) में मिलता है, इनके बाद मम्मट और रुय्यक के ग्रंथों में......। आचार्य श्रीमम्मट ने इसका लक्षण इस प्रकार माना है, यथा—

"किंचित्पृष्टमपृष्टं वा कथितं यत्प्रकल्पते।
ताहगन्यव्यपोहाय परिसंख्या तु सा स्मृता॥"

अर्थात् "जो कोई बात पूछी गयी हो या न पूछी गयी हो, पर शब्दों-द्वारा (अवश्य) प्रकट की गयी हो तथा किसी अन्य प्रयोजन के न होने से उसके तुल्य किसी अन्य वस्तु के व्यवच्छेद (अपलाप) रूप में परिणत हो तो वहाँ

'परिसंख्या'........।" इस लक्षण के बाद आप विशेष कारिका रूप में कहते हैं कि "यहाँ पर वस्तु का कथन प्रश्न-द्वारा अथवा बिना प्रश्न किये हुए भी हो सकता है और इन दोनों दशाओं में अपलापित (निषेध, नामंजूर सत्य को छिपा कर) वस्तु व्यंग्य या वाच्य-द्वारा कही जा सकती है (काव्य-प्रकाश-हिंदी व्याख्या)।" इसी बात को—लक्षण को, साहित्य-दर्पण में भी शब्दांतर से दुहराया गया है। चंद्रालोककार उसका भिन्न लक्षण—"परिसंख्या निषिध्यैकमन्यस्मिन्वस्तुयंत्रणं" (शब्द-श्लेष के द्वारा प्रकट किये हुए किसी दो पदार्थों को समान गुण का एक पदार्थ में अभाव दिखलाकर दूसरे में उसका आरोप करना-परिसंख्या) कहा है। यहाँ परिसंख्या विभिन्न भेदों में नहीं एक रूप में है।

ब्रजभाषा के अलंकाराचार्यों में चिंतमणि जी के अतिरिक्त प्रायः सभी ने इसे एक प्रकार का-ही मान इस प्रकार लक्षण कहे हैं, यथा—

"परिसंख्या--इक थल बरजि, दूजे थल ठैहराइ।"

—भाषा-भूषण

"और ठौर ते मेंटि कछु, बात एक-ही ठौर।"

—मतिराम

"एक में बरजि जहाँ दूजे थल थापै बस्तु······"

—दूलह

"करि निषेध इक वस्तु कौ, थपै जु इक थल-माँहि।"

—पद्माकर

और श्री चिंतामणि त्रिपाठी कहते हैं—

"एक वस्तु जु अँनेक थल, प्रापत एकहि बार।
नियमित कीजै एक थल, परिसंख्यालंकार॥
एक बस्तु जो एक - ही - ठौर नेंम जो होइ।
परिसंख्या ता सों कहैं, कबि-पंडित सब कोइ॥
प्रस्न-पूर्व जो एक पुनि, ताते-भिन्न जु और।
परिसंख्या द्वैबिधि प्रथक,कहत सुमति-सिरमौर॥
बर्जनीय इत जो कछु, कहूँ सब्द-गत होइ।
कहूँ अर्थ-बल पाइऐ, या बिधि दोऊ दोइ॥
पूंछयौ अनँपूंछयौ कथन, कछु बस्तु कौ होइ।
ऐसौ औरैंन-हेत बै, परिसंख्या कहि सोइ॥
परिसंख्यालंकार में, कहत सब्द-गत कोइ।
कहू अर्थ बल पाइऐ, ओ सँम नाँहीं होइ॥

मंमट आचारज इहाँ, ऐसौ कियौ बिबेक।
परिसंख्यालंकार कों, सँमझौ पंडित एक॥

अर्थात् आपने—शब्दगत बर्जनीया, शब्दगत-बर्जनीया अप्रश्न पूर्विका, शब्दगतबर्जनीया प्रश्न पूर्विका श्लेषमूल, प्रश्न पूर्विका अर्थगत बर्जनीया श्लेष-मूल और अप्रश्नपूर्विका शब्दगत बर्जनीया श्लेष-रूप परिसंख्या पाँच प्रकार की मानी है।"

अथ प्रथम परिसंख्या प्रस्न-पूर्वक कौ उदाहरन जथा—

आज कुटिलता कौंन में, राज-मनुष्यँन-माँहिं।
देख्यौ बूझि बिचारि कें, ब्याल-बंस में नाँहिं॥

दुतिय परिसंख्या बिना प्रस्न पूर्वक जथा—

मुक्ति बेंन-ही में बसै, अँमी[1] बसै अधराँनि।
सुख सुंदरि-संजोग-ही, और ठौर जँनि जाँनि॥

तीसरो परिसंख्या प्रस्न-अप्रस्न पूर्वक जथा—

भोर-उठि न्हाइबे कों न्हाती अँसुवाँन-माँहि[2].
ध्याइबे कों ध्यावे तुम्हें जाती बलिहारिऐ।
खाइबे कों खाती चोट पंचबाँन-बाँनन की,
पीयबे कों लाजें[3] धोइ पीवति बिचारिऐ॥
आँखि लगिबे कों 'दास' लागी रहै[4] तुँम्ह-ही सों,
बोलिबे कों बोलति बिहारिऐ-बिहारिऐ।
सूझिबे कों सूझति तिहारौ-ही सरूप वाहि,
बूझिबे[5] कों बूझत[6] लाल[7] चरचा तिहारिऐ॥

वि०—"दासजी के प्रश्न-अप्रश्न पूर्वक उदाहरण-रूप इन दोनों दोहों के सदृश भारती-भूषण में दिए गए उदाहरण रूप निम्न दोहे भी सुंदर है, यथा—

"छल मध्या-मँन नाह के, नेह छिपावँन-माँहि।
औ दंपति-परिहास तजि, राँम-राज में नाँहि॥"

पा०—१. (वें०) (सं० पु० प्र०) अमृत...। २. (का०) (वें०) (प्र०) (सं० पु० प्र०) ही सों,। ३. (का०) (वें०) (प्र०) लाज...। ४. (वें०) बहै...। ५. (वें०) बूझिते...। ६. (का०) (वें०) (प्र०) (सं० पु० प्र०) बूझै...। ७. (रा० पु० नी० सी०) बाल...।

"कौंनन-चारिन में कुटिल, केवल कौंमिनि-नेंन।
रहे अँनुज-सिय-सहित जब, रौंम कियौ बँन ऐंन॥"

और दासजी के तीसरे उदाहरण के सदृश रघुनाथ कवि का यह उदाहरण भी सराहनीय है, यथा—

"आए जुरि जाँचिबे कों जाचक जहाँ-लों रहे,
एहो 'कवि रघुनाथ' आज तीनों थर में।
ऐ ते मौंन-दौंन तिन्हें भूप दसरथ दीन्हे,
देति न दिखाई कहूँ कोऊ सोंज घर में॥
बसँन के नौंते पास बास कोंसिला के एक,
भूषन के नौंते नथ-नौंक छला कर में।
घोरे-हाथी चित्रँन के रहे चित्रसारी-माँझि,
रौंम के जँनम रहे दौंम दफतर में॥"

कवि विहारीलाल का यह 'दोहा' भी काव्यलिंग से विभूषित होते हुए भी परिसंख्या के जिलों से अधिक चमक रहा है, यथा—

"पत्रा-ही तिथि पाइयतु, वा घर के चहुँ पास।
नित-प्रति पून्यौं-ही रहत, आँनन ओप उजास॥"

*

औ कहिऐ सुखदायक हैं, तिय-जौंनि परी सरदौ-रितु फीको।
फेरि लखीं हिय-हेरि हिमंत, अनंत बढ़ावँनि है दुख-ही की॥
प्यारी सखी तुँम कों पैहचाँनि, सु बात जनावति हों निज जी की।
मोहि सखी, निसि-बासर-हूँ, रितुराज ते लागति पावस नींकी॥

*

पालि घँने दिँन-सों, हित-सों, पिँजरान ते कोकिल-कीर-उड़ावत।
जे मँन-रंजँन खंजँन और कपोत के पोत नहीं मन-भावत॥
औ बरजों तौ न मौंनें कहूँ मँन, आप न लाजत मोहि लजावत।
पीय कौ कोंन सुभाव परयौ, निसि-बासर चोर-चकोर-चुगावत॥"

ये दोनों (सवैया रूप) उदाहरण 'प्रताप' कवि विरचित हैं। प्रथम 'परोढा' परकीया नायिका का और दूसरा स्वाधीन-पतिका नायिका का सखी प्रति-उक्ति रूप में है। प्रथम में शुद्ध सारोपा-लक्षणा से पुष्ट पाँचों ऋतुओं से श्रेष्ठ पावस को सुंदर ठहराना (पावस में वृक्षादि सघन हो जाने के कारण पर-पुरुष मिलाप अधिक सहज हो जाता है) रूप परिसंख्या अधिक सुंदर बन गयी है। इसी प्रकारें दूसरे

उदाहरण में भी—सारोपा गौणी लक्षणा के कुंदन से जड़ा परिसंख्या-अलंकार कोकिल-खंजनादि से चकोर में अधिक प्रीति के कथन में सुंदर बन गया है।

अथ प्रस्नोत्तर-अलंकार लच्छन जथा—

छोरि वा कह्यौ, वा कह्यौ, पिसनोत्तर[1] कहि जाइ।
'पिसनोत्तर' वासों कहें, जे[2] प्रवीन कबिराइ॥

वि०—"जहाँ विविध प्रश्नों के विविध उत्तर दिये जाँय वहाँ दासजी ने प्रश्नोत्तर अलंकार माना है। संस्कृत के अलंकार-ग्रंथों में इसे केवल 'उत्तर' नाम से-ही ग्रहण किया है। वहाँ 'प्रश्नोत्तर' तो नहीं, पर 'उत्तर' को रुद्रट से लेकर रुय्यकादि सभी अलंकाराचार्यों ने अपनाया है। मम्मट ने इसका—उत्तर का लक्षण इस प्रकार दिया है—"उत्तरश्रुतिमात्रतः"।

"प्रश्नस्योन्नयनं यत्र क्रियते तत्र वा सति।
असकृद्यदसंभाव्यमुत्तरं स्यात्तदुत्तरम्॥"

'जहाँ केवल उत्तर-ही के सुनने से पर (दूसरे) के प्रश्न की कल्पना कर ली जाय, अथवा बारंबार प्रश्न करने पर भी जहाँ उत्तर असंभ जान पड़े, वहाँ—'उत्तरालंकार' कहना चाहिए।" आगे पुनः मम्मटाचार्य कहते हैं कि "इसे काव्यलिंग न समझना चाहिए, क्योंकि यहाँ उत्तर रूप वाक्य का हेतु सिद्ध नहीं होता। साथ-ही उत्तर, प्रश्न के उत्पन्न करने का हेतु (निमित्त कारण) भी नहीं है और यह अनुमान (अलंकार) में भी नहीं गिना जा सकता, क्योंकि यहाँ एक-ही धर्मी में रहने पर साध्य (प्रतिपाद्य वस्तु) और साधन (हेतु) का भी निर्देश नहीं किया गया है, अतएव इन कारणों से उत्तर एक पृथक् अलंकार है।"

प्रश्न पूर्वक परिसंख्या में तत्तुल्य किसी अन्य वस्तु के अपलाप (निषेध) से तात्पर्य रहता है, यहाँ अर्थ-ही में तात्पर्य की समाप्ति हो जाती है, अस्तु यह परिसंख्या से भी पृथक् है।"

उत्तर के दो भेद करते हुए आप पुनः कहते हैं कि "प्रश्न के पीछे जन-साधारण के ज्ञान-गम्य न होने के कारण जो असंभव उत्तर हो तो वह भी उत्तरालंकार है और ये प्रश्न तथा उत्तर यदि बारंबार कहे जाँय तो यह दूसरा 'उत्तर' कहा जायगा। प्रश्नोत्तर एक बार—रूप कहे जाने में कोई चमत्कार नहीं, अपितु बार-बार कहने में ही उसका चमत्कार है। कोई इन भेदों को "उन्नीत प्रश्न" (कई बार प्रश्न किये जाने पर कई बार अप्रसिद्ध—जो समझ में न आये,

पा०—१. (का०) प्रश्न-उत्तर...। २. (वें०) जो..।

ऐसे उत्तर देना) और "निबद्ध प्रश्न" भी कहते हैं। अथवा कोई प्रथम, द्वितीय, तृतीय संख्या-क्रम में उत्तर-भेद करते हैं। प्रथम-उत्तर—जहाँ प्रश्न की कल्पना कर केवल अभिप्राय वैशिष्ट्य से उत्तर दिया जाय और उससे-ही प्रश्न का अनुमान किया जाय, द्वितीय-उत्तर वहाँ, जहाँ प्रश्न तथा उत्तर दोनों संमिलित हों और तृतीय उत्तर वहाँ, जहाँ प्रश्न में ही उत्तर मिले—निकले। अथवा अनेक प्रश्नों का एक-ही उत्तर हो......।

द्वितीय उत्तर—प्रश्नोत्तर एक तथा उनके बाहुल्य से भी बनता है, पर ऐसे बाहुल्य-प्रधान प्रश्नोत्तर में दुर्ज्ञेयता होती है, यह निर्विवाद सिद्ध है। तृतीय उत्तर चित्रोत्तर का विषय है, अतः वह यहाँ वर्णनीय नहीं।

कोई-कोई आचार्य एक ही प्रश्नोत्तर में और कोई जैसा पूर्व में कहा है—प्रश्नोत्तर बाहुल्य में इस अलंकार को मानते हैं, यथा—

"बाल, कहा लाली भई, लोयँन-कोयँन-माँहि।
लाल, तिहारे दृगँन की, परी दृगँन में छाँहि॥"

*

"का दुरलभ जग—"बंधु-हित", कहा सुक्ख—"सतसंग"।
सुलभ कहा—है "नाँम-जप", दुख कह—"दुरजँन-संग"॥"

पर ऐसे उदाहरणों में उत्तर वा प्रश्नोत्तर अलंकार न हो कर गूढोत्तर ही कहा जायगा।"

उदाहरन जथा—

कोंन सिँगार है—'मोरपखा', इहि लाल[1] छुटे, कच कांति की जोटी।
गुंज को[2] माल कहा—'इहि तौ अँनुराग गरें परथौ लै निज खोटी॥
'दास' बड़ी-बड़ी बातें कहा करौ—आपने अंग की देखौ करोटी।
जाँनों नहीं यै कंचँन से तिय के तँन कों[3] कसिबे की कसौटी॥

*

को इत आवत—"काँन्ह हों", कहा[4] काँम,—"हित-माँन"।
किँन बोले[5]—'तेरे दृगँन', साखी—"मृदु-मुसिकाँन"॥*

पा०—१. (का०) (वें०) (स० पु० प्र०) बाल...। २. (का०) (वें०) (प्र०) के...। ३. (का०) (वें०) (प्र०) (सं० पु० प्र०) के...। ४. (का०) (वें०) (प्र०) काम कहा ..। ५. (का०) (वें०) बोल्यौ...। (प्र०) बोलौ...।

* भा० भू० (केडिया) पृ० ३३२।

तीसरौ उत्तर-लच्छन जथा—

उत्तर दैबे[1] में जहाँ, प्रसनौं परत लखाइ।
'प्रिसनोत्तर' ता[2]-हू कहत, सकल सुकबि-सँमुदाइ ॥

उदाहरन जथा—

ल्याई फूलौ साँझ कौ, रंग दृगँन में बाल।
लखि क्यों फूली दुपहरी, नेंन तिहारे लाल ॥

वि०—"भारती-भूषण (केड़िया कृत) में उत्तर के गूढोत्तर और चित्रोत्तर दो भेद मान कर प्रथम गूढोत्तर के 'उन्नीत प्रश्न" और निबद्ध प्रश्न जैसे प्रथम लिखे गये हैं, चित्रोत्तर के भी दो भेद—प्रश्नों के शब्दों में ही उत्तर और बहुत से प्रश्नों का एक ही उत्तर, का कथन किया है।

श्लेष-गर्भित प्रश्नोत्तर का एक उदाहरण सेठ कन्हैयालाल पोद्दार ने अपनी "अलंकार-मंजरी' में बड़ा सुंदर दिया है, यथा—

"सुबरँन - खोजत हों फिरों, सुंदरि देस-बिदेस।
दुरलभ है यौ समझि जिय, चिंतित रहों हँमेस ॥"

यहाँ सुबरँन (सुवर्ण=सोना व सुंदर रूप, देह...) में श्लेष है और सुंदरि संबोधन में प्रश्न निहित है कि 'तुम चिंतातुर किस लिये रहते हो... अतः उत्तर स्पष्ट है—सुबरँन खोजत०...।

"इति श्री सकल कलाधरकलाधरबंसावतंस श्री मन्महाराज-कुँमार
श्री बाबू हिंदूपति बिरचिते काव्य-निरनए—सुभावोक्ति-
आदि अलंकार बरनँनोनाम सप्तदसोल्लासः।"

—०—

पा०—१. (का०) (वें०) (प्र०) दीबे...। २. (रा० पु० नी० सी०) तासौं...। ३. (रा० पु० प्र०) वाहै...।

अथ अठारवाँ उल्लास

दीपकादि अलंकार बरनन जथा—

दीपक - क्रँम[1] द्वै भाँति कौ[2], अलंकार मति-चारु।
अति सुख[3] दायक वाक्य के, जदपि अरथ सों प्यारु॥

*

जथासंख्य, एकावली, कारँन-माला ठाइ।
उत्तरोत्तर, रसनोपमाँ, रतनावलि, परियाइ॥

*

ए आठों[4] क्रँम भेद हैं, दीपक एकै पाँच।
आदि आवृत्ती[5], देहरी, कारँन-माला बाँच॥

वि०—"दासजी ने इस उल्लास में—दीपक, यथासंख्य, एकावली, कारण-माला, उत्तरोत्तर, रसनोपमा, रत्नावली और पर्याय-आदि अलंकारों के अतिरिक्त दीपक के "अर्थावृत्ति दीपक, पदार्थावृत्ति दीपक, देहरी-दीपक, कारक-दीपक और माला-दीपक पाँच भेदों का भी स-उदाहरण वर्णन किया है, किंतु अन्य उल्लासों की भाँति यहाँ इनके वर्गीकरण की विधि का कोई उपयुक्त कारण नहीं दिया है। विशेष-प्रतियों (हस्त लिखित तथा मुद्रित) के आधार से अलंकार-संख्या भी उपयुक्त नहीं है, क्योंकि इन पुस्तकों में तीसरे दोहे के पाठानुसार सात ही संख्या जानी जाती है, जैसे—"ए सातों क्रम-भेद हैं०...।" यह आठ की संख्या का सूचक पाठ एक ही प्रति में मिलता है, जो उपयुक्त है और अलंकार-संख्या के अनुसार भी ठीक है। अलंकार-वर्णन का क्रम भी आपका यहाँ ठीक नहीं है। कहने को तो आपने प्रथम दीपकालंकार का कथन किया है, किंतु वर्णन किया है "यथासंख्य" से, अर्थात् प्रथम यथासंख्य, एकावली, कारण-माला, उत्तरोत्तरादि का कथन किया है। दीपक सबके अंत में है।

संस्कृत के अलंकार-ग्रंथों में ये अलंकार विविध वर्गों में है, जैसे—रुद्रट ने तीन—"एकावली, कारण-माला, सार (उत्तरोत्तर) और यथासंख्य" वास्तव वर्ग में

पा०—१. (का०) (वें०) (प्र०) क्रम-दीपक है रीति...। २. (का०) (प्र०) के...। (वें०) जे...। ३. (का०) सुख...। (वें०) छबि...। ४. (का०) (वें०) (प्र०) सातों...। ५. (का०) (वें०) अवृत्यौ...। (प्र०) आवृत्ती...।

रखे हैं। अन्य अलंकारों का उल्लेख वहाँ नहीं है। रुय्यक ने 'दीपक' को गम्य-मान औपम्यवर्ग में पदार्थ-गत के, "एकावली, कारण-माला, सार (उत्तरोत्तर), माला-दीपक" जो दीपक का ही भेद-विशेष है, को शृंखला-बद्ध वर्ग में और "पर्याय तथा यथासंख्य" को वाक्य-न्याय के बाह्य-न्याय मूल वर्ग में माना है। इनके बाद कोई आचार्य—एकावली के साथ कारण-माला, सार और माला-दीपक को शृंखला-मूलक वर्ग में, पर्याय-यथासंख्य को वाक्य न्याय-मूलक वर्ग में और रत्नावली को 'गूढार्थ' प्रतीति मूल वर्ग में मानते हैं। इसके अतिरिक्त एक और भी विकल्प मिलता है, जिसके अनुसार ये दासजी द्वारा वर्णित अठारवें उल्लास के अलंकार, यथा—दीपक "औपम्य-मूल, अर्थात् जिसमें सादृश्य गम्यमान (छिपा-हुआ हो) वर्ग में, पर्याय. यथासंख्य 'न्यायमूल वर्ग में', एकावली, कारण-माला, सार और माला-दीपक 'शृंखला मूल वर्ग में, रत्नावली गूढार्थ-मूल वर्ग में और आवृत्ति-दीपक तथा कारक दीपक प्रकीर्ण-वर्ग में विभाजित किये मिलते हैं।" उत्तरोत्तर को सभी ने 'सार' नाम दिया है तथा 'रसनोपमा' का पृथक वर्णन नहीं किया है।

प्रथम जथासंख्य-अलंकार लच्छन जथा—

पैहलें कहे जु सब्द गुँनि[1], पुनि क्रँम ते ता-रीति।
कहिके और निबाहिए, 'जथासंख्य' करि प्रीति॥

वि०—"पहिले कहे गये शब्दों-द्वारा उसी क्रम तथा रीति से कह कर यथा-वत निर्वाह किये जाने पर—"यथासंख्य" अलंकार कहा जाता है। अर्थात् पूर्व-कथित वस्तुओं का जब उसी क्रम-द्वारा आगे भी वर्णन किया जाय तब यह अलंकार बनता है।

संस्कृत ग्रंथों में यह अलंकार सर्व प्रथम भट्टि-आचार्य ने स्वीकार किया है, इसके बाद—भामह, दंडी, उद्भट, वामन और मम्मटादि ने...। वामनाचार्य ने इसकी 'क्रम' संज्ञा दी है और कहा है—"**उपमेयोपमानानां क्रमसंबंधः क्रमः**" (उपमान-उपमेयों का क्रम से संबंध)। अर्थात् "पूर्व कहे हुए उपमेय और बाद में कहे गये उपमानों का जो क्रम से संबंध है—संबंध कराना है, वह "क्रम" वा यथासंख्यालंकार होता है—**उपमेयोपमानानां चोद्देशिनामनुद्देशिनां च क्रम-संबंधः क्रमः**। श्री वामन से पूर्व भामह-आदि ने तथा पर में मम्मट-विश्वनाथादि ने इसे 'यथासंख्य' ही कहा है। कहा जाता है कि भामह आचार्य से प्रथम

पा०—१. (का०) (प्र०) गँनि...। (वें०) गँन...।

कोई 'मेधावी' नाम के आचार्य हुए जिन्होंने 'उत्प्रेक्षा' के लिए 'संख्यान' शब्द का व्यवहार किया था। भामह ने इसका खंडन करते हुए यथासंख्य को उत्प्रेक्षा से प्रथक अलंकार मानते हुए लिखा है—

"यथासंख्यमथोत्प्रेक्षामलंकारद्वयं विदुः।
संख्यानमिति मेधाविनोत्प्रेक्षाभिहिता क्वचित् ॥

"भूयसामुपदिष्टानामर्थानामसधर्मणां।
क्रमशो योऽनुनिर्देशो यथासंख्य तदुच्यते ॥

—काव्यालंकार (भामह) ८८, ८९

और वामन ने इसका लक्षण—**"यथासंख्य क्रमेणैव क्रमिकाणां समन्वयः"** (जहाँ क्रमपूर्वक कहे गये पदार्थों के साथ क्रमपूर्वक ही कहे गये पिछले पदार्थों का यथोचित संबंध कहा जाय) माना है। विश्वनाथजी कहते हैं— **"यथासंख्य-मनूद्देश उद्दिष्टानां क्रमेण यत्"** अर्थात्, जहाँ कहे हुए पदार्थों का यदि फिर उसी क्रम से कथन हो तो वहाँ यथासंख्य अलंकार कहना चाहिये। भामह, वामन तथा विश्वनाथजी के लक्षणोदाहरणों में जहाँ कुछ तारतम्य (साम्य) है, वहाँ मम्मटाचार्य का लक्षण इनसे कुछ विपरीत है। चंद्रालोक में एक दूसरा ही लक्षण मिलता है, यथा—

"यथासंख्य द्विधार्थाश्चेत्क्रमादेकैकमन्विता ॥"

अर्थात् जहाँ संख्या-क्रम से कई कारकों और क्रियाओं का संबंध दिखलाया जाय, वहाँ यथासंख्य मानना चाहिए... ।"

ब्रजभाषा के अलंकार ग्रंथों में भी श्री चिंतामणि जी से लेकर अंतिम रीति-काल के आचार्य पद्माकर-ग्वाल तक 'यथासंख्य' के विविध परिभाषा-जन्य लक्षण मिलते हैं। चिंतामणिजी ने इसका लक्षण—**"क्रमकँन कौ अन्वइ जहाँ, बरन्यों क्रँम-क्रँम होइ"** माना है, तो भाषा-भूषण में—**"जथासंख्य बरनँन-बिषै, बस्तु अँनुक्रँम-संग,"** और पद्माकरजी ने—**"जहँ क्रँम सों बरननँन कौ क्रँम सों अन्वै होइ"** कहा है। दूलह कवि ने—**"जहाँ क्रँमिकँन कौ क्रँमै ते लै बखाँनें गुफ—जथासंख्य०........."** लक्षण माना है। आचार्य केशव ने इसे क्रमालंकार से-ही संबोधन करते हुए कहा है—**"आदि-अंत भरि बरनिऐं, सो क्रँम केसौदास"**। अस्तु, इससे भी क्रम-स्वरूप यथासंख्य की परिभाषा स्पष्ट नहीं हुई। आपके उदाहरणों से ज्ञात होता है कि जिसे आपने क्रम (यथासंख्य) माना है, उसे-ही परवर्त्ती आचार्यों ने 'शृंखला' वा 'एकावली' नाम दिया है और जिस 'गणना' को आप अलंकार मानते हैं, उसे पूर्व-पर के दोनों-ही आचार्य नहीं मानते।

यथासंख्य—'संख्या के अनुसार', 'उसी क्रम से' तथा पूर्ववत् क्रम से, आदि . ...कहा जाता है। अपक्रम (जिस क्रम से कुछ वस्तुओं का वर्णन किया गया हो उसी क्रम से बाद में उनका वर्णन-उपमा-आदि देते कथन न करना) या क्रम-भंग जो काव्य का एक दोष विशेष है, उस दोष के अभाव स्वरूप में यह अलंकार कहा जाता है। इसलिये कुछ आचार्यों ने इसे अलंकार न मानते हुए कहा है कि यहाँ दोषों का अभाव-मात्र-ही तो कथन किया गया है? अतः इसे अलंकारों में स्थान देना उपयुक्त नहीं, पर इसके दोष-हीनता वर्णन करने में-ही तो चमत्कार है,—उक्ति-वैचित्र्यता है, इसे-ही लक्ष्य कर दंडी आदि प्राचीन आचार्यों ने इसे स्वतंत्र अलंकार माना है।

संस्कृत-अलंकार-ग्रंथों में इसके दो भेद 'शाब्द' और 'आर्थ' रूप में मिलते हैं। शाब्द-यथासंख्य उसे कहते हैं—जहाँ समास से नहीं, क्रम से अन्वय हो और जहाँ समास-द्वारा क्रम से अन्वय हो उसे "आर्थ-यथासंख्य" कहते हैं। अतएव "क्रमशः कहे हुए अर्थों का जहाँ क्रमशः (यथा-क्रम) संबंध होता हो उसे "यथासंख्य" कहना चाहिए।"

अस्य उदाहरन जथा—

'दास' मँन-मति सों, सरीरी[1] सों, सुरति सों,
गिरा सों, गेह-पति सों न बाँधिबे[2] की बारी जू।
मोहै, मार-डारै, साजि सुबस उजारै, करै—
थंभित बनाइ ठाइ[3] देति[4] बैर भारी जू॥
मोंहँन औ मारँन, बस-करँन, उचाटँन[5],
थंमँन, उदीपँन[6] के ए-ही हदकारी जू।
बाँसुरी-बजैबौ, गैबौ, चलिबौ, चितैबौ,
मुसिकैबौ, इठलैबौ रावरे[7] गिरधारी जू॥

वि०—"यथासंख्य उपनाम क्रमालंकार का उदाहरण "रसलींन", जिस पर कोटों हिंदू कवियों को वारना कहा गया है, बड़ा सुंदर है, यथा—

"अँमी, हलाहल, मद-भरे, सेत, स्यांम, रतनार।
जियत, मरत, झुकझुक परत, जिहिं चितवत इक बार॥

पा०—१. (रा० पु० प्र०) सरीर...। २. (वें०) बाँचिबे...। ३. (प्र०) धाइ...। ४. (का०) (वें०) (प्र०) देतो। ५. (का०) (वें०) (प्र०) मोंहन, मरन, बसीकरन, उच्चाटन के,। ६. (वें०) उदेखन...। ७. (का०) (वें०) (प्र०) बाँसुरी-बजइबौ, गइबौ, चलिबौ, चितैबौ, मुसिकइबौ, अँठिलइबौ राबरे कौ...।

पोद्दार कन्हैयालालजी सेठ ने भी अपनी 'अलंकार-मंजरी' में शाब्द और आर्थ यथासंख्य के सुंदर उदाहरण दिये हैं, यथा—

"जोबन-बय सों संकित ह्वै सरमाइ।
सील, सौर्य, बल दुति सों अति ललचाइ॥

*

राम-हिं लखि सिय-लोचन-नलिन सुहाँहि।
सकुचत, बिकसत, छिन-छिन धँनु-मख-माँहि॥

आर्थ, यथा—

"बल-सर-छ्त अदभुत जतँन, बधिक-बैद-निज-हथ्थ।
उर, उरोज, भुज, अधर-रस, सेक, पिंड, पट, पथ्थ॥"

एकावली-अलंकार लच्छन जथा—

किए जंजीरा - जोरि - पद, 'एकबली' प्रमाँन।
"स्रुति-बस मति, मति-बस भगति, भगति-बस्य भगमाँन॥"

वि०—"जहाँ जंजीरा (हार) के समान पदों (शब्दों या वाक्यों) को जोड़ा जाय—शृंखला-सी बाँधी जाय, वहाँ 'एकावली' अलंकार माना जाता है। भाषा-भूषण में लक्षण-उदाहरण इस प्रकार दिया है—

"गहत-मुक्त-पद रीति सों, 'एकावलि' तब माँन।
द्दग स्रुति-लों, स्रुति बाहु-लों, बाहु जाँनु-लों जाँन॥"

अर्थात्, जहाँ गृहीत तथा मुक्त (ग्रहण और छोड़ने) की रीति से पद रखे जाँय, वहाँ एकावली। जैसे—उस (नायक) के नेत्र कानों तक, कान बाहु तक और बाहु घुटनों तक हैं। इसी प्रकार दासजी का भी—श्रुति (कान) के वश मति, मति के वश भक्ति और भक्ति के वश भगवान...।

एकावली—एक लड़ा हार या माला कहा जाता है। जिस प्रकार हार व माला में एक दाना दूसरे से और दूसरा दाना तीसरे से मिले हुए रहते हैं—एक के बाद दूसरे और दूसरे के बाद तीसरे की गणना होती है, अर्थात् गृहीत और मुक्त होते रहते हैं, उसी प्रकार यहाँ शब्द-जनित पद रूप-मणियाँ आती और जाती रहती हैं,—मुक्त-ग्राह्य होती रहती हैं। यहाँ पूर्व तथा उत्तर कथित वस्तुओं की शृंखला एक प्रमाण में होती है। पूर्वोत्तर कथित प्रत्येक वस्तुओं का यहाँ विशेषण रूप में समर्थन या निषेध किया जाता है। साथ-ही प्रत्येक पूर्व-कथित विशेष्य और उत्तर-कथित वस्तु का विशेषण रूप में समर्थन वा निषेध भी

इस अलंकार का विषय बनता है। यहाँ (शृंखला-मूलक अलंकारों में) विशेष्य-विशेषण शब्द व्याकरणानुसार इन्हीं शब्दों से कहीं अधिक व्यापक हैं, अर्थात् दो वस्तुओं में विशेषता दिखला कर उनमें संबंध वा भिन्नता प्रकट करना हीं उनकी विशेषता है।

संस्कृत-अलंकाराचार्यों में इसे रुद्रट, मम्मट और रुय्यकादि ने स्वतंत्र और भोज ने 'परिकर' के अंतर्गत अलंकार माना है। मम्मट जी कहते हैं—

"स्थाप्यतेऽपोह्यते वापि यथापूर्वं परंपरं।
विशेषणतया यत्र वस्तुसैकावली द्विधा॥"

अर्थात्, जिसमें पूर्व-पूर्व वाली वस्तु पर-पर वस्तु के विशेषण-रूप से स्थापित की जाय वा निषिद्ध बतलायी जाय, वह एकावली दो प्रकार का होता है। अथवा प्रथम-प्रथम वस्तुओं के प्रति पर-पर (पिछली-पिछली) वस्तुओं की स्थापना पुनरुक्ति (वीप्सा) द्वारा जहाँ विशेषण रूप से स्थापित की जाय, वा निषेध किया जाय तो विद्वज्जन उसे दो प्रकार की 'एकावली' कहेंगे। यहाँ इन दोनों एकावलियों के नाम—'विधि-विशिष्ट' और 'निषेध-युक्त' कहा है। विश्वनाथ जी भी (साहित्य-दर्पण में) यही बात इस प्रकार कहते हैं—

"पूर्वं पूर्वं प्रति विशेषणत्वेन परंपरं।
स्थाप्यतेऽपोह्यते वा चेत्स्यात्तदैकावली द्विधा॥"

पूर्व-पूर्व के प्रति अगले-अगले को विशेषण के रूप में स्थापित करें या उसे हटावें तो वहाँ दो प्रकार की 'एकावली' होगी। चंद्रालोक के मत से 'एकावली' वहाँ होगी जहाँ—

"गृहीतमुक्तरीत्यर्थश्रेणिरेकावली मता।"

आधार और आधेय (विशेषण-विशेष्य) का क्रम से वर्णन कर एक शृंखला बना दी जाय। चंद्रालोक के इसी लक्षण को प्रायः सभी व्रजभाषा के अलंकाराचार्यों ने अपनाया है और इसके अनुसार एक हीं (लक्षणानुसार) उदाहरण दिया है, किंतु दासजी ने दोनों-ही भेद अपनाये हैं और उनके पृथक्-पृथक् उदाहरण भी दिये हैं। प्रथम एकावली का उदाहरण दासजी ने लक्षण के साथ (दोहा की अर्धाली में) दिया है और द्वितीय (विशेषण-भाव से निषेध) का उदाहरण आगे दे रहे हैं। एक बात और, वह यह कि—एकावली के स्थापन और निषेध रूप के विशेषण रूप से दो-ही भेद विशेष मान्य हैं, पर कोई-कोई आचार्य—"विशेषण-भाव से समर्थन और निषेध-रूप दो तथा विशेष्य भाव से समर्थन-निषेध-रूप दो को मिलाकर चार भेद मानते हैं।

एकावली पुनः उदाहरन जथा—

एरी, तोहि देखि[1] मोहि आवत अचंभौ इही,
रंभा - जाँनु - ढिँग - हीं गयंद-गति केरे हैं।
गति है गयंद, सिंघ-कटि के सँमीप सिंघ—
कटि-हूँ सों रोंमराजी[2] ब्यालिँन सँभेरे हैं॥
रोंमराजी-ब्यालिँन सु संभु-कुच-आगें 'दास'-
संभु-कुच हूँ के भुज मेंन-धुज नेरे हैं।
मेंन-हीं जगावति सो[3] आँनन द्विजेस अरु—
आँनन - द्विजेस-राहु - कच - कांति घेरे हैं॥

वि० — एकावली के सुंदर उदाहरण श्री राधा-भक्त 'हठी' और शिव-भक्त शिव ने भी रचे हैं, यथा—

"गिरि-पति लागी मेरु, मेरु-पति लागी भूमि,
भूमि-पति लागी कौल-कच्छप के चारो सों।
दिग - पति लागी दिगपालँन के हाथ 'हठी',
सुर - पति लागी सुरराज छत्रधारी सों॥
दाँन - पति करँन, करँन - पति लागी बलि,
बलि - पति लागी कैलास के बिहारी सों।
तीनों लोक - पति, लगी है ब्रज - पति सों,
ब्रज-पति की लगी है, बृषभाँन की दुलारी सों॥"

*

"नचे है बारि, तापै कच्छप असबार,
कच्छप की पींठ पै सबार सेस कारा है।
सेस पै सबार अबनि भार-सों दबाइ राखी,
अबनि पै सबार सिंध-परबत बिस्तारा है॥
परबत पै सबार कैलास सहै 'सिव' कबि,
कैलास पै सबार सँमर नंदी गँन-भारा है।
नंदी पै सबार संभु, संभु पै सबार जटा,
जटा पै सबार मात गंगा की धारा है॥

पा०—१. (वें०) देखें...। २. (वें०) कटि-हू सरोमराजी...। ३. (वें०) (स०-पु० प्र०)...जगावती-सी आनन...।

कारँनमाला-लच्छन जथा—

कारँन ते कारँन जँनम, 'कारँन-माला' चारु।
जोति-आदि ते, जोति ते·बिधि, बिधि ते संसारु ॥

वि०—"कारण से कारण का जन्म होने पर 'कारण-माला' होती है, जैसे—आदि से ज्योति, ज्योति से विधि और बिधि से संसार। भाषा-भूषण में इसे 'गुंफ' अलंकार कहा गया है—"**कहिऐ 'गुंफ' परंपरा, कारँन की जब होत**", अर्थात् जहाँ कारणों की शृंखला दिखलायी जाय...। यहाँ गुंफ का शब्दार्थ "गुथा हुआ लेकर अनेक कारण एक-दूसरे से गुथते चले जाते हैं। साथ-ही इसमें कहीं पहिले कही हुई वस्तु कारण होती है और कहीं पिछली वस्तुएँ कारण होती हैं। इसलिए यह 'कारण-माला' ही है।

कारण-माला यौगिक शब्द है, और उसका अर्थ—कारणों की माला, शृंखला। अतएव पूर्व-पूर्व कथित बातें जब उत्तरोत्तर कथित बातों के कारण-रूप में कही जाँय, अथवा जहाँ पूर्व-पूर्व पदार्थ उत्तरोत्तर कहे हुए पदार्थों के कारण कहे जाँय, तब यह अलंकार होता है। किसी कारण से किसी कार्य का होना कहा गया, इसके बाद उस कार्य को आगे के कार्य का कारण कहा गया और इस-प्रकार यह शृंखला बनते चली गयी—कुछ दूर तक बँधती चली गयी तो ऐसी अवस्था में यह 'कारण-माला' कही जायगी, किंतु ध्यान रहे, यह शृंखला दो या उससे अधिक अवश्य होनी चाहिए। साथ-ही "जहाँ बाद में कहे हुए प्रत्येक कार्य का कारण पूर्व में कही हुई बातों में कार्य हो जाय वहाँ भी "कारण-माला" कही जायगी। अर्थात्, जहाँ पूर्व-पूर्व कथित पदार्थों के उत्तरोत्तर कथित पदार्थ कारण कहे जाँयगे वहाँ भी यह माला होगी।

कारण-माला को भोज के अतरिक्त प्रायः सभी—रुद्रट-मम्मटादि-आचार्यों ने माना है—उसका पृथक् अस्तित्त्व स्वीकार किया है। भोज ने इसे हेतु में माना है। श्री मम्मट ने इसका लक्षण "जहाँ क्रमशः किसी बात का कारण उसके पूर्व-पूर्व की कही हुई बात हो" माना है (का० प्र० पृ० ३२७)। साहित्य-दर्पण (संस्कृत) में—"परं-परं के प्रति जहाँ पूर्व-पूर्व वस्तु हेतु होती चली जाँय, वहाँ"...। यहाँ हेतु से कारण का अर्थ लिया जाता है। चंद्रालोक में भी—"किसी कारण से एक कार्य हो, फिर इसी कार्य को कारण बनाकर दूसरा कार्य हो और इसी क्रम से किसी वाक्य की पूर्त्ति करने को 'कारण-माला' कहते हैं।

ब्रजभाषा के अलंकार ग्रंथों में कोई इसे—कारण-माला, कोई गुंफालंकार और कोई "हेतु-माला" भी कहते हैं, यथा—

"कारण-माला"—

"पूरब-पूरब अरथ जहँ, उत्तर - उत्तर हेत।
'कारन-माला' होत सो, सुँनें-सबै चित चेत ॥
—चिंतामणि

*

"पूरब ते उत्तर लौं हेतुँन कौ गुंफ तहाँ, कारन-माला यों...।
—दूलह

"गुंफ"—

"कहिए 'गुंफ' परंपरा, कारन की जहँ होत।"
—जसवंतसिंह

"हेतु-माला"

"पूरब-पूरब हेतु जहँ, उत्तर-उत्तर काज।"
—मतिराम

—इत्यादि...। यहाँ अलंकार-आचार्यों का यह भी कहना है कि "उत्तरोत्तर कथित पदार्थों के पूर्व-पूर्व कथित पदार्थ कारण-भाव से 'माला-दीपक' में भी कहे जाते हैं, किंतु वहाँ उन सब का एक क्रिया में अन्वय होता है, यहाँ (कारण-माला में) नहीं, यही इसकी पृथक्ता है।

कारण-माला के दो भेद— "प्रथम कारण-माला" (जिसमें पूर्व-पूर्व कथित पदार्थ उत्तरोत्तर कथित पदार्थों के कारण हों) और "द्वितीय कारण-माला" (जिसमें उत्तरोत्तर कथित पदार्थ पूर्व-पूर्व कथित पदार्थों के कारण हों) भी मिलते हैं। दासजी ने दोनों प्रकार की कारण-माला का कथन किया है।"

उदाहरन जथा—

होत लोभते मोह, मोहौ ते उपजै गरब।
गरब बढ़ावै कोह, कोह[१] कलहै, कलहौ बिथा ॥

*

बिद्या देति जु[२] बिनै कौं, बिनै पात्रता मित्त[३]।
पात्रत्वौ[४] धँन, धंन धरँम, धरँम देत सुख नित्त[५] ॥

पा०—१. (का०) (प्र०) कोह कलह कल्लह बिथा। (वें०)...कलह कलह-हि...। २. (का०) (वें०) (प्र०) ..देती बिनय कौं...। ३. (का०) मीत...। ४. (का०) (वें०) (प्र०) पात्र वै...। ५. (का०) नीत।

वि०—"दासजी का यह—"बिद्या देति जु बिनै कों०......" चिंतामणि जी कृत कारण-माला के निम्न उदाहरण का अनुवाद जैसा है, देखिये—

"बिद्या ते उपजै बिनै, बिनै जगत-बस होत।
जगत भऐं बस धँन मिलै, धँन ते धँरम-उदोत॥"

और ग्वाल कवि कृत पोद्दारजी-द्वारा अपनाया हुआ यह निम्न उदाहरण भी अपूर्व है,—

"मूल करनी कौ धरनी पै नर-देह लैबौ,
देहँन कौ मूल, एक पालँन सु नींकौ है।
देह-पलिबे कौ मूल भोजँन सु पूरँन है,
भोजँन कौ मूल होनों बरखा घनीं कौ है॥
'ग्वाल कवि' मूल बरखा कौ है जजँन-जप,
जजँन जु मूल बेद-भेद बहु नींकौ है।
बेदँन कौ मूल ग्याँन, ग्याँन-मूल तरिबौ त्यों-
तरिबे कौ मूल नाम भाँनु-नंदिनीं कौ है॥

अथ उत्तरोत्तर अलंकार लच्छन जथा—

एक, एक ते सरल लखि, अलंकार कहि 'सारु'।
याही कों 'ऊत्तरोत्तर',[1] कहैं जिन्हें मति-चारु॥

वि०—"जहाँ एक से एक की सरलता वा सरसता दिखलाई, अथवा बतलाई जाय वहाँ 'सार'—अलंकार जिसे 'उत्तरोत्तर' भी कहते हैं, होता है। अर्थात् उत्तरोत्तर उत्कर्ष के वर्णन में यह अलंकार बनता है। साथ-ही उसके अपकर्ष में भी......।

उत्तरोत्तर को जैसा दासजी ने कहा है—'सार' भी कहते हैं और "उदार" भी। अतएव कही हुई वस्तुओं में जब क्रमशः एक के बाद धारावाहिक रूप से उत्कर्षापकर्ष दिखलाया जाय—प्रथम कही हुई वस्तु से उसके बाद की कही हुई वस्तु का उत्तरोत्तर (एक के बाद एक) उत्कर्षापकर्ष वर्णन किया जाय, वहाँ यह अलंकार होगा। उत्तरोत्तर का अर्थ है—"एक के बाद एक दूसरा"। सार का अर्थ है—"उत्कृष्टता, तत्व और उदार का अर्थ है—'सीधा, सरल, दानी, महान् और सीधा-सादा।"

इस अलंकार में क्रमशः उत्कृष्टतर वस्तु का कथन प्रारंभ कर उत्कृष्टतम पर उसकी समाप्ति होने के कारण ही इसका नाम "उत्तरोत्तर" पड़ा। एक-ही वस्तु

पा०—१. (का०) (प्र०) उतरोंतरे...। (वें०) (सं० पु० प्र०) उतरोतरी...।

की अनेक अवस्थाओं में क्रमिक उत्कृष्टता बतलाना —विषय भी इस अलंकार के अंतर्गत आ जाता है। यहाँ स्वरूप, धर्म-आदि का उत्तरोत्तर उत्कर्षक वर्णन किया जाता है, जिससे इसके कई भेद बन जाते हैं। बा० व्रजरत्नदास (अलंकाररत्न में) कहते हैं कि "यहाँ उत्कर्ष भली-बुरी दोनों बातों में हो सकता है, पर उसे अपकर्ष कहना उचित नहीं ज्ञात होता, क्योंकि इसके तीनों नामों में उत्कर्ष वा उत्कृष्टता-ही का भाव निहित है, अपकर्ष का नहीं, किंतु—

"रहिमँन वे नर मर चुके, जे कहुँ माँगन जाँइ।
उँन ते पैहलें वे मरे, जिँन मुख निकसत 'नाँइ' ॥"

यहाँ उत्तरोत्तर कथित वस्तु का अपकर्ष वर्णन है और उक्त अलंकार का सुंदर उदाहरण भी है, अतः आपका मत मान्य नहीं हो सकता। यही बात केड़ियाजी ने भी कही है कि "सार अलंकार कहीं-कहीं उत्तरोत्तर अपकर्ष में भी माना गया है, किंतु सार शब्द का स्वारस्य उत्कर्ष में हो है, अतः हमारे विचार से उत्कर्ष में सार मानना चाहिये।

आचार्य मम्मट ने इसका लक्षण पूर्व-कथित रूपानुसार इस प्रकार माना है—**"उत्तरोत्तमुत्कर्षो भवेत्सारः परावधिः"** (जहाँ एक के अनंतर दूसरे का क्रमशः उत्कर्ष, बड़प्पन) अंतिम सीमा तक पहुँचा दी जाय वहाँ सार (उत्तरोत्तर) होता है। साहित्य-दर्पण में भी यही बात कही गयी है— **'उत्तरोत्तरमुत्कर्षो-वस्तुतः सार उच्यते'"** (वस्तु का उत्तरोत्तर उत्कर्ष वर्णन करना सार है)। साथ-ही आपने काव्य-प्रकाश में दिया गया उदाहरण तद्वत् अपना लिया है। चंद्रालोककार ने इसका दूसरा लक्षण माना है, जैसे—**"सारोनाम पदोत्कर्षः सारताया यथोत्तरं"**। अर्थात्, जहाँ किसी रूप में गुण-प्रदर्शित करते हुए यह कहा जाय कि इस कार्य का यही 'सार' है, तो वहाँ सारालंकार होगा। उदाहरण भी इसके अनुरूप दिया है—**"सारं सारस्वतं काव्यं काव्यंतत्र शिवस्तवः"** (विद्याध्ययन का सार कविता है और काव्य का सार शिव-स्तुति है) यही लक्षण और तद्वद् उदाहरण व्रजभाषा के आचार्य श्री चिंतामणि ने इस प्रकार दिया है—

"जहाँ कौन-हू बात में, कछू बरनिऐं सार।
सो उत्तर उतकर्ष यों, सुनिऐं-सार विचार ॥"

*

"पुहुमि - सार बारानसी, ता में पंडित सार।
बहुरि पंडितँन में समझि, सार सु ब्रह्म-विचार ॥"

साथ-ही आपने 'उदार' को पृथक् अलंकार मानते हुए लिखा है—

"जहाँ - तहाँ संपति - कथँन, सो 'उदार' मँन आँन ।
जो उपलच्छँन बड़ेन कौ, वहौ वहै पैहचाँन ॥"

पद्माकरजी ने उत्तरोत्तर तो नहीं, पर 'सार' नाम से इस अलंकार को मानते हुए इसके तीन भेदों का भी कथन किया है, जैसे—

"गुन-हीं सों, कै दोष सों कै दुहुँ सों जिहिँ थाँन ।
एक-एक ते अधिक भँनि, त्रिबिध 'सार' यों जाँन ॥

अर्थात् गुण, दोष और गुण-दोष के उत्कर्ष में 'सार' अलंकार होता है। दासजी ने दो ही भेद मान उनके उदाहरण दिये हैं। एक बात और, वह यह कि 'उत्तरोत्तर' वा 'सार' में शृंखला-विधान तो "कारण-माला और एकावली" की ही भाँति का होता है,—समान दीखता है, पर कारण-माला में कारण-कार्य का तथा एकावली में विशेष्य-विशेषण का और उत्तरोत्तर (सार) में उत्कर्षापकर्ष का संबंध होता है, अतः तीनों में स्पष्ट अंतर है। जगन्नाथ प्रसाद 'भानु' ने काव्य-प्रभाकर में इन दोनों भेदों का—'अधिक' और 'न्यून' नाम दिया है।

प्रथम उदाहरन जथा—

होत मृगादिक ते बड़े बारँन, बारँन - बृंद पहारँन हेरे ।
सिंध में केते पहार परे, धरती में बिलोकिए[1] सिंध घँनेरे ॥
लोकँन में धरती ऐ[2] किती, हरि-ओदर[3] में बहु लोक बसेरे ।
ते हरि 'दास' बसें इन[4] नेंनँन, सब[5] भाँति बड़े द्रग राधिका तेरे ॥*

दुतीय उदाहरन जथा—

ए करतार, बिनै सुँन[6] 'दास' की, लोकँन कौ औतार करौ जिँन[7] ।
लोकँन कौ औतार करौ तौ मनुँष्षन[8] को जु सँवार करौ जिँन ॥

पा०—१. (र० कु०) बिराजत...। (सू० स०) किते परे सिंध...। २. (का०) (वें०) (प्र०) यों...। (र० कु०) हू...। ३. (का०) (वें०) (प्र०) वोदर में...। (सू० स०) उद्र में केत है लोक...। ४. (वें०) (र० कु०) (सू० स०)...बसें इनमें...। ५. (का०) (प्र०) एते बड़े...। (वें०) (र० कु०) (सू० स०) सब चाँहि...। ६. (का० प्र०) (र० कु०) सुनों...। ७. (का०-प्र०) (र० कु०) जनि। ८. (का०) (वें०) (प्र०) मनुष्यन-हूँ को सँवार करौ...। (का० प्र०) मनुष्यन को तो सँवार करौ जनि। (र० कु०) मनुष्यन ही को सँवार करौ जनि।

*. र० कु० (म० अयोध्या) पृ० ६०, २३३ ।—नायिका-वर्णन। सू० स० (भ० दी०) पृ० ३४३-१५४ ।—नेत्र-वर्णन। औ० श्री० क० गा० (ज० च०) पृ० ८ ।—नेत्रवर्णन।

मौंनुष हू[1] कौ सँवार करौ तौ, तिन्हूँ[2]-बिच प्रेंम-प्रचार करौ जिंन[3]।
प्रेंम-प्रचार[4] करौ तौ दयानिधि, क्यों[5]-हूँ बियोग-बिचार करौ जिंन[6]॥*

वि०—"दासजी का प्रथम उदाहरण उत्कर्ष रूप उत्तरोत्तर का है। यहाँ उत्तरोत्तर रूप सार तो है ही, अधिकालंकार भी अपनो प्रतिभा—सौंदर्यता, अलग-ही दिखला रहा है। द्वितीय उदाहरण अपकर्ष रूप उत्तरोत्तर का है, जो प्रोषित नायक की उक्ति से—कहने के ढंग से, अधिक स्पष्ट हो रहा है। प्रथम उदाहरण स्वरूप दो छंद और देखिये, यथा—

"जिहिं हरि-उदर-माँहि बहु लोक रहंत।
बड़े सोऊ गुँनि नेंनँन में निबसंत॥"

*

"कापै तेरे द्दगँन की, कही बड़ाँई जाइ।
त्रिभुबँन जाके मुख-बसै, सो जिहिं रह्यौ सँमाइ॥"

प्रथम बरवै 'रहीम' जी का है, और द्वितीया दोहा स्व० बा० जगन्नाथ-दासजी 'रत्नाकर' का"। दो दोहे रसनिधि जी के भी देखिये, जो इसी बात को एक नये प्रकार से रख रहे हैं। यदा—

"तुँम गिरि लै नख पै धरयौ, हँम तुँम कों द्दग-कोर।
हँन ह्वै में तुँम -हीं कहौ, अधिक कियौ को जोर॥"

*

"घट-बढ़ हँन में कोंन हैं, तुही साँवरे-ऐंन।
तुँम गिरि लै नख पै धरयौ, इन गिरिधर लै नेंन॥"

*

आँखें वह आँखें है, देखा हो जिन आँखों ने तुझे।
दिल वही दिल है कि जिस दिल में तेरी याद रहे।

दासजी के द्वितीय उदाहरण के सम-तुल्य कवि 'नंदराम' और "पद्माकर" के दो छंद देखिए, कितनी सुंदर समानता है, यथा—

१. (का०) (प्र०) ही...। २. (का०) (वें०) (प्र०) (का० प्र०) (र० कु०) तिन्हें...। ३. (का० प्र०) (र० कु०) जनि। ४. (वें०) प्रकार। ५. (का० प्र०) केहूँ...। ६. (का०प्र०) (र० कु०) जनि।

*. र० कु० (म० अयोध्या) पृ०—१६२, ४४५।—प्रोषितपति।का नायिका वर्णन। का० प्र० (भानु) पृ० २४२—प्रोषित-पति। का० कां० (रा०च० सिं०) पृ० ९९ १।

"लोकँन सँवारौ तौ सँवारौ नाँ बिगारौ कछु,
लोकँन-सँवारि नर-नारी नाँ सँवार तो।
कीन्हे नर-नारो तौ नाँ प्रेम कौ प्रचार देतौ,
प्रेम कों प्रचारौ तौ नाँ मैंन कों प्रचार तो॥
मैंन कों प्रचारौ तौ प्रचोरयौ नाँ सँजोग दे तो,
कीन्हों जो सँजोगै तौ वियोगै नाँ बिचार तो॥
'नंदराम' कीन्हों जो बियोग बिधिनाँ तौ भूलि,
बौरे बँन-आँगन बसंत नाँ बगार तो॥

❀

साँझ के सलोने घँन सबुज-सुरंगन सों,
कैसें कै अनंग अंग-अंगँने सताउ तो।
कहै 'पद्माकर' झकोर झिल्ली सोरँन कौ,
मोरँन कौ महत न कोऊ मँन-ल्याउ तो॥
काहू बिरही की कही माँन लेतो जौ पै दई,
जग में दई तौ दया-सागर कहाउ तो।
पावस-बनायौ तौ न बिरह बनाउ तौ,
जौ बिरह-बनायौ तौ न पावस बनाउ तो॥"

अथ रसनोपमाँ-अलंकार लच्छन जथा—

उपमाँ औ एकावली कौ संकर जहँ होइ।
ता-ही कों 'रसनोपमाँ', कहैं सुमति सब कोइ॥

वि०—"जहाँ उपमा और एकावली-अलंकारों का संकर हो वहाँ दासजी रसनोपमा अलंकार कहते हैं। अथवा बहुत से उपमान और उपमेयों में यथोत्तर उपमेय को उपमान कथन किये जाने को—सेठ कन्हैयालाल पोद्दार-वचनात्—रसनोपमा कहते हैं। अथवा जहाँ कहे हुए उपमेय क्रमशः उत्तरोत्तर उपमान होते जाँय और इसी प्रकार उपमेयोपमानों की एक शृंखला बन गयी हो तो वहाँ रसनोपमा, क्योंकि रसनोपमा—उपमा और एकावली की (दासजी-अनुसार) गृहीत-मुक्त-रीति के संयोग से बनती है।

रसनोपमा को प्रायः सभी संस्कृत तथा ब्रजभाषा के सभी अलंकार ग्रंथों में "उपमा-प्रपंच" (उपमा के विविध भेदादि) के साथ लिखा है। वहाँ इसके लक्षण निम्न प्रकार हैं—"यथोत्तरोपमेयस्योपमानत्वे पूर्ववद्भिन्नाभिन्न धर्म त्वेत ।" यदि क्रमशः पूर्व-पूर्व वाले उपमेय पीछे-पीछे उपमान रूप

से कहे जाँय तो मालोपमा-ही की भाँति रसनोपमा होगी, इसके दो भेद—"अभिन्न साधारण धर्मों वाली" तथा भिन्न-भिन्न धर्मों वाली रसनोपमा रूप से होंगे। साहित्य-दर्पण-रचयिता कहते हैं—"···**कथित रसनोपमा। यथोर्ध्व-मुपमेयस्य यदि स्यादुपमानता॥**" अर्थात् उपमेय जहाँ उत्तरोत्तर वाक्यों में उपमान हो जाय वहाँ रसनोपमा कही जाती है। ब्रजभाषा के पूर्व अलंकारा-चार्य चिंतामणजी ने भी इसे उपमा-प्रपंच के साथ लिखते—वर्णन करते हुए इसका लक्षण यह दिया है—

> **"प्रथमैं जो उपमेइ वौ पुनि उपमाँन जु होइ।**
> **बस्तु और कौ क्रँम जु यह, रसनोपँम है सोइ॥"**

मतिराम कहते हैं—

> **"जहाँ प्रथम उपमेइ सो, होत जात उपमाँन।**
> **तहाँ कहत रसनोपमाँ, कबि 'मतिराँम' सुजाँन॥"**

और पद्माकर भी—

> **"रसनोपमाँ उपमेइ जहँ, होत जात उपमाँन॥"**

परंतु इसके जो भी उदाहरण विभिन्न ग्रंथकारों ने दिये हैं, उनमें सेठ कन्हैयालाल पोद्दार रसनोपमा न मान 'वाच्योपमा' को मानते हैं, क्योंकि इनके वाच्यार्थ में ही उपमा है, इति···।

रसनोपमा को दासजी ने-ही उपमा-प्रपंच से पृथक् कर (इसका) वर्णन किया है, क्योंकि आपने इसमें दीपक-यथासंख्यादि जैसा कहने से—वर्ण्य-वस्तु को वर्णन करने के ढंग से, साथ-ही इस पर एकावली-अलंकार का प्रत्यक्ष प्रभाव देखकर उसे इन्हीं की श्रेणी में रख अपनी विशेष काव्य-गत-अलंकार प्रतिभा का परिचय दिया है।

संस्कृतादि ग्रंथों में रसनोपमा का उल्लेख, उपमा के साथ-साथ अभिन्न रूप में (अर्थात्, प्रथक नहीं) किया है। लुप्तोपमाओं के वर्णन के बाद जहाँ "बिंब-प्रतिबिंबोपमा-आदि का कथन किया है, वहाँ इसको भी स्थान दिया है। जैसे—(१) पूर्णोपमा, (२) लुप्तोपमा, (३) मालोपमा, (४) लक्ष्योपमा, (५) रसनोपमा, (६) समुच्चयोपमा। अथवा—बिंबप्रतिबिंबोपमा, वस्तु-प्रतिवस्तु-निर्दिष्टोपमा, श्लेषोपमा, वैधर्म्योपमा, नियमोपमा, समुच्चयोपमा, रसनोपमा आदि-आदि···।"

रसनोपमा का अर्थ—रसना + उपमा, रसना = कंधनी, कमर-पेटी, शृंखलादि और उपमा का अर्थ समता...। अर्थात् जब कई उपमाएँ एक शृंखला-बद्ध रूप में कहीं जाँय और प्रथम का उपमेय दूसरे में क्रमशः उपमान होता जाय तब रसनोपमा का विषय बनता है, अस्तु प्रथम उपमा में जिस उपमेय का अन्य से

सादृश्य दिखलाया गया है, वह दूसरी उपमा में उपमान होकर नये उपमेय को समानता प्रकट करे और फिर यह नया उपमेय तीसरी उपमा में उपमान बन कर एक और नये उपमेय को उपमित करे तथा यही क्रम से यदि और उपमाएँ हों तो—चलता रहे तो वहाँ रसनोपमा। यह व्याख्या—डा० ब्रजरत्नदास जी की है, यथा—"पूर्वपूर्व समानत्वमुत्तोत्तर वस्तुतः, मेखलारचनन्यायाद्यदिस्याद्रशनोपमा ॥"

रसनोपमाँ-उदाहरन जथा—

न्यारौ न होत बफारौ ज्यों धूंम ते,[1] धूंम ज्यों जात घँनें-घँन में हिलि।
'दास' उसास रलै जिँमि पौंन में, पौंन ज्यों[2] पैंठत आँधिन में पिलि॥
कौंन जुदौ करै लोंन[3] कों नीर ते, नीरौ छीर में जात खरौ घिलि।
त्यों[4] मति मेरी मिली मँन मेरे में, मो मँन गौ मँनमोंहँन सों मिलि॥

•

अति प्रसन्न है कँमल सौ, कँमल मुकुर सौ बाँम।
मुकुर चंद सौ चंद है, तो मुख सौ अभिराँम॥

वि०—"दासजी के यह दोनों उदाहरण विभिन्न, अर्थात् अभिन्न-भिन्न-धर्मा रसनोपमा के हैं। रसनोपमा का उदाहरण काव्य-प्रभाकर (हिंदी) रचयिता पं० जगन्नाथप्रसाद 'भानु' कृत सुंदर है, यथा—

"काव्यवर जग सोहै, कैसौ सोहै काव्यवर,
जैसौ माँनसर सोहै सरँन कौ अधिराज।
कैसौ सोहै माँनसर कहौ 'कबि भाँनु' मोसों,
जैसौ सोहै द्विजराज, कैसौ सोहै द्विजराज॥
मदँन - मुकर जैसौ, मदँन - मुकर कैसौ,
प्यारी के बदँन पर जैसी रही छबि छाज।
प्यारी कौ बदँन कैसौ, सुख कौ सदँन जैसौ,
सुख कौ सदँन कैसौ, जैसौ सुभ राम-राज॥"

अथ रतनावली अलंकार-लच्छन जथा—

क्रँमी-बस्तु-गँनि बिदित जो,[5] रचि राख्यौ करतार।
सो क्रँम आँनें काव्य में, 'रतनावली' प्रकार॥

पा०—१. (का०) (वें०) (प्र०) (सं० पु० प्र०) में ..। २. (सं० पु० प्र०) यों...। ३. (का०) (वें०) (प्र०) (सं० पु० प्र०) लोंन त्यों नीरमें, नीर ज्यों-छीर में जात...। ४. (स० पु० प्र०) यों...। ५. (रा० पु० का०)...गँन जो बिदित...।

वि०—"जहाँ वस्तुओं के विदित क्रम को, जिन्हें करतार (ब्रह्मा) ने रच रखा है, उन्हें काव्य में क्रमशः लाने—प्रयोग करने पर "रत्नावली" अलंकार बनता है। अर्थात् प्रस्तुत अर्थ में क्रमानुसार अन्य नाम भी प्रकट हों, अथवा जहाँ प्रस्तुत अर्थ के साथ-साथ अन्य प्राकरणिक नाम वा अर्थ भी प्रसिद्ध क्रम से निकलें वहाँ यह अलंकार बनता है, यथा—

"'रत्नावलि' प्रस्तुत-अरथ, क्रम ते औरों नाँम।"

—भाषा-भूषण

रत्नावली का अर्थ रत्न-समूह वा उनकी पंक्ति है। अतएव इस अलंकार में रत्नों की पंक्ति की भाँति क्रम से प्राकरणिक अर्थों का क्रमशः वर्णन होता है, क्योंकि एक अर्थ के साथ उसका एक अन्य प्राकरणिक अर्थ भी रहता है और उसे बोध कराना ही इस अलंकार का विशेष लक्ष्य होता है। कुवलयानंद में इसका लक्षण—"क्रमिकं प्रकृतार्थानां न्यासं 'रत्नावली' विदुः" (प्रस्तुत अर्थ में जहाँ क्रम से और—अन्य नाम भी निकलें...) माना है।"

रत्नावली अलंकार को संस्कृत-साहित्य को भाँति ब्रजभाषा में भी कुछ-ही अलंकाराचार्यों ने माना है और इसका लक्षण कुवलयानंद से-ही अपनाया गया है।"

अस्य उदाहरन जथा—

स्याँम-प्रभा इक[1] थापि, जुग उरजँन तिय के किए।
चारु पंचसर छापि, सात कुंभ के कुंभ पर॥

*

रवी सिर-फूल, मुखै ससि-तूल, मही-सुत-बंदँन-बिंदु सु भाँती[2]।
पनाँ बुध, केसर-आड़ गुरौ, नँक-मोंतिऐ सुक्र करै दुख-साँती[3]॥
सँनि[4] हैं सिँगार, बिधु-तुंद[5] जु बार, सजै झखकेतु सबै तँन काँती[6]।
निहारिऐ लाल, भरौ[7] सुख-जाल, बँनीं नव-बाल नवग्रह-पाँती[8]॥

वि०—'दासजी के इस उदाहरण में प्रिया—नायिका के सौंदर्य-वर्णन प्रस्तुतार्थ में रवि-आदि नव ग्रहों के नाम क्रमशः बतलाये गये हैं। रत्नावली का निम्नलिखित किसी कवि का उदाहरण भी सुंदर है, यथा—

पा०—१. (वें०) पिक...। २. (का०) (वें०) (प्र०) भाँति। ३. (का०) (वें०) (प्र०) साँति। ४. (का०) (वें०) (प्र०) सनी...। ५. (का०) (वें०) (प्र०)—तुंदबार...। (सं० पु० प्र०)—तुंदजबार...। ६. (का०) (वें०) (प्र०) काँति। ७. (का०) (वें०) भरै...। ८. (का०) (वें०) (प्र०) पाँति।

"स्याँम कौ सँनेह सो सिंगार, मुसकाँन हास,
सोक करुनाँरे परे प्यारे देह गोरी के।
रौद्र रतनारे, माँन-रोस ते निहारे नेंक,
बीर सौति-माँन-भंग करँन सु जोरी के॥
द्रुमँन-दवागि देखि भै भौ भयाँनक सौ,
त्यों बिभत्स दीखें अन्य होति घृनाँ गोरी के॥
अदभुत अहेरी ऐंन, साँत सुँनि ऊधौ-बेंन,
नव-रस ऐंन नेंन नवल किसोरी के॥

नायक—मिलाप के लिए शुभ दिन बताते-बताते हारजाने वाली सखी की रघुनाथ कवि-विरचित नायिका-प्रति यह उक्ति भी सुंदर है, यथा—

आदित-सोम कहौ कवहूँ, कवहूँ कहौ मंगल औ बुध-ही में।
बिहफै औ सुक्र-सँनीचर कों, कवहूँ कहिवौ मुख-सों नहिं रीतें॥
मोहिं न जाँनि परै 'रघुनाथ' कि भेंट कौ है दिन कोंन सौ सीतें।
आवत-जात मैं हारि परी, तुम्हें बार बतावत बासर-बीतें॥"

यहाँ भी प्रसिद्ध सातों वारों का क्रमशः वर्णन होने से 'रत्नावली' सुंदर बन गया है।"

अथ परजाइ–अलंकार लच्छन जथा—

तजि-तजि आसइ करँन ते, है 'परजाइ'-बिलास।
घटती-बढ़ती देखिकें, कहि संकोच-बिकास॥

वि०—"जहाँ किसी कारण से वर्ण्य-वस्तु अपना आश्रय (आशय) त्याग क्रमशः अन्य का आश्रय ले तो वहाँ पर्याय का विलास समझना चाहिये। यह आश्रय-त्याग घट-बढ़ होने के कारण संकोच और विकाशरूप में वर्णन किया जाता है।"

कोश-कारों ने पर्याय को **"पर्यायोऽवसरेक्रमे"** और "आनुपूर्वी स्त्रियां वाऽऽवृत्परिपाटी अनुक्रमः—पर्यायश्च" कहा है। इसलिए उक्त अलंकार में क्रम से एक के बाद दूसरी में किसी वस्तु का आश्रय लेना, अथवा अनेक वस्तुओं का एक ही आधार में एक के बाद दूसरी में क्रमवत् स्वतः स्थित होना—किया जाना "पर्याय" का विषय कहा गया है। अर्थात्, 'पर्याय' अलंकार में एक वस्तु की—एक-ही आधेय को, क्रमशः काल-भेद से एक साथ नहीं, अपितु एक के पीछे दूसरे-दूसरे आधारों में स्वतः स्थिति होने का—किसी-द्वारा किये जाने का

वर्णन होता है। यहाँ क्रमशः शब्द "विशेष" अलंकार से पृथक्ता-प्रदर्शन का द्योतक है, क्योंकि वहाँ (विशेष में) भी एक ही काल में अनेक स्थानों पर वस्तु स्थिति का वर्णन किया जाता है, जो क्रमशः (उत्तरोत्तर) नहीं होती। अतएव संस्कृत-अलंकाराचार्यों ने 'पर्याय' के प्रथम और द्वितीय नाम से दो भेद माने हैं। प्रथम पर्याय वहाँ, जहाँ—"एक वस्तु की क्रमशः अनेक आश्रयों में स्वतः स्थिति हो या अन्य-द्वारा की जाय" और द्वितीय 'पर्याय' वहाँ "जहाँ अनेक वस्तुओं की एक आधार में क्रमशः स्वतः स्थिति हो वा किसी के द्वारा की जाय…। इसके बाद इन आचार्यों ने इन दोनों पर्यायों के "स्वतः स्थिति" और "अन्य-द्वारा स्थिति" किये जाने पर दो-दो भेद और माने हैं। पर यहाँ यह ध्यान रहे कि पर्यायालंकार वहीं होता है जहाँ एक आधार का संबंध नष्ट होकर उसकी दूसरे आधार में स्थिति होती हो, सम-भाव से एक काल में विविध आधारों में स्थिति न हो…। जैसा काव्य-प्रकाश में मम्मटाचार्या ने उदाहरण दिया है, यथा—

"बिंबोष्ठ एव रागस्ते तन्वि पूर्वमदृश्यत।
अधुना हृदयेऽप्येष मृगशावाक्षि लक्ष्यते॥"

अर्थात् हे कृशांगि, राग प्रथम तो कुंदरू के फल समान तेरे ओष्ठों में ही दीखता था, पर अब तो वह हे मृगशावाक्षि तेरे हृदय में भी दिखलाई पड़ता है।

यहाँ राग (लाल रंग और प्रेम) वास्तव में भिन्न-भिन्न है, फिर भी उसका एक ही प्रकार से एक-ही काल में स्थिति रूप कहे जाने के कारण अभिन्नवत् प्रतीत होता है—दोनों का एकत्व प्रकट करता है, भिन्नवत् प्रतीत नहीं होता, इसलिये यह पर्याय का शुद्ध उदाहरण भी नहीं कहा जा सकता। यद्यपि काव्य-प्रकाश के टीका-कर्त्ताओं ने इसमें क्रम—"प्रथम एक आधार अधर में ही राग था, अब द्वितीय आधार हृदय में भी वह है" बतलाया है, किंतु आचार्यजी ने इस उदाहरण को संतोषप्रद न मान दूसरा उदाहरण भी दिया है।

द्वितीय पर्याय-लक्षण में भी 'क्रमशः' शब्द समुच्चयालंकार के पृथक्त्व का द्योतक है, क्योंकि द्वितीय समुच्चय में भी अनेक वस्तुओं की एक-ही आधार में स्थिति एक काल में ही कही जाती है, पर वह क्रमशः नहीं होती, जैसी कि इस अलंकार में। इसी प्रकार "परिवृत्ति अलंकार से इसकी पृथक्ता-वर्णन में अलंकाराचार्यों का कहना है कि "परिवृत्ति में एक वस्तु दूसरे को देकर बदले में दूसरी वस्तु उससे ली जाती है, जो यहाँ नहीं है…।

श्रीमम्मट ने पर्याय का लक्षण—"एकं क्रमेणानेकस्मिन्पर्यायः" (एक-ही वस्तु यदि क्रम से अनेक में पायी जाय) मानते हुए कहा है कि "यदि एक वस्तु

क्रमपूर्वक अनेक में हो, वा पायी जाय, अथवा की जाय—उत्पन्न की जाय, वहाँ 'पर्याय' अलंकार मानना चाहिये (**एकं वस्तु क्रमेणानेकस्मिन्भवति क्रियते वा स पर्यायः**)। आगे आप पुनः कहते हैं—"**अन्यस्ततोऽन्यथा। अनेकमेकस्मिन् क्रमेण भवति क्रियते वा सोऽन्यः**" अर्थात् एक और भी भिन्न लक्षण वाला पर्याय होता है, जिसमें अनेक वस्तु एक-ही आधार पर क्रम-पूर्वक काल-भेद से हों, अथवा (उत्पन्न) की जाँय........। साहित्य-दर्पणकार कहते हैं —

"क्वचिदेकमनेकस्मिन्नेक चैकगं क्रमात्।
भवति क्रियते वा चेत्तदा 'पर्याय' इष्यते॥"

एक वस्तु अनेकों में, वा अनेक वस्तुएँ एक में क्रम से हों, या की जाँय—कही जाँय, वहाँ पर्याय है। इनमें आधार कहीं संहत (मिला हुआ) और कहीं असंहत (बिना मिला हुआ) रूप से होता है। साथ-हो (जैसा पूर्व में लिखा जा चुका है) यहाँ एक वस्तु (की स्थिति) अनेकों में क्रम से की जाती है, एक-ही समय में नहीं। यह विशेषालंकार से (इसकी) भिन्नता है और बदला न होने के कारण 'परिवृत्ति' से (भी) भिन्नता है।"

ब्रजभाषा-ग्रंथों में पर्याय के दो ही भेदों का उल्लेख मिलता है, जैसा कि चिंतामणि जी कहते हैं —

"क्रँम-क्रँम एक अँनेक में, एक-हि माँहि अँनेक।
द्वै प्रकार 'परजाइ' यों, सत कबि करत बिबेक॥"

प्रायः यही लक्षण—"क्रमशः एक में अनेक और अनेक में एक" आपके बाद के आचार्यों ने भी अपनाया है। अर्थात्, उक्त दो ही भेदों का कथन किया है।"

अथ प्रथम परजाइ उदाहरन जथा—

पाँइन कों तजि 'दास' लगी तिय-नैंन बिलास करै चपलाई।
पींन नितंब-उरोज[1] भए, हरि कें कटि जात भई तँन-ताई॥
बोलँन-बीच बसी सिसुता, तन जोबँन की गइ फैलि दुहाई।
अंग-बढ़ौ[2] सु बढ़ी अब तौ, नबला छबि तौ[3] बढ़ती पर आई॥

*

रह्यौ कुतूहल देखिबौ, देखत मूरति-मैंन।
पलकँन कौ लगिबौ गयौ, लगी टकटकी नैंन॥

पा०—१. (वें०) उरोज-नितँब भए। २. (का०) (प्र०) बढ्यौ सु बढ्यौ अब तौ, ३. (वें०) की ..

वि०—"दासजी कृत ये दोनों उदाहरण "अनेक में एक और एक में अनेक" द्वि-विध पर्याय के हैं।

प्रथम पर्याय (अनेक का एक में आश्रय) जो संस्कृत-अलंकाराचार्यों की मान्यता से द्वितीय है, का उदाहरण चिंतामणिजी ने इस प्रकार दिया है—

"छाँड़ि दई तँनता जु नितै, बहि ताकों कहाँ सेबँन वह लाग्यौ।
पाँइन चचलता-जुत जो, अबसा पर नेंन जुगै अँनुराग्यौ॥
मंद-सुभाव लियौ गति जो, मृग-लोचनी की मति कों तजि भाग्यौ।
अंगँन के गुँन कौ बदलौ करि कें तिय के तँन जोबँन जाग्यौ॥"

अथवा 'लच्छीराम' कृत उदाहरण, यथा—

"बालपनों नव जोबँन-जोग, नबेली के पाइँन की चपलाई।
आँनि बसी वर लोचँन - बीचि में, बंक - बिलोकनि की रुचिराई॥
मंदता माँनस की 'लछिरांम', भरी गति में अति-ही गरुआई।
मोंहँन कौ मँन मोहै लगी, उँमगी अधराधर में मधुराई॥"

और एक में अनेक के आश्रय रूप द्वितीय पर्याय का उदाहरण 'रघुनाथ' कवि कृत इस प्रकार है—

"बंसीबट - तर नटबर - भेख धरें, ठाढ़े-
बिख्यात सोई जसुमति के दुलारे हैं।
गोधँन - चरैया एई, चीर के हरैया एई,
गुंजँन - धरैया एई कुंजँन - बिहारे हैं॥
एई मँन - चोर, एई माँखन के चोर, एई—
'रघुनाथ' गोपिन के आँखिन के तारे हैं।
एई पीत - पटवारे, एई हैं मुकटवारे,
ब्रज में सुनति हौ सो एई कॉन्ह कारे हैं॥"

अथ संकोच परजाइ (पर्याय) कौ उदाहरन जथा—

रावरौ पयाँन सुँनि सूखि गई पैहलें - हीं,
पुँनि[1] भई बिरह-बिथा ते तँन-आधी-सी।
'दास' के[2] दयाल माँस-बीतिबे में छिँन-छिँन,
छींन - परिबे की रीति[3] राधे अवराधी-सी॥

पा०—१. (प्र०) भई पुनि बिरह...। २. (का०) (प्र०) कौ (को)...। (वें०) की...। ३. (सं० पु० प्र०) की राधे रीति .।

साँसरी-सी, छरी-सी ह्वै सर-सी सरी-सी भई,
सींक-सी ह्वै, लीक-सी ह्वै, बाँध[1]-हू-सी, बाँधी-सी।
"बार-सी, मुरारि[2]-तार-सी लौं तजि आवति हौं,
जीवति-ही ह्वै है वौ प्राँनाजाँम साधी-सी ॥

अस्य तिलक

"इहाँ उपमाँ संकर है।"

पुनः उदाहरन जथा—

सब-जग-ही[3] हेमंत है[4], सिसिर सु छाँहन मीत।
रितु बसंत सब छाँड़ि कें, रही[5] जलासै सीत ॥

अस्य तिलक

हेमंत में सीत सब जग में, सिसिर में सीत छाँह के नींचें और बसंत में सीत सब कों छाँड़िकें जलासै (नदी-तालाब) में रहै है।

अथ 'बिकास' परजाइ (पर्याय) कौ उदाहरन जथा—

लाली हुती प्रियाधर[6], बढ़ी हिए-लौं हाल।
अब सुबास तंन-सुरंग करि, ल्याई[7] तुम पै लाल ॥

*

अँसुवँन ते वौ[8] नँद कियौ[9], नँद ते कियौ[10] समुद्र।
अब सिगरौ जग जल-मई, करँन चँहत हैं रुद्र ॥

*

हँम-तुँम एक हुते तँन-मँन फेरि—तुँम-
पीतँम कहाए[11] मोहिं प्यारी कहिबाई[12] है।
सोऊ गयौ, पति-पतिनी कौ रह्यौ नाँतौ पुँनि,
पापिनि हौं रही[13] तुम उत[14] दीठि-ठाई है ॥

पा०—१. (वें०) बाँधी ह्वै कें बाँधी—। (सं० पु० प्र०) बाँधी-सी ह्वै बाँधी—। २. (वें०) मुरारि-सी लौं जीवत तजौमें अजौं, जीवति…। ३. (प्र०) में...। ४. (वें०) में…। ५. (रा० पु० प्र०) रह्यौ…। ६. (का०) (वें०) (प्र०) प्रियाधरहिं…। ७. (वें०) आई…। ८. (का०) उहिं…। (वें०) (प्र०) वहिं…। ९. (का०) (वें०) (प्र०) किए…। १०. (का०) (प्र०) किए…। ११. (का०) (वें०) (प्र०) (सं० पु० प्र०) कहायौ…। १२. (का०) (प्र०) कहवाइ है। १३. (का०) (प्र०) हौं याही तुम्हें…। (वें०) हौं हयाँई तुम्हें उत-ही दिढाई है। १४. (प्र०) तुम्हें बात न दिढ़ाइ है। (का०) दीठ ठाइ है।

द्वै दिन[1]-लौं'दास' रही पतियाँ-सँदेस-आस,
हाइ-हाइ ताहू हठि[2] रह्यौ ललचाई[3] है।
प्राँननाथ, कठिन पखाँन-हूँ-ते प्राँन अबै,
कौंन जाँन कौंन-कौंन दसा दरसाई[4] है॥

वि०—"दासजी ने इन तीनों उदाहरणों में विकाश (एक में अनेक की स्थिति) पर्याय की छटा सुंदर रूप से दरसायी है। प्रथम उदाहरण में लाली अनेक आश्रयों में स्वतः स्थिति है, दूसरे में अन्य-द्वारा स्थिति है, अर्थात् आँसुओं का आश्रय क्रमशः नद, समुद्र तथा संपूर्ण जगत बताया गया है, जो स्वतः स्थित नहीं है। तीसरे उदाहरण में भी यही बात है।

अन्य-द्वारा अनेक आधार (आश्रय) रूप पर्याय का उदाहरण कविवर 'ग्वाल' कृत भी सुंदर बन पड़ा है, यथा—

"मेष. वृष, मिथुन तवायँन के आसँन ते,
सीतलाई सद तैखाँनन में ढली है।
तजि तैखाँने गई सर, सर-तजि कंज,
कंज-तजि चंदँन-कपूर पूर मली है॥
'ग्वाल कवि' ह्वाँते चंद में ह्वै चाँदनी में गई,
चाँदनी ते चलि सोरा-जल माँहि रली है।
सोरा-जल हू ते धँसी ओरा फिर ओरा-तजि,
ओराओर ह्वै कें हिमाँचर में गली है॥

साथ-ही दासजी कृत "अँसुवँन ते वौ नँद कियौ०···" के साथ रघुनाथ कवि का विरह-निवेदन भी देखिये, यथा—

"आपुँन के बिछुरें मँनमोहँन, बीती घरी अबै एक की ह्वै है।
ऐसी दसा इतने में भई, 'रघुनाथ' सुनें भइ ते मैंन म्वै है॥
लाडिली के अँसुवाँन कौ सागर, बाढ़त जात मनों नभ छ्वै है।
बात कहा कहिऐ ब्रज की, अब बूड़ोई ह्वै है कि बूड़त ह्वै है॥"

अथवा—

"गोपिंन के अँसुवाँन कौ नीर, सुतौ मोरी बह्यौ, बहि के भए नारे।
नारे भए नँदिया बढ़ि कें, नँदिया नद ते भए फाट करारे॥
बेगि चलौ तौ चलौ उत कों, 'कवि तोष' कहै ब्रजराज-दुलारे।
वे नँद चाँहत सिंधु भए, पुनि सिंध ते ह्वै हैं जलाहल भारे॥

पा०—१. (का०) (वें०) (प्र०) दिनालों···। २. (का०) (वें०) हठै···। ३. (का०) (प्र०) ललचाइ है। ४. (का०) (प्र०) दरसाइ है।

अथ दीपक-अलंकार लच्छन जथा—

एक सबद बहु में लगै, 'दीपक' जाँनों[1] सोइ ।
वहै सबद फिरि-फिरि फरें[2], आवृति-दीपक होइ ॥

वि०—"दासजी ने इस दोहे में—'दीपक' और उसका द्वितीय भेद "आवृत्ति दीपक का वर्णन किया है—लक्षण लिखा है। अतऽव 'दीपक' अलंकार वहाँ आपने माना है, जहाँ एक शब्द बहुतों (अनेकों) में लगे। इसी प्रकार 'आवृत्ति दीपक' वहाँ, जहाँ वही एक शब्द बार-बार आये।

संस्कृत-अलंकार ग्रंथों में दासजी कृत यह परिभाषा—दीपक का लक्षण नहीं माना गया है। वहाँ—

"सकृद्वृत्तिस्तु धर्मस्य प्रकृताप्रकृतात्मनां ।
सैव क्रियास्तु बह्वीषु कारकस्येति दीपकं ॥"

अर्थात् "प्रकृत (उपमेय) और अप्रकृत (उपमान) इन दोनों के जो क्रिया-दिक धर्म हैं, उनका एक-ही बार में कथन करने को—प्रस्तुताप्रस्तुत के एक धर्म कहने को, 'दीपक' और जहाँ दीपकालंकार की आवृत्ति हो, वा की गयी हो, वहाँ "आवृत्ति दीपक" अलंकार कहते हैं, यथा—

"आवृत्ते दीपकपदे भवेदावृत्तिदीपकम् ॥"

—चंद्रालोक

दीपक-अलंकार दीपक-न्यायानुसार है। जैसे एक स्थान पर रखा हुआ दीपक विविध वस्तुओं को (बाहर-भीतर) प्रकाशित करता है, उसी भाँति यहाँ अलंकार रूप में गुणात्मक वा क्रियात्मक धर्म से प्रस्तुत-अप्रस्तुत दोनों के स्वरूपों को प्रकाशित करता है। अतएव इसी आधार पर 'भरत मुनि' तथा भामह-आदि अलंकाराचार्यों ने इसके आदि, मध्य और अंत रूप से तीन भेदों का उल्लेख किया है। जहाँ आदि में धर्म का कथन किया जाय वहाँ आदि, जहाँ मध्य में धर्म का कथन किया जाय वहाँ 'मध्य' और जहाँ अंत में धर्म-कथन किया जाय वहाँ अंत-धर्मा दीपक कहा जाता है, यथा—**उपमानोपमेय वाक्येष्वेका क्रिया दीपकं। तत्त्रैविध्यं, आदिमध्यांतवाक्यवृत्तिभेदात्—वामन, का० सू० ४।३।१८,१९ ।**

आवृत्ति दीपक में भी यही बात है। वहाँ भी पूर्व-कथित प्रकार से अनेक वस्तुओं को स्पष्ट देखने-दिखाने के लिये प्रत्येक वस्तु के पास दीपक के प्रकाश की आवश्यकता प्रतीत होती है, उसी दीपक-न्याय के अनुसार आवृत्ति दीपक में भी एक क्रिया से अनेक पद, अर्थ और पद-अर्थ तीनों प्रकाशित किये जाते हैं,

पा०—१. (का०) (वें०) (प्र०) जाँनें...। २ (का०) (नें०) (प्र०) परे...।

—देखे-दिखलाये जाते हैं। अतएव इसके भी तीन भेद—पदावृत्ति-दीपक, अर्थावृत्ति-दीपक और 'पदार्थावृत्ति-दीपक कहे जाते हैं। जिन पदों की यहाँ आवृत्ति होती है वे प्रायः क्रियात्मक होते हैं।

श्री विश्वनाथ चक्रवर्ती ने 'साहित्य-दर्पण' में दीपक के आदि, मध्य और अंतधर्मी तीनों भेद नहीं माने हैं। आप कहते हैं कि "यद्यपि यहाँ गुण-क्रिया रूप धर्म आदि, मध्य और अंत में होने के कारण तीन भेद हो सकते हैं, किंतु उन्हें हमने (विश्वनाथ चक्रवर्ती ने) नहीं दिखाया है, क्योंकि इस प्रकार की विचित्रताएँ तो हजारों भाँति की हो सकती हैं, यथा—

"अत्र च गुणक्रिययोरादिमध्यावसानसद्भावेन त्रैविध्यं न लक्षितं तथाविध-वैचित्र्यस्य सर्वत्रापि सहस्रधा संभवात्...।"

दीपक को पंडितराज श्री जगन्नाथ ने तुल्ययोगिता के अंतर्गत माना है। आप कहते हैं कि "जब केवल प्रस्तुतों अथवा (केवल) अप्रस्तुतों के एक धर्म कथन में तुल्ययोगिता के दो भेद माने गये हैं, तो वहाँ प्रस्तुत-अप्रस्तुत के एक धर्म एक साथ कहने में कोई विशेष चमत्कार प्रतीत नहीं होता, इसलिये दीपक को तुल्य-योगिता से पृथक् मानना उचित नहीं है।" किंतु तुल्ययोगिता में केवल उपमेयों अथवा उपमानों का एक धर्म कहा जाता है, दीपक में नहीं। यहाँ (दीपक में) उपमेयोपमान दोनों का एक धर्म एक साथ कहा जाता है, जैसा तुल्ययोगिता में नहीं कहा जाता, इस लिये इसका पृथक् मानना-ही उचित है। ब्रजभाषा के ग्रंथों में 'दीपक' के लक्षण निम्न प्रकार से माने गये हैं—

"प्रस्तुत औ अप्रस्तुतँन कौ सरस धर्म-संजोग।
गम्य होइ कै अगँम जित, तित 'दीपक' बुध-लोग ॥"

—चिंतमनि

*

सो 'दीपक' निज गुनँन सों, बर्न्य इतर इक भाइ।

—भाषा-भूषण

*

बर्न्य-अबर्न्यँन कौ जहाँ, धरँम होत है एक।
बरनत हैं 'दीपक' तहाँ, कबि करि बिमल बिबेक ॥

—मतिराम

इन सभी उदाहरणों में दीपक का लक्षण उपमेयोपमानों का गुण-क्रियादि द्वारा एक धर्म होना कहा है। वामनाचार्य ने जैसा पूर्व कह आये हैं, वर्ण्यावर्ण्य की एक ही क्रिया का होना कहा है। साथ-ही साहित्य-दर्पण के टीकाकार जीवा-

नंद विद्यासागर भी—"अप्रस्तुताया अप्रस्तुताया च एकानुगमन क्रिया संबंधः" कहते हुए श्री वामनाचार्य का ही अनुमोदन करते हैं। अस्तु, संस्कृत तथा ब्रजभाषा के ग्रंथों में इस अलंकार के जितने भी उदाहरण देखे जाते हैं उन सब में केवल क्रिया का ही उपयोग है। यह क्रिया का उपयोग कारक, माला, आवृत्ति और देहरी-दीपकों में ही नहीं, किंतु सभी दीपकों में नियमित रूप से होती है।

कहीं-कहीं आवृत्ति-दीपक के भेद "पदावृत्ति दीपक" और "यमक" में साम्यता नजर आती है, किंतु पदावृत्ति दीपक एक प्रकार से यमकालंकार का रूपांतर-मात्र होते हुए भी दोनों में काफी अंतर है। पदावृत्ति दीपक में क्रिया की आवृत्ति होती है और यमक में अक्रिया-पदों की आवृत्ति होती है, इत्यादि...।" आवृत्ति दीपक 'सरस्वती-कंठा-भरण' के अनुसार केवल क्रिया-वाचक शब्दों के प्रयोग से ही नहीं, क्रिया-वाचक शब्दों के रहित भी होता है।

प्रथम दीपक-अलंकार उदाहरन जथा—

आँनन-आतप पेखि कें,[१] चलै डंक[२] कहुँ पाँइ।
सुँमन-अंजली लेति कर,[३] अरुँन रंग ह्वै जाँइ॥

*

अथ आवृत्ति-दीपक उदाहरन जथा—

रहे[४] थकित ह्वै, चकित ह्वै, सुंदरि[५] रति ह्वै आँनि।
तुव[६] चितोंनि लखि, ठोंनि तकि,[७] भृकुटि-नोंनि लखि रोंनि॥

*

वाही घरी ते न साँन[८] रहै, न गुमाँन रहै, न रहै सुघराई।
'दास' न लाज कौ साज रहै, न रहै तँनकौ घर-काज की धाई[९]॥

पा०—१. (का०) (वें०) (प्र०) देखि-हूँ...। २ (सं० पु० प्र०) डगै...। ३. (का०) (वें०) (सं० पु० प्र०) कर सुमनंजलि लेति हूँ। ४. (का०) (वें०) (प्र०) रहै...। (का०) (वें०)...चकित ह्वै, थकति ह्वै...। (वें०) थकित अरु चकित ह्वै...। ५. (का०) (वें०) (प्र०) समर सुंदरी...। ६. (का०) (प्र०) तुम...। ७. (का०) (प्र०) लखि...। (वें०) तुम चितौंन ठिकुठौंन भ्रुव, नोंनि निरखि मन-रोंनि। ८. (शृं० नि०) ग्यान रहै, न रहै सखियाँनि की सीख सिखाई। ९. (वें०) (प्र०)...धाई। (शृं० नि०)..., न रहै सजनी गृह काज की धाई।

ह्यौं[1] सिख-साथ निवारें रहौं, तब-ही लौं भटू सब भाँति भलाई ।
देखत कॉन्ह[2] न चेत रहै,[3] नहिं चित्त रहै, न रहै चतुराई ॥*

अरथावृत्ति-दीपक उदाहरन जथा—

रहे[4] थकित से चकित ह्वै, सँमर - सुंदरी ओंनि ।
तो[5] चितोंनि लखि, ठोंनि तकि, निरखि[6] तँनोंनि सु भोंनि ॥

*

छिँन होति हरी-री मही कों लखें, निरखें छिँन[7]-छिँन जो जोति-छटा ।
अवलोकति इंद्र-बधूँन[8] की पाँति, बिलोकति है छिँन[9] कारी-घटा ॥
तकि डार-कदंबँन की तरनै, दरसै[10] उत[11] नाँचत मोर-अटा ।
अध-ऊरध आवत-जात भयौ, चित नागरि कौ नट-कैसौ बटा ॥

वि०—"दासजी ने इन सभी उदाहरणों में प्रथम दीपक उसके बाद पदा-वृत्ति दीपक और उसके बाद अर्थावृत्ति दीपक के उदाहरण दिये हैं। प्रथम दो दीपक और आवृत्ति वा पदावृत्ति दीपक के उदाहरण काफी स्फुट हैं। अर्था-वृत्ति दीपक के दोनों उदाहरणों में अर्थ की आवृत्ति—"लखि, तकि और निरखि" एवं "लखें, निरखें, अवलोकति, बिलोकति, तकि-आदि से स्पष्ट है। ये सभी क्रियाएँ एक-ही अर्थ की द्योतक हैं। अतएव अर्थावृत्ति दीपक है।

"अध-उरध आवत-जात भयौ, चित नागरि कौ नट कौ-सौ" अथवा …"नट कैसौ बटा" रूप इस भावाव्यक्ति पर दासजी से पूर्व 'शीतल' जी ने अपूर्व उक्ति कही है, जैसे—

"थी सरद-चंद की जौन्ह खिली, सोवै था सब गुन-जटा हुआ ।
चोवा की चमक, अधर बिहँसन, रस-भींगा दाड़िम फटा हुआ ॥

पा०—१. (का०) (वें०) ह्यां…। (प्र०) हार्दिक-साधन वारे रहै, तब…। (शृं० नि०) ह्यां सिख-साथ निवारें रहौ…। २. (का०) (वें०) (प्र०) (शृं० नि०) कान्हैं। ३. (शृं० नि०) …चेत रहै री, न चित रहै…। (प्र०)…चेत रहै थिर, चित्त रहै…। ४. (का०) (वें०) (प्र०) रहै…। (सं० पु० प्र०) रहै चकित ह्वै थकित ह्वै, सुंदरि रति ह्वै ओंनि। ५. (का०)(वें०) तुव चितवनि लखि रवनि तकि…। (प्र०) (सं० पु० प्र०) तुव चितवनि लखि ठोंनि तकि…। ६. (का०) (सं० पु० प्र०) भृकुटि नोंनि लखि रोंनि। (वें०) निरखि रोंनि भ्रुवनोंनि। (प्र०) निरखि तनोंनि भ्रुरोंनि। ७. (का०) (वें०) (प्र०) (सं० पु० प्र०), निरखें छँन-जो छँन-जोति…। ८. (का०) (वें०) (सं० पु० प्र०)—बधू की पत्यारी…। ९. (का०) (वें०) (प्र०) खिन…। १०. (प्र०), लखि 'दास जू' नाचत…। ११. (सं० पु० प्र०) जो…।

* शृं० नि० (दास) पृ० ७७, २२७ (सखि-कर्म 'शिक्षा')।

इतने में प्रसन्न-समों-बेला लखि ख्याल बड़ा अटपटा हुआ।
अवनी से नभ, नभ से अवनी, उछले अगु नट का बटा हुआ॥"

अथ उभयावृत्ति (पद-अर्थावृत्ति) दीपक उदाहरन जथा—

पेच-छुटें, चंदँन-छुटें, छुटें पसींनाँ-गात।
छुटी लाज, अब लाल किँन्ह, छुटे गंद कित[1] जात॥

*

तोरयौ नृप-गँन कौ गरब, तौरयौ हर[2] कौ दंड।
रॉम जाँनकी-जीय कौ, तोरयौ दुख्ख-अखंड॥

अस्य तिलक

इन दोंनों उदाहरँन में पद—छुटें अरु तोरयौ सबद ते पदँन की आवृत्ति अरु पेच, चंदँन, पसींनाँ-आदि तथा गरब, हर-कोदंड अरु दुख्ख-अखंड ते अर्थ की आवृत्ति जाननी।

अथ 'देहरी दीपक' लच्छन जथा—

परै एक पद बीच में, दुहुँ दिस लागै सोइ।
सो है 'दीपक-देहरी', जाँनत हैं सब कोइ॥

वि०—"जहाँ मध्य में पड़ा पद दोनों ओर (तरफ-आगे-पीछे) अर्थ को प्रकट करे वहाँ 'देहरी-दीपक' अलंकार कहा गया है। अर्थात् जहाँ एक कार्य के आयोजन करने से दूसरा कार्य भी प्रस्तुत हो जाय—बन जाय, वहाँ देहरी (ली) दीपक···। देहरी-दीपक भी एक न्याय का प्रकरण है, जिसमें देहरी पर रखे हुए दीपक के कारण बाहर-भीतर दोंनों ओर प्रकाश होता है। यही इस अलंकार की विशेषता है।

काव्य में न्याय-सूत्रों का बहुधा समावेश पाया जाता है। ये न्याय-सूत्र छत्तीस (३६) कहे जाते हैं, यथा—"अजापुत्र, अरण्य-रोदन, अरुंधती, अंधकवर्तकीय, अंधगज, अंधदर्पण, अंधपरंपरा, कदलीफल, काकतालीय, कूप-मंडूक, कूर्मांग, कैमुत्तिक, कौंडिन्य, गड्डरिकाप्रवाह, गणपति, घट-प्रदीप, घुणा-क्षर, चंद्र-चंद्रिका, जल-तरंग, जल-तुंबिका, तिल-तंडुल, दंडाचक्र, दंड-पूपका, देहरी-दीपक, नृसिंह, पिष्टपेषण, पंग्वंध, बीजांकुर, मंडूक-प्लुति, यत्तवृत्त, रात्रि-दिवस, वृद्ध-कुमारी-वाक्य, सुंदोपसुंदन, सूचीकटाह, स्थालीपुलाक और क्षीर-नीर—आदि···।"

पा०—१. (का०) उर···। (वे०) उत···। २. (का०) हर-कोदंड।

यहाँ-इनकी परिभाषा और उदाहरण स्थानाभाव के कारण नहीं दिये गये हैं। मूल-मात्र के निर्देश से संतोष करना चाहिये।"

इस (देहरी-दीपक) अलंकार का वर्णन—कथन, संस्कृत और ब्रजभाषा के ग्रंथों में यत्किंचित् रूप से एक-दो कवियों ने ही किया है और इस नाम-श्रेणी में 'बिहारी-सतसई' की टीका 'लालचंद्रिका' का नाम लिया जा सकता है। ला० भगवानदीन ने भी इसे अपनाया है। अस्तु इन दोनों स्थानों पर दासजी के उक्त लक्षण को ही ज्यों-का-त्यों उद्धृत किया गया है। भारती-भूषण के कर्त्ता केड़ियाजी के अनुसार यह 'पदार्थावृत्ति दीपक' का ही संक्षिप्त रूपांतर है, किंतु पदार्थावृत्ति दीपक के जितने भी उदाहरण देखने में आते हैं, या भारतीय-भूषण में केड़िया जी ने दिये है, वहाँ उक्त लक्षणानुसार कोई भी उपयुक्त उदाहरण देखने में नहीं आया है।"

देहरी-दीपक उदाहरन जथा—

ह्वै नरसिंघ महा मनुजादि हन्यों[1] पैहलाद कौ संकट भारी।
'दास' बिभीषँन[2] लंक दई, जिँन रंक सुदामाँ कों संपत-सारी॥
द्रौपदी-चीर बढ़ायौ जहाँन में, पांडव के जस के[3] उँजियारी।
गरबिँन के[4] खँनि गरब गिराबत[5] दीँनँन के दुख श्रीगिरधारी॥

वि०—"यहाँ' हँन्यों, दई, बढायौ और खँनि" देहरी-दीपक न्याय में दोंनों ओर के अर्थों का द्योतन करते हैं। गिराबत शब्द भी इसी प्रकार का है।

देहरी-दीपक अलंकार का सुंदर उदाहरण तुलसी कृत मानस की यह सूक्ति भी सरस है, यथा—

"बंदों बिधि-पद-रेंनु, भौ-सागर जिहिं कीन्ह जहँ।
संत-सुधा ससि-धेंनु, प्रघटे खल, बिष, बारुनीं॥"

यहाँ भी मध्य में उपस्थित 'प्रघटे' क्रिया-शब्द पूर्व के—"संत-सुधा, ससि-धेंनु" और उत्तर के "खल, बिष, बारुनी" दोनों के अर्थ समानरूप से दिखला रहा है—बतला रहा है।"

अथ कारक-दीपक लच्छन जथा—

एक भाँति के बचँन कौ, काज बौहौत जहँ होइ।
'कारक-दीपक' जाँनिएँ, कहैं सुमति सब कोइ॥*

पा०—१. (सं०पु०प्र०) हत्यौ प्रहलाद सौ···। २. (का०) (बें०) (प्र०) बिभीषनें लंक दयौ। ३. (का०) (बें०) (प्र०) की। ४. (का०) (बें०) (प्र०) कौ···। ५. (का०) (बें०) (प्र०) बहावत, दीनन कौ दुख···।

* अं० ल० सौ० (टिप्पणी) पृ०—१२१।

वि०—"जहाँ एक समान शब्दों का बहुत कार्य हो वहाँ दासजी-मतानुसार 'कारक-दीपक अलंकार' कहा जायगा। अर्थात् जहाँ क्रम-पूर्वक अनेक क्रियाओं का एक-ही कारक हो—कर्त्ता हो, वहाँ यह अलंकार होता है, यथा—

"क्रमकैकगतानां तु गुंफः 'कारक-दीपकम्'।"

—कुवलयानंद

कारक—कर्त्ता, कर्म, करण, संप्रदान, अपादान और अधिकरण-आदि छह प्रकार का होता है। अतएव इन छहों में से एक भी यदि बहुत-सी क्रियाओं का कारक है तो वहाँ यह अलंकार होगा। पंडितराज जगन्नाथजी ने इसे प्रथक् न लिखकर दीपक के अंतर्गत ही भेद-विशेष माना है।"

अस्य उदाहरन जथा—

ध्याइ तुम्हें छबि सों छकति, जकति[1], तकति, मुसिकाति।
भुज-पसारि चौंकति, चकति, पुलकि पसीजति जाति॥

*

उठि आपु-ही आसँन दै रस-ख्याल[2] सों, लाल सों आँगी कढ़ावति[3] है।
पुँनि ऊँचे उरोजँन दै उर-बीच, भुजाँन[4] मढ़ै औ मढ़ावति[5] है॥
रस-रंग रचाइ[6], नचाइ कें नेंन, अनंग-तरंग बढ़ावति[7] है।
बिपरीति की रीति में प्रौढ़-तिया, चित-चौगुनों चाउ[8] चढ़ावति[9] है॥*

वि०—"इन दोनों उदाहरणों में अनेक क्रियाएँ एक कर्त्ता रूप कारक के साथ संबंधित कही गयी हैं। अर्थात् नायिका के साथ वर्णन की गयी हैं।

कारक दीपक का उदाहरण सेठ कन्हैयालालजी पोद्दार ने अपनी अलंकार-मंजरी में सुंदर दिया है, यथा—

"बता अरी, अब क्या करूं, रूपी रात से रार।
मै खाऊँ, आँसू पियूँ, मन-मारू झखमार॥"

*

हँसे, रोये, हुए रुसवा, जगे जागे, बँधे, छूटे।
गरज़ हमने भी क्या-क्या कुछ मोहब्बत के मज़े लूटे॥

पा०—१. (वें०) जसति…। २. (का०) (वें०) (प्र०) (का० प्र०) प्यार…। ३. (सं० पु० प्र०) कढ़ावती…। ४ (प्र०) भुजाँन के मध्य मढ़ा…। ५. (सं०पु०प्र०) मढ़ावती…। ६. (का०) (वें०) (प्र०) (सं०पु०प्र०) (का० प्र०) मचाइ, नचाइ कें नैंनन, अंग-तरंग…। ७. (सं०पु०प्र०) बढ़ावती…। ८. (का०) (वें) (प्र०) (सं० पु० प्र०) (का० प्र०) चोप…। ९. (सं० पु० प्र०) बढ़ावती…।

* का० प्र० (भानु) पृ० ५१६। कारक-दीपक उदाहरण।

इन दोनों में विविध क्रियाओं का एक वक्ता-ही कारक है, इसलिये यहाँ भी उक्त अलंकार हैं।

अथ माला-दीपक लच्छन जथा--

दीपक एकावलि-मिलें, 'माला-दीपक' जाँन।
"सत-संगति, संगति-सुमति, मति-गति, गति-सुभ-दाँन ॥"

वि०—"दासजी ने इस दोहे में "माला-दीपक" का लक्षण और उदाहरण दोनों का उल्लेख किया है। माला-दीपक को आपने दीपक और एकावली के संयुक्त रूप को माना है। अस्तु जहाँ पूर्व कथित वस्तु-द्वारा उत्तरोत्तर कथित वस्तुओं का एक धर्म रूप से शृंखला-बद्ध रूप में वर्णन किया जाय, तो वहाँ यह अलंकार कहा जाता है। अथवा जहाँ वर्ण्य-अवर्ण्य की एक क्रिया का गृहीत और मुक्त-रीति से व्यवहार किया जाय, तो वहाँ भी यह अलंकार मानना कहा है। परंतु यह लक्षण उपयुक्त नहीं माना जाता, यथा—

"प्रस्तुताप्रस्तुतोभयविषयत्वाभावेपिदीपकच्छायापत्तिमात्रेण दीपकंव्यपदेशः।

—कुवलयानंद

अर्थात् इस लक्षण में वर्ण्य-अवर्ण्य का प्रयोग अनुचित है, क्योंकि यहाँ सादृश्य—उपमेयोपमान-भाव नहीं रहता है,—इति कुवलयानंदकार वचनात्। रस-गंगाधर में तो पंडितराज जगन्नाथजी ने स्पष्ट रूप से यह बात कही है, जैसे—"**सादृश्यसंपर्काभावं।**"

माला-दीपक में दो बातें आवश्यक हैं, प्रथम कई वस्तु एक धर्म से ही संबंधित हों और दूसरे प्रत्येक पूर्व-कथित वस्तु उत्तरोत्तर कथित वस्तुओं के विशेषण रूप में प्रस्तुत हों। अतएव दीपक में जो सादृश्य का भाव है, वह यहाँ नहीं रहता। इसलिए प्रस्तुतास्तुत शब्दों की परिभाषा को यहाँ स्थान नहीं, केवल वस्तु शब्द ही इसके लिये पर्याप्त है।

माला-दीपक यौगिक शब्द है जो दो शब्दों से बना है। यहाँ माला का अर्थ शृंखला और दीपक कई वस्तुओं में एक-ही धर्म का प्रकाश करने के भाव में व्यवहृत हुआ है। इसलिए कितने ही आचार्य माला-दीपक को दीपकालंकार का भेद नहीं मानते और न उसके साथ वर्णन-ही करते हैं। साथ-ही वे इसे सादृश्य-मूलक वर्ग में न मानकर शृंखला-मूलक वर्ग में गणना करते हैं। माला-दीपक—'दीपक' और 'एकावली' का संयुक्त रूप भी कहा जाता है,। यथा—

"दीपकैकावलीयोगान्मालादीपकमुच्यते।"

—कुवलयानंद

इसलिये इसका कथन—वर्णन, दीपक के साथ नहीं, एकावली के साथ किया गया है। यहाँ, यह बात ध्यान देने योग्य है कि "एक पद का दो वाक्यों में अन्वय हो जाना-ही दीपक है, वस्तुतः दीपकालंकार नहीं।"

उदाहरन जथा—

जग की रुचि ब्रज-बास, ब्रज की रुचि ब्रज-चंद-हरि।
हरि-रुचि बंसी 'दास', बंसी—रुचि मँन-बाँधिबौ ॥*

वि०—"यहाँ एक धर्म रुचि का—जग, ब्रज, हरि और वंशी में होना कहा गया है, इसलिए दीपक और चारों (जग, ब्रज, हरि, बंसी) का एक दूसरे से शृंखला-युक्त रूप में कथन दीपक की माला है। कोई-कोई माला-दीपक को 'कारण-माला-दीपक' भी कहते हैं।

भारती-भूषण में केड़ियाजी ने 'माला-दीपक' की 'माला' का भी उल्लेख किया है और प्रवीणसागर से उदाहरण भी दिया है, यथा—

"बात कौ दीप, दिया कौ पतंग, पतंग कौ तेज कहाँ लों जगै है।
आब कौ कुंद, औ कुंद कौ फुंदँन, फुंद कौ मोंती कहाँ लों रहै है॥
पात कौ बुंदँन, बुंद प्रसूँन, प्रसूँन में बास कहाँ लगि चहै है।
साधँन-गुंज-प्रबीँन तजे तब, प्राँन कपूर सौ ज्यों उड़ि जै है॥"

"इति श्री सकलकलाधरबंसावतंस श्रीमन्महाराज कुँमार श्रीबाबू हिंदूपति बिरचिते "काव्य-निरनए" दीपकालंकारादि बरननं नाम अष्टदसोल्लासः॥

---

*. का० प्र० (भानु) पृ० ५२०। अ० र० (अ० र० दा०) पृ० ४४।

अथ उन्नीसवाँ उल्लास

गुँन-निरनै बरनन जथा—

दस-बिधि के गुँन कहत हैं,[१] पैहले सुकबि सुजाँन।
पुँनि तीन-हिं[२] गुँन-गँन[३] रचे, सब तिँनके दरम्याँन॥

*

ज्यों सत-जँन-हिय ते नहीं, सूरतादि गुँन जाँइ।
त्यों बिदग्ध हिय में रहैं, दस गुँन सैहैज सुभाइ॥

*

अच्छर गुँन 'माधुर्य' पुँनि[४]-'ओज', 'प्रसाद' बिचार।
सँमता, कांति, उदारता, दूखँन - हरँन निहार॥

*

अरथाव्यक्त, सँमाधिऐ, अरथै करें प्रकास।
बाक्यँन के गुँन स्लेस औ[५] पुनरुक्ति[६]-परकास॥

वि०—"दासजी ने इस उल्लास में प्रथम दस गुण और इसके बाद इन दसों गुणों का तीन गुण—"माधुर्य, ओज और प्रसाद में समाहार, अनुप्रास—छेक और वृत्य, पुनः वृत्तियाँ—उपनागरिका, पौरुषा, कोमला, फिर अनुप्रास—लाट, वीप्सा, यमक, यमक के भेदादि (सिंहावलोकनादि) तथा इसके अभाव में अलंकारों का वर्णन किया है।

संस्कृत-रीति-ग्रंथों में, जैसा कि दासजी ने कहा है—"ज्यों सत-जँन-हिय ते नहीं• ...." शौर्यादि की भाँति रस के उत्कर्ष हेतु रूप स्थायी धर्मों को गुण कहा है, यथा—

"ये रसस्यांगिनोधर्माः शौर्यादय इवात्मनः।
उत्कर्षहेतवस्तेस्युरचलस्थितयो गुणाः॥"

—काव्य-प्रकाश (८, ८७, ६६)

पा०—१. (का०) (वें०) हों...। २. (का०) (प्र०) तीनें...। (वें०) (सं० पु० प्र०) तीनौं...। (का०) (वें०) गहे रचैं...। (प्र०)...रचौ...। ४. (का०) (वें०) (प्र०) (सं० पु० प्र०) अरु...। ५. (का०) (वें०) (प्र०) अरु...। ६. (का०) (वें०) पुनरुक्तयौ प्रतिकास। (प्र०) पुनरुक्ती...।

अतः दासजी ने, संस्कृत के प्राचीन आचार्यों के अनुसार गुणों का नया वर्गीकरण करते हुए इन दसों गुणों को–"माधुर्य, ओज और प्रसाद" अक्षर-गुण वर्ग में, "समता, कांति और उदारता" दोषाभाव वर्ग में, "अर्थव्यक्ति और समाधि" अर्थ-गुण वर्ग में तथा "श्लेष और पुनरुक्ति-प्रकाश गुण" को वाक्य-गुण रूप वर्ग में उल्लेख किया है। संस्कृत-रीति-ग्रंथों में भी श्रीभरत मुनि पोषित इन गुणों की नामावली दंडी के अनुसार यही है—

"श्लेषः प्रसादः समता माधुर्य सुकुमारता।
अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोजः कांतिसमाधयः ॥"

श्रीभरत मुनि ने भी गुण-संख्या दश मानी है, यथा—

"श्लेषः प्रसादः समतासमाधिः माधुर्यमोजः पद सौकुमार्यम्।
अर्थस्य च व्यक्तिरुदारता च कांतिश्च काव्यस्य गुणा दशैते ॥"

......दासजी ने इन संस्कृत से अपनाये हुए दस गुणों में सौकुमार्य (सुकुमारता) गुण के स्थान पर 'पुनरुक्ति-प्रकाश' नाम का नया गुण कथन किया है। यह नाम-विकल्प आपने क्यों और कैसे किया? यह प्रकाश्य-रूप से कहना कठिन है, फिर भी कहा जा सकता है कि 'सौकुमार्य' का माधुर्य गुण में समावेश हो ही जाता है इसलिये उसको पृथक सत्ता पर स्वीकृति की मोहर नहीं लगायी जा सकती। अपितु, "पुनरुक्ति-प्रकाश" रूप एक अन्य प्रकार के पद-रचना चमत्कार को, जिसका ब्रजभाषा-काव्य में काफी प्रचार हो गया था, गुणों में समाविष्ट कर लिया ज्ञात होता है। साथ-ही दासजी का यह नाम-विकल्प, वामनाचार्य के "शब्द-गुण-सौकुमार्य" के अर्थ—"शब्द-गत-अपारुष्य" के अधिक अनुकूल है, क्योंकि 'पुनरुक्ति-प्रकाश' की रम्य पदावृत्ति सौकुमार्यता का एक साधन मानी जा सकती है। अतएव "पुनरुक्ति-प्रकाश" को सौकुमार्य के स्थान पर गुण विशेष मानना ब्रजभाषा-काव्य के अति उपयुक्त है।

संस्कृत के साहित्य-ग्रंथों में गुण-संख्या के प्रति मतभेद है। श्री भरत मुनि-आदि आचार्यों ने दस गुण, वामन ने अर्थ-गुण-भेद से बीस (२०) गुण, भोजराज ने प्रथम चौबीस (२४) और बाद में गुण को वाह्य, आभ्यंतर और वैशेषिक रूप में विभक्त कर प्रत्येक के २४+२४ अर्थात् कुल बहत्तर (७२) भेद माने हैं। अग्निपुराण में गुण-शब्द, अर्थ और उभय रूप से अठारह (१८) और कुंतक ने छह गुण कहे हैं। श्री मम्मट और विश्वनाथ चक्रवर्ती-आदि ने तीन गुणों का ही उल्लेख किया है।

श्री भरतादि-कथित गुण-नामावली दी जा चुकी है। वामन-प्रणीत नामावलि भी वही है। केवल अर्थ के सहारे पूर्व-कथित लक्षणों से भिन्न लक्षण लिखकर

(आपने) गुणों की संख्या द्विगुणित कर दी है। महाराज भोज ने भी "सरस्वती-कंठाभरण" में पूर्व-लिखित दस गुण तो थोड़े-बहुत लक्षण-परिवर्तन के साथ पूर्व-रूप में हीं स्वीकार कर लिये, साथ-ही इन्हीं दस गुणों के भेद-स्वरूप चौदह (१४) गुण नवीन माने हैं।

बाह्य-आभ्यंतर रूप नवीन शब्द और अर्थ गुण जैसे—"उदात्तता, और्जीत्य, प्रेयस्, सु-शब्दता, सूक्ष्म्य, गांभीर्य, विस्तार, संक्षेप, संमित्तत्त्व, भाविक, गति, रीति, उक्ति" और "प्रौढि" तथा आपके वैशेषिक गुण—"असाधु" और "अप्रयुक्त" अनुकरण में, कष्ट-गुण दुर्वचनादि में, अनर्थक गुण यमकादि-अलंकार में, अन्यार्थ गुण प्रहेलिका-आदि में, अपुष्टार्थ गुण छंद-पूर्ति में, असमर्थ गुण, कामशास्त्रादि में, अप्रतीत गुण विशिष्ट-विद्या-विशारदों के भाषणादि में, क्लिष्ट गुण व्याख्यादि में, नेयार्थ गुण प्रहेलिकादि में, संदिग्ध गुण प्रसंग स्पष्टादि में, विरुद्ध गुण—इच्छा पूर्वक किये जाने में, अप्रयोजक गुण अपने-आप सुंदर होने के कारण में, देश्य गुण महाकवियों के प्रयोग में और ग्राम्य-गुण—घृणा, अश्लील तथा अमंगल-दोष में कहे गये हैं। यह गुण-संज्ञा सोलह (१६) है, इसके बाद आप (भोजराज) ने ग्राम्य गुण के घृणावत्, अश्लील तथा अमंगल-रूप गुणों के तीन-तीन भेद और माने हैं, जिनसे इन वैशेषिक गुणों को संख्या भो चौबोस (२४) बन जाती है। इनके अतरिक्त वाक्य और वाक्यार्थ दोषों पर आश्रित चौबीस (२४+२४+७२) वैशेषिक गुण और भी आपने माने हैं। कुंतक-कथित गुण-नामावली—"औचित्य, सौभाग्य, माधुर्य, प्रसाद, लावण्य" और "अभिजात्य" कही जाती है।

ब्रजभाषा-रीति-आचार्यों ने तोन ही गुण—"माधुर्य, ओज और प्रसाद" माने हैं। परंतु किसी ने दसों का और किसो ने बोस गुणों का जो संस्कृत-साहित्य में कहे गये हैं, उपर्युक्त तीन गुणों में ही समाहार भो कर लिया है। अर्थात्, गुण की दस और बीस-संख्या मानने वाले आचार्यों ने केवल संख्या में उल्लेख करते हुए उनका तीन गुणों में ही अंतर्भाव कर लिया है। ब्रजभाषा-रीति-आचार्यों में 'देव' जी ने दस गुणों में अनुप्रास और यमक को लेकर गुणों की संख्या बारह मानी है। दासजी ने दसों गुण—माधुर्य-ओजादि के लक्षण-उदाहरण देते हुए भी तीन—माधुर्य, ओज और प्रसाद गुणों को ही मान्यता दी है, यथा—

"मधुर औ ओज प्रसाद के, सब गुँन हैं आधींन।
तातें हूँब-ही कों गँन्यों, मंमट सुकबि प्रबींन॥"

—इत्यादि...

अथ प्रथम माधुर्ज गुँन-लच्छन जथा—

अँनुस्वार[1] औ बर्ग-जुत, सबै बरँन अटबर्ग।
अच्छर जाँमें मृदु परें, सो 'माधुर्ज'-निसर्ग॥

वि०—"दासजी ने—'ट' वर्ग-रहित अन्य अनुस्वार-संयुक्त वर्गों वाले मृदु शब्दों से सुसज्जित काव्य को माधुर्य-गुण-विभूषित कहा है। अर्थात् टवर्गी शब्दों को छोड़ कर सानुस्वार अन्य वर्गी, जो रेफ (अर्ध रकार) और लंबे समास-से संयुक्त नहों ऐसे शब्दों-द्वारा रची गयी मधुर रचना हो, वहाँ माधुर्य गुण कहा है और यदि इस परिभाषा (लक्षण) को और भी अल्प रूप में कहा जाय तो इस प्रकार कह सकते हैं कि "जिस आनंद के कारण अंतःकरण द्रवीभूत हो जाय उसे उक्त गुण कहते हैं, यथा साहित्य-दर्पणे—

"चित्तद्रवी भावमयो ह्लादो माधुर्यमुच्यते।"

इस माधुर्य गुण का संबंध चित्त की द्रुति-पन वा पिघलना-वृत्ति से हैं, जिसके द्वारा पाठक, श्रोता और प्रेक्षक (देखने वाला) तीनों का हृदय द्रवीभूत हो जाता है।"

अस्य उदाहरन जथा—

धरें चंद्रिका-पंख सिर, बंसी पंकज-पाँनि।
नंद-नँदन खेलत सखी, बृंदाबँन-सुख-दाँनि॥

वि०—"यहाँ सभी शब्द 'टवर्ग से रहित और अनुस्वार-संयुक्त हैं। समास भी लघु है और कोमल रचना है।" वेंकटेश्वर प्रेस की प्रति में यह छंद उलटा—प्रथम के स्थान पर द्वितीय और द्वितीय के स्थान पर प्रथम चरण छपा है।"

अथ ओज गुँन लच्छन जथा—

उद्धत अच्छर जहँ परें, स, क, ट बर्ग मिल आइ[2]।
ताहि 'ओज-गुँन' कहत हैं, जे प्रबींन कबिराइ॥

वि०—"जहाँ 'क', 'ट' और 'स' वर्ग के उद्धत अक्षरों का वर्ग-विन्यास हो—वे आकर मिलें तो वहाँ 'ओज-गुण' कहा जयगा। अर्थात्, जहाँ द्वित्व, संयुक्त, रेफ (अर्ध र कार)—युक्त वर्णों के साथ-साथ टवर्गी शब्दों की प्रचुरता हो वहाँ यह गुण कहा जाता है।

पा०—१. (का०) अनुस्वार-जुत, वर्ग-जुत, सबै वर्ग...। (वें०) (प्र०) अनुस्वार-जुत वर्ण जुत, सबै बर्ग...। २. (का०) (प्र०) जाइ...। (वें०) आवै उद्धत शब्द बहु, वर्ण संयोगी.युक्त। सकट वर्ग की अधिकई, इहै ओज-गुन उक्त।

संस्कृत में इसका लक्षण—जिसके श्रवण से मन में उत्तेजना उत्पन्न होती हो वह ओज-गुण कहा है। ओज का संबंध चित्त की उत्तेजना वृत्ति से है, इस लिये जिन शब्दों—वाक्य-विन्यासों के सुनने वा पढ़ने से, सुनने वा पढ़ने वाले के हृदय उत्तेजना-पूर्ण हो जाँय, तब यह गुण कहा जाता है।

ओज में कवर्गादि के प्रथम और तृतीय वर्णों का दूसरे और चौथे वर्णों के साथ क्रमशः योग, अर्थात् क, च का ख, छ से, ग, ज, का घ, झ से संयोग, अर्ध-रकार-युक्त शब्द जैसे—अर्थ, निद्रादि और टवर्ग के अक्षरों (ट, ठ, ड, ढ) की बहुलता, लंबे समास तथा कठोर वर्णों की रचनादि ओज गुण व्यक्त करते हैं। आचार्य मम्मट ने इसका लक्षण—"दीप्त्यात्मविस्तृतेर्हेतुरोजो..." (चित्त को भड़का देने वाला) माना है। चंद्रालोककार इसका लक्षण द्वितीय प्रकार से मानते हैं, यथा—

"ओजः स्यात्प्रौढिरर्थस्य संक्षेपो वाऽति भूयसः।"

अर्थात्, संक्षेप में वा विस्तार के साथ जो प्रौढ भावों के अर्थ व्यक्त करे वहाँ यह गुण मानन चाहिये।"

अस्य उदाहरन जथा—

पिस्ट-ठट्ट, गज[1]-घटँन के, जुथ्थप उठे बरक्कि।
पट्टत मह्हि घँन कट्ट सिर, क्रुद्धत खग्ग सरक्कि॥*

अथ प्रसाद गुँन लच्छन जथा—

मँन-रोचक अच्छर परें, सो है सिथिल-सरीर।
गुँन 'प्रसाद' जल-सूक्ति ज्यों, प्रघटै अरथ-गँभीर॥

वि०—"दासजी ने प्रसाद गुण वहाँ माना है, जहाँ मन को भाने वाले सिथिल शरीर अक्षर हों और मोती (अथवा वस्त्र में जल) की भाँति स्वच्छ गंभीर अर्थ प्रकट करें।

सूखे ईंधन में अग्नि और स्वच्छ वस्त्र में जल की भाँति जो गुण—तत्काल चित्त में छा जाय, उसे प्रसाद गुण कहा जाता है, यथा—

शुष्केन्धनाग्निवत्स्वच्छजलवत्सहसैव यः।
व्याप्नोत्यन्यत्प्रसादोऽसौ सर्वत्र विहितस्थितिः॥"

—काव्य-प्रकाश, ८, ७० (६४ सूत्र)

पा०—१. (वें०) (का० प्र०) गब्बरझि कौ। (प्र०) प्रिष्ट ठट गज-घटन के।
* का० प्र० (भा०) पृ० १३३।

प्रसाद गुण का संबंध चित्त को विकास—प्रसन्न करने वाली वृत्ति से है, इसलिये यह जहाँ कर्ण-कटु शब्दों और दीर्घ (बड़ी-बड़ी) समासों को दूर-से ही नमस्कार करती हुई सरल-सुबोध भाषा में काव्य-रचना को उक्त गुण-पूर्ण कहा गया है। अर्थात्, शब्द सुनते ही जिसका अर्थ प्रतीत हो जाय, ऐसे सरल तथा सुबोध पद इस गुण के व्यंजक कहे जाते हैं।

काव्य-प्रकाश के लक्षण में "अग्नि-जल" शब्द ओज और माधुर्य गुण के द्योतक हैं। इन दोनों शब्दों का तात्पर्य, प्रसाद गुण का नवरसों के साथ अटूट संबंध बतलाता है, अर्थात् इसका प्रयोग बिना किसी 'नू-निच' के सभी रसों में किया जा सकता है। इसलिये प्रसाद गुण शृंगार की भाँति गुणों का राजा माना जाता है, यथा—

> "समर्पकत्वं काव्यस्य यत्तु सर्वरसान्प्रति।
> स प्रसादो गुणोज्ञेयः सर्वसाधारणक्रियः ॥"
>
> —ध्वन्यालोक पृ०—१३८

माधुर्य-ओज-प्रसादादि गुण क्रमशः चित्त की द्रुति, दीप्ति और व्यापकत्व के रूप हैं, फिर भी 'प्रसाद' में चित्त की निर्मलता—समरसता की स्थिति अधिक है, जो सब रसों के आस्वादन के लिये अनिवार्य है। जब तक मन निर्मल वा समरस न होगा, तब तक रसानुभूति कदापि संभव नहीं। कामातुर शृंगार का आस्वादन नहीं कर सकता, भयभीत मन भयानक रस की प्रतीति करने में असमर्थ रहेगा, क्रुद्ध या शोक-विह्वल चित्त रौद्र और करुण का आनंद नहीं पा सकता। अस्तु, चित्त की इसी निर्मलता के लिये आनंदवर्धन-आचार्य ने उसे समर्पकत्व, या व्यापकत्व कहा है और इसी के आधार पर 'प्रसाद' गुण शब्दार्थ को स्वच्छता रूप से ग्रहण किया है यथा—"**प्रसादस्तु स्वच्छता शब्दार्थयोः।**"

जैसा कि अभी लिखा है कि प्रसाद का अर्थ-ही शब्द और अर्थ की स्वच्छता है, जो सब रसों का साधारण गुण है तथा सब रचनाओं में समान रूप से रहता है। फिर चाहे वह रचना शब्द-गत हो, अर्थ-गत हो, समस्त हो या असमस्त हो, मुख्य रूपेण व्यंग्यार्थ की अपेक्षा से—व्यंग्यार्थ के संपर्क से ही स्थित होता है। क्योंकि गुण मुख्यतया प्रतिपत्ता से आस्वादमय होते हैं, इसके बाद रस में उपचरित और उसके बाद उनका लक्षण से शब्दार्थ (शब्द और अर्थ) में व्यवहार होता है। इस कारण-ही साहित्य-दर्पणकार ने प्रसाद का लक्षण—

> "चित्तं व्याप्नोति यः क्षिप्रं शुष्केन्धनमिवानलः।
> स प्रसादः समेस्तेषु रसेषु रचनासु च ॥"

किया है।"

अस्य उदाहरन जथा—

दीठि-डुलै न, कहुँ भई, मोहित[1] मोहँन-माँहि।
परँम सुभगता निरखि सखि, धरँम तजै को नाँहि ॥*

वि०—"दासजी कृत यह उदाहरण "प्रसाद-गुण-व्यंजक" सरल, सुबोध और मधुरता-युक्त अति सुंदर है।" प्रसाद गुण-संयुक्त रस के आस्वादन से मन खिल जाता है।

अथ समता गुँन लच्छन जथा—

प्राचीनँन को रीति सों, भिन्न रीति ठैहराइ।
'सँमता-गुँन' तासों[2] कहैं, पै दूषनँन-बराइ ॥

वि०—"प्राचीन कवियों की रीति से जहाँ दूषणों से दूर रहकर भिन्न रीति ठहरायी जाय वहाँ "समता-गुण" दासजी ने माना है।"

चंद्रालोककार 'समता गुण' वहाँ मानते हैं जहाँ एक-एक शब्द सजाये हुए अर्थ प्रकट करे, एक-दूसरे में ध्वन्यात्मक समानता पायी जाय तथा न्यून समास होने से क्लिष्ट भी न हो, यथा—

"समताल्पसमासत्वं वर्णाद्यैस्तुल्यताऽथवा ॥"

किंतु, साहित्य-दर्पण कर्त्ता इसे 'गुण'—विशेष नहीं मानते। आपका कहना है कि "समता, केवल दोषाभाव रूप है, इसलिये इसे पृथक् गुण मानना स्तुत्य नहीं कहा जा सकता ? यथा—

"श्लेषो विचित्रता मात्रमदोषः समता परम् ॥"

अस्य उदाहरन जथा—

मेरे दृग-कुबलयँन कों, होत निसा सानंद।
सदाँ रहै ब्रज-देस पै, उदित साँवरौ-चंद ॥

पुनः जथा—

उपमाँ छबीली के[3] छबा-लों छूटे बारँन की,
ढरकि[4] कलिंद ते कलिंदो धार ठेहरें।
लाल-सेत-गुँन-गुही[5] बेंनी-बँधें बुध-जँन,
बरनत वाही कों त्रिबेंनी[6]-सी लैहरें ॥

पा०—१. (स०पु०प्र०) संगति…। २. (का०) (वें०) (प्र०) (सं० पु० प्र०) ताकों…। ३. (का०) (वें०) (प्र०) की…। ४. (वें०) ढरकी…। ५. (वें०) गहें…। ६. (का०) (प्र०) त्रिबेंनी की-सी…। (वें०)…कैसी…।

* का० प्र० (भा०) पृ०—१३४।

कीन्हौं काँम अद्भुत मदँन मरदाँने इहि,
कहाँ ते कहाँ लौं[१] ल्यायौ कैसी-कैसी डैहरें।
वेई स्याँम-अलकें छ्वैहैरि रहीं 'दास' मेरे-
दिल की दिली में ह्वै जहाँ-ईं-तहाँ नैहरें॥

अथ कांति गुँन लच्छन जथा—

रुचिर-रुचिर बातें परें[२], अरथ[३] न प्रघट, न गूढ़।
ग्राम्य-रहित सो 'कांति-गुँन', समझें सुमति, न मूढ़॥

वि०—"जहाँ रुचिर से रुचिर शब्दों का अर्थ न तो इतना प्रकट ही हो जिसे मूढ़ (नर) झट समझलें और न इतना गूढ़ ही हो कि सुमति जनों को भी समझने में देर लगे—ऐसी ग्राम्य-दोष-रहित रचना में "कांति-गुण" होता है, क्योंकि ग्राम्य-दोष-रहित कांति-गुण-संपन्न वाक्यों की बहार कुछ और ही होती है।

श्रीवामन ने अपने "काव्यालंकार—सूत्र" में 'कांति-गुण' के लिये—"दीप्त रसत्वं कांतिः" (३, २, १५) कहा है, अर्थात्—जहाँ शृंगारादि रस दीप्त हों—अनायास-ही समझ में आ जाँय, वहाँ उक्त (कांति) गुण होता है। अस्तु, वामनोक्त उक्त गुण को चंद्रालोक-कर्त्ता ने शृंगार और प्रसाद में समाजाने के कारण पृथक् वर्णन नहीं किया है, यथा—

"शृंगारे च प्रसादे च कांत्यर्थव्यक्तिसंग्रहः।
अमी दशगुणाः काव्ये पुंसि शौर्यादयो यथा॥"

चंद्रालोक ४।१०

कांति गुँन उदाहरन जथा—

पद[४]-पाँनन कंचन-चूरा[५] जराउ-जरे मँनि-लालँन सोभ-धरें।
चिकुरारी[६] मनोहर, झींनों झगा, पैहरें मँनि-आँगन में बिहरें॥
यै मूरति ध्याँन में लावँन[७] कौं, सुर, सिद्ध-समूहँन साध मरें।
बड़-भागिनीं[८] गोपीं मयंक-मुखी, अपनी-अपनी दिसि अंक-भरें॥*

पा०—१. (का०) (वें०) (प्र०) कौं...। २. (का०) (वें०) (प्र०) करै...। ३. (का०) अर्थन प्रघटत गूढ़। (वें०) अर्थन प्रघटन...। (प्र०) अर्थ न प्रघटन...। ४. (का०) पग...। (वें०) पगु-पाणि न कंचन...। ५. (का०) (वें०) (प्र०) चूरे...। (सं० पु० प्र०) चूरौ...। ६. (का०) (वें०) (प्र०) (सं० पु० प्र०) चिकुरारि मनोहर झीन। ७. (का०) (वें०) (प्र०) (सं० पु० प्र०) आनन...। ८. (का०) (वें०) (प्र०) (सं० पु० प्र०) बड़-भागिनि...।

* रस-सारांस (भि० दा०) पृ० ३१।

अथ 'उदारता' गुँन लच्छन जथा—

जो अन्वै-बल-पठित ह्वै[1] सँमझि परै चतुरैं न।
औरँन कौं लागै कठिन, गुँन-"उदारता" ऐंन ॥

वि०—"औरों को समझने में कठिन होते हुए भी, जो अन्वय के बल चतुरों की समझ में शीघ्र आ जाय, वहाँ दासजी ने 'उदारता-गुण' माना है।

उदारता गुण के लिये अपने काव्यालंकार-सूत्र में वामन ने लिखा है—"**अग्राम्यत्वमुदारता**"। अर्थात्, ग्राम्यता के अभाव का नाम 'उदारता' है। साहित्य-दर्पण-रचयिता भी—"**उदारता अग्राम्यत्वं**" (ग्राम्यत्व-विहीन उदारता) कहते हैं। साथ-ही आप कहते हैं कि "श्लेष, समाधि, औदार्य (उदारता) और प्रसादादि जो शब्द-गुण प्राचीनों ने व्यक्त किये हैं, वे ओज के अंतर्गत समा जाते हैं, जैसे—

"श्लेषः समाधिरौदार्यं प्रसाद इति ये पुनः।
गुणाश्चिरन्तनैरुक्ता ओजस्यतंर्भवंतिते ॥"

—साहित्य-दर्पण ८, ६

अथ उदारता गुँन उदाहरन जथा—

कदँन अँनेकँन बिघँन के, एक रदँन गँन-राइ[2]।
बंदँन-जुत बंदँन करौं, पुसकर पुसकर पाइ[3] ॥

अथ व्यक्त गुनँ लच्छन जथा—

जासु अरथ अति-ही प्रघट, नहिं सँमास-अधिकाइ[4]।
अर्थ 'व्यक्त-गुँन' बात ज्यों, बोलैं सहैज-सुभाइ[5] ॥

वि०—"जिसका अर्थ एकदम प्रकट हो, समास की भी अधिकता न हो तथा सहज स्वभाव में कही जाने वाली बात की भाँति हो, ऐसे काव्य में "व्यक्ति-गुण" होता है।

संस्कृत-साहित्यकारों ने इसका नाम—"अर्थ-व्यक्तिः" माना है। वामनाचार्य ने इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है—"**अर्थ व्यक्ति हेतुत्वमर्थव्यक्तिः**" (का०-लं० सू०—३, १, २४)। अर्थात्, अर्थ की प्रतीति (स्पष्ट और शीघ्र) का हेतु-

पा०—१. (वें०) (सं० पु० प्र०) बल। २. (का०) (वें०) (प्र०) (सं० पु० प्र०) राउ। ३. (का०) (वें०) (प्र०) (सं० पु० प्र०) पाउ। ४. (का०) (वें०) (प्र०) (सं० पु० प्र०) अधिकाउ। ५. (का०) (वें०) (प्र०) (सं० पु० प्र०) सुभाउ।

भूत (यह शब्द-गुण) अर्थ व्यक्ति है। अतएव जहाँ सुनते ही स्पष्ट रूप से अर्थ की प्रतीति होती हो वहाँ उक्त गुण माना जाता है। इस अर्थ-व्यक्ति गुण के अभाव में—असाधुत्त्व, अप्रतीतत्त्व, अनर्थकत्त्व, अन्यार्थत्त्व, नेयार्थत्त्व, यति-भ्रष्टत्त्व, क्लिष्टत्त्व, संदिग्धत्त्व तथा अप्रयुक्तत्त्व आदि दोषों की संभावना हो जाती है, यह गुण-प्रधान मानने वाले आचार्यों का मंतव्य है। साहित्य-दर्पणकार श्री चक्रवर्ती भी यही कहते हैं—

"अर्थ व्यक्तेः प्रसादाख्यगुणेनैव परिग्रहः।
अर्थव्यक्तिः पदानां हि झटित्यर्थसमर्पणम् ॥"
—साहित्य-दर्पण ८, ११-१२

शब्दों का बिना-प्रयास अर्थ-व्यक्त करना उक्त गुण का धर्म है। साथ-ही आपका कथन है—"अस्तु, यह गुण पूर्वोक्त "प्रसाद-गुण" अर्थात् उसके व्यंजक शब्दों के ही अंतर्गत होने के कारण इसे पृथक् मानने की आवश्यकता नहीं।"

अस्य उदाहरन जथा—

इक टक हरि राधे - लखें, राधे हरि की ओर[1]।
दोऊ आँनन इंदु औ[2] चारयों नेंन चकोर ॥

अथ समाधि गुँन लच्छन जथा—

जुहै रोह-अवरोह-गति, रुचिर भाँति क्रँम पाइ[3]।
तिहिँ 'समाधि-गुँन' कहत हैं, ज्यों भूषँन परजाइ ॥

वि०—"दासजी कहते हैं जिस काव्य में 'पर्याय-अलंकार' की भाँति आरोह-अवरोह की गति में सुंदर रीति से क्रम पाया जाय वहाँ "समाधि गुण" जानना चाहिये।

दासजी का यह लक्षण वामनाचार्य के इस—"आरोहावरोह निमित्तं समाधि-राख्यते" (आरोह-अवरोह का निमित्त ही 'समाधि गुण' है) कथनानुसार है। परंतु इस सूत्र की व्याख्या में व्याख्याकार का कहना है—"यहाँ समाधि गुण के लक्षण में जो आरोह-अवरोह का क्रम कहा है, उसकी "गौणीवृत्ति (लक्षणा) से (निमित्त अर्थ-परक मान इस लक्षण-सूत्र को) व्याख्या करनी चाहिये, यथा—

"आरोहावरोहक्रमः समाधिरिति गौण्यावृत्त्या व्याख्येयम्।"

पा०—१. (वें०) वोर। २. (वें०) इंदुवौ...। (सं० पु० प्र०) इंदुवै...। ३. (वें०) भाइ।

यहाँ, आरोह-अवरोह (चढाव-उतार) का तात्पर्य—"दीर्घ-गुरु आदि अक्षरों के प्राचुर्य को आरोह और लघु-आदि शिथिल वर्णों के प्राचुर्य को अवरोह" कहने से है। अतएव इनके क्रम (आरोह के बाद अवरोह और अवरोह के बाद आरोह) तथा विपर्यय—अवरोहारोह एवं आरोहावरोह में "समाधि-गुण" कहा गया है। यह आरोहावरोह-क्रम—षष्ठी तत्पुरुष और द्वंद-समास से माना जाता है। अर्थात् क्रम से धीरे-धीरे आरोह और उसी प्रकार क्रम से धीरे-धीरे अवरोह का नाम 'समाधि' गुण है।

इस लक्षण के साथ प्रश्न उठता है कि 'आरोह' बंध की गाढ़ता और 'अवरोह' बंध के शैथिल्य के-ही रूपांतर है, इसलिये 'आरोह' ओज-रूप और 'अवरोह' प्रसाद-रूप होने के कारण समाधि-गुण "ओज-प्रासाद" गुण के अंतर्गत समा जाता है। अतएव इनसे भिन्न उसे मानने की आवश्यकता?........ इत्यादि। यहाँ उत्तर में कहा जा सकता है कि ओज और प्रसाद नदी की दो धाराओं के समान पृथक्-पृथक् गुण हैं, अतएव जहाँ वे दोनों स्वतंत्र रूप से, पृथक्-पृथक् रूप से बहते हों—उपस्थित रहते हों, वहाँ उनका अपना—अपना क्षेत्र है—मान्यता है, पर जहाँ ये दोनों मिलकर बहते हों—उपस्थित रहते हों—वहाँ 'समाधि गुण' ही श्रीवामनाचार्य-वचनात् कहा जायगा। यही नहीं, संस्कृताचार्य समाधि गुण की पृथक् विदग्धा बतलाने में एक शंका—'-जब कि ओज-प्रसाद की पृथक्-पृथक् स्थिति का ही नहीं, किंतु उनके साम्य और उत्कर्षक का भी वर्णन कर चुके हैं और बाद में इन दोनों के मिलाप से एक नया गुण "समाधि" बन जाता है, इस असंगति के सहारे और करते हैं। अर्थात् "आरोह-अवरोह क्रमशः ओज और प्रसाद रूप हैं, इसलिये—"आरोहावरोहक्रमः समाधिः" यह लक्षण नये गुण मानने में ठीक नहीं है।" यहाँ भी श्री वामनाचार्य जी का कहना है कि ओज और प्रसाद गुण में यह आवश्यक नहीं कि आरोह-अवरोह अवश्य हों, क्योंकि अवरोह-शून्य रचनाएँ भी प्रसाद गुण-संपन्न होती हैं। इस लिये आरोहावरोह होने पर ओज-प्रसाद गुणों का होना, अथवा ओज-प्रसाद के होने पर आरोहावरोह का होना आवश्यक है, यह नहीं कहा जा सकता। पर इनके समन्वय होने पर इस नये गुण सामधि की कल्पना, कल्पना नहीं कही जा सकती (दे०—काव्यालंकरसूत्र-वृत्ति—३,१, म ४,१५,१६,१७,१८,१९)।

श्री विश्वनाथ चक्रवर्त्ती ने समाधि दो प्रकार का—"अयोनि" और "अन्यच्छाया-योनि" मानते हुए भी—'-न गुणत्वं समाधेश्च" (समाधि कोई भी गुण नहीं) कहा है। अयोनि का अर्थ "जिसमें अर्थ की एकदम नयी कल्पना का गयी हो" और अन्यच्छाया-योनि का अर्थ "जिस अर्थ में दूसरे अर्थ की छाया ली गयी

हो माना है। ऐसी स्थिति में—इन दोनों अर्थों के प्रयोग में "समाधि" असाधारण शोभा का आधायक नहीं और इस लिये वह गुण-विशेष भी नहीं। वह तो काव्य के शरीर-भूत अर्थ-मात्र का साधक है। जैसे—चंद्र पद के अर्थ को व्यक्त करने के लिये "अत्रि के नेत्र से उत्पन्न ज्योति" जैसा लंबा वाक्य कहा जाता है—बोला जाता है और कहीं "**उष्णकाले भवेत् शीतंशीतकाले च उष्ण-वत् सुकुमार शरीर वाली वाला**" इतना बड़ा वाक्यार्थ बोलने के बजाय एक पद, —केवल एक पद "वरवर्णिनी" हो कह दिया जाता है। साथ-ही कहीं एक-ही वाक्यार्थ की विविध विशेषताएँ दिखलाकर अनेक वाक्यों से कहा जाता है। इस प्रकार व्यास (अर्थ का फैलाव) और कहीं अनेक वाक्यों के प्रतिपाद्य अर्थ को एक ही वाक्य से कहने में समास किया जाता है। अस्तु ये दोनों (व्यास-समास) और इनके सदृश अन्य प्राचीन-संमत विशेषताएँ गुण नहीं कही जा सकतीं। यह तो केवल विचित्रता है, जिसके प्रधान उपकारक गुण नहीं।"

समाधि गुण का लक्षण चंद्रालोक-कर्त्ता श्री पीयूषवर्षी जयदेव बड़ा सुंदर कहते हैं, जैसे—

"समाधिरर्थ महिमा लसद्घनरसात्मना।
स्यादंतर्विशता येन गात्रमकुरितं सताम्॥"

अर्थात् "जिन गहरी रसमयी उक्तियों (जिस वाक्य में रस के अति फुहारे छूटते हों) को सुन कर समझदारों और अलंकारिकों के हृदय गद्गद होने से उनके शरीर पर आनंद के अंकुर उठने लगते हैं, ऐसे अर्थ-महिमान्वित गुण को "समाधि" कहते हैं।

समाधि गुँन उदाहरन जथा—

बर तरुनिन[१] के बैंन सुनि, चीनी चकित सुभाइ।
दुखित दाख, मिसरी मुरी, सुधा रही सकुचाइ॥

अस्य तिलक

"इहाँ बर (श्रेष्ठ) तरुनींन (सुंदरियों) के बैंन (बचनों) कों क्रम ते अधिक ते अधिक मींठौ कह्यौ, ताते "समाधि गुँन" है।"

पुनः उदाहरन जथा—

भाँवतौ आवत[२]-ही सुनि कें, उड़ि ऐसी गई तँन[३] छाँमता जौ गुनीं।
कंचुकी[४]-हू में नहीं मढ़तौ, बढ़तौ कुच की अब तौ भई छौ[५] गुनीं॥

पा०—१. (का०) (वें०) (प्र०).. तरुनीं के...। २. (वें०) आवतौ-ही ..। ३. (वें०) (स० पु० प्र०) (शृं० नि०) हद...। (प्र०) मन। ४. (वें०) (स० पु० प्र०) कंचुकि...। ५. (सं० पु० प्र०) सौ...।

'दास' भई चिकुरारिंन को[१], चटकीलता चाँमर चारु ते चौ गुनीं।
नौ गुँनी नीरज ते मृदुता, सुखमाँ मुख में ससि ते भई सौ गुनीं ॥*

अथ स्लेस गुँन लच्छन जथा—

बहु सबदँन कों एक करि[२], कीजै जहाँ सँमास।
ता अधिकाई 'स्लेस-गुँन', गुरु, मध्यँम, लघु 'दास' ॥

वि०—"दासजी जहाँ बहुत शब्दों के अर्थ को (विविध अर्थों को) समझने के लिए उन्हें एक सूत्र में आबद्ध करते हुए 'समास' की जाय, उसकी अधिकता दिखलायी जाय, वहाँ "श्लेष-गुण" मानते हैं—जो गुरु, मध्यम और लघु नाम से तीन प्रकार का होता है।

"गुणों की महत्ता मानने वाले श्री वामनाचार्यजी ने अपने काव्यालंकार-सूत्र-वृत्ति में 'श्लेष-गुण' को —"**मसृणत्वं—श्लेषः** (मसृणत्व-शब्द-निष्ठ चिकनापन श्लेष)। अर्थात्, जिस काव्य के अनेक अलग-अलग पद हों—वे सामासिक न हों और पढ़ते समय वे सब एक पद के समान प्रतीत हों, वहाँ 'श्लेष-गुण' कहा है।" चंद्रालोककार ने "जहाँ समूह रूप में सजातीय वर्णों का प्रयोग आजाय वहाँ 'श्लेष गुण' माना है। साहित्य-दर्पण-कर्ता इसे 'गुण' नहीं मानते, वे कहते हैं कि "श्लेष, समाधि, औदार्य, प्रसादादि जो शब्द-गुण प्राचीन आचार्यों ने माने हैं, वे सब 'ओज-गुण' के अंतर्गत समाहित हो जाते हैं, क्योंकि 'यहाँ 'ओज' पद लक्षणा से शब्द के धर्म विशेष को व्यक्त करता है", इसलिये वे उसे स्वीकार नहीं करते, फिर भी उन्होंने श्लेष का लक्षण-"**श्लेषो बहूनामपि-पदानामेकपदवद्भासनात्मा**" (अनेक पदों का एक पद के समान भासित होना) कहा है। आगे फिर आप कहते हैं कि "श्लेष केवल विचित्रता है। यह रस का विशिष्ट उपकारक न होने के कारण इसे गुण नहीं मानना चाहिये, क्योंकि श्लेष-क्रम (क्रियाओं की परंपरा), कौटिल्य (चतुर-चेष्टा), अनुल्वणत्व (अप्रसिद्ध वर्णन का न करना) और उपपत्ति (कार्य-सिद्ध करनेवाली उक्तियां) आदि से संबद्ध है अतएव जहाँ इन सबका समन्वय हो वहाँ श्लेष...। इसलिये यह वैचित्र्यमात्र है, वह रस का असाधारण उपकारकत्त्व जो अतिशय गुणत्त्व का प्रयोजक है, इसमें नहीं है। इसलिए यह गुण भो नहीं है, इत्यादि...।"

पा०—१. (शृं० नि०) में...। २. (वें०) (प्र०) कै...।

* शृंगार-निर्णय (भि० दा०) पृ० ५५, ६३। आगत-पतिका।

प्रथम उदाहरन स्लेस दीरघ सँमास जथा—

रघुकुल-सरसीरुह बिपुल, सुखद-भाँनु-पद चारु।
हृदै-आँनि हँनि काँम-मद, कोह-मोह-परिबारु ॥

द्वितीय उदाहरन स्लेस मध्यम सँमास जथा—

जदुकुल-रंजँन दीन-दुख,-भंजँन जँन-सुख दाँन।
कृपा-बारिधर प्रभु करौ, कृपा आपनों जाँन ॥

तृतीय उदाहरन स्लेस लघु सँमास जथा—

लखि-लखि सखि, सारस-नयँन, इंदु-बदँन घँनस्याँम।
बिज्जु हास, दारिम[1] दसँन, बिंबाधर अभिराँम ॥

अथ पुनरुक्ति-प्रकास गुँन-लच्छन जथा—

एक सब्द बहु बार जँह, परै रुचिरता-अर्थ।
'पुनरुक्ति-परकास[2]'-गुँन, बरनें बुद्धि समर्थ ॥

वि०—"जहाँ एक-ही शब्द अर्थ-रुचिरता उत्पन्न करता हुआ बार-बार आये वहाँ समर्थ बुद्धि वालों ने "पुनिरुक्ति-प्रकाश" गुण माना है।"

उदाहरन जथा—

बँनि, बँनि, बँनि बँनिता चलीं, गँनि, गँनि, गँनि डग-देति।
धँनि, धँनि, धँनि अँखियाँ जु छबि, सँनि, सँनि, सँनि सुख लेति ॥

पुनः उदाहरन जथा—

मधु-मास में 'दास'जू बीस बिसें मँन-मोंहँन आइहैं, आइहैं, आइहैं।
उजरे इन भोंनँन कों सजनी, सुख-पुंजँन छाइहैं, छाइहैं, छाइहैं ॥
अब तेरी सों एरी[3] न संक इकंक, बिथा सब जाइहैं, जाइहैं, जाइहैं।
घँनस्याँम-प्रभा-लखिकें सजनी[4], अँखियाँ सुख पाइहैं, पाइहैं, पाइहैं ॥*

वि०—"इस गुण में यह बात अति आवश्यक है कि 'एक-ही शब्द (या बात) को पुनः कहना, अर्थात् एक शब्द की दो-तीन बार आवृत्ति करना, पर

पा०—१.(वें०) (सं० पु० प्र०) दारयौ..। २. (का०) (वें०) पुनरुक्तथप्रतिकास...। ३. (सु० ति०) (म० मं०—द्वि० क०) मेरी...। ४. (वें०) सखियै...। (सु० ति०) अवलोकि गुपालै दास जू ए, अँखियाँ...।

* सुंदरी-तिलक (भा०) पृ० १७१, ५८४। मनोज-मंजरी—द्वि० क० (अजा०) पृ० ६१, २२७।

अर्थ में एकार्थ होते हुए भी कुछ उनसे विशेषता प्रदर्शित हो, जैसा—"आइ हैं, छाइहैं, जाइहैं, तथा पाइहैं" की आवृत्ति से जाना जाता है। प्रथम उदाहरण में भी यहीं बात है, वहाँ भी—"बैंनि, गैंनि, धैंनि और "सैंनि" एक नयी शब्दार्थ रुचिरता-लिये कई बार प्रयुक्त हुए हैं।"

दासजी के इस सवैये को—एक सोचनीय पाठ-भेद के साथ श्री भारतेंदु ने अपने "सुंदरी-तिलक" (पृ० १८०?, छं सं० ५८४) में और पं० नकछेदी तिवारी 'अजान कवि' ने अपनी "मनोज-मंजरी" (पृ० ६१, छं० सं० २२७ द्वि० भाग) में "परकीया प्रोषितपतिका" के उदाहरण में संग्रहीत किया है। सोचनीय पाठ चतुर्थ-चरण का—'अवलोकि गुपाल हिं 'दास जू' ए, अँखियाँ सुख पाइ हैं'... है, जब कि 'कवि-नाम' इस सवैया के प्रथम चरण में आ चुका है।

अथ पुनः माधुरजादि गुँन कथन जथा—

माधुर, ओज[१], प्रसाद के, सब गुन हैं आधींन।
तातें इँनहीं कों गँन्यों मंमट सुकबि प्रबींन॥

अथ माधुर्ज गुँन बिसेसता जथा—

स्लेषौ मध्य सँमास कौ सँमता, कांति बिचार।
लींनें[२] गुँन माधुर्ज-जुत[३] करुनाँ, हास, सिंगार॥

अथ ओज गुँन बिसेसता जथा—

स्लेष, समाधि, उदारता, सिथिल ओज-गुँन रीति।
बीर[४], भयाँनक, रुद्र औ रस बिभत्स सों प्रीति॥*

अथ प्रसाद गुँन बिसेसता जथा—

अल्प सँमास, सँमास-बिन, अर्थ-व्यक्त गुँन-मूल।
सो प्रसाद-गुँन बरँन सब[५], सब गुँन, सब रस तूल॥

वि०—"दासजी ने इन चार दोहों में पूर्व कथित दश गुण वर्णन के बाद इनमें नव रसों का समाहार करते हुए, फिर इन्हें संस्कृत के धुरंधर आचार्य मम्मट के अनुसार तीन गुण—माधुर्य, ओज और प्रसाद के अंतर्गत कथन किया है, क्योंकि ये सभी गुण माधुर्य-ओज-प्रसादादि के ही आधीन हैं—इन्हीं तीनों में इनका समाहार हो जाता है, जैसा इन दोहों से लक्षित है...।"

पा०—१. (का०) (वें०) (प्र०) (स० पु० प्र०) माधुर्यौज...। २. (वें०) लीन्हौं...। ३. (सं० पु० प्र०) रस...। ४. (का०) (वें०) (प्र०) रुद्र, भयानक बीर अरु...। ५. (सं० पु० प्र०) पुनि, सब रस, सब गुन तूल।

* शृंगार-लतिका-सौरभ (म० म०) पृ० २७०।

अथ अँनुप्रास बरनन जथा--

रसँन[1] विभूषित करँन कौं, गुँन-बरनें सुख-दाँनि।
गुँन-भूषँन अँनुमाँनि कें[2], अँनुप्रास उर आँनि ॥

*

बचँन आदि कै अंत जहँ[3] अच्छर की आवृत्ति।
अँनुप्रास सो जाँनि द्वै—भेद छेक औ वृत्ति ॥

वि०—"गुण-कथन के बाद दासजी ने 'अनुप्रास' का वर्णन किया। ये अनुप्रास नव-रसों को विभूषित करने वाले माधुर्यादि गुणों के भूषण कहे हैं, जो काव्य-प्रयुक्त शब्दों में आदि-अंत के अक्षरों की आवृत्ति से बनते हैं। दासजो ने प्रथम अनुप्रास को दो प्रकार का—'छेक' और 'वृत्ति' रूप में माना है।

अनुप्रास का शब्दार्थ है—"शब्द को बारंबार चमत्कार युक्त रखना, (अनु+प्र+आस)। इसलिए इसका नाम 'अनुप्रास' कहा जाता है। संस्कृत-काव्य-प्रकाश में मम्मटाचार्य ने—"वर्णों की—अक्षरों की, समता को अनुप्रास कहा है" (वर्णसाम्यमनुप्रासः)। साथ-ही आपने प्रथम—"छेकवृत्तिगतो द्विधा" कहते हुए - छेक और वृत्ति का विवरण देते हुए कहा है कि "छेक शब्द का अर्थ है विदग्ध—चतुर और वृत्ति का अर्थ है—रस-विषयक वर्णों की नियत रूप से योजना—उनका व्यापार। तात्पर्य यह कि स्वरों की विभिन्न मात्राओं के होने पर भी यदि अक्षरों में परस्पर समता हो तो अनुप्रास रूप शब्दालंकार होगा। अनुप्रास में वर्णनीय रसादि के अनुकूल वर्णों की चमत्कारपूर्ण योजना आवश्यक है।

अनुप्रास के संस्कृत-मन्य आचार्यों ने प्रथम "**वर्णानुप्रास**" (निरर्थक वर्णों की आवृत्ति) और "**शब्दानुप्रास**" (सार्थक वर्णों की आवृत्ति) दो भेद माने हैं। शब्दानुप्रास को "लाटानुप्रास" भीव हाँ कहा गया है। इनके उपरांत इन आचार्यों ने वर्णानुप्रास के छेक और वृत्ति, तथा वृत्यानुप्रास की तीन—उपनागरिका, पौरुषा और कोमला वृत्तियाँ तथा शब्दानुप्रास की 'पदा' और 'नामा-वृत्तियों' का उल्लेख किया है।

श्री हेमचंद्र ने भी काव्यानुशासन (पृ० २०६) में अनुप्रास को—"**प्रकृष्टेऽदूरांतरितो न्यासोऽनुप्रासः**" कहा है। साहित्य-दर्पण में अनुप्रास के

पा०—१. (का०)(वें०)(प्र०) रस के भूषित करन ते...। २. (सं० पु० प्र०) ऐ अनुप्रास सो जाँनि। ३. (सं० पु० प्र०) ही...।

प्रति कहा गया है—"अनुप्रासः शब्दसाम्यं वैषम्येऽपि स्वरस्य यत्"। अर्थात् स्वरों की विषमता रहने पर भी शब्द—पद, पदांश का साम्य अनुप्रास। अनुप्रास में स्वरों की समानता हो या न हो, किंतु एक से मिले हुए अनेक व्यंजन अवश्य हों, क्यों कि केवल स्वरों की समानता में विचित्रता नहीं होती, व्यंजनों की समता में ही चमत्कार होता है। अस्तु, अनुप्रास का पदच्छेद करते हुए आपने उसका अर्थ किया है-"रसाद्यनुगतत्वेन प्रकर्षेणन्यासोऽनुप्रासः" ("रसभावादि के अनुगत प्रकृष्ट-न्यास—अनुप्रास)। अर्थात्, रस की अनुगामिनी प्रकृष्ट-रचना अनुप्रास है।

आचार्य वामन ने शब्दालंकार के अंतर्गत अनुप्रास को मानते हुए 'यमक' के बाद अनुप्रास का वर्णन किया है, जैसे--

"शेषः सरूपोऽनुप्रासः।" (४, १, १, ८)

इसके बाद आपने "पादानुप्रास", जिसे बाद के आचार्यों ने लाट-अनुप्रास कहा है, का वर्णन किया है। आपने छेक-वृत्यादि अनुप्रास नहीं माने हैं। नवीन आचार्यों ने छेक-वृत्य के अनंतर-श्रुत्य, अंत्य और लाट-अनुप्रास और माने है। श्री जयदेव ने स्फुटानुप्रास (छंद के अर्धांश या उसके भी अर्धांश में वर्णों की—विविध वर्णों को आवृत्ति) भी माना है। इस स्फुटानुप्रास को बाद में "स्तुत्यानुप्रास" भी कहा गया तथा किन्हीं ने इसका पृथक भेद भी माना है।

ब्रजभाषा-साहित्य के आचार्यों ने शब्दालंकार के अंतर्गत—छेक, वृत्य के अनंतर-वक्रोक्ति, लाट, यमक, श्लेष और चित्र काव्य को भी माना है (कविकुल कल्पतरु-चिंतामणि), पर भाषा-भूषण में-छेक, लाट, यमक, वृत्य नामक चार शब्द-अलंकार ही माने गये हैं। कोई-कोई इनके साथ 'पुनरुक्तिवदाभास' को भी अलंकार रूप में मानते हैं।

प्रथम छेक-अँनुप्रास लच्छन जथा—

बरँन बौहौत कै[१] एक की, आवृति एकै बार।
सो 'छेकानुप्रास' है, आदि-अंत इक-ढार ॥*

वि०—"अनेक वा एक वर्ण की आवृत्ति-आदि से अंत तक एक ढार में होने को दासजी ने 'छेकानुप्रास' माना है।

संस्कृत में अनेक वर्णों के एक बार सादृश्य होने को छेकानुप्रास माना है। छेक का अर्थ है,—नागरिक, वा चतुर। इसलिये चातुर्य-पूर्ण अनुप्रास छेकानुप्रास, अथवा चतुर-जनों को प्रिय होने के कारण यह छेकानुप्रास कहा जाता है। तात्पर्य

पा०—१. (का०) (वें०) (प्र०) की...। (सं० पु० प्र०) बर्न अनेक की...।
* भ० ल० सौ० (म० भ०) पृ० ८२।

यह कि यह शब्द-अलंकार व्यंजन-समूह, अर्थात् एक से अधिक व्यंजनों की एक बार उसी क्रम से पुनरावृत्ति में होता है। छेक-'रस-सर' में नहीं, 'सर-सर' में माना जायगा, क्योंकि एक वर्ण की आवृत्ति क्रमशः होना कहा गया है। यथा-"अनेकधेति स्वरूपतः क्रमतश्च"। अर्थात् इसमें स्वरूप तथा क्रम दोनों से समानता होनी चाहिये।

दासजी ने 'छेक' के दो भेद-'आदि' और अंत वर्ण को आवृति से माने हैं। इन्हीं को संस्कृत-रीति-आचार्यों ने "स्वर-साम्य" तथा "स्वर-वैषम्य" कहा है।"

आदि बर्न की आवृत्ति तें 'छेक' उदाहरन जथा—

तरुनी के बर-बैंन सुनि[1], चीनी चकित सुभाइ।
दाख[2] दुखी, मिसरी मुरी, सुधा रही सकुचाइ॥

वि०—"यहाँ बर बेन, चीनी चकित, दाख दुखी और मिसरी मुरी" में ब, च, द, म की आवृत्ति से—आदिवर्ण की आवृत्ति से, यह शब्दालंकार बना है।

अंत बर्न की आवृत्ति सों छेक उदाहरन जथा—

जँन-रंजँन भंजँन-दँनुज, मँनुज-रूप सुर-भूप।
बिस्व-बदर इव धृत उदर, जोवत[3] सोवत सूप॥

वि०—"यहाँ, जँन, नुज, दर, वत में—आदि 'वर्ण' की एक-एक बार आवृत्ति है, साथ-ही 'स्वर' की भी, इस लिये छेक का यह द्वितीय उदाहरण सुंदर है।"

अथ वृत्यानुप्रास लच्छन जथा—

कहुँ सरि 'बर्न' अनेक की, परै अँनेकँन बार।
एकै की आवृत्ति बहु,[4] वृत्यौ द्वै जु प्रकार॥

वि०—"जहाँ अनेक समान वर्णों की अनेक बार आवृत्ति हो—वे बार-बार आयें, वहाँ 'वृत्यानुप्रास' दासजी ने माना है। यह वृत्ति-अनुप्रास आदि और अंत वर्णों की आवृत्ति से दो प्रकार का होता है।

पा०—१. (का०) (वें०) बर तरुनी के बैंन सुनि...। २. (का०) (प्र०) दुखी दाख...। (वें०) दुखी दास...। (सं० पु० प्र०) दास दुखित...। ३. (वें०) जो अति सोवत...। ४. (का०) (प्र०) रूप। ५. (का०) (वें०) (प्र०) कहुँ, वृत्यौ दोइ प्रकार। (सं० पु० प्र०-द्वि०) तीन...।

संस्कृत-अलंकार-ग्रंथों में "वृत्ति-गत अनेक वर्णों की अथवा एक वर्ण की अधिकवार आवृत्ति किये जाने को "वृत्यानुप्रास" का विषय माना गया है, जैसा कि दासजी ने लिखा है। बात तो यह है कि 'रसों के अनुकूल वर्णों के प्रयोग किये जाने के कुछ नियम हैं, जो संस्कृताचार्यों ने कहे हैं। इसलिये ऐसी नियम-बद्ध रचना को वहाँ "वृत्ति" कहा गया है। ये वृत्ति—"उपनागरिका, परुषा" और "कोमला" नाम से तीन प्रकार की होती है, जिसका कथन आगे किया गया है। अस्तु, इन तीनों वृत्तियों के अनुसार इन आचार्य-वर्गों ने इस 'वृत्यानुप्रास' के भी तीन भेदों का अपने - अपने शास्त्र-ग्रंथों में वर्णन किया है। अतएव "एक वा अनेक वर्णों की वृत्तियों के अनुकूल अनेक बार केवल स्वरूप से, अथवा स्वरूप और क्रम दोनों से आवृत्ति होने पर यह अनुप्रास बनता है। यहाँ यह आवश्यक नहीं कि वर्ण क्रम से ही आवें, फिर भी उनमें क्रम हो तो बहुत-ही अच्छा है—सुंदर है।"

दासजी ने इस उभय प्रकार - वृत्यानुप्रास के—"आदिवर्ण एक की अनेक बार, आदिवर्ण अनेक की अनेक बार, अंतवर्ण एक की अनेक बार और अंतवर्ण अनेक की अनेक बार आवृत्ति होने पर चार प्रकार का मानते हुए इन चारों के उदाहरण दिये हैं, यथा—

प्रथम आदिबर्न एक की अनेकबार आबृत्ति कौ उदाहरन—

बलि, बलि गई बारिजात से बदँन पर,
बंसी - ताँन बँधि गई बिधि गई बाँनी में।
बड़रे बिलोचँन[1] बिसूरि कें बिलोकति,
बिसारी सुधि-बुधि बावरी-लौं बिललाँनी में॥
बरुनी बिभा की बारुनीं में है बिमोहित,[2]
बिसेस बिंबाधर में बिगोई बुद्धि राँनी में।
बरजि - बरजि बिलखानीं बृंद - आली,
बँनमाली की बिकास बिहँसन में बिकाँनी में॥

द्वितीय आदि बर्न अनेक की अनेकबार आबृत्ति कौ उदाहरन—

पेंड़-पेंड़ पै चकित चख, चितवति मो-चितहारि।
गई गागरी गेह लै, नई नागरी नारि॥

पा०—१. (प्र०) बड़े-बड़े लोचन बिसारि कें बिलोकति। २. (वें०) सुमोहित...।

तृतीय अंतवर्न एक की अनेकबार आवृत्ति कौ उदाहरन—

बैठी मलीन अली अवली किधों[1] कंज-कलीन सों ह्वै[2] बिफली है।
संभु-गली[3] बिछुरी-ही चली, किधों नाग[4]-लली अनुराग - रली है॥
तेरी अली ये रोंमावली[5], सिंगार - लता - फल बेली[6] फली है।
नाभि - थली सों[7] जुरे फल लै[8] भली रसराज - नली उछली है॥*

चतुर्थ अंतबर्न अनेक की अनेकबार आवृत्ति कौ उदाहरन—

कहै कसँन[9] गरमी-बसँन, काहू बसँन सुहात।
सीत - सताऐं रीति अति, कति कंपति तो गात॥

वि०—"दासजी कृत वृत्यानुप्रास के ये चार प्रकार और उनके उदाहरण स्तुत्य हैं। अनेकों ने इन उदाहरणों को अपनाया है और अपने-अपने ग्रंथों की शोभा में चार-चाँद लगाये हैं। उन सबों में सेठ कन्हैयालाल पोद्दार (अलंकार-मंजरी, पृ० ३६८) का अभिमत, जो उन्होंने वृत्यानुप्रास के तीसरे उदाहरण (अंतवर्ण की अनेकवार आवृति) के प्रति व्यक्त किया है, उसे यहाँ देते हैं। अस्तु, आपका इस छंद (सवैया) के प्रति कहना है कि 'यहाँ मलीन, अलो, अबलो और कलोन इत्यादि के प्रयोगों-द्वारा अनुप्रास शब्दालंकार तथा रोमावली में भ्रमरावली आदि अनेक संदेह किये जाने के कारण संदेह अर्थालंकार है। ये दोनों अलंकार यहाँ प्रधान हैं, और दोनों ही में समान चमत्कार है, अतः यहाँ शब्दार्थ उभयालंकार है।

अथ बृत्ति औ उनके भेद-लच्छन बरनन जथा—

मिलें बर्न माधुर्ज के 'उपनागरिका' नृत्ति[10]।
'परुषा', ओज, प्रसाद के, मिलें 'कोंमला'-बृत्ति[11]॥

पा०—१. (शृं० नि०) (न० सि० ह०) कि सरोज...। २. (वें०) (शृं० नि०) (अं० मं०) है...। ३. (शृं० नि०) लगी...। ४. (न० सि० ह०) राग लली...। ५. (का०) कि...। (वें०) (प्र०) (अं० मं०) की,। (शृं० नि०) (न० सि० ह०) कै...। ६. (का०) (वें०) (प्र०) (शृं० नि०) बेलि...। (न० सि० ह०) फैल...। ७. (प्र०) (अं०-मं०) पै...। (शृं० नि०) (न० सि० ह०) (सं० पु० प्र०) ते...। ८. (का०) (वें०) (प्र०) (शृं० नि०) (अं० मं०) लै कि...। (न० सि० ह०) द्वै कै...। ९. (का०) (प्र०) कसन...। १०. (का०) नित्त ..। (वें०) वृत्ति। (प्र०) निति। ११. (का०) (प्र०) (वें०) बृत्ति।

*, शृंगार-निर्णय (भि० दा०) पृ० १२, ३८। नखसिख हजारा (सु०) पृ० ४६, ७। अलंकार-मंजरी (पो०) पृ० ३६८।

वि०—"दासजी ने यहाँ वृत्तियों—"उपनागरिका, परुषा एवं कोमला का वर्णन किया है। आपका कहना है कि "मधुर वर्ण-युक्त अर्थात् कर्ण-कटु 'ट'-वर्गीय वर्ण, द्वित्व या संयुक्त वर्णों से रहित और समास भी अल्प हो, ऐसे सानुनासिक वर्ण युक्त रचना को "उपनागरिका" वृत्ति, ओज गुण की व्यंजना करने वाले 'ट' वर्गादि की अधिकता, रेफ सहित संयुक्ताक्षर एवं द्वित्व वर्ण की वाहुल्यता-युक्त कठोर रचना 'परुषा' वृत्ति तथा मधुर और ओज-गुण-व्यंजक वर्णों को छोड़ कर शेप वर्णों की रचना, जो समास-रहित वा छोटे समास वाली हो उसे "कोमला-वृत्ति" कहा है। किन्हीं-किन्हीं आचार्यों ने "रीति" नाम देते हुए इनके भेद—"वैदर्भी, "पांचाली" और "गौड़ी" नाम से किये हैं।"

प्रथम उपनागरिका बृत्ति-उदाहरन जथा—

मंजुल - बंजुल कुंजँन गुंजत - कुंजत[१] भृंग - बिहंग अयाँनी।
चदँन, चंपक - बृंदँन संग, सुरंग, लबंग - लता लपटाँनी[२] ॥
कंस-बिधंसँन करि[३] नँद-नंदन,[४] सुछंद तहीं करि हैं रजधाँनी।
भंखत[५] क्यों मथुरा-ससुरारि, सुँनें न[६] गुँनें मृदु[७] मंगल-बाँनी ॥

द्वितीय 'परुषा' बृत्ति उदाहरन जथा—

मरकट - जुद्ध - बिरुद्ध क्रुद्ध अरि - ठट्ट दपट्टैं।
अब्द-सब्द करि गर्जि,-तर्जिझुकि झंपि[८] झपट्टैं ॥
लच्छ, लच्छ रच्छस[९] बिपच्छ धरि धरँन पट्ट कें।
तिरख[१०] सख बज्रादि अस्त्र एकौ न अट्ट के ॥
कृत ब्यक्त रक्त स्रोनित[११]-सँने, जत्र-तत्र अँनहद्द भुत्र।
तस बिक्रँम कत्थ अकत्थ जस, रँन[१२]समत्थ दसरत्थ-सुअ ॥

तृतीय कोंमला बृत्ति उदाहरन जथा—

प्यौ बिरमें बरमें करि[१३] बुंदँन, बंदँन कों बिधि बेधै-बधै-री।
'दास' घँनीं[१४]गरजें गुरजें-सी लगै झर सो हियरा[१५]झुरसै-री ॥

पा०—१. (प्र०) कुंजन...। (रा० पु० प्र०)...कुजन-कुंजन गुंजत भृंग...। २. (का०) (वें०) अरुझाँनी। ३. (का०) (वें०) (प्र०) (सं० पु० प्र०) कै। ४. (का०) (वें०) (प्र०) नँद-नंद...। ५. (वें०) भाँखति। ६. (वें०) सुनैंन...। ७. (का०) (वें०) (प्र०) मुद...। ८. (का०) (वें०) झपिं...। ९. (वें०) राच्छस...। १०. (वें०) देखि...। ११. (का०) (वें०) स्रोतरवनी...। (सं० पु० प्र०) स्रोतस्यती, जत्र...। १२. (सं० पु० प्र०) मत्थ...। १३. (प्र०) घिरि में करि बंदन, बुंदन...। १४. (प्र०) घनों..। १५. (का०) (वें०) (प्र०) हियरौ...।

बीस बिसें बिष भिल्ली भलें, तड़िता तँन-ताड़ित[1] कै तरपै-री।
मारै तऊ सुर के सर सों बिरही कौ बसै बरही बड़[2] बैरी ॥

अथ लाटानुप्रास लच्छन जथा—

एक सबद बहु बार जहँ,[3] सो 'लाटानुप्रास'।
तातपर्ज ते होत है, औरें अर्थ प्रकास ॥

वि०—"जहाँ एक-ही शब्द तात्पर्य-सहित अनेक बार आकर भिन्न-भिन्न अर्थों का प्रकाश करे वहाँ 'दासजी' ने 'लाटानुप्रास' कहा है।

मम्मटाचार्य ने 'काव्य-प्रकाश' (संस्कृत-रीति ग्रंथ) में—"**शाब्दस्तु लाटानुप्रासो भेदे तात्पर्य मात्रतः**" (९, ८१) अर्थात्, जहाँ शब्द वा उसके अर्थ के अभिन्न होने पर भी तात्पर्य मात्र के कारण भेद रहता है, वहाँ शब्द-गत अनुप्रास—'लाट' होना कहा है। यहाँ शब्द और अर्थ दोनों की आवृति में तात्पर्य की भिन्नता मानी जाती है। इस अलंकार में शब्द और अर्थ दोनों की पुनरुक्ति होते हुए भी तात्पर्य में भिन्नता रहती है। यह भिन्नता अन्वय के भेद से मानी जाती है। संस्कृत-साहित्य में इसके 'शब्दानुप्रास' वा 'पदानुप्रास' नाम भी मिलते हैं। साहित्य-दर्पणकार कहते हैं—

"शब्दार्थयो पौनरुक्त्यं भेदे तात्पर्य मात्रतः।"

काव्य-प्रकाश में लाट को—"तदेवं पंचधा मतः" कहा है, अर्थात्—एक पद का, अनेक पदों का, एक समासगत, भिन्न समासगत तथा समास और असमास दोनों में माना जाता है। ये पाँचों प्रकार दो भागों—'पद की आवृत्ति' और नाम अर्थात्, विभक्ति रहित प्रतिपादक आवृत्ति में भी रखा जा सकता है। यमकालंकार में ऐसे ही शब्दों वा पदों की आवृत्ति होती है, पर वहाँ जिन शब्दों की आवृत्ति होती है उनके अर्थों में भिन्नता होती है, यहाँ (लाट में) तात्पर्य की।

अथ लाट-अनुप्रास कौ उदाहरन जथा—

मँन-मृगया करि मृग-दृगी, मृग-मद-बेंदी भाल।
मृग-पति-लंक मृगांक-मुख, अंक लिऐं मृग-बाल ॥

पुनः उदाहरन जथा—

श्रीमँनमोंहँन प्राँन हैं मेरे, श्रीमँनमोंहन माँन हैं मेरे।
श्रीमँनमोंहँन ग्याँन हैं मेरे, श्रीमँनमोंहँन ध्याँन हैं मेरे ॥

पा०—१. (वें०) तँन ताथि तकै तरपै...। २. (वें०) बड़ो ..। ३. (का०) जो,...। (वें०) गौ...।

श्रीमँनमोंहँन सों रति[1] मेरी, श्रीमँनमोंहँन सों नति[2] मेरी।
श्रीमँनमोंहँन सों मति[3] मेरी, श्रीमँनमोंहँन सों गति[4] मेरी॥

वि०—"दासजी के "श्रीमँनमोंहँन प्राँन हैं मेरे०......" के साथ किसी कवि का निम्नलिखित छंद भी दर्शनीय है, यथा—

"पीय निकट जाके, नहीं घाँम चाँदनी आहि।
पीय निकट जाके नहीं, घाँम चाँदनी आहि॥"

"इन दोनों पदों में संपूर्ण पद की उसी अर्थ में आवृत्तियाँ हैं, पर अन्वय भेद से तात्पर्य प्रथक्-प्रथक् बतला रहे हैं।"

अथ बीप्सालंकार लच्छन जथा—

एक सब्द बहु बार जहँ, अति[5] आदर सों होइ।
ताहि 'बीप्सा' कहत हैं, कबि-कोबिद सब कोइ॥

वि०—"जहाँ अति आदर से एक शब्द की अनेक बार आवृत्ति हो—बार-बार उसका प्रयोग किया जाय वहाँ कवि-कोविद "वीप्सा" अलंकार कहते हैं।

वीप्सा, जहाँ आदर, आश्चर्य, उत्साह, घृणा, शोक, हर्ष, आतुरता, रोचकता—आदि भावों का बाहुल्य प्रकट करने के लिये किसी शब्द विशेष का एक से अधिक बार प्रयोग किया जाय, वहाँ होता है। वीप्सालंकार का उल्लेख संस्कृत-रीति-शास्त्र-ग्रंथों में नहीं मिलता, ब्रजभाषा-काव्य शास्त्र में भी इस शब्दालंकार का अल्प उल्लेख हुआ है, विशेष नहीं।

बीप्सा-उदाहरन जथा—

जाँनि-जाँनि आयौ[6] प्यारौ पीतँम बिहार-भूमि,
माँनि-माँनि मंगल सिँगारँन सिँगारती।
'दास' द्रग-कंजँन[7] कौ बंदनबार ताँनि[8]-ताँनि,
छाँनि[9]-छाँनि फूले-फूल-फूलँन सँवारती॥

पा०—१. (सं०पु०प्र०) नति...। २. (सं० पु० प्र०) गति...। ३. (सं०पु०प्र०) रति...। ४. (सं० पु० प्र०) मति...। ५. (प्र०) हरषादिक ते होइ। ६. (श्रृ० नि०) आवै...। ७. (सं० पु० प्र०) छाँनि-छाँनि फूले-फूल. सेजन सँवारती—सेज-ही सँवारती। ८. (का०)... कंजनि बंदनवार...। (प्र०) ..द्रग तोरँन कों द्वारन में तानि...। ९. (वें०) ठाँनि,..। १०. (वें०) (सं० पु० प्र०) माँनि-माँनि मंगल सिँगारँन सिँगारती।

ध्यौंन-ही में आँनि-आँनि, पी कौ गहि पाँनि-पाँनि,
ऐंचि[1] पट तौंनि-तौंनि मेंन - मद गारवी[2]।
प्रेम-गुँन गाँनि-गाँनि, अमृतँन[3]-साँनि-साँनि,
बाँनि-बाँनि, खाँनि-खाँनि बेंनँन-बिचारती ॥*

वि०—"दासजी ने अपने इस कवित्त को स्व-निर्मित 'शृंगार-निर्णय' में 'स्वकीया वासकसज्जा के उदाहरण में भी कुछ पाठ-भेद के साथ दिया है, जैसे—

जाँनि-जाँनि आबै प्यारौ पीतँम बिहार भूमि,
माँनि - माँनि मंगल सिँगारँन सिँगारती।
'दास' दृग - कंजँन के बंदँनवार ताँनि-ताँनि
छाँनि - छाँनि फूले - फूल सेजै सँवारती॥
आँनि-आँनि पी कौ गहि पाँनि-पाँनि ध्यौंन-ही में,
ऐंचि पट ताँनि-ताँनि मेंन-मद - झारती।
प्रेम-गुँन गाँनि-गाँनि, पीउ बनि साँनि-साँनि,
बाँनि-बाँनि खाँनि-खाँनि बेंनँन - बिचारती ॥*

और भी पाठांतर मिलते हैं, जो पाठांतर में नीचे दिये हैं। दामोदर कवि ने भी "वासकसज्जा" नायिका (नायक का निश्चय रूप से आना जान कर शृंगारादि से विभूषित होने वाली) का सुंदर वर्णन किया है, यथा—

"धारें लाल सारी प्यारी हीरँन-किनार वारी,
अंगँन अनंग - दुति रंग चढ़ि आयौ है।
'दामोदर' कहै बाल बैठी जो बिनोद - भरी,
लाल के बिलोकिबे कों मोद मढ़ि आयौ है॥
झाँकी, झुकि, झपकि झरोखा खोलि घूंघट कों,
बदँन - बिकास कौ प्रकास बढ़ि आयौ है।
जोरि कें नछत्रँन, बिथोरि घँन - घोर माँनों,
फोर रबि - मंडल कों चँद - कढ़ि आयौ है॥

और इस शब्दालंकार 'वीप्सा' का—उसकी माला का, उदाहरण प्रसिद्ध कवि 'देव'-रचित भी सुंदर है, जैसे—

"रीझि-रीझि, रहसि - रहसि, हँसि-हँसि उठै,
साँसें भरि, आँसू - भरि, कहति दई-दई।

पा०—१. (वें०) (सं० पु० प्र०) लेटी...। २. (वें०) मारती। (सं० पु० प्र०) झारती। ३. (का०) (वें०) (सं० पु० प्र०) पिऊषँन। (शृं० नि०) पीउ बनि...।

* शृं० नि० (भि० दा०) पृ० ५४, १६०।

चौंकि-चौंकि, चकि-चकि, औचक उचकि-उचकि,
छकि - छकि, जकि - जकि, बहत बई-बई ॥
दोउँन कौ रूप - गुँन बरनत फिरत दोऊ,
धीर न धरत रीति - नेह की नई - नई ।
मोहि - मोहि मोंहँन कौ मँन भयौ राधा - मई,
राधा - मँन मोहि - मोहि - मोंहँन-मई-मई ॥"

अथ 'जँमक' अलंकार-लच्छन जथा—

वहै सबद फिर-फिर फिरै,[१] अर्थ और-ही-और ।
सो 'जँमकानुप्रास' है, भेद अँनेकँन ठौर ॥

वि०—"जहाँ वही (एक-ही) शब्द (वा पद) बार बार आकर और-ही-और अर्थों का प्रकाश करे, वहाँ 'यमक' अलंकार होता है तथा इसके अनेको स्थान पर अनेक भेद कहे गये हैं।"

यमक-अलंकार का लक्षण संस्कृताचार्यों ने—"**पदमनेकार्थमक्षरं वाऽऽवृत्तं-स्थाननियमे—यमकं**" (स्थान-नियम के साथ अनेकार्थक पद अथवा अक्षर की आवृत्ति—यमक, काव्यालंकार-सूत्र वृत्ति—वामन, ४, १, १), कहा है। यहाँ अनेकार्थ विशेषण पद का है, अक्षर का नहीं, क्योंकि पद अनेकार्थी हो सकता है, अक्षर नहीं। भामह कहते हैं—

"तुल्य श्रुतीनां भिन्नानामभिधेयैः परस्परम् ।
वर्णानां यः पुनर्वादो 'यमकं' तन्निगद्यते ॥"—२, १७

सुनने में समान प्रतीत होने वाले, पर अर्थ में भिन्न वर्णों की पुनरुक्ति वा आवृत्ति 'यमक' है। यद्यपि यहाँ पदों की आवृत्ति का लक्षण में समावेश नहीं किया गया है, फिर भी "**भिन्नानामभिधेयैः परस्परं**" से उस (पद) की पूर्ति—प्रतीति हो जाती है। क्योंकि केवल वर्ण सार्थक नहीं होते, पद सार्थक होते हैं, इस वर्णावृत्ति में आवृत्त वर्णों की स्थिति चार प्रकार की—"जहाँ दोनों (पद) सार्थक हों, पर वे समानार्थक न होकर भिन्नार्थक हों, जहाँ दोनों अनर्थक (बिना अर्थ वाले) हों, जिसका प्रथम अंश सार्थक और दूसरा निरर्थक हो (पहिला सार्थक भाग पद और दूसरा अनर्थक भाग पदांश वा वर्ण रूप) जिसमें प्रथम भाग अनर्थक और द्वितीय (उत्तर) भाग सार्थक हो, अर्थात् पूर्व भाग पदांश रूप वर्ण अथवा अक्षर, अनर्थक तथा उत्तर-भाग सार्थक-वद कहा गया हो।" यह पदों की आवृत्ति, भिन्नार्थक अवश्य होनी चाहिये। श्रीमम्मट कहते हैं—

पा०—१. (का०) (दे०) (प्र०) परै...।

"अर्थे सत्यर्थभिन्नानां वर्णानां सा पुनः श्रुतिः । यमकं०......॥" ६, ८२

अर्थात् यदि अर्थ हो तो विभिन्न अर्थ वाले उन्हीं-उन्हीं वर्णों का बारंबार वैसा ही सुनायी देना 'यमक' कहलाता है।"

विश्वनाथ चक्रवर्ती ने 'साहित्य-दर्पण' में 'यमक' का लक्षण इस प्रकार कहा है—

"सत्यर्थे पृथगर्थायाः स्वरव्यंजन संहते ।
क्रमेण तेनैवावृत्तिर्यमकं विनिगद्यते ॥" १०, ८,

यदि स्वर-व्यंजन-समुदाय अर्थवान् (सार्थक) हो,—भिन्न अर्थ वाले हों, तो उनकी क्रमशः आवृत्ति को 'यमक' कहते हैं। यमक में, जैसा पूर्व में लिखा जा चुका है, जिस समुदाय की आवृत्ति हो उसका अंश-विशेष वा सर्वांश के सार्थक होने पर आवृत्त-समुदाय का विभिन्नार्थक होना आवश्यक है, क्योंकि समानार्थक शब्दों की आवृत्ति को 'यमक' नहीं कहते। चंद्रालोककार कहते हैं—

"आवृत्तवर्णस्तवकंस्तवकंदांकुरं कवेः । यमकं०...॥"

जहाँ किसी भी दो-तीन अक्षरों के समूह की आवृत्ति हो, उसे "यमक विज्ञ-जन कहते हैं।"

यमक के प्रति—उसके लक्षण के प्रति, उपरोक्त मत संस्कृत के कुछ चुने हुए साहित्याचार्यों के हैं। इन सब लक्षणों में प्राचीन भामह और नवीन विश्वनाथ चक्रवर्ती के लक्षणों से वामन के लक्षण में कुछ विशेषता है—नवीनता है, क्योंकि वे अपने लक्ष्य में स्थान-नियम का विशेष रूप से उल्लेख करते हुए उसका विस्तारपूर्वक विवेचन करते हैं। भामह-आदि आचार्यों ने इस स्थान-नियम को स्वयं समझलेने योग्य मान, न तो यमक के लक्षण में उसका उल्लेख किया है और न विस्तार...। किंतु श्रीवामन ने स्फुट रूप से यहाँ कहा है कि "अनेकार्थ (भिन्न-अर्थ) वाला एक पद, अथवा अनेक पद और उसी के समान एक वा अनेक अक्षर स्थान-नियम से होने पर आवृत्त रूप में यमकालंकार कहा जायगा।" यह स्थान-नियम यमक के प्रयोजन पद की अपनी वृत्ति (उपस्थिति) से, अथवा दो विभिन्न पदों के अंशों से मिलकर एक पद जैसा प्रतीति होने वाले सजातीय के साथ संपूर्ण रूप से, अथवा एक देश से अनेक पादों में व्याप्ति" कहा जाता है। तात्पर्य यह कि आवृत्ति पदों की स्थिति एक पाद में न होकर मुख्यतः अनेक पादों में होनी चाहिये, क्योंकि स्थान-नियम अनेक पाद-व्याप्ति कही-सुनी जाती है—एक पाद-पादस्थ आवृत्ति नहीं।' यमक में पदादि की आवृत्ति कहाँ करनी चाहिये, उसके उचित स्थानों का वर्णन करते हुए श्री वामनाचार्य कहते हैं—"एक संपूर्ण पाद, एक अथवा अनेक पाद के आदि, मध्य और अंत भाग

आवृत्ति के उचित स्थान हैं। इन पादादि—मध्य और अंत को लेकर वामनाचार्य ने यमक के मुख्यतया सात भेद माने हैं। पुनः आपने भंग-अभंग को लेकर अन्य भेदों का भी उल्लेख किया है। मम्मटाचार्यने यमक के प्रथम सात फिर नौ, ग्यारह, बीस, तीस और चालीस भेद तथा बाद में अनेक (संख्यातीत) भेदों का उल्लेख किया है। विश्वनाथ चक्रवर्ती भी **"एतच्च पादपदार्थ श्लोकावृत्तित्वेन पादाद्यावृत्तेश्चानेकविधितया प्रभूततम भेदम्"** (यमकालंकार के पादावृत्ति, पदावृत्ति, अर्धावृत्ति, श्लोकावृत्ति-आदि भेद और इनके भी अनेक भेद होने से अति अधिक भेद) द्वारा यमक के संख्यातीत भेद बतलाते हैं।"

ब्रजभाषा-साहित्य में "यमक" का लक्षण विविध कवियों-द्वारा कथित बहुत कुछ एक जैसा-ही मिलता है, यथा—

"जमक, सब्द कौ फिरि स्रबँन, अर्थ जुदौ सो जाँनि।

अर्थात्, जहाँ किसी शब्द का पुनः श्रवण हो (कोई शब्द-विशेष बार-बार अथवा द्वितीय बार सुन पड़े) और अर्थ भिन्न हो तो वहाँ "यमकालंकार" भाषा-भूषण के रचयिता मानते हैं। इनसे प्रथम यही लक्षण "चिंतामणि" त्रिपाठी ने भी कहा है, जैसे—

"अर्थ होत अन्यार्थक, बरनन कों जहँ होइ।
फेरि स्रबँन सो 'जाम' कहि, बरनत यों सब कोइ॥

—कविकुल - कल्पतरु

और दूलह कवि (कविकुलकंठाभरण) कहते हैं—

बार-बार पद-अर्थ जहँ, भिन्न 'जमक' परकास॥"

अन्य आचार्यों ने भी इनसे ही मिलते-जुलते लक्षण 'यमक' के लिखे हैं। यमक-भेद में वे मौन हैं। हाँ, कोई-कोई भंग-अभंग शब्दों की आवृत्ति के कारण इसके 'दो भेद' मानते हैं। ब्रजभाषा-रीति आचार्य केशव ने अग्निपुराण (संस्कृत) के अनुसार यमक के दो भेद–'अव्ययेत' और 'सव्ययेत'की अवतारणा और की है। ये अव्ययेत और सव्ययेत वास्तव में—अव्यपेत और सव्यपेत हैं, जो लेख-दोष के कारण अपने वास्तविक रूप से हट गये हैं। अव्यपेत—व्यवधान (अंतर) का न होना, अर्थात् जिन पदों वा वर्णों की आवृत्ति हो उनकी समीपता यहाँ आवश्यक है, साथ-ही प्रयुक्त पदों वा वर्णों के बीच कोई अन्य पद वा वर्ण नहीं होने चाहिये और "सव्यपेत"—दो साम्य पदों के मध्य व्यवधान—अंतर" को कहा गया है। यहाँ जिन पदों वा वर्णों की आवृत्ति होती है, वे समीप नहीं दूर-दूर रहते हैं।

दासजी ने यमक के संस्कृतानुसार छह-भेद,—उत्तम यमक, भुक्त पद-ग्राह्य यमक, निरर्थक-शब्दावृत्ति रूप यमक, सार्थक-निरर्थक शब्दावृत्ति रूप यमक, सार्थक शब्दावृत्ति रूप यमक-आदि माने हैं और उनके उदाहरण भी दिये हैं। यथा—

प्रथम जँमक कौ उदाहरन जथा—

लोनों सुख-मौंनि, सुख[1]-मौंनि लखि लोचनँन,
नीरज[2] - लजात जलजातँन बिहारि गौ।
वाही जी[3] लगाइ करि, लीनों जी लगाइ करि,
मति मोंहिनी - सी मोंहिनी - सी उर- डारि गौ॥
लागें[4] पलकौ न, पल कौ न बिसरै - री,
बिसबासी बास में ते बास[5] में ते बिष गारि गौ।
मौंनि आँनि मेरी[6] आँनि मेरे[7] ढिग वाकों तू,
काहू बरजौ - री बरजोरी मोहि मारि गौ॥*

दुतीय जँमक कौ उदाहरण जथा—

चलँन कहौं[8] मैं लाल, रावरे चलँन[9] की चाल[10],
आँच वा के आँचर[11] सों क्यों[12] हूँ न सुधारैगो[13]।
बारिजात नेंन बरिजातँन सहैगो निज,
बारि-जात-नेंनँन सों क्यों[14] हू न निबारैगी[15]॥
'दास' जू बसंत - सुधि अंगनाँ सँभारैगी तौ,
अंगना सँभारैगी[16] है अंगनास भारैगी।
करहति डारै सुधि देखि - देखि किंसुक की,
कर - हति डारै हियौ कर - हति डारैगी॥

पा०—१. (का०) (प्र०) (स० पु० प्र०) सुखमा निरखि लोचनँन। २. (वे०) नील जलजात जलजात न...। (सं० पु० प्र०) (र० सा०) नील जलजात नयौ जात नयौ हारिगौ। ३. (का०) जोल गाइ...। ४. (सं० पु० प्र०) लावै...। ५. (वे०) बास में विष बगारिगौ। ६. (प्र०) मेरौ...। ७. (का०) (प्र०) मेरी...। (वे०) मरो...। ८. (का०) (वे०) (प्र०) (स० पु० प्र०) कहूँ...। ९. (का०) (प्र०) चले...। १०. (सं० पु० प्र०) चलन। ११. (का०) (प्र०) (सं० पु० प्र०) अंचल...। १२. (का०) (प्र०) के हूँ...। १३. (सं० पु० प्र०) बार जातना...। १४. (का०) (वें०) (प्र०) के हूँ...। १५. (का०) निहारैगी। १६. (वे०) सँभारै है है अंगन सँभारैगी।

* रस-सारांस (भि० दा०) पृ० २१।

तृतीय जँमक कौ उदाहरन जथा—

छिपति[1] छिपाई-री छिपाई-गँन सोर तू, छिपाई
क्यों[2] सहेली ह्याँ छिपाई ज्यों दगति है।
सुखद निकेत की या केतकी लखे तें पीर,
केत की हिए में पीर[3] केतकी जगति है॥
लखिकें ससंक होति[4] निपटै ससंक 'दास',
संकर में साबकास संकर भगति है।
सरसी-सुमँन-सेज सरसी सुहाई सरसीरुह-
बयारि सीरी सर - सो लगति है॥

चतुर्थ उदाहरन जँमक कौ जथा—

अरी, सीअरी हौंन कों, ठरी[5] कोठरी नाँहि।
जरी गूजरी जाति है, घरी द्वै[6] घरी माँहि॥

पाँचमों उदाहरन जँमक कौ जथा—

चैत सरबरी में चलौ[7], सरब[8] सरबरी स्यौंम।
सरब रीति है सरबरी, लखि परि है परनौंम॥

छठौ उदाहरन जँमक कौ जथा—

मुकत बिराजत नाक में, मिलि बेसर सुख-माँहिं।
मुकत[9] बिराजत नाक में, मिलिबे-सर-सुख माँहिं॥

अथ सिंघावलोकन-लच्छन जथा—

चरँन अंत और आदि के[10], जँमक कुंडलित होइ।
सिंघ-बिलोकनि' है[11] बहै, मुकतक-पद-ग्रस सोइ॥

वि०—"जहाँ पद का आदि और अंत चरण यमक-समान कुंडलित हो वहाँ "सिंहावलोकन" माना जायगा।"

संस्कृत-रीति ग्रंथों में इस 'सिंहावलोकन' को "मुक्त-पद-ग्राह्य-यमक" कहा गया है। अर्थात् जहाँ प्रथम चरण के अंत का शब्द दूसरे चरण के आदि में

पा०—१. (का०) (वें०) प्र०) छपती...। २. (वें०) (सं० पु० प्र०) छपाइ कें अकेली ह्याँ...। ३. (का०) (वें०) (प्र०) मीन...। (सं० पु० प्र०) पीर...। ४. (का०) (वें०) (प्र०) होती...। ५. (वें०) ढरी...। ६. (का०) (वें०) (प्र०) (सं० पु० प्र०) दू...। ७ (सं० पु० प्र०) चली...। ८. (वें०) नकै...। (सं० पु० प्र०) तकै...। ९. (सं० पु० प्र०) सरब रीति है सरबरी, लखि बेसरि सुखमाँहिं। १०. (वें०) पद...। ११. (वें०) है उहै...।

दूसरे चरण के अंत का शब्द तीसरे चरण के आदि में और तीसरे चरण के अंत का शब्द चौथे चरण के आदि में तथा चौथे चरण के अंत का शब्द प्रथम चरण के आदि में शृंखला-बद्ध रूप से हो वहाँ सिंहावलोकन रूप उपरोक्त अलंकार कहा जायगा। काव्य-प्रकाशकार इसे "आद्यंतिक" नामक यमकालंकार मानते हैं। वहाँ इसका उदाहरण निम्न प्रकार है—

"सरस्वति प्रसादं मे स्थितिं चित्तसरस्वति।
सरस्वति कुरु क्षेत्र कुरुक्षेत्र सरस्वति॥"

सिंहावलोकन का अर्थ है सिंह की भाँति देखना, क्योंकि सिंह जब चलता है तब आगे और पीछे देखता हुआ चलता है, इसी भाँति कवि जब अपनी कविता में कुछ शब्दों वा पद विशेषों का चरणों में उत्तरोत्तरादि करता है तब विज्ञ-जन उसे भी सिंहावलोकन कहते हैं। इस सिंहावलोकन से कवि का काव्य माधुर्य-गुण से अति अधिक सुंदर और श्रवण-सुखदायक हो जाता है।"

अस्य उदाहरन जथा--

सर सौं[1] बरसौ करै नीर अली, धँनु लींनें अँनंग पुरंदर सौं।
दर सौ चहुँ ओरँन ते चपला, करि जाति[2] कृपाँन के[3] औंफर सौं॥
झर[4] सोर सुनाइ हरै हियरा, जु किऐं घन अंबर-ढंबर सौं।
बरसौं ते बड़ी निसि बैरिनि बीतति[5] बासर भौ बिधि-बासर सौं॥

वि०—"दासजी का 'सिंहावलोकन रूप' यह उदाहरण कुछ उपयुक्त नहीं है, कारण—वह पद-भंगता से बनता है। अस्तु, सिंहावलोकन के दो उदाहरण नीचे और दिये जाते हैं। प्रथम उदाहरण है "श्री सोमनाथ कवि" का यथा—

"गाइ हौं मंगलचार घँने, सखि आवति-ही तँन-ताप बुझाइ हौं।
झाइ हौं पाँइ गुलाबँन सौं, कमखाब के पाँवरे पुंज बिछाइ हौं॥
छाइ हौं मंदिर बादला सौं 'ससिनाथ' जू फूलँन की झरलाइ हौं।
लाइ हौं सौतिन के उर-साल, जबै हँसि लाल कों कंठ लगाइ हौं॥

*

भाँवन-भेजि सखीं वा देस, बसें जा देस पिया मन-भाँवन।
भाँवन भोर या लूक लगी, तँन-बीचि लगी जियरा झरसाँवन॥

पा०—१. (सं०पु०प्र०) रस सौ बरसा करै नीर···। २. (का०) (वें०) (प्र०) जाति···। ३. (वें०) कौ···। ४. (वें०) (सं०पु०प्र०) झरसो रस नाइ हनें हियरा···। ५. (का०) (वें०) (सं०पु०प्र०) बीती तौ···।

सावँन में न भयौ "हँनुमंत" दोऊ मिलि झूलि मलारै गावँन ।
गावँन मोहि सुहात नहीं, बदरा बद-राह लगे जुरि धावँन ॥"

अथ अलंकारन के और भेद जथा—

ज्यों जीवात्मा में रहैं, धरँम सूरता आदि ।
त्यों रस-ही में होत गुँन, बरनें गँनें[१] सबादि ॥

*

रस-ही के उतकर्ष कों, अचल थिती, गुँन होइ ।
अंगी-धरँम सरूपता[२], अंग-धरँम नहिँ कोइ ॥

*

कहुँ लखि लघु[३] कादर कहैं, सूर बड़ौ लखि अंग ।
रसै लाज त्यों गुँन-बिनाँ, अरि सों सुभग[४] न संग ॥

*

अँनुप्रास-उपमादि जे, सबदारथलंकार[५] ।
ऊपर ते भूषित करें, जैसे तँन कों हार ॥

*

अलंकार-बिन रस-हु है, रसौ अलंकृत-छंडि ।
सुकबि बचँन-रचनाँन सों, देति दुहुँन कों मंडि ॥

वि०—"दासजी ने यहाँ पाँच दोहों में—गुण और अनुप्रासों को महत्ता बतलाते हुए बिना अलंकार के रस और रस के बिना अलंकार दोनों का उल्लेख करते हुए उनके उदाहरण भी दिये हैं, यथा—

अथ रस-बिना अलंकार कौ उदाहरन जथा—

चित्त चिहुँट्टत देखि कें, जुट्टत दारें-दार ।
छिँन-छिँन छुट्टत पट रुचिर, टुट्टत मोंतिँन[६] हार ॥

अस्य तिलक—

इहाँ पौरुषाबृत्ति रूप सों अनुप्रास-अलंकार है, रस नाहीं है ।

पुनः उदाहरन जथा—

चोंच रही गहि सारसी, सारस-हींन मृनाल ।
प्राँन जात जँनु द्वार में, दियौ अरगला-हाल ॥

।पा०—१. (वें०) गुनें । २. (सं० पु० प्र०) सु सूरता...। ३. (सं० पु० प्र०) कहुँ लहु लखि...। ४. (सं० पु० प्र०) सुभ गुन संग...। ५. (का०) (वें०) (प्र०) सब्दार्थालंकार । ६. (का०) (वें०) (सं० पु० प्र०) मोतिय... ।

अस्य तिलक—

इहाँ उत्प्रेच्छा-अलंकार है, रस नाहीं है।

फेरि उदाहरन जथा—

झारि डारि[1] बँनसार इत कहा कँमल कौ काँम।
अरी, 'दूरि कर हार[2]' यों-बकति रहति नित बाँम॥

अस्य तिलक—

इहाँ रस (शृंगार) है, अलंकार नाहीं।

"इति श्री सकलकलाधरकलाधरबंसावतंस श्री मन्महाराज-कुँमार श्री बाबू हिंदूपति बिरचिते काव्य-निरनए—गुँननिरनयादि-अलंकार बरनँनोनाम एकोनबिंसतितमोल्लासः।"

—०●—

पा०—१. (सं० पु० प्र०) झूरि...। २. (सं० पु० प्र०) हार...।

अथ बीसवाँ उल्लास

अथ स्लेस, बिरुद्धाभासादि अलंकार बरनन

श्लेष, बिरोधाभास[1] है, सब्द[2]-अलंकृत 'दास'।
मुद्रा औ बक्रोक्ति पुनि, पुनरुक्ती-बद[3] भास॥

*

इँन पाँचन-करि अर्थ कों[4], भूषँन कहै न कोइ।
जदपि अर्थ-भूषँन सकल, सब्द-सक्ति में[5] होइ॥

वि०—"दासजी ने इस बीसवें उल्लास में "श्लेष, विरुद्धाभास, मुद्रा, वक्रोक्ति और पुनरुक्तवदाभास" का वर्णन किया है। साथ-ही आपका यहाँ कहना है कि इन श्लेषादि पाँचों में अर्थ की विशिष्टता होते हुए भी इन्हें कोई भूषण (अलंकार) नहीं कहता, यद्यपि शब्द-शक्ति में अर्थ की विशेषता रूप भूषण होना अनिवार्य है।

संस्कृत-अलंकार-साहित्य में "विरोधाभास" और "मुद्रा" अर्थालंकार और श्लेष, पुनरुक्तवदाभास तथा वक्रोक्ति शब्दालंकार की गणना में रखे गये हैं। श्लेष के संबंध में उभयात्मक (शब्दार्थालंकार) मत का उल्लेख भी मिलता है। अर्थात्, कोई इसे शब्दालंकार और कोई अर्थालंकार कहते हैं। आचार्य रुय्यक के अनुसार श्लेष दो रूपों—"सभंग और अभंग" में विभक्त होकर प्रथम रूप (सभंग) शब्दालंकार है और द्वितीय रूप (अभंग) अर्थालंकार है। क्योंकि सभंग-श्लेष में "जतुकाष्ठ-न्यायानुसार (लाख, लकड़ी से भिन्न होते हुए भी उसमें चिपकी रहने कारण उससे पृथक् नहीं मानी जाती) दूसरा पद वा शब्द भिन्न (अलग) होने पर भी एक पद वा शब्द में चिपटा रहता है, इसलिये वह शब्दालंकार है। अभंग-श्लेष – एक वृंत फल-द्वयं (एक गुच्छे में दो फल) के न्यायानुसार एक-ही पद वा शब्द में दो अर्थ लगे रहते हैं, इसलिये वह अर्थालंकार मानना चाहिये। श्री उद्भट दोनों सभंग और अभंग श्लेषों को शब्द-श्लेष और अर्थ-श्लेष रूप देकर इन्हें अर्थालंकार-ही मानते हैं। इसी

पा०—१. (स०पु०प्र०) विरुधा भास…। २. (का०) (वें०) (प्र०) सब्दालंकार…। ३. (सं०पु०प्र०) पुनरुक्तावदभास। ४. (का०) (वे०) (प्र०) इन पाँचहु कौ अर्थ सों,…। (सं०पु०प्र०) इन पाँचौंन के अर्थ कों,…। ५. (वें०) मय…।

प्रकार आचार्य श्री मम्मट अपने "काव्य-प्रकाश" में इस उभयात्मक (सभंग-अभंग) श्लेष को शब्दालंकार-ही मानते हैं। वहाँ आपका कहना है कि "गुण, दोष और अलंकारों का शब्द और अर्थ-गत विभाग" अन्वय और व्यतिरेक पर निर्भर है, इसलिये अभंग श्लेष जहाँ अर्थाश्रित होगा वहाँ वह अर्थालंकार की गणना में जायगा और जहाँ वह शब्दाश्रित होगा, वहाँ वह शब्दालंकार की श्रेणी में माना जायगा।

अलंकार प्रायः दो भागों (शब्दालंकार और अर्थालंकार) में विभक्त माने जाते हैं। जो शब्द को चमत्कृत करते हैं वे शब्दालंकार (अनुप्रासादि) और जो अर्थ को चमत्कृत करते हैं वे अर्थालंकार कहे जाते हैं। इनका एक तीसरा वर्ग "उभयालंकार (शब्द और अर्थ दोनों के आश्रय में रहकर उन्हें चमत्कृत करनेवाले) भी माना जाता है। अस्तु, इन तीनों प्रकार के अलंकारों का विभाजन जैसा पूर्व में कहा गया है—अन्वय और व्यतिरेक पर निर्भर है। अन्वय—'जिसके होने पर जिसकी स्थिति रहे और व्यतिरेक—जिसके न होने पर जिसकी स्थिति न रहेने को कहते हैं। अर्थात् जो अलंकार किसी शब्द-विशेष की स्थिति रहने पर-ही रहता है, उसके स्थान पर उसी अर्थवाला दूसरा शब्द रखने पर नहीं रहता वह "शब्दालंकार" कहलाता है और जो अलंकार शब्दाश्रित नहीं रहता—जिन शब्दों के प्रयोग पर किसी अलंकार की स्थिति रहती हो उन शब्दों के स्थान पर वैसे-ही अर्थ वाले दूसरे शब्दों का व्यवहार करने पर भी उसी अलंकार की स्थिति रह सकती है तो वह "अर्थालंकार" कहा-सुना जायगा।

आचार्य वामन ने गुणों को-ही शब्द और अर्थ में विभक्त कर श्लेष को अर्थ-गुण रूप मानते हुए—"घटना—श्लेषः" कहा है। यह श्लेष रूप घटना—"क्रम, कौटिल्य, अनुल्वणत्व और उपपत्ति के योग से बनती है और यही श्लेष कहलाती है। यहाँ क्रम—अनेक क्रियाओं की परंपरा, उसके भीतर अनुस्यूत विदग्ध-चेष्टित 'कौटिल्य', प्रसिद्ध वर्णन शैली—अनुल्वणत्व और युक्ति-विन्यास उपपत्ति कही गयी है।

साहित्य-दर्पण के रचयिता विश्वनाथ चक्रवर्त्ती भी श्लेष को उभयालंकार—अर्थात्, शब्द और अर्थालंकार मानते हैं।

ब्रजभाषा में श्लेष, कवि चिंतामणि के अनुसार शब्दालंकार और भाषा-भूषण (यशवंतसिंह) के अनुसार सर्वत्र अर्थालंकार ही माना गया है।

श्लेष का विषय अति व्यापक है, क्योंकि उसकी स्थिति अनेक अलंकारों में रहती है, साथ ही इसका विषय अति महत्त्वपूर्ण होते हुए भी बड़ा विवाद-

ग्रस्त है। संस्कृत-ग्रंथों में तो इसका विवेचन है, पर ब्रजभाषा में उसके दर्शन नहीं होते। अतएव संस्कृत आचार्यों का अभिमत है कि "जहाँ श्लेष रहता है वहाँ अन्य अलंकार भी रहते हैं, क्योंकि उसका शुद्ध उदाहरण नहीं बन सकता। वह (श्लेष) तो सभी अलंकारों का शोभा कारक है, यथा—

"श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्रायः वक्रोक्तिषु श्रियम् ।"

—काव्यादर्श, २, ३६३

और यदि सर्वत्र अन्यान्य अलंकार स्वीकार कर लिये जाँय तो श्लेष नाम से कोई अलंकार नहीं हो सकता, इसलिये जहाँ श्लेष के साथ अन्य अलंकार हों वहाँ उन (अन्य अलंकारों) का आभास मात्र समझ कर "निरवकाशोविधिरपपवाद" (जिस वस्तु की स्थिति के लिये किसी विशेष स्थान के अतरिक्त अन्य-दूसरा स्थान नहीं होता, तब वह वस्तु उस दूसरी वस्तु को जिसके लिये दूसरा स्थान हो, उस स्थान से हटा कर वहाँ स्वयं प्रधानता कर लेने) के न्यायानुसार अन्य अलंकार का —जिसकी स्थिति श्लेष के बिना भी हो सकती है, बाधक मान श्लेष को प्रधानता दी जाती है और इस प्रकार श्लेष स्वतंत्र अलंकार कहा जा सकता है।

आचार्य मम्मट, शुद्ध श्लेष और अन्य अलंकारों से मिश्रित श्लेष भी मानते हैं वे कहते हैं—जहाँ श्लेष के साथ अन्य अलंकार संमलित रहता है, वहाँ उन दोनों में जो प्रधान हो उसे मानना चाहिये। श्रीमम्मट के इस अभिमत को उनके परवर्त्ती आचार्य 'हेमचन्द्र' और विश्वनाथ चक्रवर्त्ती ने भी माना है। यही नहीं, वहाँ (संस्कृत-साहित्य में) श्लेष और ध्वनि का प्रथक्करण बतलाते हुए कहा गया है कि "जिस प्रकार श्लेष का अन्य अलंकारों के साथ संबंध है, उसी प्रकार 'ध्वनि-काव्य' के साथ भी उस (श्लेष) का गहरा सबंध है, क्योंकि श्लेषालंकार में श्लिष्ट शब्दों द्वारा जितने भी अर्थ माने जा सकते हैं, वे सब अभिधा-द्वारा-ही वाच्यार्थ होते हैं। इस कथन के अपवाद रूप श्लेषालंकार के लक्षण में इन आचार्यों ने "अभिधान" पद का प्रयोग किया है, अर्थात् श्लिष्ट-शब्दों से अनेक अर्थों का 'अभिधान' (कथन) किये जाने को श्लेषालंकार माना है। अस्तु, अलंकार रूप श्लेष में एक से अधिक सभी अर्थ अभिधा-शक्ति के अभिधेय वाच्यार्थ होने के कारण एक-ही साथ बोध होते हैं। ध्वनि में ऐसा नहीं होता। वहाँ अभिधा-द्वारा एक वाच्यार्थ का बोध हो जाने पर प्रकरण—आदि के कारण उस (अभिधा) की शक्ति रुक जाती है, वह दूसरे अर्थ का बोध नहीं करा सकती, अपितु दूसरा अर्थ वहाँ (ध्वनि में) व्यंग्यार्थ रूप में ध्वनित होता है, इत्यादि.........।

विरोधाभास वा विरोध को संस्कृत-साहित्याचार्यों ने 'विरोध' वा अतिशय-वर्ग मूलक अलंकार मान अर्थालंकारों में वर्णन किया है। दासजी ने इसे शब्दालंकार माना है, क्यों? इसका कारण नहीं दिया है।

मुद्रा भी संस्कृत-अलंकार ग्रंथों में अर्थालंकार-ही माना गया है। इसके सर्वप्रथम-कर्त्ता "कुवलयानंदकार" अप्पय दीक्षित हैं। अस्तु, आपसे पूर्व आचार्यों ने जहाँ अलंकारों का वर्गीकरण किया है, वहाँ इसका नामोल्लेख नहीं मिलता। वाद के आचार्यों ने इसे "गूढार्थप्रतीति" मूलक वर्ग में रखा है।

वक्रोक्ति के आविष्कर्त्ता आचार्य वामन हैं और "पुनरुक्तवदाभास" के उद्भटाचार्य। अस्तु, "वक्रोक्ति" 'रुय्यक' और उनके शिष्य 'मंखक' के अनुसार गूढार्थप्रतीति मूलक वर्ग का अर्थालंकार-ही कहा गया है। पुनरुक्तवदाभास को सभी (संस्कृत तथा ब्रजभाषा) आचार्यों ने शब्दालंकार ही माना है। ब्रजभाषा में—विरोधाभास, मुद्रा और वक्रोक्ति अर्थालंकार कहे-सुने गये हैं।"

प्रथम स्लेसालंकार लच्छन जथा--

सब्द उभै-हू सक्ति ते, स्लेस[१]-अलंकृत मॉन।
अँनेकार्थ-बल इक-दुतिय, तात्पर्ज-बल जाँन॥

*

दोइ, तीन कै भाँति बहु, जहाँ प्रकासित अर्थ।
सो 'स्लेसालंकार' है, बरनत बुद्धि-समर्थ॥

वि०—"जहाँ एक-ही श्लेष-अलंकृत शब्द के उभय-शक्ति से तात्पर्य-अनुसार अनेक अर्थ निकलते हों, वहाँ बुद्धिवान् जन 'श्लेषालंकार' मानते हैं। यह श्लेषालंकार शब्द के दो, तीन वा अनेक अर्थ प्रकाशित करने पर—"द्वैथिक, त्र्यर्थिक और चतुःअर्थक रूप तीन प्रकार का होता है, ऐसा दासजी का मत है।

श्लेषालंकार पर पूर्व में काफी लिखा जा चुका है, अस्तु, "जहाँ एक-ही शब्द के कई अर्थ होते हों वहाँ इस अलंकार का होना सर्व संमति युक्त है, क्योंकि श्लेष का अर्थ है-चिपका हुआ। जहाँ एक शब्द में एक से विशेष अर्थ चिपके हों वहाँ यह अलंकार माना जायगा।

दासजी ने श्लेष के ऊपर लिखे-अनुसार "द्वैथिक", त्र्यर्थिक, चतुः अर्थक" रूप तीनों भेदों का उल्लेख किया और इन तीनों के उदाहरण भी

पा०—१. (का०) (वे०) (प्र०) (सं० पु० प्र०) स्लेषालँकृत...।

दिये हैं, पर संस्कृताचार्यों ने श्लेष के—प्रथम दो भेद—"सभंग, अभग, पुनः इन दोनों के—प्रकृतमात्र-आश्रित, अप्रकृतमात्र-आश्रित, प्रकृताप्रकृत-उभयाश्रित" रूप तीन भेद और किये हैं। इसके बाद प्रकृत और अप्रकृत-मात्र-आश्रित के दो भेद क्रमशः "विशेष्य-श्लिष्ट" तथा "विशेष्य-अश्लिष्ट", मानते हुए, 'प्रकृताप्रकृत'-उभयाश्रित का एक भेद 'विशेषणमात्र श्लिष्ट' और किया गया है।

श्रीवामनाचार्य श्लेष के प्रति—"**शूद्रकादिरचितेषु प्रबंधेष्वस्य भूयान् प्रपंचो दृश्यते** (शूद्रक-आदि रचित प्रबंधों में इस (श्लेष) का बहुत विस्तार देखा जाता है) कह कर इसके विशेष भेदों की ओर लक्ष्य नहीं किया है, पर आपके बाद श्रीमम्मट ने 'काव्य-प्रकाश' में श्लेष को—

"**वाच्यभेदेन भिन्ना यत् युगपद्भाषणस्पृशः।**
श्लिष्यंति शब्दाः श्लेषोऽसावक्षरादिभिरष्टधाः॥"—९,८४।

अर्थात् जहाँ एक-ही उच्चारण का विषय होकर जो शब्द वाच्यार्थ-भेद के कारण भिन्न-भिन्न होकर भी श्लिष्ट होते हैं, वहाँ श्लेषालंकार होता है और वह अक्षरादि भेद के कारण आठ प्रकार का है। श्लेष के ये आठ भेद—वर्ण, पद, लिंग, भाषा, प्रकृति, प्रत्यय, विभक्ति और वचन" से होते हैं। उसके बाद आपने श्लेष को अभंग-सभंग रूप से भी माना है। साहित्य-दर्पणकार भी श्लेष के श्रीमम्मट-वचनात् प्रथम आठ भेद और फिर दो सभंग-अभंग भेद मानते हैं।

ब्रजभाषा-साहित्य में इस श्लेष के सभंग-अभंग भेद तो मिलते ही है, साथ-ही वहाँ इनके अतिरिक्त—"प्रकृत, अप्रकृत, प्रकृताप्रकृत" अथवा वर्ण्य, 'अवर्ण्य' और 'वर्ण्यावर्ण्य' तीन भेदों का उल्लेख भी मिलता है, इत्यादि······।"

प्रथम द्वि-अर्थक स्लेस कौ उदाहरन जथा—

गजराज राजै, बरबाँहिनो[1] की छबि छाजै,
सँमरथ[2] बैस सहसँन मँन-माँनी है।
आयुस कों जोहैं आगें लीनें गुरु-जँन-गँन,
बस में करत जो सुदेस रजधाँनी है॥
महा-महा जँन धँन-लै-लै मिलें सँम-धिँन,
पदमन[3] लेखें 'दास' बास यों बसाँनी है।

पा०—१. (वें०) (प्र०) (सं०पु०प्र०) बर बाँहन···। २. (प्र०) सरथ सुबह सहसन···। (सं०पु०प्र०) समरथ-साथ-सुबह सहसन···। ३. (सं०पु०प्र०) जनपद···।

दरपँन देखै सुबरँन-रूप-भरी, बार-
बनिता बखाँनी हैं कै रैनाँ सुलताँनी है ॥

दुतिय तृ-अर्थक स्लेस कौ उदाहरन जथा—

पाँनिप के आगर, सराहैं सब नागर,
कहत 'दास' कोस ते लख्यौ प्रकासमाँन में ।
रज के सँजोग ते अँमल होत जब-तब,
हरि-हितकारी बास जाहर जहाँन में ॥
श्री कौ धाँम सौहजें करत मँन काँम थकै,
बरनत बाँनो जा दलँन के बिधाँन में ।
एतौ गुँन देख्यौ राँम साहिब सुजाँन में,
कै[1] बारिज-बिहाँन में, कै[2] कीरत[3] कृपाँन में ॥*

तृतीय चतुर्थ-अर्थक स्लेस कौ उदाहरन जथा—

छाया सों रलित परभृत द्यौ सु दरसँन,
बाल-रूप-दुति सु परब-गँन बंद है ।
दिँन[4] कों उदित छँन-दाँन में बिलोकियतु,
हरि-महातँम देत आँनद कौ[5] कंद है ॥
भव-आभरँन अरजुन सों[6] मिलाप कर,
माँनों[7] कुबलै कौ हरँन दुख-दंद है ।
एतौ गुँनबारौ 'दास' रबि है, कि चंद है,
कै देबी कौ मृगेंद्र है, कि जसुमति-नंद है ॥

अथ स्लेस की संदेहालंकार ते प्रथकता बरनन जथा—

'संदेहालंकार' इत, भूलि न आँनों चित्त ।
कह्यौ स्लेस दृढ करँन कों, नहिं समता-थल मित्त ॥

वि०—"दासजी कृत श्लेष के तीनों उदाहरण अपने-अपने शीर्षकों में स्पष्ट हैं, साथ-ही दूसरे और तीसरे उदाहरणों के अंतिम चरणों में 'कि, वा 'कै' जो, अथवा अर्थ के द्योतक हैं, उनसे उक्त छंदों—उदाहरणों में संदेहा-

पा०—१-२. (का०) (वें०) (प्र०) (सू० स०) कि, कि, । ३. (वें०) कीमत…। ४. (वें०) जिनका…। ५. (का०) (वें०) आनंद-निकंद है । ६. (सं०पु०प्र०) कौ…। ७ (का०) (वें०) (प्र०) जानों…।

* सू० स० (ला० भ०) पृ०—४०१ ।

लंकार न मान लिया जाय, अपितु श्लेषार्थ को दृढ करने के लिये-ही उन्होंने "कि, कै" का प्रयोग किया है, यह वहाँ मानना चाहिये।

इस 'किं' वा 'कै' प्रयुक्त 'मतिराम कवि' कृत श्लेप का निम्न-लिखित उदाहरण भी सुंदर है—स्तुत्य है, यथा—

> "लखमँन-संग लिऐं जोबन बिहार कियें,
> सीत हिऐं बसै कहौ तासों अभिरांम कों।
> नव दल सोभा जाकी बिकसै सुमित्रा-लखि,
> कोंसलै बसत हिय कोऊ धाँम-ठाँम कों॥
> 'कबि मतिराँम' सोभा देखिऐ अधिक नित,
> सरस निधाँन कबि-कोबिद के काँम कों॥
> कीनों हैं कबित्त एक तामरस-ही कौ यातें,
> राँम कों कहत "कै" कहत कोऊ बाँम कों॥

श्री मतिराम कृत 'ललित-ललाम' अलंकार ग्रंथ में—प्रकृत अर्थात् द्वैयिक श्लेप का उदाहरण भी स्तुत्य है, यथा—

> "ललित राग राजत हिऐं, नायक-जोति बिसाल।
> 'बाल तिहारे कुचँन-बिच, लसत अँमोलक-लाल॥"

श्लेप से सने शब्दों का उर्दू कवियों ने भी प्रयोग किया है, और खूब किया है। एक शेर मुलाहिज़ा फ़रमाएँ, जैसे—

> "बातों-बातों में किसी ने कह दिया मुझ से 'अज़ीज़'।
> जिंदगी की मुश्किलें दमभर में आसाँ हो गईं॥"

ब्रजभाषा में जो बात लाल ने पैदा की है, वही यहाँ "अज़ीज़ अल्फ़ाज़ पैदा कर रहा है, जो देखते-ही बनता है—कहते-सुनते नहीं।"

अथ बिरोधाभास लच्छन जथा—

> **परें बिरोधी[1] सब्द-गँन, अर्थ सकल अबिरुद्ध।**
> **कहैं बिरोधभास[2] तिहिँ, 'दास' जिन्हैं मति-सुद्ध॥**

वि०—"जहाँ संपूर्ण अविरुद्ध-अर्थवाले विरोधी शब्दों का समूह हो, वहाँ दासजी के अनुसार शुद्ध मतिवाले 'विरोधाभास'-अलंकार कहते हैं।

दासजी का यह 'विरोधाभास' का लक्षण अन्य आचार्य-कृत लक्षणानुसार कुछ अटपटा-सा लगता है। संस्कृत-साहित्य में "विरोध" रूप 'विरोधाभास"

पा०—१. (का०) (वें०) बिरुद्दी···। २. (का०) (वें०) (सं०पु०प्र०) बिरुद्धाभास···।

.नाम का अलंकार आचार्य भट्टि से लेकर मम्मट और रुय्यक तक सबने माना है। वहाँ इसका लक्षण--"वस्तुतः विरोध न होने पर भी विरोध के आभास रूप वर्णन को कहा गया है। अर्थात्, जहाँ विरोध-सा भासित हो, पर वास्तविक विरोध न हो, वहाँ यह अलंकार मानना चाहिये, जैसा श्री वामन कहते हैं—

विरुद्धाभासत्वं विरोधः। ४, ३, १२।

आपके बाद अन्य आचार्यों ने इसी सूत्र को पकड़ कर "विरोध" या "विरोधाभास" का लक्षण निम्न प्रकार से किया है,—

"विरोधः सोऽविरोधेऽपि विरुद्धत्वेन यद्वचः।"

—काव्य-प्रकाश, १०,१६६

अथवा—

"विरुद्धमेव भासेत विरोधोऽसौ...।"

—सा० द०, १०, ३५

अर्थात्, वस्तु स्थिति के अनुसार जिन दो वस्तुओं में परस्पर विरोध न हो, पर वे विरुद्ध वस्तुओं की भाँति वर्णन की जाँय, अथवा वस्तु की स्वाभाविक दशा के अनुसार जहाँ वस्तुओं में विरोध न भी हो, फिर भी परस्पर विरुद्ध-भाँति से उनका वर्णन या कथन किया जाय, वहाँ विरोधाभास अलंकार समझना चाहिये। साहित्य-दर्पण-रचयिता का अभिमत वामन के अनुसार ही है—पृथक् नहीं केवल कहने का ढंग प्रथक् है।

ब्रजभाषा-ग्रंथों में विरोध या विरोधाभास का लक्षण इस प्रकार किया गया है, जैसे—

"सो 'बिरोध', अबिरुद्ध में जहाँ बिरोध अभिधाँन। —चिंतामणि"
"भासै जबै बिरोध सौ, वहै 'बिरोधाभास। —यशवत सिंह"
"जहाँ बिरोध-सौ लगत है, होत न साँच बिरोध। —मतिराम"
"आभासै बिरोध तहँ बरनें 'बिरोधाभास ....। —दूलह"
"कहत 'बिरोधाभास" तहँ, झूठौ जहाँ बिरोध। —पद्माकर"

यहाँ भी केवल शब्द-छलना के सहारे वही श्री वामनाचार्य का "विरुद्धा-भासत्वं विरोध-" छा रहा है, अन्य कुछ नहीं। संस्कृत-अलंकार ग्रंथों में विरोधा-भास के दस भेद माने हैं, जिन्हे पूर्व में दासजी ने कहे हैं, किंतु इन दसों भेदों का विस्तार बाद के भाषा-क्षेत्र में आगे न बढ़ सका, एक-ही रूप में रह गया। 'दासजी ने अपने से प्रथम आचार्य केशव की भाँति "विरुद्ध" (विरोध) और "विरोधाभास" को (आचार्य केशव की भाँति) प्रथक्-प्रथक् अर्थालंकार, शब्दालंकार माना है।" इसलिये यहाँ एक-ही उदाहरण दिया है। अन्य—जाति, गुण,

क्रियादि के उदाहरण विरुद्ध-अलंकार के तत्वावधान में काव्य-निर्णय के १३वें उल्लास में दे चुके हैं।

अथ बिरोधाभास-उदाहरन जथा—

लेखी में, अलेखी में जु[1] नाहिं छबि ऐसी औ,
असँमसरी[2] सँमसरो दीबे[3] कों परें लिऐ।
खरी निखरी है अंग बनँक बँनक[4]-हूँ ते,
'दास' मृदु-हास बीच मेलिऐ चँमेलिऐ ॥
कीजै न बिचारु चारु रस में अरस जैसौ[5],
बेगि चलौ संग में न हेलिऐ-सहेलिऐ।
जग के भरँन आभरँन आप रूप अँनुरूप-
गँन तुम्हें आई केलिऐ-अकेलिऐ ॥

वि०—"दासजी कृत 'विरोध' या उसके 'आभास' का यह उदाहरण कुछ जचा नहीं, क्योंकि वह विशेष स्फुट नहीं है। विरोधाभास के दो उदाहरण—श्री कवि 'मतिराम' और 'रत्नाकर' (बा० जगन्नाथदास) जी के हमारी समझ से सुंदर हैं, प्रथम मतिराम यथा—

"मोर-पखा 'मतिराँम' किरीट में, कंठ-बनीं बँनमाल सुहाई।
मोंहँन की मुसकाँन मनोहर, कुंडल डोलँन में छबि-छाई॥
लोचँन लोल बिसाल बिलोकँन, को न बिलोकि भयौ बस माई।
वा मुख की मधुराई कहा कहों, मींठी लगै अँखियाँन लुनाई॥"

❀

"प्यार-पगे पिय प्यारे सों प्यारी, कहा इमि कीजतु मान-मरोर है।
है 'रतनाकर' पै निसि-बासर तो छबि-पाँनिप कों तरसो रहै॥
है मैंन-मोंहँन, मोह्यौ पै तो पर, है घँनस्याँम पै तेरौ तौ मोर है।
है जगनायक, चेरौ पै तेरौ है, है ब्रज-चंद पै तेरौ चकोर है॥"

अथवा—

"है पै नायक दच्छिन छैल, पै तें अँनुकूल करयौ चित-चोर है।
है अभिमाँनी आपने रूप कौ, दींन है तो सों रह्यौ निसि-भोर है॥

पा०—१. (का०) (वें०) (प्र०) में नहीं हैं छबि...। २. (वें०) प्रसमसरी...। (सं० पु० प्र०) समसरी...। ३. (वें०) देबे कों न फैलिऐ...। ४. (का०) (वें०) (प्र०) कैंनक...। ५. (का०) (वें०) (प्र०) ऐसी...। (सं० पु० प्र०) चारु करस में रस ऐसौ..।

है रँग-साँवरौ. गौर-रँग्यौ पुनि तेरे-ही प्रेम-पग्यौ झकझोर है।
है घँनस्याँम पै तेरौ पपीहरा, है ब्रज-चंद पै तेरौ चकोर है॥"

दासजी की अन्यत्र पीछे दी गयी दो रचनाएँ जो "विरुद्धालंकार" के उदाहरणरूप १३ वें उल्लास में दी गयी हैं उत्तम हैं, यथा—

"दरसावत थिर-दामिनी, केलि तरुन गति देत।
तिल प्रसून सुरभित करत, नूतँन-बिधि झलकेत॥

*

"प्रिया, फेरि कहु बैस-हो, करि बिब लोचँन लोल।
मोहिं निपट मींठे लगें, ए तेरे कटु बोल॥"

*

"आँखों-ही में रहे हो, दिल से नहीं गये हो।
हैरॉन हूँ य शोखी, आई तुम्हे कहाँ से॥"

—मीर

अथ मुद्रालंकार लच्छन जथा—

औरौ अर्थ कवित्त कौ, सब्दौछल ब्यौहार।
झलकै नाँम[1] कि नाँम-गुँन, 'मुद्रा'[2] कहत बिचार[3]॥

वि०—"जहाँ शब्द-छल के व्यवहार से कविता का अन्य अर्थ नाम से वा नाम के गुण से झलकता हो, वहाँ विचार कर 'मुद्रालंकार' दासजी ने कहा है।

मुद्रा का शब्दार्थ—"मुद्राप्रत्ययकारिणीनामानुसार—नामांकित मुहर वा चिन्ह विशेष होता है। अस्तु, जिस प्रकार नामांकित 'मुहर' वा कोई अन्य चिन्ह किसी व्यक्ति विशेष का संबंध सूचन करती है, उसी भाँति मुद्रालंकार-द्वारा भी प्रासंगिक वर्णन में सूचनीय अर्थ सूचित किया जाता है। अर्थात् जहाँ किसी पद या पदों से प्रस्तुत अर्थ के अतिरिक्त किसी दूसरे अर्थ का भी प्रकाश हो, वहाँ यह अलंकार कहा व माना जाता है। दासजी ने इस अलंकार के दो उदाहरण दिये हैं, जो अलंकार-उदाहरण-दृष्टि से अधिक स्फुट हैं।"

मुद्रालंकार कौ प्रथम उदाहरन जथा—

जब-ही ते 'दास' मेरी नजर परी है वौ,
तब-ही ते देखबे की भूँख सरसति है।

पा०—१. (प्र०) नामक नाम...। २. (का०) (वें०) और स मुद्रा चार...। ३. (प्र०) सुचारु।

हौंन लाग्यौ बाहर कलेस कौ कलाप उर-
अंतर कौ[1] ताप छिंन - छिंन-ही नसति है ॥
चल - दल पात[2] - सी[3] उदर पर राजी,
रोंमराजी की बँनक मेरे मँन में बसति है।
रसराज स्याही सों लिखो है नींकी भाँति, क्यों[4]हूँ
माँनों जंत्र-पाँति घँन[5]अच्छरी लसति है ॥

अस्य तिलक

घनाच्छरी (घन-अच्छरी) छंद कौ नाम है ।

मुद्रा कौ दूसरौ उदाहरन जथा—

'दास' अब को कहै बँनक लोल-नेंनँन की,
सारस, ममोला[6] बिंन-अंजन हराए-री ।
इन कौ तौ हास[7]वा के[8]अंग में अगिन-बास[9],
लिलहीं[10]जु सारो-सुवा[11]सिंधु बिसराए-री ॥
परे वे अचेत, हरें[12] वै चित[13]सकल चेत,
अलक भुजंगी डसे लोटँन-लुटाए-री ।
भारत अकर करतूतँन[14] निहारि लई,
ताते[15]घँनस्यॉम लाल तो ते बाज आए-री ॥

वि०—"दासजी कृत प्रथम उदाहरण में मुद्रांकित चिह्न रूप नायिका और घनाच्छरी छंद तथा द्वितीय उदाहरण में पक्षी-विशेषों का उल्लेख हुआ है, अतः मुद्रालंकार है ।

भारती-भूषण (केड़िया-कृत) में इस अलंकार का उदाहरण पं० अंबिकादत्तजी व्यास कृत बहुत सुंदर दिया गया है, यथा—

मेघ देस-देस नटखट आसा पूरि आए,
कान्हर लै गूजरी हिंडोरे छबि-छाकी है ।

पा०—१. (वें०) (सं० पु० प्र०) की...। २. (का०) (वें०) पान...। ३. (वें०) (सं० पु० प्र०) से...। ४. (का०) (वें०) (प्र०) काहू...। ५ (सं० पु० प्र०) घनाच्छरी...। ६. (का०) (सं० पु० प्र०) औ खंजन बिन...। (वे ०) सारस-खंजन बिन...। ७. (का०) (वें०) (सं० पु० प्र०) हासौ...। ८. (सं० पु० प्र०) वाकौ...। ९. (का०) (वें०) (सं० पु० प्र०) बासौ...। १०. (का०) लाल-ही...। ११. (का०) सुक...। (वें०) (प्र०) सुख...। १२; (वें०) रहें...। १३. (का०) वै चित चेत सकल, अलक...। (वें०) वै सकल चित चित्त...। १४. (सं० पु० प्र०) करतूत जिन...। १५. (का०) (वें०) (प्र०) यातें...।

दीप-दीप भैरव भए हैं नारि-बृंदैन-सों,
ललित सुहाई लीला सारँग-छटा की है ॥
स्यौंमल तमाल-कोस-कोस लों कँमोद कीन्हों,
'अंबादत्त' सोंहनी त्यों छाया बदरा की है।
कोऊ सुघरई सों श्रीकृष्ण कों जु पाऊँ तब-
आली कल्यौंन करि बहार बरखा की है ॥"

यहाँ "राग-रागिनी-नाम'—वर्षा-ऋतु के प्रतिपादक होने से मुद्रालंकार अति सुंदर बन पड़ा है।"

अथ वक्रोक्ति लच्छन जथा—

व्यर्थ काकु ते अर्थ कौ, फेरि लगावै तर्क।
'बक्र-उक्ति'[1] तासों कहैं, जे[2] बुधि-अंबुज-अर्क ॥

वि—"जहाँ व्यर्थ 'काकु' और 'तर्क' से अर्थ लगाया वा समझा जाय, वहाँ विद्वज्जन "वक्रोक्ति" शब्दालंकार मानते हैं।

वक्रोक्ति का अर्थ—'टेढ़ी-उक्ति" है। अतएव इस अलंकार में उक्ति की टेढ़ाई समझी वा दिखलाई जाती है। अर्थात् यहाँ किसी के कहे हुए वाक्य का अन्य (सुनने वाले के) द्वारा अन्यार्थ (दूसरा अर्थ) कल्पित किया जाता है। वक्रोक्ति में यों तो कहने वाला अनेकार्थवाची श्लिष्ट शब्दों का प्रयोग एक ही अर्थ को लेकर करता ही है, पर सुनने वाला उसका दूसरा अर्थ तात्पर्य के सहारे लगाता है। साथ-ही कभी—कभी अपनी बात कहने वाले के ढंग से वा स्वरों के प्रयोग से भी श्रोता उसका विपरीत अर्थ समझ लेता है। यह काकु-वक्रोक्ति कहलाती है। अस्तु, वक्रोक्ति के श्लेष और काकु से दो भेद हुए। यों तो संस्कृत-साहित्य में 'श्लेष' के सभंग और अभंग दो भेद और किये गये हैं, पर वे दोनों भेद दासजी ने नहीं माने हैं। शेष—श्लेष और काकु से संश्लिष्ट वक्रोक्ति के अतिरिक्त—शुद्ध वक्रोक्ति युक्त तीन ही भेद माने हैं और उनके उदाहरण भी दिये हैं।

एक बात और, वह यह कि कोई-कोई 'काकु वक्रोक्ति' को अर्थालंकार मानते हैं, पर यहाँ कंठ-ध्वनि से ही उसकी अलंकारता है और कंठ-ध्वनि (शब्द) श्रवण का विषय है, इसलिये यह शब्दालंकार ही है। साथ-ही यह किसी अन्य व्यक्ति के द्वारा कहे हुए वाक्य का अन्य व्यक्ति के द्वारा अन्यार्थ कल्पना किये

पा०—१. (रा० पु० प्र०) बक्रोक्ती...। २. (का०) (वें०) जो...

जाने पर—ही होता है। किंतु जहाँ अपनी-ही उक्ति में 'काकु' का प्रयोग किया जाय वहाँ "काक्वाक्षिप्त गुणीभूत व्यंग्य' कहा जायगा—अलंकार नहीं।"

प्रथम उदाहरन जथा—

आज तौ तरुनि, कोप-जुत अवलोकियतु,
रितु-रीति ह्वै[1] है 'दास' किसलै-निदाँन जू।
सुमँन नहीं तौ[2] यै ह्वै-है देखौ घँनस्याँम,
कैसी कही बात मंद-सीतल सुजाँन जू॥
सोंहैं करौ नैंन हँमें आँनि नहिं आवै[3] करि,
आँन की तौ[4] बूझौ आँन बिरही की आँन जू।
क्यों है दलगीर रहि गए कहुँ पीरे[5] पीरे,
एतौ[6] माँन - माँनएँ, जाँनें बागवाँन जू॥

दुतिय उदाहरन जथा—

कैसौ कहौ[7] कान्ह सो तौ हौं-ही खरौ एक अब,
सहसँन में जैसें एक राधा-रस भींजिऐ।
गहिऐ न कर, होत लाखँन कौ जाँन लाल,
चाहिऐ[8] तौ आपनों-हीं पदम[9]-उभै दीजिऐ॥
नील के बसँन क्यों बिगारत हौ वाहि[10] काज,
बिगरै तौ हँम पै बदल संख लीजिऐ।
देखतीं करोर बारी संगनी हमारी हैं सो,[11]
अरथी वारे हँम-संग संका कत[12] कीजिऐ॥

तीसरौ उदाहरन जथा—

लाल ए लोचँन काहे प्रिया हैं, दियौ[13] ह्वै है मोंहँन रंग मँजीठी।
मोते[14] उठी है जु बैठी अरीन की, सीठी क्यों बोलै, मलाई[15] लों मींठी॥

पा०—१. (वें०) दास ह्वैहै किसलै...। २. (वें०) नहीं होंई ह्वै क देखें घनस्याँम...। (सं० पु० प्र०) नहीं री तौ यह ह्वै हैं देखे घनस्याँम...। ३. (सं० पु० प्र०) नहिँ करि आवै...। ४. (वें०) आँन की बूझिय आँन...। ५. (प्र०) पीर एरी,...। (सं० पु० प्र०) ...दलगीर रहि खरौ एक अब सहस में...। ६. (वें०) एते...। ७. (वें०) कहैं...। ८. (वें०) (सं० पु० प्र०) वाहिऐ तौ आपनों पदम-हम...। ९. (प्र०) पद मोहि...। १०. (का०) (प्र०) वही...। (वें०) योंही...। (रा० पु० का०) वेही...। ११. (का०) हैं, अरथी वारे...। (वें०) अरभी वारे...। (प्र०) (सं० पु० प्र०) है, अरथी...। १२. (का०) (वें०) कंत...। १३. (का०) (प्र०) दिऐ...। १४. (वें०) मो तौ उठी है जु बैठे...। १५. (वें०) मिलाइ यों मींठी। (प्र०) मिलाइ ल्यों...। (शृं० नि०) क्यों बोली, मिठाई लों...।

चूक कहौ किमि चूकवि सो[१]- जिन्हैं लागी रहै उपदेस-बसीठी।
मूंठी सबै, जग[२]साँचे[३] लला, यै मूंठी तिहारे-ही[४] पाग[५] की चोठी ॥*

वि०—"यहाँ भी दासजी चूक गये, वक्रोक्ति के तीनों उदाहरण आप से ठीक नहीं बन पड़े हैं। साथ-ही यह छंद 'आपने' अपने 'शृंगार-निर्णय' रस-ग्रंथ में "गुरुमान" के उदाहरण में भी कुछ पाठ-भेद के साथ दिया है।

वक्रोक्ति के उदाहरण और खास कर चारों—प्रकार की वक्रोक्ति के उदाहरण ब्रजभाषा में कम ही मिलते हैं, क्योंकि यहाँ वक्रोक्ति शब्द-मूला है, अर्थ-मूला नहीं। फिर भी सुरति मिश्र-कृत एक उदाहरण और देखिये, यथा—

"खरी होहु बारी नेंक, कहा हमें खोटी देखी,
सुनों बेंन नेंक, सुतौ आँन ठाँ बजाइऐ।
दीजै हमें दाँन, सुतौ आज न परब कछू,
गोरस दै, सो रस हँमारें कहाँ पाइऐ॥
मही देहु हमें, सुतौ मही-पति-ही दै है कोऊ,
दही देहु, दही है तौ सीरौ कछु खाइऐ।
'सूरत' कहत ऐसें सुनि हँसि रीझे लाल,
दीन्हीं उर-माल सोभा कहाँ लगि गाइऐ॥"

यह घटना-चित्र 'ब्रज-दानी' के दान-माँगने के समय की है। अतएव प्रीतम के कहे हुए प्रतिवाक्यों को, जैसे—खरी, वेंन, दाँन, गोरस, मही, दही शब्दों का श्री प्रियाजी द्वारा अन्य अर्थ—सच्ची, वेणु, दान, गोरस (इंद्रिय-रस), मही, पृथ्वी, दही (जलना) मान उत्तर देना शोभा-सागर है।"

"जो आँखें हों तो चश्मेगौर से औराके-गुल देखो।
किसी के हुस्न की शरहें, लिखी हैं इन रिसालों में॥"

अथ पुनरुक्तवदाभास लच्छन जथा—

कहत लगै पुनरुक्त सौ, दै पुनरुक्त न होइ।
'पुनरुक्तवदभास[६]'तिहिं, कहत[७]सकल कबि सोइ॥

पा०—१. (शृं०नि०) हौ···। २. (का०) (प्र०) (शृं० नि०) तुम···। ३ (वें०) साँच ··। ४, (का०) सु०···। (वें०) तिहारि हू···। (प्र०) तिहारेउ···। (शृं०नि०) तुमारे हु···। ५. (वें०) पार···। ६. (का०) पुनरुक्तवदाभास···। (वें०) (प्र०) पुनरुक्तिवदाभास···। ७. (का०) (वें०) कहैं···।

* शृंगार-निर्णय (भि०दा०) पृ०—६२,१८५—गुरूमान-धीरादि···।

वि०—"जहाँ कहते समय पुनरुक्त-सा लगे, पर पुनरुक्त न हो वहाँ कवि लोग "पुनरुक्तवदाभास (पुनरुक्त + वत् + आभास) मानते हैं।"

संस्कृत-साहित्यकारों ने 'पुनरुक्तवदाभास' (विभिन्न आकारवाले शब्दों का वस्तुतः एक अर्थ न होने पर भी एक अर्थ जैसी प्रतीति) के— शब्दगत' और 'शब्दार्थ उभयगत' दो रूप मानते हुए पुनः शब्दगत के भंग और अभंग नाम तीन भेदों का उल्लेख किया है। पुनरुक्त एक काव्य-दोष है, पर एक अर्थ वाले दो शब्द भिन्न आकार के होते हुए भी यदि कहीं एक-ही अर्थ में प्रयुक्त हों तो दोष है, किंतु जब यह दोष साधारणतः देखने से तो प्रतीत हो, पर वास्तव में वह भिन्नार्थों में प्रयुक्त होने के कारण उपर्युक्त-दोष-संयुक्त न हो, तब यह अलंकार बनेगा।"

अस्य उदाहरन जथा—

अली, भँमर गुंजँन लगे, हौंन लग्यौ दल-पात।
जहँ-तहँ फूले बृच्छ-तरु, प्रिय पीतँम कित जात॥

वि०—"दासजी कृत यह उदाहरण सुंदर है। यहाँ --अली, भँमर, दल, पात, बृच्छ, तरु, प्रिय तथा पीतम भिन्नाकार होते हुए भी समानार्थी जैसे होने के कारण पुनरुक्त जैसे प्रतीति होते हैं, पर ऐसा न होकर वे अपने-अपने वास्तविक पृथक्-पृथक् अर्थों से सुशोभित हैं, इसलिये उक्त शब्दालंकार ही यहाँ कहा जायगा। पुनरुक्तवदाभास का निम्न-लिखित कवित्त भी सुंदर है, यथा—

"भृगु-लात पद हीय, पिय-बर राजत हैं,
मोरपंख पच्छ साजें मेरे मन भावै है।
राजै हार बँनमाल, आइ ते दिखाई देत,
'कासिराज' तँन-पर गोरज सुहावै है॥
हरे परे दोष साँझ-सँमे मैं बिहारी स्याँम,
ललित अरुँन अंग ताम्र कों लजावै है॥
दच्छिन हरित हरे रंग-संग बलदेव,
कुंजर मतंग-दंत कंत घरें आवै है॥"

एक बात और —जैसे 'दास जी के उपास्य ग्रंथ' काव्य-प्रकाश (संस्कृत) में दास जी मान्य इस उल्लास के "श्लेष, विरुद्धाभासादि में पहले वक्रोक्ति और बाद को श्लेष, पुनरुक्तवदाभास (९) नवें तथा विरोधाभास (विरुद्धाभास) का (१०) दसवें उल्लास में वहाँ उल्लेख किया गया है जहाँ काव्य के शब्दालंकारों का कथन है—वर्णन है। मुद्रा, वहाँ अप्राप्य है। अस्तु, उक्त अलंकारों का कथन और विवेचन करते हुए आचार्य श्री मम्मट ने प्रथम

श्लेष के स्थान पर वक्रोक्ति, पुनः श्लेषादि के स्वरूप, उनके भेद तथा परिभाषा विवेचन में काफी सूझ-बूझ का परिचय दिया है। यदि हम आपके विवेचनानुसार वक्रोक्ति को लें तो वहाँ कहना होगा कि आप-द्वारा किया गया उसका निरूपण विशद अभिप्राय से भरा समास रूप में बहुत सुंदर है, क्योंकि वक्रोक्ति का विवेचन आचार्य भामह-कुंतक-आदि के मतानुसार गूढ़-ही नहीं, अति-गूढ है, जिसे विस्तार के साथ समझना-बूझना काव्य-मर्मज्ञों के लिये अति आवश्यक है। आचार्य मम्मट ऐसा नहीं मानते, वे उसे शब्दालंकार की एक झलक जैसी मानकर उसके शब्द-विच्छेदानुसार, जैसे—वक्र-उक्ति, वा उक्ति-वक्रता को शब्दालंकारों की एक चारु-चपलता मात्र ही कथन करते हैं और इस प्रकार वक्रोक्ति को वे, जिसे भामह-आदि आचार्य ने काव्य की आत्मा कह गये थे उसकी पुष्टि न कर—सूक्ष्म संकेत से-ही सही, उसे शब्दालंकारों के सीमित क्षेत्र में रख स्थान-भ्रष्ट-सा कर दिया है।

आपका श्लेश-निरूपण भी कोई नया नहीं है, वह भी रुद्रट-जन्य परिभाषा का-ही रूपांतर मात्र है। यों तो रीति-काल के प्राचीन शास्त्र-ग्रंथों में 'श्लेष' सभंग-रूप से शब्दालंकारों में माना-ही गया है, फिर भी आचार्य रुद्रट ने कवियों को उसमें कविता करने का सुंदर आग्रह किया है। साथ-ही उद्‌भट के व्याख्याता 'प्रतिहारेंदुराज' ने श्लेष के प्रति अपना मत व्यक्त करते हुए कहा है—"श्लेष शब्द-शिलष्ट हो, वा अर्थ-शिलष्ट, है वह अर्थालंकार, क्योंकि इसमें उपमादि अलंकारों की सुंदरता को द्विगणित करने को यथेष्ट क्षमता है।

संस्कृत-साहित्य-शास्त्रज्ञात 'जनों की पुनरुक्तवदाभास' के प्रति यह मान्यता है कि सर्व प्रथम यह शब्दालंकार आचार्य श्री उदभट जन्य है और उसकी विशद परिभाषा बाद के ग्रंथ 'काव्यालंकार-सार-संग्रह' में की गयी है, यथा—

"पुनरुक्ताभासमभिन्नवस्त्विवोभासिभिन्नरूप पदं पदम्।" —१, १,

इस से स्पष्ट जाना जाता है कि पुनरुक्तवदाभास में विभिन्न रूप दो पदों की एक अर्थ की प्रतीति में ही इसकी रूप-रेखा निहित है। यद्यपि उद्‌भट ने उक्त सूक्ति में यह स्पष्ट नहीं किया कि यह अलंकार अर्थ का है, शब्द का है वा उभयात्मक, बाद में श्री मम्मट ने अपनी गूढ़ समीक्षा-द्वारा इसे अर्थालंकार तो नहीं शब्द और उभयालंकार माना है। यही फैसला उद्‌भट के व्याख्याकार श्री राजानक का भी है।"

"इति श्रीसकलकलाधरकलाधरबंसावतंस श्रीमन्महाराज कुँमार श्रीबाबूहिंदूपति बिरचिते 'काव्य-निरनए' स्लेसादिसब्दा-लंकार बरनन नाम बिसतिमोल्लासः ॥"

—००—

अथ इकईसवाँ उल्लास

चित्रालंकार बरनन जथा—

'दास' सुकबि-बाँनी थकें[1], चित्र-कबित्तँन माँहिं।
चमत्कार-हीनार्थ कौ, इहाँ दोष कछु नाहिं॥

*

'ब' 'व', 'ज' 'य', बरनँन[2] जाँनिऐ, चित्र-काव्य में एक।
अरध - चंद कौ जिन करौ, छूटें लगै बिबेक॥

*

प्रस्नोत्तर,-पाठांतरौ, पुँनि बाँनी कौ[3] चित्र।
चारि लेखनी-चित्र कौ,[4] चित्र-काव्य है मित्र॥

वि०—"दासजी ने इस उल्लास में चित्रालंकारों का विविध रूपों में वर्णन किया है। अस्तु, प्रथम आपका कहना है कि "चित्र-काव्य" में सुकवियों की वाणी भी थक जाती है। चमत्कार का अभाव एवं हीनार्थ-दोष यहाँ दोष नहीं रहते हैं......। साथ-ही चित्र-काव्य में 'ब' और 'व', 'ज' और 'य' समान माने जाते हैं तथा विंदु, अर्धचंद्र-विंदु का विचार भी नहीं होता इत्यादि...।

चित्रालंकार को संस्कृत-साहित्य में विशेष संमान नहीं दिया गया है। पंडित-राज जगन्नाथ भी इसके विरुद्ध हैं। वे कहते हैं—"इसे काव्य में स्थान देना ही अनुचित है।" वहाँ एक प्रश्न यह भी है कि यह अलंकार शब्दालंकार में नहीं मानना चाहिए। कारण भी दिये हैं, पर जहाँ अमान्यता के कारण दिये हैं, वहाँ मान्यता की भी गहरी प्रस्तावना दी है। वे कहते हैं कि इस अलंकार में अर्थगत कोई उक्ति-वैचित्र्य नहीं रहता, साथ-ही पूरे शब्दों में चमत्कार भी नहीं, इसलिये यह अर्थालंकार तो नहीं हो सकता.....? अपितु शब्दालंकार हो सकता है। अतः साहित्य-दर्पण (संस्कृत) में आचार्य विश्वनाथ चक्रवर्त्ती कहते हैं—"यद्यपि इस अलांकर के वर्ण उन-उन अलंकारों में लिखने के कारण ही चमत्कार पूर्ण होते हैं, फिर भी जो वर्ण श्रोत्राकाश के साथ संबंध होने के कारण—सुनाई देने पर चमत्कार पूर्ण ज्ञात होते हैं, उन आकाश-निष्ठ वर्णों के

पा०—१. (प्र०) (सं० पु० प्र०) कथै...। २. (वें०) ब व ज बर्न निज...। ३. (सं० पु० प्र०) के...। ४. (सं० पु० प्र०) लै...।

साथ ये आकार-निष्ठ वर्णों का औपचारिक (लाक्षणिक) अभेद मान लेने से यह शब्दालंकार मानना चाहिये.......।" अर्थात् लिखित अक्षरों को वास्तविक शब्द तो नहीं कह सकते, पर वे शब्दों के ही संकेत होने के कारण लक्षण-द्वारा उनमें गौण-रीति से वर्णादि शब्दों का प्रयोग करने पर उसे शब्दालंकार-ही मानना उचित है (सा० द०-"हिंदी विमला" टीका पृ० १०७)। अर्थात्, यहाँ वर्ण प्रथक्-प्रथक् अपने-अपने स्थान पर लिखे जाने के कारण चित्रण-चमत्कार तो उत्पन्न करते ही हैं, साथ-ही वे पूर्ण शब्दों के अंश विशेष भी हैं, इसलिये इनका अभेद ही माना जाता है।

ब्रजभाषा के आचार्यों ने भी इसे गोरख-धंधे के जैसा कष्टकर माना है, फिर भी इसका वहाँ वर्णन मिलता है और खूब मिलता है। महाकवि केशव ने और उनके अनुकरण पर काशिराज ने अपने-अपने ग्रंथ—'कवि-प्रिया' और 'चित्र-चंद्रिका' में इस अलंकार का विशद वर्णन किया है। कवि की निपुणता और मनोरंजकता तो इसके प्रत्येक भेद में दिखलायी पड़ती ही है, साथ-ही इस अलंकार के उदाहरण निर्मित करने में कुछ कठिनाइयाँ हैं और उन्हें सुबोध करने के सुझाव भी, जैसा कि दासजी ने कहा है—

"बव, जय बरनँन जाँनिऐं चित्रकाव्य में एक।
अरघ चंद कौ जिनि करौ, छूटें लगै बिबेक॥"

अर्थात् इस अलंकार में ब, व, ज, य, र, ल, ड, ल में कुछ भेद नहीं होता। अनुस्वार, अर्धानुस्वार, विसर्ग, ह्रस्व, दीर्घ होने न होने की कुछ बाधा नहीं आती और अंध, बधिरादि दोष तथा गणागण का भी विचार इस अलंकार में नहीं किया जाता।"

अथ चित्रालंकार-नामादि बरनन जथा—

**'प्रस्नोत्तर' चित्रित करें, सज्जँन सहित[१] उमंग।
द्वै बिधि 'अंतरलापिका', 'बहिरलापिका' संग॥**

*

**'गुप्तोत्तर' उर-आँन कें, 'ब्यस्त समस्तै' जाँन।
'एकानेकोत्तर' बहुरि, नाग-पास पैहचाँन॥**

*

**है क्रम 'ब्यस्त-समस्त' पुनि, कँमल-बंध-बत मित्र।
सुद्ध "गतागत' 'सृंखला', नवँम जाँनिऐं चित्र॥**

पा०—१, (का०) (वें०) (प्र०) सुमति...।

अगनित अंतरलापिका यों बरनत कबिराइ ।
बहिरलापिका जाँन उर[1], छंद बाहरें पाइ ॥

वि०—'दासजी ने चित्रालंकार रूप—अंतर्लापिका, बहिर्लापिका, गुप्तोत्तर, व्यस्त-समस्त, अनेकानेकोत्तर, क्रम व्यस्त-समस्त, कमल बद्ध, गतागत और सृंखलादि नौ प्रकार भेद मान पुनः 'अंतर' और बहिर्लापिका के अनेक भेदों का उल्लेख किया है तथा उदाहरण—गुप्तोत्तर, व्यस्तसमस्तोत्तर, एकानेकोत्तर (अनेक कों का एक उत्तर),नागपासोत्तर, क्रमव्यस्तसमस्तोत्तर,कमलबंध,शृंखलाबंध,चित्रोत्तर अंतर्लापिका, वहिर्लापिका, पाठांतर-चित्रोत्तर, लुप्तवर्ण, मध्यवर्ण-लुप्त, परिवर्तित वर्ण, निरोष्ठामत्त, अमत्त, निरोष्ठामत्त, अजिह्वावर्ण गत, वर्ण नियमित—एक, दो, तीन, चार, पाँच, छह और सात वर्ण नियमितों के उदाहरण, लेखनी-चित्र, खड्गबंध, कमलबंध, कंकनबंध, डमरूबंध, चंद्रबंध, चक्रबंध, धनुपबंध, हारबंध, मुरुजबंध, पर्वतबंध, छत्रबंध, वृत्तबंध, कपाटबंध, मंत्रगति-बंध, अश्वगतिबंध, सुमुखबंध, सर्वतोमुख, कामधेनु और चरण-गुप्तादि अनेक चित्रालंकार-भेदों का वर्णन किया है । 'दासजी ने ये सब भेद प्रश्नोत्तर चित्रालंकार के अभिन्न अंग मानकर प्रथम "गुप्तोत्तर" चित्रालंकार का वर्णन किया है ।

प्रथम गुप्तोत्तर लच्छन जथा—

बाच्य-अंतर[2] सब्दच्छलँन, उत्तर देइ दुराइ ।
'गुप्तोत्तर' ता सों कहैं, सकल सुँमति-सँमुदाइ ॥

वि०—"जहाँ वाच्यार्थ को छिपाकर शब्द-छल-द्वारा उसका गुप्त अन्यार्थ के सहारे उत्तर दिया जाय, वहाँ गुप्तोत्तर-अलंकार होता है ।

अस्य उदाहरन जथा—

सब तँन पिय बरन्यों अँमित, कहि-कहि उपमाँ-बेंन ।
सुंदरि भई सरोस क्यों, कहत कँमल-से नेंन ॥

अस्य तिलक

इहाँ नायिका ने "कँमल-से" सब्द ते "कँम+लसे" = थोरी सोभावारे अथवा 'कं=जल, मल-से=कीच से "जल की कीच के समान" अर्थ मान कें रोष कियौ, अर्थात् सरोस ह्वै गुप्त-उत्तर दियौ ।

पा०—१. (का०) (वें०) (प्र०) बहिरलाप जानों उतर...। २. (प्र०) वाच्यांतर...।

पुनः उदाहरन जथा—

सुत सपूत, संपत - भरी, अंग अरोग सुढ़ार।
रहै दुखित क्यों काँमिनी, "पिया[1] करै बहु प्यार ॥"

अस्य तिलक

इहाँ सखी के प्रस्न रूप "काँमिनी" इतनी-बात-होत-हू—सब सुख होत—हू दुखी क्यों रहै कौ उत्तर दूसरी "पिया करै बहु प्यार"=पिय अनेक-स्त्रिन सों प्यार करत है, यह गुप्त उत्तर दियौ।

व्यस्त समस्तोत्तर—लच्छन जथा—

द्वै, त्रि,[2] बरननँन काढ़ि पद, उत्तर[3] जाँनिय व्यस्त।
'व्यस्तसमस्तोत्तर' वही, पिछलौ उतर समस्त ॥

उदाहरन जथा—

कौंन दुखद, को हंस - सौ, को पंकज - आगार।
तरुँन-जँनन कौ मँन-हरँन को करि चित्त-बिचार ॥
कौंन धरैं है धरनि कौं, को गयंद — असवार।
कौंन भमाँनी[4] कौ जँनक, है—"परबत - सरदार ॥"

अस्य तिलक

इहाँ क्रम सों उत्तर—"पर, बत, सर, दार, परबत अरु परबत-सरदार=हिमांचल" कहि सब में व्यस्त उत्तर एक पद—"परबत-सरदार" सों दियौ, यातें समस्तोत्तरव्यस्त" उत्तर दियौ।

वि०—"दासजी ने यहाँ "समस्त-व्यस्त-उत्तर" रूप चित्रालंकार का वर्णन किया है, अर्थात् संपूर्ण छंद-प्रयुक्त प्रश्नों का उसी छंद के पाद-द्वय के द्वारा भंग-अभंग रूप से उत्तर प्रस्तुत किया है। जैसे इन दो दोहों में—"कौन दुखी, को हंस सौ, को पंकज-आगार, तरुन-जनों का मन हरने वाला कौन, धरनि (पृथ्वी) को कौन धरे है, हाथी का असवार कौन और भवानी (पार्वती) का जनक (पिता) कौन"। इन सात प्रश्नों का उत्तर दूसरे दोहे के अंतिम—चरण—"परबत-सरदार" को भिन्न-भिन्न कर और बाद में समस्त पद जैसे—पर, बत, सर, दार, परबत, परबत-सरदार से क्रमशः दिया है। यथा—कौन दुखी, 'पर'=शत्रु, हंस सा कौन, बत=बतक (पक्षी विशेष), पंकज (कमल) का

पा०—१. (का०) (वें०) पीउ...। २. (का०) त्रै...। (वें०) (प्र०) त्रय...। ३. (का०) उतर जानिए...। (वें०) उत्तर जानिऐं...। ४. (स० पु० प्र०) मृनाली...।

आगार (घर) कौंन 'सर'=सरोवर (तालाब), तरुण जनों का मन हरने वाला कौंन 'दार'=स्त्री (नव योवना), धरणी को कौंन धर रहा है—पर्वत,' हाथी पर सवार कौंन—'सरदार' (विशेष व्यक्ति) और भवानी (पार्वती) का जनक (पिता) कौंन —'परवत-सरदार'=हिमालय इत्यादि ।"

अथ एकानेकोत्तर लच्छन जथा—

बौहौत भाँति के प्रस्न कौ, उत्तर-'एक' बखाँन ।
'एक-अनेकोत्तर' वहीं, अनेकार्थ-बल जाँन[1] ॥

अस्य उदाहरन जथा—

बरा[2]-जरौ, घोरा-अरौ, पाँन-सरौ क्यों नारि[3] ।
हितू-फिरौ क्यों द्वार ते, "हुतो न फेरँन हारि" ॥

अस्य तिलक

"अर्थात् कोऊ फेरनवारौ नांहि हुतो, यै सब कौ उत्तर दियौ ।"

*वि*०—"यहाँ भी दासजी ने अनेक प्रश्नों—बड़ा क्यों जला, घोड़ा क्यों अड़ा, पान क्यों सड़ा और हितू (रिश्तेदार) द्वार से क्यों फिरा—आदि चारों प्रश्नों का स्त्री-द्वारा एक-ही उत्तर—कोई फेरने (उलटने-पलटने) वाला न था" से दिलवाया है, अस्तु "अनेक का एक उत्तर" स्वरूप यह चित्रालंकार है। वहिर्लापिका रूप ब्रज-साहित्य में यह सूक्ति इस प्रकार भी मिलती है, जैसे—

"पान सरै, घोड़ा अरै, बिद्या बीसर जाइ ।
अगरे में बाटी जरै, या कौ अर्थ बताइ ॥"

यहाँ भी दासजी जैसे चार प्रश्न हैं, पर उत्तर प्रस्तुत नहीं है, वह बाहर है, वह—'-गुरूजी फेरी नहीं" रूप में कहा जाता है। अतएव बात वही है, पर कहने का ढंग निराला है।"

कारौ कियौ बिसेस को, पावक कहा सभाग ।
का सो[4] रँग गौ भौंर-पद, पंडित कहैं-"पराग" ॥

अस्य तिलक

इहाँ पराग=पर+आग—सत्रु, ललाई औ कँमल—धूरि अर्थ करि तींनों प्रस्नँन कौ उत्तर दियौ ।

पा०—१. (का०) (वें०) (प्र०) माँन...। २, (का०) (वें०) (प्र०) बरौ जरौ, घोरौ अरौ...। ३, (वें०) (प्र०) वार...। ४. (का०) (वें०) (प्र०) काहे...।

पुनः उदाहरन जथा—

कैसी नृप - सेंनाँ भली, कैसो भली न नारि।
कैसौ[1] मग बिन-बारि कौ-"अति रजवतो" बिचारि॥

अस्य तिलक

इहाँ हू तीनों प्रस्नँन—"कैसी नृप-सेंनाँ भली (सुंदर), कोंन-सी नारि न भली (अच्छी नहीं), औ बिना-बारि (जल) कौ मग (मार्ग) कैसौ कौ उत्तर "अति रजबती" तें दियौ है। अर्थात् अति रजोगुन वारी नृप-सेंनाँ भली (सुंदर), अति रजवती (रजस्वला) स्त्री अच्छी नहिं और बिना बारि कौ मग कैसौ—"अति रजवतो"=(बहुत धूर बारौ)।

अथ नाग-फाँसोत्तर चित्रालंकार—

इक-इक अंतर तजि बरन, द्वै-द्वै बरन मिलाइ।
'नाग-फाँस'[2]-उत्तर वही[3], कुंडल सरस बनाइ॥

अस्य उदाहरन

कहा चंद, को[4] स्याँम, छत्रिन कौ गुँन कोंन कहि[5]।
कहा संवतै[6] नाँम, पारसिक—बासी कहैं॥
कहा रहै संसार, बाँहन कहा कुबेर कौ।
चाहैं कहा भुआर, 'दास' उतर दिय-"सरसजँन"॥

अस्य तिलक

"इहाँ एक - एक बरन "सरस-जँन" में ते छाँड़ि कें सब कौ उत्तर दियौ।"
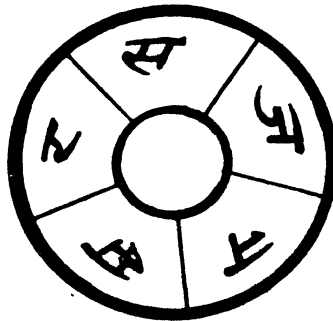
पा०—१. (का०) [वें०] [सं० पु० प्र०] कैसी मग बिन बारि की...। २, (का०) (वें०) (प्र०) नागपास...। ३. (का०) (वें०) यही...। (प्र०) यहै...। ४. (वें०) मैं...। (प्र०) नेहा चँद कौ स्याँम...। ५. (का०) कह...। ६. (का०) कह संवत कौ...।

वि०—"यहाँ दासजी ने "नाग-पास" चित्रालंकार-द्वारा "चंद क्या, श्याम, कौन, क्षत्रियों का गुण क्या, संबत को पारसी लोग क्या कहते हैं, संसार में क्या रह जाता है, कुवेर का वाहन क्या और राजा क्या चाहा करते हैं—इत्यादि प्रश्नों का उत्तर "नाग-पास" युक्त शब्दों में एक-एक वर्ण के अंतर से, अंत में संपूर्ण पद—"सरस जँन" से, जैसा ऊपर चित्र में दिया गया है—सस, रस, रज, सन, फिर उन्हें ही उलट कर जस, जन और फिर "सरस-जँन" द्वारा दिया गया है। जैसे चंद को क्या कहते हैं—सस (शशि), स्याँम (काला) कौन—'रस' (शृंगार-रस), क्षत्रियों का गुण क्या—'रज' (रजोगुण), फारस-वासी संबत को क्या कहते हैं—'सन', संसार में क्या रहता है—'जस,' कुवेर का वाहन कौन —'जन, राजा किसे चाहता है—"सरस-जँन" = सुंदर हृदय वाले नरों को।"

क्रँम समस्त-व्यस्त लच्छन जथा—

इक-इक बरँन बढ़ाइ[1] कें, क्रँम ते लेहु समस्त।
येहु 'प्रस्नोत्तर' जाँनिऐं, है[2] सँमस्त-क्रँम-व्यस्त॥

अस्य उदाहरन जथा—

कौंन[3] बिकल्पी बर्न, कहा बिचारत गँनक-गँन।
हरि है कें दुख-हर्न, काहि बचायौ ग्रसत-छँन॥
कै वा[4] प्रभु औतार, क्यों वारें राई-लबँन।
कौंन[5] सिद्धि-दावार, 'दास' कह्यौ-"बारँन-बदँन"॥

अस्य तिलक

इहाँ क्रँम सों—"बा, बार, बारँन, बार नव, बार न बद औरु बारँन-बदँन कहि एक ही पद सों समस्त के क्रँम सों उत्तर दिये।

वि०—"अर्थात् विकल्प करने वाला वर्ण कौन-सा–'वा', गणक (ज्योतिषी) गण (समूह) क्या विचारते हैं—बार (दिन), दुःख-हरण करने वाले हरि ने किसे ग्रसते हुए बचाया—'बारन' (हाथी) को, भगवान ने कितनी बार अवतार लिया—"बार नव" (नौ बार), राई–लवण (नोंन) क्यों उतारा जाता है—वारन-बद (दुःख हटाने के लिये) और सिद्धियों का देने वाला कौन—बारँन-बदँन = श्रीगणेश इत्यादि से दासजी ने सबके उत्तर दिये हैं।"

पा०—१, (का०) (वें०) (प्र०) बढ़ावते...। २. (का०) (वें०) (प्र०) सक्रम समस्त व्यस्त। ३. (का०) (प्र०) कवन...। ४. (का०) वौ...। ५. (का०) (वें०) (प्र०) कवन...।

अथ कँमल-बंध उत्तर लच्छन जथा—

अच्छर पढ़ौ समस्त कों, अंत-बर्न सों जोरि।
'कँमल-बंध' उत्तर वही,[1] ब्यस्त-समस्त बहोरि ॥

उदाहरन जथा—

कह कपीस सुभ-अंग, कहा उछरत बर-बागँन।
कहा निसाचर-भोग, माघ में कोंन[2] दाँन भँन ॥
कहा सिंधु में भरौ, सेतु किँन कियौ को दुत्तिय।
सरसिज-स'कट किते[3], कहा लखि घृनाँ होत हिय ॥
किहिँ 'दास' हलायुध हाथ-धरि, मारयौ महा प्रलंब-खल।
क्यों रहत सुचित सोवत[4] सदाँ, "गँनपति-जँननी-नाम-बल ॥"

अस्य तिलक

इहाँ "गँनपति-जँननी-नाम-बल" ते—'गल, नल, पल, तिल, जल, नलनील, नाल, मल, बल औरु गँनपति-जनँनी-नाम-बल" सों सबके उत्तर दिये। यथा—
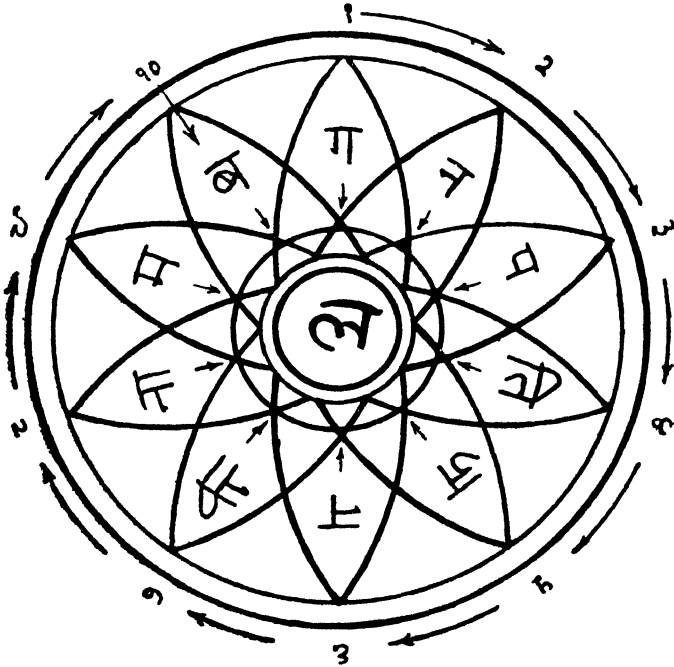
पा०—१. (प्र०) वहै...। २. (का०) (वें०) (प्र०) बवन...। ३. (वें०) (प्र०) सरसिज किते संकट,...। ४. (वें०) (प्र०) साकत...।

वि०—"दासजी ने इस 'कमल-बद्ध' चित्रालंकार से—कपि। (बंदर) का कौंन-सा सुंदर अंग, सुंदर बागों में जल किससे उछलता है, निश्चरों का भोग (खाद्य) क्या, माघ में किस वस्तु के दान का शुभ फल है, सिंधु (सागर) में क्या भरा है, सेतु को किन दो ने बाँधा, सरसिज (कमल) में संकट (कंटक) कहाँ होता है, किसे देखने पर घृणा होती है, किसने हलरूप आयुध हाथ में लेकर महाखल प्रलंब को मारा और शाक्त किस पर सुचित्त (भले प्रकार=निर्द्वंद) होकर सदा सोते हैं—इत्यादि का "गनपति-जँननी-नाम-बल" से, अर्थात् "गँनपति-जँननी-नामबल" के प्रत्येक अक्षर को मध्य अक्षर 'ल' से संबद्ध कर जैसे—'गल, नल, पल (मांस), तिल, जल, नल, नील (बंदर), नाल, मल, बल (बल्देव) और गँनपति-जननी (पार्वती=दुर्गा) के नाम-बल के सहारे" से क्रमशः उत्तर दिये, जैसाकि ऊपर दिये 'कमल'-चित्र से ज्ञात होता है। इस चित्र में प्रथम पंखड़ी के अक्षर 'ग' को कोष के 'ल' से संबंधित कर पुनः इसी प्रकार प्रत्येक पंखड़ी के अक्षरों को कोष-लिखित 'ल' से जोड़कर बाद को फिर प्रथम-पंखड़ा 'ग' से चलकर प्रत्येक पंखड़ी के अक्षर पढ़ते हुए कोष के 'ल' को पढ़ना चाहिये।"

अथ सृंखला-बंध उत्तर लच्छन जथा—

दु-द्वै[1] गतागत लेति चलि, इक-इक बर्न तजंत[2]।
नाँम 'सृंखलोत्तर' वही, होत समस्त जु अंत॥

अस्य उदाहरन जथा—

छबि-भूषँन को, जप[3] को हर को, सुर को, घर को, सुभ कोंन रुती।
किहिँ पाऐं गुमाँन बढ़ै, किहिँ आँऐं घटै, जग में थिर कोंन दुती॥
सुभ जन्म को, 'दास' कहा कहिऐ, बृषभाँन की राधिका कोंन हुती।
घटिका निस आज सु केतो अली, किहिँ पूजैगी—"नगराज-सुती"॥

अस्य तिलक—

इहाँ "नगराज-सुती" सों नग, गन, गरा, राग, राज, जरा, जसु, सुज, सुती, तीसु औरु नगराज-सुती कहि सबकों उत्तर सृंखला-बंध सों दियौ।

वि०—"दासजी ने इस छंद में अंतिम चरण—"नगराज-सुती" के द्वारा शृंखलाबद्ध, अर्थात् दो-दो वर्णों के गतागत रूप से एक वर्ण को त्याग कर, संपूर्ण प्रश्नों के जैसे—भूषण-की छबि (शोभा) क्या, जप क्या, स्वर का हरण करने

पा०—१. (प्र०) द्वै-द्वै···। २. (प्र०) जंत···। ३. (वें०) (प्र०) जय···; (सं० पु०प्र०) जन···।

वाला कौन, गृह को सुखद करने वाला कौन, गुमान किस को पाकर बढ़ता है और वह किस कारण घट जाता है, संसार में स्थिर क्या रहता है, शुभ जन्म क्या—या किसका, श्रीवृषभान की राधिका कौन थीं, घड़ियाँ कितनी और किसे पूजना है—इत्यादि प्रश्नों के उत्तर "नगराज-सुती" के दो-दो अक्षरों को उलट-पलट कर जैसे—नग (रत्न), गन (समूह), गरा (गला), राग (प्रेम), राज (ऐश्वर्य), जरा (वृद्धवस्था), जसु (यश), सुज (अच्छे-आचरण वाला), सुती-(पुत्री), तीसु (संख्या–३०) और नगराज-सुती=पर्वतराज की कन्या पार्वती (नग=पर्वत, राज=मुख्य, सुती=पुत्री) से दिया गया है।"

दुतिय सृंखला-बंध कौ लच्छन जथा—

पैहली[1] गति चलि जाइऐ, अगति चलिअ पुनि ब्यस्त।
इहौ 'सृंखलोत्तर' गनौं, पुनि गति-अगति-समस्त॥

उदाहरन जथा—

को सुघर, कहा कीनीं लाज गँनिकाँन,
को पढ़ैया खग, मोहै[2] मृग कहा तपसी-बस।
कहा नृप करै, कहा भू में बिस्तरै,
कहा जुबा छबि-धरै, को है 'दास'-नाँम, कै हैं रस॥
जीतै कौन, कौन अखरा की रेफ, कै-कै कहा,
कहैं क्रूर मींत[3], राखें कहा कहैं[4] द्यौस दस।
साधु[5] कहा गावैं, कहा कुलटा सती-सिखावैं,
सब कौ उत्तर 'दास',–'जाँनकी-रवँन-जस॥"

वि०—"इस सृंखलोत्तर चित्रालंकार-द्वारा भी दासजी ने पूर्ववत विविध प्रश्नों का उत्तर छंद के अंतिम चरण-विभाग –"जाँनकी-रवँन-जस" से वही वर्णों के गतागत द्वारा दिया है। जैसे—"सुघर कौन = "जाँन" (जानकार–सुजान), वेश्या ने लज्जा की? "न की"=नहीं की, पढ़ने वाला पक्षी कौन —"कीर"=तोता, मृग किससे मोहित होते हैं—"रव=तान-गान से, तपस्वी कहाँ बसते हैं—"बन" (जंगल) में, राजा क्या करता है'—'नय"=न्याय, पृथ्वी पर किसका विस्तार होता है—"जस' (यश) का, युवकों की छबि किससे बढ़ती है—"सज"

पा०—१. (का०) (वें०) (प्र०) पहिले गत चलि…। २. (का०) (प्र०) मोहै कहा मृग, कहाँ तपी-बस। (वें०) मोहै काहे मृग, कहा तपी-बस। ३. (वें०) पीत…। ४. (वें०) ˙० पु० प्र०) कहि…। ५. (रा० पु० प्र०) साधू…।

=शृ ंगार से—बनाव से, दास का नाम क्या—"जन", रस कितने ? "नव"= नौ, विजयी कौंन होता है—"वर"=श्रेठ, रेफ किसे कहते हैं ? "र" कौ, करने को क्या कहते हैं—"कीन". क्रूर मित्र किस बात को याद रखते हैं— "न जा"=दुश्मनी को, साधुजन किसे गाते (भजते) हैं—"जाँनकी-रबनैं-जस", (जानकी-वर श्रीराम के सुयश) को, कुलटा सती को क्या सिखाती है—"सजन= बर की न जा"=प्रीतम के पास न जा, उससे विलग रह।"

चित्रोत्तर बरनन जथा—

जोई अच्छर प्रस्न कौ, उत्तर ताही-माँह।
'चित्रोत्तर' ताकों[१] कहत, सकल कबिन के नाँह॥

अस्य उदाहरन जथा—

कोंन पराबँन देव[२]-सताबँन, को लहैं भार धरै धरती कौ[३]॥
को दस ही में सुन्यों जित[४] ठौरँन, कीनों[५] दसों दिगपालँन-टीकौ[६]।
जाँनत आप कों बृंद[७] सँमुद्र में, का में सरूप सराहिऐ[८] नींकौ[९]।
का दरबार न सोहत[१०] सूरँन, को[११] पजराबत पुन्न तपी कौ[१२]॥

वि०—"दासजी कृत यह उदाहरण "चित्रोत्तर" अलंकृत "अंतर्लापिका" (जिसका उत्तर उसी में छुपा हो) का उदाहरण है। अर्थात्, प्रत्येक पादांतर्गत प्रश्न का उत्तर उसी पाद के मध्य छिपा है। जैसे—"देवताओं को सताने" और भगाने वाला कौंन ? "कोनप"=राक्षस, धरती का भार कौंन लिये है— "कोल"=वाराह, दस कौंन ? "कोद=दिशा, लोकपालों का तिलक (अग्रगण्य) कौंन,—"कोविद"=ब्रह्मा, कौंन अपने को (संसार) समुद्र में पड़ा मानता है— "जाँन"=जीव, किसका सुंदर रूप सराहनीय है—"कामे"=कामदेव का, सूरबीरों के दरबार में कौंन शोभा नहीं पाता है—"कादर", तपस्वियों के पुण्य को कौंन जलाता है—"कोप"=क्रोध। अस्तु, ये संपूर्ण उत्तर जैसे कि लिखे गये हैं—"कौंन परा०"…, "को ल"है०"…, "को दस०"…, "क त्रिद"सों०"…, "जाँनत०"…, "कामें", "का दर'बार०"…, "को प"ज- राव०…इत्यादि पदांशों के पूर्व भाग से दिये गये हैं।"

पा०—१. (का०) (वें०) ताही कहैं…। २ (का०) दैब…। ३. (वें०) (प्र०) को। ४. (वें०) जिन…। ५. (प्र०) कोबिद सौ…। ६. (का०) (वें०) (प्र०) को। ७ (प्र०) बंद…। ८. (प्र०) सराहिऐ…। (सं० पु० प्र०) सराहिबौ…। (रा० पु० नी० सी०) सुहाइऐ। ९. (का०) (वें०) (प्र०) को। १०. (का०) सोह न सूरन…। (वें०) कादर बारन सोहन सूरन…। ११. (वें०) (प्र०) कोप जरावत पुन्न…। १२. (का०) (वें०) (प्र०) को।

अथ बहिरलापिका जथा—

को गँन सुखद, कोंन[1] आँगुरी[2] सुलच्छिनी हैं,
देत कहा घँन, कैसौ बिरही कों[3] चंद है।
जारै को तुसारै[4], कहा लघु नाँम धारै,
कहा नृत्य में बिचारै, कहा फाँद्यौ ब्याध फंद है॥
कहा दै पचावै फूटे भाजँन में भात, कैसें[5]—
बुलावै[6] कुस भ्रात, कहा बृष-बोल मंद है।
भूपै कोंन भावै[7], खेलें खग कोंन समें[8],
प्रिया फेरै कहा[9] कहि, कहा रोगिन कों बंद है॥

वि०—"दास कृत यह चित्रोत्तर "बहिर्लापिका"—जिसके प्रश्नों का उत्तर छंद के अंतर्गत न हो—बाहर से आता हो, का उदाहरण है। छंद-गत प्रत्येक प्रश्न का उत्तर "त्रिकोण"—गत "जलवाहि", जो बाहर से लिया गया है, के द्वारा दिया गया है। यथा—

खचि[10] "त्रिकोंन 'जलवाहि'[11]" लिख, पढ़ौ अर्थ मिल जोहिं[12]।
ऊतरु 'सबतोभद्र' यै, बहिरलापिका ओहिं[13]॥

वि०—"अर्थात् त्रिकोण-यंत्र लिखकर उसकी तीनों शिराओं पर—"ज, ल, वा" और मध्य (बीच) में "हि" लिखकर सर्वतोभद्र (जलवाहि को उलट-पलट कर) से उत्तर निकालना चाहिये, यथा—
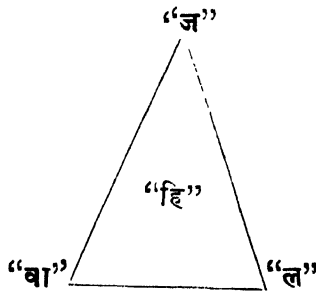
पा०—१. (का०) (वें०) (प्र०) काहे···। २. (का०) (वें०) अगुनी···। (प्र०) अँगरी···। ३. (का०) (वें०) (प्र०) को···। ४. (का०) (वें०) जालै क्यों तुकारै,···। ५. (का०) (वें०) (प्र०) क्यों···। ६. (स० पु० प्र०) बुलायौ···। ७. (वें०) (स० पु० प्र०) भूपै भावै कोंन···। ८. (प्र०) टावें···। ९. (का०) (वें०) (प्र०) कहि कहा···। १०. (का०) खेंचि···। ११. (वें०) बल-बाहि लिखि ·। (प्र०) दो खचि त्रिकोंन जलवाहि···। १२. (का०) (वें०) (प्र०) ज्योंहि। १३. (का०) (वें०) (प्र०) योंहिं।

अस्तु, समूह को सुख दाता कौन,—"लहि" = अर्थ-प्राप्ति, किसकी उँगलियाँ अच्छी हैं—"बाज" = बाज पक्षी की, मेघ क्या देते हैं—"जल", विरही को चंद कैसा लगता है—ज्वाल (सा)=अत्यंत दुखद, तुमार (पाले) को कौन जलाता–नष्ट करता है,—"जहि"=सूर्य, लघु (छोटा) नाम किसका?—"वाय (वाहि) = वायु पवन, हवा का, नृत्य में क्या विचारणीय? "लय"=धुन-आवाज, फंदे में व्याध किसे फसाते हैं—लवा (पक्षी) को, फूटे पात्र (वर्तन) में क्या लगाकर भात (चावल) पकाते हैं—"हिल=गीला आटा लगाकर, भाई को कुश (श्रीराम-पुत्र) क्या कहकर बुलाते हैं—"हिय"=प्यारे कहकर, बैल को बोली कब बंद होती है—"हिवाल"= शीत के समय, राजा को कोन सुहाता है–बाल (बाल) = बाला, तरुणी-स्त्रियाँ, किस स्थान में पक्षी विहार करते हैं–"वाहिज"=शून्य-एकांत स्थान में, प्रियतमा (स्त्री) पति से क्या कह कर बोलती है–"वाहि"=उनको, रोगियों को क्या बंद है—"जल-वाहि"=स्नान।" यहाँ एक बात जैसा कि दासजी ने पूर्व में लिखा है और जो चित्रालंकारों में मानी जाती है, ध्यान में रखनी चाहिये। वह यह कि "ज" य और "य" ज यहाँ बराबर होता रहता है। इसी प्रकार 'ब' व, व, 'ब'।"

अथ पाठांतर चित्रालंकार लच्छन जथा—

बरँन-लुपै[1], बदलें, बढ़ै, चमतकार ठैहराइ।
सो 'पाठोत्तर'[2] चित्र है, सुनों सुमति सँमुदाइ[3]॥

वि०—"जहाँ वर्ण का लोप कर—उसे बदल कर, अथवा बढ़ाकर चमत्कार पैदा किया जाय—ठहरा जाय, वहाँ "पाठांतर" या 'पाठोत्तर' चित्रालंकार कहा जाता है। दासजी ने इस अलंकार के लुप्त वर्ण—आदि वर्ण-लुप्त, मध्यवर्ण-लुप्त और वर्ण-विपर्यय, अर्थात् उसे बदलकर रूप तीन उदाहरण दिये हैं।

प्रथम बरँन-लुप्त उदाहरन जथा—

तँमोल-मँगाइ धरौ इहि बारी, मिलिबे को[4] जिय में रुचि भारी।
कँन्हाइ[5] फिरें कब[6] धों[7] सखि प्यारी, बिहार[8] की आज करौ अधिकारी॥

अस्य तिलक

इहाँ प्रत्येक चरँन के आदि (प्रथम) कौ बरँन छाँड़ि कें पढ़िबे ते दूसरौ अर्थ निकरै है।

पा०—१. (व०) लुपें...। २. (वें०) (प्र०) पाठांतर...। ३. (सं० पु० प्र०) सो पाठोत्तर चित्र है, सुनों...। बरन लुपै, बदलें बढ़ै...॥ ४. (वें०) (सं० पु० प्र०) की है...। ५. (प्र०) कन्हाइ...। ६. (का०) (वें०) (प्र०) तब...। ७. (प्र०) लौं...। ८. (का०) हार की...।

जथा—

"मोल मँगाइ धरौ इहि बारी[1], लीबे की[2] जिय में रुचि भारी।
न्हाइ फिरै कब[3] धों सखि प्यारी, हार की आज करौ अधिकारी ॥"

वि०—"दासजी का यह उदाहरण प्रत्येक चरण का प्रथम वर्ण लुप्त करने से विपरीतार्थक रूप एक दूसरा ही उपर जैसा छंद बन जाता है।"

अथ मध्य बरँन लुप्त कौ उदाहरन जथा—

मग में मिलबोई[4] भलौ, नहिं[5] 'बातुल' सों लाल।
नहिं सँमझ्यौ[6] दुहुँ सबद कों, मध्य लोपिऐ हाल ॥

अस्य तिलक

इहाँ "बातुल" बरँन में ते 'तु' मध्य कौ अच्छर लोप = निकार करि पढ़िबे ते "बाल" ते मग (मार्ग=रास्ते) में हीं मिलबौ भलौ" (सुंदर) है ये अर्थ होइ है।

वि०—"दासजी के इस मध्य वर्ण-लुप्त के उदाहरण में "बातुल" के 'तु' रूप मध्य वर्ण को निकाल देने से—लोप करने से, ऊपर लिखा अर्थ प्रकट होता है। दूसरा अर्थ जो "तु" के लुप्त न करने से निकलता है, वह भी सुंदर शिक्षा-परक है—"बातुल"=विशेष बात बनाने वाले से मार्ग में मिलना उचित नहीं... इत्यादि।"

अथ बरँन बदले कौ उदाहरन जथा—

साज सब जाकौ बिँन माँगे करतार देत,
परँम अधीस सब[7] भूमि थल देखिऐ।
दासी-'दास' केते[8] कर लेत हैं सधरँम ते
सलच्छन, सहिंमत, सहरख अब रेखिऐ ॥
सील तँन सिरताज सखँन बढ़ाएँ ज्यौं
सकल आसै[9] साँच में जगत जस पेखिऐ।

पा०—१. (का०) भारी...। २. (का०) लीबे की है जिय...। (वें०) लेबे की है...। (प्र०) लबे की...। ३. (प्र०) जब लों...। ४. (वें०) मत गमैं मिलबी...। (प्र०) मारग में मिलबौ भलौ...। (सं० पु० प्र०) मत मग मों मिलबौ...। ५. (प्र०) तहिं...। ६. (प्र०) सो है...। ७. (सं० पु० प्र०) बस ··। ८. (सं० पु० प्र०—द्वि०प्र०) जेते ··। ९. (रा० पु० नी० सी०) आस···।

हिंदू पति-गुँन में जे गाए में 'सकार[1]' ताकों—
बैरिन में क्रँम ते "नकार[2]" कर लेखिए॥

अस्य तिलक—

या कबित्त में 'स' अच्छर की ठौर पै 'न' अच्छर लगाइ कें पढ़िबे ते उलटौ-ही अर्थ होइ है।

वि०—"संमेलन-प्रयाग की प्रति में ऊपर लिखा तिलक इस प्रकार मिलता है—"सकारन की ठौर 'नकार' करि पढ़ें दूसरौ अर्थ। वर्न वड़े कौ पहिलें वर्न लुप्त ही जानबी।" अस्तु इन तिलकों और मूल छंद के कथनानुसार 'स' हटाकर 'न' स्थापित करने से इस छंद का नीचे लिखा रूप हो जायगा, यथा—

"नाज नव जाकों बिन मागें करतार देत,
परँम अधींन नब भूमि थल देखिए।
दानी-दान केते कर लेत न धरँम ते,
न लच्छिन, न हिंमत, न हरख अबरेखिए॥
नील तन निरताज नखँन बढ़ाएं ज्यों
नकल आनें नाच में जगत जन पेखिए।
हिंदू-पति-गुँन में जे गाए०.........................॥"

अथ निरोष्ठ-मत्त-आदि चित्रोत्तर लच्छन जथा—

बरँनि 'निरोष्ठ-अमत्त' पुनि, होत निरोष्ठामत्त[3]।
पुँनि अजीह[4] नियमित बरँन, बाँनी-चित्रै तत्त॥

*

छाँड़ि 'पवर्ग'-'उ[5]'-'ओ'-बरँन, और बरँन सब लेहु।
या कौ नाम 'निरोष्ठ' है, हिअ[6] न धरौ संदेहु॥

वि०—"दासजी ने इन दो दोहों में—निरोष्ठ चित्रोत्तर, अमत्त (इ, ऊ, ए, ऐ—आदि मात्रा-रहित) चित्रोत्तर, निरोष्ठामत्त (जिसमें निरोष्ठ वर्णों के साथ मात्राएँ न हों) और 'अजीह' (अजिह्वा—जिसमें जीभ न लगे) चित्रोत्तर का वर्णन किया है। पहिले आप निरोष्ठ—जिसमें पवर्ग (प, फ, ब, भ, म) और 'उ' स्वर के बिना छंद निर्माण करने का उदाहरण देते हैं, यथा—

पा०—१. (का०) (वें०) (प्र०) सकारे...। २. (का०) (वें०) (प्र०) नकारे...। ३. (वें०) निरुष्ठा...। ४. (का०) (वें०) (प्र०) अजिह्व...। ५. (वें०) इ...। ६. (का०) हियौ धरौ निरुसंदेहु। (वें०) हिएं धर निःसंदेह। (प्र०) हिएं धरौ निसंदेह।

अथ निरोष्ठ चित्रोत्तर उदाहरन जथा-

कौंन[1] है सिँगार-रस ? जस ए सघँन-घँन,
घँन कैसे ? आँनद कीझ रजें[2] सँचार ते ।*
'दास' सरि देत जिन्हें सारस के रस[3]-रसे,
अलिन के गँन खँन-खँन तँन झारते[4] ।।†
राधादिक नारिन के हिय की हकीकत
लखें ते अचरज-रीति इनकी निहार ते ।‡
कारे कौंन्ह कारे-कारे तारे ए तिहारे जित-
जाते[5] तित राते-राते रंग कर डारते ।।०

वि०—"दासजी के इस छंद में पवर्ग और उकार का प्रयोग नहीं है, इस लिये इसके उच्चारण में होठों का स्पर्श नहीं होता। निरोष्ठ चित्रालंकार का किसी कवि-द्वारा निर्मित यह नीचे लिखा दोहा भी सुंदर है, यथा—

"चंचल खंजन झखँन से, दीह जलज - दल ऐंन ।
अनियारे असरीर के, तीर तिहारे नैंन ॥"

अथ अमत्त चित्रालंकार लच्छन जथा—

एक अबरनें[6] बरनिऐं, "इ[7], ई, उ, ऊ, ओ"-नाँहिं ।
ताहि 'अमत्ता' बखानिऐं, सँमझौ निज मँन-माँहिं ।।

अस्य उदाहरण जथा—

कँमल-नयन, पद-कँमल, कँमल-कर-अँमल-कँमल-धर ।
सहस सरद-सस[8]-धरँन, हरँन[9] मद लसत बदँन बर ।।
रहत सतँन[10]मँन-सदँन, हरत[11]छँन-छँन तत बरसत ।
हर कँमलन सँम लहत[12], जनँम-फल दरसँन दरसत ।।

पा०—१. (वें०) कन है सिंगार रस के करन, जस ये सघन···। (रा०पु०प्र०) (रा०पु०का०) कवन है सिगार···। २. (वें०) जे···। ३. (स०पु०प्र०) रसे-रसे···। ४. (वें०) झार से। ५. (स०पु०प्र०) ··तित राते-राते रग करि डारिते। *(सं०पु०प्र०—द्वि०) सँचारे हैं। † झारे हैं। ‡ निहारे हैं। ० जित-तित राते-राते रंग करि डारे हैं। ६. (का०) (वें०) औरनें···। ७. (का०) इ, उ, ये, औ कछु नाहिं। (वें०) र उ ये औ कछु नाहिं। (प्र०) इ, ऊ, ए, ऐ, औ नाहिं। (रा०पु०नी०सी०) इ, उ—आदिक नाहिं। ८. (स०पु०प्र०) सम···। ९. (सं०पु०प्र०) मदन-मद हरन लसत बदन बर। १०. (वें०) सजन···। ११. (वें०) (प्र०) हरख। १२ (वें०) हर कमलज सम न लहत···। (सं०पु०प्र०) हरख कमल जस लहत,···।

तँन-सघँन-सजल-जलधर-बरँन, जगत-धबल जस बस करँन।
दस[1]-बदँन दरँन अँमरँन[2]-बरँन, दसरथ-तँनय चरँनन[3]-सरँन॥*

वि०—"दासजी निर्मित इस छप्पय-छंद में संपूर्ण वर्ण मात्रा-रहित हैं। अतएव यह अमत्त-मात्रा-रहित का उदाहरण है। संस्कृत में इसे "अमात्रिक" कहा गया है।"

अथ निरोष्ठामत्त लच्छन जथा—

पढ़त न लागै अधर औ[4] होइ अमत्ता बर्न।
ताहि 'निरोष्ठामत्त' कहि, कहैं[5] सुकबि मँन-हर्न॥

अस्य उदाहरन जथा—

कहत रहत जस खलक सरद-सस-धरँन झलक-तँन।
रजत अचल धर सजत, कँनक-धँन[6]नगँन सकल गँन॥
जल अचरत[7] घँन सतँन[8]हरख अँनगँन घर सरसत।
हतँन अतँन[9] गँन[10] जतँन करत छँन दरसँन दरसत॥
जल अँनघ[8] जरद अलकँन लसत, नयन अँनल धर गरल-गर।
डँन-दरद-दरँन असरँन-सरँन, जय-जय-जय अघ-हरँन हर॥

वि०—"दास जी वर्णित यह "निरोष्ठामत्त"—जिसके पढ़ने में अधरों का स्पर्श न हो और मात्रा-रहित हो का लक्षण और उदाहरण है। यह अमात्रिक (मात्रा-हीन) है और जैसा दासजी का लक्षण (मत) है, इसके उच्चारण में ओष्ठों का आपस में स्पर्श नहीं होता।"

अथ अजीह (जिह्वा के बिना) कौ लच्छन यथा—

जिते बर्न 'अ'-'क' बर्ग तित, और न आबै कोइ।
ताहि 'अजीह[11]' बखाँन-हीं, जिभ्या[12]-चलित न होइ॥

अस्य उदाहरन जथा—

खाइ[13]है घीअ, अघाइ है हीअ, गहा[14]गहैं गीअ अहै कहा खंगा।
है[15]है कही को है खै-खै से गेह के, गाहक खेह के खेह है अंगा॥

पा०—१. (वें०) सव···। २ (सं० पु० प्र०) औद्ध दरँन···। ३. (का०) (वें०) (प्र०) चरन···। ४. (का०) (वें०) (प्र०) अरु,···। ५. (प्र०) बरनत कवि मन···। ६. (स० पु० प्र०) धँन ··। ७. (का०) (वें०) अरचत··· । ८. (प्र०) सनत ··। ६. (वें०) अनग···। १०. (सं०पु०प्र०) धँन···। ११. (वें०) अन घर जरद अनकन···। १२. (का०) (वें०) (प्र०) अजिह्व···। १३. (का०) (वें०) (प्र०) जिह्वा ··। १४. (वें०) पाइ है ··। १५. (सं०पु०प्र०) गह गाहेगी गीअ···। १६. (सं०पु०प्र०) है-है कहा की कहा कहों खै-खै, ए गाहक···।

* भारती-भूषण (के०) पृ०—४६।

काहे[1] कों धाइ गहै अघ-ओघ कों, काग[2] की कीक किएँ कंगा।
गाइऐ गंगा, कहाइऐ गंगा, कहा[3] गहै गंगा, अहै कहै गंगा॥

वि०—"दासजी ने उपरोक्त दोहा लच्छण-रूप और सवैया उदाहरण रूप "अजहि"—जिसके उच्चारणों में जिह्वा (जीभ) का स्पर्श नहो, चित्रोत्तर लिखा है। इस संपूर्ण छंद के उच्चारण में जीभ का स्पर्श नहीं होता।

अथ नियमित बरँन-चित्रालंकार लच्छन जथा—

इक-इक ते छब्बीस लगि, होत बरँन-अधिकार।
तदपि कह्यौ में[4] सात-ही, जाँन ग्रंथ-बिस्तार॥

वि०—"जिसमें संपूर्ण पद्य का एक-ही अच्छर के शब्दों से निर्माण किया जाय उसे "नियमित-वर्ण" चित्रालंकार कहा जाता है। दासजी ने यहाँ कहा है कि ऐसे "नियमित-वर्ण' के उदाहरण "छब्बीस" (२६) वर्णानुसार (व्यंजनों के अनुसार) हो सकते हैं, पर ग्रंथ-विस्तार के भय से केवल-सात (७) ही उदाहरण दिये हैं। ये उदाहरण एक अच्छर निर्मित, दो अच्छर निर्मित, तीन, चार, पाँच, छह और सात अच्छरों से निर्मित—नियमित हैं।"

अथ एक बरँन नियमित कौ उदाहरन

ती तू ता[5] ते तीति ते, ताते तोते तीत।
तोते, ताते, तत्तते[6], तीते तीता तीत॥

अथ द्वै बरँन नियमित कौ उदाहरन

रोंम रमों[7] रोरै ररै, मुरि मुरि मेरी रारि।
रोंम-रोंम मेरौ ररै, रामाँ-राँम मुरारि॥

अथ तीन बरँन नियमित कौ उदाहरन

मँन-मोंहँन मैहमाँ महा, मुनि मोहैं मंन-माँहिं।
महा मोह में मैं नहीं, नेह मोह में नाँहिं॥

पा०—१. (का०) (वें०) काहे कों धाइ है औ अघ-ओघ कों,…। २. (सं० पु० प्र०) काका ककी की कहा किऐं…। ३. (वें०) (सं० पु० प्र०) के-ही गहैं ..। (प्र०) कही कहै गंगा…। ४. (का०) (वें०) (प्र०) हों सात लों…। (सं० पु० प्र०) कहे में सात लों,…। ५. (का०) तीति…। ६. (वें०) तो, तीतै…। ७. (का०) (वें०) रोर मार रौ-रौ ररै…। (प्र०) रोर मार रौरें…।

अथ चार बरँन नियमित कौ उदाहरन—

मैंहैर निमोही नाह है, हरैं-हरैं मँन-मौंन।
मौंन-मरोरै[1] मौंनिनी, नेह-राह में हाँन ॥

अथ पाँच बरँन नियमित कौ उदाहरन—

कँम लागै कँमला-कला, मिलै मेंनका कौंन।
नींकी में गल गौंन कै, नींकी में गल गौंन ॥

अथ छै बरँन नियमित कौ उदाहरन—

सदाँनंद संसार-हित, नासँन-संसै त्रास।
निस्तारँन संसै[2] सदाँ, दरसँन दरसत 'दास' ॥

अथ सात बरँन नियमित कौ उदाहरन—

मधु मौंस मेरी[3] परा धरा पग धारै माधौ,
सीरे-धीरे गौंन सौं सुगंध पौंन परिगौ।
नीरैं गै-गै पुँनि-पुँनि ररै न मधुर धुँनि,
मौंनों मेरी रँमनो मधुप-सार[4] मरिगौ ॥
पागे मँन प्रेम सौं न[5] नेंम-रौंम साधें मौंन,
सिगरे परौसी[6] पापो धौंम सौं निसरिगौ।
रोस-धरि गिरधारी मँन में[7] धँसे नारी[8],
सुमँन-धँनु-धारी सर[9] पेंने-पेंने सरिगौ ॥

वि०—"दासजी ने उपर्युक्त एक, (केवल 'त' व्यंजन), दो (र, म से) तीन (न, म, ह से), चार (न, म, र, ह से), पाँच (क, ग, न, म, ल से), छह (त, द, न, र, स, ह से) और सात (ग, ध, न, प, म, र, स से) व्यंजन-व्यवहृत के उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। इस प्रकार के उदाहरण आचार्य केशव ने कवि-प्रिया में और महाराज काशीराज ने 'चित्र-चंद्रिका' में अनेक दिये हैं। तद्ग्रंथों से दो उदाहरण यथा—

"लोल लाल लै लों लली, लोल लली-लों लाल।
लोल लला लै ला लली, लोल लली लों लाल ॥"

पा०—१. (सं०पु०प्र०) करोरै…। २. (वें०) संजै…। (प्र०) संतन…। ३. (का०) (प्र०) मैं-री। ४. (का०) (वें०) (प्र०) सारे…। ५. (वें०) न माने समें साधे मौंन। (सं०पु०प्र०) (प्र०)…सों मुनीसँन से,…। ६. (का०) परी-सी…। ७ (सं०पु०प्र०) (प्र०) माँहिं…। ८. (का०) (वें०) न री,…। ९. (प्र०)…धारो, पैंने सर सरिगौ। (सं० पु० प्र०) …सर पेंनों पै निसरिगौ।

"नोंने - नेंनो - नेंन नें, नौ ने नुनी न नून।
नानानन नें ना ननें, नाना नेंना नून॥"

ये एक-एक अक्षर-द्वारा निर्मित उदाहरण हैं। श्री केशव-कृत छब्बीस अक्षर-संयुक्त उदाहरण भी दर्शनीय है, यथा —

"चोरी माखँन दूध घ्यौ, ढूँढ़त हठि गोपाल।
डरत न जल-थल भटकि फिरि, झगरत छबि सों लाल॥"

यहाँ कवर्गादि—क, ख, ग, घ, च, छ, ज झ, ट, ठ, ड, ढ, त, थ, द, ध, न, प, फ, ब, भ, म, र, ल, स और ह, छब्बीस अक्षरों—व्यंजनों का प्रयोग किया गया है।

अस्तु, दासजी ने यहाँ तक "वर्ण चित्रालंकारों" का और आगे "लेखनी-चित्रालंकारों (जिनका लिखने पर-ही बोध हो सके) का कथन किया है।"

अथ लेखनी-चित्रालंकार बरनन जथा—

खरग, कँमल, कंकँन, डँमरू, चंद, चक्र, धँनु, हार।
मुरज, छत्र-जुत बंध बहु, परबत, बृच्छ किवार[1]॥

*

बिबिध गतागत, मंत्र-गति, त्रिपद, अस्व-गति जाँन।
बिमुख, सरबतोमुख बौहौरि, काँमधेंनु उर-आँन॥

*

अच्छर-गुपत सँमेत हैं, लेखिन-चित्र अपार।
बरनँन-पंथ बताइ मैं, दीन्हें[2] मति-अँनुसार॥

वि०—"दासजी ने जैसा ऊपर लिखा गया है, पूर्व में वर्ण-चित्रालंकार कह कर अब "लेखनी-चित्रालंकार" कहे हैं। ये लेखनी-चित्रालंकार—खड्ग, कमल, कंकण, डमरू, चंद्र, चक्र, धनुष, हार (आभूषण), मुरज, छत्र (छाता), पर्वत, वृक्ष, कपाट, गतागत (उलटा-सीधा), मंत्र-गति, त्रिपदि (तीन पादों से-ही चौथा पाद बनने वाला), अश्व-गति (घोड़े की तरह चपल-गति वाला), सुमुख या विमुख, सर्वतोमुख (अनेक प्रकार से बनने वाला), कामधेनु (एक से अधिक छंद बनाने वाला—इच्छित छंद निर्माता), चरण-गुप्त और मध्याक्षरी-लुप्तादि कथन करने के बाद चित्रालंकर की उसके विभेदों के सहित संख्या बतलायी है। संस्कृत और ब्रजभाषा के साहित्य-ग्रंथों में इनके अतिरिक्त और भी अनेक चित्रकाव्य-

पा०—१. (का०) (वें०) केंवार...। २. (का०) (वें०) (प्र०) दीन्हों...।

रूप बंध मिलते हैं जैसे—"गोमूत्रिका, दर्पण, मुष्टिका, हलकुंडली, चौकी, चामर (चमर) आदि...।"

प्रथम खरग-बंध चित्रालंकार जथा—

हरि मुरि-मुरि जाती उँमगि, लगि-लगि नैंन-कृपाँन ।
ता ते कहिऐ रावरौ[१], हियौ पखाँन - समाँन ॥

उदाहरन जथा—
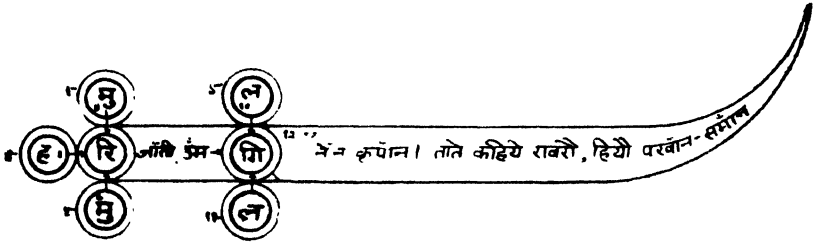
अथ कँमल-बंध चित्रालंकार जथा—

छँनु, दँनु, जँनु, तँनु, प्राँनु, हँनु, भाँनु, माँनु, अँनु माँनु ।
ग्याँनु, माँनु, जँनु, ठाँनु, प्रँनु, ध्याँनु, आँनु, हँनु, माँन ॥

अस्य उदाहरन
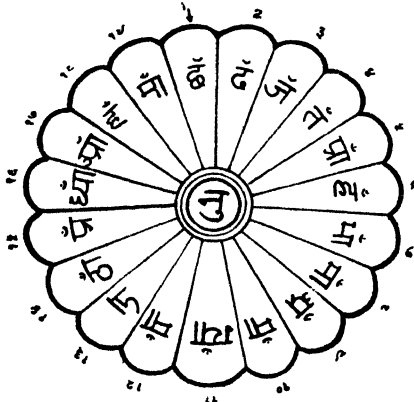
वि०—"यह उन्नीस (१६) पखड़ियों का कमल-पुष्प है, मध्य में कोष है। अस्तु प्रस्तुत चित्रानुसार प्रथम पखड़ी के "छँ" को कोष युक्त "नु" से मिलाकर

पा०—१. (का०) रावरे...।

तदनुसार प्रत्येक पंखडी के अक्षरों—दँ, जँ, तँ, प्राँ, हँ, भाँ, माँ, अँ, माँ, भ्याँ, माँ, जँ, ठाँ, प्रँ, ध्याँ, आँ, हँ और माँ को कोष के 'नु' से मिलाकर पढ़ने से ऊपर लिखा दोहा बन जाता है।"

अथ कंकन-बंध चित्रालंकार जथा—

साहि[1] दाँमबंत ठाँनि, बाहि काँमबंत माँनि।
जाहि[2] नाँमबंत खाँनि, ताहि नाँम सत जाँनि॥

उदाहरन जथा—
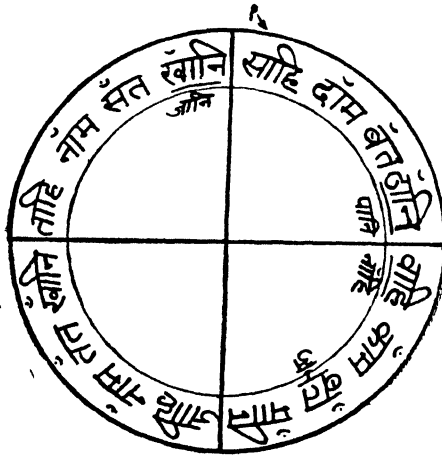
अथ डमरू-बंध चित्रालंकार जथा—

सैल-समाँन उरोज बने, मुख-पंकज सुंदर माँन नसै।
सैनन मार दई जुग नैंन की[3], तारे कसौटिन तारे कसै॥
सैकरे ताँन टिके सुनिबे कँह, माधुरी[4] बैंन सदाँ सरसै।
सैर सदाँ सँन बेलि[5] के केस, मँनों घँन साँउन मास लसै॥

वि०—"उदाहरण रूप नीचे दिये गये चित्र के मध्य कोष्टक में "सै" से १, २, ३, ४ अंकानुसार गतागत रूप से यह चित्रालंकार बनता है।

पा०—१. (का०) (वें०) साहि दामवंत पानि, नाहि काम-अंत मानि। २. (का०) (प्र०) जाहि नाम-तंत खानि, नाहि...। (वें०) जाहि राम-तंत खानि,...। ३. (का०) (वें०) (प्र०) जुग नैनन...। ४. (का०) (प्र०) माधुरि...। ५. (का०) (प्र०) बेलि की केस...।

अस्य उदाहरन जथा—
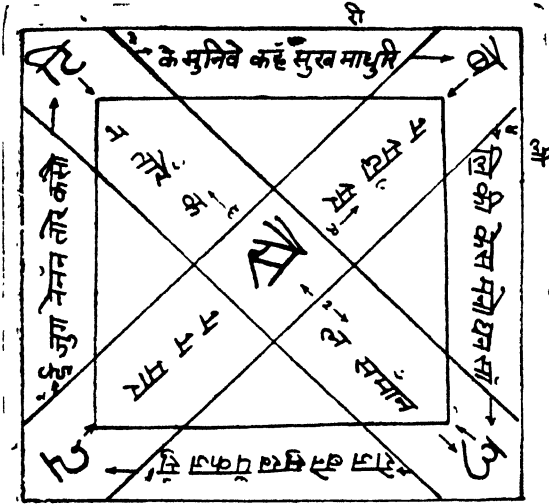
अथ चंद-बंध चित्रालंकार जथा—

रहै सदाँ रच्छाहि में, रमाँनाथ रँनधीर।
आँनों[1] दास्यौ[2] ध्याँन में, धरैं हाथ-धँनु-तीर॥

अस्य उदाहरन
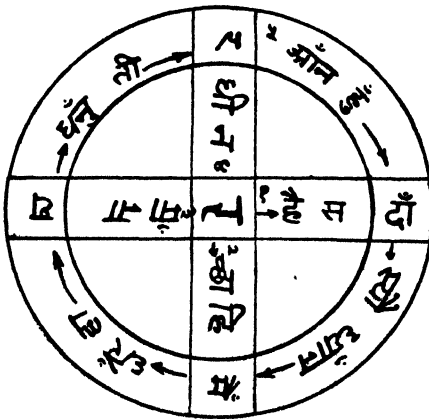
पा०—१. (का०) (वे०) (प्र०) आँनहुँ...। २. (वे०) दासी...।

वि०—"इस चित्र के मध्य चतुष्कोण-स्थित 'र' से चारों दिशा में जाने, जैसे—१, रहै सदाँ, २—रच्छाहि में, ३—रमानाथ, ४—रँनधीर के उपरांत फिर ५ वें अंकानुसार संपूर्ण मंडल में पढ़ना चाहिए।"

अथ दुतीय चंद-बंध चित्रालंकार जथा—

दँनुज - सदल मरदँन बिसद, जस हद करँन दयाल।
लहै सेंन सुख हस्त बस, सुँमिरत ही सब काल॥

अस्य उदाहरन
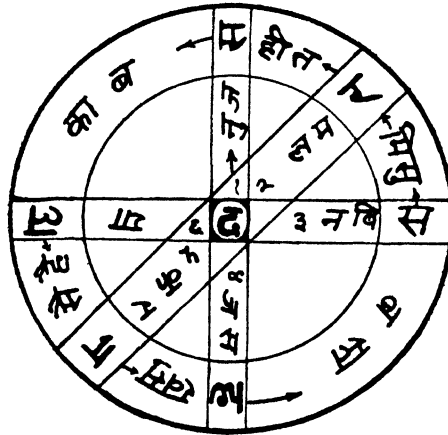
वि०—"ऊपर का चंद्र-बंध पंच (पाँच) दलात्मक, अर्थात् प्रथम अर्ध दोहे को चार दल बना द्वितीय अर्ध पूरा चंद्राकार (गोलाई) में पढ़ा जाने वाला था। यह (द्वितीय) सत्त (सात) दलात्मक है। यहाँ भी मध्य-चतुष्कोण स्थित 'द' को दोहे के प्रथम अर्धभाग के पाँच दल, यथा—१, दँनुजस, २. दल मर, ३. दन बिस, ४. द जसह, ५. द करँन, ६. द याल के बाद सातवाँ दोहे का अर्ध भाग उल्टा वाम पक्ष से तीर के संकेतानुसार—"लहै सेंन सुख हस्त बस, सुँमरत ही सब काल" पढ़ना चाहिये।

अथ चक्र-बंध चित्रालंकार जथा—

परमेस्वरी परसिद्ध है, पसुनाथ की पतिनी प्रियौ।
परचंड चाँप-चढ़ाइ कें, पर-सेंन छै पल में कियौ॥

खल-छै करी सब कोउ कहैं, सरजाहि की¹न कहूँ बियौ।
पद-पद्म चारु सु ध्याइकें, करि 'दास' छै²मद सों हियौ॥

अस्य उदाहरन

वि०—"दासजी कृत यह आठ आराओं का 'चक्र-बंध' चित्र-काव्य है। इन आठों के मध्यवर्त्ती कोष्ठक में 'प' अक्षर छंद-प्रयुक्त पूर्व के दो-चरणों का बार-बार और—"री, है, की, यौ, चाँ, कें, छै" तथा 'यौ' चक्र के आराओं के अंतिम कोष्ठकों में जो बड़े टाइप से लिखे गये हैं दो बार प्रयोग के साधन हैं। अतएव अंक-क्रमानुसार इस ऊपर लिखे छंद को निम्न प्रकार पढ़ना चाहिये। १—(मध्यकोष्ठक के 'प' वर्ण से प्रारंभ) 'प' रमेश्व'री', २—'प'रसिद्ध 'है', ३—'प'-सुनाथ 'की', ४—'प'तिनी प्रि-'यौ', ५—'प'रचंड 'चाँ', ६—'प' चढ़ाइ-'कें', ७—'प'रसैंन' छै, ८—'प'-ल में कि 'यौ', ९—खल छै 'क'री सब कोउ क 'हैं', सरजाहि 'की' न कहूँ त्रि-'यौ'। १०—पद-पद्म 'चा'रु सु ध्याइ 'कें', करि दास 'छै' मद सों हि-'यो' इत्यादि।"

अथ दुतिय चक्र-बंध चित्रालंकार जथा—

कर-नराच धँनु धरँन. नरक दारुनों निरंजँन।
जदु-कुल-सरसिज-भाँन, नईरित³ नगरौ गंजँन॥

पा०—१. (का०) को...। २ (का०) छे'म दसौ हियौ। (वे'०) छैम भरयौ...। (स'० पु० प्र०) छैम-भरयौ...। ३. (का०) (वे'०) (प्र०) नैरित्य—नइरित नगारौ गंज•••।

लख्य दुबँन-दल-दलँन[1], मध्य तूनीर जुगल तँन।
चकित करँन चर-नरँन, बँनक बर सरसन[2] लच्छँन॥
कहि 'दास' कॉम-जेता प्रबल, ते[3] ता देवँन भै-हरँन।
यह जाँनि जाँन भाँखै सदाँ, कँमल-नयन-चरनँन सरँन॥

अस्य उदाहरन
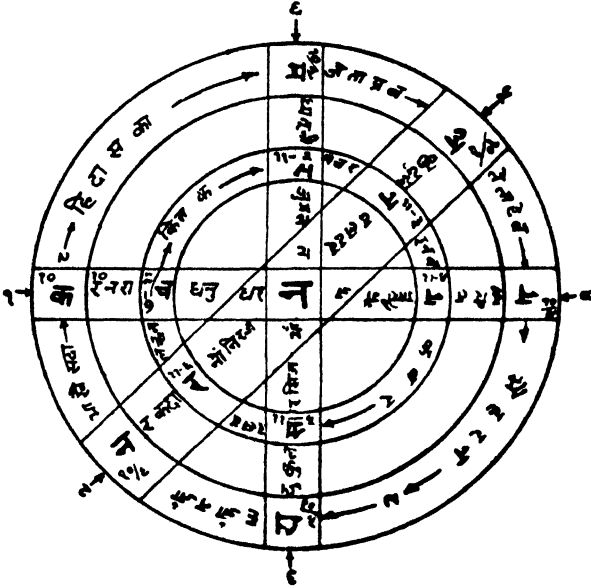
वि०—,'दासजी कृत यह द्वितीय चक्र-बंध का उदाहरण, छह आरा और दो चंद्राकार (गोल) आवृत्तों में बँधा हुआ है। इसके पढ़ने का क्रम-अंकानुसार इस प्रकार है। १—'क'-र नरा'च' धँनु धर-'न', २—'न'-रक दा-'र'-नों निरंज-'न', ३—'ज' (य)-दुकुल 'स'-रसिज भा-'न', ४—'न'-ईरित 'न'गरी गंज-'न', ५—'ल'-ख्य दुबँ-'न' दल-दलँ-'न', ६—'म'-ध्य तूनी-'र' जुगल-तँ-'न', ७—(मध्य चक्र) 'च'-कित क-'रँ'न चर-'न' - रँनब-'न'क बर'स'-'र' स-'र' लच्छँन, ८—(दूसरा चक्र अंक एक से) 'क'-हि दास काँ-'म' जेता प्रब-'ल', तेता देबँ'न' भै-हरँन, ९—(अंक तीन के 'य' (ज) से) 'य'-ह जाँनि

पा०—१. (का०) (प्र०)...दरन…। (वे०) लक्ख दुश्मन-दल-दरन…। २. (का०) (प्र०) सरस दर लच्छन। (वे०) (सं० पु० प्र०) सरस दरस छँन। ३. (वे०) नेता…।

जाँ-'न' भाखे सदाँ, १०—छहों अाराअों के अंकक्रमानुसार आदि अक्षर—'क', 'म', 'ल', 'न', 'य', 'न', ११—(मध्यवर्त्ती चक्र के अराओं में विभक्त कोष्ठक के ७ वें अक्षर 'च' 'र' नं, न स, रँ से प्रारंभ का और चक्र के मध्य 'न' अक्षर पर समाप्ति। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि चक्र के मध्यवर्ती कोष्ठक में प्रयुक्त 'न' प्रत्येक आदि के चारों चर्णों का अंतिम अक्षर है, गोले (चक्र) में विभज्य अंक एक से 'क' म (६), ल (५), न (४), य (३), न (२), तदनंतर मध्य चक्र अंक सात (७) के 'च' से प्रारंभ हो 'र' (११-२), 'न' (११-३), न (११-४), 'स' (११-५), र' (११-६) और मध्यकोष्ठ के 'न' (११-७) पर समाप्ति है।

अथ धँनुष-बंध चित्रालंकार जथा—

तिअ-तँन-दुरग अँनूप में, मँनमथ निबस्यौ बीर।
हँनें लग[1] लगत भुँअ-धँनुष, साधें[2] निरखनि तीर॥

अस्य उदाहरन

पा०—१. (वें०) लगल गत…। २. (रा०पु०नी०सी०) सधें…।
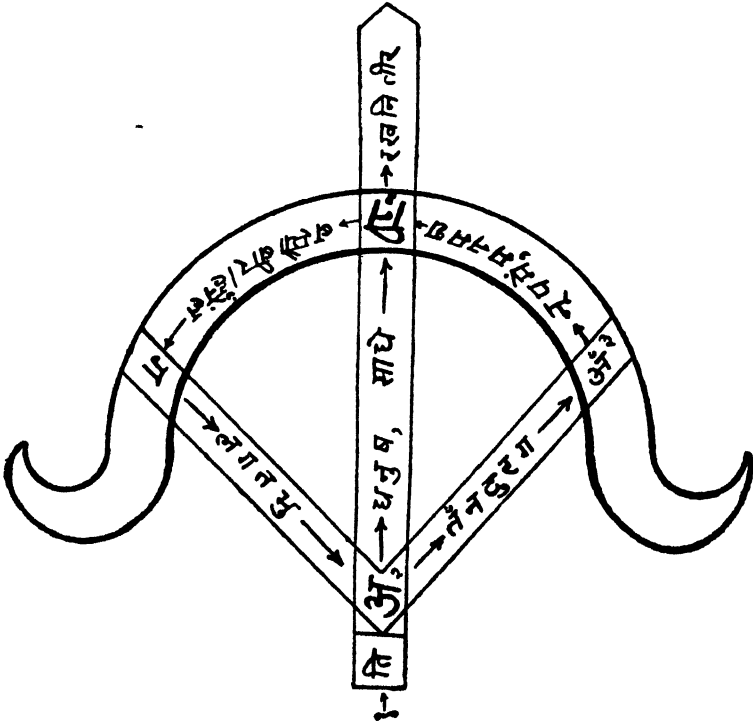
वि०—दासजी कृत इस धनुष-बद्ध छंद के पढ़ने का निम्न प्रकार है। धनुष, वाण और प्रत्यंचा (डोरी) रूप पाँच कोष्ठक हैं। उन में स्थित पाँच वर्ण—"ति, अ, अँ, नि, ग, हैं। अस्तु अंक एक के प्रारंभिक अक्षर 'ति' (एकवार), अ (दो वार) प्रथम, ति के साथ बाद में दोहे के तीसरे चरण के 'भुँ' के साथ, अँ (एकवार), 'नि' (दो वार, प्रथम, दोहे के प्रथम चरण रूप 'नि' बस्यौ में, दूसरे दोहे के अंतिम चरण 'नि'-रखनि में) और 'ग' (एकवार) का प्रयोग हुआ है। अस्तु वाण के अंतिम अंग में लिखित 'ति' से प्रारंभ होकर उसकी (डोरी) स्थित 'अ' के साथ दक्षिणावर्त्ती रूप में घूमता हुआ धनुष की वाम प्रत्यंचा में बँधी ज्या के साथ आकर वाण के अंतस्थित 'ति' के साथ जुड़ने वाला 'अ' को फिर लेकर वाण के फल (ऊपर) की ओर धँनुष के सहारे सीधा पढ़ा जायगा। "अर्थात् प्रथम बाण के निम्न भाग के दो अक्षर, दक्षिण भाग की आधी प्रत्यंचा (डोरी), इसके बाद दक्षिण भाग से ही प्रारंभ धनुष का अर्ध-चंद्राकार पूर्ण भाग, फिर वाम भाग को आधी प्रत्यंचा (डोरी) और उसका मध्यवर्त्ती अक्षर पढ़ कर पुनः शर के फल तक पढ़ना चाहिये।"

अथ हार-बंध चित्रालंकार जथा—

सुनि-सुनि पँनु हँनुमाँन किय, सिय-हिय[1] धँनि-धँनि माँनि।
धरि करि हरि गति प्रीति अति, सुख रुख दुख दिय भाँनि॥

अस्य उदाहरन
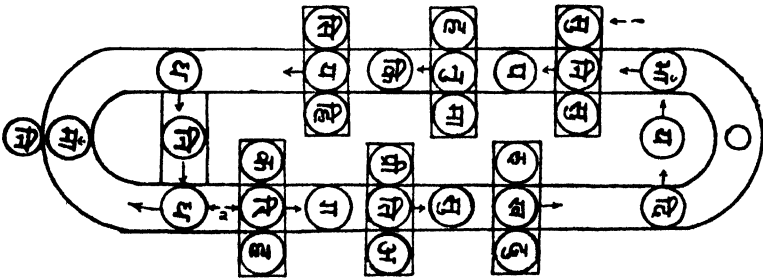
वि०—"दासजी कृत यह हार-बद्ध छंद प्रत्येक तीन-तीन मणिकाओं के बाद एक-एक मणिकाओं के सहारे आगे हार रूप बढ़ता हुआ अंत में प्रथम तीन मणिका के मध्य की मणिका पर समाप्त होगा। अर्थात् अंक एक से क्रमशः

पा०—१. (वे०) जिय...।

घूमता हुआ अंक नौ की प्रथम मणिका 'माँ' के बाद प्रथम अंक स्थित मध्यवर्ती मणिका के 'नि' अक्षर पर समाप्त होगा।"

अथ मुरज-बंध चित्रालंकार जथा—

जैति जो जँन तारिनी, कीर्ति[1] जो बिसतारनी।
सो भजौ प्रँन तारिनी, छोभ[2] जो जँन तारनी॥

अस्य उदाहरन

जै ति	जो	जँन	तारनी
कीर्त्ति	जो	बिस	तारनी
सो भ	जो	प्रँन	तारनी
छो भ	जो	जँन	तारनी

वि०—"मुरज संस्कृत-शब्द कोषों के अनुसार 'मृदंग का नाम-भेद यथा—मृदंगा मुरजाः भेदा०...(अ० को०—१, ५) कहा है। अस्तु उसके बजाने के गति-भेदानुसार यह पढ़ा जाता है।

अथ छत्र-बंध चित्रालंकार जथा—

दँनुज-निकर[3] दल-दलँन, दाँनि देवतँन अभैवर।
सरद सरबरी नाथ, बदँन सत मदँन-गरब-हर॥
तरुँन-कँमल-दल नेंन, सिर ललित पाँखें[4] सोभित।
लखि[5] भोरी भो[6] बीर, सु सँमुदित[7] तँन-मँन लोभित॥
तँन सरस भीर[8] प्रदनँनबते, मरकत-छबि-हर कांति-बर।
ते 'दास' परँम-सुख सदँन सत[9], मगँन रहत यह रूप पर॥

पा०—१. (वें०) कांति...। २. (का०) छो भजो...। (सं० पु० प्र०) सो भजौ जन तारितें...तारितें। ३. (प्र०) दनुजनि-कर...। ४. (वें०) (प्र०) पखे...। ५. (का०) लहि...। ६. (वें०) (प्र०) मों बीर...। ७. (का०) (वें०) (प्र०) सुसम दुति...। ८. (का०) भीर प्रदन नवह ते, मरकत-छबि हर को तिबर। (वें०) नीर प्रद न बहुते...। (प्र०) नीर प्रदन बहुते...। ९. (वें०) (सं० पु० प्र०) खे...।

अस्य उदाहरन
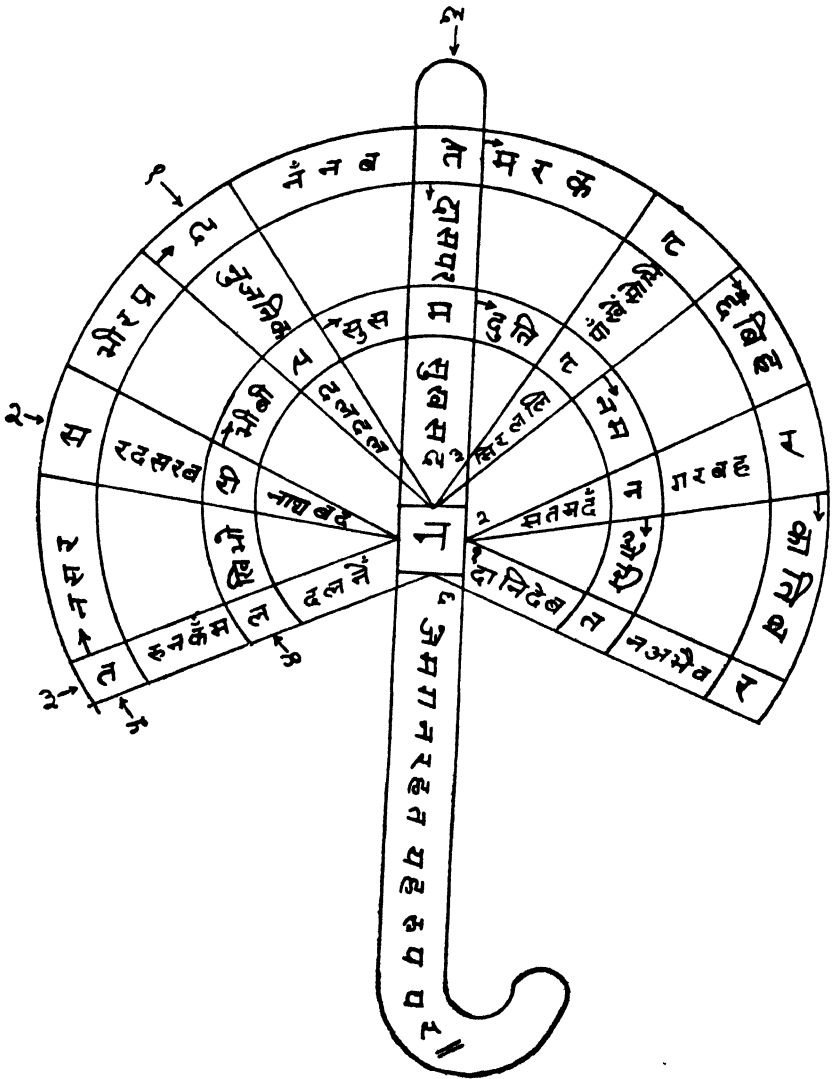
वि०—"यह छत्र-बंध चित्र तीन ३=६ तूलिका, दो-आदि और मध्य संयुक्त ३ चंद्राकार तनाव और एक डंडी मिलकर नौ भागों में विभक्त है। इन ३ × ६ तूलिकाओं के संगम-स्थल में जो कोष्ठक है उसमें 'न' अक्षर विराजमान

हैं और वह तीनों चरण-गत अर्धाली (तूलिका) के साथ जुड़ा हुआ है। अस्तु, उसके पढ़ने का ढग अंकानुसार क्रमशः इस प्रकार है। प्रथम चरन डंडी के वाम पक्षी पहली तूलिका अंक १ से चलकर डंडी के दक्षिण भाग में स्थित अंतिम, अर्थात् तीसरी तूलिका (तिल्ली) पर समाप्त होगा। दूसरा चरण भी डंडी के वाम-भाग-स्थित दूसरी (अंक-२ से) तूलिका से प्रारंभ होकर डंडी के दक्षिण भाग वाली दूसरी (अंतिम से पहली) तूलिका पर समाप्त होगा। इसी प्रकार तीसरा चरण—"तरुँन०..." वाम भाग की अंतिम (अंक—३) तूलिका से डंडी के दक्षिण भाग का प्रथम तूलिका पर समाप्त होगा। चौथा-चरण—"लखि भोरी०"... मध्य के चंद्राकार के अनुसार, पाँचवाँ चरण—"तँन सरस०"—प्रथम चंद्राकार (तनाव) के अनुसार और छठा चरण—"ते दास०" डंडी के अग्रभाग से प्रारंभ कर उसके पकड़ने के स्थान तक क्रमशः अंक – १, २, ३, ४, ५, ६, के अनुसार पढ़ा जायगा। यहाँ भी यह ध्यान रखना चाहिये मध्यवर्ती कोष्ठक स्थित 'न' की भाँति प्रत्येक तूलिका के आदि अक्षर—द, स, त और अर्ध भाग रूप उसके अंत अक्षर—र, र, त तथा उसके मध्य के तनाव (चंद्राकार) में स्थित तूलिकाओं के मिलन स्थान रूप—ल, री, र, भ, त, न, त, एवं बाहरी तनाव-स्थित तूलिका के आदि अक्षर—त, स, द, ते, त, र, र भी छंदगत शब्दों के आवागमन के प्रयोजक हैं।"

अथ परवत-बंध चित्रालंकार जथा—

के चित चै हैं[1] कै तो पर दै है, लली तुव[2] ब्याधिन सों पचिकै।
नीरस काहे करै रस-बात में, देहि औ लेहि सदाँ[3] सचिकै॥
नच्चत मोर, करैं पिक सोर, बिराजतो भोंर घँनों मचिकै।
के चित है रवनी तँन तोहि, हितोंन तँनी[4] बर है तचिकै॥

वि०—"यह पर्वत-बद्ध चित्रालंकार का शब्द-सौष्ठव है। इसे पढ़ते समय प्रथम अंक के नीचे वाले—१, २, ३ कोष्ठक, फिर ४ अंक के तीन कोष्ठक, फिर ५ अंक वाले पांच कोष्ठक, इसी प्रकार छह के सात, सात के नौ, आठ अंक के ग्यारह, नौ अंक के तेरह और दस (१०) अंक के पंद्रह कोष्ठक लिखित अक्षरों को क्रमशः पढ़ते अंत में अंक—११ से सीधे एक-एक कोष्ठक के अक्षर पढ़ते हुए छंद के चारों चरण समाप्त करने चाहिये।"

पा०—१. (वे) बैहै...। २. (वें०) जिय...। ३. (स० पु० प्र०) (वें०) (प्र०) सुखे ..। ४. (का०) नीबर है...।

अस्य उदाहरन—

अथ वृच्छ-बंध चित्रालंकार जथा—

आए[1] ब्रज-अवतंस, सु तिय रहि तकि निरखत छँन।
सुरपति कौं ढंग लाइ, सुर-तरु हि लिय निज धरि-पँन॥
सुमति भाँवती पबरि, सु छबि सरसत सुंदरि अति।
सुँमन धरे बहु[2] बाँन, सु लखि जीजति पच्छी जति॥
केतिक, गुलाब, चंपक, दवँन, मरूअ, निवारी, छाज हीं।
कोकिल, चकोर, खंजन, धबर, कुरर, परेवा, राज-हीं॥

वि० – "यह श्री दास कृत वृच्छ-बद्ध चित्रालंकार-युक्त छप्पय छंद है। इस वृच्छ में प्रथम स्थूल (जड़), अंक एक से सीधे मध्य के 'सु' अच्छर तक जाकर फिर 'सु' को प्रधान (शब्द का अग्रवर्ण) मान कर क्रमशः सातों—तीन वाम भाग में, एक मध्य में और तीन दच्छिण भाग में स्थित डालियों के आधे-आधे चरणों को पढ़ते, फिर अंक ५ से चंद्राकार रूप तीन-तीन पत्रावलि में भूषित

पा०—१. (का०) आयौ...। २. (वें०) धैंनु...।

अक्षरों को वाम से दक्षिण भाग तक और तदुपरांत अंक '७' को अंक पाँच के अनुसार पढ़ना चाहिए।"

अस्य उदाहरन
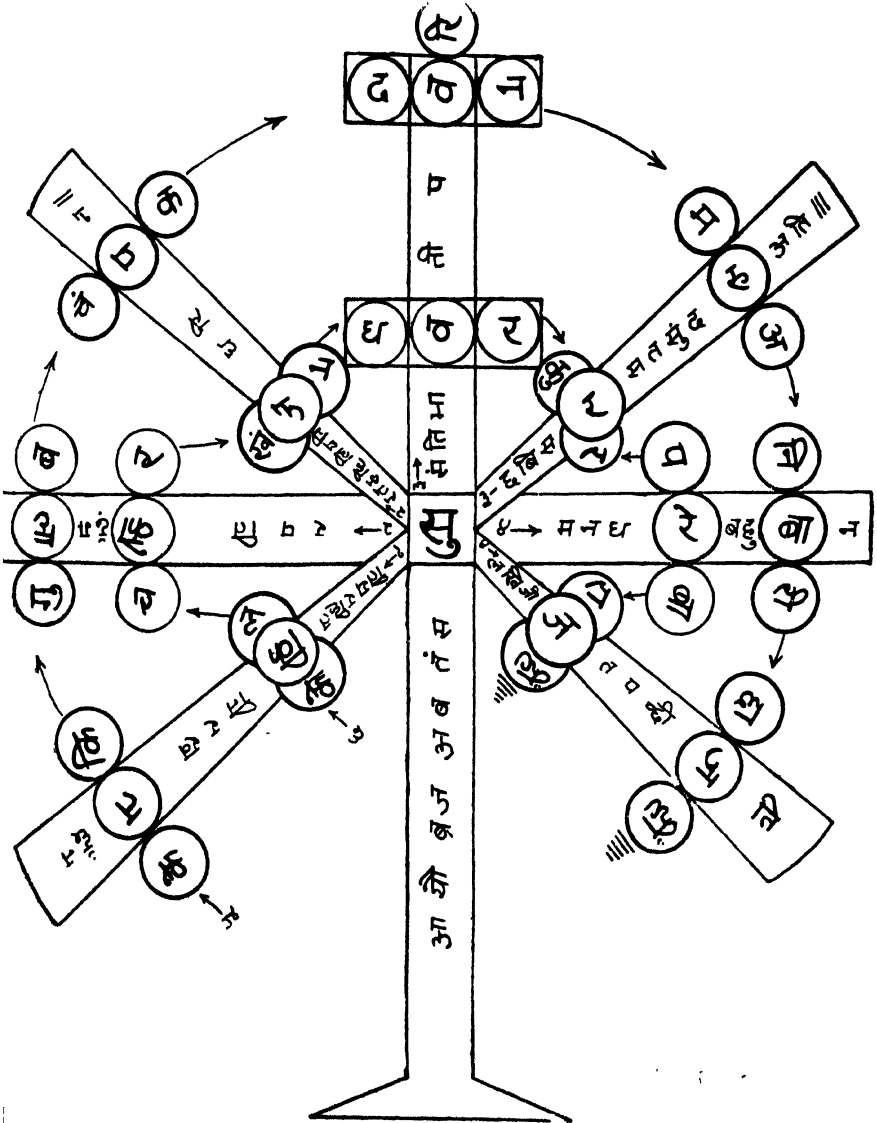
अथ कपाट (किवार) बंध चित्रालंकार जथा--

भव-पति, भुव-पति, भक्ति-पति, सीता-पति रघुनाथ।
जस-पति, रस-पति, राम-पति, राधा-पति जदुनाथ॥

अस्य उदाहरन

[1] भ व प	ति,	प स ज [6]
[2] भु व प	ति,	प स र [7]
[3] भ क्त प	ति,	प स रा [8]
[4] सी ता प	ति,	प धा रा [9]
[5] र घु ना	थ,	ना दु ज [10]

वि०—"दासजी का यह 'दोहा' छंद 'कपाट' बद्ध है।. कपाट में तीन वस्तुएँ प्रधान होती हैं, जैसे—"पट्ट (दो), 'दिला' (खाने, जिनकी संख्या ३ से पाँच तक होती है) और 'बेनी' (यह पट्ट-विशेष में टड़े रूप से लगती है और दूसरे पट्ट को बाहर नहीं निकलने देती) जिसे आप तथा-लिखित चित्र में अंक—१, २, ३ में—१-३ पट्ट, २ बेनी द्वारा जान सकते हैं। अस्तु प्रत्येक पट्ट के दिला जिनकी संख्या यहाँ पाँच है बीच के बेनी रूप अंक—२ के नीचे वाले पाँच खानों में लिखित—ति, ति, ति, ति और थ लोम-विलोम से अंक-१, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९ और १० अंकों में विभक्त—"भव-पति', 'भुव-पति', सीता-पति, रघुना-'थ' बनकर छठवें अंकानुसार क्रमशः विलोभ रूप से—जसप-'ति', रस प-'ति', रास प-'ति', राधा- प-'ति', जदुना-'थ' रूप आधा दोहा बन जाता है।"

अथ अरध-गतागत चित्रालंकार लच्छन

आधे-ही ते एक जँह, उलटौ-सूधौ[1] एक।
उलटें-सूधें[2] द्वै कबित, त्रि-बिधि 'गतागत' टेक॥

पा०—१. (का०) (वें०) (प्र०) सीधौ,...। (सं० पु० प्र०) उलटे-सीधे...। (रा० पु० का०) उलटे-सूधे...। २. (का०) (वें०) (प्र०) (सं० पु० प्र०) सीधें...।

अस्य उदाहरन

दास मेंन न में सदा, दाग कोप पको गदा।
सैल सोनँन सो लसै, सैन[1] दैत तदै नसै॥

१	दा	स	में	न	२
३	दा	ग	को	प	४
५	सै	ल	सो	न	६
७	सै	न	दै	त	८

वि०—"दासजी ने इस "अर्ध-गतागत" चित्रालंकार का वर्णन करते हुए उसे आधे-आधे चरणों के लोम-विलोम से चार चरणों का छंद बननेवाला, उलटने-पलटने से एक-ही छंद, अर्थात् पूर्व चरण को उलट कर पढ़ने से नीचे का चरण और नीचे के चरण को उलटा पढ़ने से पूर्व का चरण तथा उलटा-सीधा दोनों से बनने वाला तीन भेदों का उदाहरण वर्णन दिया है। इस प्रथम उदाहरण में ऊपर दिये चित्रानुसार एक-एक चरण के उलटने से वही चरण, जैसे—"दास में न न में सदा" दास में न न में सदा" की भाँति छंद का प्रत्येक चरण बन जाता है।

अथ दुतीय उलटौ-सूधौ उदाहरन

रही भरी कब ते हिऐं, गसी[2] सि निरखनि वीर।
रती निखर निसि-सी गऐं, हि[3] ते बकरी अहीर॥

अस्य तिलक

या दोहा के ऊपर कौ तुक (प्रथम चरण) उलटौ पढ़िबे सों नीचे की तुक (चरण) और नीचे की तुक (चरण) कों उलटौ पढ़िबे सों ऊपर की तुक (चरण) बन जाय है।

पा०—१. (वे०) सेन दै, तत दै...। २. (सं० पु० प्र०) नहीं हैं निरखनि...। ३. (वे०) गए हितैब करी...।

पुनः उदाहरन

सखा दरद को री हरी, हरी को दरद खास।
सदाँ अकिल बाँनें गँनें, गँनें बाल किब दास॥

अस्य तिलक

इहाँ हूँ दोंनों चरनँन कों उलटे पढ़िबे सों दोंनों चरन बनें हैं।

पुनः उदाहरन

रे भज गंग सुजाँन गुँनी, सु सुँनी[1] गुँन जासु गगंज भरे।
रे तक ने अगलो लहि नेंक[2], कनें हिल लोग अनेक तरे॥
रे फ समोरघ[3] जाहिर बास, सबार हि जा घर[4] मो सफरे।
रे खत पान-हि जोहिते[5] 'दास', सदा तेहि जोहि न पात खरे॥

अस्य तिलक

इहाँ हूँ चारों चरनँन कों उलटौ पढ़िबे सों चारों चरँन बिपरीत अर्थ में बनें हैं।

अथ द्वै सों उलटौ-सूधौ जथा—

न जाँनत हुय[6]-हि 'दास' सों, हँसौ कोंन तन गैल।
न[7] आँहिन यति दुरेब सों, रमोनत रब-रस रैल॥

उलटौ जथा—

लरै सरब तन मोर सों, बरे दुतिय नहिं आँन।
लगै न तन कों सौहँ सों, सदा हियहु तन जाँन॥

वि०—"ऊपर का दोहा—"न जानत हुय०..........सीधा है और नीचे वाला दोहा उसी का उलटा (विपरीत) हुआ रूप है।"

पुनः सूधौ-उलटौ यथा—

सीबन-माल-हि हीन जलै महि, मोहि दगौ अति है[8] तर लो।
सीकर जी जरि हाँनि ठयौ, सु लयौ कबि 'दास' न चेत[9] पलो॥

पा०—१. (का०) गुनीं...। २. (का०) (वें०) (प्र०) नें कु कुनेहिल लोग...। ३. (वें०) समोरथ...। ४. (वें०) धर...। ५. (का०) (वें०) जो हित दास...। ६. (का०) (वें०)... जानत-हु यहि दास...। ७. (का०) ना आहिन अति दुरब सौ,...। (वें०) ना आहिन पति दुरब सौ. रमो न त बरस...। (प्र०) न आँहिं नयति दुरेब...। (स० पु० नी०सी०) ना आहि पति दुर बसौ...। ८. (का०) (वें०) अति हेत रलो। ९. (का०) (वें०) (प्र०) चैत...।

सील न जाँनति भाँत बसार, वृथाहि निरीखत[1] है न भलो।
सांस जलायौ मलैज हुँ तें, यहि भोखमु जोन्ह न जाँन[2] बलो॥

उलटौ जथा—

लोचन जाँनन्ह जो मुख भो, हिय तें हुँ जलै मयौ लाज ससी।
लोभ न है न खरो निहिया, दरसावत भाँतिन जान लसी॥
लोपत चैन सदा बिकयौ, सुलयौ ठनि हारि जजीर कसी।
लोरत है तिन्ह गोदहि मोहि मलैज नहीं हिल मान बसी॥

वि०—"ये दोनों सवैया भी दास कृत सोधे-उलटे के उदाहरण हैं। प्रथम छंद उलटा है और दूसरा छंद, पूर्व के नीचे के चरण से उलटा पढ़ने पर बना है। अर्थ भी विपरीत है।"

अथ त्रिपदी चित्रालंकार लच्छन तथा—

मध्य चरँन इक दुहुँ दलँन, त्रिपदी जाँनहुँ सोइ।
वहै मंत्र गति, अस्व गति, सुद्ध सु जाहू[3] दोइ॥

अस्य उदाहरन जथा—

'दास' चारु चित चाइ भइ, महै स्याँम छबि लेखि।
हास हारु हित पाइ भइ, रहै काँम दबि देखि॥

दा[1]	चा	चि	चा	म	म	स्याँ	छ	ले
स	रु	त	इ	इ	है	म	बि	खि
[2]हा	हा	हि	पा	भ	र	काँ	द	दे

वि०—"जब एक मध्य चरण से दोहे के दोनों दल (चरण) बनाये जाँय, वहाँ 'त्रिपदी' चित्रालंकार कहा जाता है। इस त्रिपदी चित्रालंकार से 'मंत्रगति' तथा अश्वगति-रूप से दो चित्रालंकार और बनते हैं। यह शुद्ध त्रिपदी का उदाहरण है।

संस्कृत-साहित्य में इस त्रिपदी को "चरण-गुप्त" कहा गया है। इसकी रचना जैसा कि उसका नियम है प्रत्येक दल (चरण) में सोलह-सोलह अक्षर होने

पा०—१. (का०) (वें०) (प्र०) निरीखन···। (वें०)···न जाँनति भा तब सारद, —याहि निरीखन···। २. (का०) (वें०) जात···। ३. (का०) (वें०) (प्र०) सु याहू ··।

चाहिये। अस्तु, दोंनों दलों के सम-अक्षर—दूसरा, चौथा, छठवाँ, आठवाँ, दसवाँ, बारहवाँ, चौदहवाँ और सोलहवाँ अक्षर जैसे मध्य के कोष्ठक में—स[२], रु[४], त[६], इ[८], इ[१०], है[१२], म[१४], त्रि और खि[१६] "एक होने चाहिये। जिससे ऊपर दिये चित्र की भाँति दोनों दलों में लग सकें।"

दुतिय त्रिपदी जथा—

जहाँ[१]-जहाँ[२] प्यारे[३] फिरें[४], धरें[५] हाथ[६] धँनु[७] बाँन[८] ।
तहाँ[१]-तहाँ[२] तारे[३] घिरें[४], करें[५] साथ[६] मँनु[७] प्राँन[८] ॥

अस्य उदाहरन

ज[१]	ज	प्या	फि	ध	हा	धँ	बाँ
[२]हाँ[४]	हाँ	रे	रें	रें	थ	नु	न
[३]त	त	ता	घि	क	सा	मँ	प्राँ

वि०—"इस त्रिपदी के उदाहरन में भी वही बात है। यहाँ भी—दूसरा, चौथा, छठवाँ, आठवाँ, दसवाँ, बारहवाँ, चौदहवाँ और सोलहवाँ अक्षर—हाँ, हाँ, रे, रें, रें, थ, नु, न जैसा अंकों से ज्ञात होता है एक हैं और वे दोंनों दलों के निर्माण में लगते हैं।"

अथ मंत्र-गति चित्रालंकार—

ज[१]हाँ-ज[३]हाँ प्या[५]रे फि[७]रें, ध[९]रें हा[११]थ ध[१३]नु-बाँ[१५]न ।
तहाँ-तहाँ तारे घिरें, करें साथ मँनु-प्राँन ॥

अस्व उदाहरन

[१] ज[२]	हाँ[१८]	ज[३]	हाँ[२०]	प्या[५]	रे[२२]	फि[७]	रें[२४]	ध[९]	रें[२६]	हा[११]	थ[२८]	धँ[१३]	नु[३०]	बाँ[१५]
[२]त[१७]	हाँ[२]	त[१९]	हाँ[४]	ता[२१]	रे[६]	घि[२३]	रें[८]	क[२५]	रें[१०]	सा[२७]	थ[१२]	मँ[२९]	नु[१४]	[३१]प्राँ

वि०—"मंत्र-गति चित्रालंकार की चाल—बनावट टेढ़ी—M इस प्रकार होती है। यहाँ प्रथम चरण का प्रथम अक्षर 'ज' और द्वितीय चरण का द्वितीय अक्षर—'हाँ' इसी प्रकार क्रम से प्रथम चरण के—एक, तीन, पाँच, सात, नौ, ग्यारह, तेरह और पंद्रहवें अक्षर—"ज, ज, प्या, फि, ध, हा, ध

और बा" द्वितीय चरण का दूसरा, चौथा, छठवाँ, आठवाँ, दसवाँ, बारहवाँ, चौदहवाँ और सोलहवाँ अक्षर— हाँ, हाँ, रे, रें, रें, थ, नु, न" से संयोग करने पर "मंत्र-गति" रूप में यह अलंकार बनता है। संस्कृत में इसका दूसरा नाम—"गोमूत्रिकाचित्रालंकार" है।

अथ अस्व-गति चित्रालंकार जथा—

जहाँ-जहाँ प्यारे फिरें, धरें हाथ धँनु-बाँन।
तहाँ-तहाँ तारे घिरें, करें साथ मँनु प्राँन॥

अस्य उदाहरन

ज[१]	हाँ[१८]	ज[३]	हाँ[२०]	प्या[५]	रे[२२]	फि[७]	रें,[२४]
ध[९]	रें[२६]	हा[११]	थ[२८]	धँ[१३]	नु[३०]	बाँ[१५]	न[३२]।
त[१७]	हाँ[२]	त[१९]	हाँ[४]	ता[२१]	रे[६]	घि[२३]	रें[८]
क[२५]	रें[१०]	सा[२७]	थ[१२]	मँ[२९]	नु[१४]	प्राँ[३१]	न[१६]॥

वि०—'यह दासजी कृत "अश्व-गति"—शतरंज (खेल) के घोड़े की भाँति ढाई घर चलने की चाल से पढ़ा जाने वाला 'चित्रालंकार है, जो बत्तीस-कोष्ठकों (घरों) में विभक्त है। इसे चित्र में दिये गये अंकानुसार पढ़ने से ऊपर उद्धृत दोहा-छंद बनता है।"

अथ सुमुख-बंध चित्रालंकार जथा—

सुबाँनी, निदाँनी, भिड़ाँनी भवाँनी।
दयाली, क्रिपाली[१], सुचाली, बिसाली॥
बिराजै, सुराजै, खलाजै, सु साजै।
सु चंडी, प्रचंडी, अखंडी, अदंडी।

वि०—"दासजी कृत यह "सुमुख-बद्ध" चित्रालंकार नीचे लिखे अनुसार सोलह प्रकार से छंद (भुजंगप्रयात) बनाता है। चाहें जहाँ से चरण-गत चार-चार शब्दों कों लेकर उलटते-पलटते क्रमशः (अनेक) छंद बन सकते हैं।" यह उदाहरण—कामधेनु, सर्वतोमुख या भद्र रूप से भी लिखा, या कहा जा सकता है।"

पा०—१. (प्र०) कपाली…।

अस्य उदाहरण

सु बाँ नी	नि धाँ नी	त्रि डाँ नी	भ बाँ नी।
द या लीं	क्रि पा ली	सु धा ली	बि सा ली॥
बि रा जै	सु रा जै	ख ला जै	सु सा जै।
सु चं डी	प्र चं डी	अ सं डी	अ दं डी॥

अथ सरबतोमुख चित्रालंकार जथा—

मारा रामु; मुरा रामा, रास जाँनि निजाँ सरा।
राजा रबी, बीर जारा, मुनि बीसु सुबी निमू॥

अस्य उदाहरन

१ मा	रा	रा	मु	मु	रा	रा	मा
२ रा	स	जाँ	नि	नि	जाँ	स	रा
३ रा	जा	र	बी	बी	र	जा	रा
४ मु	नि	बी	सु	सु	बी	नि	मु
मु	नि	बी	सु	सु	बी	नि	मु४
रा	जा	र	बी	बी	र	जा	रा३
रा	स	जाँ	नि	नि	जाँ	स	रा२
मा	रा	रा	मु	मु	रा	रा	मा१

वि०—यह दोहा-छंद के अक्षरानुसार चौंसठ (६४) कोठों (घरों) में एक-एक अक्षर लिखने से और किसी कोष्ठक-गत अक्षर से प्रारंभ कर पढ़ें, उपर्युक्त दोहा बन जायगा, अर्थात् पढ़ने में आयगा।"

अथ काँमधेंनु-बंध चित्रालंकार लच्छन—

गहि, तजि प्रति कोठँन बढ़ें, उपजें छंद अपार।
व्यस्त-समस्त, गतागतौ, काँमधेंनु-बिस्तार॥

अस्य उदाहरन

'दास' चहै नहिं और सों यों, सब गूढ़ ए हैं जँन जाँन ररै सति।
आस गहै यहिं ठौर सों ज्यों, नब रुढ़ ए सै तँन प्राँन हरै अति॥
बास दहै गहिं दौर सों ह्यों, अब तूढ़ ए तै प्रँन ठाँन धरै रति[1]।
हास लहै वहिं तौर सों प्यों, तब मूढ़ ए मैं मँन माँन करै मति॥

दास	चहै	नहि	और	सों	यों	सब	गूढ़	एहै	जँन	जाँन	ररै	सति
आस	गहै	यहिं	ठौर	सों	ज्यों	नब	रूढ़	एसै	तँन	प्राँन	हरै	अति
बास	दहै	गहि	दौर	सों	ह्यों	अब	तूढ़	एतै	प्रँन	ठाँन	धरै	रति
हास	लहै	वहिं	तौर	सों	प्यों	तब	मूढ़	एमैं	मँन	माँन	करै	मति

वि०—"यह कामधेनु-बद्ध चित्रालंकार दासजी कृत १३+४—५२ कोष्ठकों (घरों) में विभक्त है। चित्र-गत कोष्ठकों में निहित अक्षरों को चाहे जिस कोष्ठक से—व्यस्त-समस्त रूप से, या गतागत क्रम से, जिस तरह इच्छा हो पढ़ो पूर्ण छंद बनता जायगा। इस प्रकार कोष्ठकानुसार इसके बावन (५२) छंद बनते हैं।"

अथ चरँन-गुप्त चित्रालंकार जथा—

री सखि, कहा कहौं छबि गुँन-गाँन, अलिन बसायौ काँनन में।
काँनन-तजि पुँनि दृगँन बस्यौ ज्यों, प्राँनी बिरमें थाँनन में॥
क्रँम-क्रँम 'दास' रह्यौ मिलि मंन सों[2], कढ़ै न बिबिध बिधाँनन में।
छूटे ग्याँन सँमूहँन कों अब "भ्रमें बिहारी प्राँनन में॥"

पा०—१. (वें०) सति···। २. (वें०) सा···।

अस्य उदाहरन

[५]री[१]	स	खि	क	हा[४]	क	हौं	छ	बि[३]
गुँ	न	गँ	न	अ	लि	न्ह	ब	सा
यौ	काँ	न	न	में ।[१]	काँ	न	न	त
जि	पुँ	नि	ह	गँ	न	ब	स्यौ	ज्यों
[६] प्राँ	नी	बि	र	में[९]॥[४]	थाँ	न	न	में[२]॥[३]
कँ	म	कँ	म	'दा	स'	र	हयौ	मि
बि	म	न	सौं	क	ढै	न	बि	बि
ध	बि	धाँ	न	न	में ॥२	लू	टै	ग्याँ
न[७]	सँ	मू	हँ	न[८]	कों	अ	ब	अ[१]

*वि*०—"दास कृत इस चित्र-विधान में—"भ्रमें बिहारी प्राँनन में" रूप नौ अक्षर गुप्त है। अर्थात् हैं तो सही, पर साधारण दृष्टि से वे परे हैं। इन शब्दों को कोष्ठक में दिये गये अंकों—१, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९ के सहारे जाना जाता है। अर्थात् जो 'भ्रमें बिहारी प्राँनन में "रूप चरण गुप्त है, वह प्रकट हो जाता है।"

अभि[१] लाखा[२] करी[३] सदा[४] ऐस[५]नि का[६]होय[७] बृत्थ,[८]
सब[९] ठौर[१०] दिन[११] सब[१२] याही[१३] सबौं[१४] चर[१५] चाँन ।*
सौभा[१६]लई[१७]नींचें[१८]ग्याँन[१९]चला[२०] चल[२१]‡-ही कौ[२२]अंसु[२३]
अंत[२४]है क्रिया[२५]प[२६]ताल[२७]निंदा[२८]रस[२९]ही को[३०] खाँन ॥
सेनापति[३१] देवी[३२] कर[३३] प्रभा[३४] गँन[३५] ती† को[३६] भूप,
पंना[३७],मोती[३८],हीरा[३९],हेम[४०],सौदा[४१]हास[४२]ही कौ[४३]जाँन ।
हीय[४४] पर[४५]॥ जीब[४६] पर[४७] बदे[४८] जसु[४९] रटे[५०] नाँउ,
खगा[५१]सँन[५२], नग[५३]धर[५४],सीता[५५]नाथ[५६], कौल[५७]-पाँन ॥

पा०—* (का०) (वे०) अभिलाखा कारी मंदा येसनि कामीय बृथ, सब ठौर दीन सब-याही…। ‡ (प०) हलाहल…। † (प्र०) सोभा गनती…। ॥ (प्र०) ही ऊपर, देव पर, बदे जस…।

अस्य तिलक

"या कबित्त-अंतर-बरँन, लै तुकंत है छंड।
दास-नाम, कुल-ग्राँम कहि, राम-भक्ति-रस मंड॥"

वि०—"दासजी कृत यह मध्याक्षरी-ग्रहण-बद्ध चित्रालंकार है, जिसमें आपका नाम, भाई का नाम, पिता का नाम, बाबा (पितामह) का नाम, प्रपितामह का नाम, देस और ग्राम का नाम एक-एक अक्षर छोड़ने से बनते हैं। जैसे—"भिखारी दास कायस्थ, बरन-वाहीवार, भाई चैनलाल कौ, सुत कृपालदास कौ, नाती बीरभान कौ, पंनाती रामदास कौ, अरबर देसु, टेंउँगा नगर कौ" और जैसा अक्षर स्थित अंकों से ज्ञात होता है। एक बात और, वह यह कि यह 'तिलक' रूप दोहा केवल तीन—प्रतापगढ़ राज्य-पुस्तकालय, काशी राज्य पुस्तकालय और संमेलन प्रयाग की ही प्रतियों में मिलता है, अन्यत्र नहीं।

अथ चित्रकाव्य-भूषँन-संख्या कथन—

भूषँन छ्यासी अर्थ के, आठ बाक[1] के जोर।
तिगुँन चारि पुनि कीजिये, अँनप्रास इक ठोर॥

*

सब्दालंकृत पाँच गँनि, चित्र-काव्य इक पाठ।
इकइस बातादिक सहित, ठीक सात-पर[2] आठ॥

वि०—"दासजी ने इन दोनों दोहों में 'काव्य-निर्णय' के अलंकारों की संपूर्ण संख्या का—योग उनके भेदादि छोड़ कर दिया हैं। यह संख्या उक्त दोहों के अनुसार एक सौ आठ (१०८) है। यथा—१,अर्थालंकार—८६, २, वाक्यालंकार—८, ३,काव्यगुणांतर्गत वर्णित अलंकार—३, ४,अनुप्रासालंकार—४, ५,शब्दालंकार—५, ६,चित्रालंकार—१, ७,रसवतादि अलंकार—१, संपूर्ण योग = १०८। कुछ विद्वान् उक्त दोहों के पाठांतर मानकर काव्य-निर्णय प्रयुक्त अलंकारों की संख्या '१३२' भी प्रस्तुत करते हैं, जो मूलग्रंथ से विपरीत है।

सुसमृद्ध संस्कृत-रीति-ग्रंथों से लेकर ब्रजभाषा के साहित्य तक अलंकारों की संख्या भेदाभेद छोड़कर विभिन्न रही है। एकता किसी ने स्वीकार नहीं की।

पा०—१.(का०) (वे०) (प्र०) वाक्य···। २. (का०) (प्र०) सतोपरि···। (सं० पु० प्र०) सैंउ परि···। इकइस बातादिक सहित ठीक सतोपरि...।

सभी ने अपनी-अपनी प्रतिभा के कारण इस क्षेत्र में जोर-अजमाई की है…।
अस्तु, ब्रजभाषा में कुछ विशिष्ट विद्वानों—आचार्यों द्वारा मान्य संख्या इस प्रकार है, जैसे—आचार्य केशवदास ३७, भाषाभूषण-रचयिता महाराज जसवंतसिंह (जोधपुर) १०४, मतिराम त्रिपाठी ६७, आपके भाई कविवर भूषण ६५, देव ३६……इत्यादि। अन्य आचार्य जैसे—पद्माकर, ग्वाल, नवनीत-आदि के भी नाम लिये जा सकते हैं। इन महानुभावों ने भी अलंकार-संख्या में पार्थक्य का पल्ला नहीं पकड़ा है, सबने अपनी-अपनी राह अलग-अलग बनायी है। फिर भी दासजी मान्य संख्या सबसे अधिक है, यह निर्विवाद सिद्ध है। ज्ञात होता है आचार्य भिखारी दासजी ने अलंकार निदेर्शन में—उसके शास्त्र के अध्ययन में गहरी दृष्टि से काम लिया है। आप अपने से पूर्व और पर सभी ब्रजभाषा-रीति आचार्यों से आगे बढ़ गये हैं। अलंकारों का आपने सुंदर विकास किया है—उन्हें संस्कृत के अलंकार शास्त्र-निष्णात आचार्य उद्भट के समान अपनी पैनी दृष्टि से निरख-परखकर एक निराली वेष-भूषा में प्रस्तुत किया है।"

**"इति श्रीसकलकलाधरकलाधरबंसावतंस श्रीमन्महाराज कुँमार
श्रीबाबूहिंदूपति बिरचिते 'काव्य-निरनए' चित्र-काव्य-
बरनोननाम इकबिसतिमोल्लासः ॥"**

— —

अथ बाईसवाँ उल्लास

अथ तुक निरनै[1] बरनन जथा—

भाषा - बरनँन में[2] प्रथम, 'तुक' चाहिऐ बिसेखि।
उत्तँम, मध्यँम, अधँम सो, तींन भाँति की लेखि॥

*

सँमसरि कहुँ, कहुँ 'बिषँमसरि', कहूँ कष्टसरि साज[3]।
उत्तँम तुक के होत हैं, तींन भाँति के राज[4]॥

वि०—"दासजी ने इस उल्लास में 'तुकों' का—अंत्यानुप्रासों का कथन किया है। तुकों के प्रति आपका सबसे प्रथम कहना है कि 'भाषा-काव्य' में तुकें विशेषतायुक्त और सुंदर होनी चाहिये। आपने ये तुकें तीन प्रकार की, जैसे—उत्तम, मध्यम और अधम मानी है। उत्तम तुक के भेद भी आपने कहे हैं—सम-सरि, विषमसरि और कष्टसरि। इसके बाद आपने मध्यम तुक और उसके भेद—असंयोग-मिलित, स्वर-मिलित, दुर-मिलित और अधम तुक तथा उसके भेद जैसे—अमिल, सुमिल, आदि मत्त अमिल, अंत मत्त अमिल, बताते हुए अंत में 'वीप्सा', 'याम' और 'लाटि' तुकों का कथन कर इस उल्लास को समाप्त किया है।

संस्कृत-साहित्य ग्रंथों में तुकों का नाम—अंत्यानुप्रास विपर्यय रूप से उल्लेख किया गया है, यथा—

"व्यंजन चेद्यथावस्थं सहाद्येन स्वरेण तु।
आवर्त्यतेऽन्त्ययोज्यत्वादंत्यानुप्रास एव तत्॥"

—सा० द० १०, ६

अर्थात्, प्रथम स्वर के साथ-ही यदि यथावस्थ व्यंजनों की आवृत्ति हो तो उसे "अंत्यानुप्रास" कहते हैं। यह नाम करण इसका पदांत में होने के कारण पड़ा है। वहाँ इसके भेद—"सर्वांत्य[1], समांत्य-विषमांत्य[2], समांत्य[3], विषमांत्य[4]

पा०—१. (सं पु० प्र०) भेद...। २. (का०) (वें०) (प्र०) कौ...। ३. (का०) (वें०) (प्र०) राज। ४. (का०) (वें०) (प्र०) साज।

सम-विषमांत्य[4] और भिन्न-तुकांत्य[6]" मिलते हैं। दासजी कृत तुकों के भेद-उपभेद इनके अंतर्गत आ जाते हैं। यथा—

१—जिस रचना के चारों चरणों के अंत्याक्षर समान हों। २—जिस रचना के सम से सम और विषम से विषम अंत्याक्षर हों। ३—जिस रचना के सम चरणों के अंत्याक्षर मिलते हों, पर विषम चरणों के नहीं। ४—जिस रचना के विषम चरणों के अंत्याक्षर एक सदृश हों, सम चरणों के नहीं। ५—जिस रचना के प्रथम चरण के अंत्याक्षर द्वितीय चरण के अनुसार और तृतीय के अंत्याक्षर चतुर्थ के अनुसार हों। ६—जिस रचना के सम-विषम पदों के अंत्याक्षर न मिलते हों,—प्रति पद का अंत्य विभिन्न हो इत्यादि उक्त सर्वांत्यादि तुक कही गयी हैं। साथ-ही इस भिन्न तुकांत के-"प्रतिपद भिन्नांत्य, पूर्वार्द्ध तुकांत्य और उत्तरार्द्ध तुकांत्य" भेदों का भी उल्लेख मिलता है, जो भाषा साहित्य में नहीं है।

उर्दू-साहित्य में तुक का जिसे वहाँ 'काफ़िया' कहते हैं ब्रजभाषानुसार सुंदर प्रयोग किया जाता है। वहाँ काफ़िये के साथ 'रदीफ़' का भी उल्लेख किया गया है। उदारण के लिये काफिया जैसे—यार, तैयार बेजार, दो-चार नाचार— इत्यादि औ रदीफ़—"बैठे हैं" जैसे—यार बैठे हैं, तैयार बैठे हैं, दो-चार बैठे हैं, नाचार बैठे हैं—आदि। यह रदीफ़ काफ़िये के बाद रहता है और कभी बदलता नहीं, ज्यों का त्यों रहता है। ब्रजभाषा-साहित्य में भी इसकी बहुतायत है, जैसे—गहत है, चहत है, कहत है, रहत है"। इसमें गहत-चहत-इत्यादि काफिया और 'है' रदीफ है।"

प्रथम 'समसरि तुक कौ उदाहरन जथा—

फेरि-फेरि हेरि-हेरि करि-करि अभिलाख,
लाख-लाख उपमा बिचारत हैं कैहने।
बिधि-ही मनावें[1] जो घँनेरे दृग पावें, तौ-
चँहत याहि संतत निहारत-ही रैहने॥
निमिष-निमिष 'दास' रीझत-निहाल होत,
लूटें[2] लेति मानों लाख-कोटँन के लैहने।
एरी बाल, तेरे[3] भाल-चंदन के लेप आगें,
लोपि जात औरँन[4] जराऊँन के गैहने॥*

पा०—१. (वें०) मनाव...। २. (सं० पु० प्र०) लूटि...। ३. (सं० पु० प्र०) तेरी...। ४. (का०) (वें०) (प्र०) और के...। (सं० पु० प्र०) (शृं० नि०) और के हजारन के।...

* शृं० नि० (भि० दा०) पृ० ८६, २६३।

अस्य तिलक

इहाँ चारों—"कैहने, रैहने, लैहने" और "गैहने" समान हैं, तीन-तीन अच्छरँन कौं एक सी तुक हैं, ताते यै 'सँमसरि'—बराबर की तुक भई।"

दूजौ बिषमसरि तुक कौ उदाहरन जथा—

कंज सँकोचि[1] गड़े रहैं कीच[2] में, मींनँन बोरि दए[3] दह नीरँन।
'दास' कहैं मृग हूँ न[4] उदास कै, बास दियौ है अरंन्य गँभीरँन॥
आपुस में उपमा-उपमेइ ह्वै[5] नेंनँन[6] निंदत है कवि धीरँन।
खंजँन-हूँ कों उड़ाइ दियौ[7], हलके[8] करि दीने[9] अँनंग के तीरँन॥

अस्य तिलक

इहाँ तीन 'तुक'—"नीरँन, धीरँन औ तीरँन" तीन-तीन अच्छरन की अरु एक तुक—"गँभीरँन" चारि अच्छर की है वे सों "बिषँमसरि" तुक भई।

वि०—"दासजी कृत यह छंद ब्रजभाषा-साहित्य में उच्चकोटि का माना जाता है। फलस्वरूप सभी नये-पुराने संग्रह-कर्त्ताओं ने अपने-अपने संग्रहों में जैसे—शृंगार-निर्णय (भिखारी दास) पृ०-१८, नखसिख-हजारा (हफीजुल्लाह-खाँ) पृ०-१९७, सुंदरी-तिलक (भारतेंदु) पृ०-२६२, सुंदरी-सर्वस्व (पं० मन्नालाल) पृ०—२१, कविता-कौमुदी (रामनरेश त्रिपाठी) प्रथम भाग पृ०—४०४, शृंगार-लतिका-सौरभ (ददुवा साहिब-अयोध्या) पृ०—१९७, आँख और कवि गण (जवाहरलाल चतुर्वेदी) पृ०—६७', काव्य-कानन (राजा चक्रधर सिंह) पृ०—१७ इत्यादि अनेक ग्रंथों के नाम दिये और लिखे जा सकते हैं। वास्तव में यह छंद सुंदर है, ब्रजभाषा-साहित्य की शोभा है।"

पा०—१. (सुं० ति०) (सुं० स०) सकोचे...। २. (न० सि० ह०) (सुं० ति०) (सुं० स०) कीचन्हें, मीन...। ३. (का०) (वें०) (प्र०) (सं० पु० प्र०) (सुं० ति०) (न० सि० ह०) दयौ—दियौ...। ४. (का०) (वें०) (प्र०) (शृं० नि०) (सुं० ति०)...मृग हू कों उदास...। ५. (रा० पु० नी० सी०) हैं...। ६. (का०) (वें०) (प्र०) (शृं० नि०) (सुं० ति०) नैंन ए...। ७. (सुं० ति०) (सुं० स०) दए...। ८. (वें०) हलुको...। ९. (का०) (वें०) (प्र०) (सं० पु० प्र०) दीन्हों...।

तीसरौ "कष्टसरि" तुक उदाहरन जथा—

सात घरी-हूँ नहीं बिलगात, लजात औ[1] बात-गुँने[2] मुसकात हैं।
तेरी-सों खात-हों लोचँन रात ह्वै, सारस-पात हूँते[3] सरसात हैं॥
राधिका माधौ उठे परभात हैं, नेंन अघात हैं, पेखि प्रभात हैं।
आरस गात-भरे अरसात[4] हैं, लागि[5]-सों-लागि गरें गिरि जात हैं॥

अस्य तिलक

इहाँ—"मुसकात, सरसात, प्रभात, जात" इन चारों तुकँन में "प्रभात" तुक "कष्टसरि" है, कारँन यै ह्वै पदते आयौ ताते "कष्टसरि"।

अथ मध्यँम-तुक बरनन जथा—

असंजोग-मिलि, सुर-मिलित, दुरमिल तीन प्रकार।
मध्यँम-तुक ठैहराब ते, जिनकी[6] बुद्धि अपार॥

वि०—"दासजी ने इस लक्षण-द्वारा 'मध्यम तुक" के—"असंजोग-मिलित, स्वर-मिलित और दुर्मिल तीन भेदों का कथन किया है तथा इनके उदाहरण-ही नहीं, तिलक-द्वारा' व्याख्या भी की है।"

प्रथम असंजोग मिलित तुक कौ उदाहरन

मोहिँ भरोसौ जाँउगी, स्याँम-किसोरै ब्याहि।
आली मो अँखियाँ न-तरु[6] इती न रहिंवी चाहि॥*

अस्य तिलक

इहाँ—ब्याहि कौ समान बरनी तुक "ब्याहि" चहिये, पै वैसौ नाहीं, अर्थात् ब्याहि-समान 'चाहि' नाहीं, ताते असंयोग मिलित तुक मध्यँम है।

सुर-मिलित तुक कौ उदाहरन जथा—

कछु हेरँन के मिस हेरि उतै, बलि[7] आए कहा हौ महा बिष-वै।
दृग वाके झरोखँन-लागि रहे, सब देह-दही बिरहागँन[8] तै॥

पा०—१. (प्र०) (वें०) (प्र०) सों ··। २. (सं० पु० प्र०) ही में···। ३. (सं० पु०-प्र०) सों ··। ४. (सं० पु० प्र०) अँगरात···। ५. (रा० पु० नी० सी०) लाखि···। ६. (वें०) (सं० पु० प्र०) जिनकें···। ६. (रा० पु० नी० सी०) आँखियाँ न-तरु···। ७. (सं० पु० प्र०) चलि···। ८. (का०) (प्र०) बिरहागिनि में तै। (सं०पु०प्र०) बिरहागि में तै।

* भारती-भूषण (के०) पृ०—३७०।

कहि 'दास' बरैती[1] न एती भली, सँमझौ बृषभाँन लली वह हैं।
खरी भाँवरी होत चली तब ते, जब ते तुँम आए[2] हौ भाँवरी दै।

अस्य तिलक

इहाँ तुकांत में सुर (स्वर) "ऐ" कौ मेल—"बै, तै, है, दै" में है, बरन कौ नाहीं ताते "सुर-मिलित" (स्वर) तुक भई।

तीसरौ "दुरमिलित तुक" कौ उदाहरन जथा—

चंद सौ आँनन राजत[3] तीय कौ, चाँदनी सों उतरीय[4] है उज्जल।
फूल से 'दास' झरें बतियाँन में, हाँसी सुधा-सी लसै अति निरमल॥
बाफता[5]-कंचुकी-बीच बने[6] कुच, साफ ते[7] तार मुलंम[8] औ स्रीफल।
ऐसी प्रभा अभिरौंम लखें, हियरा में कियौ[9] मँनों धाँम हिमंचल॥

अस्य तिलक

इहाँ—"उज्जल, निरमल, स्री (श्री) फल औ हिमंचल में तुक दूरि ते मिलै है, ताते "दुरमिलित-तुक" कहिऐ।

अथ अधँम तुक बरनन जथा—

अमिल-सुमिल, मत्ता-अमिल, आदि-अंत कौ होइ।
ताहि 'अधँम' तुक कहत हैं, सकल सयाँने लोइ॥

वि०—"दासजी इस दोहे द्वारा अधम-तुक और उसके तीन भेद—"अमिल-सुमिल" (अमलित-सुमिलित), 'आदि मत्त अमिल' और अंत मत्त-अमिल, अर्थात्—आदि मात्रा अमिल, अंत मात्रा-अमिल का वर्णन किया है। इनके आपने उदाहरण भी दिये हैं और व्याख्या रूप 'तिलक' से इन्हें बुद्धिगत भी बनाया है। इसलिये विशेष व्याख्या (परिभाषा) असंगत है।"

प्रथम अमिल-सुमिल अधँम तुक कौ उदाहरन

अति सोहती[10] नींद-भरी पलकें, अरु भींजी[11] फुलेलँन सों[12] अलकें।
स्रँम-बुंद कपोलँन पै[13] झलकें, अँखियाँ लखि लाल की क्यों न छकें॥

पा०—१. (सं०पु०प्र०) बरैते…। २. (का०) (वें०) आयौ है…। ३. (वें०) (सं०-पु० प्र०) राजतो…। ४. (का०) (वें०) (प्र०) सों उतरीय महुज्जल। ५. (का०) (वें०) (प्र०) बाफते…। ६. (सं०पु०प्र०) लसें…। (रा०पु०नी०प्र०) बँधे…। ७. (सं०पु०प्र०) साफता…। ८. (का०) (वें०) मुलैमै औ…। (स० पु० प्र०) मुलैमै-से…। ९. (का०) (वें०) (प्र०) किये…। १०. (का०) (वें०) (प्र०) सोहति…। ११. (का०) (वें०) (प्र०) भींजि…। १२. (का०) (वें०) की…। (प्र०) ते…। १३. (का०) (वें०) (प्र०) में…।

अस्य तिलक

इहाँ तीन चरनँ में तुक सुमिल औ चौथी में अमिल है। पलकें, अलकें, झलकें इन तीन तुकँन में बरन तीन-तीन हैं, पर चौथी तुक "छुकें" में द्वै-ही बरँन हैं, ताते यै अमिल-सुमिल अधँम तुक है।

दुतिय आदि-मत्ता अमिल तुक कौ उदाहरन—

मृदु-बोलँन-बीच सुधा स्रवती, तुलसी-बँन बेलिँन में भँवती।
नहिँ जाँनिय कौंन की है जुवती, वहि ते अब औधि है रूपवती ॥

अस्य तिलक

इहाँ स्रवती, भँवती, जुवती और रूपवती में आदिमत्ता (आदि मात्रा—आदि वर्ण की मात्राएँ, जैसे—'स' में अकार की मात्रा, 'भँ' में सानुस्वार अकार, 'जुव' के जु में उकार की मात्र 'रूप'···के 'रू' में ऊ की मात्राएँ) अमिल हैं, वे आपुस में मिलत नाहीं, ताते आदि-मत्ता अमिल अधँम तुक है।

तृतीय अंत-मत्ता अमिल अधँम तुक कौ उदाहरन—

कंज-नैंनि, निज कंज कर, नैंनँन अंजँन देति[१]।
बिष मानों बाँनन भरति, मोहि मारिबे हेतु[२] ॥

अस्य तिलक

इहाँ—'देति' में 'इ' की मात्रा औ 'हेतु' में 'उ' की मात्रा अमिल हैं, तातें 'अंत-मत्ता अमिल' रूप अधँम तुक है।

अथ बीपसा और लाटिया तुक लच्छन बरनन—

होत 'बीप्सा' जाँम की, तुक अपने-ही भाव।
उत्तमादि तुक आइ[३]-हीं, है 'लटिया' बनाव ॥

वि०—"दासजी ने इस दोहे के द्वारा तीन प्रकार की तुकें, जैसे—वीप्सा रूप, यमक रूप और लाटानुरूप और मानी हैं। इनके भी उदाहरण और परिभाषा यथा-स्थान दी है, अस्तु पुनरुक्ति निरर्थक है।"

प्रथम 'बीपसा' तुक कौ उदाहरन जथा—

आज सुरराइ पर कोप्यौ तँमराइ कछू,
भेदँन-बढ़ाइ अपनाइ लैलै धँनु-धँनु[४]।

पा०—१ (का०) (वें०) देतु। (प्र०) देत। २. (का०) (वें०) हेतु। (प्र०) हेत। ३. (का०) (प्र०) (वें०) आगे-ही···। ४. (का०) धनु-धनु। (वें०) धनु-धनु। (सं०पु०प्र०) ले सधनु-धनु।

कीन्हीं[1] सब लोक में तिमिर अधिकारी तिमि
रारि कौ बगारी[2] लै भराबै नीर छँनु-छँनु ॥
लोप दुतिवंतँन कौ देखि अति व्याकुल
तरैयाँ भाजि आँईं फिरें जीगनाँ ह्वै तँनु-तँनु ।
इंद्र[3] की बधूटी सब साँजन की लूटी खरीं,
लोहू घूंटि-घूंटि वै बगरि रहीं बँनु-बँनु ॥

अस्य तिलक

इहाँ—"घँनु, छँनु, तँनु और बँनु" एक पद (शब्द) द्वै-द्वै बार आए ताते वीप्सा-तुक भई ।

वि०—"वीप्सा की परिभाषा उसके लक्षण के साथ आगे वर्णित शब्दालंकार में आ चुकी है (दे० का० नि०-पृ० ६२४), इसलिये उसका पुनः कथन अनुचित है । फिर भी किसी कवि का एक उदाहरण और देखिये—

"खेलत बसंत ब्रजचंद-नंद जू सों आज,
बाजत मृदंग धुँधुकार घँन घूँमि-घूँमि ।
नाँचत, नटत सुघराई को समूह भरी,
ताँन की तरंगँन सों रह्यौ रस झूँमि झूँमि ॥
फेरि ऐसौ दाव कहाँ पाइ हौ री ग्वालिनि हों
जैसी कछु या दिन भई है ब्रज धूँमि-धूँमि ।
सुंदर रसाल मैंन-मोंहँन गुपाल जू कौ,
साँवरो-सलोंनों मुख लीजिए री चूँमि-चूँमि ॥

यहाँ भी—घूँमि-घूँमि, झूँमि-झूँमि, धूँमि-धूँमि और चूँमि-चूँमि में वीप्सा की बहार है ।"

दुतिय जाँम (यमक) तुक उदाहरन जथा—

पाइ पावसै जौ करै, प्रिय पीतँम परमाँन[4] ।
'दास' ग्याँन कौ लेस नहिं, ति`न में तृन[5] परमाँन ॥

अस्य तिलक

इहाँ परमाँन सब्द दोनों तुकँन में आयौ, पै दोंनोंन के अर्थ द्वै हैं, ताते जाँम (यमक) तुक भई । परमाँन—पर माँन, (पै माँन) परयान—गमन"' ।

पा०—१. (रा० पु० नी० सी०) कीन्हों"' । २. (का०) (वे०) (प्र०) बेगारी"' । ३. (का०)(वे०) इंदु"' । ४. (प्र०) परयान । ५. (का०) (वे०) (प्र०) तिन"' ।

वि०—"जैसा कि दासजी ने 'तिलक' में कहा है कि "परमाँन" शब्द दोनों चरणों में रहते हुए भी वे अर्थ से भिन्न हैं। इसलिये इस प्रथम का अर्थ—पर + मान रूप से उन्हें भंग कर "पावस पाकर जो प्यारे प्रियतम पर मान करे"—उनसे रूठे" और दूसरे 'परमाँन' का अर्थ 'बराबर', अर्थात् कवि दासानुसार उसमें तृण-बराबर भी ज्ञान का लेश नहीं है, होगा।"

तृतीय 'लाटिया तुक' कौ उदाहरन जथा—

तो बिँन बिहारी में निहारी गति और-ही में,
बौर-ही के बृंदँन सँमेंटति[1] फिरत है।
दारिँम के फूलँन में 'दास' दारथों-दौंने[2] भरि,
चूँमि मधु[3]-रसँन लपेटति फिरत है॥
खंजन, चकोरँन, परेवा[4], पिक मोरँन,
मराल, सुक[5], भौरँन सँमेंटति फिरत है।
कासमीर-हारँन कों सोंनजुही-भारँन[6] कों,
चंपक की डारँन कों भेंटति फिरत है॥

अस्य तिलक

इहाँ चारों तुकँन में—"फिरत है" यै तुक है, जाते "लाटिया"-तुक कहति हैं। जहाँ 'बाक' वा सब्द और अर्थ में भेद न होइ, पै वाकी आवृत्ति होइ तौ—'लाटिया' कहति हैं।

वि०—"दासजी ने उपर्युक्त व्याख्या—तिलक से इस तुक की विशेषता बतला दी है, फिर भी कहना होगा कि यहाँ एक प्रकार से उर्दू की भाँति 'काफिया' और 'रदीफ' का प्रदर्शन है। काफिया—सँमेंटति, लपेटति-आदि और रदीफ "फिरत है", दासजी का यह छंद नायिका की "उन्माद-दशा" का—पागल-पन का वर्णन है।

"इति श्रीसकलकलाधरकलाधरबंसावतंस श्रीमन्महाराकुमार श्रीबाबूहिंदूपति बिरचिते 'काव्य-निरनए' तुक-निरनइ-बरननंनामद्विबिंसतितमोल्लासः॥

पा०—१. (श्रृं०नि०) सँमेंटत···। २. (का०) (वें०) (प्र०) दाना···। (श्रृं० नी०) दीनों···। ३. (का०) मधुर.सन···। ४. (का०) परेवी···। ५. (सं०पु०प्र०) सुक···। ६. (श्रृं० नि०) मारँन···।

अथ तेईसवाँ उल्लास

अथ दोष-बरनन जथा—

'दोष' सबद औ[1] बाक-हू, अर्थ-रसौ में होइ।
तिहिँ तजि कबिताई करें, सज्जँन सुमति जु कोइ[2]॥

वि०—दासजी ने इस उल्लास में—"शब्द, वाक्य, अर्थ और रस"-रूप चार-प्रकार के दोषों का उल्लेख करते हुए भी यहाँ शब्द, वाक्य और अर्थ-गत तीन भाँति के दोषों का ही वर्णन किया है। रस-दोष आगे के पच्चीसवें उल्लास में कहे हैं। इन शब्द, वाक्य और अर्थ-गत दोषों के भेदाभेद भी आपने यहाँ वर्णन किये हैं। यह दोष-विवरण दासजी ने संस्कृत-साहित्य से ही अपनाया है—पद-पद पर उसकी छाप है।

संस्कृत-ग्रंथों में यह दोष-चरचा उन (काव्य-ग्रंथों) के प्रारंभ में ही मिलती है। यह स्वाभाविक भी है, क्योंकि वेदों में भी दुरित-दलन की—उसके परिहार की आकांक्षा प्रथम और भद्र की विभूति बाद में बिखराई गयी है। वास्तव में काव्य का प्रथम रमरणीय सोपान दोष-परिहार-ही है। अस्तु आचार्य दंडी (ईसा को सप्तम शताब्दी) ने अपने 'काव्यादर्श'-ग्रंथ में काव्य-गत रंच-मात्र दोष होने की भी भर्त्सना की है। साथ-ही काव्यनिर्दोष को वा निर्दोषकाव्य को—उसके रचने को एक महान गुण माना है—"**महान्निर्दोषता गुणः**"। संस्कृत-काव्य-ग्रंथ के आदि आचार्य श्री भरत मुनि, जो पुराणकार श्री वेदव्यास से भी पूर्व के माने जाते हैं, अपने नाट्य-शास्त्र में दोष-लक्षण तो नहीं, पर उनकी स्थिति भावात्मक बतलाते हुए साहित्य-गुणों का विपर्यय अवश्य कहा है, यथा—"**विपर्यस्ता—गुणाः काव्येषु कीर्तिताः**। (भ० ना० सा०—१, ६४)। अस्तु उक्त विषय की अब व्याख्या यहाँ असंगत है। भामह (ई० छठवीं शताब्दी) ने दोष-चर्चा में—"सामान्य और वाणी दोषों के साथ उनके गुणत्व-साधन का उल्लेख भी किया है, पर उनके लक्षण निर्माण नहीं किये। आपने भी—"**कवयो न प्रयुञ्जते**" कह कर ही दोष-विषय की समाप्ति कर दी है। जैसा पूर्व में कह आये हैं, आचार्य दंडी ने दोषों की परिभाषा तो नहीं लिखी, पर उनका वर्णन विशद

पा०—१. (का०) (वे०) (प्र०) हूँ…। २. (का०) (वें०) जो होइ। (प्र०) …सज्जन सुमती जोइ।

रूप से किया है। परिभाषा रूप दोही बातें आपने कहीं हैं, जो ध्यान देने योग्य हैं। आप कहते हैं—"दोष, काव्य में विफलता के द्योतक हैं, उसके कारण होते हैं और इनका विद्वानों को अवश्य परिहार करना चाहिये"। सब से प्रथम दोष-लक्षण-विवृत्ति आचार्य वामन (ई० आठवीं शताब्दी के आसपास) कृत मिलती है—"गुणविपर्ययात्मनोदोषाः" (गुणों से विपरीत स्वरूप वाले दोष)। आपके बाद दोष-स्थिति बदल गयी, क्योंकि अब काव्य का सौंदर्य रूप-गत नहीं, आत्म-गत माना जाने लगा, जिससे दोषों की स्थिति विपरीत हो गयी। अतः वे मूल में आत्म-गत रस से और गौण में उस (रस) के आश्रय से संबद्ध हो जाने के कारण शब्द और अर्थ-गत माने जाने लगे। यह स्थित भी उत्तर ध्वनिकाल के समय तक स्थिर न रह सकी। उसमें भी मौलिक अंतर उपस्थित हो गये। पहिले दोषों के वाह्य वस्तु (शब्द-अर्थ) गत-रूप पर जोर दिया जाता था, अब आंतरिक आत्म (रस) गत-रूप पर भी बल दिया जाने लगा। यह विभेद दोष-विषयक धारणा का नहीं, काव्य-विषयक धारणा का था। जब काव्य का रूप वाह्य तथा वस्तु-गत था, तब दोष वस्तु-गत थे और जब वे काव्य-रूप आत्म-गत मान लिये गये, तब वे आत्म-गत रस-रूप हो गये। स्थिति उनकी वही बनी रही, जो पहिले थी, अर्थात् काव्य के वे पहिले भी अपकारक थे, बाद में भी वही रहे।

जैसा पूर्व में लिखा जा चुका है कि आदि आचार्य श्री भरतमुनि ने दोषों की चर्चा तो की, उनकी नामावली भी दी, पर उनका कोई वैज्ञानिक वर्गीकरण नहीं किया—दस संज्ञा में ही उलझे रहे। बाद में आचार्य "भामह" ने अपने प्रकार से दोषों का वर्गीकरण "सामान्य और वाणीगत" के साथ गुणत्व-साधन भी कहते हुए प्रकारांतर से दोषों के तीन वर्ग माने। इन तीनों वर्गों के अंतर्गत इकईस (२१) दोषों का उल्लेख आपकृत ग्रंथ-"काव्यालंकार" मिलता है। श्री भामह के इन त्रिवर्ग विभूषित दोषों के पार्थक्य का क्या आधार था, यह उक्त ग्रंथ से स्पष्ट नहीं होता। आपने न तो वहाँ यही स्पष्ट किया है कि वाणी के दोषों से आपका अभिप्राय क्या था और न वहाँ यही जाना जाता है कि सामान्य और अन्य दोषों का आधार भूत अंतर क्या है। यों तो आचार्य दंडी ने भामह-प्रसूत दोषों को मान्यता दी है, वर्ग (भेदाभेद) भी वही माने हैं, पर 'अन्य-दोषांतर्गत'—प्रतिज्ञाहेतु-दृष्टांत दोष की अवहेलना की है। इसके प्रति आपने कहा है—"प्रतिज्ञाहेतु-दृष्टांत की हानि दोष है, या नहीं, यह कानों का अप्रिय (कटु) और कर्कश विचार है,-जटिल समस्या है, उसमें साहित्य मनीषियों को नहीं उलझना चाहिये।" आपके बाद आचार्य वामन (ई० की

शताब्दी) ने "काव्यालंकार-सूत्र-वृत्ति" में दोषों का विवेचन और
ए कुछ अधिक ठोस पायों पर किया है। आपने दोषों को—पद,
वाक्य और वाक्यार्थरूप में चार प्रकार के मानें हैं। यह वर्गीकरण—श्री
ामह और दंडी के मार्ग-का बाहक कहा जा सकता है। श्रीवामन के समय
नि की काव्यात्मा के रूप में प्रतिष्ठित हो जाने के कारण उसका औचित्य
ो मुख्य कसौटी माना जाने लगा। अतएव दोषों का विवेचन भी तद्-
होने लगा। इसे रस-दोषों का आविर्भाव-काल कहना कुछ अनुचित
ा। भोजराज (ई० की ग्यारहवीं शताब्दी) ने इस परिवर्तन का काफी
ठाया और भूतपूर्व दोष-संख्या में अभिवृद्धि की। काव्य-प्रकाश-रचयिता
ार्य मम्मट (ई० की ग्यारहवीं शताब्दी) अपने पूर्व के काव्याचार्यों से
ागे बढ़े। आपने दोषों का समुचित वैज्ञानिक-वर्गीकरण करते हुए,
ंख्या में भी यथेष्ट वृद्धि की। अब दोष-संख्या (शब्द-दोष—३७, अर्थ-
२७, रस दोष—१० + ७४) सत्तर से आगे बढ़ गयी। उक्त स्थिति के
न्हीं अनाम-आचार्यों ने दोषों का एक और वर्गीकरण किया। इन
के अनुसार दोष—वाक्य, अर्थ, छंद और अलंकार से सन्नद्ध कहे गये।
को ही मूलाधार मानकर दोषों को—"रस की प्रतीति को अवरुद्ध
ला, उसके मार्ग में व्यवधान उपस्थित करने वाला और रसास्वादन में
उपस्थित करने वाला"—इत्यादि तीन प्रकार का मानने लगे। उक्त-
प्रदान करने वाले अनाम आचार्यों का कहना है कि—"काव्य की चरम
रस है, इसलिये सभी प्रकार के दोषों का संबंध रस के-ही साथ बँधा हुआ
स्तुतः पूर्व कथित वर्गीकरणों से यह वर्गीकरण कुछ अधिक सार-गर्भित
ता है, साथ-ही यह काव्यगत-दोषों के मनोवैज्ञानिक-विश्लेषण से गहरा
ी रखता है।

ब्रभाषा-साहित्य में दोष वर्णन का उपक्रम सर्व प्रथम आचार्य केशव ने
या' और 'रसिक-प्रिया' में किया है। कवि-प्रिया में आपने कहा है—

"राजत रँच न दोष-जुत, कविता, बनिता, मित्र।

अथवा—

प्रभु न कृतघ्नी सेइऐ, दूषँन-सहित कवित्त॥

संस्कृत साहित्य की देन है, पर आपने उन (दोषों) का वर्गीकरण जो उस
क मान्य हो चुका था, नहीं किया। दोषों की संख्या यहाँ—तेईस
कविप्रिया-जन्य, ५—रसिकप्रिया-जन्य) है। श्री केशव के बाद चिन्तामणि
ने दोषों का कथन संस्कृत-जन्य वर्गीकरण के साथ अच्छे ढंग से किया

है। आपकी दोष-संख्या ४४ चुंवालीस है। तोष ने 'सुधानिधि' में केवल रस दोष कहे हैं। महाकवि भूषण ने दोषों पर एक पृथक् रूप से—'दूषणोल्लास' पुस्तक लिखी, वह अप्राप्य है, इसलिये दोषों के वर्गीकरण के साथ उनके प्रति आपके क्या विचार हैं, वह सब अज्ञात है। कुलपति मिश्र ने संस्कृत काव्य-प्रकाश के आधार पर—"शब्द, अर्थ, छंद और रस-गत चार प्रकार के दोष माने हैं। आपके बाद सूरति मिश्र कृत दोष-वर्णन मिलता है। उनमें विशेष संस्कृत जन्य, कुछ आचार्य केशव से उधार लिये हुए और बाकी के आप-द्वारा नये निर्माण किये हुए हैं। तैलंग कुमारमणि भट्ट ने भी 'रसिक-रसाल' के अंतिम अध्याय में गुणों के साथ दोषों का वर्णन किया है। वहाँ कोई नव सृष्टि नहीं, वही संस्कृत की आधारभूत पुरानी पटली पर घिसो-पिटी चाल दृष्टिगोचर होती है। काव्य-सरोज-रचयिता श्रीपति जी दोष व्याख्या इस प्रकार करते हैं—

"जा पदार्थ के दोष ते, आछे कबित नसाइ।
दूषँन तासों कहत हैं, श्रीपति पंडित राइ॥"

अतएव आपने शब्दार्थ रूप दो (शब्द-अर्थ-गत) प्रकार के दोषों का वर्णन करते हुए उनमें कुछ नये और अधिक वही पुराने दोषों को कहा है। यहाँ एक बात में आपकी अधिक विशेषता है—दोषों के उदाहरणों में आपने सभी ब्रजभाषा के प्रसिद्ध-प्रसिद्ध कवियों के छंद दिये हैं। सोमनाथजी ने भी 'रस-पीयूष' की वीसवीं तरंग में विशेषता-रहित वही पुरानी संस्कृत-शैली पर दोषों का उल्लेख किया है। आपके बाद रत्न कवि ने 'फतह-भूषण' में, जनराज ने 'कविता-रस-विनोद में, उजियारे ने 'रस-चंद्रिका' में, जगतसिंह ने 'साहित्य-सुधा-निधि' में, रणधीरसिंह ने 'काव्य-रत्नाकर' में, रसिक गोविंद ने 'रसिक-गोविंदा-नंदघन' में, रामदास ने 'कवि-कल्पद्रुम' में और-लच्छीराम ने 'रावणेश्वर कल्प-तरु में दोषों का वर्णन किया है। इनमें भी कुछ नवीनता नहीं, सब उसी पुरानी लकीर के फकीर रहे हैं।"

अथ प्रथम सब्द-दोष बरनन जथा—

स्रुतिकटु, भाषा-हींन, अप्रजुक्तौ, असमर्थ-हि[1]।
तजि मिहितार्थ, अँनुचितार्थो, पुनि तजौ निरर्थ-हि[2]॥

पा०—१. (रा०पु०प्र०) असमरथक। २. (रा०पु०प्र०) निरस्थक।

अवाचकौ, असलील, ग्राम्य, संदिग्ध न कीजै।
अप्रतीति, नेआर्थ[1], क्लिष्ट कौ नाम न लीजै॥
अभिमृष्ट-बिधेइ, बिरुद्ध-मति, छै-दस[2] दुष्ट ए सब्द कहि।
कहुँ सब्द समासौ के मिलें, कहूँ एक-द्वै अच्छर-हि[3]॥

वि०—"दासजी ने इस छंद-द्वारा सोलह (छै-दस) शब्दगत दोषों का जैसे—श्रुतिकट, भाषाहीन, अप्रयुक्त, असमर्थ, निहितार्थ, अनुचितार्थ, निरर्थक, अवाचक, अश्लील, ग्राम्य, संदिग्ध, अप्रतीति, नेयार्थ, क्लिष्ट, अविमृष्ट-विधेय और विरुद्धमति—इत्यादि नाम-युक्त वर्णन किया है। ये सब काव्य-प्रकाश (संस्कृत) जन्य हैं। दास कृत "भाषा-हीन" संस्कृत—च्युतिहीन का ही भव्यरूप है और कुछ नहीं।

जैसा ऊपर लिखा गया है कि दासजी प्रयुक्त उक्त समस्त दोष मम्मट के काव्य-प्रकाशानुसार हैं। अस्तु, वहां उक्त उदाहरणों के बाद कहा गया है कि ऊपर जिन सोलह दोषों का उल्लेख किया गया है, उनमें से 'च्युतसंस्कार (भाषाहीन), असमर्थ और निरर्थक को छोड़ कर शेष दोष वाक्यों में (वाक्य-गत) भी पाये जाते हैं और कुछ पद-भाग में भी, किंतु दासजी मान्य दोषों में तीन-ही ऐसे दोष हैं, जो शब्द और अर्थ के अंतर्गत आते हैं। उनके नाम हैं—ग्राम्य, संदिग्ध और अश्लील तथा जैसा कि दासजी ने ऊपर की छप्पय में कहा है—

"कहुँ सब्द-समासौ के मिलें, कहूँ एक-द्वै अच्छर-हि।"

अस्तु, श्रुतिकटु-आदि तेरह दोष 'समास-गत' भी हो सकते हैं—"श्रुतिकटु-समासगतं यथा।" वहाँ (संस्कृत में) अवाचक का एक विभागीय दोष उपसर्ग-अवाचक भी माना है। साथ-ही अश्लील के—लज्जा, घृणा और अमंगल नाम के तीन भेद और लिखे गये हैं।"

अथ स्रुति-कटु-दोष लच्छन-उदाहरन जथा—

कौंनन कों जो कटु लगै[4], 'दास' सो स्रुति-कटु स्रृष्टि।
"त्रिया-अलक, चच्छुस्रवा, डसें परत-ही दृष्टि॥"*

पा०—१. (का०) (वें०) (प्र०) ने अर्थ…। २. (का०) (वे०) (प्र०) छैदस…। (सं० पु० प्र०) छंद सुदुष्ट हैं सबद…। (रा० पु० प्र०)…कहु। ३. (रा०पु०प्र०) अच्छरहु। ४. (सं० पु०प्र०) कानन कों कटु जो लगे।

* काव्य-प्रभाकर (भा०) पृ०—६३६।

अस्य तिलक

इहाँ—त्रिया, चच्छुसवा (चक्षुश्रवा = सर्प) और दृष्टि ए तीनों ही सब्द दुष्ट हैं—स्रुतिकटु हैं। स्रुति-सब्द हू सकार की समास ते दुष्ट भयौ, त्रिया-सब्द में रकार दुष्ट है, तातें तीनों प्रकर कौ स्रुतिकटु भयौ।

वि०—"कानों को जो कटु लगे—अप्रिय, कठोर ज्ञात हो, उसे श्रुति-कटु या कर्ण-कटु कहते हैं। श्रुति = कर्ण (कान) वाची है। कर्णवाची श्रुति शब्द का प्रयोग कविवर विहारीलाल ने बड़े ही सुंदर ढंग से किया है, यथा—

"अजों तरोंनाँ-ही रह्यौ, "स्रुति"-सेबत इक अंग।
नाँक-बास बेसर लह्यौ, रहि मुकतन के संग॥"

मुद्रालंकार से विभूषित दोहा रूप स्वर्णांग में श्लेष की सिल्ली पर समुज्वल किया हुआ 'स्रुति' शब्द कितनी अपार अर्थ-आभा के साथ देदीप्यमान हो रहा है कि कहा नहीं जा सकता•••।

"साथ शोखी के कुछ हिजाब भी है।
इस अदा का कोई जवाब भी है॥"

अथ भाषा-हीन-दोष-लच्छन जथा—

बदल गऐं, घटि-बढ़ि भऐं, मत्तबरँन बिन-रीति।
भाषा-हीनंन में गनें, जिन्हें काब्य पै[१] प्रीति॥*

वि०—"किसी नियम के बिना मात्रा वा वर्णों के घट-बढ़ जाने या बदल जाने को 'भाषा-हीन' दोष कहा जाता है। संस्कृत में इसे—भाषाच्युत (संस्कृतिच्युत = जो व्याकरण के नियमानुकूल न हो) और ब्रजभाषा-साहित्य में 'काचीभाषा' (कच्ची भाषा = अपरपक्व भाषा) कहा है।

अस्य उदाहरन

वा दिंन बैसंदर चहूँ, बँन में लगी अचाँन।
जीवत क्यों ब्रज बाँचितो, जो[२] न पीबतो कौंन॥*

अस्य तिलक

इहाँ 'बैसाँदर' कों बदल करि बैसदर कह्यौ, चहुँ-दिस कों बदल के चहूँ

पा०—१. (सं०पु०प्र०)···काव्य-परतीति। २. (का०) (वें०) (प्र०) (स०पु०प्र०) (का०प्र०) जो ना पीवत···।

* काव्य-प्रभाकर (भा०) पृ०—६३६।

कह्यौ, अचाँनक कों बदल कें, अचाँन कह्यौ, कान्ह की ठौर 'काँन' कह्यौ, ए सब भाँति सों भाषा-हीन हैं। बैसाँदर = बैस्वानर अगनी कों कहें हैं।

अप्रजुक्त सब्द-दोष लच्छन-उदाहरन जथा—

सबद सत्य, नहिं कबि कह्यौ[1], 'अप्रजुक्त' सों ठाँउ।
"करैं न बैयर हर-हि भी, कँदरप के[2] सिर-घाउ॥"*

अस्य तिलक

इहाँ बैयर = स्त्री, भी = ये और कँदरप-कंदर्प = कामदेव कों कहें हैं, अरु दोंनों संस्कृत और ब्रजभाषा ते सुद्ध हैं, पै काहू कबि नें कहे (प्रयोग किये) नाहीं, ताते 'अप्रजुक्त' दोष है।

वि०—"शब्द यथार्थ में शुद्ध हो, पर किसी ने उसका प्रयोग काव्य में नहीं किया हो, तब वहाँ 'अप्रयुक्त-दोष' माना और कहा जायगा, जैसा इस उदाहरण से व्यक्त है। इसे अप्रचलित-प्रयोग भी कहते हैं और अप्रसिद्ध भी इसका नाम मिलता है।"

अथ असमरथ सब्द-दोष लच्छन जथा—

सबद धर्यौ जा अरथ कों-ता पै तासु[3] न सक्ति।
चित दौरैं पर अरथ कों, सो 'असमर्थ' अभक्ति[4]॥†

वि०—"जिस अर्थ के व्यक्त करने को जो शब्द रखा जाय, पर उसकी असक्ति के कारण उसके दूसरे अर्थ की ओर मन दोड़े तो वहाँ वाक्छल-रूप "असमर्थ" दोष होता है। अर्थात्, जिस शब्द से अभीष्ट-अर्थ की प्रतीति न हो वह···।"

अस्य उदाहरन

काँन्ह-कृपा-फल-भोग कों, करि जाँन्यों सतिभाँम[5]।
असुर-साखि सुरपुर कियौ, ससुर-साखि निज धाँम॥‡

अस्य तिलक

सुर-साखि, कलपतरु (कल्पतरु = वृक्ष विशेष, इच्छित-वस्तु शीघ्र देने वाला) कों कहत हैं, सो इहाँ 'अकार'-'सकार' ते यै अर्थ धर्यौ कि 'बिना कलपतरु कौ सुरलोक कियौ औ निजधाँम = अपनों घर—स सुर-साखि कलपतरु ते सुंदर कियौ,

पा०—१. (वें०) (सं०पु०प्र०)···सत्य न लियौ कबिन···। (का०) (प्र०)···सत्य नहिँ लिय कबिन···; २. (वें०) (का०प्र०)···कसर घाउ। ३. (वें०) जासु···। ४. (सं० पु० प्र०) असक्ति। ५. (का०) (वें०) (प्र०) (का०प्र०) सनि भाँम।

* काव्य-प्रभाकर (भा०) पृ०—६३६। †‡, ६४०।

पै ये अर्थ इन असुर-साखि और ससुर-साखि सबद ते भली-भाँति प्रघट नाहीं होत, ताते असमरथ सब्द दोष है।

वि०—"इस दोहे में तीन शब्द—सतिभाँम या वाम, असुर-साखि और ससुर-साखि असमर्थ हैं। तीनों कवि-अभीष्ट अर्थ व्यक्त करने में अयुक्त हैं, क्योंकि इन तीनों के लक्ष्यार्थ—सतिभाम या वाम=सती स्त्री, असुर और ससुर-साखि=असुर (राक्षस) और ससुर (पति का पिता) तथा साखि=साक्षी, गवाही देने वाला, की ओर अधिक आकर्षित होता है, न कि—सत्यभामा (भगवान श्रीकृष्ण की पट्ट महिषी), असुर-साखि (कल्पतरु के बिना) और ससुर-साखि (कल्पतरु से सुंदर बनाना) की ओर नहीं जाता, इसलिये यहाँ उक्त दोष है।"

अथ निहितारथ सब्द-दोष लच्छन जथा—

द्वर्थी[1]-सबद में राखिऐ, अप्रसिद्ध-ही चाहि।
जाँनों जाइ प्रसिद्ध ही, 'निहितारथ' सो आहि॥*

वि०—दो अर्थ वाले शब्द के द्वारा स्वकल्पित अप्रसिद्ध अर्थ का बोध कराने पर भी उसके प्रसिद्ध अर्थ का ही बोध होता हो, वहाँ 'निहितार्थ' दोष माना गया है। निहितार्थ का तात्पर्य उस शब्द से है, जिसके दो अर्थों में एक प्रसिद्ध और एक अप्रसिद्ध हो तथा उसका अप्रसिद्ध-अर्थ में ही प्रयुक्त किया गया हो।"

अस्य उदाहरन—

रे-रे सठ, नीरद भयौ, चपला बिधु चितलाइ[2]।
"भव-मकरध्वज-तरँन कों, नाहिँन और उपाइ[3]॥"*

अस्य तिलक

इहाँ नीरद=बिनाँ दाँत कौ, चपला=लछमी, बिधु=बिस्नू औ मकर-ध्वज=समुद्र के लिऐं सब्द राखे, पै इनके मुख्यारथ—नीरद=बादर, चपला=बीजुरी, बिधु=चंद्रमा औ मकरध्वज=कामदेव अर्थ-ही जाने जाय हैं, ताते इहाँ 'निहितारथ'-सब्द दोष भयौ।

पा०—१. (वें०) (प्र०) थर्थ···। (सं०पु०प्र०) द्वयर्थ···। २. (प्र०) चितलाउ। ३. (प्र०) उपाउ।

* काव्य-प्रभाकर (भा०) पृ०—६४०।

अथ अँनुचितारथ सब्द-दोष लच्छन-उदाहरन—

'अनुचितार्थ' कहिऐ जहाँ, उचित न सब्द अकाल ।
"नाँगों ह्वै दह-कूदि कें, गहि लायौ हरि ब्याल ॥"*

पुनः उदाहरन

"जिहिँ जावक अँखियाँ-रँगे, दई नखच्छत गात ।
"रे पिय सठ, क्यों हठ करै, वाही पै किँन जात ॥"

अस्य तिलक

ऊपर के दोहा में नाँगों सबद दुष्ट (अनुचितार्थो) है, दूसरे दोहा में रँगे औ दई जो रँगी औ दए कहिवौ चाहिऐ न कहि अनुचित सबद कहे, और पिय के समास ते सठ सबद हू दुष्ट है ताते प्रथम में (शुद्ध) अनुचितारथ प्रथम औ दूसरे में मात्रा-अनुचितारथ दूसरे भेद वारौ अनुचितारथ दोष है ।

अथ निररथक सब्द दोष-लच्छन उदाहरन—

छंदै पूरँन करँन कों[1], सब्द 'निररथक' धोर ।
"अरी हँनत दृग-तीर सों, तोहि परी[2] रँन ईर ॥"*

अस्य तिलक

इहाँ 'ईर' सबद निरर्थक तुक मिलाइबें कों प्रयोग कियौ, ताते 'निरर्थक' सबद दोष भयौ ।

अथ अबाचक सब्द दोष-लच्छन जथा—

वहै 'अबाचक' रीति-तजि, लेइ नाँम ठैंहराइ ।
कह्यौ न काहू जाँनिऐं[3], नहिं मानें कविराइ ॥*

अस्य उदाहरन

प्रघट भयौ लखि बिषँम हय, बिस्नु धाँम सानंदि ।
सहसपाँन निद्रा तज्यौ, खुल्यौ[4] पीत मुख बंदि ॥*

अस्य तिलक

इहाँ सूरज कों 'बिषँम-हय', (संस्कृत —सप्ताश्व), अकास कों 'बिस्नु-

पा०—१. (का०) (वें०) (प्र०) (का०प्र०) छंदहि पूरन कों परै···। २. (का०) (वें०) (प्र०) पई रँन ··। (वा० प्र०) (सं०पु०प्र०) तो हिय ईर न पीर। ३. (का०) (वें०) (प्र०) (का०प्र०) जाँनि यह,···। ४. (वें०) खुली पीक मुख···। (का०प्र०) खुली पीत···। (सं०पु०-प्र०) खुली पीत मुख चदि ।

* काव्य-प्रभाकर (भा०) पृ०—६४१ ।

धाँम', कँमल कों 'सहसपाँन', फूलिबे कों 'निद्रा-तज्यौ, भौरा कों पीत-मुख औ आनंदित ह्वैवे कों 'सानंदि' कह्यौ, पै ऐसे अरथ में ए सब सबद काहू नें कहे नाहीं 'तातें' अवाचक-दोष-जुक्त हैं।

वि०—"जिस वांछित अर्थ के शब्द का प्रयोग किया जाय, वह उसका वाचक न हो और जिस रीति को न तो कवियों ने कहा हो और न वह किसी-द्वारा मान्य ही हो, पर उससे अभीष्ट-अर्थ ठहरा लेना—मान लेना, 'अवाचकत्व शब्ददोष" कहा जाता है।

दासजी कृत इस अवाचक-दोष-उदाहरण के दो 'तिलक' मिलते हैं, एक जो हिंदी-साहित्य-संमेलन प्रयाग का पाठ अनेक हस्तलिखित-प्रति अनुमोदित है और जिसे ऊपर उद्धृत किया जा चुका है तथा दूसरा पाठ प्रतापगढ़ राज्य-पुस्तकालय की हस्त-लिखित तथा वेंकटेश्वर (बंबई) और बेलबेडियर प्रेस प्रयाग को मुद्रित प्रतियों का तिलक है जो नीचे उद्धृत किया जाता है, यथा—

"सरद कों 'सतहय' औ कँमल कों 'सहसपत्र' कहे हैं, पै इन्हें इहाँ बिषमहय औ सहसपाँन कह्यौ, तातें आधे सब्द इहाँ दुष्ट हैं। पीतमुख भौरा कों औ बिस्नुधाँम अकास कों कह्यौ, पै एहू काहू नें कहे नाहीं, फलिबे कों नींद-तजनों औ आँनंदित ह्वैबे कों सानंदि कह्यौ सो सबद अवाचक दोष-जुक्त हैं।"

अस्तु, दूसरे 'तिलक प्रयुक्त-विषमहय (सतहय) शरद-अर्थ में प्रयुक्त हमारे देखने में भी नहीं आया। कोषों में सप्ताश्व—

"भास्वद् विस्वत्'सप्ताश्वंहरिदश्वोष्णरश्मयः।"

—अ० को० १, ४, २६,

सूर्य, के अर्थ में लिखा मिलता है, शरदार्थ में नहीं। साथ-ही इन दोंनों तिलकों में एक शब्द 'बंद' जो यहाँ 'कैद से छूटने में प्रयुक्त हुआ है, पर विचार नहीं किया गया है। अस्तु यह भी अवाचक है, जो कवि के अभीष्ट अर्थ को नहीं प्रकट करता।

अथ असलील-सब्द दोष लच्छन-उदाहरन—

पद-'अस्लील' कहिऐ तहाँ[1], घृनाँ, असुभ, लज्जाँन।
"जीमूतँन दिन पितृ-गृह, तिय[2] पग ग्यै गुदराँन॥"*

पा०—१. (प्र०) जहाँ। (सं० पु० प्र०) पदस्लील पैऐ जहाँ···। २. (वें०) तिपय गयह गुदराँन। (सं०पु०प्र०)···तिय धृग ये···।

* काव्य-प्रभाकर (भा०) पृ०—६४२।

अस्य तिलक

इहाँ 'जीमूत' बादर कों कह्यौ, पै तामें 'मूत' सबद घूनाँ उतपन्न करै है, पितृग्रह = पित्र-लोक कों कहैं हैं, सो असुभ है औ 'गुदराँन' में गुद सबद गुदा कौ अरथ देहु है और 'राँन' जाँघ कों कहत हैं, सो ये लज्जा-जनक हैं, ताते तीनों प्रकार कौ असलील यहाँ भयौ।

वि०—"संस्कृत में घृणापूर्ण, अमांगलिक और लज्जास्पद शब्दों के प्रयोग होने पर अश्लील-शब्द दोप माना है। यथा—"त्रिधेति व्रीडाजुगुप्साऽमंगलव्यंजकत्वात्" (काव्य-प्रकाश—७, १५१)। वहाँ इन तीनों के पृथक्-पृथक् उदाहरण भी दिये गये हैं। साहित्य-दर्पण-रचयिता ने काव्य-प्रकाश-प्रयुक्त—लज्जा, घृणा और अमंगल सूचक—साधन (सेना-लिंग), वायु (पवन, अपान वायु) और विनाश (अदर्शन, मृत्यु) इन तीनों शब्दों को जो वहाँ पृथक्-पृथक् कृतियों में प्रयुक्त किये गये हैं, एक-ही उदाहरण में—दास-जी की भाँति तीनों अश्लील-द्योतक रूप में कहा है, यथा—

"दृप्तारिविजये राजन् साधनं सुमहत्तव।
प्रससार शनैर्वायुर्विनाशे तन्वि ते तदा॥" ७, ५

अर्थात् हे राजन्, मदांध शत्रुओं को विजय करने में तुम्हारा "साधन" और हेतन्वी, तब तुम्हारे "विनाश" के समय "वायु" धीरे से चलो इत्यादि……।"

अपने कवि-कुल-कल्पतरु में व्रजभाषा-साहित्याचार्य श्री चिंतामणि ने इस अश्लील का उदाहरण निम्न प्रकार का दिया है—

"वै मारग देखत उहाँ, पाद-परी हों आइ।
तू तब कैसी करै जो, बिरह-पीड-मरजाइ॥"

उर्दू-साहित्य में भी कुछ खुली अश्लीलता जब कभी मद्दे नज़र आ जाती है, जैसे—

"दस घर तो छुट चुके हैं, कहाँ तक करूँ "ख़सम"।
किस आँ बिठाऐ देखिये अब आस्माँ मुझे॥"

अथवा—

"दाई, यक़ीन है कि कहीं गिरजाय ना "हमल"।
नन्हा-सा लड़का ख़्वाब में आ 'पेट' मल गया॥"

कविवर 'चिरकी' के भी उदाहरण अश्लीलता-वर्णन में निरखे-परखे जा सकते हैं, पर एक बात ध्यान रहे—

रहे इक बाँकपन भी बेदमाग़ी में तो ज़ेबा है।"

अथ ग्राम्य-सब्द दोष-लच्छन-उदाहरन जथा—

केवल लोग[१]-प्रसिद्ध कौं, 'ग्राम्य' कहैं कविराइ।
"क्या झल्लै, टुक गल्ल-सुनि, भल्लर-भल्लर भाइ॥"*

अस्य तिलक

इहाँ—क्या, झल्लै, टुक, गल्ल, भल्लर-भल्लर औ भाइ सबद एक जात के लोगँन में ही प्रसिद्ध हैं, काव्य में नाहीं ताते 'ग्राम्य-दोष' है।

अथ संदिग्ध सब्द-दोष लच्छन-उदाहरन जथा—

नाँम धरयौ संदिग्ध-पद, सब्द सँदेहिल जासु।
"बंद्या तेरी लच्छमी, करै बंदना तासु॥"

अस्य तिलक

इहाँ—बंद्या बंदी औ बाँनी (वाणी) दोंनोंन कों कहैं हैं, लच्छमी की बंदना कहिनों उचित, पै बंदनीया छोड़ बंद्या कहिबे ते 'संदिग्ध-दोष' है।

वि०—"जहाँ ऐसे शब्दों का प्रयोग किया जाय जिससे वांछित और अवांछित दोनों अर्थ निकलते हों, वहाँ संदिग्ध-दोष माना गया है। यहाँ 'वंद्या' शब्द दोनों वांछितावांछित अर्थ—बंदनी (कैद की हुई, पकड़ी हुई) और वंदनीय (वंदना करने योग्य) में प्रयुक्त है, इसलिये उपर्युक्त दोष है।" इस संदिग्ध-दोष-प्रयुक्त 'वंद्या' शब्द को दासजी ने "काव्य-प्रकाश" (संस्कृत) के उक्त उदाहरण में से अपनाया है, यथा—

"आलिंगितस्तत्र भवान्संपराये जयश्रिया।
आशीःपरंपरां "वंद्यां" कर्णे कृत्वा कृपां कुरु॥" ७,१५४

"अत्र वंद्यां किं हठहृतमहिलायां किंवा नमस्यामिति संदेहः" अर्थात् यह वंद्या शब्द "बलात्कार से छीन ली गयी महिला" और "प्रणय-योग्य स्त्री" दोनों अर्थ दे रहा है, कोन-सा ग्रहणीय यह संदिग्ध है। इसलिये उक्त दोष है।"

अथ अप्रतीत-सब्द दोष लच्छन-उदाहरन जथा—

एकै ठौर जु कहि सुन्यौं, अप्रतीत सो गाउ।
"रे सठ, कारे चोर के, चरनँन सौं चित लाउ॥"

पा०—१. (का०) (वें०) (प्र०) (का० प्र०) लोक...।

* काव्य-प्रभाकर (भा०) पृ०—६४२।

अस्य तिलक

कारौ चोर 'श्रीकृष्ण' कों कालिदास के ही काव्य में कह्यौ (सुन्यौं) है, औंनत नाहीं, वौ-हू सिंगार-रस में ताते अप्रतीत दोष है।

वि०—"जो शास्त्र-विशेष में तो कहा गया हो, पर प्रसिद्ध न हो, ऐसे शब्दों के प्रयोग करने पर 'अप्रतीति' दोष कहा गया है—'अप्रतीतं यत्केवले शास्त्रे प्रसिद्धं" (का० प्र०—७, ११)। अस्तु, "कारे-चोर" में काला (कारे) शब्दों संस्कृत शब्दानुसार कृष्ण-वर्ण और भगवन्नाम-संज्ञादि दोनों ही अर्थों का बोध करा रहा है, यथा—"विष्णुर्नारायणः कृष्णो०......" (अ० को०—११, १८) और "कृष्णो नीलासितश्याम०..." (अ० को०—१, ६, १४)।" तिलक-निहित भाव-युक्त 'कारे-चोर' शब्द 'कालिदास' प्रयुक्त है ही।

अथ नेआर्थ सब्द दोष लच्छन-उदाहरन जथा—

'नेआरथ' लच्छार्थ जहँ, ज्यों-त्यों लीजै लेखि।
"चंद चारि-कौड़ी लहै, तो[1] आँनन-छबि देखि॥"*

अस्य-तिलक

इहाँ चंदा तेरे मुख की बराबरी नाहीं कर सकत, यै अर्थ "चंद चारि कौड़ी लहै" ते ज्यों-त्यों माननों 'नेआर्थ' दोष है।

वि०—"जिस शब्द का असंगत लक्षणावृत्ति से येनकेन-प्रकारेण मुख्यार्थ समझा जाय, वहाँ ऊपर लिखा दोष कहलाता है।

नेयार्थ—"कवि की अशक्ति—व्युत्पत्ति रूप सामर्थ्य के अभाव से लक्ष्य-अर्थ का प्रकाशन" कहलाता है, ऐसा संस्कृत-आचार्यों का मत है। कुमारिल भट्ट के मतानुसार 'नेयार्थ-गम्य' पद (शब्द) लक्षणा के लिये निसिद्ध बतलाया है, क्योंकि "शक्ति-विशिष्ट सामर्थ्य से प्रसिद्ध या शब्द-स्वभाव ही से सिद्ध अनादि-काल की कुछ लक्षणाएँ होती हैं और कुछ प्रयोजन के अनुसार बना भी ली जाती हैं, पर वे 'रूढ़ि' और प्रयोजनवती' लक्षणाओं को छोड़कर शक्ति-हीन होने के कारण स्वीकार नहीं की जाती। अस्तु, इस प्रकार जो रूढ़ि और प्रयोजनवती लक्षणाओं से भिन्न लाक्षणिक शब्द हैं उन्हें 'नेयार्थक' कहा जाता है। दास-जी नें ऐसे-ही लक्षार्थ रूप "चंद चारि कौड़ी" शब्दों से नेयार्थक "चंद तेरे मुख की बराबरी नहीं कर सकता"-अर्थ प्रकट किया है।"

पा०—१. (का०) (वें०) (प्र०) (का० प्र०), तव।

*, * काव्य-प्रभाकर (भा०) पृ०—६४२, ६४३।

अथ समास सब्द दोष लच्छन जथा—

जहँ सँमास कों बदलि कें, धरत सब्द-कोउ आँन।
सो 'सँमास' दूषँन कहत, जे कबिजँन मति-माँन॥*

वि०—"जहाँ समास-युक्त शब्द को पृथक् कर उसके स्थान पर वैसा ही अर्थ-वाचक दूसरा शब्द रखा जाय—समास का अयोग्य-स्थान पर प्रयोग किया जाय, वहाँ—'समास दोष' कहा गया है। संस्कृत-साहित्य में यह दोष शब्दगत नहीं माना गया।

काव्य-निर्णय की सभी मुद्रित प्रतियों में काशीराज-पुस्तकालय की हस्तलिखित प्रति को छोड़कर अन्यत्र कहीं भी यह दोहा नहीं मिलता। पं० जगन्नाथ प्रसाद 'भानु' ने अपने काव्य-प्रभाकर ग्रंथ में इसे अपनाया है।"

अस्य उदाहरन जथा—

है दुपंच-स्यंदँन-सपथ, सैहजार मँन तोहि।
बल अपनों दिखरॉउ, जो[1] मुँनि करि जाँने मोहि॥*

अस्य तिलक

इहाँ—दुपंच-स्यंदँन दसरथ कौ औ सैहजार लच्छमन कौ नाम है, सो पैहले में संपूरँन औ दूसरे में आधौ सब्द फेरौ गयौ, ताते समास दोष है।

पुनः उदाहरन जथा—

तब लगि[2] रहौ 'जगंभरा', राहु निबिड़ तँम छाइ।
जब लों पट-बैदुर्जमनि[3], हाथ बगारत आइ॥

अस्य तिलक

इहाँ हूँ बिस्वंभरा पृथवी कों जगंभरा, राहू कों घनों तँम=अंधकार, अंबर-मनि (सूर्य) कों पट-बैदुर्जमनि औ किरँन कों हाथ कह्यौ, ए समास दोष हैं।

अथ क्लिष्ट सब्द दोष-लच्छन उदाहरन जथा—

सीदी-सीदी अर्थ-गति, 'क्लिष्ट कहावै ऐंन।
"खग-पति-पति-तिय-पितु-बधू-जल-सँमान तो[4] बेंन॥"*

पा०—१. (का०) (वें०) (प्र०) (का०प्र०) बल आपनों दिखाउ जो…। २. (का०) (वें०) (प्र०) लों…। ३. (का०) (वें०) (प्र०)…बैदूर्य नहिं…। ४. (का०) (वें०) (पु०) (का०प्र०) तुव…।

* काव्य-प्रभाकर (भा०) पृ०—६४३।

अस्य तिलक

इहाँ सूधें "गंगा-जल-सँमान (निर्मल) तेरे बैंन" न कहि क्लिष्ट-रीत सों कह्यौ, ताते क्लिष्ट-दोष है ।

वि०—"ऐसे शब्दों का प्रयोग जिनका अर्थ-ज्ञान कठिनता से हो—सीढ़ी-सीढ़ी चढ़ने की गति से होता हो, उसे 'क्लिष्टत्व' दोष कहा जाता है। यहाँ "खग (पक्षी), उसका पति (गरुड़), उसका भी पति (भगवान् विष्णु), उनकी त्रिया (स्त्री=लक्ष्मी), उसका पिता (समुद्र), उसकी बधू (गंगा)—आदि अर्थ सीढ़ी-सीढ़ी चढ़ने की-ही भाँति ज्ञात होता है ।"

पुनः उदाहरन जथा—

बरुँन-हाथ कतिचै लिऐं[1], किऐं सपाल-हि साथ ।
आदि[2] स-अंबर-मध्य हित, हौंहि तिहारे[3] नाथ ॥

अस्य तिलक

इहाँ—ब्रह्मा, रुद्र औ नराइँन कँमल, तिरसूल औ चक्र लिऐं सुरसती, पारबती औ लच्छिमी के संग तुम्हारे हितकारी हौंइ, यै क्लिष्टार्थ-दोष है । कठिन-ताते जानों जाइ है ।

अथ अबिमृष्टबिधेइ लच्छन-उदाहरन जथा—

है 'अबिमृष्टबिधेइ' पद-छाँड़ें[4] प्रघट बिधाँन ।
"क्यों मुख-हरि लखि चख-मृगी, रहि है मँन में[5] मौंन ॥"

अस्य तिलक

इहाँ "मुख-हरि" औ चख-मृगी अबिमृष्ट-बिधेय है, इन कौ अर्थ कठि-नता सों जानों जात है ।

वि०—"जहाँ विधेय—अभीष्टार्थ के अंश की प्रधानता का प्रतीत न होना—उसे गौण रूप से जानना "अविमृष्टविधेय' या 'अविमृष्टविधेयांश' दोष बनाता है । यह शुद्ध और समास-गत भी होता है । ऊपर के उदाहरण में—"चख रूप मृगियों-द्वारा हरि-मुख देखने पर मन में मान कैसे रह सकता है ? अर्थात् नहीं रह सकता, इस अभीष्टार्थ की अप्रधानता है ।"

पा०—१. बरुना हाथ कतीच ले, सपाल लीन्हें साथ । (वें०) बरुना हाथ कती चले, सपाल लीन्हें...। (प्र०) बरुन हाथ कातिचै लिये,...। (सं० पु० प्र०) बरुना हाथक ती चले, सपला लीन्हें...। २. (का०) (वें०) (प्र०) आदिल अंतर...। ३. (का०) (वें०) (प्र०) तिहारी...। ४. (का०) (वें०) (प्र०) छोड़ै...। ५. (वें०) मनमें...।

पुनः उदाहरन—

नाथ-प्राँन कों देखते, जो असकी बस ठाँन।
"तौ सखि, धिग बिनकाज को[1], बड़ी-बड़ी अँखियाँन ॥"

वि०—"यहाँ भी प्राणनाथ न कह "नाथ-प्राण कहना अभीष्टार्थ साधन में बाधक है, इसलिये उक्त दोष है, क्योंकि प्रसिद्ध विधेय का यहाँ अभाव है।"

अथ प्रसिद्धबिधेइ जुक्त दोष उदाहरन जथा—

प्राँन-नाथ कों देखते, जो न सकी बस ठाँन।
"तौ सखि धिग बे[2]काज की, बड़ी-बड़ी अँखियाँन ॥"

वि०—"जहाँ प्रसिद्ध विधेय से विरुद्ध अर्थ की अभिव्यक्ति हो—प्रयोग-विरुद्ध शब्द का उपयोग किया जाय, वहाँ—"इस प्रकार का दोष" कहा जायगा। जैसा कि बे-काज = काम में न आनेवाली बड़ी-बड़ी आँखों का होना "से प्रकट हो रहा है।"

अथ बिरुद्ध-मतिकृत सब्द-दोष लच्छन-उदाहरन जथा—

सो 'बिरुद्धमतिकृति' सुनें, - लगै बिरुद्ध बिसेख।
"भाल-अंबिका-रँमन के, बाल सुधाकर देख[3]॥"*

पुनः उदाहरन—

काँम गरीबन के करें, जे अकाज हीं[4] मित्र।
जो माँगिए[5] सु पाइए, ते धँनि पुरुष बिचित्र ॥

अस्य तिलक

इहाँ प्रथम दोहा में—उदाहरन में, प्रथम अंबिका कहि पाछें सुधाकर = मोहन कों कह्यौ, ताते बिरुद्धमति कृत दोष भयौ, प्रथम सुधाकर औ पाछें अंबिका कहनों हो। दूसरे दोहा (उदाहरण) में जो-जो बात स्तुति की कहीं हैं, उन सों निंदा-हू प्रघट होइ है, ताते यै हु बिरुद्धमतिकृत दोष है।

वि०—"जिन शब्दों से अभीष्ट-अर्थ प्रकट न होकर विरुद्ध अर्थ का ही द्योतन हो—प्रयोग-विरुद्ध शब्दों का व्यवहार किया जाय, वहाँ उक्त दोष बन

पा०—१. (प्र०) धिग-धिग सखिबे काज की, वृथा बड़ी…। (का०) (वें०) वृथा बड़ो…। २. (का०) (वें०) (प्र०) बिन…। ३. (सं० पु० प्र०) लेखि। ४. (का०) (वें०) (प्र०) के…। ५. (का०) (प्र०) माँगिय सो पाइए…।

* काव्य-प्रभाकर (भा०) पृ०—६४३।

जाता है, जैसा प्रथम उदाहरण रूप दोहे के तिलक में बतलाया गया है। साथ-ही "अंबिका-रमैंन" से एक बात "विरुद्धमतिकृत" दोष की ओर सृष्टि होती है, क्यों कि पद से भी विरुद्ध-मति उत्पन्न होती है। संस्कृत में अंबिका माता को भी कहा गया है—"अंबा माता०"…(अ० को०—१, ७, १४), उससे रमण करने वाला, अर्थात् पिता…। अस्तु इस प्रकार के कथन में अभीष्ट-अर्थ का स्तुति-भाव-विभूषित अर्थ का तिरस्कार होता है, इसलिये उक्त दोष है।

दूसरे उदाहरण में भी यही बात है। वहाँ भी अभीष्ट-अर्थ के विपरीत जैसा कि "जे अकाज हीं मित्र"—पदादि से "अयोग्य-कार्य के मित्रदि से विरुद्ध मति उत्पन्न होती है—अर्थ के लक्ष्यार्थ से विपरीत ध्यान जाता है।"

"इति सब्द दोषाः"

अथ वाक्य-दोष नाम बरनन

'प्रतिकूलाच्छर' जाँनि माँनि हतबृत्त[1] बिसंधँनि।
न्यूनाधिक-पद, कथित-सबद पुँनि पततप्रकरषँनि॥
तजि सँमाप्त पुँनि आप्त[2], चरँन अंतरगत-पद गहि।
पुँनि अभवनमत जोग जाँनि अकथित-कथनीयहि॥
पद अस्थानस्थ[3] सँकीरनौ, गरभित, अमत-परारथ-हि।
पुँनि प्रकरँन[4]भंग प्रसिद्ध-हत, छंद सबाक्य दूषँन तजहि॥

वि०—"दासजी ने इस छप्पय-द्वारा शब्द-दोषों के बाद "वाक्य-दोषों" का कथन किया है। आप कृत वाक्य-दोष इस प्रकार हैं—"प्रतिकूलाक्षर, हत-वृत्त, विसंधि, न्यून-पद, अधिक-पद, कथित-पद, पतत्प्रकर्ष, समाप्त-पुनराप्त, चरणांतगत, अभवन्मत्त संबंध, अकथ-कथनीय, अस्थानस्थ-पद, संकीर्ण, गर्भित, अमतपरार्थता (अमतपरार्थ-पद), प्रकरण-भंग, प्रसिद्ध-हत—आदि। दासजी मान्य यह संख्या १७ सत्रह है। संस्कृत-रीति-शास्त्रों में इनकी संख्या २१ इक्कीस है। वहाँ, 'आहत विसर्ग', 'लुप्तविसर्ग' जो ब्रजभाषा-काव्य में प्रयुक्त नहीं हो सकते के अतिरिक्त अर्थांतरैकवाचकत्व (छंदगत-पूर्वार्द्ध के कुछ वाक्य उत्तरार्ध में हों), अनभिहितवाच्य (आवश्यक वर्णन का न कहा जाना), अस्थानस्थ-समास, जो अस्थानस्थ-पद का दूसरा भेद है और जिसे "अस्थान-समास" भी कहते हैं, के

पा०—१. (का०) (वें०) …हत बृत्तनि संध्यनि। (प्र०) हत बृत्तानि संध्यनि। २. (का०) (वें०) (प्र०) पुनिराप्त…। (सं० पु० प्र०) तजि समास पुनराप्त…। ३. (सं० पु० प्र०) पद अस्थानस्थ…। ४. (का०) (वें०) (प्र०) प्रकरन…।

बाद 'अक्रम' (जिस शब्द का जिस शब्द के बाद क्रमशः उचित रूप में न होना) आदि का अधिक उल्लेख है। दासजी ने भी इन संस्कृत-जन्य दोषों में दो 'चरण-गत' और 'अकथित-कथनीय' दोषों की अधिक सृष्टि की है। इन दोषों में—'चरणांत तो चिंतामणि (व्रजभाषा-आचार्य) की देन है, द्वितीय "अक-थित-कथनीय" का बहुत कुछ खोजने पर भी पता नहीं चला कि उसे आप से पूर्व और किसने कहा।"

अथ प्रतिकूलाच्छर-दोष लच्छन-उदाहरन जथा—

अच्छर नहिँ रस[1]-जोग सो-'प्रतिकूलाच्छर' ठट्टि।
"पिय तियलुट्टत है सुरस, ठट्टि लपट्टि[2] झपट्टि॥"*

अस्य तिलक

इहाँ 'ठट्टि, लुट्टत, लपट्टि और झपट्टि सब्द जो रुद्र (रौद्र) रस में आँने चाहिऐं, वे सिंगार-रस में धरे, सो प्रतिकूल ह्वैबे ते प्रतिकूलाच्छर दोष भयौ।

वि०—"प्रतिकूलाक्षर दोष का लक्षण—संस्कृत में अभीष्ट-रस के प्रतिकूल वर्णगत रचना को कहा गया है। साथ-ही वहाँ—रसानुकुल और पदानुकुल अक्षरों का प्रयोग न होना भी कहा है।"

अथ हतबृत्त बाक्य दोष लच्छन-उदाहरन जथा—

ताहि कहत 'हतबृत्त' जहँ, छंदोभंग सबर्न[3]।
"लाल-कँमल जीत्यौ सु बृष, भाँनु-लली के चर्न॥"†

अस्य तिलक

इहाँ दुतीय चरन में बृष और भाँन कों प्रथक-प्रथक करि कह्यौ, 'बृषभाँन' एक रूप में नाँहि कह्यौ, "ताते हतबृत्त"-पद दोष है।

पुनः हतबृत्त कौ उदाहरन—

यहौ कहत 'हतबृत्त' जहँ, नाँहिं सुमिल-पद-रीति।
"दृग-खंजन[4], जंघनि-कदलि, रदँन मुक्त लिय जीति॥"‡

अस्य तिलक

इहाँ दृग के संग जंघा कहीं, रदँन (दाँत) नाहीं कह्यौ, जो क्रम ते उचित हो, ताते इहाँ-हूँ 'हतबृत्त' दोष है।

पा०—१. (का०) (वें०) (प्र०) पद"। २. (का०) (वें०) (प्र०) (का० प्र०) लपट्टि। ३. (का०) (वें०) (प्र०) (का० प्र०) सुबर्न। ४. (सं०पु०प्र०) दृगँन खंज"।

*, †, ‡ काव्य-प्रभाकर (भा०) पृ०—६४४।

वि०—"काव्य-प्रकाश और साहित्य-दर्पण के अनुसार "हतवृत्त"— जो छंद,—लक्षण के अनुसार होने पर भी सुनने में उचित न लगे, जो रस के अनुकूल न हो या जिसके अंत्यानुप्रास में ऐसा लघु हो जो गुरुता न ला सके इत्यादि तीन प्रकार का माना गया है। दासजी ने छंदो-भंग और अमिल-पद (क्रमभंग) रूप से दो प्रकार का ही माना है।"

अथ बिसंधि वाक्य-दोष लच्छन-उदाहरन—

सो 'बिसंधि' निज रुचि धरें, संधि-बिगारि-सँवारि।
"मुर-अरि-जस उज्जल जँनें, स्याँम[1] महा-तरवारि॥"*

अस्य तिलक

इहाँ मुरारि कों बिगारि कें—'मुर-अरि' कहि कें औ तरवारि कों सँवारि (सुधारि) कें, 'मुर-अरि' की भाँति "तर-वारि" न कह्यौ ताते 'बिसंधि' के 'बिगारि-सँवारि-रूप ते द्वै-भाँति कौ यै दोष भयौ।

वि०—"विसंधि-दोष में—"इच्छानुसार संधि को बिगाड़ना-सँवारना अथवा संधि के बीच कुपद का लाया जाना" कहा जाता है। काव्य-प्रकाशकार का लक्षण है—"**विसंधि सवैवैरूप्यं, विश्लेषोऽश्लीलत्वं कष्टत्वं च**" (जहाँ संधि में वैरूप्य—अशोभनीयरूपा असंधि, अश्लीलता और उच्चारण का कष्ट हो वहाँ विसंधि-दोष)। अस्तु, अश्लीलता-युक्त विसंधि और कष्ट-कर-संधि ये दो प्रकार के भेद विसंधि के और होते हैं।"

पुनः बिसंधि-उदाहरन जथा—

पुँनि[2] 'बिसंधि' द्वै[3] सब्द के बीच कुपद परिजाइ।
"पीतँम जू तिय लीजिऐ, भली-भाँति उर-लाइ॥"†

अस्य तिलक

इहाँ "पीतँम जू तिय लीजिऐ" में पीतँम जूतिय (जूता) लीजिऐ हू पढ़िबे में आबै, ताते बिसंधि दोष है। जूती शब्द अस्लील पर जात है।

अथ न्यून-पद वाक्य-दोष लच्छन-उदाहरन जथा—

सब्द रहैं कछु कहँन कों, वहै[4] 'न्यून-पद'-मूल।
"राज तिहारे[5] खरग ते, प्रघट भयौ जस-फूल॥"‡

पा०—१. (का०) (वें०) (सं०पु०प्र०) (का०प्र०) तेरी स्याम तरवारि। २. (का०) (वें०) यही···। ३. (का०) (वें०) दु···। ४. (प्र०) सु है···। ५. (का०प्र०) तिहारी···।

*, †, ‡ काव्य-प्रभाकर (भा०) पृ०—६४४।

अस्य तिलक

इहाँ पैहलें खरग (खड्ग) कों लता कहि, फिर वामें फूल कहिनों उचित हो, पै ऐसौ न कहिबे ते 'न्यून-पद' दोष है ।

अथ अधिक-पद दोष लच्छन-उदाहरन जथा—

सोइ[1] 'अधिक-पद' जहँ परै, अधिक सब्द बे[2] काज ।
'डरौ तिहारे सत्रु कों, खरग-लता-अहिराज ॥"*

अस्य तिलक

इहाँ लता-सब्द अधिक है, ताते अधिक पद दोष है ।

अथ पततप्रकर्ष-दोष लच्छन-उदाहरन जथा—

सो है 'पततप्रकर्ष' जहँ, लई रीति निबहै न ।
"कॉन्ह, कृष्ण, केसव कृपा-सागर राजिव-नैंन ॥"

अस्य तिलक

इहाँ—कॉन्ह, कृष्न, केसब औ कृपा चारि सब्द ककारादि कहि आगें फिरि ऐसौ ही ककरादि सब्दँन कौ निरबाह न करिबे ते 'पततप्रकर्ष' दोष है । अर्थात् अपनाई (भई) रीति कौ निरबाह नाहीं भयौ…।

अथ कथित दोष लच्छन-उदाहरन जथा—

कह्यौ फेरि कहिं[3] 'कथित-पद', सो[4] पुँनरुक्त कहीय ।
"जो तीय मो-मँन लै गई, कहाँ गई वौ तीय ॥"*

अस्य तिलक

इहाँ "तीय" सब्द द्वै बार आइबे, (कह्यौ भयौ तीय सब्द फिर कहिबे) ते कथित-दोष है ।

अथ समाप्त-पुनराप्त-लच्छन जथा—

करि[5] "समाप्त-बातें कहै,-फिरि आगें कछु बात ।
सो 'समाप्त-पुनराप्त' है, दूषँन मति अबदात ॥

अस्य उदाहरन

डाभ-बराऐं[6] पग-धरौ, ओढ़ौ पट, अति घाँम ।
सियै सिखै यों निरखितें[7], दृग-जल-भरि मग-बाँम ॥

पा०—१. (का०) (वें०) (सं० पु० प्र०) (का० प्र०) सुहै…। २. (का०) (वें०) (प्र०) (सं० पु० प्र०) (का० प्र०) बिन…। ३. (का०) (व०) कहै…। ४. (का०) (वें०) (प्र०) ओ… । ५ (का०) (वें०) कहि…। ६. (का०) (वें०) बचाऐं…। ७. (का०) (वें०) (सं० पु० प्र०) निरखती…।

* काव्य-प्रभाकर (भा०) पृ०—६४५ ।

अस्य तिलक

इहाँ "निरखितें" (निरखकर, देखकर) के स्थान पै "सिखावती" शिक्षा-देतीं, ऐसौ पाठ होंनों चहिऐं, पै ऐसौ न करिबे ते यै दोष भयौ ।

अथ चरनांत-दोष-लच्छन-उदाहरन जथा—

"चरनांतर-गत' एक पद, द्वै चरनँन के माँझ ।
"गैयँन लीनें कॉन्ह[1] में, कॉन्हें देख्यौ साँझ ।।"

अस्य तिलक

इहाँ कॉन्ह सब्द द्वै चरनँन में द्वै बार आयौ, सो अनुचित है । इहाँ या प्रकार कहिनों हो कै—"कॉन्हें देख्यौ आज में, गैयँन लीनें साँझ" । सो न कहि ऊपर लिखी भाँति कहिबे ते यै दोष भयौ ।

वि०—"इस दोहे के उदाहरणरूप अर्ध-भाग के पाठ में बड़ा गड़बड़ है, सभी हस्तलिखित तथा मुद्रित प्रतियों में इसका पाठ—"गैयँन लीनें आज में, कॉन्हें देख्यौ साँझ"—माना गया है । पर यह पाठ "चरणांतर्गत" दोष के लक्षण से नहीं मिलता । वहाँ स्पष्ट लिखा है कि "जहाँ एक पद दो चरण के मध्य आये तब 'चरनांत' या चरणांतर्गत दोष होगा । इस लक्षणानुसार विविध प्रतियों में अपनाया गया पाठ उससे पृथक् पड़ता था । अस्तु, बहुत कुछ खोजने के बाद "प्रतापगढ़" (अवध) से लीथो टायप में प्रकाशित उक्त पाठ जो मूल में दिया गया है, मिला और उसे-ही लक्षणानुसार समुचित समझ कर उल्लेख किया गया है ।

दासजी कृत उक्त वाक्य-दोष एक प्रकार से संस्कृत जन्य "अर्थांतरैकवाचक" (छंद-गत पूर्वार्द्ध के कुछ वाक्य का भाग उसके उत्तरार्ध में आना) का रूपांतर ज्ञात होता है, अन्य कुछ नहीं, किंतु इसका उदाहरण जो वहाँ दिया गया है उसका दासजी कृत उक्त उदाहरण से मेल नहीं खाता—पूर्व वर्णित "समाप्त-पुनराप्त के उदाहरण से उसका पूर्ण संबंध है, यथा—

"मसृणचरणपातं गम्यतां भूः सदर्भा विरचय सिचयांतं मूर्ध्निघर्मः कठोरः ।
तदिति जनकपुत्री लोचनैरश्रुपूर्णैः पथि पथिकवधूभिर्वीक्षिता शिक्षिता च ।।"

—का० प्र० ७, २२६

भूमि पर (तनिक) धीरे-धीरे देखभाल कर पाँव रखें, क्योंकि वह कुशों से भरी पड़ी है (उससे ठोकर न लग जाय), धूप भी कड़ी है, इसलिये साड़ी का

पा०—१. (का०) (वे०) (प्र०) आज में···।

पल्ला सिर पर आगे को (अधिक) खींच लो (जिससे घाम न लगे), यह शिक्षा वन को जाती हुई (कोमलांगी) जनक-पुत्री (सीताजी) को देखकर पथिक स्त्रियों ने आँखों में आँसू-भरकर दी।" पर इसका पर्दाफास दासजी मान्य तिलक के अनुसार "शिक्षिता च" (सीख दी) पद ने कर दिया है।"

अथ अभवनमत्तजोग दोष लच्छन-उदाहरन—

मुख्यै-मुख्य[1] गँनत कहि, सो 'अभवनमतजोग'।
"प्राँन, प्राँन-पति-बिन रहे[2] अबलों धिग ब्रज-लोग ॥"

अस्य तिलक

इहाँ प्राँन कों धिग कहिनों जोग हो, पै ऐसौ न कहि ब्रज के लागन कों कह्यौ ताते यै दोष है। बाक्यँन कौ भले प्रकार सों अन्वइ न ह्वैवौ-ई या दोष कौ लच्छिन हैं, जैसौ इहाँ…।

पुनः उदाहरन—

बसँन-जोंन्ह, मुकता-उडग, तिय-निसि कौ[3] मुख-चंद।
झिल्लीगँन, मंजरी-रव, उरज सरोरुह-बंद ॥

अस्य तिलक

इहाँ हूँ तिय कौ निसि करिकें बरनँन है, सो मुख्य-करिकें समस्या में होंनों चहिऐ।

वि०—"हमारी अल्प मति से दासजी कृत इस तिलक रूप व्याख्या में कुछ कसर रह गयी है, वह यह कि उक्त उदाहरण निशा का—उज्ज्वल निशा का वर्णन है, इसलिये 'तिय मुख निसि कौ चंद" कहना उचित था, न कि—"तिय-निसि कौ मुख चंद"। अथवा इस "स्त्री-रूप रात्रि का मुख चंद" विविध मुक्ता-विभूषित अलंकार उड़गन=तारागण, बसन=चंद्रिका, मंजीर (बिछुवा, वा घूंघरू) का रव (आवाज) झिल्लीगणों का गान उरुज-सरोरुह=कमल (युगल) का बंद होना या रहना, सब उसी "सानिशा" का वर्णन है, पर वह क्रम से नहीं—अनुपम अन्वय युक्त नहीं, इसलिये उक्त दोष है।"

अथ अकथित-कथनीय-दोष लच्छन-उदाहरन जथा—

नहिँ अबस्य कहिबौ कहै, सो "अकथित-कथनीय"।
"पीतँम पाँइ-लग्यौ नहीं, माँन छाँड़तो तीय ॥"

पा०—१. (का०) (वें०) (प्र०) (सं० पु० प्र०) मुख्यहि मुख्य जो गनत कहि…। २. (का०) (वें०) (प्र०) (सं० पु० प्र०) रह्यो…। ३. (का०) (वें०) (प्र०) के…।

अस्य तिलक

इहाँ मॉन-छौंड़िबौ तौ कहयौ, पै पाँइ-लागिबौ नहीं, ताते यै दोष ।

पुनः उदाहरन

तँन[1] पर सोहत पीत-पट, चंदँन कौ रँग भाल ।
पाँन[2]-लीक अधरँन लगी, लई नई छबि लाल ॥

अस्य तिलक

इहाँ नई छबि तौ कहयौ पै पीत-पट के स्थान पै नील-पट, चंदँन के स्थान पै जाबक, पाँन के स्थान पै स्याँम न कहयौ, ताते उक्त दोष भयौ ।

अथ अस्थानस्थपद दोष लच्छन-उदाहरन जथा—

सो है 'अस्थानस्थ-पद', जँह चहिऐं तहँ नाँहिं ।
"हैं वे[3] कुटिल गड़ी अजों, अलकें मो मँन-माँहिं ॥"

अस्य तिलक

इहाँ कुटिल-पद, अलक के ढिँग=पास कहिनों उचित हो, सो न कहयौ, ताते अस्थानस्थ दोष है ।

अथ संकीरँन-वाक्य-दोष लच्छन-उदाहरन जथा—

दूरि-दूरि ज्यों-त्यों मिलै 'संकीरँन-पद' जाँन ।
"तजि पीतँम पाँइन परयौ, अजहूँ लखि तिय-माँन ॥"

अस्य तिलक

इहाँ "पीतँम पाँइन-परयौ तजि, तिय-माँन अजहूँ लखात है", अथवा—"पीतँम-पाँइन परयौ लखि कें तिय-माँन अज-हूँ न तज्यौ" ए अर्थ बनत हैं, पै इहाँ पाठ या प्रकार होंनों चहिऐ कै—लखि पीतँम-पाँइन परयौ, अज-हूँ तजि तिय-माँन ।" अर्थात् सखी-बचँन नायिका प्रति—पियतम कों पाइँन परयौ लखि कें हूँ तेरौ मान अबतक न गयौ" । ऐसौ न होइबे ते 'संकीरँन'-दोष बन्यों ।

अथ गरभित-पद-दोष लच्छन जथा—

"और वाक्य दै बीच जो[4] बाक्य रचै कबि कोइ ।
'गरभित' दूषँन कहत हैं, ताहिं सयाँने लोइ ॥

पा०—१. (प्र०) (वें०) (स० पु० प्र०) सिर पर सोहै...। २. (वें०) (प्र०) (सं० पु० प्र०) पाँन-पीक अधरन लसै नई लई···। (रा० पु० प्र०) पीक-लीक अधरन लसत···। ३. (का०) (वें०) (प्र०) यों···। ४. (का०) (वें०)···को । (सं० पु० प्र०) अवर वाक्य वै बीच ज्यों···।

अस्य उदाहरन

साधु-संग औ हरि-भजँन, बिष[1]-तरु यै संसारु।
सकल भाँति बिष सों भरयौ, द्वै[2] अंमृत-फल चारु॥

अस्य तिलक

इहाँ यै दोहा या प्रकार होंनों चँहिय तो—"सकल भाँति दुख सों भरयौ, बिष-तरु यै संसारु। साधु-संग औ हरि-भजँन, द्वै अंमृत फल चारु॥" पै ऐसौ न होइबे ते यै दोष है।

अथ अमतपरार्थ-पद-दोष लच्छन जथा—

औरें रस में राखिऐ, औरें रस की बात।
'अँमतपरारथ' कहत हैं, लखि कबि-मत कौ घात॥

अस्य उदाहरन

"राँम-काँम-सायक लगें, बिकल भई अकुलाइ।
क्यों न सदँन पर-पुरष के, तुरत तारिका जाइ॥"

अस्य तिलक

इहाँ जैसौ रूपक सिंगार-रस में कहिनों उचित हो, सांत-रस में ना हीं।

अथ प्रकरँन-भंग-दोष लच्छन-उदाहरन जथा—

सौ है 'प्रकरँन'-भंग' जहँ, बिधि-सँमेत नहिं बात।
"जहाँ रेंन जागे सकल, ताही पै किन जात॥"

अस्य तिलक

इहाँ—"जाकें निसि जागे सकल, ताही०....." ऐसौ कहिनों उचित हो, पै ऐसौ न कहनों प्रकरँनभंग दोष है।

अथ दुतीय प्रकरँन-भंग लच्छन-उदाहरन जथा—

जथासंख्य जहँ नहिं मिलै, सोऊ[3] प्रकरँन-भंग'।
"रमाँ, उमाँ, बाँनी सदाँ, बिधि, हरि, हर के संग॥"*

अस्य तिलक

इहाँ "रमाँ, उमाँ, बाँनी" की भाँति "हरि, हर, बिधि के संग" न कहि बिना क्रम के 'बिधि, हरि, हर०' कह्यौ, सो दोष-जुक्त है।

पा०—१. (स० पु० प्र०), द्वै हि अमृत फल चार। २. (सं० पु० प्र०) विषतरु यै संसार। ३. (का०) (प्र०) सो है...।

* काव्य-प्रभाकर (भा०) पृ०—६४५।

अथ तृतीय प्रकरँन-भंग लच्छन-उदाहरन जथा—

सोऊ 'प्रकरँन-भंग' है[1], नाहिं एक सँम बैंन।
"तु हरि की अँखियँन बसी, कॉन्ह बसे तो[2]नैंन ॥"

अस्य तिलक

इहाँ "कॉन्ह-नैंन में तू बसी" ऐसौ कहिबौ उचित हो, सो न कह्यौ, ताते यै तीसरौ प्रकरँन-भंग दोष भयौ।

अथ प्रसिद्ध-हत दोष-लच्छन-उदाहरन जथा—

'परसिधहत' परसिद्ध-मत[3], तजै एक फल लेखि।
"कूंजि उठे गोकरभ सब, जसुमति-सावक देखि ॥"

अस्य तिलक

इहाँ कूंजिबौ (कुजनों=मधुर ध्वनि करना) पंच्छिन कौ, करभ=हाथी के बच्चा औ सावक=हिरँन के बच्चा के अर्थ में प्रसिद्ध हैं, गाय के बच्चा (बछड़ा) कौ कूजिबौ, मनुष्य (जसुमति-सावक) बालक कों देखि नाहीं, यै बिपरीत बरनँन है, ताते 'प्रसिद्ध-हत' (प्रयोग-बिरुद्ध वा विरुद्ध-प्रयोग) दोष है।

"इति वाक्य-दोष"

अथ अर्थ दोष-बरनन जथा—

अपुष्टार्थ, कष्टार्थ, व्याहरत[4], पुनरुक्तौ जित।
दुक्रँम, ग्राम्य, संदिग्ध, अपर[5] निरहेत अँनवीकृत ॥
नियँम, अनियँम, प्रवृत्त[6], बिसेस, समाँन प्रवृत्ति कहि।
साकांच्छा, पद अजुक्त, सबिधि, अँनुबाद-अजुक्तहि ॥
जो बिरुध प्रसिद्ध प्रकासतँन[7], सैहचर-भिन्न असलील-धुँनि।
है त्यक्त[8] पुँनः स्वीकृत-सहित, अर्थो[9]-दोष "बाईस" पुँनि ॥

वि०—"दासजी ने इस छप्पय-द्वारा "बाईस" (२२) अर्थ-दोषों का उनके नामों के साथ कथन किया है। आपकी यह नामावली इस प्रकार है—"अपुष्टार्थ, कष्टार्थ, व्याहृत, पुनरुक्त, दुष्क्रम, ग्राम्यार्थ, संदिग्धार्थ, निर्हेतुक, अनवीकृत,

पा०—१. (का०) (वें०) (प्र०) (सं०पु०प्र०) जहँ. नहीं…। २. (का०) (वें०) (प्र०) तुव…। ३. (का०) (वें०) …हत जु प्रसिद्ध…। ४. (का०) (वें०) (प्र०) व्याहतौ…। ५. (का०) (वें०) जु नीर हतौ…। (वें०) …नीर तो अनवीकृत। ६. (वें०) …जु वृत्त। ७. (का०) (वें०) …प्रकास तनि, सहचर भिन्नो स्लील ध्वनि। ८. (का०) (वें०) तिक्त। ९. (का०) (वें०) असमर्थहि से त्यास पुनि।

नियम-परिवृत्त, अनियम-परिवृत्त, विशेष-परिवृत्त, सामान्य-परिवृत्त, साकांक्ष्य, अयुक्त, विधि-अयुक्त, अनुवाद-अयुक्त प्रसिद्धि-विरुद्ध, प्रकाशित-विरुद्ध, सहचर-भिन्न, अश्लील और त्युक्त पुनः स्वीकृत।

संस्कृत में दोषों का प्रथम उद्‌घाटन जैसा इस उल्लास के आदि में लिखा जा चुका है, श्रीभरतमुनि ने किया था, उन्होंने दोषों का वर्गी-करण तो नहीं किया, पर लक्षण-सहित उनकी संख्या—"गूढ़ार्थ, अर्थांतर, अर्थहीन, भिन्नार्थ, एकार्थ, अभिलुप्तार्थ, न्यायायत, विषम, विसंधि और शब्द-हीनादि, दस रूप में अवश्य मानी हैं। इन्हीं में से अधिक दोष अर्थ-दोषों के उदभावक हैं। आपके बाद "मंमट" ने इन दस दोषों को कुछ अधिक विकसित करते हुए वर्गीकरण के साथ, जैसे—"सामान्य-दोष"—"नेयार्थ, क्लिष्ट, अन्यार्थ, अवाचक, अयुक्तिमत्, गूढशब्द","वाणी-दोष"—"श्रुतिदुष्ट, अर्थदुष्ट, कल्पनादुष्ट, श्रुति-कष्ट", "अन्य दोष"—अपार्थ, व्यर्थ, एकार्थ, ससंशय, अपक्रम, शब्द-हीन, यति-भ्रष्ट, भिन्नवृत्त, विसंधि, देशकालकलालोकन्यायागम-विरोधी और प्रतिज्ञाहेतु दृष्टांतहीन"। इस त्रिवर्ग में सामान्य और वाणी-दोषों का उद्‌गम तो अज्ञात है, पर अन्य दोषांतर्गत विविध दोषों का मूल विशेषतः भरत जन्य हैं। अब दोषों की संख्या—इक्कीस (२१) हो गयी। दंडी ने इन दोषों को काट-छाँटकर, अर्थात् भामह-जन्य सामान्य और वाणी-दोषों के साथ अन्य दोषांतर्गत एक "प्रतिज्ञा-हेतु-दृष्टांतहीन" को त्याग कर सब के सब यथावत् अपना लिये। फलतरूप भामह-कृत इन जातियों को त्यागते हुए भी दोष-संख्या वही भरत-जन्यवत् दस हो गयी। आचार्य वामन के समय इनमें फिर वृद्धि हुई और वर्गीकरण भी हुआ। आपने दोषों को—पद, पदार्थ, वाक्य और वाक्यार्थ-रूप जाति में विभक्त कर पाँच 'पद-दोष'—"असाधु, कष्टकर, ग्राम्य, अप्रतीत, अनर्थक", पाँच 'पदार्थ-दोष'—"अन्यार्थ, नेयार्थ, गूढ़ार्थ, अश्लील, क्लिष्ट", तीन 'वाक्य-दोष'—भिन्नवृत्ति, यतिभ्रष्ट, विसंधि और सात 'वाक्यार्थ-दोष'—"व्यर्थ, एकार्थ, संदिग्ध, अप्र-युक्त, अपक्रम, अलोक, विद्या-विरुद्धादि" में परिणत कर संख्या पुनः "बीस" (२०) प्रस्तुत कर दी। यही दोष-संख्या आगे चलकर मम्मट-काल में—शब्द, अर्थ और रसादि त्रिवर्ग से विभूषित हो सत्तर (७०) हो गयी, यथा—शब्द-दोष—"सैंतीस", अर्थ-दोष—'तेईस' और रस-दोष—दस। विश्वनाथ चक्र-वर्त्ती ने इन त्रिवर्ग-जन्य दोषों को पाँच—"पदे तदंशेवाक्यऽर्थे संभवंति रसेऽपियत्" (पद, पदांश, वाक्य, अर्थ और रस) विभागों में विभक्त किया और संख्या—चौसठ (६४), जैसे—पद-दोष—'पंद्रह', वाक्य-दोष—'तेईस', अर्थ-दोष—'सोलह' और रस दोष—'दस'। इन पंचभूत दोषों में—पद, पदांश

और वाक्य-गत दोष, शब्द-दोषों में समाजाते हैं, कारण—वाक्यार्थ का बोध होने पर जो दोष दिखलाई पड़ते हैं, वे शब्द के आश्रित हैं, इत्यादि…। ब्रजभाषा-साहित्य में भी दोषों में उलटफेर हुए, पर वे अधिक उल्लेखनीय नहीं हैं। क्योंकि वे संस्कृत-जन्य दोषों के विकृत-अविकृत रूप हैं और कुछ नहीं।

उपरोक्त विवरण दोषों के आविर्भाव और विकास काल का संक्षिप्त इतिहास है, जो समयानुसार वृद्धि और ह्रास के झोंकों में पनपता तथा मलिन होता रहा। अस्तु, दासजी इस विवाद में नहीं पड़े। उन्होंने मम्मट मान्य दोषों का एक समूह और परस्कृत मार्ग अपनाया और तदनुकूल 'शब्दार्थ'-दोषों का आकलन किया।"

प्रथम अपुष्टार्थ दोष लच्छन-उदाहरन जथा—

प्रौढ़-उक्ति जहँ अर्थ[1] है, 'अपुष्टार्थ' सो बंक।
"ज्यौं अति[2] बड़े गगँन में, उज्जल चारु मयंक ॥" *

अस्य तिलक

गगँन अति बड़ौ है ही औ चंद्रमा-हूँ उज्जल औ चारु (सुंदर) होइ है, ताते गगँन कों अति बड़ौ औ चंद कों चारु कहिबौ व्यर्थ है।

अथ कष्टार्थ दोष लच्छन-उदाहरन जथा—

अर्थ भिन्न अच्छरँन ते, 'कष्टारथ' सु बिचारि[3]।
"तो पर वारों चार मृग[4], चार बिहँग, फल-चारि ॥"†

अस्य-तिलक

इहाँ "तो पर वारों चार मृग"—में मृग ते "पसुँन" कौ अर्थ, जैसे—नेंनन पै मृग, घूंघट पै हय (घोड़ा), गति पै हाथी, कटि पै सिंघ यों चारि मृग वारे। याही भाँति चार बिहंग, जैसे—बेंन पै कोकिल, ग्रीवा पै कपोत (कबूतर), केस पै मोर औ नासिका पै सुक (तोता) आदि पंछी वारे। चारि फल, जैसें—दाँतन पै दाड़िम (अनार), कुचँन पै श्रीफल (नारियल), अधरँन पै बिंबाफल और कपोलँन पै मधूक (महुआ—वृक्ष विशेष का फूल) ए वारे। ए सब अर्थ कष्ट सों-ही जाने जात हैं, ताते ये कष्टार्थ दोष हैं।

पा०—१. (सं० पु० प्र०) ब्याज…। २. (प्र०), बहुत बड़े गगँन में…। (वें०) ज्यौं अति बड़ो…। (का०) (वें०) ज्यौं बड़ो अति गगन में…। ३. (का० प्र०) अर्थ न आछो समझिए, सो कष्टार्थ बिचारि। ४. (का० प्र०) पसु…।

*, † काव्य-प्रभाकर (भा०) पृ०—६४५।

अथ ब्याहृत दोष लच्छन-उदाहरन जथा—

सत-असतौ एकै कहैं, 'ब्याहृत' सुधि-बिसराइ।
"चंद-मुखी" के बदँन-रौंम- हिमकर कह्यौ न जाइ ॥"*

अस्य तिलक

इहाँ चंद-मुखी कहि कें वाके बदँन (मुख) कों 'हिमकर' (चंद्रमा) न कहिनों ब्याहृत दोष है।

वि०—"व्याहृत का लक्षण है—"किसी वस्तु का प्रथम महत्व दिखलाकर फिर उसकी हीनता सूचित करना, अथवा प्रथम हीनता दिखलाकर पुनः उसका महत्व सूचित करना। सुधि-भूलकर सत्य-असत्य को एक रूप में कहना—जहाँ एक बात निर्धारित कर फिर उसके विरुद्ध कहना-आदि भी "व्यवहृत-दोष-लक्षण हैं। वदतोव्याघात वा परस्पर विरोध भी इसे कहते हैं। अस्तु, आशय एक है, कहने के—लक्षण-प्रकाश के ढंग अलग-अलग हैं।"

अथ पुनरुक्त दोष-लच्छन-उदाहरन जथा—

वहै अर्थ पुँनि-पुँनि मिलै, सबद औरु 'पुनरुक्त'।
"मृदु-बाँनी, मीठी लगै, बात कबिँन की उक्त ॥"†

अस्य तिलक

इहाँ बाँनीं, बात औ उक्त (उक्ति) कौ अर्थ एक-ही है, अलग-अलग नाहीं, पै सब्द और-और हैं, ताते पुनरुक्त दोष है।

अथ दुःक्रँम दोष लच्छन-उदाहरन जथा—

क्रँम-बिचार क्रँम कों कियौ 'दुःक्रँम' है इहि काल।
"बरबाजी, कै बारनें, दै हैं रीझि दयाल ॥"

अस्य तिलक

इहाँ—"बारँन-ही कै बाजि ही दै हैं०" ऐसौ हौनों चँहियतो।

वि०—"दुष्क्रम का लक्षण है—अनुचित क्रम, लोक-शास्त्र-विरुद्ध क्रम। अस्तु, इस उदाहरण में—'प्रथम घोड़ा और बाद में हाथी की यांचा 'यह दुष्क्रम है। अर्थात् प्रथम हाथी की—बड़ी वस्तु की, यांचा न कर थोड़े की—अल्प की—जो घोड़ा नहीं दे सकता उससे हाथी माँगना···"यांचा-दुष्क्रम है इत्यादि···।"

*,† काव्य-प्रभाकर (भा०) पृ०—६४६।

अथ ग्राम्यार्थ दोष लच्छन-उदाहरन जथा—

चतुरँन की-सी बात नहिं, ग्राम्यारथ सो चेति।
"अली पास पौढ़ौ[1] भलें, मोहि किँन पौढ़ँ देति ॥"

अस्य तिलक

इहाँ पुरुष ह्वै कैं स्त्री की समानता करनों ग्राम्य दोष हैं।

वि०—"ग्राम्यार्थ दोष का लक्षण—भद्दे पन से, गँवारपन से बात या कार्य करना है—और जैसा कि दासजी ने उदाहरण प्रस्तुत किया है—"तुम पास भले-हो सो जाओ—लेट जाओ, पर मुझे भी सोने दो—लेटने दो "कहना भद्दे पन का द्योतक है।"

अथ संदिग्धार्थ दोष लच्छन-उदाहरन जथा—

'संदिगधारथ'[2] अर्थ बहु, एक कहत संदेह।
"किहि कारँन[3] कौंमिनि लिखी, सिब-मूरति निज गेह ॥"*

अस्य तिलक

इहाँ कौंम के डरते वा पूंजिबे कों कौंमिनी नें सिब की मूरति लिखी; यै निसचै के संग नाहिं कह्यौ जाइ, ताते यै दोष है।

अथ निरहेतु दोष लच्छन-उदाहरन जथा—

बात कहै बिँन-हेतु की, सो 'निरहेतु' बिचारि।
"सुँमन झर्‌यौ मानों अली, मदँन दियौ सर-डारि ॥"

अस्य सिलक

इहाँ कौंम ने कोंन हेतु सों सर (बान) डारि दियौ सो न कह्यौ—वाके डारि दैबे कौ कारँन न कह्यौ, ताते इहाँ निरहेतु दोष है।

अथ अँनुबिक्रत दोष लच्छन-जथा—

जो न नए अर्थें धरै, 'अँनुबिक्रत' सु बिसेष।
जँनु लाटानुप्रास औ आवृत्ति-दीपक देख ॥

पा०—१. (का०) (वें०) (प्र०) पौढ़ी···। २. (का०) (वें०) (प्र०) संदिग्धार्थ जु अर्थ···। ३. (सं० पु० प्र०—द्वि०) कारज···।

* काव्य-प्रभाकर (भा०) पृ०—६४६।

अस्य उदाहरन जथा—

कौंन अचंभौ, जो पावक जारै, औ[1] कौंन अचंभो गरू गिरि भाई।
कौंन अचंभौ, खराई पयोनिधि[2], कौंन अचंभौ गयंद कराई॥
कौंन अचंभौ, सुधा मधुराई, औ कौंन अचंभौ बिषै[3] करुआई।
कौंन अचंभौ, बहै बृष भार, तौ[4] कौंन अचंभौ भलें-ईं भलाई॥

अस्य तिलक

इहाँ यै छंद या प्रकार होनों चहिऐं, जथा—

*

"कौंन अचंभौ जो पावक जारै, गरू गिरि है तौ कहा अधिकाई।
सिंध-तरंग सदैव खराई, नई नहिं सिंधुर-अंग कराई॥
मींठौ पियूष, करू बिष-रीति, पै 'दास जू' या में न निंद-बड़ाई।
भार चलाव[5]-ही आपु-हि बैल, भलेन के अंग सुभाव[6] भलाई॥"

वि०—"दासजी कृत "अँनुविक्रत" शुद्ध—'अनवीकृत' दोष वहाँ होता है, जहाँ—अनेक अर्थों को एक-ही प्रकार से कहा जाय—उनमें कोई अन्य विलक्षणता का प्रदर्शित न होना, जाना जाता है। प्रस्तुत उदाहरण में "कौंन अचंभौ" शब्द-समूह अर्थ में कोई विशेष विलक्षणता प्रदर्शित नहीं करता, इसलिये उपयुक्त दोष है, पर यही छंद "तिलक-रूप" में पढ़ने-से (उसमें) विलक्षणता आ जाती है—सु सुंदरता बढ़ जाती है, अतः उक्त दोष भी नहीं रहता।

एक बात और, इस अनवीकृत दोष में पर्यायवाची शब्द के बदल देने पर भी, यह दोष बना रहता है, पर पूर्व कथित-पद दोष में छंद-प्रयुक्त शब्दों के पर्यायवाची शब्दों के बदल देने से यह दोष नहीं रहता। यही इन दोनों का भेद है—विच्छेद है।"

अथ नियम-अनिमय प्रवृत्त कौ लच्छन—

अनियँम-थल नेंमें गहै, नियँम-ठौर जु अनेंम।
'नियँम-अनियँम-प्रवृत्त' है, दूषँन दुऔ अप्रेंम॥

पा०—१. (का०) (वें०) (प्र०) तौ···। २. (वें०) पयोधि की। ३. (का०) (वें०) (प्र०) विषी···। ४. (का०) (वें०) (प्र०) औ···। ५. (वें०) (स० पु० प्र०)···चलाव-हि आपु बलीन, भलेनि की···। ६. (का०) (वें०) (प्र०) सुभावै।

अस्य उदाहरन

जाकी सुभदाइक रुचिर, कर ते मँनि गिरि जाइ।
क्यों पाऐं आभास-मँनि, होइ तासु चित-चाइ॥

अस्य तिलक

आभास-मँनि, मँनि (मणि) की छाया कों कहति हैं, ताते इहाँ–"क्यों लहि छाया-मात्र-मँनि"···कहिनों उचित हो, सो अँनेम बात कही ताते यै उदाहरन अनियँम प्रवृत्त कौ है।

पुनः उदाहरन जथा—

भैकारी, भैकारिऐ, लेंन चाँहती जीय।
तँन-तापँनि ताड़ित करै, जौमिनि-हीं जँम-तीय[1]॥

अस्य तिलक

यै दोहा इहाँ या प्रकार होंनों चहिऐं, जैसे—

*

"है कारी, भै-कारिनी[2], लेंन चँहत मो जीय।
तँन तापँन ताड़ित करै, जाँमिनि जँम की तीय॥"

वि०—"दासजी मान्य इस "नियम-अनियम प्रवृत्त' को संस्कृत-रीति ग्रंथों में—"सनियम और अनियम परिवृत्तता" कहा है। सनियम परिवृत्तता उसे कहते हैं—जहाँ नियम पूर्वक कहना चाहिये उसे नियम पूर्वक न कहना और अनियम परिवृत्तता वहाँ होती है, "जहाँ—नियम पूर्वक न कहना चाहिये, पर नियम-पूर्वक कहना।"

अथ बिसेस प्रवृत्त लच्छन जथा—

जहाँ ठौर साँमान्य कों, कहै बिसेस अयाँन।
ताहि 'बिसेसपरवृत्त' गँनि, दूषँन कहैं[3] सुजाँन॥

अस्य उदाहरन जथा—

कहा सिंध लोपत मँनिन, बीचिँन कीच बहाइ[4]।
सक्यौ कौस्तुभ-जोरि तू, हरि सों हाथ बुकाइ॥

अस्य तिलक

इहाँ यै दोहा या प्रकार कहिनों चाहिऐं

पा०—१. (रा०पु०नी०सी०) जामिन जम की तीय। २. (रा०पु०नी०सी०) भैकारी यै जाँमिनी···। ३. (का०) (वे०) (प्र०) गँनें···। ४. (का०) मचाइ। (प्र०)...बढाइ

"कहा मँनिन-मूँदत जलधि, बीची कीच मचाइ।
सक्यौ कौस्तुभ जोर तू, हरि सों हाथ बुड़ाइ॥"

अथ सामान्य प्रवृत्त लच्छन जथा—

जहाँ कहत 'साँमान्य'-ही, थल-बिसेस कों देख।
सो 'साँमान्यप्रवृत्त' है, दूषँन दृढ़ अवरेख॥

अस्य उदाहरन जथा—

रैंन स्याँम-रँग-पूरि, ससि–चूरि[1] कँमल करि दूरि।
जहाँ-तहाँ हों पिय लखों, ए भ्रँम-दाइक भूरि[2]॥

अस्य तिलक

रात्रि स्याँम है, ससि हू सुफेद है, फिर इन्हें भ्रँम-दाइक (भ्रम उत्पन्न करने वाले) कहनों 'सामान्य-प्रवृत्त' कथन दोष है।

वि०—"जहाँ अर्थ के लिये सामान्य शब्दों का प्रयोग करना चाहिये, पर ऐसा न कर वहाँ विशेष शब्दों का प्रयोग किया जाय जाने पर यह अर्थ दोष होता है। संस्कृत-साहित्य में इसे "अविशेष परिवृत्ति दोष भी कहते हैं।"

दासजी के 'विशेष' और 'सामान्य परिवृत्तता' के दोनों उदाहरण "संस्कृत-काव्य-प्रकाश" की संपत्ति हैं और वे वहाँ क्रम विपर्यय से—विशेष का उदाहरण सामान्य में—अविशेष में तथा सामान्य का उदाहरण 'विशेष परिवृत्ति' में दिया गया है। मूल उदाहरण इस प्रकार हैं—अस्तु, प्रथम विशेष परिवृत्ति (जहाँ किसी विशेष वस्तु का उल्लेख न किया जाय, पर जिसका नामोल्लेख उचित है—जिस अर्थ के लिये विशेष शब्द अभिप्रेत है, वहाँ सामान्य शब्द का प्रयोग करना) उदाहरण, यथा—

"श्यामां श्यामलिमानमानयत भोः सांद्रैर्मषीकूर्चकैः—
मंत्रं तंत्रमथ प्रयुज्य हरत श्वेतोत्पलानां श्रियम्।
चंद्रं चूर्णयत क्षणाच्च कणशः कृत्वा शिलापट्टके—
येन द्रष्टुमहं क्षमे दशदिशस्तद्वक्त्रमुद्रांकिताः॥ ७, २७५

अर्थात् सेवको, चटकीली स्याही की कूची से पोतकर रात्रि को अति अँधेरी कर दो, मंत्र-तंत्रादि का प्रयोग कर श्वेत कमलों की शोभा भी हरलो और उसके बाद किसी कड़ी चट्टान पर चंद्र को भी पटक कर चूर-चूर कर डालो, जिससे मैं अपनी प्रिया के मुख-चिह्नों से विभूषित दसों दिशाओं को देख सकूँ।"

पा०—१. (प्र०) चोर कमल करि दौर। २. (प्र०) और।

अस्तु, दासजी का "सामान्यप्रवृत्त" उदाहरण रूप दोहा—"रैंन स्याँम रँग पूरि, ससि चूरि, कँमल करि दूरि।" इत्यादि एक-ही बात है और सामान्यप्रवृत्त का उदाहरण, जैसे—

"कल्लोलवेल्लितदृषत्परुषप्रहारै-
रत्नान्यमूनि मकरालय मावमंस्थाः।
किं कौस्तुभे न विहितो भवतो न नाम
यांचाप्रसारितकरः पुरुषोत्तमोऽपि॥
—७, २७६

अर्थात् रत्नाकर, लहरों को चला-चला के कठोर पत्थरों पर प्रहार कर तुम इन रत्नों का (जो तुम में भरे हुए हैं) अनादर मत करो, क्योंकि (इन रत्नों में की) एक ही कौस्तुभ मणि ने, जिसे माँगने के लिये भगवान् विष्णु ने भी तुम्हारे सामने हाथ पसारा, संसार में तुम्हारी प्रसिद्धि नहीं कर दी !"

अब इसके साथ दासजी मान्य 'विशेष प्रवृत्त' का दोहा—"कहा सिंधु लोपत मँनिन०"···पढ़िए, रहस्य खुल जायगा।"

अथ साकांछा-दोष-लच्छन जथा—

आकांछा कछु सब्द की, जहाँ परत है जाँन।
सो दूषँन 'साकांछ' है, सुमति कहैं उर-आँन॥*

अस्य उदाहरन—

परँम बिरागी चित्त है[1], पुँनि देवँन कौ काँम।
जँननी-रुचि पुँनि पितु-बचँन, क्यों तजि हैं बँन राँम॥*

अस्य तिलक

इहाँ—"क्यों तजि हैं बँन राँम" के स्थान पै "क्यों न जाँइ बँन राँम" होंनों चहिऐं, बन कों जाइबे सब्द की आकांछा इहाँ प्रघट है।"

अथ अजुक्त पद-दोष-लच्छन जथा—

पद कै बिधि, अँनुबाद कै, जहँ अजोग है[2] जाइ।
तहँ 'अजुक्त' दूषँन कहैं, जे प्रबीन कबिराइ॥

पा०—१. (का०) (वे०) (प्र०) (का० प्र०) तिज···। २. (का०) (वे०) (प्र०) हे···।
* काव्य-प्रभाकर (भा०) पृ०—६४६।

अस्य उदाहरन

मोंहँन-छबि अँखियँन-बसी, हिऐं मधुर मुसकाँन।
गुँन-चरचा बतियाँन में, उँन-सँम और न आँन[1]॥

अस्य तिलक

इहाँ चौथौ चरँन—'उँन-सँम और न आँन" अजुक्त है, इहाँ "और न मृदुबत राँन" पाठ होंनों चँहिऐं, ताते यै दोष है।

वि०—"दासजी कृत इस अयुक्त-पद दोष को संस्कृत-शास्त्र-ग्रंथों में अपद-युक्त (जहाँ अनुचित स्थान में ऐसे अर्थ का योग हो, जिससे प्रकरणार्थ-विरुद्ध अर्थ की प्रतीति हो) दोष कहा गया है और जैसा कि दासजी ने कहा है—इसके दो भेद 'विधि' और अनुवाद-अयुक्त और होते हैं। विधि-अयुक्त—"विधान करने के अयोग्य का विधान करना तथा अनुवाद-अयुक्त—"विधि के अनुकूल अनुवाद न होना कहा जाता है। अस्तु, पद-अयुक्त का उदाहरण दासजी ने ऊपर दिया है अब "विधि" और "अनुवाद-अयुक्त के उदाहरण नीचे क्रमशः देते हैं।"

अथ बिधि-अजुक्त दोष-उदाहरन जथा—

पौंन-अहारी ब्याल है, ब्यालै खात मयूर।
ब्याध जु[2] खात मयूर कों, कोंन सत्रु-बिँन कूर॥

अस्य तिलक

इहाँ ब्याल=सर्प कों (निरौ) पौंन (पवन) अहारी कहिनों न चँहिऐं, वौ अन्य जीवहू खात है, ताते 'बिधि-अजुक्त' दोष है।

अथ अँनुवाद-अजुक्त-दोष कौ उदाहरन जथा—

रे केसव-कर आभरँन, मोद-करँन श्रीधाँम।
कँमल बियोगी ज्यों[3] हरँन, कहा प्रिया अभिराँम॥

अस्य तिलक

इहाँ—कँमल कों बियोगी-ज्यों हरँन अजुक्त अनुवाद है, इहाँ "बियोगी 'ज्यौ' वा जिउ-हरँन (वियोगियों के जी का हरने वाला) कहनों उचित हो, ऐसौ न कहिनों यै दोष है।

पा०—१. (का०) (वे०) (प्र०) जाँन। २. (का०) (वे०) (प्र०) ब्याधौ खात…। ३. (प्र०) ज्यौ…।

अथ प्रसिद्ध विद्या-विरुद्ध दोष लच्छन जथा—

लोक, बेद, कबि-रीति औ देस, काल ते भिन्न।
सो 'प्रसिद्ध-बिद्यॉन' के, हैं बिरुद्ध-मति खिन्न ॥

अस्य उदाहरन

कौल खुले कच गूंदती-मूंदती, चारु नखच्छत अंगद के तरु।
दोहद में[1] रति[2] के स्रम-भार, बड़े बल कै धरती पग भू धरु ॥
पंथ असोकँन कोप लगावती, है जस गावती सिंजित के भरु।
भाँवती भादों की चाँदनी में, जगि[3] भाँवते-संग चली अपनै घरु ॥

अस्य तिलक

या छंद में—उदाहरँन में, असोक (बृच्छ) कौ नायिका (स्त्री) के पाँइ कों छिये ते फूलिबौ कहिनों लोक-रीति है, पै ऐसौ न कहि 'पल्लव लाग्यौ कहत हैं, सो लोक-विरुद्ध है। दोहद (गर्भवाली स्त्री) में रति बरजित है सो कह्यौ, ताते बेद-बिरुद्ध है। भादों की चाँदनी-राति बरनिबौ-कबि-रीति के बिरुद्ध है, भोर न होंन पायौ पै भाँवते के पास ते अपने घर चली, यै रस-काल बिरुद्ध है और नखच्छत उरोजँन पै उचित है, पै भुजाँन में कह्यौ यै अंग-देस बिरुद्ध है।

वि०—"दासजी ने यहाँ "प्रसिद्ध-विद्या-विरुद्ध" के अंतर्गत—लोक, वेद, कवि-रीति, देश और काल-विरुद्ध-रूप भेदाभेद दोष कहा, उदाहरण भी दिया है। संस्कृत-साहित्य में—पंथ विरुद्ध, शब्द-विरुद्ध, छंद-विरुद्ध, आगम-विरुद्ध और न्याय-विरुद्ध" भी "प्रसिद्ध-विरुद्ध दोष के अंतर्गत माने हैं। पंथ-विरुद्ध, कवि-रीति-विरुद्ध का ही दूसरा नाम है। शब्द से कथन के विपरीत अर्थ का बोध होना, वह शब्द-विरुद्ध है। इसे 'शब्द-बधिर' भी कहते हैं। छंद-नियम के विरुद्ध रचना करना, छंद-विरुद्ध है। आगम-विरुद्ध उसे कहते हैं, जहाँ शास्त्रीय-रीति त्याग कर, अपनी मनगढंत रीति चले और न्याय-विरुद्ध दोष वहाँ होता है, जहाँ नीति-युक्त बात न कह, अनीति पूर्ण बात कही जाय।"

अथ प्रकासित-बिरुद्ध दोष लच्छन—

जो लच्छँन कहिऐ, परै तासु बिरुद्ध लखाइ।
वहै 'प्रकासित' बात कौ, है बिरुद्ध कबिराइ ॥

पा०—१. (सं० पु० प्र०) के…। २. (वें०) दोहद-फेरति के…। ३. (का०) (वें०) (प्र०) जगी।

अस्य उदाहरन जथा—

हँसनि, तकँनि, बोलँनि, चलँनि, सकल सकुच-मै जासु।
रोष न क्यों-हूँ करि सकै, सुकबि कहैं सुकिया सु ॥

अस्य तिलक

इहाँ— परकीया (नायिका) हू कौ अर्थ लागि जात है, तातै यै दोष।

वि०—"अभीष्टार्थ से प्रतिकूल अर्थ की प्रतीति को "प्रकाशित-विरुद्ध" कहते हैं। अस्तु, इस दोष के उदाहरण में जो छंद दासजी ने लिखा है, उससे (जिसका हँसना, देखना, बोलना, चलना सब सकुच-मय है) पारकीया की क्रिया भी जानी जा सकती है इत्यादि•••।"

अथ सहचर-भिन्न दोष लच्छन-उहाहरन जथा—

सो है 'सहचर-भिन्न' जहँ, संग न कहत विवेक।
"निज पर-पुत्रँन माँनते[१], साधु-काग-बिधि एक॥"

अस्य तिलक

इहाँ—काग (कौआ) कोइल के पुत्रँन कों धोखे ते—जाँनि कें नाहीं पालै है, ताकी साधु (पुरुषँन) सों समता न चँहिऐ, सो सहचर-भिन्न दोष है।

पुनः उदाहरन जथा—

निसि ससि सों, जल कँमल सों, मूंढ़ बिसँन सों मित्त।
गज मद सों, नृप तेज सों, सोभा पावत नित्त॥

अस्य तिलक

इहाँ—निसि (रात्रि) ससि सों, जल कँमल सों, गज मद सों और नृप तेज सों सोभा-पावत तौ उचित, पै मूंढ़ बिसँन सों सोभा पावति संगत-बिरुद्ध सैहचर-भिन्न है, ताते यै दोष है।

अथ अस्लीलार्थ दोष-लच्छन-उदाहरन जथा—

कहिऐ 'असलीलार्थ' जहँ भोंडौ-भेद लखाइ।
"उभत हैं पर-छिद्र कों, क्यों न जाँइ मुरझाइ॥"

अस्य तिलक

इहाँ ब्यंगारथ तें मुख्यांग—हाथी आँन्यों आइ है, ताते दोष है।

पा०—१. (सं०पु०प्र०) मानतो•••।

अथ त्यक्त पुनः स्वीकृत दोष-लच्छन-उदाहरन जथा—

'त्यक्त पुनः स्वीकृत' कहैं, छाँड़ि¹ बात पुँनि लेत।
"मो सुधि-बुधि हरि हर लई, काँम करों डर-हेत॥

अस्य तिलक

इहाँ नायिका (स्त्री) की सुधि-बुधि हरि जाती तो काँम कैसें कर सकती—नाहीं कर सकती, यै दोष है।

वि०—"कन्हैयालाल पोद्दार ने अपने 'काव्य-कल्पद्रुम' में "त्यक्त पुनः स्वीकृत" का लक्षण—'किसी अर्थ का त्याग कर फिर उसी को स्वीकार करना" लिखते—मानते हुए, इसके उदाहरण में स्व० बा० जगन्नाथदास 'रत्नाकर' का एक छंद दिया है, यथा—

"माँन-ठाँन बैठ्यौ इत परँम सुजाँन कौन्ह,
भौंहें ताँन बाँनक बनाइ गरबीली को।
कहै 'रतनाकर' बिसद अति बाँकौ बन्यौ,
बिपिन-बिहारी बेस बाँनक लड़ीली को॥
लखि-लखि आजु की अँनूप सुखमाँ को रूप,
रोपै रस रुचिर मिठास लौन-सीली को।
ललकि लचैबौ लोल लोचँन लला कौ इत,
मचलि मनैबो उत राधिका रसीली को॥

और लिखा है उक्त छंद के तीसरे चरण तक वर्णन की समाप्ति हो चुकी है, फिर चौथे चरण में उसी विषय का वर्णन किया जाने में—त्यक्त पुनः दोष है।

यह लक्षणानुसार उदाहरण बताने वाली 'टिप्पणी' हमारी समझ में नहीं आई, कारण वर्णन तीसरे चरण तक समाप्त नहीं हुआ है—उस (वर्णन) का प्राण तो छंद के चोथे चरण में उलझा हुआ है, वह उससे विलग किस प्रकार हो सकता है। अस्तु, आप-मान्य यह उदाहरण—'त्यक्त पुनः स्वीकृत' का गलत है—असंगत है, फिर आपने उक्त छंद भी अधिक अशुद्ध दिया है (दे० रत्नाकर–'प्रथम संस्करण' शृंगार-लहरी छं० सं०—४६, ५० पृ० सं०—३३१) उसके प्राण-ही हरण हो गये हैं, उस पर उक्त टिप्पणी—

¹ पा०—(का०) (वें०) (प्र०) छोड़ि...।

"जिसने कुछ एहसाँ किया, इक बोझ उस पर रख दिया।
सर से तिनका क्या उतारा, सर पै छप्पर रख दिया॥"

इस उल्लास के आरंभ में कहा जा चुका है कि 'दासजी' की दोषोद्भावना की सूझ-बूझ संस्कृत-रीति-ग्रंथों—विशेषकर श्री आचार्य मम्मट के 'काव्य-प्रकाश की देन है, उसी के विकास का सुफल है, जिसे आपने संक्षिप्त-बहुली-करण के साथ अपनाया, यथा—

"बूझि सु 'चंद्रालोक' अरु 'काव्य-प्रकास' सुग्रंथ।
समझि सुरुचि भाषा कियौ, लै औरों कबि-पंथ॥"

—काव्य-निर्णय प्रथम उल्लास

अस्तु आचार्य मम्मट-प्रयुक्त जो काव्य का स्वरूप—"तद दोषौ-शब्दार्थौ सगुणावलंकृती पुनः क्वापि" (काव्य-प्रकाश—प्रथम उल्लास) के झरोखे से निर्मल बना झाँख रहा था, उसके गुण-दोषों का निरखना-परखना भी आवश्यक था, क्योंकि आपसे पूर्व आचार्य 'भामह' का स्पष्ट मत है—

"सवर्था पदमप्येकं न निगद्यामवद्यवत्।
विलक्ष्मा हि काव्येन दुःसुतेनैव निंद्यते॥"

—काव्यालंकार १, ११

किंतु, दोषों के मूल-सिद्धांतों का अभाव ज्यों का त्यों बना रहा, जो बाद में आचार्य वामन (संस्कृत) के समय स्फुट हुआ। अस्तु दोषों का कथन-उपकथन जहाँ पद-वाक्यादि के साथ उलझ रहा था, वहाँ ध्वनि-काल के आते-आते उसके प्रति विचार बदले तथा उसके वास्तविक रूप जानने-पहिचानने की ओर लोग झुके। फलतः श्री मम्मट उनके उत्कर्षापकर्ष के प्रति जागरुक होकर उनकी तह तक पहुँचे और सार-रूप से एक व्यापक, पर सूक्ष्म सूत्र का सुंदर निर्माण किया जिसमें 'रस-वाक्यार्थ-गत' सारे दोष समा जाते हैं। वह सूत्र है—

"मुख्यार्थ हतिर्दोषो०......।"

जो आपके काव्य-प्रकाश के सातवें उल्लास में शीर्ष स्थान पर सुशोभित है। यहाँ "हति"-शब्द ही संपूर्ण दोष-निरूपक है, जो अपकर्ष-अर्थ का द्योतक है। दासजी ने उसी का सुंदर अनुकरण किया है इत्यादि...।"

"इति श्रीसकलकलाधरकलाधरबंसावतंस श्रीमन्महाराज कुँमार
श्रीबाबूहिंदूपति विरचिते 'काव्य-निरनए' सब्दार्थ-दूषन
बरनोननाम त्रियोविंसतिमोल्लासः॥"

अथ चौबीसवाँ उल्लास

अथ दोषोद्धार बरनन जथा—

कहुँ सब्दालंकार, कहुँ छंद, कहूँ तुक-हेत।
कहुँ प्रकरँन-बस-दोष-हू, गँनें अदोष सचेत॥

*

कहूँ अदोषौ होत, कहुँ दोष होत गुँन-खाँन।
उदाहरँन कछु-कछु कहौं, सरल सुमति-ढिँग[1] जाँन॥

वि०—"दासजी ने इस उल्लास में काव्य-गत दोषों के उद्धार का—उनके गुण-बन जाने का वर्णन किया है। यह प्रकरण भी आपका "**जननीजन्मभूमिश्च स्वर्गादपिगरीयशी**"—सम संस्कृत-साहित्य की ही देन है—उसी का रूपांतर है। वहाँ, अनेक प्रकार के दोषोद्धार स-उदाहरण सुंदर ढंग से कहे गये हैं। उनका आदि काव्य-प्रकाशकार आचार्य मम्मट ने—"इदानींक्वचिददोषा अप्येते-इत्युच्यंते" (कहे गये दोष कहीं-कहीं दोष नहीं माने जाते—७, ८३) से लेकर "**गुणः कृतात्मसंस्कारः प्रधानं प्रतिपद्यते**" (७, ३४१) तक विविध प्रकार से वर्णन किया गया है। साहित्य-दर्पण में भी "काव्य-गत अनेक प्रकार के दोषों का, उनके भूषण बन जाने का विशद् विवेचन किया गया है। वहाँ भी "वक्तरि क्रोध संयुक्ते तथा वाच्ये समुद्धते" (७, १६) से लेकर—

"**अन्येषामपि दोषाणामित्यौचित्यान्मनीषिभिः।**
अदोषता च गुणता ज्ञेया चानुभयात्मता॥"

अर्थात् "इसी प्रकार औचित्य के अनुसार दोषों के अदोषत्व, गुणत्व और अदोष-गुणत्व का निर्णय बुद्धिवान् स्वयं विचार करें"—तक कथन किया है। तात्पर्य यह कि पूर्व और उत्तर में कथित—"शब्द, वाक्य, अर्थ और रस-गत" दोष भी अनुकूल अवसर से, रसोत्कर्ष में सहायक हो जाने से गुण-संज्ञा पा भूषण बन जाते हैं। अतएव यह दोष-संज्ञा, गुण-संज्ञा बन जाने के कारण—नाम-करण के साथ प्रथक् वर्णन नहीं की गयी है। दोषों की गुणत्व रूप में नामकरण-व्यवस्था विस्तार-भय का कारण भी हो सकती है…।

दोषोद्धार की सफल बकालत "काव्यालंकारकार आचार्य भामह और रुद्रट् के साथ काव्यादर्श के कर्ता-दंडी ने भी की है। आपलोग कहते हैं—"विशेष-

पा०—१. (प्र०) हृद…। (सं०पु०प्र०) मति…।

स्थिति में कुत्सित कथन भी काव्य का शोभाकारक हो जाता है, जिस प्रकार माला के मध्य भाग में गुथा हुआ नील-पलाश (काव्यालंकार—१, ५४), अथवा —उक्त दोषयुक्त सभी विरोध कवि-कौशल से दोषों की जाति से निकल कर गुणों की श्रेणी में परवर्त्तित हो जाते हैं (काव्यादर्श—३, १७६), इत्यादि··· ।"

दोषोद्धार कौ प्रथम उदाहरन जथा—

हरि-स्रुति कौ कुंडल, मुकत-हार हिए कौ स्वच्छ ।
अँखियँन देख्यौ सो रह्यौ, हिय में छाइ प्रतच्छ ॥

अस्य तिलक

इहाँ स्वच्छ सब्द स्रुति-कटु है, प्रतच्छ सब्द भाषा-हीन है, मुकट-हार चरनांतर-गत की ठौर है, ताते बाक्य दोष है । मुकत-हार हिय कौ अँखियँन सों देख्यौ कहिबे में अर्थ-दोष-गत 'अपुष्टार्थ' दोष है, "कुंडल-हार देख्यौ" इतनोंही कहें अर्थ कौ बोध होत है, पै तुक-बस ते स्रुति-कटु, भाषा-हीन औ छंद-बस ते चरनांत-गत पद औ लोकोक्ति-बस ते 'अपुष्टार्थ' अदोष है । कुंडल औ हार कोंन स्रवन औ हृदै ते भिन्न धरत है । दरस में स्रवन, चित्र औ सपनों गन्यों जात है । हार जद्यपि मोंतिन ही के कहे जात हैं, तथापि भाषा कबि हार कों साधारन करि लेख्यौ है, यौ कवि-रीति-बस है, यातें इहाँ दोषँन की झलक रहत हू यै उदाहरँन निरदोष है ।

पुनः उदाहरन जथा—

सिंघ-कटि मेखला[१] मिथुँन-कुच-कुंभ त्यों-हीं,
मुख-बास अलि-गुंज[२], भौंहैं धँनु लीक हैं ।
बृषभाँन - कन्या मींन-नैंनी, सुबरँन - अंग[३],
नजर-तुला में तोलें[४] रति हू[५] रतीक है ॥
नेंकौ[६] बिलगात अरि[७] करक-कटाच्छँन सों,
छै गए गल-ग्रह सु तौ लोग सुधरी कहैं ।

पा०—१. (का०) (वें०) (सं० पु० प्र०) मेखला स्यौ कुंभ कुच मिथुन त्यों मुख-बास अलि गुंजैं···। २. (प्र०) गुंजैं···। ३. (का०) (वे०) (प्र०) (सं० पु० प्र०) अगी···। ४. (का०) (सं० पु० प्र०) तोसों···। (वें) तासो···। ५. (का०) (वें०) सों···। (प्र०) तौ···। ६. (का०) है कें···) (सं० पु० प्र०) है हैं···। ७. (का०) (वें०) उर जात कर कटाच्छन सो चहिये गल-ग्रह लोग···। (सं० पु० प्र०) उर कर कटाच्छन सों, चाहिये गलग्रह ते लोग···।

कुंडल मकरवारे सौं लागी[1] है लगँन अब,
बारहौं लगँन कौ बनाव बन्यौं नीक[2] है ॥*

अस्य तिलक

इहाँ 'मेखला' सब्द में 'ला' सब्द निरस्थक है, द्वै पदारथँन के बीच मिथुन सब्द अप्रजुक्त (अप्रयुक्त) है। अलि सब्द 'निहितार्थक' है, धँनु-लीक सब्द अबाचक है, कन्या सब्द सिंगार-रस में अनुचितार्थ है, गल-ग्रह मिलबे कों कहिनों अप्रतीत दोष है, कुंडल औ मकर सब्द अविम्रिष्ट बिधेइक हैं, बारहों सब्द स्रुति-कटु है—द्वै बकार की संधि ते। पैहलें बिलगाइबे की बात कहि, पीछें, मिलबे की कहिनों—त्यक्तपुनःस्वीकृत अर्थ दोष है, रति कों रतीक कहि कें राधा कों गरू (भारी) न कह्यौ ताते साकांच्छा दोष है, पै स्लेष औ मुद्रालंकार करि कें बारहों रासिँन के नाम आँने, ताते अदुष्ट है। जैसें मैंढक कों—मैंडुला, मैंडुका कहें हैं, तैसें-ही मेष को मेखला कह्यौ, ताते निरर्थक-दोष हू कौ निबारन भयौ है।

वि०—"दासजी ने इस छंद में बारहों राशियों का नामोल्लेख किया है और कहा है—कि ये राशि-नामावली श्लेष और मुद्रालंकारों से सुशोभित होने के कारण छंद को अदोषयुक्त बनाती हैं।

हम यहाँ श्लेष की बात नहीं कहते, क्योंकि उसका अधिकार बड़ा व्यापक है, वह शब्द-गत विविध नई खूबियाँ प्रकाशित करने में सबसे अधिक है और जब कहीं वह मुद्रा (अलंकार) की सान पर चढ़ जाय तो फिर कहना ही क्या……। अतएव श्लेष और मुद्रा से विभूषित इन बारहों राशियों की शोभा दासजी के शब्दों में निरखिये-परखिये, जैसे—प्रथम "सिंघ" (सिंघ-कटि) मेष (मेखला), मिथुन कुंभ (दो कुच-कुंभ), धनु (धँनु-लीक), बृष (वृपभाँन), कन्या, मीन (मीँन-नैंनी), तुला (नजरि-तुला), करक (कर्क-कटाच्छैंन), मकर (कुंडल मकरवारे) इत्यादि…।"

अथ क्वचित् असलील अदोष गुँन-कथन जथा—

कहुँ 'असलील' दूषँन[1] नहीं, जथा सुभग भगवंत।
कहूँ हास-निंदादि ते, स्लील गुँनें गुँनवंत[2] ॥

पा०—१. (का०) (वें०) (प्र०) (सं० पु० प्र०) लगी लगन…। २. (का०) (वें०) (प्र०) ठीक है। ३. (वें०) दोवे…। ४. (का०) (वें०) गुनसंत।

* रस-सारांस (भि० दा०) पृ०—१४,२५६।

अस्य उदाहरन

मींत न पै है जौंन तू. यै खोजा-दरबार।
जो निसि-दिंन गुदरत[1] रहै, ताही कौं पैठार॥

अस्य तिलक

इहाँ—निंदा, क्रीड़ा औ हास में असलीलता हूँ गुँन मानी हैं।

अथ क्वचित् ग्रांम्य-दोष-गुँन जथा—

ग्रामीनोक्ति कहैं कहूँ, ग्रामैं गुँन ह्वै जाइ।
"अजों तिया सुख की छिया, रही हिया पै छाइ॥"

पुनः उदाहरन

नाहिं-नाहिं[2] सुँनि नहिं रह्यौ, नेह नाहिँ में नाँह।
त्यों-त्यों भरत[3]सु मोद सों, ज्यों-ज्यों झारत बाँह॥

अस्य तिलक

यै सँमें सुरति कौ नाहिँ हैं सो नाइका चेष्टा सों अस्वीकार करै है, पै मुख ते नहीं, सो न्यून दोष गुँन है।

वि०—"दासजी ने उक्त दो छंदों-द्वारा "क्वचित् ग्राम्य-दोष" का और "क्वचित् न्यून-पद दोष" का गुण-रूप होना कहा है। हस्तलिखित प्रतियों में द्वितीय दोहे का "क्विचित् न्यून-पद गुँन" शीर्षक नहीं लिखा मिलता, केवल दो मुद्रित—बंबई और 'प्रयाग' की प्रतियों में केवल "क्विचित् न्यून-पद गुण, वा……उदाहरण" शीर्षक ही मिलता है, लक्षण नहीं। साथ-ही "काव्य निर्णय" की सभी प्रतियों में प्रथम दोहे (ग्राम्य-दोष गुण) का तिलक भी नहीं मिलता। दूसरे उदाहरण का तिलक विभिन्न रूप से मिलता है। बहु-संमति तिलक ऊपर दिया गया है, दूसरा 'तिलक' इस प्रकार है—

"यै सँमें सुरति कौ नहीं है, हम नहीं मानती, सो नायिका-बचँन करि केवल नहीं सों जान्यों जातु है, ऐसी ठौर में ऐसौ 'न्यून' गुँन होत है।"

संस्कृत-साहित्य-शास्त्र ग्रंथों में "ग्राम्यत्व दोष" का गुणत्व बतलाते हुए—"अधमप्रकृत्युक्तिषु ग्राम्यो गुणः" (अधम—नीच पात्र की उक्ति में ग्राम्य दोष गुण हो जाते हैं) कहा गया है। अस्तु, दासजी कृत "उक्त" दोष-रूप गुण" के उदाहरण में जो "अजों तिया सुख की छिया०"…कहा गया है, उसमें

पा०—१. (वें०) गुजरत…। २. (का०) (वें०) (प्र०) (सं० पु० प्र०) नहीं-नहीं …। ३. (का०) (वें०) (प्र०) भरति मोद…।

"छिया" शब्द घृणास्पद होते हुए भी अधम-वक्ता-द्वारा कथन करने से 'ग्राम्यत्व-दोष' गुण बन गया है।

दूसरा दोहा 'न्यून'-पद दोष गुणत्व" रूप का उदाहरण दिया है। यहाँ संस्कृत-साहित्यकारों का कथन है—"जहाँ अध्याहार के कारण अर्थ की शीघ्र प्रतीत होती हो, वहाँ उक्त 'न्यून-पद दोष' नहीं होता…। अथवा—

"उक्ता वानंद मग्नादेः स्यान्न्यूनपदता गुणः।"

अर्थात्, आनंदादि में निमग्न मनुष्य की उक्ति हो तो 'न्यूनपद-दोप' गुण होता है। अस्तु, यहाँ नायिका मुख से तो बार-बार नायक को सुरति-प्रति मना कर रही हैं, पर चेष्टा से—गाढ़-आलिंगन से मोद-मान सुरतेच्छा प्रकट कर रही है। यह बार-बार कही गयी नहीं, शृंगार-रस-व्यंजक हर्षादि की-हीं सूचक है, जिससे यहाँ वह आवश्यक पद-न्यूनता गुण में परवर्त्तित हो गयी है, जैसे—

"आवन में नाँहीं, सेज-सोबँन में नाँहीं,
सुख-पाबँन में नाँहीं मन-भावँन में भाई हौ॥
चुंबँन में नाँहीं, परिरंभँन में नाँहीं,
कबि 'दूलह' उछाँही-कला लाखँन लखाई हौ॥
बोलँन में नाँहीं, बंद-खोलँन में नाँहीं,
सब हासँन-बिलासँन में वही ठीक-ठाई हौ।
मेलि गल-बाँहीं, केलि कींनी चित-चाँही,
यै 'हाँ' ते भली 'नाँहीं', कहौ कहाँ ते सीख आई हौ॥

अथ क्वचित् अधिक-पद दोष गुँन उदाहरन जथा—

खल[1]-बाँनी, खल की कहा साधु जाँनतें नाँहिं।
सब सँमझें, पै तिहिँ तहाँ, पतित करत सकुचाँहिं॥

अस्य तिलक

खल (दुष्ट व्यक्ति) की खल (दुष्ट) बाँनी कों कहा साधु (संत, सज्जन) नाहिँ समझें हैं? पै अवस्य सँमझें हैं, यै अभिप्राय पैहले चरँन—"साधु जाँनते नाँहिं" ते ही प्रघट ह्वै जाइ है, पै दूसरे चरँन में पुनि "सब सँमझें कहिवे ते 'अधिक-पद-दोष' बनत है, पै या पुनरुक्ति रूप कहिवे ते समझिवे की दृढ़ता अधिक आनी आत है, ताते यहाँ वौ गुँन भयौ। औ यै "क्वचित् कथित-गुँन" कौ हू उदाहरन है, क्योंकि यामें सब समझिवे कौ अर्थ आइ मिल्यौ फिरहू "सब सँमझें कह्यौ" तौ अति दृढ़ता भई, ताते यै हू गुँन इहाँ है।

पा०—१. (सं० पु० प्र०) छल…।

वि०—"दासजी ने इस दोहे में दो दोषों "अधिक-पद दोष' और 'कथित-पद दोष' का गुणत्व-वर्णन 'अपने तिलक (टीका) द्वारा किया है। प्रथम तो दासजी की यह सरस-सूक्ति काव्य-प्रकाश (संस्कृत) की, इस रम्य-रचना की, जैसे—

'यद्वंचनाहितमतिर्बहु चाटु गर्भं-
कार्योन्मुखः खलजनः कृतकं ब्रवीति।
तत्साधवो न न विदंति विदंति किंतु-
कर्तुं वृथा प्रणयमस्य न पारयंति॥'

—७,३१२

यह अल्प-अलंकृत उक्ति है। यहाँ भी दासजी की भाँति—"साधु जाँनते नाँहिं" और "सब सँमझें०···" रूप "विदंति" (जानते हैं) दो बार आया है। अस्तु, दासजी और संस्कृत-सूक्ति-जन्य पुनरुक्तवद"—साधु जानते नहिं' और "सब सँमझें०···" तथा 'विदंति'-आदि अधिक पद होने पर भी ये दोनों—दास और संस्कृत-सूक्ति जन्य पद अधिक होते हुए भी वे अन्य पुरुषों से सज्जनों की पृथकृता बतलाते हैं। अर्थात्, सज्जन खलों की खलपूर्ण सारी बातें जानते हुए भी वे उनके ऊपर कृपा-ही करते रहते हैं—उन्हें खल कहते भी सकुचाते हैं, क्योंकि हर्ष-भयादि से अभिमुख वक्ता के संबंध में 'अधिक-पद दूषण नहीं माने जाते—"इत्येवमादौ हर्षभयादियुक्ते वक्तरि"—इति काव्य-प्रकाशकार वचनात्···।"

अथ दीपक-लाटादि पुनरुक्त गुँन जथा—

दीपक, लाटा, बीप्सा, पुनरुक्ती बद-भास[1]।
बिध-भूषँन में कथित पद, गुँन-करि लेखौ[2] 'दास'॥

अस्य उदाहरन

ज्यों दरपँन में पाइऐ, तरँनि-तेज ते आँच।
त्यों पृथवी-पति तेज ते, तरँनि-तपत ये साँच॥

अस्य तिलक

इहाँ 'तरँन सब्द है पोत आयौ है, सो वौ इहाँ गुँन रूप है।

पा०—१. (का०) (वे०), पुनरुक्ता प्रतिभात। (प्र०) पुनरुक्तिवदाभास। २. (सं० पु० प्र०) लेख्यौ···।

वि०—"कहीं कथित-पद (दोष) दीपक, लाटानुप्रास, वीप्सा, पुनरुक्तवदाभास और 'विधि' (अलंकार—सिद्ध वस्तु का पुनः विधान—जिस वस्तु का विधान सिद्ध है, उसका पुनः अर्थांतर-गर्भित विधान करना) के अनुसार कहा गया दोष गुण हो जाता है, जैसा कि दासजी ने अपने 'तिलक' में कहा है कि "तरँनि सब्द द्वै पोत (बार) आयौ सो वौ गुँन रूप है"। अतएव प्रथम तरणि (तरनि) शब्द में द्वितीय तरणि ने—जिस सूर्य के तेज से दर्पण में अग्नि पाई जाती है—"उत्पन्न हो जाती है, उस सूर्य में तेरे तेज का-ही तो प्रताप है, तेरे तेज से-ही तो वह तेजवान् है"—इत्यादि अधिक विशेषता उत्पन्न कर दी, जिससे यह गुण हो गया। अर्थात् तरणि, गुण-प्रकर्षादि के लिये पुनरुक्तवद् कथित पद-वद् है—पिछले वाक्य में विधेय के फिर से कथन के लिये हैं, इसलिये वह गुण ही है।"

अथ क्वचित् गरभित-दोष गुँन जथा—

लाल-अधर में कौ सुधा, मधुर कियौ[1] बिँन-पाँन।
कहा अधर में लेत है[2], धर में रहत न प्राँन॥

अस्य तिलक

इहाँ "धर में रहत न प्राँन" ए वाक्य "बिँन-पाँन" के पास होंने चँहिऐं, पै-दूरान्वय-रूप भाषा-संस्कृत के कबि बनायौ—लिखौ ही करें हैं, ताते यै अदोष है।

अथ क्वचित् प्रसिद्ध-बिद्या-बिरुद्ध गुँन लच्छन जथा—

जो प्रसिद्ध कबि-रीति में, सो संतत गुँन होइ।
लोक-बिरुद्ध-बिलोकि कें, दूषँन गँनें न कोइ॥

अस्य उदाहरन

महा अँध्यारी रैंन में, कीर्त्ति तिहारी गाइ।
अभिसारी पिय पै गई, उँजियारी अधिकाइ॥

अस्य तिलक

इहाँ कीरति-गान ते उजियारौ हैबौ लोक-बिरुद्ध है, पै कबि-रीति में यै गुँन है, ताते इहाँ गुँन है।

पा०—१. (का०) (वें०) (प्र०) (सं० पु० प्र०) किऐ...। २. (सं० पु० प्र०) ही...।

अथ क्वचित् सहचर-भिन्न दोष गुँन कथन जथा—

मौंहँन मो दृग-पूतरी, वौ[1] छवि सिगरी प्रौंन।
सुधा चितौंन सुहावनी, मींच[2] बाँसुरी-ताँन॥

अस्य-तिलक

इहाँ, सब्द में बाँसुरी की ताँन कों मींच (मृत्यु) कहिबौ असत है—सैह-चर भिन्न है, पै बिसेसोक्ति वा बिनोक्ति अलंकार करि कें पुँन संभव है, ताते गुँन भयौ।

*

या बिधि आरों जाँनिऐ, जहाँ सुँमति चित लेत।
दोष होत निरदोष तहँ, औ ममता गुँन-हेत॥

वि०—"इस दोहे-द्वारा दासजी कहते हैं—इस प्रकार अन्य दोषों को भी गुण जानना कहा जा सकता है। वे सुमति—अच्छी मति वालों के हृदय को हरण कर लेते हैं, इत्यादि…।"

"इति श्रीसकलकलाधरकलाधरबंसावतंस श्रीमन्महाराज कुँमार श्रीबाबूहिंदूपति बिरचिते काव्य-निरनए दोष-अदोष बरननं-नाम चतुरबिंसतितमोल्लासः॥"

पा०—१. (का०) (बें०) (प्र०) वै…। २. (का०) (बें०) सींचि…।

अथ पच्चीसवाँ उल्लास

अथ रस-दोष बरनन

रस औ चर-थिर भाव की, सब्द-बाच्यता होइ।
ताहि कहत 'रस-दोष' हैं, कहूँ अदोषिल सोइ॥

वि०—"दासजी ने इस उल्लास में "रस-दोषों" का "अदोषिल" (दोष-रहित) हो जाने के सहित कथन किया है। यह दोष और अदोष-वर्णन भी आपने संस्कृत-साहित्य से लिया है। संस्कृत-साहित्य में इनकी अंतिम व्याख्या "विश्वनाथ चक्रवर्ती (साहित्य-दर्पण) कृत—"रसापकर्षका दोषाः" (रस के अपकर्षक—उसकी हीनता या विच्छेद के जो कारण वे दोष) मिलती है, जो एक प्रकार से माननीय संमति है—अंतिम 'इस्लाह' है। फिर भी इनकी नाम-करण-विधि संस्कृत-साहित्य-शास्त्र के उद्भट विद्वान् आचार्य मम्मट द्वारा-निम्न प्रकार की गयी है—

"व्यभिचारिरसस्थायि भावानां शब्दवाच्यता।
कष्टकल्पनया व्यक्तिरनुभाव विभावयोः॥
प्रतिकूल विभावादि ग्रहो दीप्तिः पुनः पुनः।
अकांडे प्रथनच्छेदौ अंगस्याप्यति विस्तृतिः॥
अंगिनोऽननुसंधानं प्रकृतीनां विपर्ययः।
अनंगस्याभिधानं च रसे दोषाः स्युरीदृशाः॥"

—काव्य-प्रकाश, ७-६०,६१,६२

अर्थात् व्यभिचारी भाव, रस और स्थायी भावों का शब्दों-द्वारा कहा जाना, अनुभाव तथा विभावों की कष्ट-कल्पना-द्वारा अभिव्यक्ति, प्रतिकूल (विपरीत) विभावादि का ग्रहण, बारंबार एक-ही रस की उद्दीप्ति, बिना अवसर के विस्तार या विराम, किसी अमुख्य विषय का बहु विस्तार से वर्णन, अंगी (प्रधान वर्ण्य-विषय) का अनुसंधान न रखना—उसे भूल जाना, प्रकृति (पात्रों) का विपर्यय (उलट-पुलट) और अनंग—जो रस का उपकारक अंग नहीं है, उसका कहना"—ये तेरह (१३) रस-विषयक दोष हैं। इन रस-दोषों के प्रति पंडित-राज जगन्नाथ त्रिशूली का सूक्ष्म पर सार-गर्भित विवेचन है—

"निबध्यमानोरसो रसशब्देन शृंगारादि शब्दैर्वाभिधातु मुचितः अना-स्वादापत्तेस्तदास्वादस्य व्यंजनामात्रनिष्पाद्य इत्युक्तत्वात् एवं स्थायिव्यभिचारि-णामपि शब्दवाच्यत्वं दोषः।"—र० गं०—पृ० ५०।

अर्थात्, शृंगारादि रसों का विशेष शब्दों-द्वारा, या उनका सामान्य शब्दों-द्वारा स्पष्ट कथन अनुचित है।"

संस्कृत-साहित्याचार्यों-द्वारा इन रस-दोषों का वर्गीकरण "नित्य" और "अनित्य" रूप से किया हुआ मिलता है। जो दोष सभी अवस्थाओं में काव्यात्मा का अपकार करते हैं वे—"नित्य" और जिनका संबंध रूपाकार से है वे "अनित्य" कहे गये हैं तथा जो सर्वत्र रसोचित्य की हानि नहीं करते वे शब्दार्थ-दोष हैं—रस-दोष नहीं। रस-दोष 'नित्य' हैं—अनित्य नहीं, ऐसा भी शास्त्राचार्यों का अभिमत है।

जैसा कि पूर्व (२३वें उल्लास के आदि) में कह आये हैं कि "इदानीं क्वचिददोषा अप्येते इत्युच्यंते" अर्थात् कहीं-कहीं शब्द, वाक्य, अर्थ-दोष, दोष नहीं माने जाते, उसी प्रकार 'रस-दोष' भी आचार्य मम्मटादि-संमति से (रस-दोष) दोष नहीं माने जाते, यथा—

"न दोषः स्वपदेनोक्तावपि संचारिणः क्वचित्।"

—का०प्र० ७,८३

यही नहीं, आगे आप फिर कहते हैं—

"संचार्यादेर्विरुद्धस्य बाध्यस्योक्तिर्गुणावहा।"

—का०प्र० ७, ८४

अर्थात्, संचारीभावादि के विरुद्ध रसों की उक्ति यदि बाध्यता की रीति से कही जाय तो वह गुण-जनक होती है, दोषावह नहीं। श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती ने अपने साहित्य-दर्पण ग्रंथ में मम्मट-मान्य तेरह दोषों का वर्णन कुछ नवीनता के साथ किया है, यथा—

रसस्योक्तिः स्वशब्देन स्थायिसंचारिणोरपि ॥
परिपंथि रसांगस्य विभावादेः परिग्रह।
आक्षेपः कल्पितः कृच्छ्रादनुभावविभावयोः ॥
अकांडे प्रथनच्छेदौ तथा दीप्तिः पुनः पुनः।
अंगिनोऽननुसंधानमनंगस्य च कीर्तनम् ॥
अतिविस्तृतिरंगस्य प्रकृतीनां विपर्ययः।
अर्थानौचित्यमन्यच्च दोषा रसगता मताः ॥

—७, १२, १३, १४, १५

"अर्थात्, किसी रस का उसके वाचक-पद से—सामान्य वाचक रस शब्द से या विशेष वाचक शृंगारादि शब्दों से कहना, स्थायी और संचारी भावों का उनके वाचक पदों से अभिधान करना, विरोधी रस के अंग-भूत विभावानुभावादि

का वर्णन करना, विभावानुभावों का कठिनता से आक्षेप हो सकना, रस का अनुचित स्थान में विस्तार या विच्छेद करना, बार-बार उसे दीप्ति करना, प्रधान रस को भुलाकर अन्य का वर्णन करना, जो अंगी नहीं है उसका वर्णन करना, अंगभूत रस को अति विस्तृत करना, अर्थादि के औचित्य को भंग करना और प्रकृतियों का उलटना-पलटना ये रस-दोष हैं। दासजीने इन्ही संस्कृत-जन्य रस-दोषों का वर्णन कुछ निराले ढंग से उनकी निर्दोषता के साथ न्यूनाधिक रूप में किया है।

ब्रज-भाषा-रीति-साहित्य में भी दोषों का वर्णन है, जैसा पूर्व में कह आये हैं। अस्तु, जहाँ आचार्य केशव ने अन्य—शब्द-वाक्य-अर्थादि दोषों का नये नाम करणों-द्वारा, जैसे—अंध, वधिर, पंगु, नग्न, मृतक, गन-अगन, हीन-रस, यति-भंग, व्यर्थ, अपार्थ, क्रमहीन, कर्णकटु, पुनरुक्ति, देश-विरोध, काल-विरोध, लोक-विरोध, नीति-विरोध, आगम-विरोध आदि अपनी "कवि-प्रिया" में किया है, उसी प्रकार "रसिक-प्रिया" में भी रस-दोषों का भी वर्णन करते हुए उन्हें "अनरस" की संज्ञा दी है। आप कृत रस-दोष इस प्रकार हैं—

"प्रत्यनीक, नीरस, बिरस, केसव दुःसंधाँन।
पात्र-दुष्ट, कबित्त बहुँ, करें न सुकबि बखाँन॥

—१६, १

अस्तु, उपर्युक्त रस-दोषों का विवरण जहाँ आपकी नवीनता का उद्भावक है, वहाँ वह संस्कृत-जैसा वैज्ञानिक नहीं हैं। प्रत्यनीक-विरसादि विरोधी भावों के आधारों पर-ही अवलंबित हैं, उनसे पृथक् नहीं। आप के बाद आचार्य चिंता-मणि ने "कविकुल-कल्पतरु" में संस्कृत के अनुकूल तज्जन्यनामानुसार रस-दोषों का वर्णन किया है। यह चिंतामणि-चर्चित परंपरा कवि-प्रवृत्तियों के अनुसार डगमगाते हुए आगे बढ़ी तो सही, पर उसमें वह बाँकपन न रहा जो उसमें होना चाहिये था, इति अलं।"

अथ प्रथम प्रत्यच्छ रस-कथन दोष उदाहरन जथा—

अंचल-ऐंचि जु सिर-धरत, चंचल-नेंनी चारु।
कुच-कोरँन हिय-कोरि कें, भरयौ सरस[1] सिंगारु॥

अस्य तिलक

इहाँ सिंगार-रस बरनँन करत सिंगार-रस कौ नाम, जैसे—"सरस सिंगारु" खेंनों अनुचित है—रस दोष है, वाके अनुभव सों इहाँ यों कहिनों उचित हो—

पा०—१. (का०) (वें०) (प्र०) सुरस...।

"कुच-कोरँन हिय-कोरिकें, दुख भरि गई अपार ॥"

वि०—"विश्वनाथ चक्रवर्ती ने इसे "स्वशब्द-वाच्यत्व" दोष कहा है।"

अथ बिभचारी भावन की सब्द-बाच्यता-जुक्त दोष जथा—

आँनद औ रस-लज्ज[१] गयंद की खालँन पै करुनाँन-मिलाई।
'दास' भुजंगँन-त्रास धरैं औ गंग-तरंग—धरैं—हरखाई॥
भूति-भर्यौ सित अंग स-दीनता, चंद-प्रभा स बितर्क महाई।
ब्याह-समैं हर-ओर[२] चहैं, चर-भाव भईं[३] अँखियाँ गिरिजाई॥

अस्य तिलक

इहाँ आनंद के संग लज्जादिक बिभचारी भावन कों बाच्य में कह्यौ—ब्यंजना में नाहीं, ताते यै दोष है। इन भावँन कों बाच्य में ब्यंजित करनों 'उत्तम' काव्य है, सो यै छंद या प्रकार होनों चँहिऐं—

"आँनन-सोभ पै[४] ह्वै कें निचौंहीं, गयंद की खाल पै ह्वै जु लसाई।
'दास' भुजंगँन[५]-संजुत कंप, सु[६] गंग-तरंग समेत लखाई॥
भूति-भर्यौ तँन लै मलिनाई, औ चंद-प्रभा अँनिमेख महाई।
ब्याह-समैं हर-ओर निहारि कें, नई-नई दीठिन सों गिरिजाई॥"

अथ थाई भाव की सब्द बाच्यता-जुत दोष उदाहरन जथा—

अँकनि-अँकनि रँन परसपर, असि-प्रहार झँनकार।
महा-महा जोधँन हिऐं, बढ़त 'उछाह' अपार॥

अस्य तिलक

इहाँ "उछाह" सब्द बाच्य में कहिबे ते बीर-रस की स्थाई भाव प्रगट होत है और अबर—काव्य होत है, ताते इहाँ "बढ़त उछाह अपार" के स्थान पै—"मंगल बढ़त अपार" ऐसौ होंनों चँहिऐं।

अथ सब्द-बाच्यता ते अदोष कौ कथन जथा—

जात जगाए[७] हैं न अलि, आगँन-आऐं[८] भौंन।
रस[९]-भीए सोए दोऊ, प्रेंम-सँमोए प्राँन॥

पा०—१. (का०) (वें०) लज्जा...। २. (का०) (प्र०) हर-ओर...। (वें०) हरखो रच है...। ३. (वें०) नई...। ४. (सं० पु० प्र०)...सों भय है...। ५. (का०) (वें०) (प्र०) भुजंगनि...। ६. (का०) (वें०) (प्र०) औ...। ७. (का०) (वें०) (प्र०) जगायौ हैं न अलि, आगन आयौ...। ९. (का०) (वें०) (प्र०) रस मोयौ सोयौ दोऊ प्रेंम समोयौ...।

अस्य तिलक

इहाँ नायिका की सुभाव-रसिकता बिभचारी भाव में बरनत हैं 'सोए' कहत सब्द-बाच्यता होति है, फिर सोइबे कों और भाँति सों कहिबौ भलौ नाहीं, क्यों याते कै रस और प्रेम की सब्द-बाच्यता है, सो अति रसिकता अरु प्रतीति कौ कारन है, औ अपरांग है कें ब्यंग में सखी कौ दोंनोंन के प्रति प्रीति थाई भाव है, ताते गुँन हैं।

अथ अवर रस-दोष बरनन जथा—

जहँ बिभाव-अँनुभाव की, कष्ट-कल्पनाँ ब्यक्ति।
'रस-दूषँन' ताहू कहैं, जिन्हैं काव्य की सक्ति॥

वि०—"जहाँ विभाव-अनुभावों के व्यक्ति (जानने) की कल्पना कष्टकर हो, वहाँ भी एक प्रकार का "रस-दोष" है। दासजी की यह 'रस-दूषण'-परिभाषा मम्मट (काव्य-प्रकाश) जन्य है, यथा—

"कष्ट कल्पनया व्यक्तिरनुभावविभावयोः॥" ७, ६० ।

अर्थात् जहाँ विभावानुभावों की कष्ट-कल्पना से रस की प्रतीति हो, वहाँ यह दोष होता है।"

अथ बिभाव की कष्ट-कल्पना कौ उदाहरन जथा—

उठति, गिरति, गिर-गिर उठति, उठि-उठि गिरि-गिरि जाति।
कहा कहौं[1] कासों कहौं, क्यों जीवै यहि राति॥

अस्य तिलक

इहाँ नायिका की बिरह-दसा कहत हैं, सो ब्याधि ते और-हू पै लगति है, ताते कष्ट-कल्पना बिभाव की है।

वि०—"दासजी का यह उदाहरण नायिका की विरह-दशा का वर्णन नायक-प्रति सखी-द्वारा कथन है, उपालंभ है—विरह निवेदन है। अस्तु, विभाव-रूप सखी का कहना और अनुभाव रूप—वेपुथ तथा वैवर्ण्य आदि शृंगार और करुण-रसों के साथ कष्ट-कल्पना से ही जाने जाते हैं।

कुछ ऐसा-ही नायिका की व्याधि का यह वर्णन भी किसी कवि का सुंदर है,—मनोहर है, यथा—

"बेदँन पै जाँनें को निवेदँन पै मानें कौन,
बेदँन उदोत होत छेदन पै छाती हैं।

पा०—१. (का०) (वें०) (प्र०) (सं० पु० प्र०) करौं...।

पी की बतियाँन सुनि, ती की अति आँसुन की,
उमड़ीं नदी-सी बड़ी नदी-सी सुहाती है ॥
सोक है सुहात जाहि सो कहै बिषम-बाल,
बिष बिष-मेल की लैहैर लैहराती है ।
घूँमि-घूँमि गिरति, भुजैंनि भरै झूँमि-झूँमि,
सखी-मुख चूँमि-चूँमि चूँमि बिलखाती है ॥

※

"ग़मों पर ग़म फटे पड़ते हैं ऐय्यामे-जवानी में ।
इज़ाफे हो रहे हैं, वाक़ियाते ज़िंदगानी में ॥"

अस्य अदोषता बरनन जथा—

कै चलि आगि परौस की, दूरि करौ घँनस्याँम ।
कै हँम कों[1] कहि दीजिये, बसैं और[2]-ही गाँम ॥

अस्य तिलक

इहाँ आगि और-ही भाँति की जाँनो जाति है, पै नायिका छिपाइ कें कहति है, ताते नायक-नायिका की बिरहागि जाँनी जाति है, ताते यै गुँन है, दोष नाहीं।

वि०—"दासजी कृत इस "तिलक" में कुछ स्पष्टता अप्रत्यक्ष रह जाती है, वह स्फुट नहीं हो पाती। सबसे प्रथम इस तिलक से यह नहीं जाना जाता कि यह सूक्ति—सखी या दूती की नायक-प्रति है, अथवा स्वयं नायिका की है। दासजी के तिलक से तो वह नायिका की-ही जानी जाती है, जो अयुक्त है—असंगत है। सखी या दूती-कथन नायक-प्रति हो सकता और यह मानने पर ही उक्त सूक्ति में सजावट आयेगी, जैसे—

"सीरे जतनँन सिसिर-रितु, सहि बिरहिन-तँन-ताप ।
बसिबे कों ग्रीषँम - दिनँन, परौ परौसिँन-पाप ॥"

*

"दुआए मर्ग फुरक़त में जो माँगी ।
मुहल्लेवाले चिल्लाये कि—'आये' ॥"

अथ अनुभाव की कष्ट-कल्पना उदाहरन जथा—

चैत की चाँदनी-छीरँन सों, दिग-मंडल माँनों पखारँन लागी ।
ता पर सीरी बयार कपूर की, धूर-सी लै लै बगारँन लागी ॥

पा०—१. (का०)(वे०) सौं...। २. (सं० पु० प्र०)...और के धाँम। (प्र०) ...हीं ग्राँम...।

भौरँन की अवली करि गौंन, पियूष-सौ कौंन में डारँन लागी।
भाँवती भाँवते[1]-ओर चितै, सहजै-ही 'में' भूँमि निहारँन लागी॥

अस्य तिलक

इहाँ प्रेम कौ कोऊ अँनुभाव कहिनों उचित हो "सहज-ही में भूँमि निहारि" यौ कहे ते नेह नाहीं जाँन्यौं जात है, ताते इहाँ यौं कहिनों उचित हो कि—

"आँखिन कै ललचौंही, लजौंही, प्रिया पिय-ओर निहारँन लागी॥"

*

अथ अन्य रस-दोष बरनन जथा—

भाव-रसँन प्रतिकूलता, पुँनि-पुँनि दीपत-उक्ति[2]।
ये हू है 'रस-दोष' जहँ, असमें उक्ति न[3] उक्ति॥

अस्य उदाहरन

अरी, खेलि हँसि बोलि चलि, भुज पीतँम-गर डारि।
आयु जात छिँन-छिँन घटी, छीजै घट ज्यौं[4] बारि॥

अस्य तिलक

इहाँ आयु-घटिबे कौ ग्याँन कहिबौ, 'साँत-रस' कौ बिभाव है, सिंगार-रस कौ नाहीं, ताते उक्त दोष है।

वि०—"जहाँ भाव और रसों की प्रतिकूलता बार-बार (कथन-द्वारा) दिखलायी जाय—प्रकाशित की जाय, वर्णनीय रस-विरोधी (वर्णनीय रस के विरोधी रस की) सामग्री (विभावानुभाव) का वर्णन किया जाय, असामयिक उक्ति कही जाय, वहाँ दासजी-मान्य उक्त दोष होता है, क्योंकि विरोधी रस की—उसके विभावानुभाव संचारी भावों से अवर्णनीय (जो कहना नहीं है) रस की व्यंजना होने लगती है और उससे कहा जाने वाला रस विरस हो जाता है—उसका आस्वाद नष्ट हो जाता है, अथवा वे दोनों (वर्णनीय-अवर्णनीय) रस नष्ट हो जाते हैं। अस्तु, उक्त रस-दोष की स्पष्टता के लिये यहाँ यह जानना आवश्यक हो जाता है कि किस रस का किस रस से विरोध है—अमैत्री है, साथ-ही उसकी किस से मैत्री है इत्यादि······। जैसे—

१. शृंगार-विरोधी—करुण, वीभत्स, रौद्र, वीर, भयानक, शांत।

पा०—१. (का०) भाव ते···। २. (वे०) (सं० पु० प्र०) जुक्ति। ३. (का०) (प्र०) उक्ति-अनुक्ति। ४. (का०) (प्र०) सों···। (सं० पु० प्र०) (वे०) छीलर कैसो बारि।

२. हास्य-विरोधी—भयानक, करुण।
३. करुण-विरोधी—शृंगार, हास्य।
४. रौद्र-विरोधी—शृंगार, हास्य, भयानक।
५. वीर-विरोधी—भयानक, शांत।
६. भयानक-विरोधी—शृंगार, हास्य, वीर, रौद्र, शांत।
७. वीभत्स-विरोधी—शृंगार।
८. शांत-विरोधी—शृंगार, हास्य, वीर, रौद्र, भयानक।
९. अद्भुत-विरोधी—रौद्र।

—इत्यादि यह परस्पर का रस-विरोध वर्णन—"आलंबन-विरोध (विरोधी रसों का एक-ही आलंबन होने के कारण), आश्रय-विरोध (परस्पर विरोधी रसों का एक-ही आश्रय होने के कारण) और नैरंतर-विरोध (दो विरोधी रसों के बीच किसी तीसरे अविरोधी-रस की व्यंजना होने के कारण) तीन प्रकार का कहा गया है। वीर-रस का शृंगार-रस के एक आलंबन के साथ विरोध है, क्योंकि जिस आलंबन से शृंगार-रस प्रकट होता है, उसी से वीर-रस के उत्पन्न होने से दोनों रसों का आस्वादन नहीं हो सकता। रौद्र, वीर, वीभत्स के साथ भी वही बात है, वहाँ भी संयोग-शृंगार के एक आलंबन से विरोध है, क्योंकि जिसके साथ प्रेम-व्यापार होता है, उसके प्रति क्रोध घृणा नहीं हो सकता, इस-लिये शृंगार-रस का आस्वादन भी नहीं होगा। शृंगार के द्वितीय-दलरूप विप्रलंभ का भी वीर, करुण, रौद्र और भयानक के साथ एक आलंबन से विरोध है। शांत का शृंगार और वीभत्स से नैरंतर-विरोध है।

रसों का पारस्परिक अविरोध (मैत्री) भी दर्शनीय है। शृंगार की अद्भुत के साथ, वीर रस की रौद्र और अद्भुत के साथ और भयानक की वीभत्स के साथ मैत्री है—विरोध नहीं है, क्योंकि इनका एक-ही आलंवन, आश्रय और और नैरंतर विरोध न होनेके कारण आपस में समावेश हो जाता है।"

अथ पुनः उदाहरन जथा—

बैठी गुर-जँन-बीच सुँनि बालँम बंसी चारु।
सकल-छाँड़ि¹बँन-जाँउ पै—तिय-हिय करति बिचारु॥

अस्य तिलक

इहाँ नायिका में उत्कंठा कौ बरनँन है, पै सब-छाँड़ि कें बँन में आइबौ

पा०—१. (का०) (वं०) (प्र०) छोंड़ि...।

सांत-रस के निरबेद स्थायी-भावरूप कहते रस-बिरुद्धता दोष हूँ इहाँ है। ताते इहाँ यों होंनों चहिऐं—"कोंने मिस बँन-ऑड ये, तिय-हिय करति बिचारु॥"

अथ अस्य अदोषता गुँन-लच्छन जथा—

बोध[1] किऐं, उपमाँ दिऐं, लिऐं परायौ[2] अंग[3]।
प्रवि...लौ रस-भाव है, गुँन मैं पाइ प्रसंग॥

अस्य उदाहरन जथा—

धँन संचै, धँन सों सुरत, सरसत[4] सुख जग-माँहिं।
पै जीवँन अति अलप लखि, सज्जँन-मँन न पत्याँहिं॥

अस्य तिलक

इहाँ सिंगार-रस बाधित करि सांत-रस पोखिबे ते गुँन है, दोष नाँहीं।

पुनः अदोषता-गुँन कौ उदाहरन—

दृग-नासा न तौ तप-जाल-खगी न सुगंध-सँनेह के ख्याल-खगी।
स्रुति-जीहा बिरागै न रागै पगी, मति राँमें-रँगी नहिँ काँमें-रँगी॥
बपु में ब्रत-नेंम न पूरँन प्रेंम, न भूति लगी, न बिभूति जगी।
जग-जन्म बृथाँ तिन कौ जिन के, गर सेली लगी, न नबेली लगी॥

अस्य तिलक

इहाँ हूँ सिंगार और सांत दोंनों रसँन कौ बोधक गुँन है।

पुनः उदाहरन जथा—

पल रोवति, पल हँसति, पल बोलवि पलक चुपाति।
प्रेंम तिहारौ प्रेत ज्यों, वाहि लग्यौ दिँन-राति॥

अस्य तिलक

इहाँ हूँ इक भाव के कितनेहू भाव बोधक हैं, ताते गुँन है। अथवा एक भाव के बोधक कै-कै एक भाव होत हैं, ताते गुँन है।

अथ उपमाँन ते बिरुद्धता जथा—

बेलिँन के[5] बिमल बितॉन तँन रहे जहाँ,
दुजँन कौ सोर कछू कह्यौ ना परति है।
ता बँन दवागिँनि की धूँमनि सौं नेंन,
मुकतावलि सवारें[6] डारें फूलँन झरति हैं॥

पा०—१. (सं० पु० प्र०) बाध···। २. (का०) (वें०) (प्र०) पराए···। ३. (प्र०) संग। ४. (वें०) (सं० पु० प्र०) सरसन···। ५. (सं० पु० प्र०)···कौ बिमल बितॉन तॉन रहे···। ६. (का०) (वें०) (प्र०) सुवारें···।

फेरि-फेरि अँगुठा[1] छुवावै मिस काँटन[2] के,
फेरि-फेरि आगें-पाँछें भाँवरें भरति है।
हिंदूपति जू सौं बच्यौ पाइ[3] निज नाहै बेर[4]-
बनिता उछाहै माँन ब्याह-सौ करति है॥

अस्य तिलक

इहाँ बीर-रस कौ बरनँन है, सो बैरिन में भयानक में उपमाँ औ रूपक में सिंगार-रस कौ बरनँन करनों गुँन है।

पुनः उदाहरन जथा—

भक्ति तिहारी यों बसै, मो-मँन में श्री राँम।
बसे काँमि-जँन हियँन ज्यों, परँम सुंदरी बाँम[5]॥

अस्य तिलक

इहाँ सांत-रस के बरनँन में सिंगार-रस को उपमाँ ते गुँन है।

पुनः उदाहरन जथा—

पीछें, तिरीछें[6], तकै, उचिकै, न छुड़ाइ सकै अटकी द्रुँम-सारी।
जी में गहै यों लुटेरँन के[7] भ्रँम, भागती दींन अधींन दुखारी॥
गोरी, कृसोदरी, भोरी चितै, सँग-ही फिरें दौरी किरात-कुँमारी।
हिंदू-नरेस के बैर ते यों, बिचरें बँन बैरिँन की बर-नारी॥

अस्य तिलक

इहाँ सिंगार, करुन औ अदभुत-रस अपरांग हैं, बीर-रस अंगी हैं, ताते गुँन-रूप है।

वि०—"दासजी कृत यह उदाहरण "समासोक्ति"-अलंकार से विभूषित है। जहाँ प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों अर्थों का बोध समान विशेषणों-द्वारा होता है, वहाँ समासोक्ति होती है। यहाँ—पीछें तिरीछें०···इत्यादि ऐसे विशेषण हैं जिनसे शृंगार और करुण दोनों परस्पर विरोधी रसों की अभिव्यक्ति होती है, किंतु यहाँ दासजी-द्वारा अपने आश्रय-दाता हिंदूपति नरेश का प्रताप—उनका बलाधिक्य वर्णन करना अभीष्ट है, अतएव राज-विषक रतिभाव प्रधान होने के कारण शृंगार और करुण दोनों रसों का पोषण कर रहा है। अर्थात्, जिन

पा०—१. (का०) (वें०) (प्र०) (सं० पु० प्र०) अँगुठौ···। २. (का०) (वें०) (प्र०) कटनि···। ३. (वें०) पाइन जु ना है···। ४. (रा० पु० प्र०) बार···। (रा० पु० नी० सी०) बर···। ५. (रा० पु० प्र०) कामीजन हिय ज्यों बसे, परम सुं०···। ६. (वें०)···भरे, झमकै, उचकै···। ७. (का०) (वें०) की···।

वाक्यों से यहाँ रस व्यक्त हो रहा है उन्हीं से—शृंगार रस और राजा के प्रताप का उत्कर्ष सूचित हो रहा है। इसलिये शृंगार और करुण दोनों का राज विषय-करति अंग बन जाने से विरोध नहीं गुण बन गया है। अथवा वीर-रस के शृंगार, करुण और अद्भुत रस अंग बन गये हैं—गुण बन गये हैं।"

अथ दीप्ति (बार-बार) दोष-लच्छन जथा—

पुँनि-पुँनि दीपति-ही कहैं, उपमाँदिक कछु नाँहिं।
ताही ते सज्जँन गँनें, यै[1]-हू दूषँन-माँहिं॥

अस्य उदाहरन जथा—

पंकज पाइँन पैजनियाँ, कटि घाँघरौ किंकिनियाँ जरबीली।
मोतिँन[2] हार-हँमेल बलीँन पै, सारी सुहावनी कंचुकी नीली॥
ठोढ़ी पै[3] स्याँमल-बुंद अँनूप, तरोंनँन की चुनियाँ-चटकीली।
ईंगुर की सुरखी[4] दुरकी नथ, भाल में बाल[5] कै बेंदी छबीली॥

वि०—"उपमादि के बिना एक-ही रस की बार-बार दीप्ति—शोभा प्रदर्शित करना भी एक 'रस-दोष' है, यह दासजी ने यहाँ कहा है। किसी रस के परिपाक हो जाने पर—उसका प्रसंग समाप्त हो जाने पर फिर उसी का वर्णन करना, 'दीप्ति' करना कहलाता है। दासजी के इस उदाहरण में यही दोष है, क्योंकि आप-द्वारा यहाँ परिपुष्ट और उपभुक्त शृंगार-रस फिर से दीप्त किया जाने के कारण मींड़े हुए पुष्प के समान अशोभन हो गया है, अतः उपयुक्त दोष है।"

अथ असमै जुक्ति कथन-उदाहरन जथा—

सजि सिँगार-सर पै चढ़ी, सुंदरि निपट सुबेस।
मँनों जीति भुब-लोक सब, चली जितँन दिबि-देस॥

अस्य तिलक

इहाँ सहगामिनी देखि कैं सांत-रस बरनिबौ उचित हो, सिंगार-रस नाहीं, तातें 'असमइ' कथन दोष है। सहगामिनी—पति के संग जरिबेवारी कों कहैं हैं।

वि०—"बिना अवसर किसी बात—या रस का सहसा विस्तार करना "असमय युक्ति-कथन" दोष माना जाता है। संस्कृत में इसे "अकांड-प्रथन" कहा

पा०—१. (का०) (वें०) (प्र०) (सं० पु० प्र०) याहू…। २ (सं० पु० प्र०) मोंती कौ हार…। ३. (सं० पु० प्र०) मैं…। ४. (का०) (वें०) (प्र०) ढुर की…। ५. (वें०) लाल की…।

गया है। यहाँ नायिका पति के साथ जलने को—सती होने को, शृंगारादि से विभूषित होकर जा रही है, ऐसे समय उसको और अधिक-कामुक रूप में वर्णन करना असामयिक है।"

पुनः उदाहरन जथा—

रॉम-आगमॅन-सुनि कह्यौ[1], रॉम बंधु सों बात।
कंकॅन मोहि छुराइबौ[2], उतै जाहु तुँम तात॥

अस्य तिलक

इहाँ कंकॅन-छुराइबे कौ मोह त्याग श्रीरॉम कौ परसरॉम पै—उनके निकट जाइबौ उचित हो, सो न कह्यौ, ताते कादरता प्रघट जाँनी जात है।

वि०—"काव्य-प्रकाश में आचार्य मम्मट ने यहाँ "अकांड-छेदन" दोष माना है। अकांड-छेदन—असमय रस का भंग करना, अनवसर विराम करना, यथा—

"अकांडे छेदो यथा वीरचरिते द्वितीयेंऽके राघवभार्गवयोर्धाराधिरूढे वीर-रसे "कंकण मोचनाय गच्छामि" इति राघवस्योक्तौ।"

पुनः अन्य रस-दोष-लच्छन जथा—

अंगै कौ बरनॅन करै, अंगी देइ भुलाइ।
यै-हू है रस-दोष में, सुँनों सकल कबिराइ॥

अस्य उदाहरन जथा—

दासी सों मंडॅन-समें, दरपॅन माँग्यौ बाँम।
बैठि गई सो[3] साँमनें, करि आँनन अभिरॉम॥

अस्य तिलक

इहाँ नायिका अंगी है, दासी वाकी अंग है, सो इहाँ अंगी कों—नायिका कों छाँड़ि अंग—दासी की सोभा बरनिबौ दोष है। अंग भुलाइबे कौ—भूलिबे कौ दोष है।

अथ अंगी-भूलिबौ-दोष उदाहरन—

पीतॅम-पठै सहेट कों[4], खेलॅन अटकी जाइ।
तकि तिहिँ आवत उतै ते, तिय मॅन-मॅन पछिताइ॥

पा०—१. (सं० पु० प्र०) कही…। २. (सं० पु० प्र०) छुराइबे…। ३. (का०) (वे०)-(उ०) (सं० पु० प्र०) सोइ सामुहैं। ४. (का०) (वें०) (प्र०) निज…।

अस्य तिलक

इहाँ नायिका अंग है, नायक अंगी है, सो नायिका कौ नायक ते अधिक केलि सों प्रेम बरनिबौ -- अंगी नायक कों भुलाइबौ है, ताते यै रस-दोष है।

वि०—"दासजी कृत यह उदाहरण तीसरी अनुशयाना रमण-गता—संकेत स्थान पर किसी कारण-वश न पहुँच सकने वाली 'परकीया' नायिका का वर्णन है।

"जमाने में हजारों नाम किसको याद रहते हैं।
बनालें आप इक फ़हरिस्त अरबाबे-मुहब्बत की॥"

अथ प्रकृति-बिपरजइ कथन जथा—

तींन-भाँति कै[1] प्रकृति है, "दिव्य" "अदिव्य"-प्रमाँन।
तीजी[2] "दिव्यादिव्य" है[3], जाँनत सुकबि सुजाँन॥

देव 'दिव्य' करि माँनिऐं, नर अदिव्य' करि लेख।
नर-औतारी देवता, 'दिव्यादिव्य' बिसेख॥

सोक, हास, रति अदभुतै, लोंन 'अदिव्यै लोग।
'दिव्यादिव्यंन' में सकति, नहीं 'दिव्य' में[4] जोग॥

चारि-भाँति नायक कहे[5], सो जु चारि रस-मूल।
किऐं और के और में, प्रकृति-बिपरजइ तूल॥

'धीरोदात्त' सु 'बीर' में, धीरोद्धत 'रिसबंत'।
धीरललित 'सिंगार' में[6], सांत धीर[7] परसंत॥

सरल[8] पताले जाइबौ, सिंध-उलंघँन चाउ।
भसँम ठाँनिबौ क्रोध ते, सातों दिव्य-सुभाउ॥

ज्यों बरनँन पित-माँत कौ, नहिं सिँगार-रस जोग।
त्यों सुरतादिक[9] दिव्य में, बरनँन लगै अजोग॥

इहि बिधि औरों जाँनिएं, अँनुचित बरनँन[10] चोख।
'प्रकृति-बिपरजइ' होत है, सो[11] सिगरौ रस-दोष॥

पा०—१ (रा० पु० नी० सी०) की···। २. (का०) (वें०) (प्र०) तीजौ···। ३. (का०) (वें०) (प्र०) (सं० पु० प्र०) यह···। ४. (का०) (वें०) के···। ५. (का०) (वें०) (प्र०) (सं० पु० प्र०), कह्यौ, तिन्हें चारि रस···। ६. (का०) (वें०) (प्र०) सों···। ७. (वें०) ···धीर सो संत। ८. (का०) (वें०) (प्र०) (सं० पु० प्र०) सरग···। ९. (प्र०) सुर-आदिक...। १०. (का०)(वें०) बरनत...। ११. (का०)(वें०)(प्र०) सब...।

वि०—"दासजी कहते हैं प्रकृति—नायक तीन प्रकार का होता है, यथा—दिव्य, अदिव्य और दिव्यादिव्य ये तीनों-हीं क्रमशः स्वर्गीय देवता, मनुष्य तथा मनुष्य रूप में प्रकट—अवतार विशेष होते हैं। ये दिव्य, अदिव्य और दिव्यादिव्य-ही आगे चलकर 'धीरोदात्त' (जिसमें उत्साह प्रधान हो), 'धीरोद्धत,' (जिसमें क्रोध-प्रधान हो), 'धीर ललित' (जिसमें स्त्री विषयक-प्रेम-प्रधान हो) और 'धीर शांत' (जिसमें वैराग्य प्रधान हो) बन जाते हैं तथा ये दिव्यादि-दिव्य तीनों भेद पुनः क्रमशः धीरोदात्तादि चार-चार रूपों में और परणित हो जाते है। ये धीरोदात्तादि–उत्तम, मध्यम और अधम भी क्रमशः होते हैं। अस्तु दासजी का कहना है कि जो पात्र जिस प्रकार का हो, उसे उसी प्रकृति के अनुसार वर्णन करना चाहिये। ऐसा न करने पर वहाँ प्रकृति के प्रतिकूल—अस्वाभाविक वर्णन हो जाने से उक्त—"प्रकृति विपर्यय" दोष हो जाता है।

आगे दासजी कहते हैं—शोक, हास्य, रति अद्‌भुतादि रस अदिव्य नायक में ही वर्णन करने चाहिये दिव्य-नायक में नहीं, किंतु दिव्यादिव्य में इन्हें वर्णन कर सकते हैं। अस्तु, ये दिव्यादिव्य-विभूषित चारों नायक धीरोदात्तादि क्रमशः वीर, रौद्र, शृंगार और शांत-रस के पोषक हैं। स्वर्ग-पाताल का जाना, समुद्र-उल्लंघन करना और क्रोध से भस्म करना आदि कार्य "दिव्य" नायक स्वाभाविक रूप से कर सकते हैं, इसलिये इनका संभोग-शृंगारात्मक रति वर्णन करना अयोग—प्रकृति-विपर्यय-दोष है, क्योंकि माता-पिता का शृंगार-भाव रसज्ञ लोग वर्णन नहीं करते।

अथ कबिता-बिचार कथन जथा—

पाटी-सी है परिपाटी कबित्त की, ताकों त्रिधा-बिधि बुद्धि बनाई।
तीछँन एक सुपंथ करै बर मौंन-लों 'दास' अरै[1] जिहिं ठाँई॥
पंथै-पाइ भलौ कोऊ[2] खोलै, ज्यों होत[3] सुदार की कील[4] सुहाई।
एकै न पंथ-बिचार कों[5] मौंनें, बिदार-ही जाँनें कुठार की न्याँई॥

पुनः जथा—

अँमित काव्य के भेद में बरने[6] मति-अँनरूप।
संपूरँन कीन्हें[7] सुँमरि, श्रीहरि-नाँम अँनूप॥

पा०—१. (प्र०) करै...। २. (का०) (वें०) (प्र०) इक...। ३. (सं० पु० प्र०) होती...। ४. (स० पु० प्र०) कीलें...। ५. (सं० पु० प्र०) कै मौंनें बिदारबौ...। ६. (का०) (वें०) (प्र०) (सं० पु० प्र०) बरन्यौं...। ७. (का०) (वें०) (प्र०) कीन्हों...।

अथ राम-नाम-महिमा ग्रंथ-संपूरनारथ जथा—

पूरँन सक्ति दुबर्न कौ मंत्र है, जाहि सबादि जपें सब कोऊ।
पावक पौंन-सँमेंत[1] लसै, मिलि जारत पाप-पहार कितोऊ॥
'दास' दिनेस कलाधर-भेष बने जग के निसतारक जोऊ।
मुक्ति-महीरुह के द्रुम हैं, किधौं रॉंम के नाँम के अच्छर[2] दोऊ॥

आगर बुद्धि-उजागर है, भव-सागर की तरनी कौ[3] खिवैया।
ब्यक्त-बिधान, अँनंद-निधाँन, है भक्ति-सुधा-रस-प्राँन भवैया॥
जाँन यहै, अँनुमाँन[4] यहै, मँन-माँन कें 'दास' भयौ[5] है सिवैया।
मुक्ति कौ धाँम है, भुक्ति कौ दाँम[6] है, राँम कौ नाँम है कामद गैया॥

पावतो पार न-बार कोऊ, परिपूरँन पाप कौ पाँनिप जोतो।
बूड़तो भूंठ-तरंगँन में मिलि मोह-मई सरिताँन कौ सोतो॥
'दासजू'त्रास-तिमिंगल सौं, तँम-ग्राह के ग्रास सु बाँचतौ[7] को'तो।
जो भव-सिंधु-अथाह-निबाह कौं[8] राँम कौ नाँम-मलाह न होतो॥

आप दसै-सिर-सत्रु हत्यौ,[9] ये सौ-सिर-दारिद कौ बध कौ है।
सिंध-बँधाइ तरे तुँम तौ, ये तारक मोह[10]-महादधि कौ है॥
राबरे कौ सुँनिऐं जस[11]जाहर, बासी सबै घट के मधि कौ है।
राँमजू, राबरे नाँम में 'दास,' लख्यौ गुँन राबरे ते अधिकौ है॥

सिद्धँन कौ सिरताज भयौ, कबि-कोबिद नाँम-हीं की सिबकाई।
गीध,[12] गयंद, अजामिल से तरिगे, सब नाँम-ही की प्रभुताई॥
'दास' कहै पैहलाद-उबारत, राँम-हूँ से पैहलें किहि[13] ठाँई।
राँम-बड़ाई न, नाँम-बड़ौ भयौ, राँम बड़ौ निज-नाँम बड़ाई॥

राँम कौ 'दास' कहावै सबै जग, 'दास'-हू राबरौ दास निनारौ[14]।
भारी भरोसौ हिऐं सब[15] ऊपर, ह्वै है मनोरथ सिद्ध हँमारौ॥

पा०—१. (वें०)...पौन से मीत लसै...। २. (का०) (वें०) (प्र०) (सं० पु० प्र०) अछार...। ३. (का०) (वें०) (प्र०) के...। ४. (वें०)...यहै पुनि माँन वहै...। ५. (वें०)... दास न एहू सिवैया। ६. (वें०)...धाँम है. राँम कौ नाम है काम देवैया। ७. (का०) (वें०) ते...। ८. (वें०) तै...। ९. (का०) (प्र०) (स० पु० प्र०) हन्यों। (वें०) आपद में सिर-सत्रु हन्यों...। १०. (का०) (वें०) (प्र०) मोहि महोदधि...। ११. (का०) (वें०) (प्र०) यह...। १२. (वें०) गृद्ध...। १३. (वें०) कहि...। १४. (का०) (प्र०) निहारो। १५. (रा० पु० नी० सी०) तुब।

रॉम अदेवँन के कुल-घाले, भलें[1] भयौ भौ-देवँन कौ रखवारौ।
दारिद-घालिबौ,दीनँन[2]-पालिबौ, रॉम के[3] नाँम है कॉम तिहारौ ॥

क्यों लिखों रॉम कौ नाँम हिऐं[4] कहाँ कागद ऐसौ[5] पुनींत में पाँऊं।
आखर आछे, अँनूठे तिहारे, क्यों जूठी[6] जुबाँन सों हों रट लाऊं[7]॥
'दासजू' पावँनता-भरे पुंज हौ, मोह[8]-भरे हियरें क्यों बसाँऊं[9]।
काँम है मेरौ तँमाम यहै, सब, जाँम तिहारौ[10] गुलाँम कहाँऊं ॥

जाँनों न भक्ति, न ग्याँन[11] की सक्ति, हों 'दास' अँनाथ, अँनाथ के स्वामि जू।
माँगों .इतौ बर दींन-दयानिधि, दीनता मेरी चितै भरौ हाँमि जू ॥
ज्यों बिच नाँम के नेह कौ ब्यौर है, अंतरजाँमी निरंतरजाँमि जू।
मो रसनाँ कों रुचै रस नाँ, तजि रॉम नमाँमि, नमाँमि, नमाँमि जू ॥

अथ ग्रंथ-रचना-समें बरनन जथा—

संबत बिसंति ऊँन-सै, ऊपर एक चतुष्ट।
बुध-जँन लेउ बिचार कें, हृदें बरँनि-धरि इष्ट ॥*

"इति श्रीसकलकलाधरकलाधरबंमावतंसश्रीमन्महाराजकुँमार श्रीबाबू हिंदूपति बिरचिते 'काव्यनिरनए' रस-दोष-दोषोद्धार नाँम पंचबिंसतिमोल्लासः ॥"

पा०—१. (का०) (प्र०) भयो रह्यो देवन कौ रखवारो। (वें०) भयो रहै देवन कौ...। २. (का०) (वें०) (प्र०) (सं०पु० प्र०) दीन कौ पालिौ...। ३. (का०) (प्र०) कौ...। (वें०).... नाँम के नाँम है...।४. (वें०)...लिखों रामके नामन में, कहा कामद ऐसो...। ५. (सं० पु० प्र०) वैसो पुनीत में पावों। ६. (वें०) झूंठी...। ७. (सं० पु० प्र०) लावों। ८. (वें०) नोह...। ९. (सं० पु० प्र०) बसावों। १०. (का०) (वें०) (प्र०) जाँम गुलाँम तिहारौ कहावों। ११. (सं० पु० प्र०) ध्याँन...।

* यह दोहा मुद्रित प्रतियों में नहीं है।